गीता-दर्शन

अध्याय: १३-१४

भगवान श्री रजनीश

गीता-दर्शन

भगवान् श्री रजनीश के नये प्रवचन-संकलन :

१. कन थोरे कांकर घने
(मलूक-वाणी पर दस प्रवचन)

२. मैंने राम रतन धन पायो
(मीरा के पदों पर दस प्रवचन)

३. सर्वसार उपनिषद्
(माथेरान शिविर के सत्रह प्रवचन)

४. कैवल्य उपनिषद्
(माऊन्ट आबू शिविर के सत्रह प्रवचन)

५. गीता-दर्शन, अध्याय-१७
(ग्यारह प्रवचन)

६. जिन-सूत्र
(तीसरा भाग, सोलह प्रवचन)

भगवद्गीता पर

भगवान् श्री रजनीश के बाईस प्रवचन

गी ता द र्श न

नौवाँ खण्ड, अध्याय—१३ और १४

रजनीश फाउंडेशन प्रकाशन, पूना

१९७७

प्रकाशक
माँ योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउन्डेशन
श्री रजनीश आश्रम, १७ कोरेगाँव पार्क, पूना-१ महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : ११ दिसंबर १९७७
प्रतियाँ : ३०००

मूल्य
सामान्य संस्करण ५० रुपये
राज संस्करण ८० रुपये

मुद्रक
शं. ना. अंबूटकर
महाराष्ट्र सहकारी मुद्रणालय
९१५।१ शिवाजी नगर
पूना-४

श्रीमद्भगवद्गीता

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग : अध्याय-१३
गुणत्रय विभाग योग : अध्याय-१४

संकलन
मां कृष्ण प्रिया

सम्पादन
स्वामी योग चिन्मय

सज्जा
स्वामी आनन्द अर्हत

आमुख

अज्ञानी वह है : जिसे शब्दों का, शास्त्रों का कोई पता नहीं । और (तथाकथित) ज्ञानी वह है, जिसे शब्दों और शास्त्रों का पता है । और अनुभवी वह है, जिसे शास्त्रों का, शब्दों का नहीं, जिसे सत्य का ही स्वयं पता है--जहाँ से शास्त्र और शब्द पैदा होते हैं ।

शास्त्र तो प्रतिध्वनि है--किसी को अनुभव हुए सत्य की ।... और जब तक आपको ही अपना अनुभव न हो जाय, तब तक सभी शास्त्र झूठे रहेंगे । आप गवाह जब तक न बन जायँ, जब तक आप न कह सकें कि ठीक, गीता वही कहती है, जो मैंने भी जान लिया, तब तक गीता आपके लिए असत्य रहेगी ।

आपके हिन्दू होने से गीता सत्य नहीं होती । और आपके गीता-प्रेमी होने से गीता सत्य नहीं होती । जब तक आपका अनुभव गवाही न दे दे कि ठीक, जो कृष्ण कहते हैं--क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का भेद--वह मैंने जान लिया है; और मैं गवाही देता हूँ--अपने अनुभव से... । तब आपके लिए गीता सत्य होती है ।

शास्त्रों से सत्य नहीं मिलता, लेकिन आप शास्त्रों के गवाही बन सकते हैं। और तब शास्त्र, जो आप नहीं कह सकते, जो आपको बताना कठिन होगा, उसको बताने का माध्यम हो जाते हैं ।

शास्त्र केवल गवाहियाँ हैं--जाननेवालों की । और आपकी गवाही भी जब उनसे मेल खा जाती है, तभी शास्त्र से सम्बन्ध हुआ ।

गीता को रट डालो, कंठस्थ कर लो । कोई सम्बन्ध न होगा । लेकिन जो गीता कहती है, वही जान लो--सम्बन्ध हो गया ।

जब तक आप गीता को पढ़ रहे हैं, तब तक ज्यादा से ज्यादा आपका सम्बन्ध अर्जुन से हो सकता है । लेकिन जिस दिन आप गीता को अनुभव कर लेते हैं, उसी दिन आपका कृष्ण से सम्बन्ध हो जाता है ।

विषय अनुक्रम

गीता, अध्याय-१३

विषय अनुक्रम

गीता, अध्याय-१४

जीसस एक ही मार्ग की बात कर रहे हैं। महावीर एक ही मार्ग की बात कर रहे हैं। बुद्ध एक ही मार्ग की बात कर रहे हैं। कृष्ण सभी मार्गों की बात कर रहे हैं। और यह सभी मार्गों की बात जान लेने के बाद जब कोई चुनाव करता है, तो चुनाव ज्यादा सार्थक, ज्यादा अभिप्रायपूर्ण होगा। और उस मार्ग पर सफलता भी ज्यादा आसान होगी।

मनुष्य जिस-जिस मार्ग से परमात्मा तक पहुँच सकता है, वह सभी मार्ग, अर्जुन के सामने, कृष्ण खोलकर रख रहे हैं। इन सभी मार्गों पर अर्जुन चलेगा नहीं। चलने की कोई जरूरत भी नहीं है। लेकिन सभी को जानकर जो मार्ग वह चुनेगा, वह मार्ग उसके लिए सर्वाधिक अनुकूल होगा।

-भगवान श्री रजनीश

श्रीमद्भगवद्गीता

तेरहवाँ अध्याय

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

(बारह प्रवचन)

पहला प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, रात्रि, दिनांक ४ मई, १९७३

दुःख से मुक्ति का मार्ग : तादात्म्य का विसर्जन

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु ॥ ३ ॥

उसके उपरान्त कृष्ण बोले, 'अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है, ऐसे कहा जाता है। और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ—ऐसा उनके तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।

और हे अर्जुन, तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मेरे को ही जान। और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकारसहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है।

इसलिए वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेप में मेरे से सुन।

सुबह से साँझ तक न मालूम कितने दुःखी लोगों से मेरा मिलन होता है। एक बात की मैं तलाश कर रहा हूँ कि कोई ऐसा दुःखी आदमी मिल जाय, जिसके दुःख का कारण कोई और हो। अब तक वैसा आदमी खोज नहीं पाया। दुःख—चाहे कोई भी हो—दुःख के कारण में आदमी खुद स्वयं ही होता है। दुःख के रूप अलग हैं, लेकिन दुःख की जिम्मेवारी सदा ही स्वयं की है।

दुःख कहीं से भी आता हुआ मालूम होता हो, दुःख स्वयं के ही भीतर से आता है। चाहे कोई किसी परिस्थिति पर थोपना चाहे, चाहे किन्हीं व्यक्तियों पर, सम्बन्धों पर, संसार पर, लेकिन दुःख के सभी कारण झूटे हैं। जब तक कि असली कारण का पता न चल जाय. . .। और वह असली कारण व्यक्ति स्वयं ही है। पर जब तक यह दिखायी न पड़े कि 'मेरे दुःख का कारण मैं हूँ', तब तक दुःख से छुटकारे का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि ठीक कारण का ही पता न हो, ठीक निदान ही न हो सके, तो इलाज के होने का उपाय नहीं है। और जब तक मैं भ्रांत कारण खोजता रहूँ, तब तक कारण तो मुझे मिल सकते हैं, लेकिन समाधान, दुःख से मुक्ति, दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता।

और आश्चर्य की बात है कि सभी लोग सुख की खोज करते हैं। और शायद ही कोई कभी सुख को उपलब्ध हो पाता है।

इतने लोग खोज करते हैं, इतने लोग श्रम करते हैं, जीवन दाँव पर लगाते हैं और परिणाम में दुःख के अतिरिक्त हाथ में कुछ भी नहीं आता। जीवन के बीत जाने पर सिर्फ आशाओं की राख ही हाथ में मिलती है। सपने टूटे हुए, इन्द्रधनुष कुचले हुए; असफलता, विफलता, विषाद!

मौत के पहले ही आदमी दुःखों से मर जाता है। मौत को मारने की जरूरत नहीं पड़ती; आप बहुत पहले ही मर चुके होते हैं; जिन्दगी ही काफी मार देती है। जीवन आनन्द का उत्सव तो नहीं बन पाता, दुःख का एक ताण्डव नृत्य जरूर

बन जाता है।

और तब स्वाभाविक है कि यह सन्देह मन में उठने लगे कि इस दुःख से भरे जीवन को क्या परमात्मा ने बनाया होगा ? और अगर परमात्मा इस दुःख से भरे जीवन को बनाता है, तो परमात्मा कम, और शैतान ज्यादा मालूम होता है। और अगर इतना दुःख जीवन का फल है, तो परमात्मा सेडिस्ट, दुःखवादी मालूम होता है। लोगों को सताने में जैसे उसे कुछ रस आता हो ! तो फिर स्वाभाविक ही है कि अधिक लोग दुःख के कारण परमात्मा को अस्वीकार कर दें।

जितना ही मैं इस सम्बन्ध में लोगों के मनों की छानबीन करता हूँ, पाता हूँ कि नास्तिक कोई भी, तर्क के कारण नहीं होता। नास्तिक लोग दुःख के कारण हो जाते हैं। तर्क तो पीछे आदमी इकट्ठे कर लेता है।

लेकिन जीवन में इतनी पीड़ा है कि अस्तिक होना मुश्किल है। इतनी पीड़ा को देखते हुए आस्तिक हो जाना असम्भव है। या फिर ऐसी आस्तिकता झूठी होगी, ऊपर-ऊपर होगी; रंग-रोगन की गयी होगी। ऐसी आस्तिकता का हृदय नहीं हो सकता। आस्तिकता तो सच्ची सिर्फ आनन्द की घटना में ही हो सकती है। जब जीवन एक आनन्द का उत्सव दिखाई पड़े, अनुभव में आये, तो ही कोई आस्तिक हो सकता है।

आस्तिक शब्द का अर्थ है : समग्र जीवन को 'हाँ' कहने की भावना। लेकिन दुःख को कोई कैसे 'हाँ' कह सके? आनन्द को ही कोई 'हाँ' कह सकता है। दुःख के साथ तो सन्देह बना ही रहता है।

शायद आपने कभी सोचा हो या न सोचा हो, कोई भी नहीं पूछता कि आनन्द क्यों है। लेकिन दुःख होता है, तो आदमी पूछता है कि दुःख क्यों है। दुःख के साथ प्रश्न उठते हैं। आनन्द तो निष्प्रश्न स्वीकार हो जाता है।

अगर आपके जीवन में आनन्द ही आनन्द हो, तो आप यह न पूछेंगे कि आनन्द क्यों है ? आप आस्तिक होंगे। 'क्यों' का सवाल ही न उठेगा।

लेकिन जहाँ जीवन में दुःख ही दुःख है, वहाँ आस्तिक होना थोथा मालूम होता है। वहाँ तो नास्तिक ही ठीक मालूम पड़ता है। क्योंकि वह पूछता है कि दुःख क्यों है। और 'दुःख क्यों है'– यही सवाल गहरे में उतर कर सवाल बन जाता है कि इतने दुःख की मौजूदगी में परमात्मा का होना असम्भव है। इस दुःख को बनाने वाला, परमात्मा हो सके, यह मानना कठिन है। और अगर ऐसा परमात्मा हो भी, तो उसे मानना उचित भी नहीं है।

जीवन में जितना दुःख बढ़ता जाता है, उतनी नास्तिकता बढ़ती जाती है। नास्तिकता को मैं मानसिक, मनोवैज्ञानिक घटना मानता हूँ—तार्किक, बौद्धिक नहीं। कोई तर्क के कारण नास्तिक नहीं होता। यद्यपि जब कोई नास्तिक हो जाता है, तो तर्क खोजता है।

सिमॉन वेल ने, एक फ्रेंच विचारक महिला ने लिखा है—अपने आत्म-कथ्य में—कि तीस वर्ष की उम्र तक सतत मेरे सिर में दर्द बना रहा; मेरा शरीर अस्वस्थ था, और तब मेरे मन में ईश्वर के प्रति बड़े सन्देह उठते थे। और यह खयाल मुझे कभी भी न आया कि मेरे शरीर का अस्वास्थ्य ही ईश्वर के सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्नों का कारण है ! और फिर मैं स्वस्थ हो गयी और शरीर ठीक हुआ और सिर का दर्द खो गया, तो मुझे पता न चला कि मेरे प्रश्न जो ईश्वर के सम्बन्ध में उठते थे—संदेह के, वे कब गिर गये। और बहुत बाद में ही मुझे होश आया कि मैं किसी क्षण में आस्तिक हो गयी हूँ। वह जो जीवन में स्वास्थ्य की धार बहने लगी, वह जो जीवन में थोड़े से रस की झलक आने लगी, वह जो जीवन में थोड़ा अर्थ और अभिप्राय दिखायी पड़ने लगा—फूल, आकाश के तारे और हवाओं के झोंकों में आनन्द की थोड़ी-सी खबर आने लगी, तो सिमॉन वेल का मन नास्तिकता से आस्तिकता की तरफ झुक गया। और तब उसे खयाल आया कि जब वह नास्तिक थी, तो नास्तिकता के पक्ष में तर्क जुटा लिए थे। और जब वह आस्तिक हो गयी, तो उसने आस्तिकता के पक्ष में तर्क जुटा लिए।

तर्क आप पीछे जुटाते हैं, पहले आप आस्तिक हो जाते हैं या नास्तिक हो जाते हैं। तर्क तो सिर्फ बौद्धिक उपाय है—अपने को समझाने का, क्योंकि मैं जो भी हो जाता हूँ, उसके लिए रेशनॅलाइजेशन, उसके लिए तर्कयुक्त हो जाना जरूरी हो जाता है। अन्यथा मैं अपने ही सामने अतर्क्य मालूम होऊँगा। मुझे खुद को ही समझाना पड़ेगा कि मैं नास्तिक क्यों हूँ। तो एक ही उपाय है कि ईश्वर नहीं है, इसलिए मैं नास्तिक हूँ।

लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि आप नास्तिक हैं, तो इसलिए नहीं कि ईश्वर नहीं है, बल्कि इसलिए कि आप दुःखी हैं।

आपकी नास्तिकता आपके दुःख से निकलती है। और अगर आप कहते हैं कि मैं दुःखी हूँ, और फिर भी आस्तिक हूँ, तो मैं आप से कहता हूँ कि आपकी आस्तिकता झूठी और ऊपरी होगी। दुःख से सच्ची आस्तिकता का जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ! दुःख के प्रति गहन अस्वीकार बना ही रहता है। और तब फिर एक उपद्रव की घटना घटती है।

टॉलस्टाय ने लिखा है कि 'हे ईश्वर, तुझे तो मैं स्वीकार करता हूँ, लेकिन तेरे संसार को बिलकुल नहीं।' लेकिन बाद में उसे भी खयाल आया कि अगर मैं ईश्वर को सच में ही स्वीकार करता हूँ, तो उसके संसार को कैसे अस्वीकार

कर सकता हूँ ? और अगर मैं उसके संसार को अस्वीकार करता हूँ, तो मेरे ईश्वर को स्वीकार करने की बात में कहीं न कहीं धोखा है ।

जब कोई ईश्वर को स्वीकार करता है, तो उसकी समग्रता में ही स्वीकार कर सकता है । यह नहीं कह सकता कि 'तेरे संसार को अस्वीकार करता हूँ ।' यह आधा काटा नहीं जा सकता है ईश्वर को, क्योंकि ईश्वर का संसार ईश्वर ही है । और जो उसने बनाया है, उसमें वह मौजूद है । और जो हमें दिखायी पड़ता है, उसमें वह छिपा है ।

जो आदमी दुःखी है, उसकी आस्तिकता झूठी होगी; वह छिपे में नास्तिक ही होगा । और जो आदमी आनन्दित है, अगर वह यह भी कहता हो कि मैं नास्तिक हूँ, तो उसकी नास्तिकता झूठी होगी; वह छिपे में आस्तिक ही होगा ।

बुद्ध ने इनकार किया है ईश्वर से । महावीर ने कहा है कि कोई ईश्वर नहीं है । लेकिन फिर भी महावीर और बुद्ध से बड़े आस्तिक खोजना मुश्किल है ।

और आप कहते हैं कि ईश्वर है, लेकिन आप जैसे नास्तिक खोजना मुश्किल है । बुद्ध ईश्वर को इनकार करके भी आस्तिक ही होंगे, क्योंकि वह जो आनन्द, वह जो नृत्य, वह जो भीतर का संगीत गूंज रहा है, वह आस्तिकता है ।

सुना है मैंने—यहूदी एक कथा--कि परमात्मा ने अपने एक दूत को भेजा इज़रेॲल, यहूदियों के एक बड़े मंदिर के निकट, और मंदिर का जो बड़ा पुजारी था, उसके पास वह दूत आया और उसने कहा कि 'मैं परमात्मा का दूत हूँ और यहाँ की खबर लेने आया हूँ ।' तो उस पुजारी ने पूछा कि 'यहाँ की मैं तुम्हें सिर्फ एक ही खबर दे सकता हूँ कि यहाँ जो आस्तिक हैं, उनकी आस्तिकता में मुझे शक है । और इस गाँव में दो नास्तिक हैं, उनकी नास्तिकता में भी मुझे शक है । गाँव में दो नास्तिक हैं, उन्हें हमने कभी दुःखी नहीं देखा । और गाँव में इतने आस्तिक हैं, जो मन्दिर में रोज प्रार्थना और पूजा करने आते हैं, वे सिवाय दुःख की कथा के, मंदिर में कुछ भी नहीं लाते; सिवाय शिकायतों के उनकी प्रार्थना में और कुछ भी नहीं है । परमात्मा से अगर वे कुछ माँगते ही हैं, तो दुःखों से छुटकारा माँगते हैं ।'

लेकिन दुःख से भरा हुआ हृदय परमात्मा के पास आये कैसे । वह दुःख में ही इतना डूबा है, उसकी दृष्टि ही इतने अँधेरे से भरी है . . . . । इस जगत् में एक तो अँधेरा है, जिसे हम प्रकाश जला कर मिटा सकते हैं । और एक भीतर का अँधेरा है, उस अँधेरे का नाम दुःख है । और जब तक हम भीतर आनन्द का चिराग न जला लें, तब तक हम भीतर के अँधेरे को नहीं मिटा सकते ।

तो उस पुजारी ने पूछा कि 'हे ईश्वर के राजदूत, मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि इस गाँव में कौन लोग परमात्मा के राज्य में प्रवेश करेंगे ?' तो उस राजदूत ने कहा

कि 'तुम्हें धक्का तो लगेगा, लेकिन वे जो दो नास्तिक हैं इस गाँव में, वे ही परमात्मा के राज्य में प्रवेश करेंगे । उन्होंने कभी प्रार्थना नहीं की है, पूजा नहीं की है, न मंदिर में कभी आये, लेकिन उनका हृदय एक आनन्द से, एक उल्लास से भरा है, एक उत्सव से भरा है; जीवन के प्रति उनकी कोई शिकायत नहीं है और इस जीवन के प्रति जिसकी शिकायत नहीं है, वही आस्तिक है ।'

मनुष्य दुःखी है, और दुःख उसे परमात्मा से तोड़े हुए है । और मनुष्य जब दुःखी है, तो उसके सारे मन की एक ही चेष्टा होती है कि दुःख के लिए किसी को जिम्मेवार ठहराये । और जब तक आप दुःख के लिए किसी को जिम्मेवार ठहराते हैं, तब तक यह मानना मुश्किल है कि आप अन्तिम रूप से दुःख के लिए परमात्मा को जिम्मेवार नहीं ठहरायेंगे । अन्ततः वही जिम्मेवार होगा ।

जब तक मैं कहता हूँ कि मैं अपनी पत्नी के कारण दुःखी हूँ, कि मैं अपने बेटे के कारण दुःखी हूँ, कि अपने गाँव के कारण दुःखी हूँ, कि मैं अपने पड़ोसी के कारण दुःखी हूँ--जब तक मैं कहता हूँ : 'किसी के कारण' दुःखी हूँ, तब तक मुझे खोज करूँ तो पता चल जाएगा कि अन्ततः मैं यह भी कहूँगा कि मैं परमात्मा के कारण दुःखी हूँ ।

दूसरे पर जिम्मा ठहराने वाला बच नहीं सकता--परमात्मा को जिम्मेवार ठहराने से । आप हिम्मत न करते हों खोज की, और पहले ही रुक जाते हों, यह बात अलग है । लेकिन अगर आप अपने भीतर खोज करेंगे, तो आप आखिर में पायेंगे कि आपकी शिकायत की अँगुली ईश्वर की तरफ उठी हुई है ।

सुना है मैंने, एक अरबी कहावत है कि जब परमात्मा ने दुनिया बनायी, तो सबसे पहले उसने भी जमीन पर अपना मकान बनाना चाहा । लेकिन फिर उसके सलाहकारों ने सलाह दी कि यह भूल मत करना । तुम्हारे मकान की एक खिड़की साबित न बचेगी, और तुम भी जिंदा लौट आओ, यह संदिग्ध है । लोग पत्थर मार के तुम्हारे घर को तोड़ डालेंगे, और तुम एक क्षण को सो भी न पाओगे, क्योंकि लोग इतनी शिकायतें ले आयेंगे ! रहने की भूल--जमीन पर--मत करना । तुम वहाँ से सही-साबित लौट न सकोगे ।

कभी अपने मन में आपने सोचा है कि अगर परमात्मा आपको मिल जाय, तो आप क्या निवेदन करेंगे, आप क्या कहेंगे ? अपने हृदय में आप खोजेंगे, तो आप पायेंगे कि आप उसको जिम्मेवार ठहरायेंगे--आप के सारे दुःखों के लिए ।

धार्मिक व्यक्ति का जन्म ही इस विचार से होता है, इस आत्म-अनुसंधान से कि दुःख के लिए कोई दूसरा जिम्मेवार नहीं ; दुःख के लिए मैं जिम्मेवार हूँ ।

और जैसे ही यह दृष्टि साफ होने लगती है कि दुःख के लिए मैं जिम्मेवार हूँ,

वैसे ही दुःख से मुक्त हुआ जा सकता है। और मुक्त होने का कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है।

अगर मैं ही जिम्मेवार हूँ, तो ही जीवन में क्रान्ति हो सकती है। अगर कोई और मुझे दुःख दे रहा है, तो मैं दुःख से कैसे छूट सकता हूँ, क्योंकि जिम्मेवारी दूसरे के हाथ में है। ताकत किसी और के हाथ में है। मालिक कोई और है। मैं तो केवल झेल रहा हूँ। और जब तक यह सारी दुनिया न बदल जाय, जो मुझे दुःख दे रही है, तब तक मैं सुखी नहीं हो सकता।

इसलिए कम्युनिज्म और नास्तिकता में एक तालमेल है, और मार्क्स की अन्तर्दृष्टि में अर्थ है कि मार्क्स मानता है कि जब तक धर्म जमीन पर प्रभावी है, तब तक साम्यवाद प्रभावी न हो सकेगा। इसलिए धर्म की जड़ें काट देनी जरूरी है, तो ही साम्यवाद प्रभावी होगा। उसकी बात में मूल्य है, उसकी बात में गहरी दृष्टि है।

धर्म और साम्यवाद का बुनियादी भेद यही है कि साम्यवाद कहता है कि दुःख के लिए कोई और जिम्मेवार है। और धर्म कहता है कि दुःख के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेवार है। यह बुनियादी विवाद है। यह जड़ है विरोध की।

साम्यवाद कहता है कि समाज बदल जाय, तो लोग सुखी हो जाएँगे; परिस्थिति बदल जाय, तो लोग सुखी हो जाएँगे; व्यवस्था बदल जाय, तो लोग सुखी हो जाएँगे। व्यक्ति के बदलने की कोई बात साम्यवाद नहीं उठाता। कुछ और बदल जाय--मुझे छोड़ कर सब बदल जाय--तो मैं सुखी हो जाऊँगा।

लेकिन धर्म का सारा अनुसंधान यह है कि दूसरा मेरे दुःख का कारण है, यही समझ दुःख है। दूसरा मुझे दुःख दे सकता है, इसलिए मैं दुःख पाता हूँ--इस खयाल से, इस विचार से.....। और तब मैं अनन्त काल तक दुःख पा सकता हूँ--दूसरा बदल जाय, तो भी, क्योंकि मेरी जो दृष्टि है--दुःख पाने की--वह कायम रहेगी।

समाज बदल जाय....। समाज बहुत बार बदल गया है। आर्थिक व्यवस्था बहुत बार बदल गयी है। कितनी क्रांतियाँ नहीं हो चुकी हैं और फिर भी कोई क्रान्ति नहीं हुई। आदमी वैसा का वैसा दुःखी है। सब कुछ बदल गया है।

अगर आज से दस हजार साल पीछे लौटें, तो क्या बचा है? सब बदल गया है। एक ही चीज बची है : दुःख। दुःख वैसा का वैसा बचा है। शायद और भी ज्यादा बढ़ गया है।

गीता के इस अध्याय में दुःख के इस कारण की खोज है। और दुःख के इस कारण को मिटाने का उपाय है। और यह अध्याय गहन साधना की तरफ आपको ले जा सकता है, लेकिन इस बुनियादी बात को पहले ही खयाल में ले लें, तो इस अध्याय में प्रवेश बहुत आसान हो जाएगा।

बहुत कठिन मालूम होता है--अपने आप को जिम्मेवार ठहराना। क्योंकि तब बचाव नहीं रह जाता कोई।

जब मैं यह सोचता हूँ कि मैं ही कारण हूँ अपने दुःखों का, तो फिर शिकायत ही नहीं बचती। किससे शिकायत करूँ, किस पर दोष डालूँ! और जब मैं ही जिम्मेवार हूँ, तो फिर यह भी कहना उचित नहीं मालूम होता है कि मैं दुःखी क्यों हूँ। क्योंकि मैं अपने को दुःखी बना रहा हूँ--इसलिए। और मैं न बनाऊँ, तो दुनिया की कोई ताकत मुझे दुःखी नहीं बना सकती।

बहुत कठिन मालूम पड़ता है। क्योंकि तब मैं अकेला खड़ा हो जाता हूँ और पलायन का, छिपने का, अपने को धोखा देने का, प्रवंचना का कोई रास्ता नहीं बचता।

जैसे ही यह खयाल में आ जाता है कि मैं जिम्मेवार हूँ, वैसे ही क्रान्ति शुरू हो जाती है। ज्ञान क्रान्ति है। और ज्ञान का पहला सूत्र है कि जो कुछ भी मेरे जीवन में घटित हो रहा है, उसे कोई परमात्मा घटित नहीं कर रहा है; उसे कोई समाज घटित नहीं कर रहा है; उसे मैं घटित कर रहा हूँ--चाहे मैं जानूँ, और चाहे मैं न जानूँ।

मैं जिस कारागृह में कैद हो जाता हूँ, वह मेरा ही बनाया हुआ है और जिन जंजीरों में मैं अपने को पाता हूँ, वे मैंने ही ढाली हैं। और जिन काँटों पर मैं पाता हूँ कि मैं पड़ा हूँ, वे मेरे ही निर्मित किये हुए हैं। जो गड्ढे मुझे उलझा लेते हैं, वे मेरे ही खोदे हुए हैं। जो भी मैं काट रहा हूँ, वह मेरा बोया हुआ है--मुझे दिखायी पड़ता हो या न दिखायी पड़ता हो।

अगर मुझे दिखाई पड़ने लगे, तो दुःख विसर्जन शुरू हो जाता है। और यह मुझे दिखाई पड़ने लगे, तो आनन्द की किरण भी फूटनी शुरू हो जाती है। और आनन्द की किरण के साथ ही तत्त्व का बोध है, तत्त्व का ज्ञान है; वह जो सत्य है, उसकी प्रतीति के निकट मैं पहुँचता हूँ।

अब हम इस सूत्र में प्रवेश करें।

'उसके उपरान्त कृष्ण बोले, अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है--ऐसा कहा जाता है। और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ ऐसा उसके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं। और हे अर्जुन, तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मेरे को ही जान। और क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकार सहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इसलिए वह क्षेत्र जो है, और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है, और जिस प्रभाव वाला है, वह संक्षेप में मेरे से सुन।'

आपका मन उदास है, दुःखी है, पीड़ित है। या सुबह आप उठे हैं; मन प्रफुल्लित

है, शान्त है; जीवन भला मालूम होता है; या कि बीमार पड़े हैं और जीवन व्यर्थ मालूम होता है। लगता है : कोई सार नहीं है। या जवान हैं और जीवन में गति मालूम पड़ती है। बहुत कुछ करने जैसा लगता है; कोई अभिप्राय दिखाई पड़ता है। फिर बूढ़े हो गये हैं, थक गये हैं, शक्ति टूट गयी है और सब ऐसा लगता है, जैसे कोई दुःख-स्वप्न था। न कोई उपलब्धि हुई है, न कहीं पहुँचे हैं और मौत करीब मालूम होती है।

कोई भी अवस्था हो मन की, एक बात--बच्चे में, जवान में, बूढ़े में--सुख का आभास हो, दुःख का आभास हो उसमें--एक बात समान है कि मन पर जो भी अवस्था आती है, आप अपने को उसके साथ तादात्म्य कर लेते हैं।

अगर भूख लगती है, तो आप ऐसा नहीं कहते कि मुझे पता चल रहा है कि शरीर को भूख लग रही है। आप कहते हैं, 'मुझे भूख लग रही है।' यह केवल भाषा का ही भेद नहीं है। यह हमारी भीतर की प्रतीति है। सिर में दर्द है, तो आप ऐसा नहीं कहते, न ऐसा सोचते, न ऐसी प्रतीति करते कि सिर में दर्द हो रहा है—ऐसा मुझे पता चल रहा है। आप कहते हैं, 'मेरे सिर में दर्द है।'

जो भी प्रतीति होती है, आप उसके साथ एक हो जाते हैं। वह जो जानने वाला है, उसको आप अलग नहीं बचा पाते। वह जो जानने वाला है, वह खो जाता है। ज्ञेय में खो जाता है--ज्ञाता। दृश्य में खो जाता है—द्रष्टा। भोग में खो जाता है—भोक्ता। कर्म में खो जाता है—कर्ता। वह जो भीतर जानने वाला है, वह दूर नहीं रुक पाता और एक हो जाता है उससे--जिसे जानता है। पैर में दर्द है, और आप दर्द के साथ एक हो जाते हैं। यही एक-मात्र दुर्घटना है।

अगर कोई भी मौलिक पतन है, जैसा ईसाइयत कहती है, कोई ओरिजिनल सिन, कोई मूल पाप है, अगर कोई एक पतन खोजा जाय, तो एक ही है पतन और वह है : तादात्म्य--जानने वाला एक हो जाय उसके साथ, जिसे जान रहा है।

दर्द आप नहीं हैं। आप दर्द को जानते हैं। दर्द आप हो भी नहीं सकते। क्योंकि अगर आप दर्द हो जायँ, तो दर्द को जानने वाला कोई भी न बचेगा।

सुबह होती है, सूरज निकलता है, तो आप देखते हैं कि सूरज निकला, प्रकाश हो गया। फिर साँझ आती है और सूरज ढल जाता है, अँधेरा आ जाता है। तो आप देखते हैं कि रात आ गयी। लेकिन वह जो देखने वाला है, वह न तो सुबह है और न साँझ है। वह जो देखने वाला है, न तो सूरज की किरण है, और न रात का अँधेरा भी है। वह जो देखने वाला है, वह तो अलग खड़ा है। वह सुबह को भी देखता है उगते, साँझ को भी देखता है। वह रात का अँधेरा भी देखता है, दिन का प्रकाश भी देखता है। वह जो देखने वाला है, वह अलग है। लेकिन जीवन में हम उसे अलग

नहीं रख पाते। वह तत्क्षण एक हो जाता है।

कोई आपको गाली दे देता है, खट्ट से चोट पहुँच जाती है। आप ऐसा नहीं कर पाते कि देख पायें कि कोई गाली दे रहा है, और देख पायें कि मन में चोट पहुँच रही है।

दोनों बातें आप देख सकते हैं। आप देख सकते हैं कि गाली दी गयी, और आप यह भी देख सकते हैं कि मन में थोड़ी चोट और पीड़ा पहुँची। और आप दोनों से दूर खड़े रह सकते हैं। यह जो दूर खड़े रहने की कला है, सारा धर्म उस कला का ही नाम है।

वह जो जानने वाला है, वह जाने जाने वाली चीज से दूर खड़ा रह जाय; वह जो अनुभोक्ता होता है, अनुभव के पार खड़ा रह जाय। सब अनुभव का नाम क्षेत्र है और वह जो जानने वाला है, उसका नाम क्षेत्रज्ञ है।

कृष्ण इस सूत्र में इन दोनों के भेद के सम्बन्ध में प्राथमिक प्रस्तावना कर रहे हैं। वे कह रहे हैं : 'यह शरीर क्षेत्र है—ऐसा कहा जाता है। और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उसके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी कहते हैं।'

आप शरीर के साथ अपने को जब तक एक समझ रहे हैं, तब तक दुःख से कोई छुटकारा नहीं है।

अब यह बहुत मजे की और बहुत चमत्कारिक घटना है। शरीर को कोई दुःख नहीं हो सकता। शरीर में दुःख होते हैं, लेकिन शरीर को कोई दुःख नहीं हो सकता। क्योंकि शरीर को कोई बोध नहीं है। इसलिए आप मुरदा आदमी को दुःख नहीं दे सकते। इसीलिए तो डॉक्टर इसके पहले कि आपका ऑपरेशन करे, आपको बेहोश कर देता है। बेहोश होने से ही शरीर को कोई दुःख नहीं होता। लेकिन सब दुःख शरीर में होते हैं। और वह जो जानने वाला है, उसमें कोई दुःख नहीं होता। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

दुःख शरीर में घटते हैं और जाने जाते हैं उसमें, जो शरीर नहीं है। जानने वाला अलग है, और जहाँ दुःख घटते हैं, वह जगह अलग है। पर जहाँ दुःख घटते हैं, वहाँ जानने की संभावना नहीं है, और जो जानने वाला है, वहाँ दुःख के घटने की कोई संभावना नहीं है।

जब कोई मेरे पैर को काटता है, तो पैर के काटने की घटना तो शरीर में घटती है और अगर जानने वाला मौजूद न हो, तो कोई दुःख घटित नहीं होगा। लेकिन जानने की घटना मुझमें घटती है। कटता है शरीर, जानता हूँ मैं। यह जानना, और शरीर में कटने का घटना, इतना निकट है कि दोनों इकट्ठे हो जाते हैं; हम फासला नहीं कर पाते; दोनों के बीच में जगह नहीं बना पाते। हम एक ही

हो जाते हैं।

जब शरीर पर कटना शुरू होता है, तो मुझे लगता है, मैं कट रहा हूँ। और यह प्रतीति कि 'मैं कट रहा हूँ,' दुःख बन जाती है।

हमारे सारे दुःख शरीर से उधार लिए गये हैं। शरीर में कितने ही दुःख घटें, अगर आपको पता न चले, तो दुःख घटते नहीं। और शरीर में बिलकुल दुःख न घटें, और अगर आपको चल जाय, तो भी दुःख घट जाता है। दूसरी बात भी खयाल में ले लें :

शरीर में कोई दुःख न घटे, लेकिन आपको प्रतीति करवा दी जाय कि दुःख घट रहा है, तो दुःख घट जाएगा।

सम्मोहन में सम्मोहित व्यक्ति को कह दिया जाय कि तेरे पैर में आग लगी है, तो पीड़ा शुरू हो जाती है। वह आदमी चीखने-चिल्लाने लगता है। वह रोने लगता है। प्रतीति शुरू हो गयी कि पैर में आग लगी है।

सम्मोहित आदमी को कुछ भी कह दिया जाय, वह स्वीकार कर लेता है। उसे वैसा दुःख होना शुरू हो जाएगा। कोई दुःख शरीर में घट नहीं रहा है, लेकिन अगर जानने वाला मान ले कि घट रहा है, तो घटना शुरू हो जाता है।

आपको शायद खयाल न हो : जमीन पर जितने साँप होते हैं, उनमें तीन प्रतिशत साँपों में जहर होता है। बाकी सन्तानबे प्रतिशत तो बिना जहर के होते हैं। लेकिन बिना जहर के साँप काटे हुए लोग भी मरते हैं।

अब यह बड़ी अजीब घटना है, क्योंकि जिस साँप में जहर ही नहीं है, उससे काटा हुआ आदमी मर कैसे जाता है! और इसीलिए तो साँप को झाड़ने वाला भी सफल हो जाता है। क्योंकि सन्तानबे प्रतिशत मौके पर तो कोई जहर होता नहीं, सिर्फ जहर के खयाल से आदमी मर रहा होता है। इसलिए झाड़ने वाला अगर खयाल दिला दे कि झाड़ दिया, तो बात खतम हो गयी। इसलिए मन सरलता से काम कर जाता है।

झाड़ने वाला सफल हो जाता है, सिर्फ भरोसा दिलाने की बात है, क्योंकि साँप ने भी भरोसा दिलाया है कि मुझमें जहर है। उसमें जहर तो था नहीं। भरोसे से आदमी मर रहा है, तो भरोसे से आदमी बच भी सकता है।

लेकिन दूसरी घटना भी सम्भव है। असली जहर वाले साँप का काटा हुआ आदमी भी मन्त्रोपचार से बच सकता है। अगर नकली जहर से मर सकता है, तो असली जहर से भी बचने की संभावना है। अगर यह भ्रांति कि साँप ने मुझे काट लिया है, इसलिए मरना जरूरी है--मौत बन सकती है, तो यह खयाल कि साँप ने भला मुझे काटा है, लेकिन मन्त्र मुझे मुक्त कर दिया, असली जहर से भी छुटकारा दिला

सकती है।

अभी पश्चिम में मनसविद् बहुत प्रयोग करते हैं और बहुत हैरान हुए हैं। दुनिया में हजारों तरह की दवाइयाँ चलती हैं। सभी तरह की दवाइयाँ काम करती हैं। होमियोपैथी भी बचाती है, एलोपैथी भी बचाती है। आयुर्वेद भी बचाता है; और यूनानी हकीम भी बचाता है; नैचरोपैथ भी बचा लेता है। मन्त्र से भी बच जाता है आदमी। किसी की कृपा से भी बच जाता है। डिवाइन हीलिंग--प्रभु चिकित्सा से भी बच जाता है। तो सवाल यह है कि आदमी इतने ढंगों से बचता है, तो विचारणीय है, इसमें कोई वैज्ञानिक कारण है--बचने के--कि सिर्फ आदमी का भरोसा बचा लेता है!

आपको शायद पता न हो, जब भी कोई नयी दवा निकलती है, तो मरीजों पर ज्यादा काम करती है।। लेकिन साल दो साल में फीकी पड़ जाती है, फिर काम नहीं करती। जब नयी दवा निकलती है, तो मरीजों पर क्यों काम करती है? नयी दवा से ऐसा लगता है कि बस, अब सब ठीक हो गया। लेकिन साल छः महीने में कुछ मरीज फायदा उठा लेते हैं। बाकी उसके बाद फिर फायदा नहीं उठा पाते।

एक बहुत विचारशील डॉक्टर ने कहा है कि जब भी नयी दवा निकले, तब फायदा पूरा उठा लेना चाहिए, क्योंकि थोड़े ही दिन में दवा काम नहीं करेगी।

नयी दवा काम क्यों करती है? थोड़े दिन पुरानी पड़ जाने के बाद दवा का रहस्य और चमत्कार क्यों चला जाता है? उस पर बहुत अध्ययन किया गया और पाया गया कि जब नयी दवा निकलती है, तो उसके विरोध में कुछ भी नहीं होता। उसकी असफलता की कोई खबर न मरीज को होती है, न डॉक्टर को होती है। डॉक्टर भी भरोसे से भरा होता है कि दवा नयी है, चमत्कार है।

विज्ञापन, अखबार--सब खबरें देते हैं कि चमत्कार की दवा खोज ली गयी है। डॉक्टर भरोसे से भरा होता है। मरीज को दवा देता है और वह कहता है : बिलकुल घबड़ाओ मत। अब तक तो इस बीमारी का मरीज बच नहीं सकता था। लेकिन अब वह दवा हाथ में आ गयी है। अब इस मरीज को मरने की कोई जरूरत नहीं है। अब तुम बच जाओगे।

वह जो डॉक्टर का भरोसा है, वह मन्त्र का काम कर रहा है। उसे पता नहीं कि वह पुरोहित का काम कर रहा है--इस क्षण में। उसकी आँखों में जो रौनक है, वह जो भरोसे की बात है, वह जो मरीज से कहना पड़ता है कि बेफिक्र रह--मरीज को भी यह उत्साह पकड़ जाता है। मरीज बच जाता है।

लेकिन साल छः महीने में ही...। अनुसंधान करने वाले दवा में खोज करते हैं कि सच में इसमें ऐसा कुछ है या नहीं। मेडिकल जर्नल्स में खबरें आनी शुरू हो

जाती हैं कि इस दवा में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है कि जिस पर इतना भरोसा किया जा सके ।

खोजबीन शुरू हो जाती है; डॉक्टर का भरोसा कम होने लगता है । अब भी वह दवा डॉक्टर देता है, लेकिन वह कहता है, 'शायद काम कर सके, शायद न भी करे ।' वह जो 'शायद' है, वह मन्त्र की हत्या कर देता है । डॉक्टर का भरोसा गया; मरीज का भी भरोसा गया ।

मैं एक घटना पढ़ रहा था कि एक मरीज पर एक दवा का प्रयोग किया गया । डॉक्टर भरोसे से भरा था कि दवा काम करेगी । दवा काम कर गयी । वह मरीज साल भर तक ठीक रहा । बीमारी तिरोहित हो गयी । लेकिन साल भर बाद अनुसंधानकर्ताओं ने पता लगाया कि उस दवा से बीमारी के ठीक होने का कोई संबंध ही नहीं है । डॉक्टर ने मरीज को खबर की कि 'चमत्कार की बात है कि तुम तो ठीक हो गये, लेकिन अभी खबर आयी है, रिसर्च काम कर रही है कि इस दवा में उस बीमारी के ठीक होने का कोई कारण नहीं है ।' वह मरीज उसी दिन पुनः बीमार हो गया । वह साल भर बिलकुल ठीक रह चुका था ।

और कहानी यहीं खत्म नहीं होती । छः महीने बाद फिर इस पर खोजबीन चली और दूसरे रिसर्च करने वाले ने कुछ और पता लगाया । उसने कहा कि 'नहीं, यह दवा काम कर सकती है ।' और वह मरीज फिर ठीक हो गया ।

तो अभी डॉक्टरों को शक पैदा हो गया है कि दवाएँ काम करती हैं या भरोसा काम करता है ।

सभी चिकित्सा में जादू काम करता है, मन्त्र काम करता है ।

अगर एलोपैथी ज्यादा काम करती है, तो उसका यह कारण नहीं है कि एलोपैथी में ज्यादा जान है । उसका कारण यह है कि एलोपैथी के पास ज्यादा प्रचार का साधन है; ज्यादा मेडिकल कॉलेज हैं, युनिवर्सिटीज हैं, ज्यादा सरकारें, अथॉरिटीज, प्रमाण हैं उसके पास; वह सब काम करती है ।

अनेक चिकित्सकों ने प्रयोग किये हैं, उसे वे 'प्लेश बो' कहते हैं । दस मरीजों को—उसी बीमारी के दस मरीजों को—दवा दी जाती है; उसी बीमारी के दस मरीजों को सिर्फ पानी दिया जाता है । बड़ी हैरानी की बात यह है कि अगर सात दवा से ठीक होते हैं, तो सात पानी से भी ठीक हो जाते हैं । सात पानी से भी ठीक होते हैं, लेकिन बात इतनी जरूरी है कि कहा जाय कि उनको भी दवा दी जा रही है ।

आदमी का मन बीमारी न हो, तो बीमारी पैदा कर सकता है । और आदमी का मन बीमारी हो, तो बीमारी से अपने को तोड़ भी सकता है । मन की यह स्वतन्त्रता ठीक से समझ लेनी जरूरी है ।

आप अपने शरीर से अलग हो कर भी शरीर को देख सकते हैं, और आप अपने शरीर के साथ एक हो कर भी अपने को देख सकते हैं । हम सब अपने को एक हो कर ही देख रहे हैं । हमारे दुःखों की सारी मूल जड़ वहाँ है ।

शरीर में दुःख घटित होते हैं और हम अपने को मानते हैं कि शरीर के साथ एक हैं । बच्चा मानता है कि मैं शरीर हूँ । जवान मानता है कि मैं शरीर हूँ । बूढ़ा मानता है कि मैं शरीर हूँ । तो बूढ़ा दुःखी होगा, क्योंकि उसको लगता है कि उसकी आत्मा भी बूढ़ी हो गयी । शरीर बूढ़ा हो गया है । आत्मा तो कुछ बूढ़ी होती ही नहीं । लेकिन बूढ़े शरीर के साथ तादात्म्य बँधा हुआ है, तो जिसने माना था कि जवान शरीर मैं हूँ, मानना मजबूरी है अब उसकी, अब उसे मानना पड़ेगा कि अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ । और जिसने माना था शरीर की जिंदगी को अपनी जिंदगी, जब मौत आयेगी तो उसे मानना पड़ेगा कि अब मैं मर रहा हूँ ।

लेकिन बचपन से ही हम शरीर के साथ अपने को एक मान कर बड़े होते हैं । शरीर के सुख, शरीर के दुःख—हम अपने मानते हैं । शरीर की भूख, शरीर की प्यास—हम अपनी मानते हैं ।

कृष्ण का सूत्र कह रहा है : शरीर क्षेत्र है, जहाँ घटनाएँ घटती हैं । और तुम क्षेत्रज्ञ हो, जो घटनाओं को जानता है ।

अगर यह एक सूत्र जीवन में फलित हो जाय, तो धर्म की फिर और कुछ जानकारी करने की जरूरत नहीं है । फिर कोई कुरान, बाइबिल, गीता—सब फेंक दिये जा सकते हैं । एक छोटा-सा सूत्र—कि जो भी शरीर में घट रहा है, वह शरीर में घट रहा है, मुझमें नहीं घट रहा है; मैं देख रहा हूँ, जान रहा हूँ, मैं एक द्रष्टा हूँ—यह सूत्र समस्त धर्म का सार है । इसे थोड़ा थोड़ा प्रयोग करना शुरू करें, तो ही खयाल में आयेगा ।

एक तो रास्ता यह है कि गीता हम समझाते रहते हैं । गीता लोग समझाते रहते हैं । वे कहते रहते हैं कि क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है । और हम सुन लेते हैं, और मान लेते हैं कि होगा । लेकिन जब तक यह अनुभव न बन जाय, तब तक इसका कोई अर्थ नहीं है । यह कोई सिद्धान्त नहीं है; यह तो प्रयोगजन्य अनुभूति है । इसे थोड़ा प्रयोग करें ।

जब भोजन कर रहे हों, तो समझें कि भोजन शरीर में डाल रहे हैं और आप भोजन करने वाले नहीं हैं, देखने वाले हैं ।

जब रास्ते पर चल रहे हों, तो समझें कि आप चल नहीं रहे हैं; शरीर चल रहा है । आप तो सिर्फ देखने वाले हैं । जब पैर में काँटा गड़ जाय, तो बैठ जायँ, दो क्षण, ध्यान करें—बाद में काँटा निकालें । जल्दी नहीं है । दो क्षण ध्यान करें और समझें

कि कांटा गड़ रहा है, दर्द हो रहा है। यह शरीर में घट रहा है, मैं जान रहा हूँ।

जो भी मौका मिले--क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अलग करने का--उसे चूकें मत, उसका उपयोग करें।

जब शरीर बीमार पड़ा हो--तब भी; जब शरीर स्वस्थ हो--तब भी। जब सफलता हाथ लगे--तब भी; जब असफलता हाथ लगे--तब भी।

जब कोई गले में फूल-मालाएँ डालने लगे, तब भी स्मरण रखें कि फूल-मालाएँ शरीर पर डाली जा रही हैं, मैं सिर्फ देख रहा हूँ। और जब कोई जूता फेंक दे, अपमान करे, तब भी जानें कि इस शरीर पर जूता फेंका गया, और मैं देख रहा हूँ। इसके लिए कोई हिमालय पर जाने की जरूरत नहीं है। आप जहाँ हैं, जो हैं, जैसे हैं, वहीं ज्ञाता को और ज्ञेय को अलग कर लेने की सुविधा है।

न कोई मंदिर का सवाल है, न कोई मसजिद का, आपकी जिंदगी ही मंदिर है और मसजिद है। वहाँ छोटा-छोटा प्रयोग करते रहें। और ध्यान रखें: एक-एक ईंट रखने से महल खड़े हो जाते हैं; छोटे-छोटे प्रयोग करने से परम अनुभूतियाँ हाथ आ जाती हैं। एक-एक बूँद इकट्ठा हो कर सागर निर्मित हो जाता है। और छोटा-छोटा अनुभव इकट्ठा होता चला जाय, तो परम साक्षात्कार तक आदमी पहुँच जाता है। छोटे-छोटे कदम से हजारों मील की यात्रा पूरी हो जाती है।

तो यह मत सोचें कि छोटे-छोटे अनुभव से क्या होगा। सभी अनुभव जुड़ते जाते हैं, उनका सार इकट्ठा हो जाता है। और धीरे-धीरे आपके भीतर वह इन्टिग्रेशन, आपके भीतर वह केन्द्र पैदा हो जाता है, जहाँ से आप फिर बिना प्रयास के निरन्तर देख पाते हैं कि आप अलग हैं और शरीर अलग है।

बहुत लोग इसको मन्त्र की तरह रटते हैं कि मैं अलग हूँ, शरीर अलग है। मन्त्र की तरह रटने से कोई फायदा नहीं। इसे तो प्रयोग-भूमि बनाना जरूरी है।

बहुत लोग बैठ कर रोज सुबह अपनी प्रार्थना-पूजा में कह लेते हैं कि 'मैं आत्मा हूँ--शरीर नहीं।' इस कहने से कुछ लाभ न होगा। और रोज-रोज दोहराने से यह जड़ हो जाएगी बात। इसका कोई मन पर असर ही न होगा। आप इसको मशीन की तरह दोहरा लेंगे। इसका अर्थ भी धीरे-धीरे खो जाएगा।

आमतौर से मेरा अनुभव है कि धार्मिक लोग महत्त्वपूर्ण शब्दों को दोहरा-दोहरा कर उनका अर्थ भी नष्ट कर देते हैं। फिर मशीन की तरह दोहराते रहते हैं। पुनरुक्ति करते रहते हैं। तोतों की रटन्त हो जाती है। इसका कोई अर्थ नहीं होता। इसे मन्त्र की तरह नहीं, प्रयोग की तरह...।

इसे चौबीस घंटे में दस, बीस, पच्चीस बार--जितनी बार सम्भव हो सके...। किसी सिचवेसन में, किसी परिस्थिति में तत्क्षण अपने को तोड़ कर अलग देखने का

प्रयोग करें। स्नान कर रहे हैं और खयाल करें कि स्नान की घटना शरीर में घट रही है और मैं जान रहा हूँ। कुछ भी कर रहे हैं....। यहाँ सुन रहे हैं, तो सुनने की घटना आपके शरीर में घट रही है। और सुनने की घटना घट रही है--इसे आप जान रहे हैं।

वह जानने वाले को धीरे-धीरे निखार कर अलग करते जायँ। जैसे कोई मूर्तिकार छेनी से काटता है पत्थर को, ऐसे ही जानने वाले को अलग काटते जायँ; और जो जाना जाता है, उसे अलग काटते जायँ। अनुभव को अलग करते जायँ, अनुभोक्ता को अलग करते जायँ; तो जरूर एक दिन वह फासला पैदा हो जाएगा, वह दूरी खड़ी हो जाएगी, जहाँ से चीजें देखी जा सकती हैं।

'हे अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है--ऐसा कहा जाता है। और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ--ऐसा उसके तत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन कहते हैं।'

यह खयाल में ले लेना जरूरी है कि पूरब के मुल्कों में और विशेष कर भारत में हमारा जोर विचार पर नहीं है, हमारा जोर ज्ञान पर है। हमारा जोर उस बात पर नहीं है कि हम किन्हीं सिद्धान्तों को प्रतिपादित करें। हमारा जोर इस बात पर है कि हम जीवन के अनुभव से कुछ सार निचोड़ें। ये दोनों अलग बातें हैं।

इसको आप सिद्धान्त की तरह भी प्रतिपादित कर सकते हैं कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है; जानने वाला अलग है, जो जाना जाता है, वह अलग है। इसको आप एक फिलॉसफी, एक तत्त्व-विचार की तरह खड़ा कर सकते हैं। और बडे तर्क उसके पक्ष और विपक्ष में भी जुटा सकते हैं; बड़े शास्त्र भी निर्मित कर सकते हैं।

लेकिन भारत की मनीषा का आग्रह सिद्धान्तों पर जरा भी नहीं है। जोर इस बात पर है कि जो आप ऐसा मानते हों, तो ऐसा मानते हैं, या जानते हैं? ऐसी आपकी अपनी अनुभूति है या ऐसा आपका विचार है? विचार धोखा दे सकता है। अनुभूति भर धोखा नहीं देती। विचार में डर है। विचार में अकसर हम उस बात को मान लेते हैं, जो हम मानना चाहते हैं। इसे थोड़ा समझ लें।

विचार में एक तरह का विशफुलफिलमेंट है, एक तरह की कामनाओं की तृप्ति होती है। समझें:

एक आदमी मौत से डरता है; सभी डरते हैं; तो जो मृत्यु से डरता है, उसे मानने का मन होता है कि आत्मा अमर है। यह उसकी भीतरी आकांक्षा होती है कि आत्मा न मरे। जब वह गीता में पढ़ता है कि शरीर अलग और आत्मा अलग, और आत्मा नहीं मरती, तो वह तत्क्षण मान लेता है। मानने का कारण यह नहीं है कि गीता सही है। मानने का कारण यह भी नहीं है कि उसको अनुभव हुआ है। मानने का कारण कुल इतना है कि वह मौत से डरा हुआ है, मृत्यु से भयभीत है। इसलिए कोई भी आसरा देता हो कि आत्मा अमर है, तो वह कहेगा, बिलकुल ठीक। जब वह

'बिलकुल ठीक' कह रहा है, तो सिर्फ मृत्यु के भय के कारण । वह चाहता है कि आत्मा अमर हो । लेकिन आपकी चाह से सत्य पैदा नहीं होता ।

आप क्या चाहते हैं, इससे सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है । और जब तक आप चाहते रहेंगे, तब तक आप सत्य को जान भी न पायेंगे । सत्य को जानना पड़ेगा आपको चाह को छोड़ कर ।

विचार अकसर ही स्वयं की छिपी हुई वासनाओं की पूर्ति होते हैं । और हम अपने को समझा लेते हैं । इसलिए अकसर मेरा अनुभव यह है कि जो मौत से डरे हुए लोग हैं, वे आत्मवादी हो जाते हैं । इसलिए इस मुल्क में दिखाई पड़ेगा...।

यह मुल्क इतने दिन तक गुलाम रहा । कोई भी आया और इस मुल्क को गुलाम बनाने में बड़ी आसानी रही । जितनी तकलीफ कम से कम हमने दी गुलाम बनाने वालों को, दुनिया में कोई भी नहीं देता । और बड़े आश्चर्य की बात है कि हम आत्मवादी लोग हैं । हम मानते हैं कि आत्मा अमर है । और मरने से हम इतना डरते हैं कि हमें कभी भी गुलाम बनाया जा सकता है । मौत का डर पैदा हुआ कि हम गुलाम हो गये । अगर हमें कोई डरा दे कि मौत करीब है, तो हम कुछ भी करने को राजी हो गये !

यह बड़ा असंगत मालूम पड़ता है । यह होना नहीं चाहिए । आत्मवादी मुल्क को तो गुलाम कोई बना ही नहीं सकता, क्योंकि जिसको यही पता है कि आत्मा नहीं मरती, उसे आप डरा नहीं सकते । और जिसको डरा नहीं सकते, उसे गुलाम कैसे बनाइयेगा ?

गुलामी का सूत्र तो भय है । जिसको भयभीत किया जा सके, उसको गुलाम बनाया जा सकता है । और जिसको भयभीत नहीं किया जा सके, उसे कैसे गुलाम बनाइयेगा ? और आत्मवादी को कैसे भयभीत किया जा सकता है ?

जो जानता है कि आत्मा मरती ही नहीं, अब उसे भयभीत करने का कोई भी उपाय नहीं है । आप उसका शरीर काट डालें, तो वह हँसता रहेगा, और वह कहेगा कि व्यर्थ मेहनत कर रहे हो, क्योंकि जिसे तुम काट रहे हो, वह मैं नहीं हूँ । और मैं तुम्हारे काटने से कटूँगा नहीं । इसलिए काटने पर भरोसा मत करो । तुम काटने से मुझे डरा न सकोगे । तुम काट कर मेरे शरीर को मिटा दोगे, लेकिन तुम मुझे गुलाम न बना सकोगे ।

लेकिन आत्मवादी मुल्क इतनी आसानी से गुलाम बनता रहा है, उसके पीछे कुछ कारण होना चाहिए । और कारण मेरी समझ में यह है कि हमारा आत्मवाद अनुभव नहीं है । हमारा आत्मवाद मृत्यु के भय से पैदा होता है । अधिक लोग मरने से डरते हैं, इसलिए मानते हैं कि आत्मा अमर है ।

अब यह बड़ी उलटी बात है । मरने से जो डरता है, उसे तो आत्मा की अमरता कभी पता नहीं चलेगी, क्योंकि मृत्यु की घटना घटती है शरीर में, और जो डर रहा मृत्यु से, वह शरीर को अपने साथ एक मान रहा है । इसलिए वह कितना ही मानता रहे आत्मवाद—कि आत्मा सत्य है, आत्मा शाश्वत सत्य है—और वह कितना ही दोहराता रहे मन में कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ, लेकिन इन सब के पीछे अनुभव नहीं, इन सब के पीछे एक सिद्धान्त, एक विचार है; और विचार के पीछे छिपी वासना है ।

विचार वासना से मुक्त नहीं हो पाता है । विचार वासना का ही बुद्धिगत रूप है ।

भारत का जोर है अनुभव पर—विचार पर नहीं । भारत कहता है : इसकी फिक्र छोड़ो कि वस्तुतः शरीर और आत्मा अलग है या नहीं । तुम तो यह प्रयोग करके देखो कि जब तुम्हारे शरीर में कोई घटना घटती है, तो वह घटना शरीर में घटती है या तुममें घटती है । तुम उसे जानते हो, फासले से खड़े हो कर देखते हो, या उस घटना से एक हो जाते हो ?

कोई भी व्यक्ति थोड़ी-सी सजगता का प्रयोग करे, तो उसे प्रतीति होनी शुरू हो जाएगी कि मैं अलग हूँ । और तब दोहराना न पड़ेगा कि मैं शरीर से अलग हूँ । यह हमारा अनुभव होगा ।

कृष्ण कहते हैं, जो ऐसा जानता है : स्वयं को क्षेत्रज्ञ, शरीर को क्षेत्र—उस तत्त्व को जानने वाले को ज्ञानी कहते हैं । 'और हे अर्जुन, तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मेरे को ही जान । और क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकारसहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है ।' दूसरी प्रस्तावना ।

पहली तो बात : विचार से यह प्रतीति तो कभी न हो पायेगी, अनुभव से प्रतीति होगी । और जिस दिन यह प्रतीति होगी कि मैं शरीर नहीं हूँ—आत्मा हूँ, उस दिन यह भी प्रतीति होगी कि वह आत्मा सभी के भीतर एक है ।

ऐसा समझें कि बहुत से घड़े रखे हों पानी भरे, नदी में ही रख दिये हों । हर घड़े में नदी का पानी भर गया हो । घड़े के बाहर भी नदी हो, भीतर भी नदी हो । लेकिन जो घड़ा अपने को समझता हो : यह मिट्टी की देह ही मैं हूँ, उसे पड़ोस में रखा हुआ घड़ा 'दूसरा' मालूम पड़ेगा । लेकिन जो घड़ा इस अनुभव को उपलब्ध हो जाय कि भीतर भरा हुआ जल मैं हूँ, तत्क्षण पड़ोसी भी मिट जाएगा । उसकी मिट्टी की देह भी व्यर्थ हो जाएगी । उसके भीतर का जल ही सार्थक हो जाएगा । जल तो दोनों के भीतर एक है ।

चैतन्य तो सब के भीतर एक है । दीये अलग-अलग हैं मिट्टी के, उनके भीतर

ज्योति तो एक है, उनके भीतर सूरज का प्रकाश तो एक है ।

सब दीयों के भीतर एक ही सूरज जलता है--बड़े से बड़े दीये के भीतर और छोटे से छोटे दीये के भीतर । जो सूरज में है, वही रात जुगनू में भी चमकता है । जुगनू कितना ही छोटा हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । सूरज कितना ही बड़ा हो, इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता । बड़े-छोटे से कोई फर्क नहीं पड़ता । वह जो प्रकाश की घटना है, वह जो प्रकाश का तत्त्व है, वह एक है ।

जैसे ही कोई व्यक्ति शरीर से थोड़ा पीछे हटता है, अपने भीतर ही खड़े हो कर देखता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, वैसे ही दूसरी बात भी दिखाई शुरू हो जाती है, दूसरा द्वार भी खुल जाता है । तब सभी के भीतर वह जो जानने वाला है, वह एक है ।

तो कृष्ण कहते हैं, 'वह जो सभी के भीतर क्षेत्रज्ञ है, वह तू मुझे ही जान ।' सब के भीतर से मैं ही जान रहा हूँ ।

यह एक बहुत नया आयाम है । परमात्मा जगत् को बनाने वाला नहीं है; परमात्मा सब तरफ से जगत् को जानने वाला है--सब के भीतर से ।

एक कबूतर बैठ कर देख रहा है; एक छोटा बच्चा देख रहा है... । अब तो वे कहते हैं कि फूल भी खिलता है, उसके पास भी बड़ी सूक्ष्म आँखें हैं, वह भी देख रहा है । अब तो वे कहते हैं, वृक्षों के पास भी आँखें हैं, वह भी देख रहा है ।

अब तो वैज्ञानिक भी कहते हैं कि सभी चीजें देख रही हैं । सभी चीजें अनुभव कर रही हैं । सभी के भीतर अनुभोक्ता बैठा है ।

वह जो सब के भीतर से जान रहा है--कृष्ण कहते हैं --वह मैं हूँ । परमात्मा कहीं दूर नहीं है । कहीं फासले पर नहीं है । निकट से भी निकट है ।

एक ईसाई फकीर संत लयोला ने एक छोटे से ध्यान के प्रयोग की बात कही है । वह ध्यान का प्रयोग कीमती है और चाहे तो आप कर सकते हैं और अनूठा है । जिस किसी व्यक्ति को आप बहुत प्रेम करते हों, उसके सामने बैठ जायँ । स्नान कर लें, जैसे मन्दिर में प्रवेश करने जा रहे हैं । द्वार-दरवाजे बन्द कर लें, ताकि कोई आपको बाधा न दे । और एकटक दोनों व्यक्ति एक दूसरे की आँख में झाँकना शुरू कर दें । सिर्फ एक दूसरे की आँख में झाँके और सब भूल जायँ । सब तरफ से ध्यान हटा लें और एक दूसरे की आँख में अपने को उँडेलना शुरू करें । चाहे आपका छोटा बच्चा ही हो ; जिससे भी आप का लगाव हो । लगाव हो तो अच्छा, क्योंकि जरा आसानी से आप भीतर प्रवेश कर सकेंगे । क्योंकि जिससे आप का लगाव न हो, उससे हटने का मन होता है । जिससे आप का लगाव हो, उसमें प्रवेश करने का मन होता है । हमारा प्रेम एक दूसरे में प्रवेश करने की आकांक्षा ही है ।

तो जिससे तुम्हारा प्रेम हो, उसकी आँखों में झाँकें--एकटक और उससे भी कहें , कि वह भी आँखों में झाँके । और पूरी यह कोशिश करें कि सारी दुनिया मिट जाय । बस, वे दो आँखे रह जायँ और आप उसमें यात्रा पर निकल जायँ ।

एक दो चार दिन के ही प्रयोग से--एक आधा घंटा रोज करने से--आप चकित हो जाएँगे । आपके सारे विचार खो जाएँगे । जो विचार आप लाख कोशिश करके बन्द न कर सके थे, वे बन्द हो जाएँगे । और एक अनूठा अनुभव होगा । जैसे कि आप दूसरे व्यक्ति में सरक रहे हैं, आँखों के द्वारा उतर रहे हैं । आँखें जैसे रास्ता बन गयीं ।

अगर इस प्रयोग को आप जारी रखें, तो एक महीने या पन्द्रह दिन के भीतर एक अनूठी प्रतीति किसी दिन होगी और वह प्रतीति यह होगी कि यह आपको समझ में न आयेगा कि वह जो दूसरे के भीतर बैठा है, वह आप हैं; या आपके भीतर जो बैठा है, वह आप हैं । शरीर भूल जाएँगे और दो चेतनाएँ...। घड़े हट जाएँगे और दो जल की धाराएँ मिल जाएँगी ।

और एक बार आपको यह खयाल में आ जाय कि दूसरे के भीतर जो बैठा है, वह ठीक मेरे ही जैसा चैतन्य है, मैं ही बैठा हूँ, तब फिर आप हर दरवाजे पर झाँक सकते हैं और हर दरवाजे के भीतर आप उसको ही छिपा हुआ पायेंगे ।

आपने वह चित्र देखा होगा, जिसमें कृष्ण सब में छिपे हैं । गाय में भी, वृक्ष में भी, पत्ते में भी, सखियों में भी । वह किसी कवि की कल्पना नहीं है, और किसी चित्रकार की सूझ नहीं है । वह किन्हीं अनुभवियों का अनुभव है ।

एक बार आपको अपनी प्रतीति हो जाय--शरीर से अलग, तो आपको पता लगेगा कि यही चैतन्य सभी तरफ बैठा हुआ है । इस चैतन्य की मौजूदगी ही परमात्मा की मौजूदगी का अनुभव है ।

जिस क्षण आप शरीर से हटते हैं, यह पहला कदम । दूसरे ही क्षण आप अपने से भी हट जाते हैं, यह दूसरा कदम है ।

शरीर के साथ मैं एक हूँ, इससे अहंकार निर्मित होता है । शरीर के साथ मैं एक नहीं हूँ, इससे अहंकार टूट जाता है ।

ऐसा समझें कि शरीर और आपके बीच जो सेतु है, वह अहंकार है । शरीर और आपके बीच जो तादात्म्य का भाव है, वही मैं हूँ । जैसे ही शरीर से मैं अलग हुआ, मैं भी गिर जाता है । फिर जो बच रह जाता है, वही कृष्ण-तत्त्व है । उसे कोई राम-तत्त्व कहे, कोई क्राइस्ट-तत्त्व कहे । जो भी नाम देना चाहे, नाम दे । नाम न देना चाहे, तो भी कोई हरजा नहीं ।

लेकिन शरीर से साथ हटते ही आप भी मिट जाते हैं, आपका मैं होना मिट जाता

है। और यह जो ना-मैं होने का अनुभव है--उसे ही कृष्ण कहते हैं : तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मेरे को ही जान।

सब की आँखों से मैं ही झाँकता हूँ। सभी के हाथों से मैं ही स्पर्श करता हूँ। सभी के पैरों से मैं ही चलता हूँ। सभी की श्वास भी मैं हूँ और सभी के भीतर मैं ही जीता और मैं ही विदा होता हूँ। जन्म में भी मैं प्रवेश करता हूँ, मृत्यु में भी मैं विदा होता हूँ।

व्यक्ति का बोध ही शरीर और चेतना के जोड़ से पैदा होता है। सिर्फ तादात्म्य का खयाल अस्मिता और अहंकार को जन्म देता है। शरीर से अलग होने का खयाल और अस्मिता खो जाती है, अहंकार खो जाता है।

इसलिए बुद्ध ने तो यहाँ तक कहा कि जैसे ही यह पता चल जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, वैसे यह भी पता चल जाता है कि कोई आत्मा नहीं है।

यह बड़ा कठिन वक्तव्य है। और बहुत जटिल है, और समझने में बड़ी कठिनाई है। क्योंकि बुद्ध ने कहा कि जैसे ही यह खयाल मिट गया कि शरीर मैं हूँ, वैसे ही आत्मा भी नहीं हो जाती है। लेकिन बुद्ध नकारात्मक ढंग से उसी बात को कह रहे हैं, जिसे कृष्ण विधायक ढंग से कह रहे हैं।

कृष्ण कहते हैं कि तुम नहीं होते, मैं होता हूँ। कृष्ण कहते हैं, तुम्हारा मिटना हो जाता है और कृष्ण का रहना हो जाता है। बुद्ध कहते हैं, मैं मिट जाता हूँ। और उसकी कोई बात नहीं कहते, जो बचता है। क्योंकि वे कहते हैं, बचने की बात करनी व्यर्थ है। उसे तो अनुभव ही करना चाहिए। वहाँ तक कहना ठीक है, जहाँ तक इलाज है। स्वास्थ्य की हम कोई चर्चा न करेंगे। उसका तुम खुद ही अनुभव कर लेना। निदान हम कर देते हैं, चिकित्सा हम कर देते हैं। चिकित्सा के बाद स्वास्थ्य का कैसा स्वाद होगा, उसके लिए हम कोई शब्द न देंगे। क्योंकि सभी शब्द सीमित हैं और बाँध लेते हैं। और वह असीम है--जो घटेगा।

इसलिए बुद्ध ने कहा कि शरीर के साथ तादात्म्य के छूटते ही आत्मा भी मिट जाती है। जो बच रहता है, उसे कृष्ण परमात्मा कहते हैं, बुद्ध अनात्मा कहते हैं। वे कहते हैं, इतना पक्का है कि तुम नहीं बचते। बाकी जो बचता है, उसके लिए कुछ भी कहना उचित नहीं है। उस सम्बन्ध में चुप रह जाना उचित है।

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का--विकार सहित प्रकृति और पुरुष का--जो तत्त्व से भेद जानता है....।'

एक तो आपके भीतर संयोग घटित हो रहा है प्रतिपल, आप एक संगम हैं। आप एक मिलन हैं : दो तत्त्वों का। एक तो प्रकृति है, जो दृश्य है। विज्ञान जिसकी खोज करता है--पदार्थ, जो पकड़ में आ जाता है--इन्द्रियों के, यन्त्रों के और जिसकी

खोजबीन की जा सकती है।

और एक आपके भीतर तत्त्व है, जो इन्द्रियों के पकड़ में नहीं आता और फिर भी है। और अगर आपको काटें-पीटें तो तिरोहित हो जाता है। जो हाथ में आता है, वह पदार्थ रह जाता है। लेकिन आपके भीतर एक तत्त्व है, जो पदार्थ को जानता है।

वह जो जानने की प्रक्रिया है : मेरे हाथ में दर्द हो रहा है, तो मैं जानता हूँ। यह 'जानना' क्या है मेरे भीतर? कितना ही मेरे शरीर को काटा जाय, उस जानने वाले तत्त्व को नहीं पकड़ा जा सकता है। शायद काटने-पीटने की प्रक्रिया में वह खो जाता है। शायद उसकी मौजूदगी को अनुभव करने का कोई और उपाय है। विज्ञान उसका उपाय नहीं है। धर्म उसकी ही खोज है।

विज्ञान है ज्ञेय की खोज--क्षेत्र की। और धर्म है ज्ञाता की खोज--क्षेत्रज्ञ की।

याद आता है मुझे, आइंस्टीन ने मरने के कुछ दिन पहले कहा कि सब मैंने जानने की कोशिश की; दूर से दूर जो तारा है, उसे जानने की कोशिश की। पदार्थ के भीतर दूर से दूर छिपी हुई जो अणुशक्ति है, उसे जानने की मैंने कोशिश की, लेकिन इधर बाद के दिनों में मैं इस रहस्य से अभिभूत होता चला जा रहा हूँ कि यह जो जानने की कोशिश करने वाला मेरे भीतर था, यह कौन था।

यह कौन था, जो अणु को तोड़ रहा था और खोज रहा था? यह कौन था, जो दूर के तारे की तलाश में था? यह खोज कौन कर रहा था?

आइंस्टीन की पत्नी से निरन्तर लोग पूछते थे कि आपके पति ने जो बहुत कठिन और जटिल सिद्धान्त प्रस्तावित किया है--थिअरी ऑफ रिलेटिविटी--सापेक्षता का सिद्धान्त--उसके सम्बन्ध में आप भी कुछ समझती हैं या नहीं?

स्वभावतः आइंस्टीन की पत्नी को लोग पूछ लेते थे कि आप भी सापेक्षता के इस जटिल सिद्धांत को समझती हैं या नहीं। तो आइंस्टीन की पत्नी निरन्तर कहा करती थी कि मुझे इस सिद्धांत का तो कोई पता नहीं। डॉक्टर आइंस्टीन ने जो सिद्धांत को जन्म दिया है, उसे तो मैं बिलकुल नहीं समझती, लेकिन डॉक्टर आइंस्टीन को भली-भाँति मैं समझती हूँ।

आइंस्टीन ने यह बात एक दफा किसी से कहते हुए पत्नी को सुन लिया। सुन कर उस पर बहुत सोचता रहा। एक तो आइंस्टीन ने जो खोज की है, वह; और एक पत्नी की भी खोज है। वह कहती है कि मैं डॉक्टर आइंस्टीन को समझती हूँ। उन्होंने क्या खोजा है, उसका मुझे कुछ पता नहीं। उनके सिद्धांत मेरी समझ के बाहर हैं, लेकिन मैं डॉक्टर आइंस्टीन को--खोज करनेवाला जो छिपा है भीतर, उसको मैं थोड़ा समझती हूँ।

वह आइंस्टीन तो विज्ञान के रास्ते से खोज कर रहा है; पत्नी प्रेम के रास्ते से

खोज कर रही है। आइंस्टीन तो पदार्थ को तोड़ कर खोज कर रहा है। पत्नी किन्हीं अदृश्य रास्तों से बिना तोड़े प्रवेश कर रही और खोज कर रही है। आइंस्टीन तो इन्द्रियों के माध्यम से कुछ विश्लेषण में लगा है। पत्नी किसी अतीन्द्रिय मार्ग से प्रवेश कर रही है।

प्रेम हो, कि प्रार्थना हो, कि ध्यान हो--सभी उस अदृश्य की खोजें हैं, जो सभी दृश्य के भीतर छिपा हुआ है। और जब तक व्यक्ति उसे खोजने नहीं चल पड़ा है, तब तक वह क्षेत्र के जगत् में कितना ही इकट्ठा कर ले, दरिद्र ही रहेगा। और कितने ही बड़े महल बना ले, और कितनी ही बड़ी सख्त दीवालें सुरक्षा की तैयार कर ले, असुरक्षित ही रहेगा। और कुछ भी पा ले, आखिर में मरेगा, तब वह पायेगा कि गरीब, दीन, दुःखी, भिखारी मर रहा है। क्योंकि असली सम्पदा का स्रोत क्षेत्र में नहीं है। असली सम्पदा का स्रोत उसमें है, जो इस क्षेत्र के भीतर छिपा है और जानता है।

ज्ञान मनुष्य की गरिमा है। और ज्ञान का जो तत्त्व है, वह इस बात में, इस विश्लेषण में, इस भेद-विज्ञान में है कि मैं अपने को पृथक् करके देख लूँ--उससे--जिसमें मैं हूँ।

जैसे फूल की सुगन्ध उड़ जाती है दूर, ऐसे ही व्यक्ति को सीखना पड़ता है, अपने शरीर से दूर उड़ने की कला। जैसे सुगन्ध अदृश्य में खो जाती है और दृश्य फूल खड़ा रह जाता है, ऐसे ही स्वयं के ज्ञान के फूल में निचोड़ करना है और धीरे-धीरे उस ज्ञान को ही बचा लेना है, जो शुद्ध है। महावीर ने उसे केवल-ज्ञान कहा है: जहाँ ज्ञाता का भी खयाल नहीं रह जाता, सिर्फ जानने की शुद्धतम घटना रह जाती है--जहाँ मैं 'सिर्फ जानता' हूँ और कुछ भी नहीं करता।

एक घड़ी भर के लिये रोज--चौबीस घड़ी में--इस भीतर की खोज के लिए निकाल लें। तेईस घंटे दे दें शरीर के लिए और एक घंटा बचा लें अपने लिए।

वह आदमी व्यर्थ जी रहा है, जिसके पास एक घंटा भी अपने लिए नहीं है। वह आदमी जी ही नहीं रहा है, जो एक घंटा भी अपने इस भीतर की खोज के लिए नहीं लगा रहा है। क्योंकि आखिर में जब सारा हिसाब होगा, तो जो भी हमने शरीर के तल पर कमाया है, वह तो मौत छीन लेगी। और जो हमने भीतर के तल पर कमाया है, वही केवल मौत नहीं छीन पाती। वही हमारे साथ होता है।

इसे खयाल रखें कि मौत आप से कुछ छीनेगी, उस समय आपके पास बचाने योग्य है--कुछ भी? अगर नहीं है, तो जल्दी करें। और एक घंटा कम से कम रोज क्षेत्रज्ञ की तलाश में लगा दें।

इतना ही करें: बैठ जायँ घंटे भर। कुछ भी न करें। एक बहुत छोटा-सा

प्रयोग करें। इतना ही करें कि तादात्म्य न करूँगा घंटे भर, आइडेन्टिफिकेशन न करूँगा घंटे भर। घंटे भर बैठ जायँ। पैर में चींटी काटेगी, तो मैं ऐसा अनुभव करूँगा कि चींटी काटती है--ऐसा मुझे पता चल रहा है। 'मुझे' चींटी काट रही है--ऐसा नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि चींटी काट रही है--ऐसा नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि चींटी काटती रहे और आप अकड़ कर बैठे रहें। आप चींटी को हटा दें, लेकिन यह ध्यान रखें कि मैं जान रहा हूँ कि शरीर चींटी को हटा रहा है।

चींटी काट रही है, यह भी मैं जान रहा हूँ। शरीर चींटी को हटा रहा है--यह भी मैं जान रहा हूँ। सिर्फ 'मैं जान रहा हूँ।'

पैर में दर्द शुरू हो गया बैठे-बैठे, तो मैं जान रहा हूँ कि पैर में दर्द आ गया। फिर पैर को फैला लें। कोई जरूरत नहीं कि उसको अकड़ा कर बैठे रहें और परेशान हों। पैर को फैला लें। लेकिन जानते रहें कि पैर फैल रहा है--कष्ट के कारण, मैं जान रहा हूँ।

भीतर एक घंटा एक ही काम करें कि किसी भी कृत्य से अपने को न जोड़ें, और किसी भी घटना से अपने को न जोड़ें। आप एक तीन महीने के भीतर ही गीता के इस सूत्र को अनुभव करने लगेंगे, जो कि आप तीस जन्मों तक भी गीता पढ़ते रहें, तो अनुभव नहीं होगा।

एक घंटा 'मैं सिर्फ ज्ञाता हूँ' इसमें डूबे रहें। कुछ भी हो: पत्नी जोर से बर्तन पटक दे....। क्योंकि पति जब ध्यान करें, तो पत्नी बर्तन पटकेगी ही। या पत्नी ध्यान करे, तो पति रेडिओ जोर से चला देगा, अखबार पढ़ने लगेगा; बच्चे उपद्रव मचाने लगेंगे।

जब बर्तन जोर से गिरे, तो आप यही जानना कि बर्तन गिर रहा है, आवाज हो रही है, और मैं जान रहा हूँ। अगर आपके भीतर धक्का भी लग जाय, शॉक भी लग जाय, तो भी आप यह जानना कि मेरे भीतर धक्का लगा, शॉक लगा। मेरा मन विक्षुब्ध हुआ--यह मैं जान रहा हूँ। आप अपना सम्बन्ध जानने वाले से ही जोड़े रखना और किसी चीज से मत जुड़ने देना।

इससे बड़े ध्यान की कोई प्रक्रिया नहीं है। कोई जरूरत नहीं है--प्रार्थना की, ध्यान की; फिर कोई जरूरत नहीं है इनकी। बस, एक घंटा इतना खयाल करें। थोड़े ही दिन में यह कला आपको सध जाएगी।

और बताना कठिन है कि कला कैसे सधती है। आप करें; सध जाय तो ही आपको समझ में आयेगा। करीब-करीब ऐसा ही है, जैसे किसी बच्चे को साइकिल चलाना आप सिखायें। तो बच्चा यह पूछे कि साइकिल चलाना कैसे आता है, तो आप भला चलाते हों जिंदगी भर से, तो भी नहीं बता सकते कि कैसे आता है। और बच्चा

आपसे पूछे कि कोई तरकीब सरल में बता दें, जिससे कि मैं पैर रखूं पायडिल पर, साइकिल पर बैठूं और चल पड़ूं। तो भी आप कहेंगे कि नहीं, वह तरकीब सरल में नहीं बतायी जा सकती। दस-पाँच दफा तू गिरेगा ही। उस गिरने में ही वह तरकीब निखरती है। क्योंकि वह एक बैलेन्स है, जो बताया नहीं जा सकता।

आखिर साइकिल दो चाक से चल रही है; एक सन्तुलन है। पूरे वक्त शरीर सन्तुलित हो रहा है। जरा इधर साइकिल झुकती है, तो शरीर दूसरी तरफ झुक जाता है। और सन्तुलन गति के साथ ही बन सकता है। अगर गति बहुत धीमी हो जाय, तो सन्तुलन बिगड़ जाएगा। और अगर गति बहुत ज्यादा हो जाय, तो भी सन्तुलन बिगड़ जाएगा।

तो दो तरह के सन्तुलन हैं: एक तो गति की एक सीमा है और दूसरा——शरीर के साथ सन्तुलन, कि बायें-दायें कहीं ज्यादा न झुक जाय। आप भी नहीं बता सकते; साइकिल आप चलाते हैं, लेकिन आप भी नहीं बता सकते कि कैसे करते हैं यह सन्तुलन। आपको पता भी नहीं चलता; यह कला आपको आ जाती है। दो-चार बार आप गिरते हैं, दो-चार बार गिर के आपको बीच-बीच में ऐसा लगता है कि नहीं गिरे। थोड़ी दूर साइकिल चल भी गयी। आपको भीतर सन्तुलन का अनुभव होना शुरू होता है।

फिर एक दफा आदमी साइकिल चलाना सीख ले, तो फिर जिन्दगी में भूलता नहीं। सब चीजें भूल जाती हैं लेकिन दो चीजें: तैरना और साइकिल चलाना नहीं भूलती हैं। सब चीजें भूल जाती हैं। जो भी आपने सीखी हैं, भूल जाएँगी। फिर से सीखनी पड़ेंगी। हालाँकि दुबारा आप जल्दी सीख लेंगे, लेकिन सीखनी पड़ेगी। लेकिन साइकिल चलाना और तैरना—— दो चीजें हैं, जो आपने पचास साल तक भी न की हों, आप एकदम से बैठ जायँ साइकिल पर—— और चले!

उसका कारण है कि तैरना और साइकिल चलाना एक ही तरह की घटना है सन्तुलन की। और वह सन्तुलन बौद्धिक नहीं है। वह सन्तुलन बौद्धिक नहीं है, इसलिए आप बता भी नहीं सकते कि आप कैसे करते हैं। आप करके बता सकते हैं कि मैं साइकिल चला के बताये देता हूँ, लेकिन 'क्या करता हूँ', यह मुझे भी पता नहीं है। कुछ करते आप जरूर हैं, लेकिन वह करना इतना सुसंगठित है, इतना इंटिग्रेटेड है कि आपका पूरा शरीर, मन——सब समाविष्ट है उसमें। और वह आपने सिद्धान्त की तरह नहीं सीखा है; वह आपने साइकिल पर गिर के, चला के, उठ के सीखा है। वह आप सीख गये हैं। वह आपकी कला बन गयी है।

कला और विज्ञान में यही फर्क है। विज्ञान शास्त्र से भी सीखा जा सकता है। कला सिर्फ अनुभव से सीखी जा सकती है। विज्ञान किताब में लिख कर दिया जा सकता है। कला लिख कर नहीं दी जा सकती है।

इसलिए धर्म में गुरु का इतना स्थान है। उसका स्थान इसीलिए है कि वह कुछ जानता है, जिसको वह भी आपको कह नहीं सकता, वह भी आपको करवा सकता है। आप भी गिरेंगे, उठेंगे और एक दिन सीख जाएँगे। उसकी छाया में आप भयभीत न होंगे; गिरेंगे तो भी डरेंगे नहीं। उसके भरोसे में, उसकी आस्था में आप आशा बनाये रखेंगे कि आज गिर रहा हूँ, तो कल चलने लगूंगा। उसकी छत्र-छाया में आपको आसानी होगी कला सीख लेने की।

ध्यान एक कला है—— गहनतम कला है——और करने से ही आती है।

आप इस छोटे-से प्रयोग को करें: एक घड़ी; चाहे कुछ भी हो जाय; बहुत मुश्किल पड़ेगी, क्योंकि बार-बार मन तादात्म्य कर लेगा। पैर में चींटी काटेगी और आप तत्क्षण समझेंगे कि 'मुझे चींटी ने काट लिया'। और आपको पता भी नहीं चलेगा और आपका हाथ चींटी को फेंक देगा और आप समझेंगे कि मैंने चींटी को हटा दिया।

मगर थोड़े दिन कोशिश करने पर....। साइकिल जैसा चलाने पर आदमी गिरेगा, उठेगा; बहुत बार तादात्म्य हो जाएगा, उसका मतलब आप गिर गये। कभी-कभी तादात्म्य छूटेगा, उसका मतलब: दो कदम साइकिल चल गयी। लेकिन जब पहली दफा दो कदम भी साइकिल चलती है, तो जो आनन्द का अनुभव होता है...। आप मुक्त हो गये; एक कला आ गयी; एक नया अनुभव....। आप हवा में तैरने लगे।

जब पहली दफा कोई दो हाथ मारता है, और तैर लेता है, और पानी की ताकत से मुक्त हो जाता है, और पानी अब डुबा नहीं सकता, आप मालिक हो गये, तो वह जो आनन्द अनुभव होता है——तैरने वाले को, वह जिन्होंने तैरा नहीं है, उन्हें कभी अनुभव नहीं होता। पानी पर विजय मिल गयी!

जब आप ध्यान में तैरना सीख जाते हैं, तो शरीर पर विजय मिल जाती है। और वह गहनतम कला है। मगर आप करें, तो ही यह हो सकता है।

और यह सूत्र बड़ा कीमती है। अह साधारण मैथड और विधियों जैसा नहीं है, कि कोई किसी को मन्त्र दे देता है, कि मन्त्र बैठ कर जपते रहो। कोई कुछ और कर देता है। यह बहुत सीधा, सरल साफ है, लेकिन ज्यादा समय लेता है।

मन्त्र इत्यादि का जप करने से जल्दी कुछ घटनाएँ घटनी शुरू हो जाती हैं। लेकिन उन घटनाओं का बहुत मूल्य नहीं है। मन्त्र की यात्रा से जानेवाले व्यक्ति को भी आखिर में इस सूत्र का उपयोग करना पड़ता है और उसे भीतर यह अनुभव करना पड़ता है कि जो मन्त्र बोल रहा है, वह मैं नहीं हूँ। और वह जो मन्त्र का जपन चल रहा है, वह मैं नहीं हूँ। उसे अन्त में यह भी अनुभव करना पड़ता है कि वह जो ओम् का भीतर पाठ हो रहा है, वह भी मैं देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ। मैं नहीं हूँ। इस द्रष्टा के सूत्र का उपयोग करना ही पडता है। किसी भी विधि का कोई उपयोग

करें, अगर इस सूत्र का बिना उपयोग किये कोई किसी विधि का प्रयोग करता हो, तो वह आज नहीं कल, आत्म-मूर्च्छा में पड़ जाएगा ।

यह सूत्र बुनियादी है, और सभी विधियों के प्रारंभ में, मध्य में, या अन्त में कहीं न कहीं यह सूत्र मौजूद रहेगा । इससे उचित है कि--विधियों की फिक्र ही छोड़ दें । सीधे इस सूत्र पर ही काम करें । एक घंटा निकाल लें, और चाहे कितनी ही अड़चन मालूम पड़े...। बड़ी अड़चन मालूम होगी । भीतर सब पसीना-पसीना हो जाएगा । शरीर में नहीं—भीतर— बहुत पसीना-पसीना हो जाएँगे । बड़ी अड़चन मालूम पड़ेगी । हर मिनट पर चूक हो जाएगी । हर बार एक चीज से बचेंगे और दूसरी चीज में तादात्म्य हो जाएगा । लेकिन जारी रखें । किसी चीज से जुड़ें मत । और एक ही खयाल रखें कि मैं जानने वाला हूँ--मैं जानने वाला हूँ—मैं जानने वाला हूँ ।

मैं ऐसा कह रहा हूँ, इसका मतलब यह नहीं कि आप भीतर दोहराते रहें कि 'मैं जानने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ' । अगर आप यह दोहरा रहे हैं, तो आप भूल में पड़ गये, क्योंकि यह दोहराने वाला शरीर ही है । यह अगर आप दोहरा रहे हैं तो इसको भी जानने वाला मैं हूँ । जो जान रहा है कि बात दोहरायी जा रही है—कि मैं जानने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ—इसको भीतर बारीक काटते जाना है और एक ही जगह खड़े होने की कला सीखनी है कि मैं सिर्फ ज्ञान हूँ। शब्द मैं नहीं हूँ, ऐसा दोहराना नहीं है भीतर । ऐसा भीतर जानना है कि मैं ज्ञान हूँ । और तोड़ना है सब तादात्म्य, तो आपको पता चलेगा कि शरीर क्षेत्र है और शरीर के भीतर छिपे आप क्षेत्रज्ञ हैं ।

और यह जो क्षेत्रज्ञ है, यह — कृष्ण कहते हैं -- मैं ही हूँ । इस भेद को जो जान लेता है, वही ज्ञानी है ।

'इसलिये वह क्षेत्र जो है, और जैसा है, तथा जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है, और जिस प्रभाव वाला है, वह सब संक्षेप में मेरे से सुन ।'

कृष्ण कहते हैं, 'अब मैं तुमसे कहूँगा संक्षेप में वह सब -- कि यह शरीर कैसे हुआ है; यह क्षेत्र क्या है, इसका गुणधर्म क्या है । और इसके भीतर जो जानने वाला है, वह क्या है, उसका गुण-धर्म क्या है ।'

कृष्ण से इसे सुना जा सकता है, लेकिन कृष्ण से सुनकर इसे जाना नहीं जा सकता है ।

एक बात सदा के लिए खयाल में रख लें, और उसे कभी न भूलें, कि ज्ञान कोई भी आपको दे नहीं सकता । यह जितनी गहराई से भीतर जाय, उतना अच्छा है ।

ज्ञान कोई भी आपको दे नहीं सकता । मार्ग बताया जा सकता है, लेकिन चलना आपको ही पड़ेगा । और मंजिल मार्ग बताने से ही नहीं मिलती; मार्ग जान लिया--इससे भी नहीं मिलती । मार्ग चलने से मिलती है ।

और आपके लिए कोई दूसरा चल भी नहीं सकता । नहीं तो बुद्ध और कृष्ण की करुणा बहुत है । क्राइस्ट और मोहम्मद की करुणा बहुत है । अगर वे चल सकते होते आपके लिए, तो वे चल लिए होते । और अगर ज्ञान दिया जा सकता होता, तो एक कृष्ण काफी थे; सारा जगत् ज्ञान से भर जाता, क्योंकि ज्ञान दिया जा सकता । लेकिन कितने ज्ञानी हो जाते हैं और अज्ञान जरा भी कटता नहीं दिखायी पड़ता है ।

मेरे पास लोग आते हैं । वे पूछते हैं, 'कृष्ण हुए, महावीर हुए, बुद्ध हुए--क्या फायदा ? आदमी तो वैसा का वैसा है । तो क्या सार हुआ ?' उनका कहना थोड़ी दूर तक ठीक है, क्योंकि वे सोचते हैं कि अगर एक आइंस्टीन हो जाता है, तो जो भी ज्ञान है, फिर सदा के लिए आदमी को मिल जाता है ।

एक आदमी ने खोज ली कि बिजली क्या है, तो फिर हर आदमी को खोजने की जरूरत नहीं है । आप जब घर में बटन दबाते हैं, तो आपको बिजली का कोई ज्ञाता होने की जरूरत नहीं है—कि आपको पक्का पता हो कि बिजली क्या है और कैसे काम करती है । आप बटन दबाते हैं, खतम हुई बात । अब दुनिया में किसी को जानने की जरूरत नहीं है । बाकी लोग उपयोग कर लेंगे ।

विज्ञान का जो ज्ञान है, वह हस्तान्तरणीय है, वह एक दूसरे को दे सकता है, वह उधार हो सकता है । क्योंकि बाहर की चीज है, दी जा सकती है ।

आपके पिता जब मरेंगे , तो उनकी जो बाह्य संपत्ति है, उसके आप अधिकारी हो जाएँगे । उनका मकान आपको मिल जाएगा । उनकी किताबें आपको मिल जाएँगी । उनकी तिजोड़ी आपको मिल जाएँगी । लेकिन उन्होंने जो जाना था अपने अन्तरतम में, वह आपको नहीं मिलेगा । उसे देने का कोई उपाय नहीं है । बाप भी बेटे को नहीं दे सकता । उसे दिया ही नहीं जा सकता, जब तक कि आप ही उसे न पा लें ।

ज्ञान पाया जा सकता है, दिया नहीं जा सकता । उपलब्ध है; आप पाना चाहें तो पा सकते हैं । लेकिन कोई भी आपको दे नहीं सकता ।

तो कृष्ण कहेंगे जरूर, लेकिन अर्जुन को खुद ही पाना पड़ेगा । खतरा यह है कि अर्जुन सुन के कहीं मान ले, कि ठीक, मैंने भी तो जान लिया ।

शब्दों के साथ यह उपद्रव है ज्ञान तो नहीं दिया जा सकता, लेकिन शब्द दिये जा सकते हैं । शब्द तो उधार मिल जाते हैं । और आप शब्दों को इकट्ठा कर लेते हैं ।

और शब्दों के कारण आप सोच सकते हैं कि मैंने जान लिया है ।

अगर आप गीता को कण्ठस्थ कर लें, तो आपके पास भी वे ही शब्द आ गये, जो कृष्ण के पास थे । और कृष्ण ने जो कहा था, वह आप भी कह सकते हैं। लेकिन आपका कहा हुआ, यान्त्रिक होगा । कृष्ण का कहा हुआ अनुभवजन्य है ।

अर्जुन के लिए खतरा यही है कि कृष्ण की बातें अच्छी लगें....। और लगेंगी अच्छी, प्रीतिकर लगेंगी, क्योंकि मन की किन्हीं वासनाओं को पूरा करने वाली हैं कई अभीप्साओं को पूरा करने वाली हैं । यह कौन नहीं चाहता कि शरीर से छुटकारा हो....।

एक युवती मेरे पास आयी इटली से; शरीर उसका बहुत भारी, बहुत मोटा, बहुत वजनी है । कुरूप हो गया है । मांस ही मांस हो गया है । शरीर पर चरबी ही चरबी है । उसने मुझे एक बड़े मजे की बात कही । उसने यहाँ कोई तीन महीने ध्यान किया मेरे पास । और एक दिन आ कर उसने मुझे कहा कि 'आज मुझे ध्यान में बड़ा आनन्द आया ।' मैंने पूछा, 'क्या हुआ तुझे ?' उसने कहा कि 'मुझे ध्यान में अनुभव हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ । और इस शरीर से मुझे बड़ी पीड़ा है; कोई मुझे प्रेम नहीं करता है । और एक युवक मेरे प्रेम में भी गिर गया था, तो उसने मुझसे कहा कि मैं तेरी सिर्फ आत्मा को प्रेम करता हूँ, तेरे शरीर से नहीं ।'

अब किसी स्त्री से आप यह कहिये कि मैं सिर्फ तेरी आत्मा को प्रेम करता हूँ, तेरे शरीर से नहीं... ! तो उस युवक ने कहा कि 'मैं तेरे शरीर को प्रेम नहीं कर सकता। बिलकुल असम्भव है । मैं तेरी आत्मा को प्रेम करता हूँ ।' लेकिन इससे तो कोई तृप्ति तो हो नहीं सकती ।

उसने कहा, 'आज मुझे ध्यान में बड़ा आनन्द आया, क्योंकि मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ । तो मेरी जो ग्लानि है शरीर के प्रति, उससे मुझे छुटकारा हुआ ।'

तो मैंने उससे पूछा कि 'यह तुझे ध्यान के कारण हुआ या तेरे मन में सदा से यह भाव है कि किसी तरह यह खयाल में आ जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ, तो इस शरीर को दुबला करने की झंझट, इस शरीर को रास्ते पर लाने की झंझट मिट जाय ।' तो उसने कहा कि 'भाव तो मेरे मन में पड़ा है । असल में मैं ध्यान करने आपके पास आयी ही इसलिए हूँ कि मुझे यह पता चल जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ । तो शरीर के कारण जो मुझे पीड़ा मालूम होती है, शरीर के कारण जो प्रत्येक व्यक्ति को मेरे प्रति विकर्षण होता है, उससे जो मुझे दंश और चोट लगती है, उस चोट से मेरा छुटकारा हो जाय ।'

तो मैंने उससे कहा कि 'पहले तो तू यह फिक्र छोड़ और यह भाव मन से हटा,

नहीं तो तू कल्पना ही कर लेगी—ध्यान में—कि मैं शरीर नहीं हूँ । कल्पना आसान है ।'

सिद्धान्त मन में बैठ जायँ, हमारी वासनाओं की पूर्ति करते हों, तो हम कल्पना कर लेते हैं ।

शरीर से कौन दुःखी नहीं है ? ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो शरीर से दुःखी न हो । कोई न कोई दुःख शरीर में है ही । किसी के पास कुरूप शरीर है । किसी के पास बहुत मोटा शरीर है । किसी के पास बहुत दुबला शरीर है । किसी के पास रुग्ण शरीर है । किसी का कोई अंग ठीक नहीं है । किसी की आँखें जा चुकी हैं । किसी के कान ठीक नहीं हैं । किसी को कुछ है, किसी को कुछ है । शरीर तो हजार तरह की बीमारियों का घर है ।

तो शरीर से तृप्त तो कोई भी नहीं है । इसलिए कोई भी मन में वासना रख सकता है कि अच्छा है, पता चल जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ । मगर यह वासना खतरनाक हो सकती है । सिद्धान्त की आड़ में यह वासना छिप जाय, तो आप कल्पना भी कर ले सकते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ । लेकिन उससे कोई सार न होगा, कोई हल न होगा । आप कहीं पहुँचेंगे नहीं । कोई मुक्ति हाथ नहीं लगेगी ।

अनुभव चाहिए—वासनारहित, कल्पनारहित और स्वयं का—उधार नहीं ।

ज्ञानीजन क्या कहते हैं, यह सुनने योग्य है । ज्ञानीजन क्या कहते हैं, यह समझने योग्य है । ज्ञानीजन क्या कहते हैं, यह करने योग्य है । लेकिन ज्ञानीजन क्या कहते हैं, यह मानने योग्य बिलकुल नहीं है । मानना तो तभी, जब करने से अनुभव में आ जाय ।

ज्ञानीजन क्या कहते हैं, उसे सुनना—हृदयपूर्वक सुनना । श्रद्धा से उसे भीतर ले जाना । पूरा उसे आत्मसात कर लेना । उस खोज में भी लग जाना । वे क्या करने को कहते हैं, उसे साहस-पूर्वक कर भी लेना । लेकिन मानना तब तक मत, जब तक अपना अनुभव न हो जाय । तब तक समझना कि मैं अज्ञानी हूँ और सिद्धान्तों से अपने अज्ञान को मत ढाँक लेना । और तब तक समझना कि मुझे कुछ पता नहीं है । ऐसा कृष्ण कहते हैं । कृष्ण से प्रेम है, इसलिए कृष्ण जो कहते हैं, ठीक ही कहते होंगे । लेकिन ठीक ही है, ऐसा तब तक मैं कैसे कहूँ, जब तक मैं न जान लूँ ।

उसका यह अर्थ नहीं है कि उन पर अश्रद्धा कर लें । अश्रद्धा की कोई भी जरूरत नहीं है । पूरी श्रद्धा करना । लेकिन मान मत लेना ।

मेरी बात का फर्क आपके खयाल में आ रहा है ?

मानने का एक खतरा है कि आदमी चलना ही बंद कर देता है । वह कहता है : ठीक है ।

अकसर मुझे ऐसा लगता है कि जो लोग जल्दी मान लेते हैं वे वे ही लोग हैं, जो चलना नहीं चाहते; जिनकी सस्ती श्रद्धा हो जाती है। वे असल में यह कह रहे हैं कि 'ठीक है। कोई हमें अड़चन नहीं है। ठीक ही है। कहीं चलने की कोई जरूरत भी नहीं है। हम मानते ही हैं कि बिलकुल ठीक हैं।'

आदमी इनकार करके भी बच सकता है। 'हाँ' कह के भी बच सकता है।

मेरे पास लोग आते हैं, तो मैं अनुभव करता हूँ। उनको मैं कहता हूँ : ध्यान करो। वे कहते हैं, आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। लेकिन जब वे कह रहे हैं कि 'बिलकुल ठीक कहते हैं', तो वे यह कहते हैं कि अब कोई करने की जरूरत नहीं है। हमें तो मालूम ही है। आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं।

दूसरा आदमी आता है, वह कहता है कि 'नहीं, आपकी बात हमें बिलकुल नहीं जँचती।' वह भी यह कह रहा है कि बात जँचती ही नहीं। तो करें कैसे?

बड़े मजे की बात है। आदमी किस तरह की तरकीबें निकालता है! एक आदमी कहता है कि बिलकुल नहीं जँचती; मगर वह जितनी तेजी से कहता है, उससे लगता है कि वह डरा हुआ है कि कहीं जँच न जाय, नहीं तो करना पड़े। भयभीत है। वह एक रुकावट खड़ी कर रहा है कि हमें जँचती नहीं, इसलिए करने का कोई सवाल नहीं है। एक दूसरा आदमी है, वह कहता है, 'हाँ, हमें बिलकुल जँचती है। आपकी बात बिलकुल सौ टका ठीक है।' लेकिन यह दूसरा आदमी भी यह कह रहा है कि 'सौ प्रतिशत ठीक है। करने की कोई जरूरत ही नहीं। हमें मालूम ही है कि ठीक है। जो बात मालूम ही है, उसको और मालूम करके क्या करना है।'

आदमी आस्तिक होकर भी धोखा दे सकता है खुद को; और नास्तिक होकर भी धोखा दे सकता है। दोनों धोखे से बचने का एक ही उपाय है : प्रयोग करना, अनुभव करना।

और जो भी इस रास्ते पर चलते हैं, वे खाली हाथ नहीं लौटते। और जो भी इस रास्ते पर जाते हैं, जरूर मंजिल तक पहुँच जाते हैं। क्योंकि यह रास्ता खुद के ही भीतर ले जाने वाला है। और यह मंजिल कहीं दूर नहीं, खुद के भीतर ही छिपी है।

पाँच मिनट बैठेंगे; कोई बीच से उठे न। पाँच मिनट कीर्तन में लीन हो कर सुनें, और फिर जायँ। कोई भी व्यक्ति बीच में उठे न। कीर्तन मंच पर होगा; सामने भी कोई खड़ा न होगा। सब कीर्तन करनेवाले ऊपर आ जायँ, ताकि सब को दिखाई पड़ सके। और जो मित्र बैठे हैं, वे भी बैठ कर कीर्तन में साथ दें।

दूसरा प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, रात्रि, दिनांक ५ मई, १९७३

द्वैत की उलझन • क्षेत्रज्ञ अर्थात् निर्विषय, निर्विकार चैतन्य

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और नाना प्रकार के छन्दों से विभागपूर्वक कहा गया है तथा अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रों के पदों द्वारा भी वैसे ही कहा गया है ।

और हे अर्जुन, वही मैं तेरे लिए कहता हूँ कि पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देह का पिण्ड एवं चेतनता और धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेप से कहा गया है ।

सूत्र के पहले थोड़े से प्रश्न ।

● पहला प्रश्न : एक मित्र ने पूछा है : क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, शरीर या आत्मा, प्रकृति और पुरुष—ऐसे दो भेदों की चर्चा की गयी; फिर भी कृष्ण ने कहा है कि सभी कुछ वे ही हैं, तो समझाएँ कि सभी कुछ अगर एक ही है, तो यह भेद, विकार और विलगाव क्यों है ?

यह भेद दिखाई पड़ता है—है नहीं । यह भेद प्रतीत होता है—है नहीं । जो भी प्रतीत होता है, जरूरी नहीं है कि हो । और जो भी है, जरूरी नहीं है कि प्रतीत हो ।

बहुत कुछ दिखाई पड़ता है, उस दिखाई पड़ने में सत्य कम होता है, देखने वाले की दृष्टि ज्यादा होती है ।

जो आप देखते हैं, उस देखने में आप समाविष्ट हो जाते हैं । और जिस भाँति आप देखते हैं, और जिस ढंग से आप देखते हैं, वह आपके दर्शन का हिस्सा बन जाता है । एक दुःखी आदमी है, वह अपने चारों तरफ दुःख देखता है । अगर आकाश में चाँद भी निकला हो, तो वह भी सुन्दर प्रतीत नहीं होता । एक आनन्दित व्यक्ति सब ओर आनन्द देखता है और उसे काँटों में भी फूल जैसा सौन्दर्य दिखाई पड़ सकता है । देखने वाले पर निर्भर करता है कि क्या दिखाई पड़ेगा ।

जो हम देखते हैं, वह हमारी व्याख्या है । इसे थोड़ा ठीक से समझ लें, क्योंकि धर्म की सारी खोज इस बुनियादी बात को ठीक से समझे बिना नहीं हो सकती ।

आमतौर से जो हम देखते हैं, हम सोचते हैं : वैसा तथ्य है—जैसा हम देख रहे हैं । लेकिन समझेंगे, खोजेंगे, विचारेंगे, तो पायेंगे कि तथ्य कोई भी हम नहीं देख पाते, सभी हमारी व्याख्या है । जो हम देखते हैं, वह हमारा इन्टरप्रिटेशन है । दो-चार तर्क से सोचें ।

कोई चेहरा आपको सुन्दर मालूम पड़ता है, और आपके मित्र को, हो सकता है, वही चेहरा कुरूप मालूम पड़े । तो सौन्दर्य चेहरे में है या आपके देखने के ढंग में ?

सौन्दर्य आपकी व्याख्या है या चेहरे का तथ्य ? अगर चेहरे में तथ्य है, तो उसी चेहरे में सभी को सौन्दर्य दिखाई पड़ना चाहिए । पर किसी को सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, किसी को नहीं दिखाई पड़ता है । और किसी को कुरूपता भी दिखाई पड़ सकती है-- उसी चेहरे में ।

तो चेहरे को जब आप कुछ भी कहते हैं, उसमें आपकी व्याख्या सम्मिलित हो जाती है । तथ्य खो जाता है और आप आरोपित कर लेते हैं कुछ ।

कोई चीज आप को स्वादिष्ट मालूम पड़ सकती है, और किसी दूसरे को निःस्वाद मालूम पड़ सकती है । तो स्वाद किसी वस्तु में होता है या आपकी व्याख्या में ? स्वाद वस्तु में होता है या आपमें होता है ?--ऐसा हमें पूछना चाहिए । अगर वस्तु में स्वाद होता हो, तो फिर सभी को स्वादिष्ट मालूम पड़नी चाहिए । स्वाद आप में होता है, वस्तु को स्वाद आप देते हैं । वह आपका दान है ।

और जो आप अनुभव करते हैं, वह आपका ही खयाल है ।

तो ऐसा हो सकता है कि जो व्यक्ति आज सुन्दर मालूम पड़ता है, कल असुन्दर मालूम पड़ने लगे । और जो व्यक्ति आज मित्र जैसा मालूम पड़ता है, कल शत्रु जैसा मालूम पड़ने लगे । और जो बात आज बड़ी सुखद लगती थी, कल दुःखद हो जाय । क्योंकि कल तक आप बदल जाएँगे, आपकी व्याख्या बदल जाएगी ।

जो हम अनुभव करते हैं, वह सत्य नहीं है, वह हमारी व्याख्या है । और सत्य का अनुभव तो तभी होता है, जब हम सारी व्याख्या छोड़ देते हैं; उसके पहले अनुभव नहीं होता है । इसलिए सत्य के करीब शून्य चित्त हुए बिना कोई भी नहीं पहुँच सकता है ।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का, आत्मा और शरीर का संसार का और मोक्ष का, पदार्थ का और परमात्मा का भेद भी हमारी ही व्याख्या है । और अन्तिम क्षण में जब सभी व्याख्याएँ गिर जाती हैं, तो कोई भेद नहीं रह जाता । लेकिन सारी व्याख्याएँ गिर जायँ, तब अभेद का अनुभव होता है ।

यह जो अभेद की प्रतीति है और भेद का हमारा अनुभव है, इसे इस भाँति खोज करेंगे तो आसानी होगी : जहाँ-जहाँ आपको भेद दिखाई पड़ता है, क्या वस्तुतः वहाँ भेद है ?

अँधेरे में और प्रकाश में हमें भेद दिखाई पड़ता है, लेकिन वैज्ञानिक कहते हैं : अँधेरा प्रकाश का ही एक रूप है । अँधेरे को अगर विज्ञान की भाषा में कहें, तो उसका अर्थ होगा : थोड़ा कम प्रकाश । इससे उलटा भी कह सकते हैं । अगर अँधेरा प्रकाश का एक रूप है , तो हम यह भी कह सकते हैं कि प्रकाश भी अँधेरे का एक रूप है । और प्रकाश की व्याख्या में हम कह सकते हैं : थोड़ा कम अँधेरा ।

आइंस्टीन ने रिलेटिविटि को जन्म दिया, सापेक्षता के सिद्धांत को जन्म

दिया और आइंस्टीन ने कहा कि हमारा यह कहना कि यह अँधेरा है और यह प्रकाश है--नासमझी है । क्योंकि प्रकाश और अँधेरा सापेक्ष हैं, रिलेटिव हैं । अँधेरा थोड़ा कम प्रकाश है, प्रकाश थोड़ा कम अँधेरा है । हमसे बेहतर आँखें हों, तो अँधेरे में भी देख लेंगी और वहाँ भी प्रकाश पता चलेगा । और हमसे कमजोर आँखें हों, तो प्रकाश में भी नहीं देख पातीं; वहाँ भी अँधेरा दिखाई पड़ता है ।

आइंस्टीन कहता है कि अगर आँख की ताकत बढ़ती जाय, तो अँधेरा प्रकाश होता चला जाएगा । और आँख की ताकत कम होती जाय, तो प्रकाश अँधेरा होता चला जाएगा । फिर दोनों में कोई फासला नहीं है; दोनों में कोई भेद भी नहीं है ।

और इसे ऐसा समझें कि अगर आँख हो ही न, तो प्रकाश और अँधेरे में क्या फर्क होगा ? एक अंधे आदमी को प्रकाश और अँधेरे में क्या फर्क है ? शायद आप सोचते हों, कि अंधे को सदा अंधेरे में रहना पड़ता होगा, तो आप गलती में हैं । अँधेरे को देखने के लिए भी आँख चाहिए । अंधे को अँधेरा दिखाई नहीं पड़ता । अंधा भी अँधेरा नहीं देख सकता; देखने के लिए तो आँख चाहिए । कुछ भी देखना हो-- अँधेरा देखना हो तो भी । इसलिए आप सोचते हों की अंधा जो है, अँधेरे में रहता है, तो आप बिलकुल गलती में हैं । अंधे को अँधेरे का कोई पता ही नहीं है । ध्यान रहे, जो अँधेरे को देख सकता है, वह तो फिर प्रकाश को भी देख लेगा, क्योंकि अँधेरा प्रकाश का ही एक रूप है ।

अंधे को न अँधेरे का पता है--और न प्रकाश का । आप आँख बंद करते हैं, तो आपको अँधेरा दिखाई पड़ता है, इससे आप यह मत सोचना की अंधे को अँधेरा दिखाई पड़ता है । बंद आँख भी आँख है, इसलिए अँधेरा दिखाई पड़ता है ।

अंधे के लिए अँधेरे और प्रकाश में क्या फर्क है ? कोई भी फर्क नहीं है । अंधे के लिए न तो अँधेरा है और न प्रकाश है ।

इसे हम दूसरी तरह से भी सोचें । अगर परमात्मा के पास आँख हो, तो उसका अर्थ होगा : जैसे अंधा बिलकुल नहीं देख सकता है; हम थोड़ा देख सकते हैं; परमात्मा पूरा देख सकता होगा ।

अगर परमात्मा के पास एब्सोल्यूट आइज हों, परिपूर्ण आँखें हों, तो उसे भी अँधेरे और प्रकाश में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि अँधेरे में भी वह उतना ही देखेगा, जितना प्रकाश में देखेगा । उसकी आँख सापेक्ष नहीं है । इसलिए अगर परमात्मा देखता होगा, तो उसको भी अँधेरे और प्रकाश का कोई पता नहीं हो सकता । उसकी हालत अंधे जैसी होगी--दूसरे छोर पर ।

अगर पूरी आँख हो तो भी फर्क पता नहीं चलेगा । फर्क पता तो तभी चल सकता है, जब थोड़ा हम देखते हों और थोड़ा हम न देखते हों ।

इसे ऐसा समझें : आप कहते हैं कि गरम है पानी, या कहते हैं कि बर्फ बहुत ठंडी है, तो ठंडक और गरमी--लगता है बड़ी विपरीत चीजें हैं और हमारे अनुभव में हैं। जब गरमी तप रही हो चारों ओर, तब ठंडे पानी का एक गिलास तृप्ति देता है। कितना ही कृष्ण कहें कि सब अद्वैत है, हम यह मानने को राजी न होंगे कि गरम पानी का गिलास भी उतनी ही तृप्ति देगा। और कितना ही आइंस्टीन कहे कि गरमी भी ठंडक का एक रूप है, और ठंडक भी गरमी का एक रूप है, फिर भी हम जानते हैं : ठंडक ठंडक है और गरमी गरमी है। और आइंस्टीन भी जब गरमी पड़ेगी, तो छाया में सरकेगा। और जब ठंड लगेगी तो कमरे में हीटर लगायेगा। हालाँकि वह भी कहता है कि दोनों एक ही चीज के रूप हैं।

परम सत्य तो यही है कि दोनों एक चीज के रूप हैं। लेकिन परम सत्य को जानने की लिए परम प्रज्ञा चाहिए।

हमारे पास जो बुद्धि है, वह तो सापेक्ष है। उस सापेक्ष बुद्धि में; गरमी गरमी है और ठंड ठंड है। पर दोनों में बड़ा भेद है; विपरीतता प्रतीत होती है, वह हमारी सापेक्ष बुद्धि के कारण है।

एक छोटा सा प्रयोग करें। पानी रख लें एक बालटी में; एक हाथ को बर्फ पर रख कर ठंडा कर लें। और एक हाथ को लालटेन के पास रख कर गरम कर लें और फिर दोनों हाथों को उस पानी की बालटी में डुबा दें। आप बड़ी मुश्किल में पड़ जाएँगे। क्योंकि एक हाथ कहेगा : पानी ठंडा है, और एक हाथ कहेगा : पानी गरम है। और पानी तो बालटी में एक ही जैसा है। लेकिन एक हाथ खबर देगा गरम की, एक हाथ खबर देगा ठंडक की, क्योंकि दोनों हाथों का सापेक्ष अनुभव है। जो हाथ गरम है, उसे पानी ठंडा मालूम पड़ेगा। जो हाथ ठंडा है, उसे पानी गरम मालूम पड़ेगा। तो इस बालटी के भीतर जो पानी है, उसको आप क्या कहिएगा?—ठंडा या गरम? अगर बायें हाथ की मानिये, तो वह कहता है : ठंडा; दायें हाथ की मानिये तो कहता है : गरम। और दोनों हाथ आपके हैं। आप क्या करियेगा ? तब आपको पता चलेगा कि गरमी और ठंडक सापेक्ष हैं। गरमी और ठंडक दो तथ्य नहीं हैं, हमारी व्याख्याएँ हैं। हम अपनी तुलना में किसी चीज को गरम कहते हैं, और अपनी तुलना में किसी चीज को ठंडी कहते हैं।

इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक हमारे पास तुलना करने वाली बुद्धि है और जब तक हमारे पास तौलने का तराजू--विचार--है, तब तक हमें भेद दिखायी पड़ते रहेंगे।

संसार में भेद है, क्योंकि संसार है—हमारी व्याख्याओं का नाम। और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, क्योंकि परमात्मा का अर्थ है : उस जगह प्रवेश, जहाँ

हम अपनी व्याख्याएँ छोड़कर ही पहुँचते हैं।

इसे हम ऐसा समझें : एक नदी बहती है, तो उसके पास किनारे होते हैं। बायीं तरफ किनारा होता है, दायीं तरफ किनारा होता है। और फिर नदी सागर में गिर जाती है। सागर में गिरते ही किनारे खो जाते हैं। जो नदी सागर में गिर गयी है, अगर वह दूसरी नदियों से मिल सके, तो उन नदियों से कहेगी कि किनारे हमारे अस्तित्व का हिस्सा नहीं हैं। किनारे संयोगवश हैं। किनारा होना जरूरी नहीं है--नदी होने के लिए, क्योंकि सागर में पहुँच कर कोई किनारा नहीं रह जाता; नदी रह जाती है।

लेकिन किनारे से बंधी नदियाँ कहेंगी कि यह बात समझ में नहीं आती। बिना किनारे के नदी हो भी कैसे सकती है? किनारे तो हमारे अस्तित्व के हिस्से हैं।

कृष्ण जब हमसे बोलते हैं, तो वही तकलीफ है। कृष्ण उस जगह से बोलते हैं, जहाँ नदी सागर में गिर गयी। हम उस जगह से सुनते हैं, जहाँ नदी किनारों से बंधी है।

कृष्ण जब अभेद की बात करते हैं, तो हमारी पकड़ के बाहर हो जाता है। भेद की बात जब करते हैं, तो हमारी समझ में आता है। क्योंकि भेद हम भी कर सकते हैं। भेद तो हम करते ही हैं।

भेद करना तो हमें पता है, वह कला हमें ज्ञात है। अभेद की कला कठिन भी है, क्योंकि अभेद की कला का अर्थ हुआ कि अब हमें मिटना पड़ेगा। वह जो भेद करने वाला हमारे भीतर है, उसके समाप्त हुए बिना अभेद का कोई पता नहीं चलेगा।

चारों तरफ हम देखते हैं; सब चीजों की परिभाषा मालूम पड़ती है। सभी चीजों की सीमा मालूम पड़ती है। लेकिन अस्तित्व असीम है, और कहीं भी समाप्त नहीं होता। कहीं कोई सीमा आती नहीं है--अस्तित्व की।

आपको लगता है, एक वृक्ष खड़ा है, तो दिखाई पड़ता है : वृक्ष की सीमा है। आप नाप सकते हैं : कितना ऊँचा है, कितना चौड़ा है। पत्तियों को भी नाप सकते हैं। वजन भी नाप सकते हैं। लेकिन क्या सच में वृक्ष की कोई सीमा है? क्या वृक्ष पृथ्वी के बिना हो सकता है? अगर पृथ्वी के बिना वृक्ष नहीं हो सकता, तो पृथ्वी वृक्ष का हिस्सा है।

जिसके बिना हम नहीं हो सकते, उससे हमें अलग करना उचित नहीं है। पृथ्वी के बिना वृक्ष नहीं हो सकता; उसकी जड़ें पृथ्वी की छाती में फैली हुई हैं; उन्हीं से वह रस पाता है, उन्हीं से वह जीवन पाता है; उसके बिना नहीं हो सकता। तो पृथ्वी वृक्ष का हिस्सा है। पृथ्वी बहुत बड़ी है। वृक्ष नहीं था, तब भी थी। वृक्ष

नहीं हो जाएगा, तब भी होगी। और अभी भी जब वृक्ष है, तो वृक्ष के भीतर पृथ्वी दौड़ रही है, वृक्ष के भीतर पृथ्वी बह रही है।

लेकिन क्या पृथ्वी ही वृक्ष का हिस्सा है? हवा के बिना वृक्ष न रह सकेगा। वृक्ष भी श्वास ले रहा है। वह भी आन्दोलित है, उसका प्राण भी वायु से चल रहा है। तो वायु के बिना अगर वृक्ष न हो सके, तो फिर वायु से वृक्ष को अलग करना उचित नहीं है; नासमझी है। तो वायुमंडल वृक्ष का हिस्सा है।

लेकिन क्या सूरज के उगे बिना वृक्ष हो सकेगा? अगर कल सुबह सूरज न उगेगा, तो वृक्ष मर जाएगा। दस करोड़ मील दूर सूरज है, लेकिन उसकी किरणों से वृक्ष जीवित है। तो वृक्ष का जीवन कहाँ समाप्त होता है?

यह तो मैंने स्पेस में, आकाश में वृक्ष का फैलाव बताया है। समय में भी वृक्ष इसी तरह फैला हुआ है। यह वृक्ष कल नहीं था। एक बीज था, इस वृक्ष की जगह किसी और वृक्ष पर लगा था। उस वृक्ष के बिना यह वृक्ष न हो सकेगा। वह बीज अगर पैदा न होता, तो यह वृक्ष कभी भी न होता, वह बीज आज भी इसी वृक्ष में प्रगट हो रहा है। और अगर हम इसके पीछे की तरफ यात्रा करें, तो न मालूम कितने वृक्ष इसके पीछे हुए, इसलिए यह वृक्ष हो सका है। अनन्त तक पीछे फैला हुआ है; अनन्त तक आगे फैला हुआ है। अनन्त तक चारों तरफ फैला हुआ है। समय और क्षेत्र दोनों में वृक्ष का फैलाव है।

अगर एक वृक्ष की हम ठीक से, ईमानदारी से सीमा तय करने चलें, तो पूरे विश्व की सीमा में हमें वृक्ष मिलेगा। एक छोटे से व्यक्ति को अगर हम खोजने चलें, तो हमें उसके भीतर पूरा विराट् ब्रह्माण्ड मिल जाएगा।

तो कहाँ आप समाप्त होते हैं, कहाँ शुरू होते हैं? न कोई शुरूआत है और न कोई अन्त है। इसीलिए हम कहते हैं कि परमात्मा अनादि और अनन्त है। आप भी अनादि और अनन्त हैं। वृक्ष भी अनादि और अनन्त हैं। पत्थर एक का टुकड़ा भी अनादि और अनन्त है।

अस्तित्व में जो भी है, वह अनादि और अनन्त है। लेकिन हम सीमाएँ बनाना जानते हैं। और सीमाएँ बनाना जरूरी भी है; हमारे काम के लिए उपयोगी भी है। अगर मैं आपका पता न पूछूँ, आपका घर खोजता हुआ जाऊँ और कहूँ कि 'वे कहाँ रहते हैं, जो अनादि और अनन्त हैं; जिनका कोई न अन्त है; न कोई प्रारम्भ है। जो न कभी जन्मे, न कभी मरेंगे; जो निर्गुण, निराकार हैं--वे कहाँ रहते हैं?' तो मुझे लोग पागल समझेंगे। वे कहेंगे, आप नाम बोलिये। आप सीमा बताइये। आप परिभाषा करिये। आप ठीक-ठीक पता बताइये। क्या नाम है? क्या धाम है? यह अनन्त और निराकार--इससे कुछ पता न चलेगा।

आपको मुझे पता लगाना हो, तो एक सीमा चाहिए; एक छोटे से कार्ड पर आपका नाम, आपका टेलीफोन नम्बर, आपका पता-ठिकाना--उससे मैं आपको खोज पाऊँगा। और वह सब झूठ है, जिससे मैं आपको खोजूँगा। और जो सत्य है, उससे मैं अगर आपको खोजने चलूँ, तो कभी न खोज पाऊँगा।

जिन्दगी सापेक्ष है, वहाँ सभी चीजें कामचलाऊ हैं, उपयोगी हैं। लेकिन जो उपयोगी है, उसे सत्य मत मान लेना। जो उपयोगी है, अकसर ही झूठ होता है।

असल में झूठ की बड़ी उपयोगिता है। सत्य बड़ा खतरनाक है। और जो सत्य में उतरने जाता है, उसे उपयोगिता छोड़नी पड़ती है।

संन्यास का यही अर्थ है कि वह व्यक्ति जिसने उपयोगिता के जगत् की फिक्र छोड़ दी। और जो कहता है, 'चाहे नुकसान उठा लूँ, चाहे सब मिट जाय, लेकिन मैं वही जानना चाहूँगा--जो है। और इस खोज में अपने को भी खोना पड़ता है।

निश्चित ही कृष्ण की बात समझ में नहीं आती कि अगर सभी एक है, तो फिर भेद कैसा? सभी तो एक है, भेद इसलिए है कि--हमारे पास जो बुद्धि है, छोटी-सी, वह भेद बिना किये काम नहीं कर सकती।

इसे ऐसा समझें : एक आदमी अपने मकान के भीतर बंद है। वह जब भी आकाश को देखता है, तो अपनी खिड़की से देखता है। तो खिड़की का जो चौखटा है, वह आकाश पर आरोपित होता है। उसने कभी बाहर आकर नहीं देखा। उसने सदा अपने मकान के भीतर से देखा है। तो खिड़की का चौखटा आकाश पर कस जाता है। और जिस आदमी ने खुला आकाश नहीं देखा, वह यही समझेगा कि यह जो खिड़की का आकार है, यही आकाश का आकार है। खिड़की का आकार आकाश का आकार मालूम पड़ेगा।

आकाश निराकार है। लेकिन कहाँ से आप देख रहे हैं? आपकी खिड़की कितनी बड़ी है? हो सकता है, आप एक दीवाल की छेद से देख रहे हैं, तो आकाश उतना ही बड़ा दिखाई पड़ेगा--जितना दीवाल का छेद है।

जब कोई व्यक्ति अपने मकान के बाहर आकर आकाश को देखता है, तब उसे पता चलता है कि यह तो निराकार है। जो आकार दिखाई पड़े थे, वे मेरे देखने की जगह से पैदा हुए थे।

इन्द्रियाँ खिड़कियाँ हैं और हम अस्तित्व को इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं, इसलिए अस्तित्व बँटा हुआ दिखाई पड़ता है, टूटा हुआ दिखाई पड़ता है।

आँख निराकार को नहीं देख सकती, क्योंकि आँख जिस चीज को भी देखेगी उसी चीज पर आँख का आकार आरोपित हो जाएगा। कान निराकार को नहीं सुन सकते, निःशब्द को नहीं सुन सकते। कान तो जिसको भी सुनेंगे, उसको शब्द

बना लेंगे और सीमा बाँध लेंगे। हाथ निराकार को नहीं छू सकते, क्योंकि हाथ आकार वाले हैं; जिसको भी छुयेंगे, वहीं आकार का अनुभव होगा।

आप उपकरण से देखते हैं, इसलिए सभी चीजें विभिन्न हो जाती हैं। जब कोई व्यक्ति इन्द्रियों को छोड़ कर, द्वार-दरवाजे-खिड़कियों से पार आ कर खुले आकाश को देखता है, तब उसे पता चलता है कि जो भी मैंने अब तक देखा था, वे मेरे खयाल थे। अब जो मैं देख रहा हूँ, वह सत्य है।

'मकान' के बाहर आकर देखने का नाम ही ध्यान है। इन्द्रियों से हट कर, अलग हो कर देखने का नाम ही ध्यान है। आँख से मत देखें। आँख को बन्द करके देखने का नाम ध्यान है। कान से मत सुनें। कान बंद करके सुनने का नाम ध्यान है। शरीर से मत स्पर्श करें। शरीर-स्पर्श से ऊपर उठ कर स्पर्श करने का नाम ध्यान है। और जब सारी इन्द्रियों को छोड़ कर कोई जरा-सा भी अनुभव कर लेता है, तो उसे कृष्ण की बात की सच्चाई का पता चल जाएगा। तब उसे कहीं भी सीमा न दिखाई पड़ेगी। तब उसे जन्म और मृत्यु एक मालूम होंगे; तब उसे सृष्टि और स्रष्टा एक मालूम होंगे।

'एक' कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'एक' में यह बात छिपी ही हुई है कि शायद पहले दो थे—अब 'एक' मालूम होता है। इसलिए हमने अपने मुल्क में 'एक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। हमने जो शब्द प्रयोग किया है, वह है—'अद्वैत'।

ज्ञानी को ऐसा पता नहीं चलेगा कि सब एक है। ज्ञानी को ऐसा पता चलेगा कि 'दो नहीं' है। इन दोनों में फर्क है। शब्द तो एक ही हैं।

अद्वैत का मतलब ही होता है एक, एक का मतलब भी होता है अद्वैत। लेकिन सोच के हमने कहा : अद्वैत—एक नहीं। क्योंकि एक से विधायक रूप से मालूम पड़ता है : एक। एक की सीमा बन जाती है। और जहाँ एक हो सकता है, वहाँ दो भी हो सकते हैं। क्योंकि एक संख्या है। अकेली संख्या का कोई मूल्य नहीं होता। दो होना चाहिए, तीन होना चाहिए, चार होना चाहिए, तो एक का कोई मूल्य है। और अगर कोई दो नहीं, कोई तीन नहीं, कोई चार नहीं, तो एक निर्मूल्य हो गया। गणित का अंक व्यर्थ हो गया। उसका फिर कोई अर्थ नहीं है।

इसलिए भारतीय रहस्यवादियों ने 'एक' शब्द का उपयोग न करके, कहा : अद्वैत—नॉन डूअल। इतना ही कहा कि हम इतना कह सकते हैं कि वहाँ दो नहीं हैं। निषेध विराट् होता है, विधेय में सीमा आ जाती है। इनकार करने में कोई सीमा नहीं आती। 'दो नहीं हैं।' कुछ कहा नहीं, सिर्फ इतना ही कहा कि भेद नहीं है वहाँ। दो किये जा सकें, इतना भी भेद नहीं है।

यह जो निषेध है—'दो नहीं' है—यह कोई गीता समझने से, ब्रह्मसूत्र समझने

से खयाल में नहीं आता है। यह 'दो नहीं' तभी खयाल में आयेगा, जब इन्द्रियों से हटकर देखने की थोड़ी-सी क्षमता आ जाएगी।

यह सारा अध्याय इन्द्रियों से हटने की कला पर ही निर्भर है। सारी कोशिश यही है कि आप शरीर से हट कर देखने में सफल हो जायँ। इसलिए प्राथमिक रूप से फासला करना पड़ रहा है। यह बड़ी उलझी हुई जटिल बात है।

कृष्ण पहले सिखा रहे हैं कि तुम जानो कि तुम शरीर नहीं हो। भेद सिखा रहे हैं। पैराडॉक्सिकल है, विरोधाभासी है। कृष्ण कह रहे हैं कि तुम जानो कि तुम क्षेत्र नहीं हो, शरीर नहीं हो, इन्द्रियाँ नहीं हो। यह तो भेद सिखाना हो गया। लेकिन कृष्ण यह भेद इसीलिए सिखा रहे हैं, क्योंकि इसी भेद के द्वारा तुम्हें अभेद का दर्शन हो सकेगा।

शरीर से तुम हटोगे, तो तुम्हें दिखाई पड़ेगा कि शरीर भी खो गया, आत्मा भी खो गयी और वही रह गया, जो दोनों के बीच है, जो दोनों में छिपा है।

इसे आप ऐसा समझें कि आप अपने मकान को जोर से पकड़े हुए हैं, और मैं आप से कहता हूँ कि यह खिड़की छोड़ो, तो तुम्हें खुला आकाश दिखाई पड़ सके। इस खिड़की से थोड़ा दूर हटो। तुम खिड़की नहीं हो। तुम मकान नहीं हो। तुम चाहो तो मकान के बाहर आ सकते हो। तुम्हें भेद सिखा रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ कि तुम मकान नहीं हो। बाहर आओ। लेकिन बाहर आकर तुम्हें यह भी पता चल जाएगा कि मकान के भीतर जो था, वह भी यही आकाश था, जो मकान के बाहर है।

लेकिन मकान के बाहर आ कर दोनों बातें पता चलेंगी कि जो आकाश मैं भीतर से देखता था, वह सीमित था। सीमा मेरी दी हुई थी। आकार मैंने दिया था; निराकार को मैंने आकार की तरह देखा था। वह मेरी भूल थी, वह मेरी भ्रांति थी। लेकिन बाहर आ कर...। इसका यह अर्थ नहीं है कि मकान के भीतर जो आकाश था, वह आकाश नहीं है। बाहर आ कर तो आपको यह भी दिखाई पड़ जाएगा कि मकान के भीतर जो था, वह भी आकाश था। मकान की खिड़की से जो दिखाई पड़ता था, वह भी आकाश था। खिड़की भी आकाश का हिस्सा थी। खिड़की भी आज नहीं कल खो जाएगी और आकाश में लीन हो जाएगी।

जिस दिन आकाश के तत्त्व की पूरी प्रतीति हो जाएगी, उस दिन मकान, खिड़की—सभी आकाश हो जाएँगे। लेकिन एक बार मकान के बाहर आना जरूरी है।

भेद निर्मित किया जा रहा है, ताकि आप अभेद को जान सकें। यह बात उलटी मालूम पड़ती है और जटिल मालूम पड़ती है। हम चाहेंगे कि भेद की बात ही न की जाय। अगर अभेद ही है, तो भेद की बात ही न की जाय। लेकिन बात की जाय या न की जाय, हमें अभेद दिखाई नहीं पड़ता। हमें भेद ही दिखाई पड़ता है।

हम चाहें तो भेद के भीतर भी अपने मन को समझा-बुझा कर अभेद की मान्यता स्थापित कर सकते हैं। लेकिन वह काम न आयेगी। गहरे में तो हमें भेद मालूम पड़ता ही रहेगा।

कोई कितना कहे कि मित्र और शत्रु दोनों एक हैं। हम अपने को समझा भी लें कि दोनों एक हैं। तब भी हमें मित्र मित्र दिखाई पड़ता रहेगा और शत्रु शत्रु दिखाई पड़ता रहेगा। और मित्र को चाहते रहेंगे और शत्रु को न चाहते रहेंगे।

हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ से भेद अनिवार्य है। और हम जब तक न बदल जायँ, तब तक अभेद का कोई अनुभव नहीं हो सकता।

हमारी बदलाहट का पहला चरण है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद हमारे स्मरण में आ जाय।

अब हम सूत्र को लें।

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है। और नाना प्रकार के छन्दों से विभागपूर्वक कहा गया है। तथा अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए युक्ति-युक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी वैसा ही कहा गया है।'

सच तो यह है कि धर्म के समस्त सूत्र क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की ही बात कहते हैं। उनके कहने में, ढंग में, शब्दों में भेद है, पर वे जिस तरफ इशारा करते हैं, वह एक ही बात है।

कृष्ण कहते हैं: वेद या उपनिषद् या ब्रह्मसूत्र या परमज्ञानी जो ऋषि हुए हैं, उन सब ने भी अनेक-अनेक रूपों में अनेक-अनेक प्रकार से यही बात कही है।

यह छोटी-सी बात है, लेकिन बहुत बड़ी है। सुनने में बहुत छोटी, और अनुभव में आ जाय, तो इससे बड़ा कुछ भी नहीं है।

अभी वैज्ञानिकों ने अणु का विस्फोट किया, अणु को तोड़ डाला, तो जो संघटक थे अणु के...। अणु क्षुद्रतम चीज है। उससे छोटी और कोई चीज नहीं और जब अणु को भी विभाजित किया, उसके जो संघटक थे, जो सदस्य थे--अणु को बनाने वाले, जब उनको तोड़ कर अलग कर दिया, तो विराट् ऊर्जा का जन्म हुआ।

आज से पचास साल पहले कोई बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी यह नहीं सोच सकता था कि अणु जैसी क्षुद्र चीज में इतनी विराट् शक्ति छिपी होगी। और लॉर्ड रदरफोर्ड ने पहली दफा जब अणु के विस्फोट की कल्पना की तो रदरफोर्ड ने स्वयं कहा है कि मुझे खुद ही विश्वास नहीं आता था कि इतनी क्षुद्रतम वस्तु में इतनी विराट् ऊर्जा छिपी है। लेकिन हमने हिरोशिमा और नागासाकी में देखा कि अणु के एक छोटे से विस्फोट में लाखों लोग क्षण भर में जल कर राख हो गये। और अब हम जानते हैं कि इस पृथ्वी को हम किसी भी क्षण नष्ट कर सकते हैं।

पर अणु आँख से दिखाई नहीं पड़ता। आँख की बात तो दूर है, अब तक हमारे पास कोई भी यन्त्र नहीं है, जिसके द्वारा अणु दिखाई पड़ता हो। अब तक किसी ने अणु देखा नहीं है। वैज्ञानिक भी अणु का अनुमान करते हैं। सोचते हैं कि अणु है। सोचना उनका सही भी है, क्योंकि अणु को उन्होंने तोड़ भी लिया है। बिना देखे यह घटना घटी है। और इस अदृश्य अणु में, जो इतना छोटा है कि दिखाई नहीं पड़ता, इससे इतनी विराट् ऊर्जा का जन्म हुआ।

विज्ञान शिखर पर पहुँच गया है--परमाणु के विभाजन से। धर्म ने भी एक तरह का विभाजन किया था। यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ उसी विभाजन की कीमिया है। धर्म ने मनुष्य की चेतना का विभाजन किया था। विज्ञान ने पदार्थ के अणु का विभाजन किया है; धर्म ने चेतना के परमाणु का विभाजन किया था। और उस परमाणु को दो हिस्सों में तोड़ दिया था। दो उसके संगठन हैं: शरीर और आत्मा, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ--दोनों को तोड़ने से वहाँ भी बड़ी विराट् ऊर्जा का अनुभव हुआ था। और परमाणु के विस्फोट में जितनी अनुभव हो रही है ऊर्जा, वह उस ऊर्जा के सामने कुछ भी नहीं है। क्योंकि परमाणु जड़ है। चैतन्य का कण जब टूटा, जब कोई ऋषि सफल हो गया अपने भीतर के चैतन्य के अणु को तोड़ने में--शरीर से पृथक करने में--इन दोनों के पृथक् होते ही जो विराट् ऊर्जा जन्मी वह ऊर्जा का अनुभव ही परमात्मा का अनुभव है।

और फर्क है दोनों में।

अणु टूटता है, तो उससे जो ऊर्जा पैदा होती है, उससे मृत्यु घटित होती है। और जब चेतना का अणु टूटता है, तो उससे जो ऊर्जा प्रकट होती है, उससे अमृत घटित होता है। क्योंकि जीवन की ऊर्जा में जब प्रवेश होता है, तो परम जीवन का अनुभव होता है।

यह सूत्र आइंस्टीन के सूत्र जैसा है। इस सूत्र का इतना ही अर्थ है कि तुम्हारे भीतर तुम्हारे व्यक्तित्व को संगठित करने वाले दो तत्त्व हैं, एक तो पदार्थ से आ रहा है और एक चेतना से आ रहा है। चेतना और पदार्थ दोनों के मिलन पर तुम निर्मित हुए हो। तुम्हारा जो अणु है, वह आधा चैतन्य से और आधा पदार्थ से संयुक्त है।

तुम्हारे दो किनारे हैं। तुम्हारी नदी चेतना और पदार्थ दो के बीच बह रही है। और यह जो पदार्थ है, इसने तुम्हें बाहर से घेरा हुआ है, चारों तरफ तुम्हारी दीवाल बनायी गयी है। कहना चाहिए तुम्हारी चेतना के अणु की जो दीवाल है, जो घेरा है, वह पदार्थ का है। और जो सेन्टर है, केन्द्र है, वह चेतना का है।

काश, यह सम्भव हो जाय कि तुम इन दोनों को अलग कर लो, तो जीवन का जो श्रेष्ठतम अनुभव है, वह घटित हो जाय।

सारे धर्मों ने...। कृष्ण ने तो बात की है: वेद की, ब्रह्मसूत्र की, लेकिन इनका

कारण यह नहीं है कि कृष्ण कोई बाइबिल या कुरान के खिलाफ हैं। कृष्ण के वक्त में अगर बाइबिल और कुरान होते, तो उन्होंने उनकी भी बात की होती। वे नहीं थे। नहीं थे, इसलिए बात नहीं की है। आप यह मत सोचना कि इसलिए बात नहीं की है कि कुरान और बाइबिल में वह बात नहीं है। बात तो वही है।

चाहे जरथुस्त्र के वचन हों, चाहे लाओत्से के, चाहे क्राइस्ट के या मुहम्मद के--धर्म का सूत्र तो एक ही है--कि भीतर चेतना और पदार्थ को हम कैसे अलग कर लें। इसके उपाय भिन्न-भिन्न हैं। हजारों उपाय हैं। लेकिन उपायों का मूल्य नहीं है। निष्कर्ष एक है।

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है...।' दुनिया में इतने धर्मों के खड़े होने का कारण सत्यों का विरोध नहीं है, प्रकारों का भेद है। और नासमझ है आदमी कि प्रकार के भेद को परम अनुभव का भेद समझ लेता है।

जैसे किसी एक पहाड़ पर जाने के लिए बहुत रास्ते हों और हर रास्ते वाला दावा करता हो कि मेरे रास्ते के अतिरिक्त कोई पहाड़ पर नहीं पहुँचता। न केवल दावा करता हो, बल्कि दो रास्ते वाले लड़ते भी हों। न केवल लड़ते हों, बल्कि लड़ाई इतनी मूल्यवान हो जाती हो कि पहाड़ पर चढ़ना भूल ही जाते हों और लड़ाई में ही जीवन व्यतीत करते हों। ऐसी करीब-करीब हमारी हालत है।

कोई पहाड़ पर चढ़ता नहीं। न मुसलमान को फिक्र है पहाड़ पर चढ़ने की, न हिन्दू को फिक्र है। सब को फिक्र यह है कि हमारा रास्ता ठीक है, तुम्हारा रास्ता गलत है। और तुम्हारा रास्ता गलत है--इसको सिद्ध करने में लोग अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। और हमारा रास्ता सही है--इसको सिद्ध करने में अपनी सारी जीवन ऊर्जा लगा देते हैं। लेकिन एक इन्च भर भी उस रास्ते पर नहीं चलते--जो सही है।

काश, दूसरे के रास्ते को गलत करने की चिंता कम हो जाय। और जैसे ही दूसरे के रास्ते को गलत करने की चिंता कम हो, वैसे ही अपने रास्ते को सही सिद्ध करने की भी जरूरत नहीं रह जाती। यह तो उसी पहली चिंता का ही हिस्सा है।

दूसरे को गलत सिद्ध करना और खुद को सही सिद्ध करना साथ ही जुड़े हैं। और जो आदमी इस भ्रम में पड़ जाता है, वह रास्ते पर चलना ही भूल जाता है; वह रास्ते के सम्बन्ध में विवाद करता रहता है। पंडित--हिन्दुओं के, मुसलमानों के, जैनों के--इसी काम में लगे हैं। पंडितों से ज्यादा भटके हुए आदमी खोजना कठिन है। उनका सारा जीवन इसमें लगा हुआ है कि कौन गलत है, कौन सही है। और वे यह भूल ही गये है कि जो सही है, वह चलने के लिए है। लेकिन उन्हें चलने की सुविधा कहाँ, फुरसत कहाँ, समय कहाँ!

और अगर कोई भी चले, तो पहाड़ पर पहुँच कर यह दिखाई पड़ जाता है कि बहुत से रास्ते इसी चोटी की तरफ आते हैं। लेकिन यह चोटी पर से ही दिखाई पड़ सकता है; नीचे से नहीं दिखाई पड़ सकता। नीचे से तो अपना ही रास्ता दिखाई पड़ता है। चोटी से सभी रास्ते दिखाई पड़ सकते हैं।

यह जो कृष्ण कहते रहे हैं--चोटी पर खड़े हुए व्यक्ति की वाणी है। वे कह रहे हैं कि सभी वेद, सभी ऋषि, सभी ज्ञानी इस एक ही तत्त्व की बात कर रहे हैं।

बहुत प्रकार से उन्होंने कहा है; उनके कहने के प्रकार में मत उलझ जाना। कभी-कभी तो उनके कहने के प्रकार इतने विपरीत होते हैं कि बड़ी कठिनाई हो जाती है।

अगर महावीर और बुद्ध दोनों को आप सुन लें, तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाएँगे। और दोनों एक साथ हुए थे और दोनों एक ही समय में थे और एक ही छोटे इलाके --बिहार में थे। लेकिन महावीर और बुद्ध के कहने के ढंग इतने विपरीत हैं कि अगर आप दोनों को सुन लें, तो आप बड़ी मुश्किल में पड़ जाएँगे। और तब आपको यह मानना ही पड़ेगा कि दोनों में से एक ही ठीक हो सकता है; दोनों ठीक नहीं हो सकते। यह तो हो भी सकता है कि दोनों गलत हों, लेकिन दोनों ठीक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों इतनी विपरीत बातें कहते हैं।

महावीर कहते हैं: आत्मा को जानना परमज्ञान है। और बुद्ध कहते हैं: आत्मा को मानने से बड़ा अज्ञान नहीं है। अगर ये दोनों बातें आपके कान में पड़ जायँ, तो आप समझेंगे: या तो दोनों गलत हैं या कम से कम एक तो गलत होना ही चाहिए। दोनों कैसे सही होंगे?

बुद्ध कहते हैं: आत्मा को मानना अज्ञान है। और महावीर कहते हैं: आत्मा को जानना परम ज्ञान है। मगर जो शिखर पर खड़े होकर देख सकता है, वह हँसेगा और वह कहेगा कि दोनों एक ही बात कर रहे हैं। उनके कहने का ढंग अलग है। ढंग अलग होगा ही। महावीर, महावीर हैं; बुद्ध, बुद्ध हैं। उनके पास व्यक्तित्व अलग है। उनके पास सोचने की प्रक्रिया अलग है। उनके चोट करने का उपाय अलग है। आपसे बात करने की विधि अलग है। आपको कैसे बदलें, उसका विधान अलग है।

महावीर कहते हैं: आत्मा को जानना हो, तो अहंकार को छोड़ना पड़ेगा। तो परमज्ञान होगा। और बुद्ध कहते हैं: आत्मा यानी अहंकार। तुमने आत्मा को माना कि तुम किसी न किसी रूप में अपने अहंकार को बचा लोगे। इसलिए आत्मा को मानना ही मत, ताकि अहंकार को बचने की कोई जगह न रह जाय।

बुद्ध जहाँ भी आत्मा शब्द का उपयोग करते हैं, उनका अर्थ अहंकार होता है। मगर यह तो पहाड़ पर खड़े हों, तो आपको दिखाई पड़े। और तब आप कह सकते हैं कि बुद्ध भी वहीं लाते हैं, जहाँ महावीर लाते हैं।

लेकिन नीचे रास्तों पर खड़ा हुआ आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है और काफी विवाद चलता है। बौद्ध और जैन अभी तक विवाद कर रहे हैं। बुद्ध और महावीर को गये पच्चीस सौ साल हो गये, पर उनके भीतर कलह अब भी जारी है। वे एक दूसरे के खण्डन में लगे रहते हैं।

यह तो जैन मान ही नहीं सकता कि बुद्ध को ज्ञान हुआ होगा। क्योंकि ज्ञान हुआ होता, तो ऐसी अज्ञान की बात कहते? बौद्ध भी नहीं मान सकता कि महावीर को ज्ञान हुआ होगा। अगर ज्ञान हुआ होता, तो ऐसी अज्ञान की बात कहते कि आत्मा परमज्ञान है। नीचे बड़ी कलह है।

कृष्ण जैसी व्यक्तियों की सारी चेष्टा होती है कि आपकी शक्ति कलह में व्यय न हो। आप लड़ने के समय और अवसर को न गँवायें। आप कुछ करें।

इसलिए उचित है...एक बार मन में यह बात साफ समझ लेनी उचित है कि ज्ञानियों के शब्द में चाहे कितना ही फासला हो, ज्ञानियों के अनुभव में फासला नहीं हो सकता। ज्ञानियों के कहने के ढंग कितने ही भिन्न हों, लेकिन उन्होंने जो जाना है, वह एक ही चीज हो सकती है।

अज्ञानी बहुत-सी बातें जान सकते हैं। ज्ञानी तो एक को ही जानते हैं।

तो चाहे हमारी समझ में आता हो या न आता हो, मगर व्यर्थ कलह और विवाद में मत पड़ना। और जिसकी बात आपको ठीक लगती हो, उस रास्ते पर चलना शुरू कर देना।

अगर आप महावीर के रास्ते से चले, तो भी आप उसी शिखर पर पहुँच जाएँगे, जहाँ कृष्ण, और बुद्ध, और मुहम्मद का रास्ता पहुँचता है। अगर आप मुहम्मद के रास्ते से चले, तो भी वहीं पहुँच जाएँगे, जहाँ कृष्ण और राम का रास्ता पहुँचता है।

चलने से पहुँच जाएँगे--किसी भी रास्ते से चलें। सभी रास्ते उस तरफ ले जाते हैं।

मेरी तो समझ यह है कि ठीक रास्ते पर खड़े होकर विवाद करने के बजाय गलत रास्ते पर चलना भी बेहतर है, क्योंकि गलत रास्ते पर चलने वाला भी कम से कम एक अनुभव को तो उपलब्ध हो जाता है कि यह रास्ता गलत है, चलने योग्य नहीं है। ठीक रास्ते पर खड़ा आदमी यह भी अनुभव नहीं कर पाता।

गलत को भी गलत की तरह पहचान लेना, सत्य की तरफ बड़ी सफलता है।

सुना है मैंने कि एडीसन बूढ़ा हो गया था और एक प्रयोग वह कर रहा था, जिसको सात सौ बार करके असफल हो गया था। उसके सब सहयोगी घबड़ा चुके थे। तीन साल...! सब ऊब गये थे। उसके नीचे शोध करने वाले विद्यार्थी पक्का मान लिये थे कि अब उनकी रिसर्च कभी पूरी होने वाली नहीं है। और यह बूढ़ा है कि बदलता भी नहीं कि दूसरा कुछ काम हाथ में ले। उसी काम को किये जाता है!

और एक दिन सुबह एडीसन हँसता हुआ आया, तो उसके साथी, सहयोगियों व विद्यार्थियों ने समझा कि मालूम होता है, कि उसको कोई कुंजी हाथ लग गयी। तो वे सब घेर कर खड़े हो गये और उन्होंने कहा कि 'आप इतने प्रसन्न हैं, मालूम होता है आपका प्रयोग सफल हो गया, कुंजी हाथ लग गयी।' तो उसने कहा, कि 'नहीं, एक बार और मैं असफल हो गया। लेकिन एक असफलता और कम हो गयी। सफलता करीब आती जा रही है। आखिर असफलता की सीमा है। मैंने सात सौ दरवाजे टटोल लिए, तो सात सौ दरवाजे पर भटकने की अब कोई जरूरत न रही। जिस दिन मैंने पहली दफा शुरू किया था, अगर सात सौ एक दरवाजे हों, तो उस दिन सात सौ एक दरवाजे थे, अब केवल एक बचा। सात सौ कम हो गये। इसलिए मैं खुश हूँ। रोज एक दरवाजा कम होता जा रहा है। असली दरवाजा ज्यादा दूर नहीं है अब।'

जवान साथी उदास हो कर बैठ गये। उनकी समझ में यह बात न आयी। लेकिन जो इतने उत्साह से भरा हुआ आदमी है, उसके उत्साह का कारण केवल इतना है कि असफलता भी सफलता की सीढ़ी है।

गलत रास्ते पर भी अगर कोई चल रहा है, तो सही पर पहुँच जाएगा।

और मैं आप से कहता हूँ कि सही रास्ते पर भी कोई खड़ा होकर विवाद कर रहा हो, तो गलत पर पहुँच जाएगा।

खड़े होने से रास्ता चूक जाता है। चलने से रास्ता मिलता है। असल में चलना ही रास्ता है। जो खड़ा है, वह रास्ते पर है ही नहीं, क्योंकि खड़े होने का रास्ते से कोई सम्बन्ध नहीं है। चलने से रास्ता निर्मित होता है।

गलत पर भी कोई चले, लेकिन चले। और हठपूर्वक, जिदपूर्वक, संकल्पपूर्वक लगा रहे, तो गलत रास्ता भी ज्यादा देर तक उसे पकड़े नहीं रख सकता।

जो चलता ही चला जाता है, वह ठीक पर पहुँच ही जाएगा। और जो खड़ा है, वह कहीं भी खड़ा हो, वह गलत पर गिर जाएगा।

लेकिन हम खड़े होकर मजे से विवाद कर रहे हैं: क्या ठीक है, क्या गलत है।

अर्जुन के मन में यह सवाल न उठे कि और ऋषियों ने क्या कहा है, इसलिए कृष्ण कहते हैं: सभी तत्त्व के जानने वालों ने बहुत प्रकार से इसी को कहा है। 'नाना प्रकार के छन्दों में, नाना प्रकार की व्याख्याओं में, अच्छी तरह निश्चित किये हुए

युक्ति-युक्त ब्रह्मसूत्र के पदों में भी वैसा ही कहा गया है।'

इधर एक बात और समझ लेनी जरूरी है कि धर्म-शास्त्र भी युक्ति का और तर्क का उपयोग करते हैं, लेकिन वे तार्किक नहीं हैं।

तर्कशास्त्री भी तर्क का उपयोग करते हैं, धर्म के रहस्य-अनुभवी भी तर्क का उपयोग करते हैं, लेकिन दोनों के तर्क में बुनियादी फर्क है। तर्कशास्त्री तर्क के द्वारा सोचता है कि सत्य को पा ले। धर्म की यात्रा में चलने वाला व्यक्ति पहले सत्य को पा लेता है और फिर तर्क के द्वारा प्रस्तावित करता है। इन दोनों में फर्क है।

धर्म मानता है कि सत्य को तर्क से पाया नहीं जा सकता है, लेकिन तर्क से कहा जा सकता है। धर्म की प्रतीति तर्क से मिलती नहीं, लेकिन तर्क के द्वारा सम्वादित की जा सकती है। इसलिए पश्चिम में जब पहली दफे ब्रह्मसूत्रों का अनुवाद हुआ तो ड्यूसन को और दूसरे विचारकों को एक पीड़ा मालूम होने लगी और वह यह कि भारतीय मनीषी निरन्तर कहते हैं कि तर्क से सत्य को पाया नहीं जा सकता, लेकिन भारतीय मनीषी जब भी कुछ लिखते हैं, तो बड़ा तर्कपूर्ण लिखते हैं। अगर तर्क से पाया नहीं जा सकता, तो इतना तर्कपूर्ण होने की क्या जरूरत है?

जब तर्क से सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है, तो ब्रह्मसूत्र जैसे ग्रन्थ इतने तर्कबद्ध क्यों हैं? यह संदेह उठना स्वाभाविक है, क्योंकि ऐसी परम्पराएं भी रही हैं, जो तर्कहीन हैं, जैसे जापान में झेन है। वह कोई तर्कयुक्त वक्तव्य नहीं देता। उनका ऋषि तर्कहीन वक्तव्य देता है। आप क्या पूछते हैं, उसके उत्तर का उससे कोई सम्बन्ध भी नहीं होता है। क्योंकि वह कहता है कि तर्क को तोड़ना है।

अगर आप जा कर एक झेन फकीर से पूछें कि 'सत्य का स्वरूप क्या है', तो हो सकता है, वह आपसे कहे कि 'बैठो, एक कप चाय पी लो।' जैसे उसको कोई लेना-देना नहीं है सत्य से। आप पूछें कि 'परमात्मा है या नहीं', तो हो सकता है, वह आपसे कहे कि 'जाओ, और जरा हाथ-मुँह धो कर वापस आओ।' आप सोचेंगे कि किसी पागल से बात कर रहे हैं। मैं पूछ रहा हूँ कि परमात्मा है या नहीं; हाथ-मुँह धोने से क्या सम्बन्ध! लेकिन झेन फकीर का कहना यह है कि परमात्मा से तर्क का कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मैं तर्क को तोड़ने की कोशिश कर रहा हूँ। और अगर तुम अतर्क में उतरने को राजी नहीं हो, तो लौट जाओ। यह दरवाजा तुम्हारे लिए नहीं है।

पश्चिम के विचारकों को यह समझ में आता है कि अगर तर्क से मिल सकता है, तो तर्क की बात करनी चाहिए। अगर तर्क से मिल न सकता हो, तो तर्क की बात ही नहीं करनी चाहिए।

ये दोनों बातें समझ में आती हैं। लेकिन भारतीय शास्त्र दोनों से भिन्न हैं। भारतीय शास्त्र कहते हैं, तर्क से वह मिल नहीं सकता; लेकिन शंकर या नागार्जुन

जैसे तार्किक खोजना मुश्किल है। बहुत तर्क की बात करते हैं। क्या कारण है?

भारतीय अनुभूति ऐसी है कि तर्क सत्य को जन्म नहीं देता, लेकिन सत्य को अभिव्यक्त कर सकता है; सत्य की तरफ ले जा नहीं सकता, लेकिन असत्य से हटा सकता है। सत्य आपको दे नहीं सकता, लेकिन आपके समझने में सुगमता पैदा कर सकता है। और अगर समझ सुगम हो जाय, तो आप उस यात्रा पर निकल सकते हैं।

इसलिए भारतीय शास्त्र अत्यन्त तर्कयुक्त हैं; गहन रूप से तर्कयुक्त हैं। और इसलिए कई बार बड़ी कठिनाई होती है।

शंकर जैसा तार्किक जमीन पर कभी-कभी पैदा होता है। एक-एक शब्द तर्क है। और वही शंकर, मंदिर में गीत भी गा रहा है, नाच भी रहा है। सोचेगा जो आदमी, उसको कठिन लगेगा कि क्या कारण है! एक तरफ तर्क की इतनी प्रगाढ़ योजना, इतनी तर्क की धार और दूसरी तरफ यह आदमी काली के सामने या माँ के सामने गीत गा कर, भजन गा कर नाच रहा है!

हमारी समझ में नहीं पड़ती बात। भजन गा कर, गीत गा कर, नाच कर यह आदमी अनुभव में उतर रहा है। वह अनुभव तर्क से सम्बन्धित नहीं है। वह अनुभव रस से सम्बन्धित है, आनन्द से सम्बन्धित है, हृदय से सम्बन्धित है, बुद्धि का उससे कोई लेना-देना नहीं है।

लेकिन जब वह अनुभव इसे उपलब्ध हो जाएगा और यह किसी व्यक्ति को कहने जाएगा, तो कहना बुद्धि से सम्बन्धित है। हृदय और हृदय की क्या बात होगी? बात तो बुद्धि की होगी। और जब वह आपसे बात कर रहा है, तो बुद्धि का उपयोग करेगा। और आपकी बुद्धि को अगर राजी कर ले, तो शायद आपकी बुद्धि ने आप को हृदय तक उतारने के लिए भी राजी कर लेगा।

इसलिए कृष्ण कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र ने अत्यन्त युक्ति-युक्त रूप से यही बात कही है।

कृष्ण जिसे बड़े गीत-बद्ध रूप में कह रहे हैं, वही ब्रह्मसूत्र ने युक्ति और तर्क के माध्यम से कही है।

'और हे अर्जुन, वही मैं तेरे लिए कहता हूँ कि पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय: शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देह का पिण्ड एवं चेतनता और धृति इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेप में कहा गया है।'

इसमें बड़ी कठिनाई मालूम पड़ेगी। इसमें कुछ बड़ी ही क्रान्तिकारी बातें कही गयी हैं। इस बात को मानने को हम राजी हो सकते हैं कि पदार्थ पंच महाभूत

क्षेत्र है--जो जाना जाता है वह। यह थोड़ा सूक्ष्म है और थोड़ा ध्यानपूर्वक समझने की कोशिश करना।

यह हम मान सकते हैं कि पंचमहाभूत पदार्थ है, क्षेत्र है, ज्ञेय है। उसे हम जान सकते हैं। हम उससे भिन्न हैं। इन्द्रियाँ--निश्चित ही हम उन्हें जान सकते हैं। आँख में आपके दर्द होता है, तो आप जानते हैं कि दर्द हो रहा है। कान नहीं सुनता, तो आपको समझ में आ जाता है भीतर, कि कान सुन नहीं रहा है; मैं बहरा हो गया हूँ। निश्चित ही आप, जो भीतर बैठे हैं, जो जानता है कि कान बहरा हो गया है, मैं सुन नहीं पा रहा हूँ या आँख अन्धी हो गयी, मुझे दिखायी नहीं पड़ता--भिन्न है।

इन्द्रियों से हम अपने को भिन्न जानते हैं, चाहे हम वैसा व्यवहार न करते हों, चाहे हम वैसा आचरण न करते हों, लेकिन हम भी भलीभाँति जानते हैं कि हम इन्द्रियों से भिन्न हैं।

अगर आपका हाथ कट जाय, तो आप ऐसा नहीं कहेंगे कि मैं कट गया। अगर आपका हाथ भी कट जाय, तो भी आप नहीं कटेंगे। और आपके व्यक्तित्व का जो आभास था, वह पूरा का पूरा बना रहेगा। ऐसा नहीं कि आपको लगे कि आपके व्यक्तित्व का एक हिस्सा भी भीतर कट गया और आपकी आतमा भी कुछ छोटी हो गयी। आप उतने ही रहेंगे; लँगड़े होकर भी उतने ही रहेंगे; अंधे होकर भी आप उतने ही रहेंगे; बीमार होकर भी--बूढ़े होकर भी उतने ही रहेंगे। आपके होने के बोध में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

तो हम भी अनुभव करते हैं कि इन्द्रियों से हम भिन्न हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध--इससे भी हम भिन्न हैं, क्योंकि वे अनुभव इन्द्रियों के हैं। और जब हम इन्द्रियों से भिन्न हैं, तो हम इन्द्रियों के अनुभव से भी भिन्न हैं।

स्थूल देह, पिण्ड इन सबसे हम भिन्न हैं। लेकिन बड़ी क्रान्ति की बात है और वह है: चेतनता और धृति...। यह भी! कृष्ण ने कहा, ये भी क्षेत्र हैं, और इनसे भी हम भिन्न हैं: कॉन्शसनेस और कान्सेन्ट्रेशन--चेतनता और धृति। यह थोड़ा-सा गहन और सूक्ष्म है। और इसे अगर समझ लें, तो कुछ और समझने को बाकी नहीं रह जाता।

पश्चिम के मनस्विद मानते हैं कि आप चेतन हो ही तब तक सकते हैं, जब तक चेतन होने को कुछ हो--कॉन्शसनेस मीन्स टु बी कॉन्शस ऑफ समथिंग। जब भी आप चेतन होते हैं, तो हो ही तब तक सकते हैं, जब तक किसी चीज के प्रति चेतन हों। अगर कोई विषय न हो, तो चेतना भी नहीं हो सकती: ऐसा पश्चिम का मनोविज्ञान प्रस्तावित करता है। और उनकी बात में बड़ा बल है। उनकी बात में बड़ा बल है।

इसलिए वे कहते हैं कि अगर सभी विषय हट जायँ, तो आप बेहोश हो जाएँगे, आप होश खो देंगे, क्योंकि होश तो किसी चीज का ही होता है। होश बिना विषय-वस्तु के हो नहीं सकता।

आपको मैं देख रहा हूँ, तो मुझे होश होता है कि मैं आपको देख रहा हूँ। लेकिन आप नहीं हैं; मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है, तो मुझे यह भी नहीं होश हो सकता कि मैं देख रहा हूँ। हाँ, अगर मुझे कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है, तो फिर यह एक आब्जेक्ट, विषय बन जाएगा मेरा--कि मुझे कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है, इसलिए मुझे पता चलेगा कि मैं हूँ क्योंकि मुझे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा है।

लेकिन मेरे होने के लिए मुझे किसी चीज का अनुभव होना चाहिए, नहीं तो मुझे अपने होने का अनुभव नहीं होगा।

आप ऐसा समझें कि अगर आपको ऐसी जगह में रख दिया जाय, जहाँ कोई शब्द, ध्वनि पैदा न होती हो, तो क्या आपको अपने कान का पता चलेगा? कैसे पता चलेगा? अगर कोई ध्वनि न होती हो, कोई शब्द न होता हो, तो आपको अपने कान का पता ही न चलेगा। आपके पास कान हों, तो भी आपको कभी पता नहीं चलेगा कि कान हैं।

अगर कोई चीज छूने को न हो, कोई चीज स्पर्श करने को न हो, तो आपको कभी पता नहीं चलेगा कि आपके पास स्पर्श की इंद्रिय है। अगर कोई चीज स्वाद लेने को न हो, तो आपको कभी पता न चलेगा कि आपके पास स्वाद के अनुभव की क्षमता है।

मनस्विद् कहते हैं कि इसी भाँति कोई भी चीज चेतन होने को न हो, तो आपको अपनी चेतना का भी पता नहीं चलेगा। चेतना भी इसलिए पता चलती है कि संसार है, चारों तरफ चेतन होने के लिए वस्तुएँ हैं।

इस विचार को माननेवाली जो धारा है, वह कहती है कि ध्यान अगर सच में--जैसा कि पूरब के मनीषी कहते हैं--घट जाय, तो आप बेहोश हो जाएँगे, क्योंकि जब जानने को कुछ भी शेष न रह जाएगा, तो जाननेवाला नहीं बचेगा, सो जाएगा, खो जाएगा। जाननेवाला तभी तक बच सकता है, जब तक जानने को कोई चीज हो, नहीं तो आप--जाननेवाले--कैसे बचेंगे!

तो पश्चिम के मनस्विद् कहते हैं कि अगर ध्यान ठीक है, जैसा कि कृष्ण ने, पतंजलि ने, बुद्ध ने, प्रस्तावित किया है, तो ध्यान में आदमी मूर्च्छित हो जाएगा, होश नहीं रह जाएगा। जब कोई आब्जेक्ट न होगा--जानने को कोई चीज न होगी, तो जाननेवाला सो जाएगा। इसे हम थोड़ा-बहुत अपने अनुभव से भी समझ सकते हैं।

अगर रात आपको नींद न आती हो, तो उसका कारण—आपको पता है—क्या होता है? आपके मन में कुछ विषय होते हैं, जिनकी वजह से नींद नहीं आती; कोई विचार होता है, जिसकी वजह से नींद नहीं आती। आप अपने मन को निर्विचार कर लें, विषय से खाली कर लें, तो तत्क्षण नींद में खो जाएँगे।

नींद आ जाएगी उसी वक्त, जब कोई चीज जगाने को न रहेगी। और जब तक कोई चीज जगाने को होती है, कोई एक्साइटमेंट होता है, कोई उत्तेजना होती है, तब तक नींद नहीं आती। अगर कोई भी विषय मौजूद न हो, सभी उत्तेजना समाप्त हो जाय, तो आपके भीतर—मनस्विद् कहते हैं—जो चेतना है, वह खो जाएगी।

कृष्ण भी उसी चेतना के लिए कह रहे हैं कि वह भी क्षेत्र है। कृष्ण भी राजी हैं इस मनोविज्ञान से। वे कहते हैं, यह जो चेतना है—जो पदार्थों के सम्बन्ध में आपके भीतर पैदा होती है, यह जो चेतना है, जो विषयों के संदर्भ में पैदा होती है; यह जो चेतना है, जो विषयों से जुड़ी है और जो विषयों के साथ ही खो जाती है, यह भी क्षेत्र है। तुम इस चेतना को भी अपनी आत्मा मत मानना। यह बड़ी गहन और आखिरी अन्तर्खोज की बात है।

इस चेतना को भी तुम अपनी चेतना मत समझना। यह चेतना भी बाह्य-निर्भर है। यह चेतना भी पदार्थजन्य है। और जब इस चेतना के भी तुम ऊपर उठ जाओगे, तो ही तुम्हें पता लगेगा, उस वास्तविक ब्रह्मतत्त्व का—जो किसी पर निर्भर नहीं है; तभी तुम्हें पता चलेगा क्षेत्रज्ञ का।

तो अब इसका अर्थ यह हुआ कि हम तीन हिस्से कर लें। कल हमने दो हिस्से किये थे। अब हम और गहरे जा सकते हैं। हमने दो हिस्से किये थे, ज्ञेय—ऑब्जेक्ट—जाने जानेवाली चीज, और ज्ञाता—जाननेवाला, नोअर, सब्जेक्ट। ये दो हमने विभाजन किये थे। अब कृष्ण कहते हैं, यह जो सब्जेक्ट है, यह जो नोअर है, जानने-वाला है, यह भी तो जो जाने जानेवाली चीजें हैं, उनसे जुड़ा है। इन दोनों के ऊपर भी, दोनों को जाननेवाला एक तीसरा तत्त्व है, जो पदार्थ को भी जानता है, और पदार्थ को जाननेवाले को भी जानता है। यह तीसरा तत्त्व, यह तीसरी ऊर्जा तुम हो। और इस तीसरी ऊर्जा को नहीं जाना जा सकता है। इसे आप समझ लें। क्योंकि जिस चीज को भी तुम जान लोगे, वही तुमसे अलग हो जाएगी। इसे ऐसा समझें :

मेरे पास लोग आते हैं। कोई व्यक्ति आता है, वह कहता है, मैं बड़ा अशान्त हूँ, मुझे कोई रास्ता बतायें। कोई ध्यान, कोई विधि, जिससे मैं शान्त हो जाऊँ। फिर वह प्रयोग करता है। अगर प्रयोग करता है—सच में—निष्ठा से, तो शान्त भी होने लगता है। तब वह आ कर मुझे कहता है, 'अब मैं शान्त हो गया हूँ।' तो उससे मैं कहता हूँ, 'अशान्ति से छूट गया, अब तू शान्ति से भी छूटने की कोशिश कर। क्योंकि

यह तेरी शान्ति अशान्ति से ही जुड़ी है; यह उसका ही एक हिस्सा है। तू अशान्ति से छूट गया; बड़ी बात तूने कर ली। अब तू इस शान्ति से भी छूट—जो कि अशान्ति के विपरीत तूने पैदा की है, और तभी तू परम शान्त हो सकेगा। लेकिन उस परम शान्ति में तुझे यह भी पता नहीं चलेगा कि मैं शान्त हूँ।'

जब तक आपको पता चलता है कि 'मैं शान्त हूँ', तब तक अशान्त होने की क्षमता कायम है। जब तक आपको पता चलता है, कि 'बड़े आनन्द में हूँ', तब तक आप किसी भी क्षण दुःख में गिर सकते हैं।

जब तक आपको पता चलता है कि मैंने ईश्वर को जान लिया, ईश्वर से आप छूट सकते हैं। जिस चीज का भी बोध है, उसका अबोध हो सकता है।

आखिरी शान्ति तो उस क्षण घटित होती है, जब आपको यह भी पता नहीं चलता कि मैं शान्त हूँ। यह तो पता चलता ही नहीं कि मैं अशान्त हूँ, यह भी पता नहीं चलता कि मैं शान्त हूँ।

असली ज्ञान तो उस समय घटित होता है, जब आपको यह तो खयाल मिट ही जाता है कि मैं अज्ञान हूँ; यह भी खयाल मिट जाता है कि मैं ज्ञान हूँ।

सुना है मैंने : ईसाइयत में एक बहुत बड़ा फकीर हुआ संत फ्रान्सिस। बड़ी मीठी कथा है कि संत फ्रान्सिस जब ज्ञान को उपलब्ध हुआ, जब उसे परम बोध हुआ, तो पक्षी इतने निर्भय हो गये कि पक्षी उसके कन्धे पर आकर बैठने लगे, उसके सिर पर आकर बैठने लगे। नदी के किनारे से निकलता, तो मछलियाँ छलाँग लगा कर उसका दर्शन करने लगतीं। वृक्षों के पास बैठ जाता, तो जंगली जानवर आकर उसके निकट खड़े हो जाते; उसको चूमने लगते।

यह बात बड़ी मीठी है। और निश्चित ही जब कोई बहुत शान्त हो जाय, और बहुत आनन्द से भर जाय, तो उसके प्रति जो दूसरे का भय है, वह कम हो जाएगा। यह घट सकता है।

लेकिन इधर मैं पढ़ रहा था, एक जापान में फकीर महिला हुई—उसका जीवन। उसके जीवन की कथा के अन्त में एक बात कही गयी है, जो बड़ी हैरान करनेवाली है—और बड़ी मूल्यवान है—और कृष्ण की बात को समझने में सहयोगी होगी।

उस फकीर महिला के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब वह अज्ञानी थी, तो कोई पक्षी उसके पास नहीं आते थे। जब वह ज्ञानी हो गयी, तो पक्षी आकर उसके कन्धों पर बैठने लगे। साँप भी उसके पास गोदी में आ जाते। जंगली जानवर उसके आसपास उसे घेर लेते। लेकिन वह जब परमज्ञान को उपलब्ध हो गयी, तो फिर पक्षियों ने आना बंद कर दिया। साँप उसके पास न आते, जानवर उसके पास न आते। जब वह अज्ञानी थी, तब भी नहीं आते थे; जब ज्ञानी हो गयी, तब आने लगे और जब परमज्ञानी

हो गयी, तब फिर बंद हो गये ।

तो लोगों ने उससे पूछा कि 'क्या हुआ ! क्या तेरा पतन हो गया ? बीच में तो तेरे पास इतने पक्षी आते थे । अब नहीं आते ?' वह हँसने लगी । उसने तो कोई उत्तर नहीं दिया । लेकिन उसके निकट उसको जाननेवाले जो लोग थे, उन्होंने कहा कि जब तक उसे ज्ञान का बोध था, तब तक पक्षियों को भी पता चलता था कि वह ज्ञानी है। अब उसको वह भी बोध खो गया। अब उसे खुद ही पता नहीं है कि वह है भी या नहीं । तो पक्षियों को क्या पता चलेगा । जब उसे खुद भी पता नहीं चल रहा है...।

झेन में कहावत है कि जब आदमी अज्ञानी होता है और जब आदमी परम ज्ञानी हो जाता है, तब बहुत-सी बातें एक-सी हो जाती हैं, क्योंकि अज्ञान में ज्ञान नहीं था, और परमज्ञान में ज्ञान है--इसका पता नहीं होता । बीच में ज्ञान की एक घड़ी आती है।

वह ज्ञान की घड़ी यही है : तीन अवस्थाएँ : एक तो पदार्थ के साथ अपना तादात्म्य किये हैं-- शरीर के साथ जुड़े हैं कि मैं शरीर हूँ, मैं इन्द्रियाँ हूँ । यह एक जगत् है, अज्ञान का है। फिर एक बोध का जगत् है--कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ । मगर यह भी शरीर से ही बँधा है । यह 'मैं शरीर नहीं हूँ'--यह भी शरीर से ही जुड़ा है । यह 'मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ'--यह भी तो इन्द्रियों के साथ ही जुड़ा हुआ सम्बन्ध है ।

कल जानते थे कि मैं इन्द्रियाँ हूँ; अब जानते हैं कि मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ, लेकिन दोनों के केन्द्र में इन्द्रियाँ हैं । कल तक समझते थे कि मैं शरीर हूँ, अब समझते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ । लेकिन दोनों के बीच में शरीर है । ये दोनों ही बोध शरीर से बँधे हैं ।

फिर एक तीसरी घटना घटती है, जब यह भी पता नहीं रह जाता कि मैं शरीर हूँ या शरीर नहीं हूँ । जब कुछ भी पता नहीं रह जाता । शरीर की मूर्च्छा तो छूट ही जाती है, वह जो मध्य में आयी हुई चेतना का ज्वार था, वह भी खो जाता है । शरीर से पैदा होनेवाले दुःख से तो छुटकारा हो जाता है, लेकिन फिर शरीर से छूट कर जो सुख मिलते थे, उनसे भी छुटकारा हो जाता है । और एक परम शान्त, परम मौन--न जहाँ ज्ञान है, न जहाँ ज्ञाता है, न जहाँ ज्ञेय है--ऐसी शून्य अवस्था आ जाती है । इस शून्य अवस्था में ही क्षेत्रज्ञ--वह जो अंतिम छिपा है, वह प्रगट होता है ।

'न तो मैं चेतनता, न धृति . . .' ध्यान भी नहीं । धृति का अर्थ है : ध्यान, धारणा ।

यह थोड़ा खयाल में ले लेना जरूरी है, क्योंकि बहुत बार हम सीढ़ियों से जकड़ जाते हैं। बहुत बार ऐसा हो जाता है कि जो हमें ले जाता है मंजिल तक, उसको हम पकड़ लेते हैं । लेकिन तब वही मंजिल में बाधा बन जाती है ।

तो परम ध्यानियों ने कहा है कि तुम्हारा ध्यान उस दिन पूरा होगा, जिस दिन ध्यान भी छूट जाएगा । जब तक ध्यान को पकड़े हो, तब तक समझना कि अभी पहुँचे नहीं ।

प्रार्थना तो उसी दिन पूरी होगी, जिस दिन प्रार्थना करना भी व्यर्थ हो जाएगा । जब तक प्रार्थना करना जरूरी है, तब तक फासला मौजूद है । जब कोई नाव में बैठता है और नदी पार कर लेता है, तो फिर नाव को भी छोड़कर आगे बढ़ जाता है ।

धर्म भी जब छूट जाता है, तभी परमधर्म में प्रवेश होता है । तो अगर कोई आखिरी समय तक भी हिन्दू बना है, तो अभी समझना कि अभी पहुँचा नहीं है । अगर कोई आखिरी समय तक भी जैन बना है, तो समझना कि पहुँचा नहीं है । क्योंकि जैन, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई--नावें हैं । नदी से पार ले जानेवाली हैं । लेकिन परमात्मा में प्रवेश के पहले नावें छोड़ देनी पड़ती हैं ।

मंजिल जब आ गयी, तो साधना की क्या जरूरत है ? लेकिन अगर हम आखिर तक भी नाव को पकड़े रहे--और हो सकता है हमारा मन हमसे कहे और बात ठीक भी लगे--कि जिस नाव ने इतने कठिन भवसागर को पार करवाया, उसे कैसे छोड़ें । तो फिर हम नाव में ही बैठे रह जाएँगे, तो फिर नाव की भी मेहनत व्यर्थ गयी । हमें इस पार तो ले आयी, लेकिन हम किनारे पर उतर नहीं सकते, नाव को पकड़े हुए हैं ।

बुद्ध कहते थे कि एक बार कुछ नासमझ--या समझें बड़े समझदार--नदी पार किये । तो जिस नाव में उन्होंने नदी पार की, उतर कर किनारे उन सब ने सोचा कि 'इस नाव की बड़ी कृपा है और इस नाव को हम कैसे छोड़ सकते हैं । तो दो ही उपाय है : या तो हम नाव में ही बैठे रहें और या नाव को अपने कंधों पर ले लें, अपने सिर पर रख लें और यात्रा आगे चले ।' तो उन्होंने नाव को अपने सिर पर उठा लिया । फिर जब वे गाँव से निकलते थे , तो गाँव के लोग बहुत हैरान हुए और उन्होंने पूछा कि 'यह तुम क्या कर रहे हो ? हमने कभी नाव को लोगों के सिर पर नहीं देखा !' तो उन्होंने कहा कि 'तुम अकृतज्ञ लोग हो । तुम्हें पता नहीं : इस नाव की कितनी अनुकम्पा है। इसने हमें नदी पार करवाई है। अब कुछ भी हो जाय, हम इस नाव को नहीं छोड़ सकते । अब हम इसको सिर पर ले कर चलेंगे ।'

जिस नाव ने नदी पार करवाई वह नाव अगर सिर पर सवार हो जाय, तो बड़ा खतरनाक हो गया काम । रुग्ण हो गयी बात । अब ये कहीं पहुँच ही नहीं सकते; सिर्फ नाव को ही ढोते रहेंगे । अब यह उस तरफ जाना भी बेकार हो गया । इससे तो अच्छा था कि पहले ही किनारे पर रहते । कम से कम मुक्त तो थे । यह सिर पर

बँधी हुई नाव तो न थी । अब ये सदा के लिए गुलाम हो गये ।

अधार्मिक आदमी उस तरफ है--किनारे पर । और तथाकथित धार्मिक जो पकड़ लेते हैं धर्मों की नावों को, पागलपन से वे भी कहीं नहीं पहुँचते ।

आखिरी पड़ाव पर तो सभी कुछ छोड़ देना पड़ता है ।

तो कृष्ण कहते हैं कि चेतनता भी क्षेत्र है—और धृति, ध्यान धारणा भी । तुम उसे भी छोड़ देना ।

जब हम ध्यान करते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि हम किसी चीज का ध्यान कर रहे हैं । जब हम ध्यान करते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि हम कुछ 'कर' रहे हैं । जब हम ध्यान करते हैं, तो उसका अर्थ ही होता है कि हम अभी उस भीतर के मंदिर में नहीं पहुँचे; अभी हम बाहर संघर्ष कर रहे हैं, सीढियाँ चढ़ रहे हैं ।

जिस दिन कोई भीतर के मंदिर में पहुँचता है, ध्यान करने की भी कोई जरूरत नहीं रह जाती ।

क्या आवश्यकता है ध्यान की ? जब बीमारी छूट गयी, तो औषधी को रख कर कौन चलता है ? और अगर कोई औषधि को रख कर चलता हो, तो समझना कि बीमारी भला छूट गयी, अब औषधी बीमारी हो गयी । जब ये औषधी को ढो रहे हैं । पहले ये बीमारी से परेशान थे, अब ये औषधी से परेशान हैं ।

मैं एक सन्त के आश्रम में मेहमान था । उनके भक्त कहते थे कि वे परमज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं । जब भक्त कहते थे, तो मैंने कहा कि जरूर हो गये होंगे । अच्छा ही है । कोई परमज्ञान को उपलब्ध हो जाय, इससे अच्छा कुछ भी नहीं है ।

लेकिन सुबह मैंने देखा कि पूजा-पाठ में वे लगे हैं । तो दोपहर मैंने उनसे पूछा कि 'अगर आप पूजा-पाठ छोड़ दें, तो कुछ हर्ज है ? उन्होंने कहा, 'आप भी कैसी नास्तिकता की बात कर रहे हैं । पूजा-पाठ—और मैं छोड़ दूँ ! अगर पूजा-पाठ छोड़ दूँ, तो सब नष्ट ही हो जाएगा ।'

पूजा-पाठ छोड़ने से अगर सब नष्ट हो जाएगा, तो फिर कुछ मिला नहीं है । तब तो यह पूजा-पाठ पर ही निर्भर है सब कुछ । तब कोई ऐसी सम्पदा नहीं मिली, जो छीनी न जा सके । पूजा-पाठ बन्द होने से छिन जाएगी--अगर यह भय है, तो अभी कुछ मिला नहीं है । अगर नाव छिनने से डर लगता हो, तो आप अभी उस किनारे पर नहीं पहुँचे । अगर आप उस किनारे पर पहुँच गये हों, तो आप कहेंगे कि 'ठीक है । नाव की क्या जरूरत है । कोई भी ले जाय ।'

अगर आप दवा की बोतल जोर से पकड़ते हों और कहते हों कि मैं स्वस्थ हो गया हूँ, लेकिन अगर दवा मुझसे छीनी गयी, तो मैं फिर बीमार हो जाऊँगा, तो

समझना चाहिए कि अभी आप बीमार ही हैं । और बीमारी ने सिर्फ एक नया रूप ले लिया । अब बीमारी का नाम औषधी है ।

कई लोग बीमारी से छूट जाते हैं, डॉक्टरों से जकड़ जाते हैं । कई लोग सार छोड़ते हैं, संन्यास से जकड़ जाते हैं । कई लोग पत्नी को छोड़ते हैं, पति को छोड़ते हैं, फिर गुरु से पकड़ जाते हैं । लेकिन पकड़ नहीं जाती । कहीं न कहीं पकड़ जारी रहती है ।

जब सभी पकड़ चली जाती है, तभी परमात्मा उपलब्ध होता है । जब तक हम कुछ भी पकड़ते हैं, तब तक हम अपने और 'उसके' बीच फासला पैदा किये हैं ।

तो कृष्ण कहते हैं, 'न तो चेतनता, न धृति । ' तुम्हारी धृति भी क्षेत्र है । तुम्हारा ध्यान, तुम्हारी धारणा, तुम्हारा योग--सभी क्षेत्र है । बड़ी क्रांतिकारी बात है ।

लेकिन हम गीता पढ़ते रहते हैं, हमें कभी खयाल नहीं आता कि कोई क्रांति छिपी होगी यहाँ । हम पढ़ जाते हैं मुरदे की तरह । हमें खयाल में भी नहीं आता कि कृष्ण क्या कह रहे हैं ।

अगर पश्चिम का मनोविज्ञान भारतीय पढ़ते हैं, तो उनको लगता है कि वे गलत बात कह रहे हैं । चेतना कैसे वस्तुओं से बँध सकती है ? अगर चेतना वस्तुओं से बँधी है, तो फिर ध्यान कैसे होगा । लेकिन कृष्ण खुद कह रहे हैं कि चेतनता भी शरीर का ही हिस्सा है । इसके पार एक और ही तरह का चैतन्य है, जो किसी पर निर्भर नहीं है--अनकन्डिशनल, बेशर्त, अकारण है । लेकिन उसे पाने के लिए इस चेतनता को भी छोड़ देना पड़ता है ।

परमगुरु के पास पहुँचना हो, तो गुरु को भी छोड़ देना पड़ता है । जहाँ सब साधन छूट जाते हैं, वहीं साध्य है ।

'ये सभी पंच महाभूत, यह शरीर, अहंकार मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय रस, रूप आदि, चेतनता, धृति ये सभी विकार सहित . . . । ' इन सब में विकार है । ये सभी दूषित हैं । इनमें कुछ भी कुँवारा नहीं है । क्यों ?

विकार का एक ही अर्थ है--गहन अध्यात्म में--जो अपने विपरीत के बिना नहीं हो सकता, वह विकारग्रस्त है । इस परिभाषा को ठीक से खयाल में ले लें । क्योंकि बहुत बार आगे काम पड़ेगी ।

जो अपने विपरीत के बिना नहीं हो सकता, वह विकारग्रस्त है, क्योंकि जो विपरीत के बिना नहीं हो सकता, उसमें विपरीत मौजूद है । समझिए :

आप किसी को प्रेम करते हों, आपके प्रेम में जिसको आप प्रेम करते हों, उसके प्रति घृणा भी है या नहीं--इसकी जरा खोज करें । अगर घृणा है, तो यह प्रेम विकार-ग्रस्त है । और अगर घृणा नहीं है, तो यह प्रेम विकार के बाहर हो जाएगा ।

लेकिन फ्रायड कहता है कि हमारे सभी प्रेम में घृणा है। जिसको हम प्रेम करते हैं, उसी को घृणा भी करते हैं। इसलिए ऐसा प्रेमी खोजना कठिन है जो कभी अपनी प्रेयसी के मरने की बात न सोचता हो। ऐसी प्रेयसी खोजनी कठिन है जो कभी सपने न देखती हो कि उसका प्रेमी मर गया है या मार डाला गया है। हालाँकि सपना देख कर सुबह बहुत रोती है कि बहुत बुरा सपना देखा। लेकिन सपना आपका ही है, किसी और का नहीं है। देखा, तो उसका मतलब है कि भीतर चाह है।

आप जिसको प्रेम करते हों, अगर थोड़ी समझ का उपयोग करेंगे, तो पायेंगे कि आपके मन में उसी के प्रति घृणा भी है। इसीलिए तो सुबह प्रेम करते हैं, दोपहर लड़ते हैं। साँझ प्रेम करते हैं, सुबह फिर कलह करते हैं।

ऐसे प्रेमी खोजना कठिन है जो कलह न करते हों। ऐसे पति-पत्नी खोजना कठिन है जिनमें झगड़ा न होता हो। और अगर पति-पत्नी में झगड़ा न होता हो, तो पति-पत्नी दोनों को शक हो जाएगा कि लगता है, प्रेम विदा हो गया।

भारत के गाँव में तो स्त्रियाँ यह मानती हैं कि जिस दिन पति मारपीट बंद कर देता है, वे समझ लेती हैं कि पति किसी और स्त्री में उत्सुक हो गया है। साफ ही है, जाहिर ही यह बात है कि उसका अब कोई रस नहीं रहा है। इतना भी रस नहीं रहा कि झगड़ा करे। इतनी उदासीनता हो गयी है।

पति-पत्नी जब तक झगड़ते रहते हैं, तभी तक आप समझना कि प्रेम है। जिस दिन झगड़ा बन्द हो जाय तो आप यह मत समझना कि प्रेम बहुत ऊँचाई पर पहुँच गया है। प्रेम इतनी ऊँचाई पर नहीं पहुँचता। बात ही खतम हो गयी। अब झगड़ा करने में भी कोई रस नहीं है। अब ठीक है, एक दूसरे को सह लेते हैं। अब ठीक है, एक दूसरे से बच कर निकल जाते हैं। अब इतना भी मूल्य नहीं है एक दूसरे का--कि लड़ें।

जब तक झगड़ा जारी रहता है, तब तक वह दूसरा पहलू भी जारी रहता है। लड़ लेते हैं, फिर प्रेम कर लेते हैं।

सच तो यह है कि अगर हम ठीक से समझें, तो हमारा प्रेम वैसा ही है, जैसे श्वास है। आप श्वास लेते ही चले जायें, और छोड़ें न, तो मर जाएँगे। छोड़नी भी पड़ेगी श्वास, तभी आप ले सकेंगे।

खाना और भूख; भूख लगेगी, तो भोजन करेंगे। भूख नहीं लगेगी, तो भोजन कैसे करेंगे? तो भूख जरूरी है भोजन के लिए। फिर भोजन जरूरी है कि अगले दिन भूख लग सके--इसके लायक आप बच सकें। नहीं तो बचेंगे कैसे?

बड़े मजे की बात है: भोजन करना हो, तो भूख जरूरी है। और भूख लगानी हो, तो भोजन जरूरी है। ठीक वैसे ही अगर प्रेम करना है तो बीच-बीच में घृणा का

वक्त चाहिए तब 'भूख' लगती है। फिर प्रेम कर लेते हैं। साँस बाहर निकल गयी, फिर भीतर ले लेते हैं।

हमारी सब चीजें विपरीत से जुड़ी हैं। हमारे प्राण में भी मौत छिपी है। हमारे भोजन में भी भूख छिपी है। हमारे प्रेम में घृणा है। हमारे जन्म में मृत्यु जुड़ी है।

जहाँ विपरीत के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता, वहाँ विकार है। और उस अस्तित्व को हम विकाररहित कहते हैं, जहाँ विपरीत की कोई भी जरूरत नहीं है; जहाँ कोई चीज अपने में ही हो सकती है, विपरीत की कोई आवश्यकता नहीं है।

बिना विपरीत के जहाँ कुछ होता है, वहाँ कुँवारापन है, वहाँ पवित्रता है, वहाँ निर्दोषता की घटना घटती है।

इसलिए हम क्राइस्ट के प्रेम को, कृष्ण के प्रेम को पवित्र कह सकते हैं, क्योंकि उसमें घृणा नहीं है; उसमें घृणा का कोई तत्त्व नहीं है।

लेकिन अगर आपको कृष्ण प्रेम करने को मिल जायँ, तो आपको उनके प्रेम में मजा नहीं आयेगा। क्योंकि आपको लगेगा ही नहीं--पक्का पता ही नहीं चलेगा कि आदमी प्रेम करता भी है या नहीं। क्योंकि वह घृणा वाला हिस्सा मौजूद नहीं है। वह विपरीत मौजूद नहीं है, तो आपको उनके प्रेम का पता भी नहीं चलेगा।

अगर बुद्ध आपको प्रेम करें, तो आपको कोई रस नहीं आयेगा ज्यादा, क्योंकि बुद्ध का प्रेम बहुत ठंडा मालूम होगा; उसमें कोई गरमी नहीं दिखाई पड़ेगी। वह गरमी तो घृणा से आती है। गरमी विपरीत से आती है। गरमी कलह से आती है। गरमी संघर्षण से आती है। वह संघर्षण वहाँ नहीं है।

इस बात को खयाल में ले लेंगे कि विपरीत की मौजूदगी जिसके लिये जरूरी है, वह विकार है। इसलिए कृष्ण चेतनता को भी विकार कहते हैं, क्योंकि उसके लिए कोई चाहिए दूसरा, उसके बिना चेतना नहीं हो सकती।

आपको खयाल में है: अगर आप एक दस दिन के लिए काश्मीर चले जाते हैं, तो आपको अच्छा लगता है। क्यों? क्योंकि काश्मीर में सब नया है और आपको ज्यादा चेतन होना पड़ता है। बम्बई में जिस रास्ते से आप रोज निकलते हैं, वहाँ जिंदगी भर से निकल रहे हैं, वहाँ आपको चेतन होने की जरूरत ही नहीं है। वहाँ से आप मूर्च्छित, सोये हुए निकल जाते हैं। वृक्ष होगा--होगा। वह आप देखते नहीं। पास से लोग निकल रहे हैं, वह आप देखते नहीं। लेकिन आप दस दिन की छुट्टी के लिए काश्मीर जाते हैं। वहाँ सब नया है। नये पदार्थ, नये आब्जेक्ट, नये विषय--आपको चेतन होना पड़ता है; जरा रीढ़ सीधी करके, आँख खोल कर गौर से देखना पड़ता है। लेकिन एक दो दिन बाद फिर आप वैसे ही ढीले पड़ जाएँगे। क्योंकि ये ही चीजें फिर बार-बार क्या देखनी?

तो काश्मीर में जो आदमी रह रहा है, डल झील में जो आपकी नाव को चलायेगा, वह उतना ही ऊबा हुआ है डल झील से, जितना आप बम्बई से ऊबे हुए हैं। वह भी बड़ी योजनाएँ बना रहा है कि कब मौका हाथ लगे और बम्बई जा कर छुट्टियों में घूम आये। उसको भी बम्बई में इतना ही मजा आयेगा, जितना आपको डल झील पर आ रहा है।

और दस दिन आप भी डल झील पर रह गये, तो आप वैसे ही 'डल' हो जाएँगे जैसे बम्बई में थे। कोई फर्क नहीं पड़ता। चेतनता खो जाएगी।

इसलिए चेतना के लिए हमें रोज नयी चीजों की जरूरत पड़ती है; नयी चीजों की रोज जरूरत पड़ती है। वही भोजन रोज करने पर चेतना खो जाती है, एक बेहोशी आ जाती है, मूर्च्छा हो जाती है।

वही पत्नी रोज-रोज देख कर मूर्च्छा आने लगती है; तो फिल्म में जाते हैं, फिल्म स्टार को देख आते हैं। रास्ते पर स्त्रियों को झाँक कर देख लेते हैं। लोग नंगी तस्वीरें देखते रहते हैं बैठ कर--एकान्त में। उन पर ध्यान करते हैं। उससे थोड़ी चेतनता आती है, थोड़ा एक्साइटमेंट आता है। लौट कर घर की पत्नी भी थोड़ी-सी नयी मालूम पड़ती है, थोड़ी आँख की धूल गिर गयी होती है।

नया विषय चाहिए। अगर आपको सभी विषय पुराने मिल जायँ, और वहाँ कुछ भी नया न घटित होता हो, तो आप बेहोश हो जाएँगे, आप मूर्च्छित हो जाएँगे।

इस पर पश्चिम में बहुत प्रयोग होते हैं, इस प्रयोग को वे सेन्स डिप्राइव्हेशन कहते हैं। एक आदमी को एक ऐसी जगह बंद कर देते हैं, जहाँ कोई भी घटना न घटती हो। स्वर शून्य, शान्त, गहन अंधकार, आँखों पर पट्टियाँ, हाथ पर सब इस तरह के कपड़े--कि वह अपने को भी न छू सके। सब हाथ-पैर बँधे हुए। भोजन भी इन्जेक्शन से पहुँच जाएगा उसको। भोजन भी नहीं करना है। छत्तीस घंटे में ही आदमी बेहोश हो जाता है--वह भी बहुत सजग आदमी। नहीं तो छः घंटे में आदमी बेहोश हो जाता है। छः घंटे कोई संवेदना नहीं, कोई सेन्सेशन नहीं, तो आदमी बेहोश होने लगता है। क्या करेगा? होश खोने लगता है।

बहुत होश रखने वाला आदमी भी छत्तीस घंटे में बेहोश हो जाता है, क्योंकि करोगे क्या; होश रखने को कुछ भी तो नहीं है। न कोई आवाज होती, न कोई टैक्सी का शोरगुल होता, न कोई रेडियो बजता, न कोई घटना घटती। कुछ भी नहीं हो रहा है, तो आप धीरे-धीरे, धीरे-धीरे उस न होने की अवस्था में बेहोश हो जाएँगे।

कृष्ण कहते हैं कि ऐसी चेतना भी, जो किसी चीज पर निर्भर है, वह भी विकार-ग्रस्त है। ऐसा ध्यान भी, जो किसी पर निर्भर है, वैसा ध्यान भी विकारग्रस्त है।

और जब इस सारे क्षेत्र के पार कोई हो जाता है, तो क्षेत्रज्ञ का अनुभव होता है।

पाँच मिनट रुकेंगे। कोई भी उठे नहीं। कोई भी एक व्यक्ति बीच से उठता है, तो अड़चन होती है। पाँच मिनट कीर्तन में भाग लें। कीर्तन के पूरे होने पर जायँ।

तीसरा प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, रात्रि, दिनांक ६ मई १९७३

रामकृष्ण की दिव्य बेहोशी • असंतोष और मोक्ष • ज्ञान के लक्षण

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

और हे अर्जुन, श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, प्राणिमात्र को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरु की सेवा-उपासना, बाहर भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह तथा इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दोषों का बारम्बार दर्शन करना--ये सब ज्ञान के लक्षण हैं ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है कि चेतना के खो जाने पर प्राप्त समाधि क्या मूर्च्छा की अवस्था है ? रामकृष्ण परमहंस कई दिनों तक मृतप्राय अवस्था में लेटे रहते थे !

चेतना के खो जाने पर बहुत बार बाहर से मूर्च्छा जैसी प्रतीति होती है । रामकृष्ण अनेक बार, हमारे लिए बाहर देखने पर, अनेक दिनों के लिए मूर्च्छित हो जाते थे। शरीर ऐसे पड़ा रह जाता, जैसे बेहोश आदमी का हो । पानी और दूध भी प्रयासपूर्वक, जबरदस्ती ही देना पड़ता ।

जहाँ तक बाहर का सम्बन्ध है, वे मूर्च्छित थे; और जहाँ तक भीतर का सम्बन्ध है, वे जरा भी मूर्च्छित नहीं थे । भीतर तो होश पूरा था, लेकिन यह होश, यह चेतना हमारी चेतना नहीं है ।

कल कृष्ण के सूत्र में हमने समझा था कि चेतना दो तरह की हो सकती है । एक तो चेतना जो किसी वस्तु के प्रति हो और किसी वस्तु के द्वारा पैदा हुई हो, चेतना जो किसी वस्तु का प्रत्युत्तर हो । आप बैठे हैं, कोई जोर से आवाज करता है; आप की चेतना उस तरफ खिंच जाती है, ध्यान आकर्षित होता है । आप बैठे हैं; मकान में आग लग जाय, तो सारा जगत भूल जाता है। आपकी चेतना मकान में आग लगी है, उसी तरफ खिंच जाती है ।

मकान में आग लगी हो, तो आप बहुत चेतन हो जाएँगे , अगर नींद भी आ रही हो, तो खो जाएगी । आपको ऐसी एकाग्रता कभी न मिली होगी, जैसी मकान में आग लग जाय, तब मिलेगी । आपने लाखों बार कोशिश की होगी कि सारी दुनिया को भूल कर, कभी क्षण भर को परमात्मा का ध्यान कर लें, लेकिन जब भी ध्यान के लिए बैठे होंगे हजार बातें उठ आयी होंगी, हजार विचार आये होंगे । एक

परमात्मा के विचार को छोड़कर सभी चीजों ने मन को घेर लिया होगा । लेकिन मकान में आग लग गयी हो, तो सब भूल जाएगा । सारा संसार जैसे मिट गया है । मकान में लगी आग पर चित्त एकाग्र हो जाएगा ।

यह भी चेतना है, लेकिन यह चेतना बाहर से पैदा हुई है ; यह बाहर की चोट में पैदा हुई है; यह बाहर पर निर्भर है । तो कृष्ण ने कहा कि ऐसी चेतना भी शरीर का ही हिस्सा है । वह भी क्षेत्र है ।

फिर क्या ऐसी भी कोई चेतना हो सकती है, जो किसी चीज पर निर्भर न हो, जो किसी के द्वारा पैदा न होती हो, जो हमारा स्वभाव हो ? स्वभाव का अर्थ है कि किसी कारण से पैदा नहीं होगी; हम हैं इसलिए है; हमारे होने में ही है ।

जब कोई आवाज करता है और आपका ध्यान उस तरफ जाता है, तो यह ध्यान का जाना आपके होने में निहित नहीं है । यह आवाज के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, यह बाई-प्रोडक्ट है ; यह आपका स्वभाव नहीं है ।

ऐसा सोचें कि बाहर से कोई भी संवेदना नहीं मिलती, बाहर कोई घटना नहीं घटती और फिर भी आपका होश बना रहे, उस चेतना को हम आत्मा कहते हैं । और बाहर से पैदा हुई जो चेतना है, वह धारणा है, ध्यान है । कृष्ण ने उसे भी शरीर का हिस्सा माना है ।

रामकृष्ण जब बेहोश हो जाते थे, तो उनकी धृति खो गयी, उनका ध्यान खो गया, उनकी धारणा खो गयी । अब बाहर कोई कितनी भी आवाज करे, तो उनकी चेतना बाहर न आयेगी । लेकिन अपने स्वरूप में वे लीन हो गये हैं; अपने स्वरूप में वे परिपूर्ण चैतन्य हैं । जब उनकी समाधि टूटती थी, तब वे रोते थे और वे चिल्ला-चिल्ला कर कहते थे कि 'माँ मुझे वापस वहीं ले चल । यहाँ कहाँ तूने मुझे दुःख में वापस भेज दिया । उसी आनन्द में मुझे वापस लौटा ले ।'

जिसको हम मूर्च्छा समझेंगे, वह उनके लिए परम आनन्द था । बाहर से सब इन्द्रियाँ भीतर लौट गयी हैं । बाहर जो ध्यान जाता था, वह सब वापस लौटा गया । जैसा गंगा गंगोत्री में वापस लौट गयी । वह जो चेतना बाहर आती थी दरवाजे तक, अब नहीं आती; अपने में लीन और स्थिर हो गयी ।

हमारे लिए तो रामकृष्ण मूर्च्छित ही हो गये । और अगर पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों से पूछें, तो वे कहेंगे, यह हिस्टीरिकल है; यह घटना हिस्टरिया की है । क्योंकि पश्चिम के मनोविज्ञान को अभी भी उस दूसरी चेतना का कोई पता नहीं है ।

अगर रामकृष्ण पश्चिम में पैदा होते तो उन्हें पागलखाने ले जाया गया होता । और जरूर मनसविदों ने उनकी चिकित्सा की होती और जबरदस्ती होश में लाने के प्रयास किये जाते; एक्टीवायजर दिये जाते, जिनसे कि वे ज्यादा सक्रिय हो जायँ; इन्जेक्शन लगाये जाते; शरीर में हजार तरह की कोशिश की जाती, ताकि चेतना वापस लौट आये । क्योंकि पश्चिम का मनोवैज्ञानिक बाहर की चेतना को ही चेतना समझता है । बाहर की चेतना खो गयी, तो आदमी मूर्च्छित—मरने के करीब है ।

रोम्या रोला ने लिखा है कि सौभाग्य की बात है कि रामकृष्ण पूरब में पैदा हुए : अगर पश्चिम में पैदा होते, तो हम उनका इलाज करके उनको ठीक कर देते । ठीक कर लेने का मतलब कि उन्हें हम साधारण आदमी बना लेते, जैसे सब आदमी सब तरफ हैं । और वह जो परम अनुभूति थी, उसको पश्चिम में कोई भी पहचान न पाता ।

पश्चिम का एक बहुत बड़ा विचारक और मनोवैज्ञानिक है आर. डी. लैंग । आर. डी. लैंग का कहना है कि पश्चिम में जितने लोग आज पागल हैं, वे सभी पागल नहीं है; उनमें कुछ तो ऐसे हैं, जो किसी पुराने जमाने में सन्त हो सकते थे । लेकिन वे पागलखानों में पड़े हैं । क्योंकि पश्चिम की समझ भीतर की चेतना को स्वीकार नहीं करती । तो बाहर की चेतना खोते ही आदमी विक्षिप्त मान लिया जाता है ।

हम रामकृष्ण को विमुक्त मानते हैं । फर्क क्या है?—हिस्टीरिया और रामकृष्ण की मूर्च्छा में फर्क क्या है ? जहाँ तक बाहरी लक्षणों का सम्बन्ध है—एक से हैं । रामकृष्ण के मुँह से भी फसूकर गिरने लगता था; हाथ-पैर लकड़ी की तरह जकड़ जाते थे; मुर्दे की भाँति वे पड़ जाते थे । हाथ-पैर में एक कंपन आता था, जैसे हिस्टिरिया के मरीज को आता है । और इसके बाद वे जड़वत हो जाते थे । सारा होश खो जाता था । अगर उस समय हम उनके पैर को भी काट दें, तो उनको पता नहीं चलेगा । यही तो हिस्टीरिया के मरीज को भी घटित होता है । कोमा में पड़ जाता है, बेहोशी में पड़ जाता है । लेकिन फर्क क्या है ?

इस घटना में ऊपर से देखने में तो कोई फर्क नहीं है । और अगर हम चिकित्सक के पास जाएँगे, तो वह भी कहेगा कि यह हिस्टीरिया का एक प्रकार है । लेकिन भीतर से बड़ा फर्क है । क्योंकि हिस्टीरिया का मरीज जब वापस लौटता है—अपनी मूर्च्छा से, तो वही का वही होता है—जो मूर्च्छा के पहले था । रामकृष्ण जब अपनी मूर्च्छा से वापस लौटते हैं, तो वही नहीं होते, जो मूर्च्छा के पहले थे । वह आदमी खो गया । अगर वह आदमी क्रोधित है, तो अब यह आदमी क्रोधी नहीं है । अगर वह आदमी अशान्त था, तो अब यह आदमी अशान्त नहीं है । अगर वह आदमी दुःखी था, तो अब यह आदमी दुःखी नहीं है । अब यह परम आनन्दित है ।

हिस्टीरिया का मरीज तो हिस्टीरिया की बेहोशी के बाद बैसा का बैसा होता है—जैसा पहले था । शायद और भी विकृत हो जाता है । बीमारी उसे और भी तोड़ देती है । लेकिन समाधि में गया व्यक्ति नया हो कर वापस लौटता है; पुनरुज्जीवित

हो जाता है। उसके जीवन में नयी हवा और नयी सुगन्ध और नया आनन्द फैल जाता है।

पश्चिम में वे लक्षण से सोचते हैं; हम परिणाम से सोचते हैं। हम कहते हैं कि समाधि के बाद जो घटित होता है, वही तय करने वाली बात है कि समाधि समाधि थी या मूर्च्छा थी। रामकृष्ण सोने के हो कर वापस आते।

और जिस मूर्च्छा से कचरा जल जाता हो, और सोना निखर आता हो, उसको मूर्च्छा कहना उचित नहीं है। वह जो रामकृष्ण का वासनाग्रस्त व्यक्तित्व था, वह समाप्त हो जाता और एक अभूतपूर्व, एक परम ज्योतिर्मय व्यक्तित्व का जन्म होता। तो जिस मूर्च्छा से ज्योतिर्मय व्यक्तित्व का जन्म होता हो, उसको हम बीमारी न कहेंगे; उसको हम परम सौभाग्य कहेंगे।

परिणाम से निर्भर होगा।

रामकृष्ण की बेहोशी बेहोशी नहीं थी, क्योंकि अगर वह बेहोशी होती, तो रामकृष्ण का वह जो दिव्य रूप प्रगट हुआ, वह प्रगट नहीं हो सकता था। बेहोशी से दिव्यता पैदा नहीं होती। दिव्यता तो परम चैतन्य से ही पैदा होती है; परम होश से ही पैदा होती है। पर हमारे लिए देखने पर तो रामकृष्ण बेहोश हैं। लेकिन भीतर वे परम होश में हैं।

ऐसा समझें कि द्वार-दरवाजे सब बन्द हो गये, जहाँ से किरणें बाहर आती थीं होश की। इन्द्रियाँ सब शान्त हो गयीं और भीतर का दीया भीतर ही जल रहा है; उसकी कोई किरण बाहर नहीं आती। इसलिए हम पहचान नहीं पाते। लेकिन यह बेहोशी, बेहोशी नहीं है। अगर फिर भी कोई जिद्द करना चाहे कि यह बेहोशी ही है, तो यह बड़ी आध्यात्मिक बेहोशी है। और यह शब्द उचित नहीं है। हम तो इसे परम होश कहते हैं। और पश्चिम के मनोविज्ञान को आज नहीं कल यह भेद स्वीकार करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में खोज भी शुरू हो गयी है।

अभी तक तो फ्रायड के प्रभाव में उन्होंने सन्तों को और पागलों को एक ही साथ रख दिया है। जीसस के सम्बन्ध में ऐसी किताबें लिखी हैं पश्चिम में, मनोवैज्ञानिकों ने, जिनमें सिद्ध करने की कोशिश की है कि जीसस भी न्यूरोटिक थे, विक्षिप्त थे।

स्वभावतः कोई आदमी जो कहता है : मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, हमें पागल ही मालूम पड़ेगा। कोई आदमी जो यह दावा करता है कि मैं ईश्वर का पुत्र हूँ, हमें पागल मालूम पड़ेगा। या तो हम समझेंगे कि धूर्त है या हम समझेंगे पाखण्डी है या हम समझेंगे पागल है। कौन आदमी अपने होश में दावा करेगा कि मैं ईश्वर का पुत्र हूँ!

जीसस के वक्तव्य पागल के वक्तव्य मालूम होते हैं। लेकिन जो व्यक्ति भी भीतर की चेतना का अनुभव करता है, ईश्वर का पुत्र तो छोटा वक्तव्य है, वह ईश्वर

ही है।

मन्सूर या उपनिषद् के ऋषि जब कहते हैं, 'अहं ब्रह्मास्मि---हम ब्रह्म हैं', तो पश्चिम का मनोवैज्ञानिक समझेगा कि बात कुछ गड़बड़ हो गयी; दिमाग कुछ खराब हो गया। उनका सोचना भी ठीक है, क्योंकि ऐसे पागल भी हैं। आज पागलखानों में अगर खोजने जायँ तो बहुत से पागल हैं। कोई पागल कहता है : मैं अडोल्फ हिटलर हूँ। कोई पागल कहता है कि मैं मुसोलिनी हूँ। कोई पागल कहता है कि मैं स्टैलिन हूँ। कोई पागल कहता है, मैं नेपोलियन हूँ।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने लिखा है कि एक आदमी ने उसे पत्र लिखा। बर्ट्रेन्ड रसेल की एक किताब प्रकाशित हुई, उसमें उसने कुछ जूलियस सीजर्स के सम्बन्ध में कोई बात कही। एक आदमी ने पत्र लिखा कि आपकी किताब बिलकुल ठीक है, सिर्फ एक वक्तव्य गलत है। रसेल को आश्चर्य हुआ। क्योंकि किताब में बहुत-सी क्रांतिकारी बातें थीं, जो लोगों को पसन्द नहीं पड़ेंगी। यह कौन आदमी है, जो कहता है कि सब ठीक है, सिर्फ एक बात गलत है! तो रसेल ने उसे निमन्त्रण दिया कि तुम भोजन पर मेरे घर आओ। मैं भी जानना चाहूँगा कि जिस आदमी को मेरी सारी बातें ठीक लगी हैं, उसे कौन-सी बात गलत लगी। वह मेरे लिए भी विचारणीय है।

रसेल ने प्रतीक्षा की। साँझ को वह आदमी आया। उसने कहा, 'बाकी किताब बिलकुल ठीक है। मैं आपकी सब किताबें पढ़ता रहा हूँ। सभी किताबें ठीक हैं। एक बात इसमें आपने बिलकुल गलत लिखी है।' रसेल ने बड़ी जिज्ञासा---उत्सुकता से पूछा कि 'कौन-सी बात गलत है!' तो उसने कहा कि 'आपने किताब में लिखा है कि जूलियस सीजर्स मर गया है। यह गलत है।'

जूलियस सीजर्स को मरे सैकड़ों साल हो गये हैं। रसेल बहुत चौंका कि उसने गलती भी क्या खोजी है—कि जूलियस सीजर्स मर गया है---यह आपने लिखा है, यह बिलकुल गलत है। तो रसेल ने पूछा कि 'आप के प्रमाण?' तो उसने कहा कि 'प्रमाण की क्या जरूरत है। मैं जूलियस सीजर्स हूँ।'

मनोविज्ञान कहेगा, 'यह आदमी पागल है।' लेकिन मंसूर कहता है : मैं ब्रह्म हूँ। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं : हम स्वयं परमात्मा हैं। रामतीर्थ ने कहा है कि यह सृष्टि मैंने ही बनायी है; ये चाँद-तारे मैंने ही चलाये हैं।

रामतीर्थ से कोई पूछने आया कि सृष्टि किसने बनायी है? तो रामतीर्थ ने कहा, 'क्या पूछते हो! मैंने ही बनायी है।' निश्चित ही यह स्वर भी पागलपन का मालूम पड़ता है। और ऊपर से देखने पर जो आदमी कहता है, मैं जूलियस सीजर्स हूँ, वह कम पागल मालूम पड़ता है, बजाय रामतीर्थ के, जो कहते हैं : चाँद-तारे? ये मैंने ही इन्हीं अंगुलियों से चलाये हैं। यह सृष्टि मैंने ही बनायी है।

ये वक्तव्य बिलकुल एक से हैं ऊपर से और भीतर से बिलकुल भिन्न हैं। और भिन्नता का प्रमाण क्या होगा ? भिन्नता का प्रमाण यह होगा कि जो जूलियस सीजर्स अपने को कह रहा है, यह दुःखी है, पीड़ित है, परेशान है। इसे नींद नहीं है, चैन नहीं है; बेचैन है। और यह जो रामतीर्थ कह रहे हैं कि जगत् मैंने ही बनाया, ये परम आनन्द और परम शान्ति में हैं।

ये क्या कह रहे हैं, इस पर निर्भर नहीं करता। ये क्या हैं, उसमें खोजना पड़ेगा। और आप भला नहीं कहते कि जूलियस सीजर्स हैं या महात्मा गांधी हैं या जवाहरलाल नेहरू हैं--ऐसा आप कोई दावा नहीं करते, तो भी आप ठीक होश में नहीं हैं, तो भी आप विक्षिप्त हैं। और रामतीर्थ यह दावा करके भी विक्षिप्त नहीं हैं कि जगत् मैंने ही बनाया है। रामतीर्थ का यह वक्तव्य किसी बड़ी गहरी अनुभूति की बात है।

रामतीर्थ यह कह रहे हैं कि इस जगत् की परम चेतना जो है, वह मेरे भीतर है। जिस दिन उसने इस जगत् को बनाया, मैं भी उसमें सम्मिलित था। मेरे बिना यह जगत् भी नहीं बन सकता, क्योंकि मैं इस जगत् का हिस्सा हूँ। और परमात्मा ने जब यह जगत् बनाया, तो मैं उसके भीतर मौजूद था; मेरी मौजूदगी अनिवार्य है; क्योंकि मैं मौजूद हूँ।

इस जगत् में कुछ भी मिटता नहीं। विनाश असम्भव है। एक रेत के कण को भी नष्ट नहीं किया जा सकता। वह रहेगा ही। आप कुछ भी करो : मिटाओ, तोड़ो, फोड़ो--कुछ भी करो, वह रहेगा ही; उसके अस्तित्व को मिटाया नहीं जा सकता है।

जो चीज अस्तित्व में है, वह शून्य में नहीं जा सकती। तो चेतना कैसे शून्य में जा सकती है !

मैं हूँ, इसका अर्थ है कि मैं था और इसका अर्थ है कि मैं रहूँगा। कोई भी हो रूप, कोई भी हो आकार, लेकिन मेरा विनाश असम्भव है। विनाश घटता ही नहीं जगत् में, केवल परिवर्तन होता है; विनाश होता ही नहीं। न तो कोई चीज निर्मित होती है और न कोई चीज विनष्ट होती है। केवल चीजें बदलती हैं, रूपान्तरित होती हैं; नये आकार लेती हैं; पुराने आकार छोड़ देती हैं। लेकिन विनाश असम्भव है।

विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विनाश सम्भव नहीं है। धर्म और विज्ञान एक बात में राजी हैं : विनाश असम्भव है। तो रामतीर्थ अगर यह कहते हैं कि जगत् मैंने ही बनाया था, तो यह वक्तव्य बड़ा अर्थपूर्ण है। यह किसी पागल का वक्तव्य नहीं है। सच तो यह है कि उस आदमी का वक्तव्य है, जो पागलपन के पार चला गया है। और अब जो देख सकता है : अनन्त शृंखला जीवन की और जो अब अपने को अलग नहीं मानता है; उस अनन्त शृंखला का हिस्सा मानता है।

बाहर से देखने पर बहुत बार पागलों के वक्तव्य और सन्तों के वक्तव्य एक से

मालूम पड़ते हैं; भीतर से खोजने पर इनसे ज्यादा भिन्न वक्तव्य नहीं हो सकते। इसलिए पश्चिम में अगर धर्म की अप्रतिष्ठा होती जा रही है, तो उसमें सबसे बड़ा कारण मनोविज्ञान की अधूरी खोजें हैं। मनोविज्ञान जो बातें कहता है, वे आधी हैं और आधी होने से खतरनाक हैं।

साधारण आदमी बीच में है। साधारण आदमी से जो नीचे गिर जाता है, पागल हो जाता है। वह भी एबनॉर्मल है, वह भी असाधारण है। और पश्चिम दोनों को एक ही मान लेता है। साधारण आदमी से नीचे कोई गिर जाय, तो पागल हो जाता है; ऊपर कोई उठ जाय, तो महर्षि हो जाता है। दोनों असाधारण हैं; दोनों साधारण नहीं हैं।

पश्चिम की यह मूलभूत भ्रांत धारणा है कि साधारण व्यक्ति स्वस्थ है। इसलिए साधारण से जो भी हट जाता है, वह अस्वस्थ है।

रामकृष्ण अस्वस्थ हैं, बीमार हैं, पैथॉलॉजिकल हैं, उनका इलाज होना चाहिए। हमने जिंदगी पूजा की है; पश्चिम उनका इलाज करना चाहेगा। लेकिन पश्चिम में भी विरोध के स्वर पैदा होने शुरू हो गये हैं, और पश्चिम में भी नये मनोवैज्ञानिक की एक कतार खड़ी होती जा रही है, जो कह रही है कि हमारी समझ में भ्रांति है। और हम बहुत से लोगों को इसलिए पागल करार देते हैं कि हमें पता ही नहीं कि हम क्या कर रहे हैं। उनमें बहुत से लोग, असाधारण प्रतिभा के लोग, अकसर पागल हो जाते हैं। इसलिए पागलपन में और असाधारण प्रतिभा में कोई सम्बन्ध मालूम पड़ता है।

अगर पिछले पचास वर्षों के सभी असाधारण व्यक्तियों की आप खोजबीन करें, तो उनमें से पचास प्रतिशत कभी न कभी पागल हो गये। पचास प्रतिशत ! और जो उनमें श्रेष्ठतम है, वह जरूर एक बार पागलखाने हो आया है।

निजिंस्की या वानगॉग या मायकोवस्की...। नोबल प्राइज पाने वाले बहुत से लोग जिन्दगी में कभी न कभी पागल होने के करीब पहुँच जाते हैं या पागल हो जाते हैं। क्या कारण होगा ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारे पागलपन की व्याख्या में कुछ भूल है ?

असाधारण प्रतिभा का आदमी ऐसी चीजें देखने लगता है; जो साधारण आदमी को दिखायी नहीं पड़तीं। इसलिए साधारण आदमियों से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। असाधारण प्रतिभा का आदमी ऐसे अनुभव से गुजरने लगता है, जो सबका अनुभव नहीं है। वह अकेला पड़ जाता है। अगर वह आपसे कहे, तो आप भरोसा नहीं करेंगे।

जोसस कहते हैं कि शैतान मेरे पास खड़ा हो गया और मेरे कान में कहने लगा कि तू ऐसा काम कर। मैंने कहा कि हट शैतान।

अगर कोई आदमी--आपकी पत्नी, आपका पति आप से आकर कहे कि आज

रास्ते पर अकेला था; शैतान मेरे पास में आ गया और कान में कहने लगा : ऐसा कर; तो आप फौरन संदिग्ध हो जाएँगे। फोन उठा कर डॉक्टर को खबर करेंगे कि कुछ गड़बड़ हो गयी है।

अगर आपके पति ऐसी खबर दें...। ऋषि कहते हैं कि देवताओं से उनकी बात हो रही है; अगर आपकी पत्नी आपसे कहे कि आज सुबह इन्द्र देवता से चर्चा हो रही थी, तो आप क्या करियेगा? दफ्तर जाइयेगा? फिर दफ्तर नहीं जाएँगे। आप चिन्ता में पड़ जाएँगे कि अब बाल-बच्चों का क्या होगा! यह स्त्री पागल हो गयी है। और अगर आपकी यह दृष्टि पत्नी और पति के बाबत है, तो आप कितनी ही बातें करते हों, तो भी आप उपनिषद् और वेद पढ़ कर मान नहीं सकते कि ये बातें ज्ञानियों की हैं। आप कितनी ही श्रद्धा दिखाते हों, वह झूठी होगी। क्योंकि भीतर तो आप समझेंगे कि कुछ दिमाग इनका खराब है। कहाँ देवता, कहाँ देवियाँ! यह सब क्या हो रहा है?

रामकृष्ण बातें कर रहे हैं काली से। घन्टों उनकी चर्चा हो रही है। अगर आप देख लेते, तो आप क्या समझते? आपको तो काली दिखायी नहीं पड़ती। आपको तो सिर्फ रामकृष्ण बातें करते दिखायी पड़ते।

तो आप पागलखानों में देख सकते हैं, लोग बैठे हैं। अकेले बातें कर रहे हैं--बिना किसी के। दोनों तरफ से जवाब दे रहे हैं। तो स्वभावतः यह खयाल उठेगा कि कुछ विक्षिप्तता है। विक्षिप्तता में और असाधारण में कुछ सम्बन्ध मालूम पड़ रहा है। या फिर हमारी व्याख्या की भूल है।

असाधारण व्यक्ति ऐसी चीजों को देख लेते हैं, जो साधारण व्यक्तियों को कभी दिखायी नहीं पड़ सकतीं और ऐसे अनुभव को उपलब्ध हो जाते हैं, जिसका साधारण व्यक्ति को कभी स्वाद ही नहीं मिलता। फिर वे ऐसी बातें कहने लगते हैं, जो साधारण व्यक्ति के समझ के पार पड़ती हैं। फिर उनके जीवन में ऐसी घटनाएँ होने लगती हैं, जो हमारे तर्क, हमारे नियम, हमारी व्यवस्था को तोड़ती हैं।

हमारी जिंदगी एक राजपथ है, बँधा हुआ रास्ता है। असाधारण लोग रास्ते से नीचे उतर जाते हैं; पगडंडियों पर चलने लगते हैं; और ऐसी खबरें लाने लगते हैं, जिनका हमें कोई भी पता नहीं है, जो हमारे नक्शों में नहीं लिखी हैं, जो हमारी किताबों में नहीं हैं, जो हमारे अनुभव में नहीं हैं।

पहली बात यही खयाल में आती है कि इस आदमी का दिमाग खराब हो गया है।

रामकृष्ण भी पागल मालूम पड़ेंगे। रामकृष्ण ही क्यों, रामकृष्ण जैसे जितने लोग हुए हैं--दुनिया में कहीं भी--वे सब पागल मालूम पड़ेंगे। लेकिन एक फर्क खयाल रख लेंगे, तो भेद साफ हो जाएगा। अगर कोई पागलपन आपको शुद्ध कर जाता हो, अगर कोई पागलपन आपको मौन और शांत और आनन्दित कर जाता हो, अगर कोई पागलपन आपको जीवन के उत्सव से भर जाता हो, अगर कोई पागलपन आपके जीवन की चिंता और वासना से छुटकारा दिला देता हो, अगर कोई पागलपन आपके जीवन में संसार का जो बन्धन है, जो कष्ट है, जो पीड़ा है, जो जंजीरें हैं, उन सब को तोड़ देता हो, तो ऐसा पागलपन सौभाग्य है और परमात्मा से ऐसे पागलपन की प्रार्थना करनी चाहिए।

और अगर कोई समझदारी आपकी जिन्दगी को तकलीफों से भर देती हो, और कोई समझदारी आपकी जिन्दगी को पीड़ा और तनाव से भर देती हो, और कोई समझदारी आपकी जिन्दगी को कारागृह बना देती हो, और कोई समझदारी आपको सिवाय दुःख और नरक के कहीं न ले जाती हो, तो परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि ऐसी समझदारी से मेरा छुटकारा हो।

यही मैं मूर्च्छा के लिए भी कहूँगा। कोई मूर्च्छा अगर आपके जीवन में आनन्द की झलक ले आती हो, तो वह मूर्च्छा चैतन्य से ज्यादा कीमती है। और सिर्फ कोई होश आपको निरन्तर तोड़ता जाता हो, तनाव और चिन्ता से और संताप से भरता हो, तो वह होश मूर्च्छा से बदतर है।

कसौटी क्या है? कसौटी है--आपका अन्तिम फल--क्या आप हो जाते हैं। ऊपर के लक्षण बिलकुल मत देखें। परिणाम क्या होता है; अन्त में--आपके जीवन में कैसे फूल लगते हैं...।

तो रामकृष्ण के जीवन में जो फूल लगते हैं, वे किसी पागल के जीवन में नहीं लगते। रामकृष्ण के जीवन से जो सुगन्ध आती है, वह किसी मूर्च्छित, कोमा में, हिस्टीरिया में पड़ गये व्यक्ति के जीवन से नहीं आती। उसी सुगन्ध के सहारे हम उन्हें परमहंस कहते हैं। और अगर उस सुगन्ध की आप फिक्र छोड़ दें, और सिर्फ लक्षण देखें और डॉक्टर से जाँच करवा लें, तो वे भी मूर्च्छित हैं, और हिस्टीरिया के बीमार हैं, और उनके इलाज की जरूरत है।

दो तरह की चेतना है : एक चेतना, जो बाहर के दबाव से पैदा होती है--प्रतिक्रिया, रिएक्शन से--उस चेतना को कृष्ण कहते हैं : वह क्षेत्र का ही हिस्सा है, वह छोड़ने योग्य है। एक और चेतना है, जो किसी कारण से पैदा नहीं होती; जो मेरा स्वभाव है, जो मेरा स्वरूप है, जो मेरे भीतर छिपी है, जिसका झरना मैं लेकर ही पैदा हुआ हूँ या ज्यादा उचित होगा कहना कि मैं और उसका झरना एक ही चीज के दो नाम हैं। मैं वह झरना ही हूँ। लेकिन इस झरने का पता तभी चलेगा, जब हम बाहर के आघात से पैदा हुई चेतना से अपने को मुक्त कर लें। नहीं तो हमारा ध्यान निरन्तर बाहर चला जाता है और भीतर ध्यान पहुँच ही नहीं पाता। समय ही नहीं मिलता, अवसर ही नहीं मिलता।

हमारी जिंदगी में दो काम हैं। जिसको हम जागना कहते हैं, वह बाहर की चोट में हमारी चेतना का उत्तेजित रहना है। और जिसको हम नींद कहते हैं, वह भी नींद नहीं है। वह भी केवल थक जाने की वजह से है। बाहर की उत्तेजना अब हमको उत्तेजित नहीं कर पाती, हम थक कर पड़ जाते हैं। जिसको हम नींद कहते हैं, वह थकान है। और जिसको हम जागरण कहते हैं, वह चोटों के बीच चुनाव; चुनौती के बीच हमारे भीतर होती प्रतिक्रिया है।

कृष्ण और बुद्ध और क्राइस्ट दूसरे ढंग से जागते हैं और दूसरे ढंग से सोते हैं। उनकी नींद थकान नहीं है; उनकी नींद विश्राम है। उनका जागरण--बाहर का आघात नहीं है; उनका जागरण भीतर की स्फुरणा है। और जो व्यक्ति थक कर नहीं सोया है, वह नींद में भी जागता रहता है। इसलिए कृष्ण ने कहा है कि योगी--जब सब सोते हैं, तब भी जागता है। इसका यह मतलब नहीं है कि वह रात भर बैठा रहता है आँखें खोले।

कई पागल वैसी कोशिश भी करते हैं कि रात भर आँखें खोले बैठे रहो। क्योंकि योगी रात सोता नहीं है। इसलिए नासमझ यह सोचने लगते हैं कि रात न सोयें, तो योगी बन जाएँगे! यह नींद कम करो: चार घंटा, तीन घंटा, दो घंटा--जितना कम सोओ, कम से कम--उतने योगी हो गये। कृष्ण का वैसा मतलब नहीं है। योगी भरपूर सोता है; आपसे ज्यादा सोता है; आपसे गहरा सोता है। लेकिन उसकी नींद शरीर में घटती है, क्षेत्र में घटती है; क्षेत्रज्ञ जागा रहता है। शरीर विश्राम में होता है, भीतर वह जागा होता है। वह रात करवट भी बदलता है, तो उसे करवट बदलने का होश है। रात उसकी बेहोश नहीं है। और ध्यान रहे, उसकी रात बेहोश नहीं है...।

कृष्ण ने दूसरी बात नहीं कही है, वह भी मैं आपसे कहता हूँ। आपका दिन भी बेहोश है। योगी रात में भी जागता है; भोगी दिन में भी सोता है। इसका यह मतलब नहीं है कि दिन में अगर आप घन्टे, दो घन्टे सो जाते हों, उससे मेरा मतलब नहीं है। भोगी दिन में भी सोता है, उसका मतलब यह है कि उसके भीतर की चेतना तो जागती ही नहीं। केवल आघात, चोट उसको जगाये रखती है।

अभी मनस्विद् कहते हैं कि जितना शोरगुल चल रहा है दुनिया में, बड़े शहरों में, उसकी वजह से लोग बहरे होते जा रहे हैं। और सौ साल अगर इसी रफ्तार से काम आगे जारी रहा, तो सौ साल के बाद शहरों में कान वाला आदमी मिलना मुश्किल हो जाएगा। इतना आघात पड़ रहा है कि कान धीरे-धीरे जड़ हो जाएँगे। वैसे अभी भी आप बहुत कम सुनते हैं; और अच्छा ही है। अगर सब सुनें--जो हो रहा है--चारों तरफ--तो आप पागल हो जाएँगे।

और इसलिए आज नये बच्चे हैं, तो रेडियो बहुत जोर से चलाते हैं। धीमी आवाज से चेतना में कोई चोट ही नहीं पड़ती। काफी शोरगुल हो। नये जो संगीत हैं--नये युवक और युवतियों के जो नृत्य हैं, वे भयंकर शोरगुल से भरे हैं। जितना शोरगुल हो उतना अच्छा--थोड़ा अच्छा लगता है। क्योंकि छोटे-मोटे शोरगुल से तो कोई चोट ही नहीं पैदा होती। एक चुनौती चाहिए, तेज आघात चाहिए, तो थोड़ा-सा रस, मालूम होता है कि पैदा हुआ। लेकिन यह कब तक चलेगा?

पश्चिम में उन्होंने नये रास्ते निकाले हैं। केवल चोट से भी काम नहीं चलता तो बहुत तरह के प्रकाश लगा लेते हैं। प्रकाश बदलते रहते हैं तेजी से। बहुत जोर से शोर मचता रहता है। कई तरह के नाच, कई तरह के गीत चलते रहते हैं। एक बिलकुल विक्षिप्त अवस्था हो जाती है, तब घन्टे भर उस विक्षिप्त अवस्था में रहकर किसी आदमी को लगता है कि यह कोई जिन्दगी है; कुछ जीवन का अनुभव हो रहा है!

हम इतने मर गये हैं कि जब तक बहुत चोट न हो, तो जीवन का भी कोई अनुभव नहीं होता। धीमे स्वर तो हमें सुनाई ही न पड़ेंगे। और जीवन के नैसर्गिक स्वर सभी धीमे हैं। वे हमें सुनाई नहीं पड़ेंगे। रात का सन्नाटा हमें सुनाई नहीं पड़ेगा। हृदय की अपनी धड़कन हमें सुनाई नहीं पड़ेगी।

आपने कभी अपने खून की चाल की आवाज सुनी है? वह बहुत धीमी है; वह सुनाई नहीं पड़ेगी। लेकिन आवाज तो हो रही है। बथ मिनिस्टर कूलर ने लिखा है कि मैं पहली दफा एक ऐसे भवन में गया, एक विज्ञान की प्रयोगशाला में जो पूर्णरूपेण साउन्ड-प्रूफ थी, जहाँ कोई आवाज बाहर से भीतर नहीं जा सकती थी, लेकिन मुझे भीतर दो तरह की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। तो मुझे जो वैज्ञानिक दिखाने ले गया था, उससे मैंने पूछा कि 'यह क्या बात है! आप तो कहते हैं: एब्सोल्यूट साउन्ड-प्रूफ है। लेकिन यहाँ दो तरह की आवाजें आ रही हैं!' तो वैज्ञानिक हँसने लगा। उसने कहा, 'आवाजें बाहर से नहीं आ रही हैं, वह आपके खून की चाल की आवाज है। आपका हृदय धड़क रहा है, वह आपने कभी ठीक से सुना नहीं। अब यहाँ कोई आवाज नहीं है, तो यहाँ आपके हृदय की धड़कन जोर से आ रही है। और आपका खून जो चल रहा है शरीर के भीतर, उसमें जो घर्षण हो रहा है, उसकी आवाज आ रही है। ये दो आवाजें आपके भीतर हैं। आप उन्हें अन्दर ले आये हैं। बाहर से कोई आवाज भीतर नहीं आ सकती।'

आपने कभी अपने खून की आवाज सुनी है? नहीं सुनी है। खून की आवाज तो आपको सुनाई नहीं पड़ती है और बहुत से लोग बैठ कर भीतर ओंकार का नाद सुनने की कोशिश करते हैं! वह अति सूक्ष्म है; वह आपको कभी सुनाई नहीं

पड़ सकती।

अभी खून की आवाज तो स्थूल आवाज है; जैसे झरने की आवाज होती है, वैसे खून की आवाज है। लेकिन वही आपको सुनाई नहीं पड़ी; आप सोच रहे हैं कि ओंकार का नाद सुनाई पड़ जाय। वह तो परम गूढ़, परम सूक्ष्म, आखिरी आवाज है। जब सब तरह से व्यक्ति पूर्ण शान्त हो जाता है, तभी वह सुनाई पड़ती है। तब भीतर निनाद होने लगता है; तब वह जो ओऽऽम् भीतर गूँजता है, वह पैदा हुआ ओऽऽम् नहीं है, इसलिए हमने उसको अनाहत नाद कहा है।

आहत नाद का अर्थ है, जो चोट से पैदा हो। अनाहत नाद का अर्थ है, जो बिना चोट के अपने आप पैदा होता रहे। वह सुनाई पड़ेगा। लेकिन तब हमें अपनी चेतना को बाहर के आघात से छुटकारा कर लेना जरूरी है।

रामकृष्ण जब मूर्च्छित हैं, तब उन्होंने बाहर की तरफ से अपने द्वारा दरवाजे बन्द कर लिए हैं। जब वे भीतर का अनाहत नाद सुन रहे हैं। अब उन्हें भीतर का ओंकार सुनाई पड़ रहा है।

लेकिन बाहर से मूर्च्छित होना जरूरी नहीं है। और भी विधियाँ हैं, जिनमें बाहर भी होश रखा जा सकता है--और भीतर भी। लेकिन वे थोड़े कठिन हैं, क्योंकि दोहरी प्रक्रिया हो जाती है।

बुद्ध कभी बेहोश नहीं हुए। रामकृष्ण जैसा बेहोश होकर गिरे, ऐसा बुद्ध के जीवन में कोई उल्लेख नहीं है कि वे बेहोश हुए। न कृष्ण के जीवन में होते सुना, न जीसस के जीवन में सुना, न मुहम्मद के जीवन में सुना--कि बेहोश हो गये। रामकृष्ण के जीवन में वैसी घटना है और कुछ सन्तों के जीवन में वैसी घटना है।

तो बुद्ध कभी बेहोश नहीं हुए बाहर से भी। तो बुद्ध की प्रक्रिया रामकृष्ण की प्रक्रिया से ज्यादा कठिन है। बुद्ध कहते हैं, दोनों तरफ होश रखा जा सकता है--भीतर भी और बाहर भी। जरूरत नहीं है बाहर से बन्द करने की। बाहर भी होश रखा जा सकता है और भीतर भी। हम बीच में खड़े हो सकते हैं।

वह जो परम चेतना है--बाहर और भीतर के बीच की देहली पर खड़ी हो सकती है। और दोनों तरफ होश रख सकते हैं, लेकिन अति जटिल है बात। इसलिए उचित है कि रामकृष्ण की तरफ से ही चलें; दूसरी घटना भी घट जाएगी बाद में।

रामकृष्ण ने आधा काम बाँट लिया है: बाहर की तरफ से होश छोड़ दिया है, सारा होश भीतर ले गये। एक दफा भीतर का होश सध जाय, तो फिर बाहर भी होश साधा जा सकता है।

रामकृष्ण का प्रयोग सरल है--बुद्ध के प्रयोग से। और साधारण आदमी

को रामकृष्ण का प्रयोग ज्यादा आसान है--बजाय बुद्ध के प्रयोग के। क्योंकि बुद्ध के प्रयोग में दो काम एक साथ साधने पड़ेंगे; ज्यादा समय लगेगा; और ज्यादा कठिनाई होगी; और अत्यन्त अड़चनों से गुजरना पड़ेगा।

रामकृष्ण की प्रक्रिया बड़ी सरल है। बाहर को छोड़ ही दें एक बार और भीतर ही डूब जायँ। एक दफा भीतर का रस अनुभव में आ जाय, तो फिर बाहर भी उसे जगाये रखा जा सकता है।

● एक और मित्र ने पूछा है कि 'ऐसा सुना है कि देवताओं को भी अगर मुक्ति चाहिए, तो मनुष्य का शरीर धारण करना पड़ता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच का तादात्म्य टूटना क्या देव-योनि में सम्भव नहीं है?

'मनुष्य होने की क्या जरूरत है? अगर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध टूटने से ही परमज्ञान घटित होता है, तो देवता इस सम्बन्ध को क्यों नहीं तोड़ सकते? उसके लिए मनुष्य के शरीर में आने की जरूरत क्या है?'

थोड़ा टेक्निकल है, थोड़ा तकनीकी सवाल है। लेकिन समझने जैसा है और आपके काम का भी है। देवता तो यहाँ मौजूद नहीं हैं, लेकिन आपके भी काम का है, क्योंकि आपको भी कुछ बात समझ में आ सकेगी।

देव-योनि से मुक्ति संभव नहीं, इसका बड़ा गहरा कारण है। और मनुष्य-योनि से मुक्ति सम्भव है, यह बड़ी गहरी बात है। और इससे आप यह मत सोचना कि कोई मनुष्य-योनि का बड़ा गौरव है इसमें। ऐसा मत सोच लेना। कुछ अकड़ मत जाना इससे कि देवताओं से भी ऊँचे हम हुए, क्योंकि इस मनुष्य-योनि से ही मुक्ति हो सकती है। नहीं; ऊँचे-नीचे का कोई सवाल नहीं है; अकड़ने की कोई बात नहीं है। सच तो अगर ठीक से समझें तो थोड़ा दीन होने की बात है। कारण यह है कि देव-योनि का अर्थ है कि जहाँ सुख ही सुख है। और जहाँ सुख ही सुख है, वहाँ मूर्च्छा घनी हो जाती है। दुःख मूर्च्छा को तोड़ता है। दुःख मुक्तिदायी है। पीड़ा से छूटने का मन होता है। सुख से छूटने का मन नहीं होता।

आप भी संसार से छूटना चाहते हैं, तो क्या इसलिए कि सुख से छूटना चाहते हैं?--दुःख से छूटना चाहते हैं। दुःख से छूटना चाहते हैं, इसलिए संसार से भी छूटना चाहते हैं। अगर कोई आपको तरकीब बता दे कि संसार में भी रह कर और दुःख से छूटने का उपाय है, तो आप मोक्ष का नाम भी न लेंगे। आप भूल कर फिर मोक्ष की बात न करेंगे। फिर आप कृष्ण वगैरह को कहेंगे कि आप जाओ मोक्ष। हम यहीं रहेंगे। क्योंकि दुःख तो छोड़ा जा सकता है, सुख मिल सकता है, फिर मोक्ष की क्या जरूरत है? संसार को छोड़ने का सवाल ही इसलिए उठता है कि अगर हम दुःख को छोड़ना चाहते हैं, तो सुख को भी छोड़ना पड़ेगा। वे दोनों साथ जुड़े हैं।

संसार में सुख और दुःख मिश्रित हैं। सब सुखों के साथ दुःख जुड़ा हुआ है। सुख पकड़ा नहीं कि दुःख भी पकड़ में आ जाता है। आप सुख को लेने गये और दुःख की जकड़ में फँस जाते हैं। सुख चाहा और दुःख के लिए दरवाजा खुल जाता है।

स्वर्ग या देव-योनि का अर्थ है : जहाँ सुख ही सुख है। जहाँ सुख ही सुख है, वहाँ छोड़ने का खयाल ही न उठेगा। इसलिए देवता गुलाम हो जाते हैं; छोड़ने का खयाल ही नहीं उठता।

नरक से भी मुक्ति नहीं हो सकती और स्वर्ग से भी मुक्ति नहीं हो सकती। जिन्होंने ये वक्तव्य दिये हैं, उन्होंने बड़ी गहरी खोज की है, क्योंकि नरक में दुःख ही दुःख है और अगर दुःखी ही दुःख हो, तो आदमी दुःख का आदी हो जाय। यह थोड़ा समझ लें।

अगर दुःख ही दुःख जीवन में हो, सुख की कोई भी अनुभूति न हो, तो आदमी दुःख का आदी हो जाय। और जहाँ सुख का कोई अनुभव ही न हो, वहाँ सुख की आकांक्षा भी धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है।

सुख की आकांक्षा वहीं पैदा होती है, जहाँ आशा हो, इसलिए दुनिया में जितनी सुख की आशा बढ़ती है, उतना दुःख बढ़ता जाता है। पाँच सौ साल पीछे शूद्र इतने ही दुःख में था, जितना आज दुःख में है। आज शायद ज्यादा दुःख में है। लेकिन तब वह दुःखी नहीं था, क्योंकि उसे कभी खयाल ही नहीं था कि शूद्र के अतिरिक्त कुछ होने का उपाय है। अब उसे पता है; अब आशा खुली है; अब उसे पता है कि शूद्र होना जरूरी नहीं है। वह ब्राह्मण भी हो सकता है--शूद्र होना अनिवार्य नहीं है। अब गाँव की सड़क ही साफ करना जिंदगी की अनिवार्यता नहीं है; अब वह राष्ट्रपति भी हो सकता है। आशा का द्वार खुल गया है। अब वह सड़क पर बुहारी तो लगा रहा है, लेकिन बड़े दुःख से, हालाँकि वहीं पाँच सौ साल पहले भी बुहारी लगा रहा था, लेकिन तब कोई दुःख नहीं था, क्योंकि दुःख इतना मजबूत था कि उसके बाहर जाने की कोई आशा नहीं थी, कोई उपाय नहीं था, इसलिए बात ही खतम हो गयी थी।

नरक में कोई साधना नहीं करता, और स्वर्ग में भी कोई साधना नहीं करता, क्योंकि नरक में दुःख इतना गहन है--और आशा का कोई उपाय नहीं है--कि आदमी उस दुःख से ही राजी हो जाता है।

जब दुःख आखिरी हो, तो हम राजी हो जाते हैं। जब तक आशा रहती है, तब तक थोड़ा लड़ते हैं। इसे थोड़ा समझ लें।

जब तक आशा रहती है, तब तक हम लड़ते हैं। और जहाँ तक आशा रहती है, वहाँ तक हम लड़ते हैं। जब आशा टूट जाती है, हम शान्त हो कर बैठ जाते हैं। लड़ाई खतम हो गयी।

स्वर्ग में भी कोई साधना नहीं करता है, क्योंकि सुख से छूटने का खयाल ही नहीं उठता। सुख से छूटने का कोई सवाल ही नहीं है।

मनुष्य दोनों के बीच में है। मनुष्य दोनों है--नरक और स्वर्ग भी। मनुष्य आधा नरक और आधा स्वर्ग है। और दोनों मिश्रित है। वहाँ दुःख भी सघन है और सुख की आशा भी। और हर सुख के बाद दुःख मिलता है--यह अनुभूति भी है, इसलिए मनुष्य चौराहा है; उसके नीचे नरक है, उसके ऊपर स्वर्ग है। स्वर्ग में आदमी सुख से राजी हो जाता है। नरक में दुःख से राजी हो जाता है; मनुष्य की अवस्था में किसी चीज से कभी राजी नहीं हो पाता। मनुष्य असंतोष है। वह असंतुष्ट ही रहता है। कुछ भी हो, संतोष नहीं होता, इसलिए साधना का जन्म होता है।

जहाँ असंतोष अनिवार्य हो, कोई भी स्थिति हो : आप झोपड़ी में हों, तो दुःखी हों; महल में हों, तो दुःखी हों...। आपका होना--मनुष्य का होना ही ऐसा है कि वह तृप्त नहीं हो सकता। अतृप्ति वहाँ बनी ही रहेगी। उसके होने के ढंग में ही उपद्रव है। वह बीच की कड़ी है। आधा उसमें स्वर्ग भी झाँकता है, आधा नरक भी झाँकता है।

मनुष्य के पास अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह आधा-आधा है; अधूरा-अधूरा है; सीढ़ी पर लटका हुआ है--त्रिशंकु की भाँति। इसलिए जो मनुष्य साधना में उतरता है, वह असाधारण है। जो मनुष्य साधना में नहीं उतरता, वह असाधारण है। नरक में साधना में नहीं उतरता, समझ में आती है बात। स्वर्ग में नहीं उतरता, समझ में आती है। अगर आप साधना में नहीं उतरते, तो आप चमत्कारी हैं। क्योंकि आपका होना ही असंतोष है। और अगर आपको इस असंतोष से भी साधना का खयाल पैदा नहीं होता, तो आश्चर्य है।

जगत् में बड़े से बड़ा आश्चर्य यह है कि कोई मनुष्य हो और साधक न हो। यह बड़े से बड़ा आश्चर्य है।

स्वर्ग में देवता हो कर कोई साधक हो, यह आश्चर्य की बात होगी। नरक में हो कर कोई साधक हो, यह भी आश्चर्य की बात है। मनुष्य होकर कोई साधक न हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है, क्योंकि आपके होने में असंतोष है और असंतोष से कोई कैसे तृप्त हो सकता है।

साधना का इतना ही मतलब है कि जैसा मैं हूँ, उससे मैं राजी नहीं हो सकता; मुझे स्वयं को बदलना है। इसलिए मनुष्य को चौराहा कहा है ज्ञानियों ने।

स्वर्ग से भी लौट आना पड़ेगा। जब पुण्य चुक जाएँगे, तो सुख से लौट आना पड़ेगा। और जब पाप चुक जाएँगे, तो नरक से लौट आना पड़ेगा।

मनुष्य की योनि से तीन रास्ते निकलते हैं : दुःख अर्जित कर लें, तो नरक में गिर जाते हैं; सुख अर्जित कर लें, तो स्वर्ग में चले जाते हैं। लेकिन दोनों ही क्षणिक

हैं और दोनों ही छूट जाएँगे। जो भी अर्जित किया है, वह चुक जाएगा, खर्च हो जाएगा। ऐसी कोई सम्पदा नहीं होती, जो खर्च न हो। कमाई खर्च हो ही जाएगी।

नरक भी चुक जाएगा, स्वर्ग भी चुक जाएगा, जब तक कि यह खयाल न आ जाय कि तीसरा रास्ता और है, जो कमाने का नहीं है, कुछ अर्जित करने का नहीं है, बल्कि जो भीतर छिपा है, उसको उघाड़ने का है। स्वर्ग भी कमाई है--नरक भी। और आपके भीतर जो परमात्मा छिपा है, वह कमाई नहीं है; वह आपका स्वभाव है। वह मौजूद ही है। जिस दिन आप स्वर्ग और नरक की तरफ जाना बन्द कर के स्वयं की तरफ जाना शुरू कर देते हैं, उस दिन फिर लौटने की कोई जरूरत नहीं है।

मुसलमान फकीर औरत हुई है--राबिया। एक दिन लोगों ने देखा कि वह बाजार में भागी जा रही है। उसके एक हाथ में पानी का एक कलश है और एक हाथ में जलती हुई मशाल है। लोगों ने कहा कि 'राबिया, क्या तू पागल हो गयी है? शक तो हमें बहुत बार होता था तेरी बातें सुन कर--कि तू पागल हो गयी है। अब तूने यह क्या किया है! यह क्या खेल, नाटक कर रही है? कहाँ भागी जा रही है? और यह पानी और यह मशाल किसलिए है?'

राबिया ने कहा कि 'इस पानी में मैं तुम्हारे नरक को डुबाने जा रही हूँ और इस मशाल से तुम्हारे स्वर्ग को जलाने जा रही हूँ।'

और जब तक तुम स्वर्ग और नरक से न छूटे जाओ, तब तक तुम्हारा परमात्मा से कोई मिलना नहीं हो सकता।

अब हम सूत्र को लें।

'और हे अर्जुन, श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, प्राणिमात्र को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमा-भाव, मन-वाणी की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित गुरु की सेवा, बाहर भीतर की शुद्धि, अंतःकरण की स्थिरता, मन और इंद्रियों सहित शरीर का निग्रह तथा इस लोक और परलोक में आसक्ति का अभाव, और अहंकार का भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बारम्बार दर्शन करना--ये सब ज्ञान के लक्षण हैं।'

कौन है ज्ञानी? क्योंकि कल कृष्ण ने कहा कि ज्ञानी जान लेता है तत्त्व से इस बात को कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अलग हैं। तो जरूरी है कि अब हम समझ लें कि ज्ञानी कौन है। कौन जान पायेगा इस भेद को? कौन इस भेद को जान कर अभेद को उपलब्ध होगा? तो अब ज्ञानी के लक्षण हैं। एक-एक लक्षण पर खयाल कर लेना जरूरी है।

'श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव'--शुरू बात, क्योंकि ज्ञान के साथ तत्क्षण श्रेष्ठता का भाव पैदा होता है--कि मैं श्रेष्ठ हूँ, दूसरे निकृष्ट हैं; मैं जानता हूँ, दूसरे नहीं जानते हैं; मैं ज्ञानी हूँ, दूसरे अज्ञानी हैं। ज्ञान के साथ जो सबसे पहला रोग--

जिसमें बचना जरूरी है, वह श्रेष्ठता का अहंकार है।

ब्राह्मण की अकड़ हम देखते हैं। अब उसकी अकड़ कम होती जा रही है, क्योंकि चारों तरफ से उस पर हमला पड़ रहा है। नहीं तो ब्राह्मण की बड़ी अकड़ है; ब्राह्मण की शकल ही देख कर कह सकते हैं कि वह ब्राह्मण है। उसके नाक का ढंग, उसके आँख का ढंग, उसके चेहरे का रूप... चाहे वह भीख माँगता हो, लेकिन फिर भी ब्राह्मण पहचाना जा सकता है कि वह ब्राह्मण है। उसकी आँख, उसका श्रेष्ठता का भाव, एक अरिस्टोक्रेसी, एक गहरा अभिजात्य। भीतर--मैं श्रेष्ठ हूँ; चाहे वह नंगा फकीर हो, चाहे कपड़े फटे हों, चाहे हाथ में भिक्षा का पात्र हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। लेकिन भीतर एक दीप्ति--श्रेष्ठता की--जलती रहेगी।

एक बड़े मजे की घटना घटी है मनुष्य के इतिहास में और वह यह है: हिन्दुस्तान में हमने ब्राह्मणों को क्षत्रिय के ऊपर रख दिया; तलवार के ऊपर ज्ञान को रख दिया। इसलिए हिन्दुस्तान में कभी क्रान्ति नहीं हो सकी, क्योंकि दुनिया में जब भी कोई उपद्रव होता है, उसकी जड़ में ब्राह्मण होता है। कहीं भी हो, समझदार ही उपद्रव करवा सकता है; नासमझ तो पीछे चलते हैं।

अगर यह पश्चिम में इतनी क्रान्ति की बात चलती है...। मार्क्स को मैं ब्राह्मण कहता हूँ। लेनिन को, ट्राटस्की को ब्राह्मण कहता हूँ। ब्राह्मण का मतलब--इन्टेलिजेन्सिया; वह जो सोचती है, विचारती है। उस सोचने-विचारने वाले की श्रेष्ठता को अगर आपने जरा भी चोट पहुँचाई, तो वह उपद्रव खड़ा कर देता है। वह फौरन लोगों को भड़का देता है। सिर्फ हिन्दुस्तान अकेला मुल्क है, जहाँ पाँच हजार साल में कोई क्रान्ति नहीं हुई। इसका राज क्या है?

सारी दुनिया में क्रान्ति हुई, हिन्दुस्तान में क्रान्ति नहीं हुई। इसका सीक्रेट—राज क्या है? सीक्रेट है कि हमने ब्राह्मण को--जो उपद्रव कर सकता है उसको—पहले ही ऊपर रख दिया। उसको कहा कि तू तो श्रेष्ठ है।

फिर एक बड़े मजे की घटना घटी कि ब्राह्मण भूखा मरता रहा, दीन रहा, दुःखी रहा, लेकिन कभी उसने बगावत की बात नहीं की, क्योंकि उसकी भीतरी श्रेष्ठता सुरक्षित है। और जब वह श्रेष्ठ है, तो कोई दिक्कत नहीं है।

रूस फिर उसका अनुगमन कर रहा है। वह सोच भी नहीं सकता, लेकिन रूस इसका फिर अनुगमन कर रहा है। आज रूस ने सब वर्ग तो मिटा दिये, लेकिन ब्राह्मण को ऊपर बिठा रखा है। जिसको वे एकेडेमीसिएन्स कहते हैं वहाँ। वे जितने भी बुद्धिवादी लोग हैं: लेखक हैं, कवि हैं, वैज्ञानिक हैं, डॉक्टर हैं, वकील हैं—जिनसे उपद्रव की कोई भी सम्भावना है, उनका एक अभिजात्य वर्ग बना दिया है।

रूस में लेखक इतना समादृत है, जितना जमीन पर कहीं भी नहीं। कवि इतना

समादृत है, जितना दुनिया में कहीं भी नहीं। वैज्ञानिक--सोचने समझने वाला आदमी समादृत है, उसको ऊपर रखा गया है, उसको फिर ब्राह्मण की कोटि में रख दिया है।

रूस में क्रान्ति तब तक नहीं हो सकती अब, जब तक यह ब्राह्मण का अभिजात्य न टूटे।

दो प्रयोग हुए ह; हिन्दुस्तान ने प्रयोग किया था पाँच हजार साल पहले। रूस इसका अनुसरण कर रहा है--जाने अनजाने।

ब्राह्मण को ऊपर बिठा दो, फिर उपद्रव नहीं होगा। उसकी श्रेष्ठता सुरक्षित रहे, फिर कोई बात नहीं है। भीख माँग सकता है वह, लेकिन उसकी अकड़ कायम रहनी चाहिए। आप उसको सिंहासन पर बिठा दो और कहो कि विनम्र हो जाओ, भीतर की अकड़ छोड़ दो, वह सिंहासन को लात मार देगा। ऐसे सिंहासन का कोई मूल्य नहीं है, उसे भीतर का सिंहासन चाहिए।

जैसे ही किसी व्यक्ति को ज्ञान का जरा-सा स्वाद लगता है कि एक भीतरी श्रेष्ठता पैदा होनी शुरू हो जाती है: उसकी चाल बदल जाती है, उसकी अकड़ बदल जाती है।

कृष्ण कहते हैं--ज्ञान का, पहला लक्षण। वे कह रहे हैं: श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव।

ब्राह्मण को गुणी होना चाहिए; यह उसका पहला लक्षण है। यह होता नहीं है। नहीं होता है, इसीलिए पहला लक्षण बताया है। जो नहीं होता, उसकी चिन्ता पहले कर लेनी चाहिए। जो बहुत कठिन है, उसकी फिक्र पहले कर लेनी चाहिए।

ज्ञान आये, तो उसके साथ-साथ विनम्रता बढ़ती जानी चाहिए। अगर ज्ञान के साथ विनम्रता न बढ़े, तो ज्ञान जहर हो जाता है। ज्ञान के साथ विनम्रता समान अनुपात में बढ़ती जाय, तो ज्ञान जहर नहीं हो पाता, अमृत हो जाता है।

'श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव...।'

आचरण दो तरह से होता है। एक तो आचरण होता है--सहज-स्फूर्त; और एक आचरण होता है--दम्भ आयोजित। आप रास्ते पर जा रहे हैं और एक भूखा आदमी हाथ फैला देता है। आप दो पैसा उसके हाथ में रख देते हैं--सहज-दया के कारण--वह भूखा है इसलिए। लेकिन रास्ते पर कोई भी नहीं है, अकेले हैं, और भूखा आदमी हाथ फैलाता है, आप बिना देखे निकल जाते हैं। रास्ते पर लोग देखने वाले मौजूद हों, तो आप दो पैसा दे देते हैं। अगर साथ में मित्र मौजूद हैं या ऐसा समझ लीजिये कि आपके लड़की की शादी हो रही है और लड़का, लड़की को देखने आया हो, वह आपके साथ है और भिखमंगा हाथ फैला देता है; दो पैसे की जगह आप दो रुपये दे देते हैं। ये दो रुपये आप दामाद को दे रहे हैं--होने वाले दामाद को। आप एक दम्भ

का आचरण कर रहे हैं। आप उसको यह दिखा रहे हैं कि मैं क्या हूँ? इसका भिखारी से कोई लेना-देना नहीं है। भिखारी से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। भिखारी को आपने पैसे दिये ही नहीं। और आपको कोई न भीतर दया है, न कोई करुणा है, न कोई सवाल है; आप एक दम्भ आरोपित कर रहे हैं, एक आयोजन कर रहे हैं। तो आप अच्छे आदमी भी हो सकते हैं--दम्भ आचरण के कारण।

ध्यान रहे: सहज बुरा आदमी भी बेहतर है। कम से कम सहज तो है। और जो सहज है, वह कभी अच्छा हो सकता है, क्योंकि बुराई दुःख देती है। दुःख कोई भी नहीं चाहता है। आज नहीं कल सुख की तरफ जाएगा; खोजेगा, तो बुराई को छोड़ेगा। लेकिन हम झूठे अच्छे आदमी हैं, यह बहुत खतरनाक स्थिति है।

झूठे अच्छे आदमी का मतलब है: हम अच्छे बिलकुल नहीं हैं और बाहर हमने अच्छा आरोपण कर रखा है। रिस्पेक्टिबिलिटि....।

माँ-बाप बच्चों से कहते हैं कि देख, इज्जत मत गँवा देना हमारा, खयाल रखना कि किसका बेटा है। वे उसको यह नहीं कह रहे हैं कि अच्छा काम करना अच्छा है। वे यह कह रहे हैं कि अच्छा काम करना अहंकार-पोषक है। वे कह रहे हैं कि घर की इज्जत का खयाल रखना। वे उससे यह नहीं कह रहे हैं कि अच्छे होने में तेरा आनन्द होना चाहिए। वे यह कह रहे हैं कि घर की इज्जत का सवाल है, प्रतिष्ठा का सवाल है, वंश का सवाल है। वे उसको अहंकार सिखा रहे हैं। वे कह रहे हैं कि समझना कि किसका बेटा है। वे उसको झूठ सिखा रहे हैं। वह लड़का अब दम्भ से आचरण करेगा। वह अच्छा भी होगा, तो अच्छे के पीछे भी वासना यही होगी कि आदर हो, सम्मान मिले--रिस्पेक्टिबिलिटि।

दम्भाचरण है--आदर की तलाश। लेकिन हमने सारा आचरण आदर पर खड़ा कर रखा है। हम एक दूसरे को यही समझा रहे हैं, सिखा रहे हैं; सारी शिक्षा, सारा संस्कार--कि अगर गिरे, तो बेइज्जती होगी। और बेइज्जती से आदमी डरता है, इसलिए बुरा नहीं होता।

आपको असलियत का तो तब पता चले, जब आप लोगों से कह दें कि कोई फिक्र नहीं, बुरे हो जाओ, बेइज्जती नहीं होगी। और अगर हम ऐसा एक समाज बना लें, जिसमें बुरे होने से बेइज्जती न होती हो, तब आपको पता चलेगा कि कितने आदमी अच्छे हैं। अभी तो बुराई से बेइज्जती मिलती है, अहंकार को चोट लगती है, तो आदमी अच्छा होने की कोशिश करता है।

अच्छे होने की आकांक्षा में भी अच्छे होने का खयाल नहीं है। अच्छे होने की आकांक्षा में अहंकार का पोषण है।

कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानी के लक्षणों में एक है--दम्भाचरण का अभाव। वह

आचरण सहज करेगा; जो ठीक लगता है, वही करेगा। जो आनन्दपूर्ण है, वही करेगा। सिर्फ इसलिए कुछ नहीं करेगा कि लोग क्या कहेंगे। लोग अच्छा कहेंगे या बुरा कहेंगे—यह उसकी विचारधारा न होगी।

हम तो हर समय यही सोचते हैं कि लोग क्या कहेंगे। लोगों की हमारी फिक्र इतनी ज्यादा है कि अगर मैं आपको कह दूँ कि कल सुबह आप मरनेवाले हैं, तो जो आपको पहले खयाल आयेगा, वह यह है कि मरघट मुझे कौन लोग पहुँचाने जाएँगे। फलाँ आदमी जाएगा कि नहीं? मिनिस्टर जाएगा कि नहीं? गव्हर्नर जाएगा कि नहीं? मरने के बाद अखबार में मेरी खबर छपेगी कि नहीं? लोग क्या कहेंगे?

बहुत लोगों के मन में यह इच्छा होती है कि मरने के बाद लोग मेरे सम्बन्ध में क्या कहेंगे, उसका कुछ पता चले। इस तरह की, लोगों ने कोशिश भी की है।

एक आदमी—राबर्ट रिप्ले ने अपने मरने की खबर उड़ा दी—सिर्फ इसलिए कि अखबारों में पता चल जाय, और कौन-कौन क्या क्या कहता है, उसे मैं एक दफा पढ़ तो लूँ। वह मरने के ही करीब था, डॉक्टरों ने कहा था कि अब बस, चौबीस घन्टे, छत्तीस घन्टे से ज्यादा नहीं बच सकते हो। तो उसने अपने सेक्रेटरी को बुलाया और कहा कि 'तू एक काम कर। तू खबर कर दे कि मैं मर गया। मैं अपनी खबर अखबारों में पढ़ लेना चाहता हूँ कि मेरे मरने के बाद लोग मेरे सम्बन्ध में क्या कहते हैं।'

दूसरे दिन उसने खबर पढ़ ली और अच्छी-अच्छी बातें पढ़ लीं, उसके सम्बन्ध की। क्योंकि मरने के बाद लोग अच्छी बातें कहते ही हैं—शिष्टाचारवश। और शायद इसलिए भी कि जब हम मरेंगे, तो लोग खयाल रखेंगे। और तो कुछ खास बात...।

जब आप किसी आदमी के सम्बन्ध में सुनें कि सभी लोग अच्छी बातें कर रहें हैं, तो समझ लेना कि मर गया। नहीं तो जिन्दा आदमी के बाबत सभी लोग अच्छी बात कर ही नहीं सकते। बड़ा कठिन है, बड़ा जटिल है।

अखबारों में अच्छी बातें सुन कर रिप्ले बहुत सन्तुष्ट हो गया और उसने कहा कि 'अब अखबार वालों को खबर कर दो की मेरी तस्वीर निकाल दें—मरने की खबर पढ़ते हुए। मैं मनुष्य-जाति के इतिहास का पहला आदमी हूँ, जिसने अपने मरने की खबर पढ़ी।' फिर उसने अखबारों में दूसरी खबर छपवाई।

निश्चित ही वह पहला आदमी है, जिसने अपने मरने की खबर पढ़ी और जिसने अपनी मृत्यु पर लोगों द्वारा दिये गये सन्देश पढ़े।

दूसरों की फिक्र इतनी है कि आदमी मरते क्षण में भी अपनी फिक्र नहीं करता। जिन्दगी की तो बात ही अलग है, मौत भी आ रही है, तो दूसरों की चिंता होती है। आप यह जो दूसरों की चिन्ता करके जीते हैं, तो आपका सारा आचरण दम्भ

आचरण होगा।

ज्ञानी सहज जीयेगा; उसके भीतर जो है, वैसा ही जीयेगा—परिणाम जो भी हो। दुःख मिले, तो दुःख झेलने को राजी रहेगा। सुख मिले, तो सुख झेलने को राजी रहेगा। समभाव से जो भी परिणाम हो, उसको झेलेगा, लेकिन जीयेगा सहजता से। आपकी तरफ देखकर नहीं जीयेगा। वह किसी तरह का आरोपण, किसी तरह का मुखौटा, किसी तरह के वस्त्र आपकी नजर मे नहीं पहनेगा। उसे जो ठीक लगेगा, जो उसका आन्तरिक आनन्द होगा...।

'दम्भाचरण का अभाव, प्राणिमात्र को किसी प्रकार भी न सताना...।' वह भी ज्ञान का लक्षण है। क्यों? क्योंकि जितना ही हम किसी को सताते हैं, उतने ही हम सताये जाते हैं। यह कोई दूसरे पर दया करने के लिए नहीं है—ज्ञानी का लक्षण। यह सिर्फ ज्ञानी की बुद्धिमत्ता है, उसका सहज बोध है कि जब मैं किसी को सताता हूँ, तो मैं अपने सताने के लिए आयोजन कर रहा हूँ।

सिर्फ अज्ञानी ही दूसरे को सता सकता है, क्योंकि उसका मतलब है कि उसे पता हीं नहीं है कि 'मैं क्या कर रहा हूँ। अपने लिए ही काँटे बो रहा हूँ।' यह अज्ञानी ही कर सकता है।

ज्ञानी तो देखता है: जीवन के अन्तः सम्बन्धों को कि जो मैं करता हूँ, वही मुझ पर वापस लौट आता है। जगत् एक प्रतिध्वनि है। जो भी मैं बोलता हूँ, वही मुझ पर बरस जाता है। अगर मैं गाली फेंकता हूँ, तो गाली मेरे पास लौट आती है। और अगर मैं मुसकराहट फेंकता हूँ, तो हजार मुसकराहटें मेरी तरफ वापस लौट आती हैं। जगत् वही लौटा देता है, जो हम उसे देते हैं।

यह ज्ञानी का अनुभव है, यह कोई सिद्धान्त नहीं है। वह जानता है कि मैं दुःख दूँगा, तो लोगों को दुःख देने के लिए आमन्त्रित कर रहा हूँ।

आप किसी को दुःख दे कर देखें। सीधी-सी बात है कि जब आप किसी को दुःख देते हैं, तो आप उसको प्रेरित करते हैं कि वह आपको दुःख दे।

इसे आप ऐसा समझें कि जब कोई आपको दुःख देता है, तो आपके मन में क्या होता है? जब कोई आपको दुःख देता है, तो जो पहली बात आपके मन में बनती है, वह यह कि उसको कैसे दुगुना दुःख दें। यह सीधा-सा, सरल-सा नियम है। इसलिए ज्ञानी प्राणिमात्र को भी किसी प्रकार से नहीं सताना चाहता है।

'क्षमा भाव...।' क्षमा का अर्थ लोग समझते हैं कि दूसरे पर दया करना है। नहीं; वैसा अर्थ नहीं है। क्योंकि दया में भी अहंकार है। क्षमा बड़ी सूक्ष्म बात है।

क्षमा का अर्थ है: मनुष्य की कमजोरी को समझना और यह जानना कि मैं

खुद भी कमजोर हूँ, दूसरा भी कमजोर है । खुद की कमजोरी का अनुभव ज्ञानी को होता है, वह अपनी सीमाएँ जानने लगता है; अपनी सीमाएँ जानने के कारण वह प्रत्येक मनुष्य के प्रति क्षमावान हो जाता है, क्योंकि वह समझता है कि यह सबकी कमजोरी है ।

जो ज्ञानी आपकी कमजोरी के प्रति क्षमावान नहीं, समझना कि उसने अभी अपना आत्मविश्लेषण नहीं किया है ।

मैंने सुना है यहूदी फकीर बालशेम के पास एक युवक आया । उस युवक ने कहा कि 'मैं महापापी हूँ । कोई भी सुन्दर स्त्री मुझे रात को दीखती है, उसे भोगने का मन होता है । फिर मैं कुढ़ता हूँ, परेशान होता हूँ । कोई भी अच्छी चीज दिखाई पड़े, तो चोरी करने का मन होता है । कर न पाऊँ, यह दूसरी बात है, लेकिन मन तो हो जाता है । जरा-सा कोई मुझे दुःख पहुँचा दे, तो उसकी हत्या करने का मन होता है । मैं महापापी हूँ । तो मुझे कोई कठोर दण्ड दो ।'

बालशेम ने कहा कि 'तूने स्वीकार किया, उतना काफी है । बस, तू इसे स्मरण रखना कि जो तुझे होता है, ऐसा ही दूसरे को भी होता है । तो अगर तुझे पता चले कि आदमी फलाँ फलाँ की स्त्री के प्रति बुरी तरह से देख रहा था, तो तुम निन्दा से मत भर जाना । तू समझना कि मनुष्य कमजोर है, उसकी बुद्धि कमजोर है । तू क्षमा को जन्म देना ।'

पर उस युवक ने कहा कि 'नहीं, मुझे सजा दो, मुझे दण्ड दो'। बालशेम ने कहा कि 'अगर मैं तुझे दण्ड दूँ, तो तू भी दूसरे को दण्ड देना चाहेगा और क्षमा कभी पैदा न होगी । अगर मैं तुझे कहूँ कि तुझे इतना दण्ड देता हूँ, क्योंकि तूने दूसरे की स्त्री की तरफ बुरी नजर से देखा है, तो तू दण्ड झेल लेगा, लेकिन तेरा अहंकार मजबूत होगा और कल अगर किसी ने कहा कि फलाँ आदमी दूसरे की स्त्री की तरफ बुरी नजर से देख रहा है, तो तू चाहेगा कि इसको दण्ड दिया जाय । तू क्षमावान नहीं होगा । मैं तुझे यही दण्ड देता हूँ कि कोई दण्ड नहीं देता । सिर्फ तू इतना खयाल रखना कि जब दूसरे में कोई भूल देखे तो खयाल रखना कि वे सारी भूलें और भी बड़े रूप में तेरे भीतर मौजूद हैं । दूसरा क्षम्य है ।'

ज्ञानी विश्लेषण करता है अपना । उस विश्लेषण से ही सारी मनुष्यता से उसकी पहचान हो जाती है ।

ज्ञानी का यह अनिवार्य लक्षण है कि ज्ञानी निन्दा नहीं करेगा, दण्डित नहीं करेगा; वह यह नहीं कहेगा कि तुम महापापी हो और नरक में सड़ोगे । वह तुम्हारे ऊपर खड़े होकर तुम्हें नीचा दिखाने की कोशिश भी नहीं करेगा, क्योंकि उसने अपना विश्लेषण किया है, उसने अपनी स्थिति भी जानी है, अपनी स्थिति को जान

कर वह पूरी मनुष्यता की स्थिती से परिचित हो गया है ।

लेकिन उस युवक ने कहा कि 'नहीं, जब तक मुझे आप दण्ड नहीं देंगे, तब तक मैं जाऊँगा नहीं । मैं इतना बड़ा पापी हूँ . . .' तो बालशेम ने कहा कि 'तू कुछ भी पापी नहीं है । तुझसे बड़ा मैं रहा हूँ । तू कुछ भी नहीं है । तुझसे बड़ा मैं रहा हूँ । और मैं भी किसी दिन एक गुरु के पास गया था और दण्ड मैंने भी चाहा था ।'

अहंकार बड़ा सूक्ष्म है । बड़े दण्ड से भी प्रसन्न होता है । कोई दण्ड नहीं मिल रहा है, तो उसे लग रहा है कि मुझे समझा ही नहीं जा रहा है । समझ रहे हैं कि कोई छोटा-मोटा पापी ... । मैं बार-बार कह रहा हूँ कि मैं बड़ा पापी हूँ । मुझे कोई बड़ा दण्ड दो । बड़े दण्ड में भी मजा रहेगा । कोई छोटा-मोटा पापी नहीं हूँ; कोई आम पापी नहीं हूँ--चलता-फिरता, ऐरा-गैरा . . . । खास पापी हूँ ।

तो बालशेम ने कहा कि 'मैं भी किसी गुरु के पास गया था । मैंने भी कहा था कि मैं महापापी हूँ; मुझे बड़ा दण्ड दो । मेरे गुरु ने कहा था कि तुझे दण्ड नहीं दूँगा और याद रखना तू भी किसी को दण्ड मत देना, सिर्फ क्षमा का भाव देना ।'

कृष्ण कहते हैं : ज्ञानी का लक्षण है--क्षमा का भाव । वह जानता है कि आदमी कमजोर है । वह जानता है : आदमी मुश्किल में है । वह जानता है : आदमी बड़ी दुविधा में है । वह जानता है कि आदमी जैसा भी है, बड़ी जटिलता में है, इसलिए उसे दोषी क्या ठहराना ।

अगर आप कुछ भूल कर लेते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है । स्वाभाविक मालूम होता है । सच तो यह है कि अगर आप भूल नहीं करते हैं, तो बड़ा अस्वाभाविक मालूम होता है । आदमी इतना कमजोर है, इतनी शक्तियों का दबाव है, इतनी जटिलताएँ हैं, इतनी मुसीबतें हैं, उनके बीच में भी आदमी अपने को किसी तरह सम्हाले रखे है ।

कृष्ण कहते हैं : 'मन, वाणी की सरलता . . .' सरलता को थोड़ा खयाल में ले लेना चाहिए कि उसका क्या अर्थ होता है । सरलता का अर्थ होता है : सीधा-सीधा; सरलता का अर्थ होता है : बिना किसी योजना को बनाये--बिना किसी केलकुलेशन के--बिना किसी गणित के ।

छोटे बच्चे में सरलता होती है । अगर उसको क्रोध आ गया है, तो वह आग की तरह जल उठता है--भभक उठता है । उस क्षण ऐसा लगता है कि सारी दुनिया को नष्ट कर देने की उसकी मरजी है । और क्षण भर बाद वह फूल की तरह मुसकरा रहा है । और जिसको वह मारने को खड़ा हो गया था--नष्ट कर देने को, उसी के साथ खेल रहा है । जो भीतर था, उसने बाहर ले आया--जैसा था, वैसा ही

बाहर ले आया। उसने यह नहीं सोचा कि लोग क्या सोचेंगे। उसने यह नहीं सोचा कि दुनिया क्या कहेगी। उसने यह नहीं सोचा कि इससे नरक जाऊँगा या स्वर्ग जाऊँगा। उसने कुछ सोचा ही नहीं। जो भीतर था, उसे वह बाहर ले आया।

बच्चे में सरलता है, इसलिए बच्चा अभी रो रहा है, अभी मुसकरा सकता है। कई दफे बड़ों को बड़ी हैरानी होती है कि ये बच्चे भी किस तरह के हैं! अभी रो रहा था, अभी मुसकरा रहा है। बड़ा धोखेबाज मालूम पड़ता है, पाखण्डी मालूम पड़ता है। इतने जल्दी यह हो भी कैसे सकता है कि अभी यह रो रहा था, अभी मुसकरा रहा है! आप रोयें, तो दो-चार दिन लग जाएँगे मुसकराने में, क्योंकि वह रोना आप में सरकता ही रहेगा। पर आप कारण समझते हैं?

अभी एक मित्र आये; साल भर पहले पत्नी चल बसी। वे अभी तक नहीं हंस पाये हैं। साल भर हो गया है, वे रो ही रहे हैं। वे मुझसे बोले कि, 'आप किसी तरह मुझे रोने से छुटकारा दिलाइये।' मैंने कहा कि 'अगर मेरी आप समझते हों तो मेरा समझना ऐसा है कि आप ठीक से रोये नहीं, नहीं तो साल भर कैसे रोते! आप ऐसे ही कुनकुने-कुनकुने रो रहे हैं—ल्यूकवार्म। शकल लम्बी बनाये हुए हैं। दिल खोल कर नहीं रोये हैं। छाती पीटकर, नाच कर कूद कर जैसा करना हो—ठीक से रो ले। चौबीस घन्टे निकाल लें छुट्टी के और चौबीस घन्टे रो लें। चौबीस साल रोने की बजाय चौबीस घन्टे रो लें। फिर हँसी अपने आप आ जाएगी। रोना निकल जाय तो हँसी आ जाएगी।

छोटा बच्चा एक क्षण में रोता है, एक क्षण में हँसता है। उसका कारण यह नहीं है कि वह धोखा दे रहा है। उसका कारण यह नहीं है कि उसकी हँसी झूठी है। उसका कारण यह है कि उसका रोना इतना सच्चा था कि निकल गया; बात खतम हो गयी। अब वह हँस रहा है।

आपका रोना भी झूठा है और हँसना भी झूठा है—ऊपर से चिपकाया हुआ है। दोनों झूठे हैं। जिंदगी चल रही है झूठ में। दोनों तरफ झूठ के चक्के लगाये हुए हैं गाड़ी में। कहीं नहीं पहुँच रही है जिंदगी, तो कहते हैं, 'कहीं पहुँचती नहीं। प्रयोजन क्या है? लक्ष्य नहीं मिलता।' लक्ष्य मिलेगा क्या? दोनों चक्के झूठे हैं। वे दिखायी पड़ते हैं, पेन्टेड हैं। चक्के नहीं हैं।

सरलता का अर्थ है: जैसा भीतर हो, वैसा ही बाहर प्रगट कर देना। बड़ी कठिनाई होगी। आप कहेंगे, आप उपद्रव की बात कह रहे हैं। उपद्रव की है, इसीलिए तो कम लोग सरल हो पाते हैं। जटिल आप इसीलिए तो हो जाते हैं, क्योंकि सरल होना मुश्किल है। अगर सरल होंगे, तो बहुत-सी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ेंगी; बहुत-सी अड़चनें झेलनी पड़ेंगी। इसीलिए आदमी उनसे बचने के लिये तो कठिन हो जाता

है, जटिल हो जाता है।

एक आदमी सुबह-सुबह मिलता है। मन में होता है कि इस दुष्ट की शकल कहाँ से दिखाई पड़ गयी! अब दिन भर खराब हुआ। और उससे आप नमस्कार करके कहते हैं कि 'धन्यभाग कि आप दिखाई पड़ गये। बड़ी कृपा है। बड़े दिनों में दिखाई पड़े। बड़े दिन से बड़ी इच्छा थी।' और भीतर से कह रहे हैं कि 'यह दुष्ट कहाँ से सुबह दिखाई पड़ गया।' अब यह जो भीतर और बाहर हो रहा है, अगर आप सीधे ही कह दें कि 'महानुभाव, कहाँ से दिखाई पड़ गये आप सुबह से; दिन भर खराब हो गया।' तो आप कठिनाई में पड़ेंगे, क्योंकि यह आदमी झंझट डालेगा। यह आपको फिर ऐसे ही जाने नहीं देगा। फिर दिन तो दूर है, यह अभी आपको उपद्रव खड़ा कर देगा। यह शकल फिर दिन भर में करेगी, वह करेगी, वह अलग रही बात; लेकिन यह अभी कोई मुसीबत खड़ी कर देगा। तो आप ऊपर एक झूठा आवरण खड़ा कर लेते हैं।

जिंदगी की जरूरतें आपको झूठा बना देती हैं, लेकिन ज्ञानी के लिए, कृष्ण कहते हैं, कठिनाई भला हो, लेकिन वह मन-वाणी से सरल रहेगा। वह वैसी ही ही बात कह देगा, जैसी है। इसका यह मतलब नहीं है कि वह किसी को चोट पहुँचाना चाहता है। इसका यह भी मतलब नहीं है कि वह किसी को अपमानित करना चाहता है। इसका सिर्फ इतना मतलब है कि वह जैसा भीतर है, चाहता है लोग उसे बाहर भी वैसा ही जानें। फिर इस कारण जो भी कठिनाई झेलनी पड़े, वह झेल लेगा। लेकिन अपने को झूठ नहीं करेगा।

दो उपाय हैं: या तो बाहर की कठिनाई से बचने के लिए भीतर जटिल हो जायँ और या फिर बाहर की कठिनाई झेलने की तैयारी हो तो भीतर सरल हो जायँ।

संतत्व की सबसे बड़ी तपश्चर्या सरलता है। कोई धूप में खड़ा होना संतत्व नहीं है। और न कोई सिर के बल खड़े हो कर अभ्यास करे, तो कोई संत हो जाएगा। ये सब कवायतें हैं और इनका कोई बहुत बड़ा मूल्य नहीं है। संतत्व की असली संघर्ष की तपश्चर्या है—सरलता, क्योंकि तब आपको बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ेंगी।

बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ेंगी, क्योंकि चारों तरफ आपने झूठ का जाल बिछा रखा है। आपने ऐसे आश्वासन दे रखे हैं, जो आप पूरे नहीं कर सकते। आपने ऐसे वक्तव्य दे रखे हैं, जो असत्य हैं। आपने सबको धोखे में रख छोड़ा है और आपके चारों तरफ एक झूठी दुनिया खड़ी हो गयी है। सरलता का अर्थ है: यह दुनिया गिरेगी, खण्डहर हो जाएगा, क्योंकि आप अपनी पत्नी से यह कहते ही चले जा रहे हैं कि मैं तुझे प्रेम करता हूँ। वह मानती नहीं। वह रोज पूछती है कि प्रेम करते हैं? हजार ढंग से पूछती है कि आप मुझे प्रेम करते हैं? पति पत्नियाँ एक दूसरे से पूछते हैं

बार-बार, तरकीबें निकालते हैं पूछने की, कि आप मुझे अभी भी प्रेम करते हैं! क्योंकि भरोसा तो दोनों को नहीं आता है; आ भी नहीं सकता। क्योंकि दोनों धोखा दे रहे हैं। पत्नी भी जानती है कि जब मैं ही नहीं करती हूँ प्रेम, तो दूसरे का क्या भरोसा है। पति भी जानता है कि जब मैं ही नहीं करता हूँ प्रेम, तो पत्नी का क्या भरोसा है, इसलिए दोनों छिपी नजरों से जाँच करते रहते हैं कि प्रेम है भी या नहीं। और एक दूसरे से पूछते रहते हैं। और वे एक दूसरे से पूछते हैं, तो गले लग कर एक दूसरों को आश्वासन देते हैं कि 'अरे, तेरे सिवाय जन्मों-जन्मों में न किसी को किया है, न कभी करूँगा।' जन्मों-जन्मों की बात कर रहे हैं और भीतर सोच रहे हैं कि इसी जन्म में अगर छुटकारा हो सके...। वह भीतर चल रहा है।

संतत्व की सबसे बड़ी तपश्चर्या है--सरल हो जाना। शुरू में बहुत कठिनाई होगी, लेकिन कठिनाई शुरू में ही होगी। थोड़े ही दिन में कठिनाइयाँ शांत हो जाएँगी। और थोड़े दिन में आप पायेंगे कि कठिनाइयों से ऊपर उठ गये। और जब आप सरल हो जाएँगे, तो लोग आपकी बात का बुरा भी न मानेंगे। शुरू में तो बुरा मानेंगे, क्योंकि आप एकदम बदलेंगे और लगेगा कि यह क्या हो गया : यह आदमी कल तक क्या था, आज क्या हो गया! एकदम पतन हो गया इस आदमी का। कल तो कहता था प्रेम और आज कहता है : एक क्षण-- प्रेम का मुझे कोई पता ही नहीं है। मैंने कभी तुझे प्रेम किया नहीं है।

शुरू में कठिनाई होगी, लेकिन जैसे-जैसे सरलता बढ़ती जाएगी, प्रगट होने लगेगी, वैसे-वैसे कठिनाई विदा हो जाएगी।

और एक मजा है : सरलता में झेली गयी कठिनाई भी सुख देती है और जटिलता में आया सुख भी दुःख ही हो जाता है, क्योंकि हम भीतर इतनी गाठों से भर जाते हैं कि सुख हममें प्रवेश ही नहीं कर सकता। हम भीतर इतने अशान्त हो जाते हैं कि अब कोई शान्ति की किरण हममें प्रवेश नहीं कर सकती।

कृष्ण कहते हैं, 'मन वाणी की सरलता; श्रद्धा-भक्ति-सहित गुरु की सेवा--उपासना।' इतनी क्यों बातें जोड़नी--'श्रद्धा, भक्ति सहित गुरु की सेवा--उपासना।' क्या जरूरत है इतनी बातें जोड़ने की--गुरु की उपासना में? कारण है।

किसी को भी गुरु स्वीकार करना मनुष्य के लिए अति कठिन है। जगत् में कठिनतम बातों में एक यह बात है कि किसी को गुरु स्वीकार करना। क्योंकि गुरु स्वीकार करने का अर्थ होता है कि मैंने अपने को स्वीकार किया कि मैं अज्ञानी हूँ। गुरु को स्वीकार करने का अर्थ होता है : मैंने स्वीकारा कि मैं अज्ञानी हूँ। यह बड़ी कठिन बात है। हमारा मानना होता है कि हम तो ज्ञानी हैं ही। तो शिष्य बनना बहुत कठिन है। शायद सर्वाधिक कठिन बात कही जा सकती है--शिष्य बनना

--सीखने की तैयारी। अहंकार को छोड़ना पड़े पूरा।

और फिर किसी को गुरु स्वीकार करना, किसी को अपने से ऊपर स्वीकार करना, बड़ा कठिन है। मन तो यही कहता है कि मुझसे ऊपर कोई भी दुनिया में नहीं है। सभी मुझसे नीचे हैं। हर आदमी अपने को शिखर पर मानता है। यह सहज मन की दशा है।

तो किसी को अपने से ऊपर मानना बड़ा कठिन है। हम काम-चलाऊ ढंग से मान लेते हैं। इसलिए किसी को शिक्षक बनाना आसान है, गुरु बनाना कठिन है। और फर्क है गुरु और शिक्षक में। शिक्षक का मतलब है : यह काम-चलाऊ सम्बन्ध है। तुमसे हम सीख लेते हैं, उसके बदले में हम तुम्हें कुछ दे देते हैं। तुम्हारी फीस ले लो। हम तुम्हें धन दे देते हैं, तुम हमें ज्ञान दे दो; बात खतम हो गयी। यह गुरु का सम्बन्ध नहीं है।

शिक्षक का सम्बन्ध ऐसा है, जैसे रास्ते पर किसी आदमी से पूछा कि स्टेशन का रास्ता किधर जाता है। बस, इतनी बात है। उसने रास्ता बता दिया। आपने उसको धन्यवाद दे दिया और अपने रास्ते पर चले गये। कुछ लेना-देना नहीं है। शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध ऐसा है, उसमें काम-चलाऊ रिश्ता है; उपयोगिता का सम्बन्ध है।

गुरु और शिष्य का रिश्ता गैर-उपयोगिता का है और इसमें कोई काम-चलाऊ बात नहीं है। और इसीलिए गुरु को शिष्य कुछ भी तो नहीं दे सकता। प्रत्युत्तर में कुछ भी नहीं दे सकता; कोई धन नहीं दे सकता।

पुराने दिनों में तो व्यवस्था यह थी कि गुरु भोजन भी विद्यार्थी को देगा, आश्रम में रहने की जगह भी देगा। उसकी सब भाँति फिक्र करेगा, जैसे पिता अपने बेटे की फिक्र करे। ज्ञान भी देगा और बदले में कुछ भी नहीं लेगा।

आप कठिनाई में पड़ेंगे--उस आदमी के साथ, जो बदले में कुछ न ले। जो बदले में कुछ ले ले, उससे तो हमारा नाता-रिश्ता समानता का होगा। जो बदले में कुछ न ले, उससे हमारा नाता-रिश्ता समानता का कभी न हो पायेगा। वह ऊपर होता है, हम नीचे होते हैं।

तो इतने आग्रहपूर्वक कृष्ण कहते हैं : 'श्रद्धा-भक्ति-सहित गुरु की सेवा--उपासना।' श्रद्धा भक्ति की बहुत जरूरत पड़ेगी और इसका एक मनोवैज्ञानिक रूप भी समझ लेना जरूरी है।

मनस्विद् कहते हैं कि जिस व्यक्ति से भी हम कुछ लेते हैं और उसके उत्तर में नहीं दे पाते, उसके प्रति हमारे मन में दुश्मनी पैदा होती है, क्योंकि उस आदमी ने हमें किसी तरह नीचा दिखाया है।

एक मेरे मित्र हैं, बड़े धनपति हैं, बड़े दम्भी हैं, और बड़े भले आदमी हैं, और जब भी कोई मुसीबत में हो, तो उसकी सहायता करते हैं; कम से कम उनके रिश्तेदारों में तो कोई भी मुसीबत में हो, तो वे हर हालत में सहायता करते हैं। मित्र, परिचित कोई भी हो--वे उसकी सहायता करते हैं।

एक दिन मेरे पास आ कर वे कहने लगे कि मैंने जिंदगी में सिवाय दूसरों की सहायता के कुछ भी नहीं किया, लेकिन कोई भी मेरा उपकार नहीं मानता है! उलटे लोग मेरी निन्दा करते हैं। जिनकी मैं सहायता करता हूँ, वे ही निन्दा करते हैं। जिनको मैं पैसे से सब तरह की सुविधा पहुँचाता हूँ, वे ही मेरे दुश्मन बन जाते हैं। तो कारण क्या है? किस वजह से ऐसा हो रहा है?

तो मैंने उनसे कहा कि 'आप उनको भी कुछ उत्तर देने का मौका देते हैं कि नहीं?' तो उन्होंने कहा कि 'उसकी तो कोई जरूरत नहीं है। मेरे पास तो पैसा है, मैं उनकी सहायता कर देता हूँ।' 'तो फिर', मैंने कहा कि 'कठिनाई है; क्योंकि वे क्या करें। जब आप उनकी सहायता करते हैं, तो आपको लगता है कि आप बहुत अच्छा काम कर रहे हैं; लेकिन जिसकी सहायता की जाती है, वह आदमी तो अनुभव करता है कि उसका अपमान हुआ--ऐसा मौका आया कि किसी की सहायता लेनी पड़ी। और फिर लौटा तो सकता नहीं। आप किसी को लौटाने देते नहीं हैं, तो फिर वह आपका दुश्मन हो जाएगा। वह आपका उत्तर किसी न किसी तरह तो देगा।

'दो ही उपाय हैं: या तो आप उसकी कोई सहायता लें और उसको भी ऊपर होने का मौका दें। और नहीं तो फिर वह--आपकी सहायता झूठी थी, धोखे की थी, आप आदमी बुरे हैं--यह सब खबरें फैला कर अपने मन को सांत्वना दिलायेगा कि इतने बुरे आदमी से नीचे होने का सवाल ही नहीं; इस बुरे आदमी से तो मैं ही ऊपर हूँ। यह कन्सोलेशन, सांत्वना खोज रहा है।'

आदमी के मन की बड़ी जटिलता है।

गुरु से आप ज्ञान लेते हैं, लौटा तो कुछ भी नहीं सकते। क्योंकि ज्ञान कैसे लौटाया जा सकता है। उससे जो मिलता है, उसका कोई प्रत्युत्तर नहीं हो सकता। इस-लिए भारत में बड़े आग्रहपूर्वक यह कहा है कि श्रद्धा और भक्ति सहित...।

अगर बहुत ही प्रगाढ श्रद्धा हो, तो ही शिष्य गुरु के विरोध में जाने से बच सकेगा, नहीं तो दुष्मन हो जाएगा।

आज नहीं कल शिष्य के दुश्मन हो जाने की सम्भावना है। वह दुश्मन हो ही जाएगा। वह कोई न कोई बहाना, कोई न कोई कारण खोज कर वह शत्रुता में खड़ा हो जाएगा, तभी उसको राहत मिलेगी कि झंझट मिटी; उस आदमी के बोझ

से मुक्त हुआ।

इसलिए हमने बहुत खोजबीन करके श्रद्धा और भक्ति को अनिवार्य शर्त माना है शिष्य की, तभी शिष्य गुरु के साथ उसके मार्ग पर चल सकता है और दुश्मन होने से बच सकता है। नहीं तो गुरु का, शिष्य, दुश्मन हो ही जाएगा।

इसे हम ऐसा समझें कि बेटे बाप के दुश्मन हो जाते हैं। इसलिए हमने बाप के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव पैदा करने की कोशिश की है, नहीं तो बेटे बाप के दुश्मन हो ही जाएँगे। क्योंकि बाप से सब मिलता है; लौटाने का क्या है। पर बाप से जो मिलता है, वह लौटाया भी जा सकता है, क्योंकि बाह्य वस्तुएँ हैं। गुरु से जो मिलता है, वह तो लौटाया ही नहीं जा सकता है। वह तो ऐसी घटना है कि उसे लौटाने का सिर्फ एक ही उपाय है कि तुम किसी और को शिष्य बना देना। बस, यही उपाय है; और कोई उपाय नहीं है। जो तुमने गुरु से पाया है, वह तुम किसी और शिष्य को दे देना--यही उपाय है। गुरु तक लौटाने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए 'श्रद्धा भक्ति सहित गुरु की उपासना...।'

'बाहर भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह...।' इन सबके सम्बन्ध में मैंने काफी बात पीछे की है।

'लोक परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहंकार का भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बारम्बार दर्शन--ये सब ज्ञान के लक्षण हैं। आखिरी बात जिसकी अभी चर्चा नहीं हुई; इसकी हम बात कर लें। 'जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, दुःख इत्यादि में बारम्बार दोषों का दर्शन--ये सब ज्ञान के लक्षण हैं।'

जब आप पर कोई बीमारी आती है, कोई दुःख आता है, कोई असफलता घटित होती है, कोई संताप घेर लेता है, तब आप क्या करते हैं? तब आप तत्क्षण यही सोचते हैं कि किन्हीं दूसरे लोगों की शरारत, षड़यन्त्र के कारण आप कष्ट पा रहे हैं। तो यह अज्ञानी का लक्षण है।

ज्ञानी का लक्षण यह है कि जब भी वह दुःख पाता है, तब वह सोचता है कि जरूर मैंने कोई दोष किया है, मैंने कोई पाप किया है, मैंने कोई भूल की है, जिसका मैं फल भोग रहा हूँ।

ज्ञान का लक्षण यह है कि जब भी दुःख मिले तो अपने दोष की खोज करना। जरूर कहीं न कहीं मैंने बोया होगा, इसलिए मैं काट रहा हूँ।

अज्ञानी सदा दूसरे को दोषी ठहराता है, ज्ञानी सदा अपने को दोषी ठहराता है। और इसलिए अज्ञानी दोष से कभी मुक्त नहीं होता; ज्ञानी दोष से मुक्त हो जाता है। अगर मुझे यह प्रगाढ प्रतीति होने लगे...और होगी ही। अगर हर

दुःख में, हर पीड़ा में, हर रोग में, हर मृत्यु में मैं यही जानूंगा कि मेरी कोई भूल है, तो निश्चित ही आगे भूलों को करना मुश्किल हो जाएगा। जिन दोषों से इतना दुःख पैदा होता है, उनको करना असम्भव हो जाएगा। मेरा मन संस्कारित हो जाएगा। मुझे यह स्मरण गहरे में बैठ जाएगा--तीर की तरह चुभ जाएगा।

अगर सभी दुःख मेरे ही कारण से पैदा हुए हैं, तो फिर आगे मेरे दुःख पैदा होने मुश्किल हो जाएँगे, क्योंकि मैं अपने कारणों को हटाने लगूँगा। लेकिन अज्ञानी के लिए दुःख दूसरों के कारण से पैदा होता है, इसलिए उसके हाथ में कोई ताकत ही नहीं है, कुछ कर सकता नहीं। दूसरे जब बदलेंगे, सारी दुनिया जब बदलेगी, तब वह सुखी हो सकता है!

अज्ञानी सुखी होगा, जब सारी दुनिया बदल जाएगी और कोई गड़बड़ नहीं करेगा तब। ऐसा कभी होनेवाला नहीं है। ज्ञानी अभी सुखी हो सकता है, इसी क्षण सुखी हो सकता है, क्योंकि वह मानता है कि दुःख मेरे ही किसी दोष के कारण हैं।

मुसलमान फकीर इब्राहीम एक रास्ते से गुजरता था। उसके शिष्य उसके साथ थे। इब्राहीम के प्रति उनका बड़ा आदर, बड़ा भाव, बड़ा सम्मान था। वह आदमी भी वैसा पवित्र था। अचानक इब्राहीम के पैर में पत्थर की चोट लगी और वह जमीन पर गिर पड़ा। पैर लहूलुहान हो गये। शिष्य बहुत चकित हुए, शिष्य बहुत हैरान हुए। शिष्यों ने कहा कि 'यह किसी की शरारत मालूम पड़ती है। कल शाम को हम निकले थे, तब यह पत्थर यहाँ नहीं था। और सुबह आप यहाँ से निकलेंगे और मसजिद जाएँगे--सुबह के अँधेरे में; किसी ने यह पत्थर जान कर यहाँ रख दिया है। दुश्मन काम कर रहे हैं।'

इब्राहीम ने कहा, 'पागलों, फिजूल की बातों में मत पड़ो। रुको।' और इब्राहीम घुटने टेककर परमात्मा को धन्यवाद देने बैठ गया। प्रार्थना करने के बाद उसने कहा, 'हे परमात्मा, तेरी बड़ी कृपा है। पाप तो मैंने ऐसे किये हैं कि आज फांसी लगनी चाहिए; सिर्फ पत्थर की चोट से तूने मुझे छुड़ा दिया है। तेरी अनुकम्पा अपार है।'

ज्ञानी का लक्षण है कि जब भी कोई पीड़ा आये, तो वह खोजता है: कहीं अपनी कोई भूल, अपना कोई दोष, जिसके कारण यह दुःख आया है।

ये कृष्ण ने ज्ञान के लक्षण कहे हैं। इन लक्षणों को जो भी पूरा करने लगे, धीरे-धीरे ज्ञान के मंदिर की तरफ बढ़ने लगता है।

और मंदिर बहुत दूर नहीं है। जहाँ आप खड़े हैं, बहुत पास है। लेकिन जिस ढंग से आप खड़े हैं, बहुत दूर है, क्योंकि आप पीठ किये खड़े हैं। इन लक्षणों के

विपरीत आप सब कुछ कर रहे हैं। आपकी पीठ है मंदिर की तरफ, इसलिए अगर आप और गहन अंधकार में--और अज्ञान में--और दुःख में प्रवेश करते चले जाते हैं, तो कुछ आश्चर्य नहीं है।

पाँच मिनट रुकेंगे। कोई भी व्यक्ति बीच से न उठे। बीच से उठने में बाधा पड़ती है। पाँच मिनट कीर्तन में भाग लें, और फिर जायें।

चौथा प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, रात्रि, दिनांक ७ मई, १९७३

बेचैनी और साधना • प्रामाणिकता और नैतिकता
शिष्य बनना सीखो • समत्व और एकीभाव

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

तथा पुत्र, स्त्री और धनादि में आसक्ति का अभाव और ममता का न होना तथा प्रिय अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना अर्थात् मन के अनुकूल और प्रतिकूल के प्राप्त होने पर हर्ष-शोकादि विकारों का न होना ।

और मुझ परमेश्वर में एकीभाव से स्थितिरूप ध्यान-योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में अरति—प्रेम का न होना ।

तथा अध्यात्म-ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना—यह सब तो ज्ञान है । और जो इससे विपरीत है—वह अज्ञान है : ऐसे कहा जाता है ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है : 'मैं बहुत बेचैन हूँ और मेरे पास इतनी बेचैनी है कि सारी शक्ति इस बेचैनी में ही समाप्त हो जाती है । तो मैं इस बेचैनी का क्या उपयोग करूँ और इस बेचैनी का कारण क्या है ? '

मनुष्य का होना ही बेचैनी है—कम या ज्यादा—लेकिन ऐसा मनुष्य खोजना कठिन है, जो बेचैन न हो । मनुष्य बेचैन होगा ही ।

नीत्से ने कहा है कि मनुष्य ऐसे है, जैसे एक पुल है—दो किनारों पर टिका हुआ, बीच में अधर लटका हुआ । पीछे पशु का जगत् था, आगे परमात्मा का आयाम है और मनुष्य बीच में लटका हुआ है । वह पशु भी नहीं है और अभी परमात्मा भी नहीं हो गया है । पशु होने से थोड़ा ऊपर उठ आया है । लेकिन उसकी जड़ें पशुता में फैली हुई हैं, और किसी भी मूर्च्छा के क्षण में वह वापस पशु हो जाय । और आगे विराट् परमात्मा की सम्भावना है । उसमें दिव्यता के फूल खिल सकते हैं ।

भविष्य है; वह भविष्य भी खींचता है । अतीत खींचता है, क्योंकि अतीत में हमारा अनुभव है, हमारी जड़ें हैं । और भविष्य भी खींचता है, क्योंकि भविष्य में हमारी सम्भावना और हमारी आशा है । और मनुष्य भविष्य और अतीत के बीच में एक तनाव है ।

कोई जानवर इतना बेचैन नहीं है, जितना मनुष्य । पशुओं की आँखों में झांकें; कोई बेचैनी नहीं है, कोई अशान्ति नहीं है । पशु अपने होने से राजी है । कुत्ता, कुत्ता है । बिल्ली, बिल्ली है । शेर, शेर है । और आप किसी शेर से यह नहीं कह सकते हैं कि तू कुछ कम शेर है या किसी कुत्ते से भी नहीं कह सकते कि तू कुछ कम कुत्ता है । लेकिन आदमी से आप कह सकते हैं कि तू कुछ कम आदमी है । सभी आदमी बराबर आदमी नहीं हैं, लेकिन सभी कुत्ते बराबर कुत्ते हैं । कुत्ता जन्म से ही कुत्ता है । आदमी जन्म से केवल एक बीज है । हो भी सकता है, ना भी हो ।

आदमी को छोड़ कर सभी पशु पूरे के पूरे पैदा होते हैं; आदमी अधूरा है। उस अधूरे में बेचैनी है। और पूरे होने के दो रास्ते हैं। या तो आदमी नीचे गिर कर पशु हो जाय, तो थोड़ी राहत मिलती है। क्रोध में आपको जो राहत मिलती है, हिंसा में जो राहत मिलती है, सम्भोग में जो राहत मिलती है, शराब में जो राहत मिलती है, वह नीचे पशु हो जाने की राहत है। आप वापस गिरते हैं। यह खयाल छोड़ देते हैं कि कुछ होना है। आप राजी हो जाते हैं; नीचे गिरते हैं। लेकिन वह राहत बहुत थोड़ी देर ही टिक सकती है। वह राहत इसलिए थोड़ी देर ही टिक सकती है, क्योंकि पीछे गिरने का प्रकृति में कोई उपाय नहीं है। कोई बूढ़ा बच्चा नहीं हो सकता है वापस। थोड़ी देर को अपने को भुला सकता है; बच्चों के खिलौने में भी डूब सकता है। थोड़ी देर को गुड्डा गुड्डी का विवाह भी रचा सकता है, और थोड़ी देर को शायद भूल ही जाय कि मैं बूढ़ा हूँ, लेकिन यह भूलना ही है। कोई बूढ़ा वापस बच्चा नहीं हो सकता है।

और यह भूलना कितनी देर चलेगा? यह विस्मरण कितनी देर चलेगा? यह थोड़ी देर में टूट जाएगा। असलियत ज्यादा देर तक नहीं भुलाई जा सकती। और जैसे ही यह टूटेगा, बूढ़ा वापस बूढ़ा हो जाएगा।

आदमी पशु हो सकता है। आप क्रोध में थोड़ी देर मजा ले सकते हैं, लेकिन कितनी देर? और जैसे ही क्रोध के बाहर आयेंगे, पश्चात्ताप शुरू हो जाएगा। आप शराब पी कर थोड़ी देर को भूल सकते हैं, लेकिन कितनी देर? शराब के बाहर आयेंगे और पश्चात्ताप शुरू हो जाएगा।

जितनी भी मूर्च्छा की विधियाँ हैं, वे पशु होने के मार्ग हैं। आदमी—आदमी जैसा है, वैसा रहे, तो बेचैन है। या तो पीछे गिरे, तो चैन मिलता है। लेकिन चैन क्षण भर का ही होता है। जिनको हम सुख कहते हैं, वे पशुता के सुख हैं। और इसलिए सुख क्षणभंगुर होता है, क्योंकि हम पशु सदा के लिए नहीं हो सकते। पीछे लौटने का कोई उपाय नहीं है। आगे जाने का ही एक मात्र उपाय है।

और दूसरा उपाय है—आदमी बेचैनी के बाहर हो जाय—कि वह परमात्मा के साथ अपने को एक होना जान ले; उसके भीतर जो छिपा है, वह पूरा प्रगट हो जाय। मनुष्य अपना भविष्य बन जाय, वह जो हो सकता है, वह हो जाय, तो वैसी ही शांति आ जाएगी, जैसी गाय की आँख में दिखाई पड़ती है। इसलिए सन्तों की आँखों में अकसर पशुओं जैसी सरलता वापस लौट आती है। लेकिन वह पशुओं जैसी है, पाशविक नहीं है।

पशु भी शान्त है, इसलिए शान्त है कि अभी उसे बेचैनी का बोध ही नहीं हुआ, अभी विकास का खयाल पैदा नहीं हुआ, अभी आगे बढ़ने की आकांक्षा पैदा नहीं हुई। अभी आकाश को छूने और स्वतंत्रता की तरफ उड़ने के पंख नहीं लगे।

अभी स्वप्न नहीं पैदा हुआ सत्य का। वह सोया हुआ है।

जैसा सोया हुआ आदमी शान्त होता है, ऐसा पशु भी शान्त है। संत भी शान्त हो जाता है। लेकिन स्वप्न पूरा हो गया है, इसलिए। सत्य पा लिया है, इसलिए। संत पूरा हो गया है। अब वह अधूरा नहीं है। अधूरे में बेचैनी रहेगी।

तो आप अकेले बेचैन हैं, ऐसा नहीं है। मनुष्य ही बेचैन है। और इस बेचैनी का, पूछा है, क्या उपयोग करें? इस बेचैनी का उपयोग करें, वह जो भविष्य है उसको पाने के लिए; वह जो आप हो सकते हैं, वह होने के लिए। इस बेचैनी में मत उलझे रहें। और इस बेचैनी को ढोते मत रहें। इसका उपयोग कर लें।

हम भी बेचैनी का उपयोग करते हैं, लेकिन हम उपयोग दो ढंग से करते हैं। दोनों ढंग से खतरा होता है। या तो हम बेचैनी का उपयोग करते हैं—बेचैनी को निकाल लेने में। क्रोध में, हिंसा में, घृणा में, ईर्ष्या में, प्रतिस्पर्धा में, संघर्ष में हम बेचैनी को निकालने का उपयोग करते हैं। उससे बेचैनी समाप्त नहीं होती, क्योंकि बेचैनी का वह कारण नहीं है।

जब तक आपके भीतर की मूर्ति नहीं निखरती, और जब तक आपके भीतर का स्वभाव प्रगट नहीं होता, और जब तक आप में छिपा हुआ बीज फूल नहीं बनता, तब तक आपकी बेचैनी दूर नहीं होगी। हाँ, थोड़ी देर को आप किसी पर बेचैनी उलीच सकते हैं। उस उलीचने में राहत मिलेगी। लेकिन आप अपनी शक्ति को व्यर्थ खो रहे हैं। जिस शक्ति से बड़ी यात्रा हो सकती थी, उससे आप केवल लोगों को, और स्वयं को, दुःख दे रहे हैं। एक तो हम यह उपयोग करते हैं।

दूसरा हम यह उपयोग करते हैं कि जब हम बेचैनी को नहीं निकाल पाते हैं और बेचैनी को नहीं फेंक पाते, तो फिर हम बेचैनी को भुलाने के प्रयोग करते हैं। तो कोई शराब पी लेता है, कोई सिनेमा घर में जा के बैठ जाता है। कोई संगीत सुनने लगता है। हम कोशिश करते हैं कि यह जो भीतर चलता हुआ तूफान है, यह भूल जाय, यह याद न रहे। यह भी समय और शक्ति का अपव्यय है।

एक तीसरा और ठीक मार्ग है और वह यह है कि इस बेचैनी को समझें, और इस बेचैनी को साधना में रूपान्तरित करें। यह बेचैनी साधना बन सकती है, इसे भुलाने की कोई जरूरत नहीं है। और न इसे रुग्ण और हिंसा के मार्ग पर प्रेरित करने की जरूरत है।

इस बेचैनी का आध्यात्मिक उपयोग हो सकता है। यह बेचैनी सीढ़ी बन सकती है। यह बेचैनी शक्ति है; यह उबलता हुआ ऊर्जा का प्रवाह है। इस प्रवाह को आप ऊपर की तरफ ले जा सकते हैं। छोटे से प्रयोग करें।

आप को खयाल नहीं होगा; आपको क्रोध आ जाय, तो आप सोचते हैं, एक

ही रास्ता है : क्रोध को प्रगट करो। या एक रास्ता है कि दबा लो और पी जाओ। लेकिन पी लिया गया क्रोध आगे-पीछे प्रगट होगा। पी लिया गया क्रोध पीया नहीं जा सकता, वह जहर उबलता ही रहेगा, और कहीं न कहीं निकलेगा। और तब खतरे ज्यादा हैं। वह उन लोगों पर निकलेगा, जिनसे उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। और कहीं न कहीं उसकी छाया पड़ेगी, और जीवन को नुकसान पहुँचेगा।

माइकलेन्जलो ने लिखा है कि जब भी मुझे क्रोध पकड़ लेता है, तब मैं छैनी उठा के अपनी मूर्ति को बनाने में लग जाता हूँ; पत्थर तोड़ने लगता हूँ। और लिखा है माइकलेन्जलो ने कि मैं हैरान हो जाता हूँ कि पाँच-सात मिनट पत्थर तोड़ने के बाद मैं पाता हूँ कि मैं हलका हो गया; क्रोध तिरोहित हो गया। किसी आदमी को तोड़ने की जरूरत न रही।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जब आपको क्रोध आये, तब छोटे से प्रयोग करो। आप हैरान होंगे, कि क्रोध नई यात्रा पर निकल सकता है। माइकलेन्जलो मूर्ति बना लेता है क्रोध से। सृजनात्मक हो जाता है क्रोध।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि आपको क्रोध आये, तो आप इतना ही करें कि जोर मुट्ठी बाँधें पाँच बार, और खोलें। आपका क्रोध तिरोहित हो जाएगा। आप कहेंगे कि यह इतना आसान नहीं है। लेकिन आप कर के देखें। जितनी जोर से मुट्ठी बाँध सकते हों, पूरी ताकत लगा दें, और खोलें। फिर बाँधे और खोलें। और फिर लौट कर अपने भीतर देखें कि क्रोध कहाँ है। आप हैरान होंगे कि क्रोध हलका हो गया। या खो ही गया या समाप्त ही हो गया।

जापान में वे सिखाते हैं बच्चों को कि जब भी क्रोध आये, तब तुम गहरी साँस लो और छोड़ो। आप एक पन्द्रह-बीस गहरी साँस लेंगे और छोड़ेंगे, और आप पायगे कि क्रोध विलीन हो गया। न तो उसे दबाना पड़ा है, और न किसी पर प्रगट करना पड़ा है। और बीस गहरी श्वास स्वास्थ्य के लिए लाभपूर्ण है। क्रोध सृजनात्मक हो गया।

जो बँधे हुए रास्ते हैं, वे ही आखिरी रास्ते नहीं हैं। अभ्यासी, जीवन की समस्त बेचैनी का नया प्रयोग करता सीखता है। जैसे जब आपको क्रोध आये, तो आप आँख बन्द कर लें और क्रोध पर ध्यान करें। मुट्ठी बाँध के भी शक्ति व्यर्थ गई। श्वास लेंगे, तो थोड़ा-सा उपयोग होगा—स्वास्थ्य के लिए। मूर्ति बनाएँगे, तो थोड़ा-सा सृजनात्मक काम होगा।

लेकिन क्रोध जब आये, तब आँख बन्द कर के क्रोध पर ध्यान करें। कुछ भी न करें, सिर्फ क्रोध को देखें कि क्रोध क्या है। क्रोध का दर्शन करें। साक्षी बन कर बैठ जायें, जैसे कोई और क्रोध में है और आप देख रहे हैं। और अपनी क्रोध से भरी

प्रतिमा को पूरा का पूरा निरीक्षण करें। थोड़े ही निरीक्षण में आप पाएँगे कि क्रोध समाप्त हो गया, क्रोध विलीन हो गया। जैसा मुट्ठी बाँधने से विलीन होता है, पत्थर तोड़ने से विलीन होता है, वैसा निरीक्षण से भी विलीन होता है।

निरीक्षण से जब विलीन होता है क्रोध, तब क्रोध में जो शक्ति छिपी थी, वह आपकी अन्तर आत्मा का हिस्सा हो जाती है। जब मुट्ठी से आप क्रोध को विलीन करते हैं, तो शक्ति बाहर चली जाती है। जब पत्थर आप तोड़ते हैं, तो भी बाहर चली जाती है, लेकिन जब आप सिर्फ शुद्ध निरीक्षण करते हैं, सिर्फ एक विटनेस हो कर भीतर रह जाते हैं—कि क्रोध उठा है, मैं उसे देखूंगा, मैं कुछ भी न करूँगा; इस क्रोध के पक्ष में, विपक्ष में कुछ भी न करूँगा, सिर्फ देखूंगा। यह भी न कहूँगा कि क्रोध बुरा है। यह भी न कहूँगा कि क्रोध नहीं करना चाहिए। यह भी न कहूँगा कि मुझे क्रोध क्यों होता है। मैं सिर्फ देखूंगा। जैसे आकाश में एक बादल जा रहा हो, ऐसे भीतर क्रोध के बादल को देखूंगा। जैसे रास्ते से कोई गुजर रहा हो ऐसे भीतर से गुजरते क्रोध को देखूंगा। सिर्फ देखूंगा—कुछ करूँगा नहीं। और आप चकित हो जाएँगे। कुछ ही क्षणों में, देखते ही देखते, क्रोध शान्त हो गया। और वह जो क्रोध की शक्ति थी, वह आपको भीतर उपलब्ध हो गई।

ज्ञानी जीवन की समस्त बेचैनी को, निरीक्षण और साक्षी के द्वारा अन्तर्यात्रा के उपयोग में ले आता है। वह फ्यूल बन जाती है, वह ईंधन बन जाती है। और इसलिए कई बार ऐसा हुआ है कि महाक्रोधी क्षण भर में आध्यात्मिक हो गए हैं।

हमने वाल्मीकि की कथा सुनी है। ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं। और हमें हैरानी होती है कि इतने क्रोधी, हिंसक, हत्यारे तरह के व्यक्ति कैसे क्षण भर में आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर गए? राज—उसका रहस्य यही है।

असल में अगर आपके पास क्रोध की शक्ति भी नहीं है, तो आपके पास ईंधन ही नहीं है, आप उपयोग क्या करिएगा? इसलिए साधारण क्रोधी आध्यात्मिक नहीं हो पाता। खयाल करना।

साधारण काम-वासना से भरा व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं हो पाता। साधारण दुष्टता से भरा व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं हो पाता। उसके पास जो कुछ भी है, उसमें वह कुनकुना ही हो सकता है। उबल नहीं सकता। उसके पास शक्ति क्षीण है।

इसलिए आप घबड़ाना मत। बेचैनी ज्यादा है—सौभाग्य है। काम-वासना प्रगाढ़ है—सौभाग्य है। अगर क्रोध भयंकर है—बड़ी परमात्मा की कृपा है। इसका अर्थ है कि आपके पास ईंधन है। अब यह दूसरी बात है कि ईंधन से आप यात्रा करेंगे, या कि घर चला लेंगे। इसमें जल मरेंगे, या इस ऊर्जा का उपयोग कर के यात्रा पर निकल जाएँगे। यह आपके हाथ में है।

परमात्मा ने जो भी दिया है, वह सभी उपयोगी है। चाहे कितना ही विकृत दिखाई पड़ता हो, और चाहे कितना ही खतरनाक और पापपूर्ण मालूम पड़ता हो, जो भी मनुष्य को मिला है, उस सबकी उपयोगिता है। और अगर उपयोग आप न कर पाएँ तो आपके अतिरिक्त और कोई जिम्मेवार नहीं है।

कुछ लोग हैं, जिनको अगर खाद दे दिया जाय, तो घर में ढेर लगा के गंदगी भर लेंगे। उनका घर दुर्गंध से भर जाएगा। और कुछ लोग हैं, जो उस खाद को बगीचे में डाल लेंगे, और उसी खाद से फूल निकल आयेंगे, और उनका घर सुगन्ध से भर जाएगा। जो खाद को ही सम्हालकर बैठ जाएँगे, वे भगवान् को गाली देंगे : हम पर यह किस भाँति का अभिशाप है कि यह खाद हमारे ऊपर डाल दिया है!

जो जानते हैं, वे खाद से फूल निर्मित कर लेते हैं। फूलों की जो सुगन्ध है, वह खाद की ही दुर्गन्ध है। फूलों में जो रंग है, वह खाद का ही है; वह सब खाद ही रूपान्तरित हुआ है।

मनुष्य के पास क्रोध, घृणा, हिंसा—खाद हैं; अध्यात्म का फूल खिल सकता है। थोड़े से साक्षी को जगाने की कोशिश करो। साक्षी भाव, माली बन जाय।

तो बेचैनी से घबड़ाएँ मत, अशान्ति से घबड़ाएँ मत। भीतर पागलपन उबलता हो, भयभीत न हों। उसका उपयोग करें। उसके साक्षी होना शुरू हो जायँ। और जब भी कोई चीज भीतर पकड़े, तो उसको अवसर समझें, कि वह ध्यान का एक मौका है, उस पर ध्यान करें।

लेकिन हम उलटा करते हैं। जब क्रोध आ जाय, तो हम राम राम जपते हैं। हम सोचते हैं : हम ध्यान कर रहे हैं। राम राम जपना तो सिर्फ ड्रायव्हर्सन है। क्रोध उबल रहा है और आप अपने मन को कहीं और लगा रहे हैं, ताकि क्रोध में न उलझना पड़े। यह तो इस तरह राम राम जप के आप सिर्फ अपने को थोड़ी देर के लिए बचा रहे हैं, मस्तिष्क को हटा रहे हैं। लेकिन क्रोध वहाँ पड़ा है, वह बदलेगा नहीं। आपके हटने से नहीं बदलेगा; आपके जम जाने से और देखने से बदलेगा। आप पीठ कर लेंगे, तो क्रोध और घाव बना देगा भीतर, और जड़ें जमा लेगा।

आप अपनी दोनों आँखें क्रोध पर गड़ा दें। और यही क्षण है कि आप होशपूर्वक क्रोध को देख लें। काम-वासना मन को पकड़े, तो भागें मत। घबड़ाये मत। राम राम मत जपें। काम-वासना को सीधा देखें।

सीधा साक्षात्कार जरूरी है—वासनाओं का। लेकिन आदमी को भागना सिखाया गया है। तो कहा गया है : जहाँ भी कुछ बुरा दिखाई पड़े, भाग खड़े होओ। लेकिन भागोगे कहाँ? बुरा तुम्हारे भीतर है, वह तुम्हारे साथ चला जाएगा।

अपने से भागने का कोई भी रास्ता नहीं है। अगर बुराई कहीं बाहर होती तो

हम भाग भी जाते। वह हमारे भीतर खड़ी है, उसको बदलना पड़ेगा। इस 'खाद' का उपयोग करना पड़ेगा। और इसका उपयोग करना बहुत कठिन नहीं है।

कठिनाई सिर्फ दो है। एक, कि हम पहले से ही दुर्भाव बनाए बैठे हैं। जो आदमी खाद का दुश्मन बना बैठा है, वह खाद का उपयोग न कर पाएगा। हम पहले से ही माने बैठे हैं : क्रोध बुरा है, घृणा बुरी है, सब बुरा है, और उस सबसे हम भरे हैं। बुरे की जो धारणा है, वह देखने नहीं देती।

बुरे की जो धारणा है, वह निष्पक्ष विचार नहीं करने देती। बुरे की जो धारणा है, वह समझने के पहले ही भागने और छोड़ने में लगा देती है।

एक तो धारणाएँ छोड़ें। निरधारणापूर्वक देखना शुरू करें। तथ्य उन्हीं के सामने प्रगट होते हैं, जो बिना धारणा के उन्हें देखते हैं। जो धारणा से देखते हैं, वे तो अपनी ही धारणा को परिपुष्ट कर लेते हैं।

दूसरी बात, भागने की आदत छोड़ें, पूरी पृथ्वी पर हमें पलायन सिखाया गया है : भागो—बचो। भागने से कोई भी कभी जीत को उपलब्ध नहीं होता। तो क्रोध आ गया है, तो आप रेडिओ खोल लेते हैं। मन में काम-वासना उठी है, तो रामायण पढ़ने लगते हैं। घृणा मन में उठ गई है, हिंसा का भाव आता है, तो मन्दिर चले जाते हैं।

भागें मत। भागने से कुछ भी न होगा। वह जो छिपा है भीतर, वह मजबूत होता रहेगा। न तो उसे मन्दिर मिटा सकता है, न रामायण मिटा सकती है। कोई भी उसे मिटा नहीं सकता, सिवाय आपके साक्षात्कार के। कोई उसे मिटा नहीं सकता। आपको उसे आँख गड़ा के देखना ही पड़ेगा।

अपने भीतर जो है, उसका नग्न दर्शन जरूरी है। लेकिन भागने वाला दर्शन नहीं कर पाता। भागने वाला धीरे-धीरे कमजोर हो जाता है। और जितना ही भागता है, उतने ही शत्रु उसका पीछा करते हैं। क्योंकि वे शत्रु बाहर नहीं हैं। वे आपके साथ हैं, आपमें ही हैं। आपके हिस्से हैं।

दो बातें : एक तो पक्ष छोड़ें। पक्ष के साथ बड़ी कठिनाई है।

मैंने सुना है कि ऑक्सफोर्ड युनिव्हर्सिटी में एक फुटबाल मैच हो रहा है। और दो दल हैं : प्रोटेस्टेन्ट ईसाई उसका एक दल था; कैथोलिक ईसाई उनका एक दल था। हजारों लोग देखने इकट्ठे हुए थे। प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक दोनों, क्योंकि दोनों के दल थे। और मामला सिर्फ फुटबाल का नहीं, धर्म का हो गया था। जो जीतेगा...। फुटबाल का ही सवाल नहीं है कि फुटबाल में जीत गया। अगर कैथोलिक पार्टी जीत गई, तो कैथोलिक धर्म जीत गया। और अगर प्रोटेस्टेन्ट पार्टी जीत गई, तो प्रोटेस्टेन्ट धर्म जीत गया।

तो भारी कशमकश थी, और भारी उत्तेजना थी, और दोनों दलों के लोग दोनों

तरफ मौजूद थे, अपने-अपने दलों को प्रोत्साहन देने के लिए । और तब कैथोलिक दल ने बहुत अच्छा खेल लिया । विजय के करीब आते मालूम पड़े । एक आदमी उछल-उछल कर उनको प्रोत्साहन दे रहा था । वह इतनी खुशी में आ गया था कि अपनी टोपी भी उछाल रहा था । उसके पास के लोगों ने समझा कि यह कैथोलिक मालूम पड़ रहा है । फिर हवा बदली और प्रोटेस्टेन्ट दल तेजी से जीतता हुआ मालूम पड़ने लगा । लेकिन वह जो आदमी टोपी उछाल रहा था, वह अब भी टोपी उछालता रहा और नाचता रहा ।

तब आसपास के लोग जरा चिन्तित हुए । तो पड़ोसी ने पूछा कि 'माफ करें, आप कैथोलिक हैं या प्रोटेस्टेन्ट ? आप किसके पक्ष में नाच रहे हैं ? किसकी खुशी में नाच रहे हैं ? क्योंकि पहले जब कैथोलिक जीत रहे थे, तब भी आप टोपी उछाल रहे थे। तब भी बड़े आप आनन्दित हो रहे थे । और अब जब कि कैथोलिक हार रहे हैं, और प्रोटेस्टेन्ट जीत रहे हैं, तब भी आप बड़े आनन्दित हो रहे हैं । तो आप किसके पक्ष में आनन्दित हो रहे हैं ?' उस आदमी ने कहा, 'किसी के पक्ष में आनन्दित नहीं हो रहा हूँ । मैं तो खेल का आनन्द ले रहा हूँ ।' जिस आदमी ने पूछा था, उसने अपनी पत्नी से कहा, 'यह आदमी नास्तिक मालूम होता है ।'

'खेल का आनन्द ले रहा हूँ', उस आदमी ने कहा । बड़ी कीमत की बात कही । उसने कहा, 'मुझे पता नहीं, कौन जीत रहा है । लेकिन खेल इतना आनन्दपूर्ण हो रहा है कि मैं उसका आनन्द ले रहा हूँ । मैं किसी पक्ष में नहीं हूँ ।' उस आदमी को लगा कि यह नास्तिक होना चाहिए, क्योंकि जो कैथोलिक भी नहीं है और प्रोटेस्टेन्ट भी नहीं है....।

आप मन का थोड़ा आनन्द लेना सीखें । लेकिन आप पहले से ही या तो कैथोलिक हैं, या आप प्रोटेस्टेन्ट हैं । पहले से ही माने बैठे हैं और मन की शक्तियों का आनन्द नहीं ले पाते हैं । पहले से मान लिया है : क्रोध बुरा है, काम-वासना पाप है, लोभ बुरा है । यह बुरा है, वह वरा है; यह अच्छा है । सब माने बैठे हैं । पता आपको कुछ भी नहीं है । क्योंकि अगर आपको ही पता हो कि क्या बुरा है, तो बुरा फौरन बन्द हो जाय । अगर आपको ही पता हो कि क्या भला है, तो भला आपकी जिन्दगी में आ जाय । आपको कुछ पता नहीं है । सुना है; लोगों ने कहा है । हजारों-हजारों साल की हवा और संस्कार । तो बस, आप उनको मान के बैठे हैं। और उससे बड़ी अड़चन में पड़े हैं ।

क्रोध बुरा है, यह मालूम है, और क्रोध होता है । इसलिए अड़चन दोहरी हो गई है । क्रोध का दुःख तो भोगना ही पड़ता है; फिर क्रोध किया--इसका भी दुःख भोगना पड़ता है । यह दोहरे दुःख हो गए । क्रोध का दुःख ही काफी था आदमी को

परेशान करने के लिए । अब आप एक और दुश्मन खड़ा कर लिए कि क्रोध बुरा है । तो पहले क्रोध करें, उसका दुःख भोगें और फिर क्रोध किया, उसका दुःख भोगें। काम-वासना बुरी है, पहले काम-वासना का दुःख भोगें । फिर काम-वासना में उतरे --यह पाप किया, इसका दुःख भोगें । और इस तरह जीवन और जटिल हो गया है ।

काम-वासना क्या है ? क्रोध क्या है ? मन की सारी ऊर्जाएँ क्या हैं, इसका निष्पक्ष दर्शन सीखें । और आप बड़े आनन्दित होंगे । और उस आनन्द से ही आपके जीवन में बेचैनी बदलनी शुरू हो जाएगी; चैन निर्मित होने लगेगा ।

दूसरी बात : भागना बन्द कर दें । वैज्ञानिक कहते हैं कि दो ही उपाय हैं या तो भागो या लड़ो । जिन्दगी में यही है । अगर एक शेर आप पर हमला कर दे, तो दो ही उपाय हैं । या तो भागो या लड़ो । अगर लड़ सकते हो, तो ठीक । नहीं तो भाग खड़े होओ । दो ही उपाय हैं ।

दो ही उपाय हैं । बाहर की जिन्दगी में अगर संघर्ष की स्थिति आ जाय, तो दो ही विकल्प हैं : लड़ो या भागो । लेकिन भीतर की जिन्दगी में एक तीसरा विकल्प भी है--जागो । वह तीसरा विकल्प ही धर्म है ।

बाहर की जिन्दगी में तो कोई उपाय नहीं है । दो ही मार्ग हैं । अगर शेर हमला कर दे, तो क्या करिएगा ? या तो लड़िए या भागिए । दो में से कुछ चुनना ही पड़ेगा ।

लेकिन भीतर दो विकल्प की जगह तीन विकल्प हैं । या तो लड़ो, या भागो, या जागो । न लड़ो, और न भागो, सिर्फ खड़े हो कर जाग जाओ । जो भी हो रहा है, उसे देखो ।

जागते ही ऊर्जा रूपान्तरित होती है । और बेचैनी आनन्द की यात्रा पर निकल जाती है । वह नाव बन जाती है ।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि मन-वाणी की सरलता अर्थात् भीतर बाहर एक जैसा होना--धार्मिकता व ज्ञान का लक्षण आप ने कहा । यदि व्यक्ति भीतर जैसा है, वैसा ही व्यवहार बाहर भी करने लगे, तो वर्तमान समाज व नीति व्यवस्था में बड़ी अराजकता का आना अवश्यभावी दीखता है । इस अराजकता से बचने का क्या कोई मध्य मार्ग है ? क्या किसी नैतिक अनुशासन को आप जरूर नहीं मानते ?

पहली तो बात यह यह समझ लेनी चाहिए कि इसके पहले कि आप समाज के सम्बन्ध में सोचें, स्वयं के सम्बन्ध में सोचें । तत्क्षण लोग समाज के सम्बन्ध में सोचना शुरू कर देते हैं कि समाज में क्या होगा । पहली विचारणा तो यह है कि आप में क्या हो रहा है । दूसरी विचारणा समाज की हो सकती है ।

तो पहले तो यह ठीक से समझ लें कि जब तक जो आपके भीतर है, वह आप बाहर प्रगट नहीं करते, तो आप झूठे होते जाते हैं, आप झूठे हो गये हैं । एक कागज

की प्रतिमा हो गये हैं। असली आदमी भीतर दबा है। और झूठा आदमी ऊपर आपकी छाती पर चढ़ गया है। यह झूठा आपके लिए बोझ हो गया है। इस झूठ की पर्तें बढ़ती चली जाती है। और जितनी इस झूठ की पर्तें बढ़ती है, जिन्दगी उतनी बुरी, बेहूदी, निराश, उबानेवाली हो जाती है। क्योंकि केवल स्वभाव के साथ ही रस का सम्बन्ध हो सकता है। झूठ के साथ जीवन में कोई रस, कोई अर्थ नहीं होता।

तो पहले तो यह देखें कि आप भीतर जो हैं, उसे बाहर न ला के आप झूठे हो गये हैं। और आप ही झूठे नहीं हो गए हैं, सभी झूठे हो गए हैं।

और हमने एक समाज निर्मित किया है, जो झूठ का समाज है। जब व्यक्ति झूठा होगा, तो समाज भी झूठा होगा। और जब व्यक्ति का आधार ही झूठ होगा, तो समाज की सारी व्यवस्था झूठ हो जाएगी। फिर हम लाख उपाय करें कि समाज अच्छा हो जाय, वह अच्छा नहीं हो सकता। क्योंकि ईंट गलत है, तो मकान अच्छा नहीं हो सकता। इकाई गलत है, तो जोड़ अच्छा नहीं हो सकता।

तो पहले तो व्यक्ति को सहज, स्वाभाविक कर लेना जरूरी है। तो पहली तो बात यह खयाल रखें कि अगर समाज भी आप अच्छा चाहते हैं, तो उसके लिए सच्चा व्यक्ति जरूरी है। सच्चे व्यक्ति के बिना अच्छा समाज नहीं होगा। और अच्छाई अगर झूठ है, तो समाज ऊपर से कितना ही अच्छा दिखाई पड़े, भीतर सड़ता रहेगा। सड़ रहा है। सब अच्छी-अच्छी बातें ऊपर हैं। और सब बुरी-बुरी बातें नीचे बह रही हैं।

ऐसा लगता है कि बुरी बातें तो हमारी आत्मा हो गई हैं, और अच्छी बातें हमारे वस्त्र हो गई हैं। उन वस्त्रों से हम किसको धोखा दे रहे हैं? कोई उसके धोखे में नहीं आ रहा है, क्योंकि सभी वही धोखा कर रहे हैं?

दूसरी बात खयाल में ले लेनी जरूरी है कि समाज में अराजकता फैल सकती है, उसका कारण यह नहीं है कि सत्य से अराजकता फैलती है। उसका कारण यह है कि असत्य का अगर समाज हो तो सत्य से अराजकता फैलती है।

अगर सभी लोग झूठ बोलते हों, और कोई आदमी सच बोले, तो वहाँ अराजकता फैलेगी। जहाँ सभी लोग बेईमान हों, वहाँ कोई आदमी ईमानदार हो जाय, तो उससे अराजकता फैलेगी।

आपने वह कहानी सुनी होगी कि एक सम्राट नग्न रास्ते पर निकला, क्योंकि एक आदमी ने उसे भरोसा दिलवा दिया था कि वह देवताओं के वस्त्र पहने हुए है। एक धोखेबाज आदमी ने उससे लाखों रुपए के लिए, और उससे कहा कि 'मैं तुझे देवताओं के वस्त्र ला दूंगा।' और एक दिन देवताओं के वस्त्र ले कर आ गया। और उसने सम्राट से कहा कि 'आप अपने वस्त्र उतारते जायें, मैं देवताओं के वस्त्र

देता हूँ।' सम्राट ने अपनी टोपी निकाली। उसने पेटी में से अपना खाली हाथ बाहर निकाला। सम्राट ने देखा कि टोपी तो हाथ में नहीं है। उसने कहा, 'तुम्हारा हाथ तो खाली है!' उस आदमी ने सम्राट के कान में कहा कि 'मैं जब स्वर्ग से चलने लगा, तो देवताओं ने मुझे से कहा था कि ये वस्त्र केवल उसी को दिखाई पड़ेंगे, जो अपने ही बाप से पैदा हुआ हो।' उस सम्राट को तत्क्षण टोपी दिखाई पड़ने लगी। क्योंकि यह तो झंझट की बात हो गयी। उसने कहा, 'अहा, ऐसी सुन्दर टोपी तो मैंने कभी देखी नहीं।' और उसने टोपी सिर पर रख ली, जो थी ही नहीं।

लेकिन टोपी का ही मामला नहीं था। फिर उसके बाकी वस्त्र भी निकलते चले गए। दरबारी घबड़ाए; क्योंकि वह सम्राट नग्न हुआ जा रहा है। लेकिन जब आखिरी वस्त्र भी निकल गया, तब उस आदमी ने जोर से कहा, 'दरबारियों, अब तुम्हें मैं एक और खबर बताता हूँ। जब मैं चलने लगा, तो देवताओं ने कहा, कि यह वस्त्र उसी को दिखाई पड़ेंगे, जो अपने ही बाप से पैदा हुआ हो।'

सम्राट ने कहा 'कितने सुन्दर वस्त्र हैं।' दरबारी आगे बढ़ आये--एक दूसरे से--वस्त्रों की तारीफ करने में, कि कहीं कोई पीछे रह जाय, तो कहीं शक न हो जाय, कि यह कहीं किसी और से तो पैदा नहीं हुआ। एक दूसरे से बढ़-बढ़ कर तारीफ करने लगे।

जो थोड़े डर भी रहे थे, तारीफ करने में--क्योंकि राजा बिलकुल नग्न था--उन्होंने भी देखा कि जब इतने लोग तारीफ कर रहे हैं, तो गलती अपनी ही होगी। जब इतने लोग कह रहे हैं कि ऐसे वस्त्र कभी देखें नहीं--अद्भुत, अलौकिक--तब शक अपने पर ही हुआ आदमियों को, कि तो इसका मतलब यही है कि मेरी माँ मुझे धोखा दे गई! मैं अपने ही बाप का बेटा नहीं मालूम पड़ता। अब इसको बताने से क्या फायदा। वह भी आदमी आगे बढ़ कर तारीफ करने लगा।

यह हालत सभी की है। लेकिन उस बेईमान आदमी ने कहा कि देवताओं ने कहा है कि पहली दफा पृथ्वी पर ये वस्त्र जाते हैं, तो इनका जुलूस निकलना जरूरी है। रथ तैयार करवायें, राजधानी में जुलूस निकलेगा।

राजधानी में हवा की तरह खबर फैल गयी कि सम्राट को देवता के वस्त्र मिले हैं। लेकिन एक शर्त है। वे उसी को दिखाई पड़ते हैं, जो अपने ही बाप से पैदा हुए हैं।

लाखों लोग रास्तों के किनारे खड़े हैं। सभी को वस्त्र दिखाई पड़ते हैं। सिर्फ एक छोटा बच्चा, जो अपने बाप के कन्धे पर बैठा हुआ था, उसने अपने बाप के कान में कहा, 'लेकिन पिताजी, राजा नंगा है?' बाप ने कहा, 'चुप रह ना-समझ। अभी तेरी उमर नहीं है। जब तू बड़ा होगा तो अनुभव से तुझे भी वस्त्र दिखाई पड़ने लगेंगे।'

वह लड़का अराजकता फैला रहा है। सारे नगर को, सबको वस्त्र दिखाई पड़ रहे हैं। अगर सारा समाज झूठ को पकड़े हो, तो सत्य अराजकता लाता है। लेकिन ऐसी अराजकता स्वागत के योग्य है।

संन्यासी का अर्थ यही है कि वह समाज के झूठ को मानने को राजी नहीं है। संन्यासी अराजक है, असामाजिक है। वह कह रहा है, कि तुम्हारे झूठ मानने को मैं राजी नहीं हूँ। मैं उसी ढंग से जीऊँगा, जिस ढंग से मुझे ठीक लगता है। चाहे इसके लिए मुझे कुछ भी कष्ट झेलना पड़े। यह कष्ट तपश्चर्या है।

आप यह मत सोचें कि सत्य की यात्रा पर कोई कष्ट न होगा। अगर ऐसा होता कि सत्य की यात्रा पर कष्ट न होता, तो दुनिया में इतना झूठ होता ही नहीं। सत्य की यात्रा पर कष्ट है। इसीलिए तो लोग झूठ के साथ राजी हैं। झूठ सुविधापूर्ण है। सत्य असुविधापूर्ण है। झूठ में कन्व्हीनिएन्स है। क्योंकि चारों तरफ झूठ है।

वह बाप अपने बेटे से क्या कह रहा था? वह यही कह रहा था कि उपद्रव खड़ा मत कर। यही सुविधापूर्ण है कि जब सबको वस्त्र दिखाई पड़ रहे हों, तो अपने को भी वस्त्र देखना ही सुविधापूर्ण है। झंझट खड़ी करनी उचित नहीं है।

यह जो कृष्ण का सूत्र है कि 'मन-वाणी की सरलता, सहजता', यह आपको खतरे में तो ले ही जाएगी; खतरे में इसलिए ले जाएगी, क्योंकि चारों तरफ जो लोग हैं, वे मन-वाणी से सरल नहीं हैं, जटिल हैं-- छद्म, झूठ, चालाकी से भरे हैं। वे वही नहीं कहते हैं, जो कहना चाहते हैं। वे वही नहीं प्रगट करते हैं, जो प्रगट करना चाहते हैं। और इतनी परतें हो गई हैं झूठ की कि उनको खुद भी पता नहीं कि वे क्या कहना चाहते हैं; उनको खुद भी पता नहीं है कि वे क्या करना चाहते हैं। उनको खुद भी पता नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं।

तो निश्चय ही जब कोई व्यक्ति यह निर्णय और संकल्प करेगा कि मैं सरल हो जाऊँगा तो, तो अड़चनें आयेंगी, कठिनाइयाँ खड़ी होंगी। उन कठिनाइयों के डर से ही तो लोग झूठ के साथ राजी हैं।

साधक का अर्थ है कि वह उन कठिनाइयों को झेलने को राजी होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि आप जान-बूझ कर समाज में अराजकता फैलाएँ। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आप जान-बूझ कर लोगों को परेशानी में डालें। इसका कुल इतना अर्थ है कि जब भी आपके सामने यह सवाल उठे, कि मैं अपनी आत्मा को बेचूँ और सुविधा को खरीदूँ या सुविधा को छोड़ूँ और आत्मा को बचाऊँ, तो आप आत्मा को बचाना, सुविधा को जाने देना।

यह कोई जरूरी नहीं है कि आप चौबीस घंटे उपद्रव खड़ा करते रहें। लेकिन इतना खयाल रखना जरूरी है कि आत्मा न बेची जाय—किसी भी मूल्य पर। सुविधा

के मूल्य पर स्वयं को न बेचा जाय--इतना ही खयाल रहे, तो आदमी धीरे-धीरे सरलता को उपलब्ध हो जाएगा। और कठिनाई, शुरू में ही होगी। एक बार आपका सत्य के साथ तालमेल बैठ जाएगा, तो कठिनाई नहीं होगी।

सच तो यह है कि तब आपको पता चलेगा कि झूठ के साथ मैंने कितनी कठिनाइयाँ झेलीं और व्यर्थ झेलीं, क्योंकि उनसे मिलनेवाला कुछ भी नहीं था।

सत्य के साथ झेली गई कठिनाई का तो परिणाम है, फल है। झूठ के साथ झेली गई कठिनाई का कोई परिणाम नहीं है, कोई फल नहीं है। एक झूठ बोलो तो दस झूठ बोलने पड़ते हैं, क्योंकि एक झूठ को बचाना हो, तो दस झूठ की दीवाल खड़ी करनी जरूरी है; और फिर दस झूठ के लिए हजार झूठ बोलने पड़ते हैं। और इस सिलसिले का कोई अंत नहीं होता। और एक झूठ से हम दूसरे झूठ पर पोस्ट-पोन करते जाते हैं।

सत्य के लिए कोई इन्तजाम नहीं करना होता। सत्य के लिए कोई दूसरे सत्य का सहारा नहीं लेना पड़ता।

ऑक्सरवाइल्ड ने लिखा है, कि झूठ बोलना केवल उन्हीं के लिए संभव है, जिनकी स्मृति बहुत अच्छी है। जिनकी स्मृति कमजोर है, उन्हें भूलकर झूठ नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि झूठ में बहुत खयाल रखना पड़े। एक झूठ बोल दिया, तो फिर उसका हिसाब रखना पड़ता है सदा। फिर उसी झूठ के हिसाब से सब बोलना पड़ता है।

तो वाइल्ड ने लिखा है कि मेरी चूंकि स्मृति कमजोर है, इसलिए मैं सदा सत्य का ही भरोसा करता हूँ। क्योंकि उसे बोलने में याद रखने की कोई जरूरत नहीं है।

झूठ के लिए स्मृति तो मजबूत चाहिए ही, इसीलिए अकसर ऐसा हो जाता है कि जो समाज अशिक्षित है, वहाँ झूठ बहुत कम प्रचलित होता है। क्योंकि झूठ के लिए शिक्षित होना जरूरी है। जो समाज असभ्य हैं, वे कम बेईमान होते हैं। क्योंकि बेईमानी के लिए जितनी कुशलता चाहिए, वह उनके पास नहीं होती। जैसे ही लोगों को शिक्षित करो, बेईमानी बढ़ने लगती है--उसी अनुपात में। लोगों को शिक्षा दो, उसी के साथ झूठ बढ़ने लगता है, क्योंकि अब वे कुशलता से झूठ बोल सकते हैं। झूठ के लिए कला चाहिए। सत्य के साथ बिना कला के भी जीया जा सकता है। झूठ के लिए आयोजन चाहिए।

हम जिस समाज में जी रहे हैं, वह सब आयोजित है। इस आयोजन के बीच से छूटना हो तो कठिनाई शुरू में होगी, लेकिन कठिनाई अन्त में नहीं होगी।

इस बात को ऐसा समझें कि असत्य के साथ पहले सुविधा होती है, बाद में

असुविधा होती है। सत्य के साथ पहले असुविधा होती है, बाद में सुविधा होती है।

जिनको हम संसार के सुख कहते हैं, वे पहले सुख मालूम पड़ते हैं, पीछे दुःख मालूम पड़ते हैं। और जिनको हम अध्यात्म की तपश्चर्या कहते हैं, वे पहले कष्ट मालूम पड़ती हैं, पीछे आनन्द हो जाता है। इसको सूत्र की तरह याद कर लें।

पहली ही घटना को सब कुछ मत समझना, अंतिम घटना सब कुछ है।

तो पहले अगर असुविधा भी हो, तो उसकी फिक्र मत करना। यही ध्यान रखना कि बाद में क्या होगा, अंतिम फल क्या होगा, अंतिम परिणाम क्या होगा। नहीं तो लोग जहर की गोली भी शक्कर में लिपटी हो तो खा लेते हैं। क्योंकि पहले स्वाद मीठा मालूम पड़ता है। पहले स्वाद से सावधान होना भी जरूरी है। अंतिम स्वाद को ध्यान में रखना जरूरी है।

● अन्तिम प्रश्न। एक और मित्र ने पूछा है, कि अनेक सद्गुरुओं के व्यवहार व जीने के ढंग म श्रेष्ठता का अभिमान और दम्भाचरण दिखाई पड़ता है। तो तथा-कथित ज्ञानी को बाहर से कैसे पहचाना जाय, क्योंकि भीतर से पहचानना अत्यंत कठिन है?

यह थोड़ा समझने जैसा है कि जब भी आपको समझने के लिए कुछ कहा जाता है, तत्काल आप दूसरों के सम्बन्ध में सोचना शुरू कर देते हैं। कृष्ण ने यह नहीं कहा है कि ज्ञानी का लक्षण यह है कि वह पता लगाए कि कौन दम्भाचरण में है और कौन नहीं है। कृष्ण ने यह नहीं कहा है कि ज्ञानी इसका पता लगाने निकलता है कि कौन गुरु दम्भी है, और कौन गुरु दम्भी नहीं है। कृष्ण ने कहा है कि तुम दम्भाचरण में हो या नहीं—इसकी फिक्र करना। लेकिन हम?—हमें अपनी तो फिक्र ही नहीं है। हम जैसा निस्वार्थ आदमी खोजना बहुत कठिन है! हमें अपनी बिलकुल ही फिक्र नहीं है। हमें सारी दुनिया की फिक्र है। कौन सद्गुरु दम्भाचरणी है—इसका कैसे पता लगाएँ! मुझे एक कहानी याद आ गई।

मैंने सुना है कि एक गाँव में शराब के खिलाफ बोलने के लिए एक महात्मा का आगमन हुआ। उनका देश शराब के विपरीत सप्ताह मना रहा था, तो महात्मा ने बहुत समझाया। शराब के खिलाफ बहुत-सी बातें कहीं। और फिर जोर देने के लिए उसने कहा कि 'तुम्हें पता है कि गाँव में सब से बड़ी हवेली किसकी है?—शराब बेचने वाले की। और पैसा उसका कौन चुकाता है?—तुम। और तुम्हें पता है—गाँव में किसकी स्त्री सबसे ज्यादा कीमती गहने पहनती है?—शराब बेचने वाले की। और उसका मूल्य तुम अपने खून से चुकाते हो।'

जब सभा पूरी हो गई, तब एक जोड़ा पति-पत्नी का उसके पास आया और महात्मा के चरणों में सिर रख कर उसने कहा कि 'आपकी बड़ी कृपा है। आपने जो उपदेश दिया, उससे हमारा जीवन बदल गया।' महात्मा ने कहा कि 'बड़ी खुशी की बात है। क्या तुमने शराब न पीने का तय कर लिया?' उन्होंने कहा कि 'नहीं। हमने एक शराब की दुकान खोलने का फैसला किया है। आपने ऐसी हृदय को चोट पहुँचाने वाली बातें कहीं कि अब हम सोचते हैं कि सब धन्धा छोड़ कर शराब ही बेचने का धन्धा करें।'

सुना है मैंने एक गाँव में एक बहुत बड़ा कंजूस धनपति था। उससे कभी कोई दान माँगने में सफल नहीं हो पाया। और गाँव में बड़ी तकलीफ थी। कोई प्लेग फैल गई थी। कोई बीमारी आ गई थी। तो मजबूरी की वजह से लोग दान माँगने उसके घर भी गये। उन्होंने दान की प्रशंसा में बहुत बातें कहीं। उन्होंने कहा कि 'दान से बड़ा धर्म जगत् में दूसरा नहीं है। और यह समय ऐसी असुविधा का है कि आप जरूर कुछ दान करें।'

उस कंजूस ने कहा कि 'मुझे दान के सम्बन्ध में थोड़ा और समझाओ। जो चंदा माँगने आये थे, वे बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि यह बड़ा शुभ लक्षण है। क्योंकि पहले तो वह दरवाजा ही नहीं खोलता था। भीतर भी आ जाय कोई दान माँगने, तो तत्काल बाहर निकालता था। उसने कहा, बैठो प्रेम से। मुझे जरा दान के सम्बन्ध में और थोड़ा समझाओ। उन्होंने सोचा कुछ आशा है। यह पहला ही मौका था कि उसने दान माँगने वालों को सम्मान से बिठाया। फिर उसने पानी वगैरह भी बुलाकर पिलाया। और कहा कि 'मुझे दान के सम्बन्ध में पूरा ही समझा दो।'

वे समझे कि अब हमें कोई दिक्कत न रही। कहीं और दान माँगने न जाना पड़ेगा। सभी कुछ यह आदमी दे देगा। इसके पास इतना है कि अब यह अकेला भी काफी है—गाँव की बीमारी के मुकाबले। जब वे सारी बात कह चुके, तब उस कृपण कंजूस ने कहा कि 'मैं तुम्हारी बात से इतना प्रभावित हो गया हूँ कि जिसका कोई हिसाब नहीं।' तो दान माँगने वाले एकदम मुँह बा के बोले कि 'अब आपका क्या इरादा है!' उसने कहा कि 'अब इरादा क्या है? अब मैं भी तुम्हारे साथ दान माँगने चलता हूँ। जब दान इतनी बड़ी चीज है, तो मैं भी लोगों को समझाऊँगा।'

कृष्ण कह रहे हैं कि दम्भाचरण ज्ञानी का लक्षण नहीं है। आप पूछ रहे हैं कि कई दम्भाचरणी हैं, तो उनका कैसे पता लगाएँ? कृष्ण का उनसे कुछ लेना-देना नहीं है। कृष्ण आपसे कह रहे हैं।

और आप दूसरे का पता लगाएँगे कैसे? पहले तो कोई जरूरत नहीं है। दूसरा अपने दम्भ के लिए कष्ट खुद पाएगा; आप कष्ट नहीं पाएँगे। अपने दम्भ के कारण

दूसरा नरक में जाएगा; आपको नहीं जाना पड़ेगा। अपने दम्भ के कारण, दूसरे के स्वर्ग का द्वार बन्द होगा; आपका द्वार बन्द नहीं होगा। आप क्यों परेशान हैं? दूसरा दम्भी है या नहीं--यह उसकी चिन्ता है। आप कृपा करें और अपनी चिन्ता करें। अपने पर थोड़ी कृपा करनी जरूरी है।

फिर अगर आप पता लगाना भी चाहें, तो लगाने का कोई उपाय नहीं है। जब तक कि आप पूरे दम्भ-शून्य न हो जायँ, तब तक दूसरे में दम्भ है या नहीं, इसका कोई पता नहीं लगा सकते। क्योंकि आपका जो दम्भ है, वह व्याख्या करेगा। आपके भीतर जो दम्भ बैठा है, वह व्याख्या करेगा। आपके भीतर जो अहंकार है, उसके कारण आप दूसरे में भी कुछ देख लेंगे--जो दूसरे में शायद न भी हो।

समझें : अगर आप कृष्ण के पास खड़े हों--दम्भ से भरे हुए, तो आपको कृष्ण की बातें बहुत दम्भपूर्ण मालूम होंगी। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं : 'सब छोड़ के मेरी शरण आ।' अब इससे ज्यादा अहंकार की क्या बात होगी। 'सब छोड़--सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज--सब धर्म-वर्म छोड़, मेरे चरण में आ जा, मेरी शरण में आ जा।'

अगर आप ईमानदारी से कहें; आप खड़े हों कृष्ण के पास तो आप कहेंगे कि यह आदमी, हद का अहंकारी है। इससे ज्यादा अहंकारी और कोई मिलेगा; जो अपने ही मुँह से, अपने ही चरणों में आने का प्रचार कर रहा है!

आपके भीतर दम्भ हो, तो कृष्ण का यह वचन दम्भपूर्ण मालूम होगा। और आपके भीतर दम्भ न हो, तो कृष्ण का यह वचन करुणापूर्ण मालूम होगा।

यह सिर्फ करुणा है कृष्ण की, कि वे अर्जुन से कह रहे हैं कि 'व्यर्थ यहाँ-वहाँ मत भटक।' और यहाँ जोर चरणों का नहीं है। यहाँ जोर समर्पण का है। लेकिन दम्भी आदमी को सुनाई पड़ेगा कि कृष्ण अपने चरणों का प्रचार कर रहे हैं कि मेरे पैरों में आ जा। कृष्ण सिर्फ इतना कह रहे हैं उससे--कि 'तू झुकना सीख ले। पैरों में आना तो सिर्फ बहाना है। तू समर्पण की कला सीख ले, तू झुक जा।' लेकिन आपको दम्भपूर्ण मालूम पड़ेगा।

आपके भीतर दम्भ होगा तो अड़चन देगा। इसलिए जब तक आपके भीतर का अहंकार न मिट जाय, तब तक आप न जान पाएँगे कि कौन अहंकार शून्य है, और कौन अहंकार शून्य नहीं है।

पर इस चिंता में पड़ने की कोई जरूरत नहीं। आप अपनी ही चिन्ता कर लें--पर्याप्त है। सद्गुरुओं को सद्गुरुओं पर छोड़ दें। उनका नरक स्वर्ग उनके लिए है। उनकी तकलीफें वे भोग लेंगे। न तो उनके पुण्य में आप भागीदार हो सकते हैं--न उनके पाप में। आप सिर्फ अपने में ही भागीदार हो सकते हैं। आप अकेले हैं। और दायित्व आपका आपके ऊपर है। समय न खोयें अवसर न खोयें, शक्ति को व्यर्थ मत

लगायें।

फिर सद्गुरुओं के ढंग भी अपने हैं। उनकी अपनी व्यवस्थाएँ हैं, जिनको पहचानना बड़ी जटिल बात है।

एक मुसलमान फकीर हुआ--बायजीद। तो बायजीद अकसर नये लोग आते थे तो उनके साथ बड़ा बेरूखा व्यवहार करता था--बड़ा बेरूखा-- जैसे कि वे आदमी ही न हों। बायजीद बहुत विनम्र आदमी था। उससे विनम्र आदमी खोजना कठिन है। लेकिन नये आगन्तुक लोगों से वह बड़ा बेरूखा और बड़ा बुरा व्यवहार करता था।

उसके शिष्य उससे कहते थे कि 'तुम अचानक जब भी कोई नये लोग आते हैं, तो तुम इतने सख्त क्यों हो जाते हो! हम जानते हैं भली-भाँति, जैसे ही नये लोग जाते हैं, तुम एकदम पिघल जाते हो; तुम नवनीत जैसे कोमल हो। लेकिन तुम पत्थर जैसे कठोर क्यों हो जाते हो—नये लोगों के लिए? और फिर नये लोग तुम्हारे सम्बन्ध में बड़ी बुरी धारणा ले जाते हैं। वे सारी जगह खबर करते हैं कि यह आदमी बहुत दुष्ट मालूम होता है, अहंकारी मालूम होता है, क्रोधी मालूम होता है।'

तो बायजीद कहता था, 'इसीलिए, ता कि व्यर्थ का भीड़-भड़क्का मेरी तरफ न आने लगे। मेरे पास समय कम है, काम ज्यादा है। और मैं केवल चुने हुए लोगों पर ही काम करना चाहता हूँ। मैं पत्थरों को नहीं घिसना चाहता। सिर्फ हीरों को निकालना चाहता हूँ। जिसमें इतनी भी अकल नहीं है, कि जो मेरे झूठे अहंकार को पहचान सके, उसके साथ मेहनत करने को मैं राजी नहीं हूँ।'

लेकिन कोई कोई बायजीद का यह दम्भ और क्रोध देख कर भी रह जाते। क्योंकि जो समझदार हैं, वे कहते थे कि 'पहला परिचय ही काफी नहीं है। थोड़ी निकटता; थोड़ा रुकें। थोड़े दिन ठहरें। जल्दी निर्णय नहीं लेते।' जो थोड़े दिन रुक जाते थे, वे सदा के लिए बायजीद के हो जाते थे। अगर आप गये होते, तो आप लौट गए होते।

ऐसे फकीर हुए हैं--हमारे मुल्क में हुए हैं--जो बेहूदी गालियाँ देते हैं। उनमें कुछ परम ज्ञानी हुए हैं। आप उनके पास जाएँगे, तो वे माँ-बहन की भद्दी गालियाँ देंगे, जो आप कभी सोच ही नहीं सकते कि संत पुरुष देगा।

खुद रामकृष्ण गालियाँ देते थे। और कारण कुल इतना था कि जो आदमी इतने जल्दी निर्णय ले ले कि यह आदमी गलत है, क्योंकि गाली दे रहा है, इस आदमी के साथ मेहनत करनी उचित नहीं है। जो इतने जल्दी निर्णय लेता है, वह ओछा आदमी है। उसके साथ मेहनत करने की कोई जरूरत नहीं है।

जो आदमी समझदार है, वह सोचेगा, कि 'जब रामकृष्ण गाली दे रहे हैं, तो गाली में भी कोई मतलब होगा। थोड़ा रुकना चाहिए। जल्दी करने की जरूरत

नहीं है।

'रामकृष्ण जैसा आदमी अकारण गाली नहीं देगा; अगर गाली दे रहा है, तो कोई प्रयोजन होगा, कोई मतलब होगा। तो मैं जरा रुकूँ और निर्णय करने की जल्दी न करूँ।' जो रुक जाता, वह सदा के लिए रुक जाता। जो भाग जाता, वह सदा के लिए भाग जाता।

सद्गुरुओं के अपने ढंग हैं, अपनी व्यवस्थाएँ हैं। कहना कठिन है कि वह किसलिए क्या कर रहे हैं। आप उस झंझट में पड़ना ही मत। अगर आपको गुरु खोजना हो, तो धैर्यपूर्वक, बिना निर्णय लिए निकट रहने की क्षमता दिखाएँ। और जितना बड़ा गुरु होगा, उतनी ज्यादा धैर्य की परीक्षा लेगा, क्योंकि उतनी ही बड़ी सम्पदा देने के पहले, वह आपकी पात्रता को पूरी तरह परख लेना चाहेगा। कोई छोटा-मोटा गुरु होगा, तो आपकी कोई परीक्षा भी न लेगा। क्योंकि उसको डर है कि कहीं भाग न जाओ। वह आपको फाँसने ही बैठा है।

छोटा-मोटा गुरु तो ऐसा है, जैसे कि मछली को पकड़ने के लिये काँटे में आटा लगा के बैठा हुआ है। वह बड़े प्यार से कहेगा कि 'आइए, बैठिए।' आपको सिर आँखों पर लेगा। आपके अहंकार को फुसलाएगा। आप राजी होंगे। लगेगा कि बढ़िया; यह आदमी ऊँचा है। कितना विनम्र है, कि मुझसे कहा, कि आइए बैठिए। जिसे कोई नहीं कहता: आइए बैठिए; इतने बड़े आदमी ने मुझसे कहा: आइए बैठिए!

आपको शायद पता न हो कि रूजवेल्ट ने जब इलेक्शन जीता...अमेरिका के प्रेसिडेन्ट पद का इलेक्शन जीतने के बाद उसने अपने पहले वक्तव्य में—जब किसी ने उससे पूछा कि आपके जीतने की जो विधियाँ आपने उपयोग कीं, उसमें खास बात क्या है? तो उसने कहा, 'छोटे आदमियों को आदर देना।' उसने दस हजार आदमियों को निजी पत्र लिखे। उसमें बड़े छोटे आदमी थे, जैसे टैक्सी ड्राइवर था, जिसकी टैक्सी में बैठकर वह स्टेशन से घर तक आया होगा।

रूजवेल्ट की आदत थी कि वह टैक्सी ड्राइव्हर से उसका नाम पूछेगा, पत्नी का नाम पूछेगा, बच्चे का नाम पूछेगा। वह टैक्सी ड्राइवर तो आगे गाड़ी चला रहा है; पीछे देख नहीं रहा है। लेकिन रूजवेल्ट नोट करता रहेगा पत्नी का नाम, बच्चे का नाम; बच्चे की तबियत कैसी है; बच्चा किस क्लास में पढ़ता है। टैक्सी ड्राइवर फूला नहीं समा रहा है। (पंडित नेहरू आपसे पूछ रहे हों तो ...।) और फिर दो साल बाद एक पत्र आएगा टैक्सी ड्राइवर के नाम पर कि तुम्हारी पत्नी की तबीयत खराब थी, पिछली बार, तुम्हारे गाँव जब आया। अब उसकी तबीयत तो ठीक है न? तुम्हारे बच्चे तो ठीक से स्कूल में पढ़ रहे हैं न? और इस बार मैं चुनाव

में खड़ा हुआ हूँ, थोड़ा खयाल रखना।'

वह टैक्सी ड्राइवर अब पागल हो गया। अब उसको दल-बल का कोई सवाल नहीं है। अब वह किसी भी पार्टी का हो। अब रूजवेल्ट से उसका निजी सम्बन्ध हो गया। अब वह यह कार्ड ले कर घूमेगा।

छोटे आदमी के अहंकार को फुसलाना, राजनीतिज्ञ का काम है, सन्तों का काम नहीं है। सन्त आपके अहंकार को तोड़ना चाहते हैं, फुसलाना नहीं चाहते हैं।

तो रामकृष्ण गाली देते हैं; रूजवेल्ट कहता है: आइए, बैठिए। यह फर्क है। पर कहना मुश्किल है कि सन्त का क्या प्रयोजन है। आप जल्दी मत करें। निर्णय सदा अपने बाबत लें, दूसरे के बाबत कभी मत लें।

और सन्त तो खतरनाक हैं; उनके बाबत तो निर्णय लें ही मत। उनको उनके निर्णय पर छोड़ दें। अगर आपको कुछ लाभ उनसे लेना हो, तो धैर्य-पूर्वक, बिना निर्णय के लाभ ले लें। निश्चित ही अगर आपने धैर्य रखा, तो आप जिस गुरु के पास हैं, उसकी वास्तविक प्रतिमा प्रगट हो जाएगी। अगर आपने जल्दी की, तो आप हो सकता है कि कभी किसी बुद्ध के पास आ कर भी किनारे से निकल जायँ और वंचित रह जायँ।

अब हम सूत्र पढ़ेंगे। 'तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादि में आसक्ति का अभाव, और ममता का न होना, तथा प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना, अर्थात् मन के अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्राप्त होने पर हर्ष-शोकादि विकारों का न होना।

इस सम्बन्ध में एक बात खयाल में लेनी चाहिए। 'समता'...दुःख हो या सुख, प्रिय घटना घटे या अप्रिय, सफलता हो या असफलता, यश या अपयश, दोनों का बराबर मूल्य है, दोनों में से किंचित भी एक को वांछनीय और एक को अवांछनीय न मानना ज्ञानी का लक्षण है।

समत्व ज्ञानी की आधारशिला है। लेकिन यह होगा कैसे? जब सफलता मिलती है, तो प्रीतिकर लगती है। कोई हम तय थोड़े ही करते हैं कि जब सफलता मिले तो हम खुश हों। हम सफलता मिलते ही खुश हो जाते हैं। हमें खुश होने के लिए कुछ करना थोड़े ही पड़ता है, यह हमारा कोई निर्णय थोड़े ही है।

जब प्रिय जन घर आयें, तो हम प्रसन्न हो जाते हैं। कोई प्रसन्न होने के लिए चेष्टा थोड़े ही करनी पड़ती है। जब कोई गाली दे, अपमान करे, तो हम दुःखी हो जाते हैं। दुःखी होने के लिए हमें सोचना थोड़े ही पड़ता है।

चुनाव का मौका कहाँ है? जो होता है, वह जब हो जाता है, तब हमें पता चलता है। जब हम दुःखी हो जाते हैं, तब पता चलता है कि हम दुःखी हो गए।

कृष्ण कहते हैं : समता । यह समता कैसे घटेगी ? इसके घटने की एक प्रक्रिया है । वह प्रक्रिया खयाल में ले लेनी चाहिए । कोई भी अनुभव भीतर पैदा हो, उसे अचेतन पैदा न होने दें । उसमें सजगता रखें । कोई गाली दे, तो इसके पहले कि क्रोध आये, एक पांच क्षण के लिए बिलकुल शान्त हो जायँ । क्रोध को कहें कि पाँच क्षण रुको । दुःख को कहें : पाँच क्षण रुको । पांच क्षण का अन्तराल देना जरूरी है । तो आपके पास पर्सपेक्टिव्ह, दृष्टि पैदा हो सकेगी । पाँच क्षण बाद सोचें कि मुझे दुःखी होना है या नहीं । दुःख को चुनाव बनाएँ । दुःख को मूर्च्छित घटना न रहने दें । नहीं तो आप कुछ भी न कर पाएँगे ।

गुरजिएफ ने लिखा है कि मेरे पिता ने मरते क्षण एक मंत्र दिया, उसी मंत्र ने मेरे जीवन को बदल दिया ।

गुरजिएफ तो बहुत छोटा था--नौ साल का था । मरते वक्त पिता ने कहा कि मेरे पास तुझे देने के लिए कुछ भी नहीं है । लेकिन एक सम्पत्ति मेरे पास है, जिससे मैंने जीवन में परम आनन्द अनुभव किया । वह कुंजी मैं तुझे दे जाता हूँ । अभी तो तेरी समझ भी नहीं कि तू समझ पाए । इसलिए अभी जो मैं कहता हूँ, तू उसे सिर्फ याद रखना । किसी दिन समझ आयेगी, तो उस दिन समझ लेना ।

तो गुरजिएफ के पिता ने कहा कि तू एक ही खयाल रखना : कोई भी प्रतीति हो--दुःख की या सुख की, तत्क्षण प्रतिक्रिया मत होने देना । थोड़ी देर रुकना । अगर कोई गाली दे, तो उससे कह के आना कि चौबीस घन्टे बाद मैं जवाब दूँगा । और चौबीस घन्टे के बाद जवाब देना । अगर तुझे लगे कि छुरा भोंकना हो, तो चौबीस घन्टे के बाद छुरा भोंक देना जा के । लेकिन चौबीस घन्टे का बीच में अन्तराल देना ।

गुरजिएफ ने लिखा है कि मेरी पूरी जिन्दगी बदल दी इस बात ने । क्योंकि मरते बाप की बात थी । इसके बाद बाप मर गया था । और एक आश्वासन दिया था तो पूरा करना है । अगर किसी ने गाली दी तो मैं कहके आया कि क्षमा करें । बाप को एक वचन दिया है, चौबीस घंटे बाद आपको जवाब दूँगा । और चौबीस घन्टे के बाद न तो गाली का जवाब देने योग्य लगा, न गाली में कोई मूल्य मालूम पड़ा । बात ही व्यर्थ हो गयी । चौबीस घन्टे बाद जाकर गुरजिएफ कह आता कि 'आप ने गाली दी, बड़ी कृपा की । लेकिन मेरे पास कोई जवाब देने को नहीं है ।' गाली का जवाब तो तत्काल ही दिया जा सकता है ।

ध्यान रखना गाली की प्रक्रिया है : उसका जवाब तत्काल दिया जा सकता है । उसमें देरी की, कि आप चूके ।

डेल कारनेगी ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक स्त्री ने उसे पत्र में लिखा । वह रेडिओ पर बोला लिंकन के ऊपर । लिंकन की कोई जन्म-तिथि थी, उस पर

व्याख्यान दिया । और व्याख्यान में उसने लिंकन के सम्बन्ध में कुछ गलत-सत्य बोल दिए । तो एक स्त्री ने उसे पत्र में लिखा कि 'जब तुम्हें लिंकन के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं, तो कम से कम व्याख्यान देने की जुर्रत तो मत करो । क्योंकि रेडिओ पर सारे मुल्क ने सुना । और लोग हँसे होंगे । भूल सुधार करो, और क्षमा माँगो ।' बहुत क्रोध से उसी वक्त उसको जवाब लिखा । जितना जहरीला पत्र था, उतना ही जहरीला जवाब लिखा । लेकिन रात देर हो गई, तो उसने सोचा : सुबह पत्र डाल दूँगा । पत्र को वैसे ही टेबल पर रख कर सो गया । सुबह उठ कर डालते वक्त पत्र को दुबारा पढ़ना चाहा । पत्र को दुबारा पढ़ा, तो उसे लगा कि यह जरा ज्यादा है । इतने क्रोध की कोई जरूरत नहीं । गरमी कम हो गयी, लोहा ठण्डा हो गया, तो उसने सोचा, दूसरा पत्र लिखूँ; यह उचित नहीं है । उसने दूसरा पत्र लिखा, उसमे थोड़ी-सी क्रोध की रेखा रह गई । तब उसे खयाल आया कि अगर रात के बारह घन्टे में इतना फर्क हो गया, तो मैं बारह घन्टे और रुकूँ । जल्दी क्या है--जवाब देने की । और देखें कि क्या फर्क होता है । बारह घन्टे बाद पत्र को पढ़ा, तो उसे लगा, कि यह भी ज्यादा है । उसने तीसरा पत्र लिखा--लेकिन तब उसने तय किया कि मैं सात दिन रोज सुबह-सांझ पत्र को पढूँगा और सातवें दिन पत्र को लिखूँगा--फाइनल ।

सातवें दिन जो पत्र लिखा, वह प्रेमपूर्ण था, क्षमा याचना से भरा था । उसमें उसने लिखा कि 'आपने मुझे मेरी गलती दिखाई, उसके लिए मैं जितना अनुगृहीत होऊँ, उतना कम है । और आगे भी कभी मेरी कोई गलती दिखाई पड़े, तो मुझे खबर देना ।' वह स्त्री उससे मिलने आई । और सदा के लिए मित्रता खड़ी हो गई ।

हम जल्दी में होते हैं । जो भी होता है, मूर्च्छा में कर लेते हैं । समता अगर चाहिए हो, तो फासला पैदा करने की कला सीखनी चाहिए । लेकिन हम होशियार लोग हैं । हम फासले में भी धोखा दे सकते हैं ।

मैंने सुना है : एक बाप ने देखा कि उसका बेटा एक दूसरे बच्चे को--पड़ोसी के बच्चे को--दबाए हुए, लॉन में, छाती पर बैठा हुआ है । तो उसने चिल्ला कर कहा कि 'मुन्ना, कितनी दफा मैंने तुझे कहा कि किसी से भी झगड़े में मारपीट करने से पहले सौ तक गिनती पढ़ा कर ।' तो बच्चे ने कहा, 'वही मैं कर रहा हूँ । सौ तक गिनती पढ़ रहा हूँ । लेकिन यह निकल कर भाग न जाय--सौ तक गिनती जब तक मैं पढ़ न लूँ--इसलिए इसे दबा कर रखा हुआ हूँ । सौ की गिनती पूरी होते ही इसे ठिकाने लगा दूँगा ।' सौ की गिनती कही इसीलिए थी कि फासला पैदा हो जाय ।

बाप ने कहा था कि किसी को मारने के पहले सौ तक गिनती पढ़ना । मुन्ना होशियार है । वह दबाए बैठा है बच्चे को, कि अगर सौ तक गिनती हमने पढ़ी, तब तक यह निकल गया, तो मारेंगे किसको !

आप भी ऐसी होशियारी मत करना। अन्यथा कोई सार नहीं है। फासला पैदा करना है इसलिए--ताकि समता आ जाय।

फासला हो जाय, तो दुःख दुःख नहीं देता, और सुख सुख नहीं देता। सुख और दुःख दोनों मूर्च्छित अनुभव हैं। तत्क्षण हो जाते हैं, मूर्च्छा में हो जाते हैं।

जैसे कोई बिजली का बटन दबाता है, ऐसे ही आपके भीतर बटन दब जाते हैं। आप सुखी हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। बिजली का बटन दबाने से बिजली कह नहीं सकती कि मैं नहीं जलूँगी। मजबूर है; यंत्र है। लेकिन आप यंत्र नहीं हैं।

जब कोई गाली दे, तो क्रोधित होना...। तत्क्षण बिजली की बटन की तरह काम हो रहा है। आप यंत्र की तरह व्यवहार कर रहे हैं। रुकें। उसने गाली दी; ठीक। लेकिन आप अपने मालिक हैं। गाली लेने में जल्दी मत करें। किसी ने सम्मान किया, वह उसकी बात है। किसी ने आपकी खुशामद की, चापलूसी की, वह उसकी बात है। लेकिन आप जल्दी मत करें, और एकदम पिघल न जायँ। रुकें। थोड़ा समय दें। थोड़े फासले पर खड़े हो कर देखें कि क्या हो रहा है। और आप पायेंगे कि जितना आप फासला बढ़ाते जाएँगे, सुख दुःख समान होते जाएँगे। सुख दुःख में फासला है। आप जितने फासले पर होंगे, सुख दुःख का फासला कम होने लगता है। जब कोई व्यक्ति दूर खड़े हो कर देख सकता है, तो सुख और दुःख एक ही हो जाते हैं। क्योंकि दूरी से दिखाई पड़ता है : सुख और दुःख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उस दिन समता उपलब्ध हो जाती है।

कृष्ण कहते हैं, समता ज्ञानी का लक्षण है। 'और मुझ परमेश्वर में एकीभाव से स्थितिरूप ध्यान-योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव, और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में अ-रति--प्रेम का न होना।'

'और मुझ परमेश्वर में एकीभाव...।' बड़े दम्भ की बात है : 'मुझ परमेश्वर में एकीभाव'! कृष्ण कहे ही चले जाते हैं कि मुझ परमेश्वर के साथ तू ऐसा सम्बन्ध बना।

अहंकारी पढ़ेगा, तो बड़ी अड़चन में पड़ेगा। वह तो अर्जुन का बड़ा निकट सम्बन्ध था, बड़ी आत्मीयता थी, इसलिए अर्जुन ने एक भी बार नहीं पूछा कि क्या बार-बार रट लगा रखी है--'मुझ परमात्मा को...!' उसने एक भी बार यह सवाल नहीं उठाया कि क्यों अपने को परमात्मा कह रहे हो, और क्यों अपने ही मुँह से कहे चले जा रहे हो कि मैं परमात्मा हूँ। वह इतना आत्मीय था, इतना निकट था कि कृष्ण को जानता था कि यह घोषणा किसी अहंकार की घोषणा नहीं है। यह कहना सिर्फ अर्जुन को समर्पण के लिए राजी करने का उपाय है।

'मुझ परमेश्वर में एकीभाव से स्थितिरूप ध्यान-योग के द्वारा, अव्यभिचारिणी

भक्ति....।' भक्ति अव्यभिचारिणी--इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए। व्यभिचार का अर्थ होता है : अनेक के साथ लगाव। व्यभिचारिणी कहते हैं उस स्त्री को, जो पति को दिखा रही है कि प्रेम करती है, और उसके प्रेमी भी हैं, और उनसे भी प्रेम कर रही है। और प्रेम एक खिलवाड़ है। क्षण भर भी कोई उसे एकान्त में मिल जाय, तो उससे भी प्रेम शुरू हो जाएगा। मन में किसी एक की कोई जगह नहीं है।

व्यभिचार का अर्थ है : मन में एक की जगह नहीं है। मन खण्डित है। बहुत प्रेमी हैं; बहुत पति हैं; इसका अर्थ है व्यभिचार। एक--तो मन अव्यभिचारी हो जाता है।

और बड़े मजे की बात है, समझने जैसा है, कि यह इतना जो जोर है एक प्रेमी पर, यह प्रेमी के हित में नहीं है। असल में प्रेम करने वाला अगर एक व्यक्ति को प्रेम करने में समर्थ है, तो उसके सारे खण्ड मन के इकट्ठे हो जाते हैं और वह एकीभाव को उपलब्ध हो जाता है।

जितने आपके प्रेम होंगे, उतने आपके खण्ड होंगे, उतने आपके हृदय के टुकड़े होंगे। अगर आपके दस-पाँच प्रेमी हैं, तो आपके हृदय के दस-पाँच स्वर होंगे, दस-पाँच टुकड़े होंगे। आप एक आदमी नहीं हो सकते, दस प्रेम अगर आपके हैं; आप दस आदमी होंगे। आपके भीतर एक भीड़ होगी।

यह जो इतना जोर है अव्यभिचारिणी भक्ति पर कि एक का ही भाव हो तो एक का ही भाव रह जाय, इसका अर्थ यह है कि जितना ही एक का भाव घनीभूत होने लगेगा, उतना ही भीतर भी एकत्व घनीभूत होने लगेगा; इन्टिग्रेशन भीतर फलित हो जाएगा। इसलिए प्रेमी भी योग को उपलब्ध हो जाता है, और योगी प्रेमी हो जाता है।

यदि कोई पूरे मन से किसी एक व्यक्ति को प्रेम कर सके, तो उस प्रेम में भी एकत्व घटित हो जाता है। भीतर इन्टिग्रेशन हो जाता है; भीतर सारे खण्ड जुड़ जाते हैं। अनेक स्वर समाप्त हो जाते हैं। एक ही स्वर और एक ही भाव रह जाता है। उस एक भाव के माध्यम से प्रवेश हो सकता है--अनंत में।

अनेक को छोड़ कर एक; और तब एक भी छूट जाता है, और अनन्त उपलब्ध होता है।

कृष्ण कहते हैं : अव्यभिचारिणी भक्ति--अनन्य रूप से, मुझ एक में ही तू समर्पित हो जा। तेरे मन में यह खयाल भी न रहे कि कोई और भी हो सकता है, जिसके प्रति समर्पित होना है! अगर इतना-सा खयाल भी रहा, तो समर्पण पूरा नहीं हो सकता।

इधर मेरे पास अनेक लोग आते हैं। कहते हैं, हम इस गुरु के पास गए, फिर

उस गुरु के पास गए, फिर उस गुरु के पास गये। वे गुरुओं के पास घूमते रहते हैं। उनकी यह व्यभिचारिणी मन की दशा, उन्हें कहीं भी पहुँचने नहीं देती। उनसे मैं कहता हूँ : 'तुम एक गुरु के पास रुक जाओ।' वे कहते हैं, 'हमें पक्का कैसे पता लगे कि वही गुरु ठीक है, जब तक हम बहुतों के पास न जायँ!' मैं उनसे कहता हूँ कि गलत हो तो भी तुम एक के पास रुक जाओ; क्योंकि उसके गलत और सही होने का उतना बड़ा सवाल नहीं है; तुम्हारा एक के पास रुक जाना तुम्हारे लिए क्रांतिकारी घटना बनेगा। वह गलत होगा, यह वह जाने। इससे तुम चिंता मत लो। तुम उसकी फिक्र मत करो।

कई बार ऐसा भी होता है कि, गलत गुरु के पास भी ठीक शिष्य सत्य को उपलब्ध हो जाता है। यह बात उलटी मालूम पड़ेगी। लेकिन हम जानते हैं, हमने एकलव्य की कथा पढ़ी है। गलत गुरु का सवाल ही नहीं है; गुरु था ही नहीं वहाँ। वहाँ तो सिर्फ मूर्ति बना रखी थी उसने द्रोणाचार्य की। उस मूर्ति के सहारे भी वह उस कुशलता को उपलब्ध हो गया--जो एकाग्रता है।

कैसे यह हुआ? क्योंकि मूर्ति तो कुछ सिखा नहीं सकती। द्रोणाचार्य खुद भी इतना नहीं सिखा पाये अर्जुन को, जितना उनकी पत्थर की मूर्ति ने एकलव्य को सिखा दिया। तो द्रोणाचार्य का कोई हाथ नहीं है उसमें। अगर कुछ भी है हाथ, तो एकाग्रता के भाव का ही है। उस पत्थर की मूर्ति के पास इतना एकीभाव हो के रुक गया, इतनी अव्यभिचारिणी भक्ति थी उसकी कि पत्थर की मूर्ति के निकट भी उसे जीवन्त गुरु उपलब्ध हो गया। और गुरु द्रोणाचार्य इस योग्यता के गुरु नहीं थे, जितना एकलव्य ने उन्हें माना और फल पाया। क्योंकि गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को धोखा दिया। और अपने सम्पत्तिशाली शिष्य के लिए एकलव्य का अंगूठा कटवा लिया।

द्रोणाचार्य की उतनी योग्यता नहीं थी, जितनी एकलव्य ने मानी। लेकिन यह बात गौण है। द्रोणाचार्य की योग्यता थी या नहीं, यह सवाल नहीं है। एकलव्य की यह अनन्य भावदशा, एकलव्य की यह महानता...। इस गुरु ने जब अंगूठा माँगा, तब उसकी भी समझ में तो आ ही सकता था। आ ही गया होगा। साफ ही बात है। अंगूठा कट जाने के बाद वह धनुर्विद नहीं रह जाएगा। और द्रोणाचार्य ने अंगूठा इसीलिए माँगा कि जब उसके निशाने देखे, उसकी तन्मयता, एकाग्रता और उसकी कला देखी, द्रोणाचार्य के पैर कंप गए। उन्हें लगा कि अर्जुन फीका पड़ जाएगा। अर्जुन की अब कोई हैसियत इस एकलव्य के सामने नहीं हो सकती। थी भी नहीं; क्योंकि अर्जुन का इतना भाव द्रोणाचार्य के प्रति कभी भी नहीं था, जितना भाव एकलव्य का द्रोणाचार्य के प्रति था। और द्रोणाचार्य अर्जुन को तो उपलब्ध थे। एकलव्य को तो उपलब्ध भी नहीं थे।

यह कथा बड़ी मीठी और बड़ी अर्थपूर्ण है। एकलव्य ने अंगूठा भी काट के दिया। मैं मानता हूँ कि उसकी धनुर्विद्या तो खो गई अंगूठे के कटने से, लेकिन भीतर उसने भीतर का योग उपलब्ध कर लिया--अंगूठा काटकर। उस एकलव्य के लिए कृष्ण को गीता कहने की जरूरत नहीं पड़ी। वह अंगूठा काटने के क्षण में ही उस परम एकत्व को उपलब्ध हो गया होगा, क्योंकि जरा भी सन्देह न उठा। ऐसी असन्दिग्ध अवस्था में अगर परमात्मा उपलब्ध न हो, तो फिर कभी भी उपलब्ध नहीं हो सकता। तो बाहर की कला तो खो गई, लेकिन वह भीतर की कला को उपलब्ध हो गया।

मैं लोगों को कहता हूँ कि इसकी फिक्र छोड़ो कि गुरु ठीक है या गलत। तुम कैसे पता लगाओगे? तुम हजार के पास घूम कर और कन्फ्यूज्ड हो जाओगे, तुम और जटिल हो जाओगे। तुम्हें कुछ पता होने वाला नहीं है। तुम जितनों के पास जाओगे, उतने खण्डित हो जाओगे। तुम बेहतर है, कहीं रुकना सीखो। रुकने में खूबी है। बेहतर है कि एक के प्रति समर्पित होना सीखो। समर्पण में राज है। वह 'किसके प्रति'--यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

और कई दफा तो ऐसा होता है, कि गलत के प्रति समर्पण ज्यादा कीमती परिणाम लाता है। इसे थोड़ा समझ लें। क्योंकि ठीक के प्रति समर्पण तो स्वाभाविक है। आपकी कोई खूबी नहीं है उसमें। वह आदमी ठीक है, इसलिए समर्पण आपको करना पड़ रहा है। आपकी कोई खूबी नहीं है। लेकिन आदमी गलत हो और आप समर्पण कर सकें, तो खूबी निश्चित ही आपकी है।

तो कभी-कभी बहुत से गुरु, अपने आसपास गलत वातावरण स्थापित कर लेते हैं; वह भी समर्पण का एक हिस्सा है। क्योंकि अगर उनके बाबत सभी अच्छा हो, तो समर्पण करने में कोई खूबी नहीं, कोई चुनौती नहीं है। वे अपने आसपास बहुत-सा जाल खड़ा कर लेते हैं, जो कि गलत खबर देता है। और उस क्षण में कोई समर्पित हो जाता है, तो समर्पण की उस दशा में अव्यभिचारिणी भक्ति का जन्म होता है।

कृष्ण कहते हैं, 'एकान्त और शुद्ध देश में रहने का स्वभाव, और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में अरति--प्रेम का न होना...।' आप भीड़ खोजते हैं हमेशा। और अकसर भीड़ खोजने वाला गलत भीड़ खोजता है। क्योंकि भीड़ खोजना ही गलत मन का लक्षण है।

दूसरे से कुछ भी मिल सकता नहीं। आप जरा सोचें : आप क्या करते हैं दूसरे से मिल के? कुछ थोड़ी निन्दा, पास-पड़ोस की कुछ अफवाहें। किसकी पत्नी भाग गई; किसके बेटे ने धोखा दिया; कोई चोरी करने गया; कौन बेईमान है? ये सारी आप बातें करते हैं। यह रस अकेले में नहीं आता, इसके लिए दो, चार लोग चाहिए, इसलिए आप भीड़ खोजते हैं। एक दिन चौबीस घन्टे अपनी दिन-

चर्या का खयाल कर लें। आप कहाँ बैठते हैं; क्यों बातें करते हैं; क्या रस है इसमें? और अगर यह रस आपका कायम है, तो ज्ञान कभी उपलब्ध न होगा, क्योंकि यह सारा अज्ञान को बचाने की व्यवस्था कर रहे हैं आप।

कृष्ण कहते हैं, ज्ञानी का लक्षण है : एकान्त का रस यानी ज्यादा से ज्यादा अकेले रहना। क्यों? क्योंकि अकेले में ही स्वयं का साक्षात्कार होता है; और अकेले में ही भीड़ के प्रभाव और संस्कारों से बचा सकता है। और अकेले में ही धीरे-धीरे भीतर सरक कर, उस द्वार को खोज सकता है, जो परमात्मा का द्वार है।

दूसरे के साथ रह कर कोई कभी परमात्मा तक नहीं पहुँचता है। चाहे बुद्ध, चाहे महावीर, चाहे मुहम्मद--परमात्मा के पास पहुँचने से पहले एकान्त में सरक गए थे। महावीर बारह वर्ष तक मौन हो गए थे। बुद्ध छः वर्ष तक जंगल में चले गए थे। मुहम्मद तीन दिन तक बिलकुल एकांत पर्वत पर रहे थे। जीसस को तैंतीस वर्ष की उम्र में फाँसी हुई। ईसाइयों के पास केवल तीन साल की कहानी है -- आखिरी तीन साल की। बाकी तीस साल चुप मौन साधना में गुजरे।

यह जो मौन में सरक जाना है--एकान्त का रस है--यह ज्ञानी का लक्षण है।

भीड़ का रस, समूह का रस--क्लब, मित्र की तलाश--खतरनाक है। लेकिन आप यह मत सोचना कि क्लब ही सिर्फ क्लब हैं। लोग तो धर्म-कथाओं में भी इसीलिए चले जाते हैं। विशेषकर स्त्रियाँ तो इसीलिए पहुँच जाती है धर्म-कथाओं में; वहाँ जा कर वे सब सारी चर्चा कर लेती हैं, जिसका कि उन्हें मौका नहीं मिलता था। सब जमाने भर की स्त्रियाँ वहाँ मिल जाती हैं। जमाने भर के रोग और कहानियाँ उन्हें वहाँ मिल जाते हैं। वहाँ वे सब चर्चा कर लेती हैं। कथा तो बहाना है।

मन्दिर में आप जा सकते हैं; हो सकता है कि परमात्मा से मिलने न जा रहे हों। वहाँ भी आप गपशप करने जा रहे हों--जो मंदिर आते हैं उनसे।

यह भी हो सकता है कि आप किसी गुरु के पास भी इसीलिए जाते हों कि वहाँ जा कर उपद्रव की खबरें सुन आयें, लेकिन कुछ एकान्त की तलाश न हो।

ध्यान रखना कि आप अकेले ही सत्य से मिल सकते हैं। भीड़ को साथ ले कर जाने का कोई उपाय नहीं है। आपका निकटतम मित्र भी आपके साथ समाधि में नहीं जाएगा। आपकी पत्नी भी आपके साथ ध्यान में प्रवेश नहीं कर सकती। आपका बेटा भी आपके साथ भक्ति के जगत् में नहीं प्रवेश करेगा। वहाँ आप अकेले हैं। इसीलिए अकेले होने का थोड़ा रस लें, और जब भी मौका मिल जाय, अकेले होने का मजा लेना सीखें।

लेकिन हम तो घबड़ाते हैं। जरा अकेले हुए कि लगता है कि मरे। जरा

अकेले हुए कि डर लगता है। जरा अकेले हुए कि लगता है कि ऊब जाएँगे, क्या करें?

एक बहुत मजे की बात है। आप अपने से इतने ऊबे हुए हैं कि आप अपने साथ थोड़ी देर भी नहीं रह सकते। और जब कोई आपके साथ ऊब जाता है, तो आप सोचते हैं : वह आदमी बुरा है। आप खुद ही अपने साथ ऊब जाते हैं, तो दूसरे भी ऊबेंगे ही।

अकेले में थोड़ी देर खुद ही से बातें करिए। एक तरह का प्रयोग करिए। जापान में एक विधि है ध्यान की। वे साधक से कहते हैं कि जो भी तेरे भीतर चलता है, वह जोर-जोर से बोल। भीतर मत बोल, जोर-जोर से बोल। बैठ जा एकान्त में और जो भी तेरे भीतर चलता है, उसको जोर से बोल। आप घबड़ा जाएँगे--अगर भीतर जो जैसा है, उसको जोर से बोलेंगे तो। घंटे भर में आप बोलेंगे कि मैं भी कहाँ का बोरियत पैदा करने वाला आदमी हूँ। लेकिन यही आप दूसरों से बोल रहे हैं। और जब दूसरे आपसे बोर होते हैं तो आप समझते हैं कि समझ नहीं है। जरा समझ का...। मैं तो बड़ी ऊँची बात कर रहा हूँ और ये ऊब रहे हैं! लेकिन जब हर आदमी अपने से ऊबा है तो ध्यान रहे, वह दूसरों को भी उबाएगा।

दूसरे आपकी कुछ देर बात सुनते हैं, तो उसका कारण आप जानते हैं? इसलिए नहीं कि आपकी बात में कोई रस है। बल्कि इसलिए कि जब आप बन्द हो जायँ, तो वे बोलें, और कोई कारण नहीं हो सकता। कि अब आप उबा लिए काफी, अब हमको भी उबाने दो। इसलिए सब से ज्यादा बोर करने वाला आदमी वह मालूम पड़ता है, जो कि आपको मौका ही नहीं देता। और कोई कारण नहीं है। वह बोले ही चला जाता है। वह आपको अवसर ही नहीं देता। आप कहते हैं, 'यह बहुत बोर करने वाला आदमी है।' उसका केवल मतलब इतना है कि आप ही बोर किये जा रहे हैं! मुझको भी बोर करने का मौका दें। एक अवसर मुझे भी दें, तो मैं भी आपको ठीक करूँ। लेकिन जो असली बोर करने की कला में कुशल हैं, वे मौका नहीं देते।

आदमी अपने साथ इतनी ज्यादा पीड़ा अनुभव करता है, और सोचता है दूसरों को सुख देगा।... पति पत्नी को सुख देना चाहता है। पत्नी पति को सुख देना चाहती है। पत्नी सोचती है कि पति के लिए स्वर्ग बना दे, लेकिन अकेली घड़ी भर नहीं रह सकती; नरक मालूम होने लगता है। जब अकेली रह कर पत्नी को नरक मालूम होने लगता है, तो यह पति के लिए नरक ही बना सकती है, स्वर्ग बनायेगी कैसे?

कोई किसी दूसरे के लिए स्वर्ग नहीं बना पाता, क्योंकि हम अपने साथ रहने

को राजी नहीं हैं ।

इस जमीन पर उन लोगों के निकट कभी कभी स्वर्ग की थोड़ी-सी हवा बहती है, जो अपने साथ रहने की कला जानते हैं । इसे थोड़ा समझ लें ।

जो आदमी एकान्त में रहने की कला जानता है, उसके पास आपको भी कभी थोड़े से रस की बूंद मिल सकती हैं, कोई अमृत की थोड़ी झलक मिल सकती है । लेकिन जो अपने साथ रहना जानता नहीं, उसका तो जीवन से कोई संस्पर्श नहीं हुआ है ।

कृष्ण कहते हैं, 'शुद्ध देश में, एकान्त में, अपने भीतर की शुद्धता में रहने का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में अरति ।' अगर कभी जाना भी हो किसी के पास, तो ऐसे व्यक्ति के पास जाना चाहिए, जो आपको संसार की तरफ न ले जाता हो । जो आपको संन्यास की तरफ ले जाता हो । जो आपको उठाता हो—वस्तुओं के पार । जो आपको जीवन के परम मन्दिर की तरफ इशारा करता हो । जाना ही हो किसी के पास, तो ऐसे व्यक्ति के पास जाना चाहिए । अन्यथा भीड़ से, समूह से बचना चाहिए ।

'तथा अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सर्वत्र देखना—यह सब तो ज्ञान है, और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है : ऐसा कहा है । परमात्मा को सर्वत्र देखना, यह तो ज्ञान है । और इसके विपरीत जो है, वह अज्ञान है ।

बड़ा कठिन है परमात्मा को सर्वत्र देखना । अपने ही भीतर नहीं देख सकते, तो बाहर कैसे देख सकेंगे ! पहले तो अपने ही भीतर देखना जरूरी है—कि परमात्मा मौजूद है । चाहे कितना ही विकृत हो, कितना ही बन्धन में हो, कारागृह में हो, है तो परमात्मा ही । चाहे कितनी बेचैनी में, परेशानी में हो, है तो परमात्मा ही । अपने भीतर भी परमात्मा देखना शुरू करना चाहिए, और अपने आसपास भी देखना शुरू करना चाहिए । धीरे-धीरे यह परमात्म-भाव ऐसा हो जाना चाहिए कि परमात्मा ही दिखाई पड़े, बाकी लोग उसके रूप दिखाई पड़ें । यह भावदशा बन जाती है । लेकिन अपने से ही शुरू करना पड़े ।

और जैसे कोई पत्थर फेंके पानी में तो पहले छोटा-सा वर्तुल उठता है—पत्थर के चारों तरफ । फिर वर्तुल फैलता जाता है, और दूर अनन्त किनारों तक चला जाता है । ऐसा पहली दफा परमात्मा का पत्थर अपने भीतर ही फेंकना जरूरी है । फिर वर्तुल उठता है, लहरें फैलने लगती हैं और चारों तरफ पहुँच जाती हैं ।

जब तक आप अपने में देखते हैं : पाप, नरक, और आपको कोई परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता, तब तक आपको किसी में भी दिखाई नहीं पड़ता । आप कितना

ही मन्दिर की मूर्ति पर सिर पटकें और आपको चाहे राम और कृष्ण भी मिल जायें तो भी आपको परमात्मा दिखाई नहीं पड़ सकता ।

जिस धोबी ने राम के खिलाफ वक्तव्य दिया, और जिसकी वजह से राम को सीता को निकाल देना पड़ा, वह राम के गाँव का निवासी था ; उसको राम में राम दिखाई नहीं पड़ा । उसको सीता में सीता दिखाई नहीं पड़ी । उसको सीता में दिखाई पड़ी व्यभिचारिणी स्त्री । वह खुद व्यभिचारी रहा होगा ।

जो हमारे भीतर होता है, वह हमें दिखाई पड़ता है । तो राम भी पास खड़े हों, तो आपको रावण ही दिखाई पड़ेंगे । आपको तो कुछ अड़चन ही मालूम होगी । आपको लगेगा कि कुछ न कुछ बात है ।

एक मित्र ने थीसिस लिखी है, राम के ऊपर एक शोध-ग्रंथ लिखा है, और शोध ग्रंथ में उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि शबरी बूढ़ी स्त्री नहीं थी, जवान स्त्री थी; राम का सम्बन्ध प्रेम का था शबरी से—भक्ति का नहीं । इन मित्र को मैं जानता हूँ । वे कभी-कभी मुझसे मिलने आते थे । मैंने उनसे पूछा कि 'यह ठीक हो या गलत हो, मुझे कुछ पता नहीं । और इसमें मुझे कुछ रस भी नहीं कि राम का शबरी से प्रेम था या नहीं । लेकिन तुम्हें शोध करने का यह खयाल कैसे पैदा हुआ ! सच हो भी सकता है । मुझे कुछ पता नहीं कि राम का क्या सम्बन्ध रहा और न मेरी उत्सुकता है कि किसी के सम्बन्धों की जानकारी करूँ । न मेरा कोई अधिकार है; न मैं कोई इन्स्पैक्टर हूँ, जो पता लगाऊँ कि किसका किससे प्रेम है । यह शबरी और राम के बीच की बात है । लेकिन तुम्हें यह खयाल कैसे आया? तुम्हें खयाल तो अपने ही किसी अनुभव से आया होगा । और तुम्हारे देखने की दृष्टि से ही तो शोध पैदा हुई; राम की घटना से पैदा नहीं हुई । क्योंकि राम पर तो बहुत लोग शोध करते हैं । लेकिन यह शोध किसी ने भी नहीं की !'

इन सज्जन ने खोजबीन की है कि सीता का निकालना—धोबी का तो बहाना था; सीता को राम निकालना ही चाहते थे ।

राम के मन में क्या था, यह तो पता लगाने का कोई उपाय नहीं है, लेकिन जो आदमी यह खोज कर रहा है, उसके मन की स्थिति तो सोचने जैसी हो जाती है ।

आप जब तक अपने भीतर परमात्मा को न देख पायें, तब तक राम में भी दिखाई नहीं पड़ेगा । और जिस दिन आप अपने भीतर देख पायें, उस दिन रावण में भी दिखाई पड़ेगा । क्योंकि अपनी सारी पीड़ाओं, चिन्ताओं, वासनाओं के बीच भी जब आपको भीतर की ज्योति दिखाई पड़ने लगती है, तो आप जानते हैं कि चाहे कितना ही पाप हो चारों तरफ, भीतर ज्योति तो परमात्मा की है । चाहे काँच पर कितनी धूल जम गई हो, और चाहे काँच कितना ही गन्दा हो गया हो, लेकिन भीतर

की ज्योति तो निष्कलुष जल रही है। ज्योति पर कोई धूल नहीं जमती, और ज्योति कभी गंदी नहीं होती। हाँ, ज्योति के चारों तरफ काँच का जो घेरा है, वह गंदा हो सकता है। जब आप अपने गंदे से गंदे घेरे में भी उस ज्योति का अनुभव कर लेते हैं, तत्क्षण सारा जगत् उसी ज्योति से भर जाता है।

ज्ञानी का लक्षण है परमात्मा का सर्वत्र अनुभव करना।

पाँच मिनट रुकेंगे। बीच से कोई उठे ना। कीर्तन पूरा हो जाय तब जायें।

पाँचवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, संध्या, दिनांक ८ मई, १९७३

स्वानुभव से श्रद्धा • अनन्य प्रेम
समस्त विपरीतताओं का विलय—परमात्मा में

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

और हे अर्जुन, जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य अमृत व परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा । वह आदिरहित परम ब्रह्म अकथनीय होने से न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है ।

परन्तु वह सब ओर से हाथ-पैरवाला एवं सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर से श्रोत वाला है, क्योंकि वह संसार में सब को व्याप्त करके स्थित है ।

और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है । तथा आसक्तिरहित और गुणों से अतीत हुआ भी अपनी योग-माया से सब को धारण-पोषण करनेवाला और गुणों को भोगनेवाला है ।

पहले कुछ प्रश्न ।

• एक मित्र ने पूछा है कि श्रद्धा क्या है ? और अन्ध-श्रद्धा क्या है ? गीता के इस अध्याय को समझने में, यह प्रश्न भी उपयोगी होगा ।

अन्ध-श्रद्धा से अर्थ है : वस्तुतः जिसमें श्रद्धा न हो; सिर्फ ऊपर-ऊपर से श्रद्धा कर ली गई हो । भीतर से आप भी जानते हों कि श्रद्धा नहीं है । लेकिन किसी भय के कारण या किसी लोभ के कारण या मात्र संस्कार के कारण, समाज की शिक्षा के कारण स्वीकार कर लिया हो ।

ऐसी श्रद्धा के पास आँखें नहीं हो सकतीं, क्योंकि आँखें तो तभी उपलब्ध होती हैं श्रद्धा को, जब हृदय उसके साथ हो । तो अन्ध-श्रद्धा बुद्धि की ही बात है । यह थोड़ा समझना पड़ेगा ।

आमतौर से लोग समझते हैं कि अंध-श्रद्धा हृदय की बात है --बुद्धि की नहीं । अन्ध-श्रद्धा बुद्धि की बात है; श्रद्धा हृदय की बात है ।

बुद्धि सोचती है : लाभ-हानि, हित-अहित--परिणाम--और उनके हिसाब से श्रद्धा को निर्मित करती है ।

आप भगवान् में श्रद्धा रखते हैं, इसलिए नहीं कि आपके हृदय का कोई तालमेल परमात्मा से हो गया है, बल्कि इसलिए कि भय मालूम पड़ता है । बचपन से डराए गए हैं कि अगर परमात्मा को न माना, तो कुछ अहित हो जाएगा । यह भी समझाया गया है कि परमात्मा को माना, तो स्वर्ग मिलेगा, पुण्य होगा, भविष्य में सुख पाएँगे ।

मन डरता है, मन भयभीत होता है । मन लोभ के पीछे दौड़ता है । लेकिन भीतर गहरे में आप जानते हैं कि आपका परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

यह जो ऊपर की श्रद्धा है--जबरदस्ती आरोपित श्रद्धा है--यह अंधी होगी, क्योंकि हृदय का तालमेल न हो, तो आँख नहीं हो सकती । और ऐसी श्रद्धा,

सदा ही तर्क से डरेगी, यह उसकी पहचान होगी। ऐसी श्रद्धा सदा ही तर्क से डरेगी, क्योंकि भीतर तो पता ही है कि परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह है या नहीं है—यह भी पता नहीं है। ऊपर-ऊपर से माना है। अगर कोई खण्डन करने लगे, तर्क देने लगे, तो भीतर भय होगा। भय दूसरे से नहीं होगा। भीतर अपने ही, छिपा होता है।

अगर मेरी श्रद्धा ऊपर-ऊपर है, अन्धी है, तो मैं डरूँगा कि कोई मेरी श्रद्धा न काट दे। कोई विपरीप बातें न कह दे। विपरीत बातों से डर नहीं आता। क्योंकि मेरी श्रद्धा कमजोर है, इसलिए डर है कि कहीं टूट न जाय। और मेरी श्रद्धा ऊपर-ऊपर है, फट सकती है, छिद्र हो सकते हैं। और छिद्र हो जायँ, तो मेरे भीतर जो अश्रद्धा छिपी है, उसका मुझे दर्शन हो जाएगा।

ध्यान रहे, दुनिया में कोई आदमी आपको सन्देह में नहीं डाल सकता। सन्देह में डाल ही तब सकता है, जब सन्देह आपके भीतर भरा हो। और श्रद्धा की पर्त भर हो ऊपर। पर्त तोड़ी जा सकती है, तो सन्देह आपका बाहर आ जाएगा।

जो आस्तिक, नास्तिक से भयभीत होता है, वह आस्तिक नहीं है। और जो आस्तिक डरता है, कि कहीं ईश्वर के विपरीत कोई बात सुन ली, तो कुछ खतरा हो जाएगा, वह आस्तिक नहीं है; उसे अभी आस्था उपलब्ध नहीं हुई; वह अपने से ही डरा हुआ है। वह जानता है कि कोई भी जरा-सा कुरेद दे, तो मेरे भीतर का सन्देह बाहर आ जाएगा। वह सन्देह बाहर न आये, इसलिए वह पागल की तरह अपने भरोसे के लिए लड़ता है।

अन्धे लोग लड़ते हैं, उद्विग्न हो जाते हैं, उत्तेजित हो जाते हैं। वे आपका सिर तोड़ने को राजी हो जाएँगे, लेकिन आपकी बात सुनने को राजी नहीं होंगे। वे केवल एक बात की खबर दे रहे हैं कि वे आपसे नहीं डरे हुए हैं। वे खुद अपने से डरे हुए हैं। और कहीं आप उनकी उनसे ही मुलाकात न करवा दें, इससे आप से डरे हुए हैं।

अन्ध-श्रद्धा लोभ और भय से जन्मती है; श्रद्धा अनुभव से जन्मती है। और जो आदमी अन्ध-श्रद्धा में पड़ जाएगा, उसकी श्रद्धा सदा के लिए बाँझ हो जाएगी; उसे श्रद्धालु होने का मौका ही नहीं मिलेगा। इसलिए मैं निरंतर कहता हूँ कि नास्तिक होना बेहतर है, बजाय झूठे आस्तिक होने के। क्योंकि नास्तिक होने में एक सच्चाई तो है, कि आप कहते हैं : 'मुझे पता नहीं है। जिस बात का मुझे पता नहीं है, उसका मैं भरोसा नहीं करूँगा।' और एक सम्भावना है नास्तिक के लिए कि अगर उसे कभी पता चलना शुरू हो जाय, तो वह भरोसा करेगा। लेकिन जिसने झूठा भरोसा कर रखा है, वह सच्चे भरोसे पर कैसे पहुँचेगा? झूठा भरोसा उसे यह खयाल

दिला देता है कि मुझे तो श्रद्धा उपलब्ध हो गई है।

इस जमीन पर धर्म का न होना, इसी कारण है, क्योंकि लोग झूठे आस्तिक हैं, इसलिए सच्ची आस्तिकता उपलब्ध नहीं हो पाती। और जब तक हम झूठी आस्तिकता का भरोसा रखेंगे, तब तक जमीन अधार्मिक रहेगी। आप अपने से ही पूछिए : सच में आपको ईश्वर में भरोसा है?

मेरे एक शिक्षक थे, नास्तिक थे, उनकी मरण-शय्या पर मैं उनके घर मौजूद था। बहुत बीमार थे। उनको देखने गया था। फिर उनके चिकित्सक ने कहा कि एक दो दिन से ज्यादा बचने की उम्मीद नहीं है, तो रुक गया। नास्तिक थे सदा के; कभी मंदिर नहीं गए। ईश्वर की बात से ही चिढ़ जाते थे। धर्म का नाम किसी ने लिया कि वे विवाद में उतर जाते थे। लेकिन मरने की थोड़ी ही घड़ी भर पहले मैंने देखा कि वे राम-राम, राम-राम जप रहे हैं। धीमे धीमे उनके होंठ हिल रहे हैं।

तो मैंने उन्हें हिलाया और मैंने पूछा कि 'यह क्या कर रहे हैं—आखिरी वक्त?' तो उन्होंने बड़ी दयनीयता से मेरी तरफ देखा और उनके आखिरी शब्द ये थे कि आखिरी वक्त भय पकड़ रहा है। पता नहीं, ईश्वर हो, तो हर्ज क्या है—राम-राम कर लेने में। नहीं हुआ तो कोई बात नहीं। अगर हुआ तो आखिरी क्षण स्मरण कर लें।' यह भयभीत चित्त है। इसलिए अकसर बूढ़े लोग आस्तिक हो जाते हैं।

मन्दिरों में, मसजिदों में, गिरजाघरों में बूढ़े स्त्री-पुरुष दिखाई पड़ते हैं। और पुरुषों की बजाय स्त्रियाँ ज्यादा दिखाई पड़ती हैं। क्योंकि स्त्रियाँ ज्यादा भयभीत होती हैं। और बूढ़े होते-होते हर आदमी स्त्रैण हो जाता है और भयभीत होने लगता है, डरने लगता है। हाथ-पैर कंपने लग लगते हैं। जवानी का भरोसा चला जाता है। मौत करीब आने लगती है। जैसे-जैसे मौत करीब आती है, भय की छाया बढ़ती है। तो भगवान् का भरोसा बढ़ता है। यह भरोसा झूठा है। इस भरोसे का असलियत से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो डर से पैदा हो रहा है। और डर से जो पैदा हो रहा है, उससे कोई क्रांति नहीं हो सकती जीवन में।

बच्चों को हम डरा के 'धार्मिक बना लेते हैं। और सदा के लिए इन्तजाम कर देते हैं कि वे कभी धार्मिक न हो पाएँगे।

बच्चों को डराया जा सकता है। माँ-बाप शक्तिशाली हैं; समाज शक्तिशाली है; शिक्षक शक्तिशाली है। हम बच्चों को डर के आधार पर मन्दिरों में झुका देते हैं, मसजिदों में नमाज पढ़वा देते हैं—प्रार्थना करवा देते हैं। मजबूरी में, डर की वजह से झुक जाते हैं—प्रार्थना कर लेते हैं। और फिर यह भय ही उन्हें सदा झुकाए रखता है। लेकिन इस कारण कभी सच्ची श्रद्धा का जन्म नहीं होता।

जिस आदमी को नकली हीरे-मोती असली मालूम पड़ गए, वह असली की

खोज ही नहीं करेगा ।

धार्मिक व्यक्ति भय से प्रभावित नहीं होता, न लोभ से आन्दोलित होता है । धार्मिक व्यक्ति तो सत्य की तलाश में होता है । और उस तलाश के लिए, कोई दूसरी प्रक्रिया है । उस तलाश के लिए ऊपर-ऊपर से श्रद्धा थोपने का कोई उपाय नहीं है, न कोई लाभ है । उस तलाश के लिए भीतर उतरने की जरूरत है । आप जिस दिन आपने भीतर उतरना सीख जाएँगे, उसी दिन आपको सम्यक् श्रद्धा भी उपलब्ध होने लगेगी ।

जो व्यक्ति अपने भीतर जितना गहरा जाएगा, परमात्मा में उसकी उतनी ही श्रद्धा हो जाएगी । जो व्यक्ति अपने से बाहर जितना भटकेगा, वह कितनी ही परमात्मा की बातें करे, उसकी श्रद्धा झूठी और अन्धी होगी ।

परमात्मा तक पहुँचने की एक ही सीढ़ी है, वह आप स्वयं हैं । न तो किसी मन्दिर में जाने से इसकी श्रद्धा पैदा होगी, न किसी मसजिद में जाने से पैदा होगी । उसका मन्दिर, उसकी मसजिद, उसका गुरुद्वारा आप हैं । वह आपके भीतर छिपा है । आप जैसे-जैसे अपने भीतर उतरेंगे, वैसे-वैसे उसका स्वाद, उसका रस, उसका अनुभव आने लगेगा और उस अनुभव के पीछे जो श्रद्धा जन्मती है, वही श्रद्धा है । लेकिन नकली सिक्कों से जो राजी हो गया, वह भीतर कभी जाता नहीं ।

झूठी श्रद्धा की कोई जरूरत भी नहीं है, क्योंकि जिस पर हम भरोसा कर रहे हैं, वह भीतर बैठा है, उस पर भरोसा करने की कोई जरूरत नहीं है । उसका तो अनुभव ही किया जा सकता है । और जिसका अनुभव किया जा सकता है, उसका भरोसा क्या करना ? क्या जरूरत ?

आप सूरज पर विश्वास नहीं करते । कोई आप से पूछे कि आपकी सूरज में श्रद्धा है ? तो आप हँसेंगे कि आप कैसा व्यर्थ का सवाल पूछते हैं । सूरज है; श्रद्धा का क्या सवाल ? श्रद्धा का सवाल तो तभी उठता है --उन चीजों के सम्बन्ध में--जिनका आपको पता नहीं है ।

आपसे कोई नहीं पूछता कि आपकी पृथ्वी में श्रद्धा है ! पृथ्वी है, श्रद्धा का क्या सवाल है । लेकिन लोग पूछते हैं : ईश्वर में श्रद्धा है ? आत्मा में श्रद्धा है ? और आप कभी नहीं सोचते कि ये भी असंगत सवाल हैं । लेकिन आप कहते हैं : श्रद्धा है या नहीं है ? क्योंकि जिन चीजों के सम्बन्ध में पूछा जा रहा है, वह आपको अनुभव की नहीं मालूम होती ।

लेकिन धर्म का यही आग्रह है कि वह भी उतने ही अनुभव का है, जितना पृथ्वी और सूरज; शायद इससे भी ज्यादा अनुभव का है । क्योंकि यह तो हो भी सकता है कि सूरज का हमें भ्रम हो रहा है । क्योंकि सूरज बाहर है और हमारा उससे

सीधा मिलना कभी नहीं होता ।

वैज्ञानिक कहते हैं कि हम किसी भी चीज को सीधा नहीं देख सकते । सूरज को आप ने कभी देखा नहीं है आज तक । क्योंकि सूरज को आप देखेंगे कैसे सीधा ? सूरज की किरणें आती हैं, वे आपकी आँख पर पड़ती हैं । वे किरणों आपकी आँख में रासायनिक परिवर्तन पैदा करती हैं । रासायनिक परिवर्तन आपके अन्दर विद्युत प्रवाह पैदा करते हैं । वे विद्युत प्रवाह आप तक पहुँचते हैं--उनकी चोट । वह चोट आपको अनुभव होती है ।

आज तक सूरज आपने कभी देखा नहीं । सूरज को देखने का कोई उपाय नहीं है । अभी आप मुझे देख रहे हैं । लेकिन मैं आपको दिखाई नहीं पड़ रहा । आपको दिखाई तो भीतर रासायनिक परिवर्तन हो रहे हैं ।

सीधा पदार्थ का अनुभव करने का कोई उपाय नहीं है । बीच में इंद्रियों की मध्यस्थता है । इसलिए यह तो हो भी सकता है कि सूरज न हो । सूरज के सम्बन्ध में जो श्रद्धा है, वह काम-चलाऊ है । लेकिन स्वयं का अनुभव अगर हो जाय, तो जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह काम-चलाऊ नहीं है । वह आत्यंतिक, अल्टिमेट है । उसमें फिर कोई सन्देह नहीं हो सकता ।

सिर्फ एक अनुभव है : स्वयं की आत्मा का, जो असंदिग्ध कहा जा सकता है ; बाकी सब अनुभव संदिग्ध हैं । सब में धोखा हो सकता है ।

पिछले महायुद्ध में एक सैनिक फ्रान्स के एक अस्पताल में भरती हुआ । उसके पैर में भयंकर चोट पहुँची थी और असह्य पीड़ा थी और पीड़ा के कारण वह बेहोश हो गया । चिकित्सक ने देखा कि उसका पैर बचाना असम्भव है, और पैर अगर नहीं काट दिया जाय, तो पूरे शरीर में भी जहर फैल सकता है । इसलिए घुटने के नीचे का हिस्सा उन्होंने काट दिया । उस समय वह बेहोश था ।

सुबह जब उसे होश आया, तो उसने पास में खड़ी नर्स से पहली बात यह कही कि ' मेरे पैर में बहुत तकलीफ हो रही है । मेरे पंजे में असह्य पीड़ा है ।' पंजा तो था नहीं, इसलिए पीड़ा तो हो नहीं सकती पंजे में । पैर तो काट दिया था । लेकिन उसे तो पता नहीं था; वह तो बेहोशी में था । होश आते ही उसने पहली बात कही कि 'मेरे पंजे में बहुत पीड़ा है ।' वह तो बँधा कम्बल में पड़ा हुआ है । उसे कुछ पता नहीं है ।

नर्स हँसने लगी । उसने कहा, 'फिर से थोड़ा सोचो । सच में पंजे में पीड़ा है ?' उस आदमी ने कहा, 'इसमें भी कोई झूठ होने का सवाल है ? असह्य पीड़ा हो रही है मुझे ।' उस नर्स ने कहा, 'लेकिन तुम्हारा पैर तो काट दिया गया है, इसलिए यह तो माना नहीं जा सकता कि तुम्हारे पंजे में पीड़ा हो रही है । जो पंजा अब है

ही नहीं, उसमें पीड़ा कैसे हो सकती है ?

नर्स ने कम्बल उघाड़ दिया। उस आदमी ने देखा : उसके घुटने के नीचे उसके नीचे का पैर तो कट गया है। लेकिन उसने कहा कि मैं देख रहा हूँ कि मेरे घुटने के नीचे का पैर कट गया है, लेकिन फिर भी पंजे में ही पीड़ा हो रही है; मैं क्या कर सकता हूँ !

डॉक्टर बुलाए गए। उन्होंने बड़ी खोजबीन की। यह पहला मौका था कि कोई आदमी ऐसी पीड़ा की बात कर रहा है। जो अंग ही न बचा हो ...! आपका सिर किसी ने काट दिया और आप कह रहे हैं : सिर में दर्द हो रहा है !

पैर बचा ही नहीं तो पंजे में दर्द नहीं हो सकता। घुटने में दर्द हो सकता है, क्योंकि वहाँ से काटा गया है। लेकिन वह आदमी कहता है : घुटने में मुझे दर्द नहीं ; मुझे दर्द तो पंजे में है।

तो उसका बहुत अन्वेषण किया गया और पाया गया कि दर्द जब आपके पंजे से होता है, तो उससे सीधा तो आपकी मुलाकात होती नहीं। पंजे से स्नायुओं का जाल फैला हुआ है—मस्तिष्क तक। वे स्नायु कंपते हैं, उनके कंपन से आपको दर्द का पता चलता है। पंजा तो काट दिया गया। लेकिन जो स्नायु पंजे के दर्द में कंपने शुरू हुए थे, वे अब भी कंप रहे हैं, इसलिए उनके कारण उस आदमी को खबर मिल रही है कि पंजे में दर्द हो रहा है। पंजा नहीं है, और पंजे में दर्द हो रहा है !

उस आदमी के अन्वेषण से यह तय हुआ कि बाहर से जो भी घटनाएँ आपको मिल रही हैं, उसके बाबत पक्का नहीं हुआ जा सकता। निश्चित नहीं है; संदिग्ध है। बिना पंजे के दर्द हो सकता है। बिना आदमी के मौजूद आपको आदमी दिखाई पड़ सकता है। अगर आपके भीतर वे ही स्नायु कंपित कर दिए जायँ, जो आदमी के मौजूद होने पर कंपित होते हैं, तो आदमी दिखाई पड़ना शुरू हो जाएगा।

अभी उन्होंने चूहों पर बहुत से प्रयोग किये; स्लेटर ने एक यंत्र छोटा-सा बनाया। जब कोई व्यक्ति पुरुष-स्त्री पशु-पक्षी—कोई भी सम्भोग करता है, तो सम्भोग में जो रस आता है वह रस कहाँ आता है ? क्योंकि सम्भोग तो घटित होता है यौन केंद्र के पास। और रस आता है मस्तिष्क में तो जरूर मस्तिष्क में कोई तन्तु कंपते होंगे जिनके कारण रस आता है।

तो स्लेटर ने उन तन्तुओं की खोज की चूहों में। और उसने एक छोटा-सा यंत्र बनाया। और मस्तिष्क से इलेक्ट्रोड जोड़ दिए, बिजली के तार जोड़ दिए। और जैसे ही वह बटन दबाता, चूहा आनन्दित होने लगता, जैसे सम्भोग में होता है। फिर तो उसने एक ऐसा यंत्र बनाया कि बटन चूहे के सामने ही लगा दिया।

और चूहे को ही अनुभव हो गया। जब चूहे ने बार-बार बटन स्लेटर को दबाते देखा और उसे आनंद आया भीतर, तो चूहा खुद बटन दबाने लगा। फिर तो, स्लेटर ने लिखा है कि चूहे ने खाना-पीना सब बन्द कर दिया। वह एकदम बटन दबाता ही चला जाता, जब तक कि बेहोश न हो जाता। एक चूहे ने हजार बार बटन दबाया। दबाता ही गया। दबाएगा—आनन्दित होगा। फिर दबाएगा—फिर आनन्दित होगा। छः हजार बार उसने सम्भोग का रस लिया और सम्भोग तो हो नहीं रहा ; मस्तिष्क में तन्तु हिल रहे हैं।

स्लेटर का कहना है कि यह यंत्र कभी विकसित हुआ तो मनुष्य सम्भोग से मुक्त भी हो सकता है। लेकिन यह खतरनाक यंत्र है। अगर चूहा छः हजार बार दबाता है, तो आप साठ हजार बार दबाएँगे। चूहे को इतना रस आ रहा है तो चूहों की कामुकता के बाबत तो बहुत ज्यादा खबर नहीं है। लेकिन आदमी तो बहुत ज्यादा कामुक होता है। वह तो फिर दबाता ही रहेगा। चूहा भी जब तक बेहोश हो कर नहीं गिर गया—एक्झास्टेड—तब तक वह दबाता ही रहा।

जो कुछ भी बाहर घटित हो रहा है, वह आपके मस्तिष्क में पहुँचता है तंतुओं के द्वारा। इसलिए उसके बाबत जरूरी नहीं है कि बाहर सच में घटित हो रहा है या सिर्फ तंतु खबर दे रहे हैं। आपको धोखे में डाला जा सकता है।

सिर्फ अनुभव तो एक है—असंदिग्ध—जिस पर श्रद्धा हो सकती है और वह अनुभव है भीतर का, जो इन्द्रियों के माध्यम से घटित नहीं होता। जिसका सीधा साक्षात्कार होता है।

तो जितना कोई व्यक्ति अपने भीतर उतरता है, उतना ही परमात्मा में श्रद्धा बढ़ती है। इसलिए महावीर ने कहा है कि परमात्मा की बात ही मत करो। सिर्फ आत्मा को जान लो, और तुम परमात्मा हो जाओगे। इसलिए महावीर ने परमात्मा की बात के लिए भी मना कर दिया। न तो उसकी बात करो, न उस पर श्रद्धा करो। तुम सिर्फ, आत्मा को जान लो और तुम परमात्मा हो जाओगे। क्योंकि उसके जानने में ही वह अनुभव तुम्हें उपलब्ध हो जाएगा, जो परम और आत्यंतिक है।

श्रद्धा का अर्थ है : अनुभव पर आधारित। अन्ध-श्रद्धा का अर्थ है : लोभ, भय पर आधारित। आप अपने भीतर खोज करें कि आपकी श्रद्धाएँ लोभ पर आधारित हैं, भय पर आधारित हैं या अनुभव पर आधारित हैं। अगर लोभ और भय पर आधारित हैं, तो आप अन्ध-श्रद्धा में जी रहे हैं।

और जो अन्ध-श्रद्धा में जी रहा है, वह धार्मिक नहीं है, और वह बड़े खतरे में है। वह अपने जीवन को ऐसे ही नष्ट कर देगा।

श्रद्धा में जीने की शुरुआत ही धार्मिक होने की शुरुआत है ।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि कल आपने एक के प्रति अनन्य प्रेम व श्रद्धा को अव्यभिचारिणी की संज्ञा दी । तथा अनेक के प्रति प्रेम व श्रद्धा को व्यभिचारिणी कहा । साधारणतः स्थिति उलटी लगती है । अर्थात् एक के प्रति प्रेम, मोह व आसक्ति बन जाती है । अनेक प्रति प्रेम मुक्ति व प्रार्थना का विस्तार बन जाती है । दूसरी बात यह कि अनेक को प्रेम कर पाना प्रेम का विस्तार व विकास लगता है, व्यभिचारी भाव नहीं । इस विरोधाभास के सम्बन्ध में कुछ कहें ।

दो बातें हैं । एक तो, एक और अनन्त--इस दोनों के बीच में है अनेक । या तो अनन्त को प्रेम करें, तो मुक्त हो जाएँगे, और या एक को प्रेम करें, तो मुक्त हो जाएँगे । अनेक उलझा देगा । अनेक व्यभिचार है--अनन्त नहीं । या तो एक को प्रेम करें कि सारा प्रेम एक पर आ जाय । इसलिए नहीं कि एक का प्रेम मुक्त करेगा । कल भी मैंने कहा, एक पर अगर प्रेम करेंगे, तो आप भीतर एक हो जाएँगे ।

प्रेम तो कला है स्वयं को रूपांतरित करने की । अगर एक को प्रेम किया तो आप एक हो जाएँगे । और या फिर आप अनन्त को प्रेम करे, तो आप अनन्त हो जाएँगे ।

अनेक को प्रेम न करें, नहीं तो आप खण्ड-खण्ड हो जाएँगे ।

एक का प्रेम मोह बन सकता है, अनेक का प्रेम भी मोह बनेगा; सिर्फ जरा बदलता हुआ मोह रहेगा । एक प्रेम आसक्ति बन सकता है, तो अनेक प्रेम भी आसक्ति बनेगा । और एक का प्रेम जब इतनी आसक्ति और कष्ट देता है, तो अनेक का प्रेम तो और ज्यादा आसक्ति और ज्यादा कष्ट देगा ।

लोग सोचते हैं कि अनेक को प्रेम करने से प्रेम मुक्त होंगे । गलत खयाल में हैं । और जो भी वैसा सोचते हैं, वे असल में रुग्ण हैं । जैसे लॉर्ड बायरन--इस तरह के लोग, डॉन-जुआन-टाइप के लोग, जो एक को प्रेम, दो को प्रेम, तीन को प्रेम --इसी चक्कर में भटकते रहते हैं ।

पहले तो लोग सोचते थे, मनोवैज्ञानिक भी सोचते थे कि जो डॉन जुऑन टाइप का आदमी है, यह बड़ा प्रेमी है । इसके पास इतना प्रेम है कि एक व्यक्ति पर नहीं चुकता, इसलिए बहुत से व्यक्तिओं को प्रेम करता फिरता है । लेकिन अब मनस्विद मानते हैं कि यह रुग्ण है । बहुत प्रेम नहीं है, प्रेम है ही नहीं । इसको प्रेम करना ही नहीं आता । और इसलिए केवल व्यक्तियों को बदलता ही चला जाता है । और जितना आप व्यक्तियों को बदलेंगे, उतना छिछला हो जाएगा प्रेम । क्योंकि गहराई के लिए समय चाहिए । गहराई के लिए आत्मीयता

चाहिए । और गहराई के लिए निकट साहचर्य चाहिए ।

अगर एक व्यक्ति रोज एक स्त्री बदल लेता है, और प्रेम करता चला जाता है, तो उसका प्रेम शरीर से गहरा कभी भी नहीं हो पाएगा; शरीर से ज्यादा, सम्बन्ध ही नहीं हो पाएगा । मन तो तब सम्बन्धित होता है, जब दो व्यक्ति सुख-दुःख में साथ रहते हैं । और आत्मा तो तब सम्बन्धित होती है, जब धीरे-धीरे, धीरे-धीरे दूसरे की मौजूदगी भी पता नहीं चलती कि दूसरा मौजूद है । जब दो व्यक्ति एक कमरे में इस भाँति होते हैं, जैसे एक ही व्यक्ति हो--दो है ही नहीं, तब कहीं भीतर की आत्मा का सम्बन्ध स्थापित होता है ।

एक का प्रेम आसक्ति बन सकता है । जरूरी नहीं कि बने । बनाने वाले पर निर्भर करता है । और जो एक के साथ आसक्ति बना लेगा, वह अनेक के साथ भी आसक्ति बना लेगा । एक के साथ प्रेम प्रार्थना भी बन सकता है; वह बनाने वाले पर निर्भर है ।

जिस व्यक्ति को आप प्रेम करते हैं, और अगर वह प्रेम केवल शरीर का ही प्रेम न हो, अगर उसके भीतर के मनुष्यत्व का और उसके भीतर की आत्मा का भी प्रेम हो, और धीरे-धीरे बाहर गौण हो जाय, और भीतर प्रमुख हो जाय, और धीरे-धीरे उसका आकार और रूप भूल जाय और उसका निराकार और निर्गुण स्मरण में रहने लगे, तो वह प्रेम प्रार्थना बन गया ।

और अच्छा है कि एक के साथ ही यह प्रेम प्रार्थना बने । क्योंकि एक के साथ गहराई आसान है; अनेक के साथ गहराई आसान नहीं है । अनेक के साथ प्रेम ऐसा है, जैसे एक आदमी एक हाथ जमीन यहाँ खोदे, दो हाथ जमीन कहीं और खोदे, तीन हाथ जमीन कहीं और खोदे और जिन्दगी भर इस तरह खोदता रहे, और कुआँ कभी भी न बने, क्योंकि कुआँ बनाने के लिए एक ही जगह खोदते जाना जरूरी है । साठ हाथ, सौ हाथ एक ही जगह खोद लें, तो शायद जल-स्रोत उपलब्ध हो पायें ।

दो व्यक्तियों के बीच अगर गहरा प्रेम हो, तो वे एक ही जगह खोदते चले जाते हैं । खोदते-खोदते एक दिन शरीर की पर्त टूट जाती है, और दूसरे के भीतर चैतन्य का संस्पर्श शुरू हो जाता है ।

पति-पत्नी अगर गहरे प्रेम में हों, तो एक दूसरे में परमात्मा को खोज ले सकते हैं । दो प्रेमी परमात्मा को खोज ले सकते हैं । उनका प्रेम धीरे-धीरे प्रार्थना बन जाएगा । लेकिन अगर यह लगता हो कि इसमें खतरा है, तो खतरा इस कारण नहीं लगता कि एक व्यक्ति के प्रति प्रेम में खतरा है । खतरा अपने ही किसी दोष के कारण लगता है ।

तो दूसरा उपाय है और वह दूसरा उपाय है--अनन्त के प्रति प्रेम । फिर

एक का खयाल ही छोड़ दें; अनेक का भी खयाल छोड़ दें। फिर रूप का खयाल ही छोड़ दें, शरीर का खयाल ही छोड़ दे। फिर तो अनन्त का, शाश्वत का--जो चारों तरफ मौजूद निराकार है, उसके प्रेम में लीन हो। फिर पत्थर से भी प्रेम हो, वृक्ष से भी प्रेम हो, आकाश में घूमते हुए बादल के टुकड़े से भी प्रेम हो। फिर व्यक्तियों का सवाल न रहे; फिर अनन्त के साथ प्रेम हो। तो भी व्यभिचार पैदा न होगा।

एक के साथ अव्यभिचार हो सकता है। और अनन्त के साथ अव्यभिचार हो सकता है। दोनों के बीच में व्यभिचार पैदा होगा।

और आदमी बहुत बेईमान है। और अपने को धोखा देने में बहुत कुशल है। अभी पश्चिम में इसकी बहुत तेज हवा है, क्योंकि पश्चिम में मनोवैज्ञानिक ने कहा कि एक के साथ प्रेम जड़ता बन जाता है, कुंठा बन जाता है, अवरोध हो जाता है; प्रेम तो मुक्त होना चाहिए। और मुक्त प्रेम मुक्ति लाएगा। पर उसका परिणाम गहरी अनैतिकता है। न कोई मुक्ति आ रही है, न कोई प्रेम आ रहा है, न कोई प्रार्थना आ रही है। लोग व्यक्तियों को बदलते जा रहे हैं और व्यक्तियों के साथ एक तरह का खिलवाड़ शुरू हो गया है। वह जो पवित्रता है, वह जो आत्मीयता है, उसका उपाय ही नहीं रहा।

आज एक स्त्री है, कल दूसरी स्त्री है। आज एक पति है, कल दूसरा पति है। पति-पत्नी का भाव ही गिरता जा रहा है। दो व्यक्तियों के बीच जैसे क्षण भर का सम्बन्ध है। न कोई दायित्व है, न कोई गहरा लगाव है--न कोई कमिटमेंट। नहीं, कुछ भी नहीं है। एक ऊपर के तल पर मिलना-जुलना है। यह मिलना-जुलना खतरनाक है। और इसके परिणाम पश्चिम में प्रगट होने शुरू हो गए हैं।

आज पश्चिम में प्रेम की इतनी चर्चा है, और प्रेम बिलकुल नहीं है। क्योंकि प्रेम के लिए अनिवार्य बात थी कि एक व्यक्ति के साथ गहरी संगति हो। और एक व्यक्ति के प्रति ऐसा भाव हो कि जैसे उस व्यक्ति के अतिरिक्त अब तुम्हारे लिए जगत् में और कोई नहीं है, तो ही उस व्यक्ति में गहरे उतरना सम्भव हो पाएगा।

कृष्ण ने जो कहा है--अव्यभिचारिणी भक्ति, उसका प्रयोजन यही है।

एक मित्र को मैं जानता हूँ। वे कहते हैं: कुरान भी ठीक, गीता भी ठीक, बाइबिल भी ठीक--सभी ठीक। मसजिद भी ठीक, मंदिर भी ठीक। लेकिन न तो उन्हें मंदिर में रस है, और न मसजिद में; न गीता में, न कुरान में। सबको ठीक कहने का मतलब ऐसा नहीं है कि वे जानते हैं कि सब ठीक है। सबको ठीक कहने का मतलब यह है कि हमें कोई मतलब ही नहीं है। सभी ठीक है। उपेक्षा का भाव है। कोई रस नहीं है, कोई लगाव नहीं है। एक इनडिफरेंस है। इस उपेक्षा से

कोई आस्तिकता तो पैदा होगी नहीं। क्योंकि इस उपेक्षा से कोई काम ही नहीं हो सकता। न मन्दिर में झुकते हैं वे, न मसजिद में झुकते हैं।

यह भी हो सकता है--ऐसे लोग भी हैं, जो मन्दिर के सामने भी झुक जाते हैं, मसजिद के सामने भी झुक जाते हैं, लेकिन उनका झुकना औपचारिक है, लेकिन एक अनन्यभाव नहीं है।

वह आदमी जो कहता है कि नहीं, मसजिद में ही भगवान् हैं; भला हमें उसकी बात जिदपूर्ण मालूम पड़े, और ज्ञान की दृष्टि से जिदपूर्ण है। परमज्ञान की दृष्टि से मन्दिर में भी है, मसजिद में भी है, गुरुद्वारा में भी--लेकिन परमज्ञान ज्ञान की दृष्टि से। वह अभी परम ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुआ है। अभी तो उचित है कि उसका एक के प्रति ही पूरा भाव हो। वह अभी मन्दिर में ही पूरा डूब जाय या मसजिद में ही पूरा डूब जाय। जिस दिन वह मसजिद में पूरा डूब जाएगा, उस दिन मसजिद में ही मंदिर भी प्रगट हो जाएगा। लेकिन वह बाद की बात है। अभी मसजिद में भी डूबा नहीं, मंदिर में भी डूबा नहीं। और वह कहता है: सब ठीक है। मन्दिर में सिर झुका लेता हूँ, मसजिद में भी सिर झुका लेता हूँ। उसका हृदय कहीं भी नहीं झुकेगा।

यह ऐसा है, जैसे आपका किसी स्त्री से प्रेम हो जाय। जब आपका किसी स्त्री से प्रेम हो जाता है, तो आपको लगता है: ऐसी सुंदर स्त्री जगत् में दूसरी नहीं है। यह कोई सच्ची बात नहीं है, क्योंकि न तो आपने सारी जगत् की स्त्रियाँ देखी हैं, न जाँच-परख की है, न तौला है। यह वक्तव्य गलत है। और यह आप कैसे कह सकते हैं--बिना दुनिया भर की स्त्रियों को जाने हुए कि तुझसे सुन्दर कोई भी नहीं है। लेकिन आपकी भाव-दशा यह है। अगर आज सारी दुनिया की स्त्रियाँ भी खड़ी हों, तो भी आपको यही लगेगा, कि यह स्त्री सबसे ज्यादा सुन्दर है। सौंदर्य स्त्री में नहीं होता, आपके प्रेम के भाव में होता है। और जब किसी स्त्री पर आपका प्रेम-भाव आरोपित हो जाता है, तो वही सुन्दर है। सारा जगत् फीका हो जाता है। इस क्षण में, इस भाव-दशा में, यही सत्य है।

और आप ज्ञान की बातें मत करें, कि आप कहें कि नहीं, दूसरी स्त्री भी सुन्दर है; यह भी सुन्दर है और सभी सुन्दर हैं। सुंदर तो सभी हैं। और यह बात कहनी ठीक नहीं है, क्योंकि गणित के हिसाब से ठीक नहीं बैठता। तो आप कभी प्रेम में ही न पड़ पायेंगे। और अगर सच में आप प्रेम में पड़ जायँ, तो उस क्षण में एक स्त्री, एक पुरुष आपको परम सुन्दर मालूम पड़ेगा। उसमें अगर आप लीन हो सकें, तो धीरे-धीरे स्त्री का व्यक्तित्व खो जाएगा। और स्त्रैण-तत्त्व का सौंदर्य दिखाई पड़ने लगेगा। और गहरे उतरेंगे, तो स्त्रैण-तत्त्व भी खो जाएगा, सिर्फ चैतन्य का

सौन्दर्य अनुभव में आने लगेगा। जितने गहरे उतरेंगे, सीमा टूटती जाएगी, और असीम प्रगट होने लगेगा।

लेकिन प्राथमिक क्षण में तो यही भाव पैदा होगा कि इससे ज्यादा सुन्दर और कोई भी नहीं है।

बहुत बार धार्मिक-सामाजिक सुधार करने वाले लोग, बहुत तरह के नुकसान पहुँचा देते हैं। वे समझा देते हैं: 'अल्लाह ईश्वर तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान्।' वे बिलकुल ठीक कह रहे हैं। और फिर भी गलत कह रहे हैं। क्योंकि जिस आदमी को ऐसा लग गया कि 'अल्लाह ईश्वर तेरे नाम', न तो अल्लाह के प्रति डूबने की क्षमता आयेगी, और न राम के प्रति डूबने की क्षमता आयेगी।

प्राथमिक क्षण में तो ऐसा मालूम होना चाहिए कि अल्लाह ही सत्य है, राम वगैरह सब व्यर्थ है। या राम ही सत्य, अल्लाह वगैरह सब व्यर्थ है।

प्राथमिक क्षण में तो यह प्रेम का ही भाव होना चाहिए। अंतिम अनुभव में पता चल जाएगा--शिखर पर पहुँचकर--कि सभी रास्ते यहीं आते हैं।

लेकिन जमीन पर बैठा हुआ आदमी, जो पहाड़ पर चढ़ा ही नहीं, वह कहता है: सभी रास्ते वहीं जाते हैं। फिर वह चलेगा कैसे! चलना तो एक रास्ते पर होता है। सभी रास्तों पर कोई भी चल नहीं सकता। चलने के लिए तो यह भाव होना चाहिए कि यही रास्ता जाता है; बाकी कोई रास्ता नहीं जाता, तो ही हिम्मत, उत्साह पैदा होता है। लेकिन जो चला नहीं है, बैठा है अभी दरवाजे पर ही यात्रा के, वह कहता है। सभी रास्ते वहीं जाते हैं, वह चल ही नहीं पायेगा; पहला कदम ही नहीं उठेगा।

तो जो अन्तिम रूप से सत्य है, वह प्रथम रूप से सत्य हो, यह जरूरी नहीं है। और जो प्रथम रूप से सत्य मालूम होता है, वह अंत में भी बचेगा, यह भी जरूरी नहीं है।

आखीर में तो न अल्लाह उसका नाम है, और न राम उसका नाम है। उसका कोई नाम ही नहीं है। लेकिन प्राथमिक रूप से तो कोई एक नाम को ही पकड़ के चलना--अगर चलना हो। अगर बैठना हो, तो सभी नाम बराबर हैं।

जिस आदमी को चलना नहीं है, वह आदमी इसतरह की बातें कर सकता है। लेकिन जिसको चलना है, उसका सिर तो एक जगह झुकना चाहिए, क्योंकि झुकने के लिए जो अनन्य भाव न हो, तो पूरा समर्पण नहीं हो सकता।

मसजिद गया हुआ आदमी सोचता है: मन्दिर भी ठीक, गिरजाघर भी ठीक, गुरुद्वारा भी ठीक--तो झुक नहीं सकता। वह जो झुकने की दशा चाहिए--कि डूब जाय पूरा, वह नहीं हो सकता। वह तो होगा अनन्य भाव से।

तो कृष्ण जो कहते हैं: 'अव्यभिचारिणी भक्ति'--उसका अर्थ है--एक के प्रति। फिर सवाल यह नहीं है, कि वह अल्लाह के प्रति हो, राम के प्रति हो, कि बुद्ध के प्रति हो, कि महावीर के प्रति हो, यह सवाल नहीं है। किसी के प्रति हो--वह एक के प्रति हो।

इस सम्बन्ध में यह बात समझ लेनी जरूरी है कि दुनिया के जो पुराने दो धर्म हैं, यहूदी और हिंदू... बाकी सब धर्म उनकी ही शाखाएँ हैं। इसलाम और ईसाइयत यहूदी धर्म की शाखाएँ हैं। जैन और बौद्ध हिन्दू-धर्म की शाखाएँ हैं। लेकिन मौलिक धर्म दो हैं: हिन्दू और यहूदी। और दोनों के सम्बन्ध में एक बात सच है कि दोनों ही नॉन-कन्व्हर्टिंग धर्म हैं। न तो यहूदी पसन्द करते हैं कि किसी को यहूदी बना दिया जाय समझा-बुझा के। और न हिन्दू पसन्द करते रहे हैं कि किसी को समझा-बुझा के हिन्दू बनाया जाय। दोनों की मान्यता यह रही है कि किसी की भी जो अनन्य श्रद्धा हो, उससे उसे जरा भी हिलाया न जाय। उसकी जो श्रद्धा हो, वह उसी श्रद्धा से आगे बढ़े। और अगर किसी व्यक्ति के आधे जीवन में परिवर्तन कर लिया जाय, तो उसकी श्रद्धा कभी भी अनन्य न हो पाएगी।

एक बच्चा हिन्दू घर में पैदा हुआ और तीस साल तक हिन्दू भाव में बड़ा हुआ और फिर तीस साल के बाद उसे यहूदी बना दिया जाय। वह यहूदी भला बन जाय, लेकिन भीतर हिन्दू रहेगा; ऊपर यहूदी रहेगा। और ये दो परतें उसके भीतर रहेंगी। इन दो परतों के कारण वह कभी भी एक भाव को और एक समर्पण को उपलब्ध नहीं हो पायेगा। इसलिए दुनिया के ये पुराने दो धर्म नॉन-कन्र्हटिंग हैं। उन्होंने कहा: हम किसी को बदलेंगे नहीं। अगर कोई बदलने को भी आयेगा, तो भी बहुत विचार करेंगे, बहुत सोचेंगे, समझेंगे--तब। जहाँ तक कोशिश यह करेंगे उसको समझाने की कि वह बदलने की चेष्टा छोड़ दे। वह जहाँ है, जिस तरफ चल रहा है, वहीं अनन्य भाव से चले। वहीं से पहुँच जाएगा।

इसमें बड़ी समझने की बात है, बहुत विचारने की बात है, क्योंकि व्यक्ति को हम जितनी ज्यादा दिशाएँ दे दें, उतना ही ज्यादा चलना मुश्किल कर देते हैं। कृष्ण का यह कहना कि तू अनन्य भाव से एक के प्रति समर्पित हो जा, इसका प्रयोजन है। क्योंकि तब तू भीतर भी एक और इन्टिग्रेटेड हो जाएगा। और वह जो तेरे भीतर एकत्व घटित होगा, वही तुझे परमात्मा की तरफ ले जाने वाला है।

अगर यह बात ठीक न लगती हो, तो फिर 'अनेक' विकल्प नहीं है। विकल्प है फिर--अनन्त। तो फिर अनन्त के प्रति समर्पित हो जायँ। दो के बीच चुनाव कर लें। लेकिन 'अनेक' खतरनाक है। अनेक दोनों के बीच में है, और उससे व्यभिचार पैदा होता है। और आप खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, टूट जाते हैं। और आपका

टूटा हुआ व्यक्तित्व किसी भी गहरी यात्रा में सफल नहीं हो सकता ।

अब हम सूत्र को लें :

'और हे अर्जुन, जो जानने के योग्य है, तथा जिसको जान कर मनुष्य अमृत और परम आनन्द को प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा ।'

'जो जानने के योग्य है. . . ।' इसे थोड़ा हम खयाल में ले लें । बहुत-सी बातें जानने की इच्छा पैदा होती है, जिज्ञासा पैदा होती है, कुतूहल पैदा होता है । लेकिन हम यह कभी नहीं सोचते कि सच में ये बातें जानने योग्य भी हैं या नहीं । कुतूहल काफी नहीं है । क्योंकि कुतूहल से कुछ हल न होगा । समय और शक्ति व्यय होती है ।

बहुत-सी बात हम जानने की कोशिश करते हैं, बिना इसकी फिक्र किये कि जान कर क्या करेंगे । बच्चों जैसी उत्सुकता है । अगर बच्चों को साथ ले जायँ, वे कुछ भी पूछेंगे; कुछ भी सवाल उठाते जाएँगे । और ऐसा भी नहीं है कि सवालों से उन्हें कुछ मतलब है । अगर आप जबाब न दें, तो एक क्षण बाद वे दूसरा सवाल उठाएँगे । पहला सवाल फिर न उठाएँगे ।

बच्चों की बात छोड़ दें । मेरे पास बड़े बूढ़े आते हैं, उनसे भी मैं चकित होता हूँ । आते हैं सवाल उठाने । कहते हैं कि बड़ी जिज्ञासा है. . . । और मैं दो मिनट कुछ और बातें करता हूँ, फिर वे घन्टे भर बैठते हैं, लेकिन दुबारा वह सवाल नहीं उठाते । फिर वे चले जाते हैं । वह सवाल कुछ मूल्य का नहीं था । वह सिर्फ कुतूहल था, क्यूरियासिटी थी ।

अभी तो पश्चिम के वैज्ञानिक भी यह सोचने लग गए हैं कि हमें विज्ञान के कुतूहल पर भी रोक लगानी चाहिए । क्योंकि विज्ञान कुछ भी पूछे चला जाता है, कुछ भी खोजे चला जाता है, बिना इसकी फिक्र किये कि इसका परिणाम क्या है, इससे होगा क्या ? इसको जान भी लेंगे, तो क्या होगा ?

जानने को तो बहुत है, और आदमी के पास समय तो थोड़ा है । जानने के तो कितने आयाम हैं, और अगर आदमी ऐसा ही जानता रहे, सभी रास्तों पर, तो खुद समाप्त हो जाएगा और कुछ भी जान न पायेगा ।

तो कृष्ण कहते हैं, 'जो जानने योग्य है. . .।' जिसको जानने का मन होता होता है, वह जानने योग्य है, जरूरी नहीं है ।

फिर जानने योग्य क्या है ? क्या है परिभाषा जानने-योग्य की ? जानने की जिज्ञासा तो बहुत चीजों की पैदा होती है । यह भी जान लें, यह भी जान लें, यह भी जान लें ।

कृष्ण कहते हैं--और भारत की पूरी परम्परा कहती है--कि जानने योग्य

वह है, जिसको जानने पर फिर कुछ जानने को शेष न रह जाय । अगर फिर भी जानने को शेष रहे, तो वह जानने योग्य नहीं था । उससे तो प्रश्न थोड़ा आगे हट गया और कुछ हल न हुआ ।

बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है अपने संस्मरणों में, कि जब मैं बच्चा था और मेरी पहली दफा उत्सुकता दर्शन में बढ़ी, तो मैं सोचता था कि दर्शनशास्त्र में सभी प्रश्नों के उत्तर हैं । नब्बे वर्ष का बूढ़ा हो कर अब मैं कह सकता हूँ कि मेरी धारणा बिलकुल गलत थी और परिणाम बिलकुल दूसरा निकला है । दर्शनशास्त्र के पास उत्तर तो हैं ही नहीं--सिवाय प्रश्नों के । और पहले मैं सोचता था कि खोज करने से, प्रश्न करने से उत्तर मिल जाएँगे, और नब्बे वर्ष तक मेहनत करके अब मैं पाता हूँ कि खोज करने से एक प्रश्न में से दस प्रश्न निकल आते हैं, उत्तर वगैरह कुछ भी मिलता नहीं है ।

पूरे दर्शन शास्त्र का इतिहास पुराने प्रश्नों में से नये प्रश्न निकालने का इतिहास है । उत्तर कुछ भी नहीं है । और जो लोग उत्तर देने की कोशिश करते हैं, उनका उत्तर भी कोई मानता नहीं है । उस उत्तर में से भी दस प्रश्न लोग खड़े करके पूछने लगते हैं । एक प्रश्न दूसरे प्रश्न को जन्म देता है, उत्तर कहीं दिखाई नहीं पड़ते । कारण कुछ होगा । और कारण यही है :

धर्म पूछता है उसी प्रश्न को, जो पूछने योग्य है । और जानना चाहता है वही, जो जानने योग्य है । और दर्शन शास्त्र जानना चाहता है कुछ भी, जो भी जानने योग्य लगता है; जिसमें भी कुतूहल पैदा हो जाता है ।

दर्शन शास्त्र खुजली की तरह है । खुजाने का मन होता है, इसकी बिना फिक्र किये कि परिणाम क्या होगा । खुजाते वक्त अच्छा भी लगता है । लेकिन फिर लहू निकल आता है और पीड़ा होती है !

धर्म कहता है : खुजाने के पहले पूछ लेना जरूरी है कि परिणाम क्या होगा । जिस जानने से और जानने के सवाल उठ जाएँगे, वह जानना व्यर्थ है । पर एक ऐसा जानना भी है, जिसको जानने पर सब जानने की दौड़ समाप्त हो जाती है ।

उस बात को भी ठीक से समझ लेना चाहिए । आखिर आदमी जानना ही क्यों चाहता है ?

इसे हम ऐसा समझें कि अगर कोई मृत्यु न हो, तो दर्शनशास्त्र होगा ही नहीं मृत्यु के कारण आदमी पूछता है--जीवन क्या है । मृत्यु के कारण आदमी पूछता है : शरीर ही सब कुछ तो नहीं है । आत्मा भीतर है या नहीं ? मृत्यु के कारण आदमी पूछता है : जब शरीर गिर जाएगा तो क्या होगा ? मृत्यु के कारण आदमी पूछता है : परमात्मा है या नहीं है ?

थोड़ी कल्पना करें एक ऐसे जगत् की, जहाँ मृत्यु नहीं है--जीवन शाश्वत है। वहाँ न तो आप पूछेंगे आत्मा के सम्बन्ध में, न परमात्मा के सम्बन्ध में। वहाँ दर्शनशास्त्र का जन्म ही नहीं होगा।

सारा दर्शन-शास्त्र मृत्यु से जन्मता है, इसलिए धर्म कहता है : जब तक अमृत का पता न चल जाय, तब तक तुम्हारे प्रश्नों का कोई अन्त न होगा, क्योंकि तुम मृत्यु के कारण पूछ रहे हो। जब तक तुम्हें अमृत का पता न चल जाय, तब तक तुम पूछते ही रहोगे--पूछते ही रहोगे। और कोई भी उत्तर दिया जाय, हल न होगा, जब तक अमृत का अनुभव न मिल जाय।

इसलिए बुद्ध अकसर कहते थे, उनके पास आये लोगों से, कि तुम प्रश्नों के उत्तर चाहते हो या समाधान? जो भी आदमी आता, उसको तो एकदम समझ भी न पड़ता कि फर्क क्या है! कोई आदमी आकर पूछता है कि ईश्वर है या नहीं, तो बुद्ध कहते कि 'तू उत्तर चाहता है कि समाधान?' वह आदमी तो पहले चौंकता कि दोनों में फर्क क्या है। तो बुद्ध कहते कि 'उत्तर अगर चाहिए, तो उत्तर तो हाँ या ना में दिया जा सकता है--कि ईश्वर है या नहीं है। लेकिन तुझे उत्तर मिलेगा नहीं। क्योंकि मेरे कहने से क्या होगा। उत्तर तो मैं दे सकता हूँ; समाधान तुझे खोजना पड़ेगा। उत्तर तो ऐसे मुफ्त मिल सकता है। समाधान साधना से मिलेगा। उत्तर तो ऊपरी होगा, समाधान आन्तरिक होगा। तो तू, ईश्वर है या नहीं, इसका उत्तर चाहता है--कि समाधान? उत्तर चाहिए तो शास्त्रों में भी मिल जाएगा। और अगर समाधान चाहिए तो फिर साधना की तैयारी करनी पड़ेगी। समाधान तो तेरे रूपान्तरण से होगा।'

तो कृष्ण कहते हैं: 'जो जानने योग्य है, और जिसको जानकर मनुष्य अमृत को प्राप्त होता है ...।' वही जानने योग्य है, जिसको जानकर आदमी अमृत को प्राप्त होता है। और अमृत परमानन्द है; मृत्यु दुःख है।

हमारे सभी दुःखों के पीछे मृत्यु छिपी है। अगर आप खोज करेंगे, तो आप जिन बातों को भी दुःख मानते हैं, उन सबके पीछे मृत्यु की छाया मिलेगी। चाहे ऊपर से दिखाई भी न पड़े, थोड़ा खोज करेंगे, तो पायेंगे कि सभी दुःखों के भीतर मृत्यु छिपी है। जहाँ भी मृत्यु की झलक मिलती है, वहीं दुःख आ जाता है।

बुढ़ापे का दुःख है; बीमारी का दुःख है; असफलता का दुःख है--सब मृत्यु का ही दुःख है। धन छिन जाय, तो दुःख है; वह भी मृत्यु का ही दुःख है। क्योंकि धन से लगता है कि इस जीवन को सुरक्षित कर लेंगे। धन छिन गया, असुरक्षित हो गए।

मकान जल जाय, तो दुःख होता है। वह भी मकान जलने का दुःख नहीं है।

मकान की दीवारों के भीतर मालूम होता था, सब ठीक है, सुरक्षित है। मकान के बाहर आकाश के नीचे खड़े होकर मौत ज्यादा करीब मालूम पड़ती है।

धन पास में न हो, तो मौत पास मालूम पड़ती है। धन पास में हो, मौत जरा दूर मालूम पड़ती है। धन की दीवाल बीच में खड़ी हो तो हम मौत को टाल सकते हैं, कि अभी कोई फिक्र नहीं; देखेंगे। फिर धन हमारे पास है, कुछ न कुछ इन्तजाम कर लेंगे। चिकित्सा हो सकती है, डॉक्टर हो सकता है। कुछ होगा। हम मृत्यु को पोस्टपोन कर सकते हैं। हो या ना, यह दूसरी बात है, लेकिन हम अपने मन में सोच सकते हैं कि इतनी जल्दी नहीं है कुछ, कुछ उपाय किया जा सकता है। धन पास में न हो, प्रियजन पास में न हों, अकेले आप खड़े हों, आकाश के नीचे, मकान जल गया हो, मौत एकदम पास मालूम पड़ेगी।

सफल होता है आदमी, तो मौत बहुत दूर मालूम पड़ती है। असफल होता है आदमी, तो खयाल आने लगते हैं उदासी के, मरने का भाव होने लगता है।

जहाँ भी दुःख है समझ लेना, कि वहाँ मौत कहीं न कहीं से झाँक रही है।

तो हम मृत्यु को जानते हुए और मृत्यु में जीते हुए कभी भी आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकते। हम भुला सकते हैं अपने को, कि मौत दूर है, लेकिन दूर से भी उसकी काली छाया पड़ती ही रहती है।

हमारे सभी सुखों में मौत की छाया आकर जहर घोल देती है--कितने भी सुखी हों। बल्कि सच तो यह है सुख के क्षण में भी मौत की झलक बहुत साफ होती है, क्योंकि सुख के क्षण में भी तत्क्षण दिखाई पड़ता है कि क्षणभर का ही है यह सुख। वह जो 'क्षणभर का' दिखाई पड़ रहा है, वह मौत की छाया है।

पढ़ रहा था मैं हरमन हैस के बाबत; जिस दिन उसे नोबुल प्राइज मिली, उसने अपने मित्र को पत्र में लिखा है कि एक क्षण को मैं परम आनन्दित मालूम हुआ; लेकिन एक क्षण को। और तत्क्षण उदासी छा गई कि अब क्या होगा। अभी तक एक आशा थी कि नोबुल प्राइज। वह मिल गई; अब? घनघोर अँधेरा घेर लिया। अब जीवन व्यर्थ मालूम पड़ा, क्योंकि अब कुछ पाने योग्य भी नहीं रहा। मौत करीब दिखाई पड़ने लगी।

आदमी दौड़ता रहता है, जब तक सुख नहीं मिलता। और जब मिलता है, तब अचानक दिखाई पड़ता है : अब? अब क्या होगा? जिस स्त्री को पाना था, वह मिल गई। जिस मकान को बनाना था, वह मिल गया। बेटा चाहिए था, बेटा पैदा हो गया। अब?

सुख के क्षण में सुख क्षणभंगुर है--यह तत्क्षण दिखाई पड़ जाता है। सुख के क्षण में सुख जा चुका--यह अनुभव में आ जाता है। सुख के क्षण में दुःख मौजूद

हो जाता है ।

मौत सब तरफ से घेरे हुए है , इसलिए कृष्ण कहते हैं, अमृत और परमानन्द जिससे प्राप्त हो जाय, वही ज्ञान है । और ऐसी जानने योग्य बातें मैं तुझे अच्छी प्रकार कहूँगा ।

'वह आदिरहित परम ब्रह्म अकथनीय होने से न सत कहा जाता है, और न असत ही कहा जाता है ।' यह बहुत सूक्ष्म बात है । थोड़ा ध्यानपूर्वक समझ लेंगे ।

परमात्मा को हम न तो कह सकते कि वह --'है', और न कह सकते कि वह 'नहीं है' । कठिन बात है, क्योंकि हमें तो लगता है कि दोनों बातों में से कुछ भी कहिए तो ठीक है । समझ में आता है । या तो कहिए कि है या कहिए कि नहीं है । दुनिया में जो आस्तिक और नास्तिक हैं, वे इसी विवाद में हैं ।

इसलिए अगर कोई पूछ ले कि गीता आस्तिक है या नास्तिक ? तो मैं कहूँगा: दोनों नहीं है । कोई पूछे कि वेद आस्तिक हैं या नास्तिक, तो मैं कहूँगा : दोनों नहीं हैं । धार्मिक हैं--आस्तिक नास्तिक नहीं हैं । क्योंकि आस्तिकता नास्तिकता तो जीवन को दो हिस्सों में तोड़ लेती है । आस्तिक कहता है, 'ईश्वर है' । नास्तिक कहता है, 'ईश्वर नहीं है' । लेकिन दोनों एक ही भाषा का उपयोग कर रहे हैं । आस्तिक कहता है : 'है' में हमने ईश्वर को पूरा कह दिया, और नास्तिक कहता है कि 'नहीं है' में हमने पूरा कह दिया । उनमें फर्क शब्दों का है । लेकिन दोनों दावा करते हैं कि हमने पूरे ईश्वर को कह दिया । गीता कहती है कि कोई भी शब्द उसे पूरा नहीं कह सकता । क्योंकि शब्द छोटे हैं और वह बहुत बड़ा है ।

हम कहेंगे 'है' तो भी आधा कहेंगे, क्योंकि 'नहीं' होना भी जगत् में घटित होता है । वह भी तो परमात्मा में ही घटित हो रहा है । 'नहीं है'--अगर परमात्मा के बाहर हो, तो इसका अर्थ हुआ कि जगत् के दो हिस्से हो गए । कुछ परमात्मा के भीतर है, और कुछ परमात्मा के बाहर है । तब तो परमात्मा दो हो गए ; तब तो जगत् विभाजित हो गया ।

अगर हम कहें कि परमात्मा सिर्फ जीवन है, तो फिर मौत किसमें होगी ? और अगर हम कहें कि परमात्मा सिर्फ सुख है, तो दुःख किसमें होगा ? और अगर हम कहें कि परमात्मा सिर्फ स्वर्ग है, तो नरक कहाँ होगा? फिर हमें नरक को अलग बनाना पड़ेगा--परमात्मा से । उसका अर्थ हुआ कि हमने आस्तित्व को दो हिस्सों में तोड़ दिया । और आस्तित्व दो हिस्सों में टूटा हुआ नहीं है; आस्तित्व एक है ।

परमात्मा ही जीवन है और परमात्मा ही मृत्यु । दोनों है । इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'वह अकथनीय है' । क्योंकि जब कोई चीज दोनों हो, तो अकथनीय हो जाती है । कथन में तो तभी तक होती है, जब तक एक हो और विपरीत न हो ।

अरस्तु ने कहा है कि आप दोनों विपरीत बातें एक साथ कहें, तो वक्तव्य व्यर्थ हो जाता है । जैसे कि अगर आप मुझसे पूछें कि आप यहाँ हैं या नहीं हैं ? मैं कहूँ कि मैं यहाँ हूँ भी और नहीं भी हूँ, तो वक्तव्य व्यर्थ हो गया ।

अदालत आपसे पूछे कि आपने हत्या की या नहीं की । और आप कहें : हत्या मैंने की भी है और मैंने नहीं भी की है, तो आपका वक्तव्य व्यर्थ हो गया । क्योंकि दोनों विपरीत बातें एक साथ नहीं हो सकतीं ।

अरस्तु का तर्क कहता है : एक ही बात सही हो सकती है । यही बुनियादी फर्क है --भारतीय चिंतना में और यूनानी चिंतना में --पश्चिम और पूरब के विचार में ।

पश्चिम कहता है कि विपरीत बातें साथ नहीं हो सकती हैं । कन्ट्राडिक्टरीज साथ नहीं हो सकते । या तो ऐसा होगा, या वैसा होगा ; दोनों एक साथ नहीं हो सकते । इसलिए पश्चिम कहता है : या तो कहो; God is--ईश्वर है । या तो कहो; God is not---- ईश्वर नहीं है । लेकिन गीता कहती है; God is and is not----both; ईश्वर है भी, नहीं भी है ।

वह सत भी है, असत भी है । या तो यह उपाय है कहने का । और या दूसरा उपाय यह कि न तो वह सत है, और न वह असत है । और चूंकि दोनों को एक साथ प्रयोग करना पड़ता है , इसलिए अकथनीय है; कहा नहीं जा सकता । कहने में आधे को ही कहना पड़ता है । क्योंकि भाषा द्वंद्व पर निर्भर है, भाषा द्वैत पर निर्भर है, भाषा विरोध पर निर्भर है । भाषा में यदि दोनों विरोध एक साथ रख दिया जाय, तो व्यर्थ हो जाता है, अर्थ खो जाता है । इसलिए अकथनीय है । लेकिन क्यों नहीं कहा जा सकता, ईश्वर को--कि 'है' ? थोड़ा समझें ।

हम कह सकते हैं : टेबल है, कुर्सी है, मकान है । इसी तरह हम कह नहीं सकते कि ईश्वर है । क्योंकि मकान कल 'नहीं' हो जाएगा । कुर्सी कल जल कर राख हो जाएगी--मिट जाएगी; टेबल परसों नहीं होगी । मकान आज है, कल नहीं था । जब हम कहते हैं : 'मकान है', तो इसमें कई बातें सम्मिलित हैं। कल मकान नहीं था, और कल मकान फिर नहीं हो जाएगा । और जब हम कहते हैं, 'ईश्वर है', तो क्या हम ऐसा भी कह सकते हैं कि कल ईश्वर नहीं था । और कल ईश्वर नहीं हो जाएगा ? हर 'है' की दोनों तरफ 'नहीं' होता है । मकान कल नहीं था, कल फिर नहीं होगा, बीच में है । हर 'है' के दोनों तरफ 'नहीं' होता है। इसलिए ईश्वर है--यह कहना गलत है । क्योंकि उसके दोनों तरफ 'नहीं' नहीं है। वह कल भी था, परसों भी था । कल भी होगा, परसों भी होगा । वह सदा है ।

तो जो सदा है, उसको 'है' कहना उचित नहीं । क्योंकि हम 'है' उन चीजों

के लिए कहते हैं, जो सदा नहीं है। और जिसके लिए 'है' कहना ही उचित न हो, उसके लिए 'नहीं है' कहने का तो कोई अर्थ नहीं रह जाता।

ईश्वर आस्तित्व ही है। नहीं और है --दोनों उसमें समाविष्ट हैं। उसका ही एक रूप 'है'--है; उसका ही एक रूप 'नहीं' है। कभी वह प्रगट होता है, तब 'है' मालूम होता है। और कभी अप्रगट हो जाता है, तब 'नहीं है' मालूम होता है।

एक बीज है। अगर मैं आपसे पूछूँ, कि बीज में वृक्ष है या नहीं? तो आपको कहना पड़ेगा कि दोनों बातें हैं। क्योंकि बीज में वृक्ष है --इस अर्थ में --कि वृक्ष हो सकता है; अगर हम बो दें, तो वृक्ष हो जाएगा। और जो कल हो सकता है, वह आज भी कहीं न कहीं छिपा होना चाहिए, नहीं तो कल होगा कैसे। फिर हर कोई बीज बो देने से, हर कोई वृक्ष नहीं हो जाएगा। जो वृक्ष छिपा है--वही होगा। नहीं तो हम आम बो दें और नीम पैदा हो जाय। नीम बो दें और आम पैदा हो जाय। लेकिन नीम से नीम पैदा होगी; इसका एक मतलब साफ है कि नीम में नीम का ही वृक्ष छिपा था। जो बीज है आज, वह कल वृक्ष हो सकता है, इसलिए वृक्ष उसमें है--अव्यक्त, अप्रगट--अनमेनिफेस्ट। फिर कल वृक्ष हो गया।

अगर मैं आप से पूछूँ कि बीज कहाँ है? कल बीज उसमें था, वृक्ष छिपा था। आज वृक्ष है, बीज छिप गया। बीज अब भी है, लेकिन अब छिप गया। अप्रगट है। लेकिन हम कहेंगे: बीज नहीं है। 'नहीं' अप्रगट रूप है, और 'है'--प्रगट रूप है।

ईश्वर दोनों है: कभी प्रगट है, कभी अप्रगट है। जगत् उसका 'है रूप', पदार्थ उसका 'है रूप' और आत्मा उसका 'नहीं रूप' है। यह थोड़ा जटिल है। इसलिए बुद्ध ने आत्मा को नथिंगनेस कहा है --'नहीं'। यह जो दिखाई पड़ता है, यह परमात्मा का 'है-रूप' और जो भीतर नहीं दिखाई पड़ता है, यह है उसका 'नहीं-रूप'। और जब तक दोनों को हम न जान लें, तब तक हम मुक्त नहीं हो सकते।

'है' को तो हम जानते हैं, 'नहीं है' को भी जानना होगा। इसलिए ध्यान मिटने का उपाय है--नहीं होने का उपाय है। प्रेम मिटने का उपाय है--नहीं होने का उपाय है। समर्पण, भक्ति, श्रद्धा--सब मिटने के उपाय हैं, ताकि 'नहीं-रूप' को भी आप जान लें।

जो न सत् है, जो न असत् है या जो दोनों है, वह अकथनीय है। उसे कहा नहीं जा सकता। इसलिए सभी शास्त्र उस संबंध में बहुत कुछ कह कर भी यह कहते हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता।

हमारा सब कहना बच्चों की चेष्टा है। हमारा सब कहना प्रयास है आदमी का--कमजोर आदमी का, सीमित आदमी का। जैसे कोई आकाश को मुट्ठी में बाँधने की कोशिश कर रहा हो। निश्चित ही मुट्ठी में भी आकाश ही होता है।

जब आप मुट्ठी बाँधते हैं, तो जो भीतर है आपकी मुट्ठी के, वह भी आकाश ही है। लेकिन फिर भी क्या आप उसको आकाश कहेंगे? क्योंकि आकाश यह विराट है।

आपकी मुट्ठी में भी आकाश ही होता है। लेकिन पूरा आकाश नहीं होता, क्योंकि आपकी मुट्ठी भी आकाश में ही है। पूरे आकाश को मुट्ठी नहीं घेर सकती। मुट्ठी आकाश से बड़ी नहीं हो सकती।

मनुष्य की चेतना परमात्मा को पूरा अपनी मुट्ठी में नहीं ले पाती, क्योंकि मनुष्य की चेतना स्वयं ही परमात्मा के भीतर है। फिर भी हम कोशिश करते हैं। उस कोशिश में थोड़ी-सी झलकें मिल सकती हैं। लेकिन झलक भी तभी मिल सकती है, जब कोई सहानुभूति से समझने की कोशिश कर रहा हो। अगर जरा भी सहानुभूति की कमी हो तो झलक भी नहीं मिलेगी--झलक भी खो जाएगी।

शब्द असमर्थ हैं, लेकिन अगर सहानुभूति हो, तो शब्दों में से कुछ सार-सूचना मिल सकती है।

'परन्तु वह सब ओर से हाथ-पैर वाला एवं सब ओर से नेत्र, सिर और मुखवाला है। तथा सब ओर से श्रोत वाला है। क्योंकि वह संसार में सब को व्याप्त कर के स्थित है।'

लेकिन इसका यह मतलब मत समझना कि वह अकथनीय है, निराकार है, निर्गुण है, न कहा जाता सकता सत, न असत--तो हमसे सारा सम्बन्ध ही छूट गया। फिर आदमी को लगता है कि ऐसी चीज--शून्य जैसी--उससे हमारा क्या लेना-देना है। फिर हम किसके सामने रो रहे हैं! और किससे प्रार्थना कर रहे हैं? और किसकी पूजा कर रहे हैं? और किसके प्रति समर्पण करें? जो न है, न नहीं है--जो अकथनीय है, कृष्ण खुद जिसको कहने में समर्थ न हों, उसके बाबत बात ही क्या करनी है! फिर बेहतर है, हम अपने काम-काज की दुनिया में लगे रहें। ऐसे अकथनीय के उपद्रव में हम न पड़ेंगे। क्योंकि जिसे कहा नहीं जा सकता, समझा नहीं जा सकता, उससे सम्बन्ध भी क्या निर्मित होगा!

तो तत्क्षण दूसरे वचन में ही कृष्ण कहते हैं: 'परन्तु वह सब ओर से हाथ-पैरवाला, सब ओर से नेत्र-सिर-मुखवाला, कानवाला है। क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त कर के स्थित है।' जैसे उसका प्रगट और अप्रगट रूप है, वैसे ही उसका आकार और निराकार रूप है। जैसा उसका निराकार और आकार रूप है, वैसा ही उसका सगुण और निर्गुण रूप है। वह दोनों है --दोनों विपरीतताएँ एक साथ। इसलिए अगर कोई चाहे, तो उससे बात कर सकता है। कोई चाहे तो उसके कान में बात डाल सकता है। कोई कान आपके सामने नहीं आयेगा। लेकिन अगर आप

पूरे हृदयपूर्वक उससे कुछ कहें, तो उस तक पहुँच जाएगा, क्योंकि सभी तरफ उसके कान हैं ।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि वह सब ओर से कानवाला है, सब ओर से हाथवाला है। अगर आप हृदयपूर्वक अपने हाथ को उसके हाथ में दे दें--असंदिग्ध मन से, तो शून्य आकाश भी उसका हाथ बन जाएगा। और आपके हाथ को वह सम्हाल लेगा। लेकिन यह निर्भर आप पर है। क्योंकि अगर हृदय पूरा हो, तो यह घटना घट जाएगी, क्योंकि सब कुछ वही है। हर जगह उसका हाथ उठ सकता है। हर हवा की लहर उसका हाथ बन सकती है। लेकिन वह बनाने की कला आपके भीतर है। अगर श्रद्धा पूरी हो, तो यह घटना घट जाएगी। लेकिन अगर जरा-सा भी सन्देह हो, तो यह घटना नहीं घटेगी।

लोग कहते हैं कि हमारा सन्देह तो तब मिटेगा, जब घटना घट जाय। वे भी ठीक ही कहते हैं। सन्देह तभी मिटेगा, जब घटना घट जाय। लेकिन तब बड़ी कठिनाई है ।

कठिनाई यह है कि जब तक सन्देह न मिटे, घटना भी नहीं घटती। यह बड़ी उलझन की बात है ।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक बार नदी में तैरना सीखने गया। लेकिन पहली दफा पानी में उतरा और गोता खा गया और मुँह में पानी चला गया, और नाक में पानी उतर गया। तो घबड़ा कर बाहर निकल आया। उसने कहा, 'कसम खाता हूँ भगवान् की, अब जब तक तैरना न सीख लूँ, पानी में न उतरूँगा।' लेकिन जो उसे सिखाने ले गया था, उसने कहा, नसरुद्दीन, अगर यह कसम तुम्हारी पक्की है, तो तुम तैरना सीखोगे कैसे? क्योंकि जब तक तुम पानी में न उतरो, तैरना न सीख पाओगे। और तुमने खा ली कसम--कि जब तक तैरना न सीख लूँ, पानी में न उतरूँगा। अब बड़ी मुश्किल हो गई। पानी में उतरोगे, तभी तैरना भी सीख सकते हो ।'

थोड़ा डूबने की, गोता खाने की तैयारी चाहिए। थोड़ा जीवन को संकट में डालने की तैयारी चाहिए, तो ही कोई तैरना सीख सकता है। कोई घाट पर बैठ कर तैरना नहीं सीख सकता।

अगर आपको लगता हो कि सन्देह तो हम तभी छोड़ेंगे, जब उसका हाथ हमारे हाथ को पकड़ ले, तो बड़ी कठिनाई में हैं आप। क्योंकि उसका हाथ तो सब तरफ मौजूद है। लेकिन जिसका सन्देह छूट गया, उसी के लिए उसके हाथ पकड़ में आते हैं। आप तभी पकड़ पाएँगे...। उसका हाथ तो मौजूद है, आप तभी पकड़ पाएँगे, जब आपका सन्देह छूट जाय।

तो कुछ प्रयोग करने पड़ेंगे, जिससे सन्देह छूटे। कुछ प्रयोग करने पड़ेंगे, जिनसे वह खुला आकाश--उसके हाथ, उसके कान, उसकी आँखों में रूपान्तरित हो जाय ।

एक ही बात मेरे खयाल में आती है। खुद पर विश्वास करने की कोई भी जरूरत नहीं है। हमें खुद पर विश्वास होता ही है। आप हैं, इतना पक्का है। ऐसा कोई भी आदमी नहीं है, जिसको यह शक हो कि मैं नहीं हूँ।

क्या आपको कभी कोई ऐसा आदमी मिला, जिसको शक हो कि 'मैं नहीं हूँ'। इस शक के लिए भी तो खुद का होना जरूरी है। कौन करेगा शक? एक बात असंदिग्ध है कि 'मैं हूँ'। इसलिए इस 'मैं हूँ' के साथ कुछ प्रयोग करने चाहिए, जो असंदिग्ध है ।

और जैसे-जैसे इस 'मैं हूँ' में प्रवेश होता जाएगा, वैसे-वैसे ही सन्देह बिलकुल समाप्त हो जाएँगे। और जिस दिन 'मैं हूँ' की पूरी प्रतीति होती है, हाथ फैला दें और परमात्मा का हाथ हाथ में आ जाएगा। आँख खोलें--और उसकी आँख आपकी आँख के सामने होगी। बोलें--और उसके कान आपके ओठों से लग जाएँगे।

कृष्ण कहते हैं, 'वह सब ओर से हाथ पैरवाला है, क्योंकि सब को व्याप्त कर के वही स्थित है। और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला है। परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है।' वह आपके बाहर ही है, ऐसा नहीं है; वह आपके भीतर भी है। हमारा और उसका सम्बन्ध ऐसे है, जैसे मछली और सागर का सम्बन्ध है।

सुना है मैंने : एक दफा एक मछली बड़ी मुसीबत में पड़ गई। कुछ मछुए नदी के किनारे बैठे हुए बात कर रहे थे कि 'जल जीवन के लिए बिलकुल जरूरी है। जल के बिना जीवन नहीं हो सकता।' मछली ने भी सुन लिया। मछली ने सोचा : लेकिन मैं तो बिना जल के ही जी रही हूँ। यह जल क्या है? ये मछुए किस चीज की बात कर रहे हैं? तो इसका अर्थ यह हुआ कि अभी तक मुझे जीवन का कोई पता ही नहीं चला! क्योंकि मछुए कहते हैं कि जल के बिना जीवन नहीं हो सकता। जल तो जीवन के लिए अनिवार्य है।

तो मछली पूछती फिरने लगी, जानकार मछलियों की तलाश में। उसने बड़ी-बड़ी मछलियों से जाकर पूछा कि यह जल क्या है। उन्होंने कहा, 'हमने कभी सुना नहीं। हमें कुछ पता नहीं। अगर तुझे पता ही करनी है, तो तू नदी की धार में बहती जा। सागर में सुनते हैं कि और बड़ी-बड़ी ज्ञानी मछलियाँ हैं, वे शायद कुछ बता सकें।'

तो मछली यात्रा करती हुई सागर तक पहुँच गई। वहाँ भी उसने मछलियों से पूछा। एक मछली ने उसे कहा कि 'हाँ, पूछने से कुछ सार नहीं है। और एक

दफा यह पागलपन मुझे भी सवार हो गया था--कि जल क्या है। सुना था कथाओं में, शास्त्रों में पढ़ा था कि जल क्या है? लेकिन उसका कोई पता न था। पता तो तब चला जब एक दफे मैं मछुए के जाल में पकड़ गई, और मछुए ने मुझे बाहर खींच लिया। बाहर खिंचते ही पता चला कि जिसमें मैं जी रही थी, वह जल था। तड़पने लगी प्यास से। तो तुझे अगर जल का पता करना है, तो पूछने से पता नहीं चलेगा। तू छलाँग लगाकर किनारे पर थोड़ी देर तड़फ ले। क्योंकि जल में ही हम पैदा हुए हैं। जल ही बाहर है और जल ही भीतर है। इसलिए कुछ पता नहीं चलता।' सब तरफ जल है। मछली जल ही है; और जल में ही पैदा हुई है; और जल में ही कल क्षीण होकर लीन हो जाएगी।

आदमी और परमात्मा के बीच जल और मछली का सम्बन्ध है। हम उसी में हैं। इसलिए हम पूछते फिरते हैं: 'परमात्मा कहाँ है? खोजते फिरते हैं कि ' परमात्मा कहाँ है '? और वह कहीं नहीं मिलता।

मछली को तो सुविधा है--किनारे पर उतर जाने की। हम को वह भी सुविधा नहीं है। ऐसा कोई किनारा नहीं है, जहाँ परमात्मा न हो। इसलिए परमात्मा के बीच रहकर हम परमात्मा से प्यासे रह जाते हैं। 'वही भीतर है, वही बाहर है।'

कृष्ण कहते हैं, 'सम्पूर्ण इन्द्रियों को जाननेवाला भी वही है।' भीतर से वही आँख में से देख रहा है। बाहर वही दिखाई पड़ रहा है फूल में। भीतर आँख से वही देख रहा है।

'और सब इन्द्रियों के भीतर से जानते हुए भी वह इन्द्रियों से रहित है।'

इसका थोड़ा प्रयोग करें, तो खयाल में आ जाय। क्योंकि यह कोई तर्क-निष्पत्ति नहीं है। यह कोई तर्क का वक्तव्य होता, तो हम गणित और तर्क से हम इसको समझ लेते। ये सभी वक्तव्य अनुभूति निष्पन्न हैं।

थोड़ा प्रयोग कर के देखें। थोड़ा आँख बंद कर लें और भीतर देखने की कोशिश करें। आप चकित होंगे—थोड़े ही दिन में आपको भीतर देखने की कला आ जाएगी। इसका मतलब यह हुआ की आँख जब नहीं है--बंद है--तब भी आप भीतर देख सकते हैं।

कान बन्द कर लें और थोड़े दिन भीतर सुनने की कोशिश करें। एक घंटे भर कान बन्द कर के बैठ जायँ और सुनने की कोशिश करें भीतर। पहले तो आपको बाहर की बकवास सुनाई पड़ेगी। पहले तो जो आपने इकट्ठा कर रखा है--कानों में संग्रह, कान उसी को मुक्त कर देंगे, और वही कोलाहल सुनाई पड़ेगा। लेकिन धीरे-धीरे, धीरे-धीरे-धीरे कोलाहल शांत होता जाएगा और एक ऐसी घड़ी आयेगी कि

आपको भीतर का नाद सुनाई पड़ने लगेगा। वह नाद बिना कान के सुनाई पड़ रहा है। फिर कोई आपके कान बिलकुल भी नष्ट कर दे, तो भी वह नाद सुनाई पड़ता रहेगा।

अंधा भी आत्मा को देख सकता है। अंधा भी भीतर के अनुभव में उतर सकता है। और बहरा भी ओंकार के नाद को सुन सकता है। लेकिन हम उस दिशा में मेहनत नहीं करते। हम तो बहरे को निन्दित कर देते हैं --कि तुम बहरे हो; तुम्हारा जीवन व्यर्थ है।

अगर दुनिया कभी ज्यादा समझदार होगी, तो हम बहरे को सिखाएँगे वह कला, जिसमें वह भीतर का नाद सुन सके। बहरा हमसे ज्यादा आसानी से सुन सकता है। क्योंकि हम तो बाहर के कोलाहल में बुरी तरह उलझे होते हैं। बहरे को भीतर का नाद जल्दी सुनाई पड़ सकता है।

और अंधे को भीतर का दर्शन जल्दी हो सकता है। लेकिन हम तो निन्दित कर देते हैं। क्योंकि हमारी बाहर आँखों की दुनिया है; जो बाहर नहीं देख सकता, वह अंधा है, वह जीवन से व्यर्थ है। जो बहरा नहीं सुन सकता, वह व्यर्थ है। जो बोल नहीं सकता, वह बेकार है।

लेकिन भीतर के प्रवेश के लिए मूक होना पड़ता है; बहरा होना पड़ता है और अंधा होना पड़ता है।

और जब कोई अंधा होकर भी भीतर देख लेता है, बहरा होकर भी भीतर सुन लेता है, तब हमें पता चल जाता है कि वह जो भीतर छिपा है, वह इन्द्रियों से जानता है, लेकिन इन्द्रियों से रहित है। इन्द्रियों के बिना भी जान सकता है।

'तथा आसक्तिरहित और गुणों से अतीत हुआ निर्गुण भी है। अपनी योग माया से सब का धारण-पोषण करनेवाला और गुणों को भोगनेवाला भी है।

इन सारे वक्तव्यों में विरोधी को जोड़ने की कोशिश की गई है। वह कोशिश यह है कि हम परमात्मा को विभाजित न करें। और हम यह न कहें कि वह ऐसा है और ऐसा नहीं है। वह दोनों है। निर्गुण भी है, और गुणों को भोगने वाला भी।

मनुष्य के मन को सबसे बड़ी कठिनाई यही है--विपरीत को जोड़ना।

हमें तोड़ना तो आता है, जोड़ना बिलकुल नहीं आता। हम तो किसी भी चीज को बड़ी आसानी से तोड़ लेते हैं। तोड़ने में हमें जरा अड़चन नहीं होती, क्योंकि बुद्धि की व्यवस्था ही तोड़ने की है। बुद्धि खण्डहर है। जैसे कोई आपने अगर कांच का प्रिज्म देखा हो; तो प्रिज्म से गुजारें प्रकाश की किरण को, वह सात टुकड़ों में टूट जाती है।

इन्द्रधनुष दिखाई पड़ता है वर्षा में, वह इसीलिए दिखाई पड़ता है। वर्षा

में कुछ पानी के कण हवा में टंगे रह जाते हैं। सूरज की किरण उन कणों से निकलती है; वे कण प्रिज्म का काम करते हैं। वे किरणों को सात टुकड़ों में तोड़ देते हैं। सूरज की किरण तो सफेद है। लेकिन पानी के लटके कणों में से गुजर के सात टुकड़ों में टूट जाती है। इसलिए आपको इन्द्रधनुष दिखाई पड़ता है।

मनुष्य की बुद्धि भी प्रिज्म का काम करती है. वह चीजों को तोड़ती है। जब तक आप बुद्धि को हटाकर देखने की कला न पा जायँ, तब तक आपको इन्द्रधनुष दिखाई पड़ेगा, चीजें टूटी हुई अनेक रंगों में दिखाई पड़ेंगी। अगर आप इस प्रिज्म को हटा लें, तो चीज एक रंग की हो जाती है, सफेद हो जाती है।

सफेद कोई रंग नहीं है। सफेद सब रंगों का जोड़ है। सफेद में सब रंग छिपे हैं। इसलिए स्कूल में बच्चों को सिखाया जाता है, तो वे एक छोटा-सा चाक बना लेते हैं। चाक में सात रंग की पखुड़ियाँ लगा लेते हैं। और फिर चाक को जोर से घुमाते हैं। चाक जब जोर से घूमता है, तो सात रंग नहीं दिखाई पड़ते। चाक सफेद रंग का दिखाई पड़ने लगता है।

सफेद सब रंगों का जोड़ है। सातों रंग सफेद के टूटे हुए हिस्से हैं।

जगत् इन्द्रधनुष है। इन्द्रियों से टूटकर जगत् का इन्द्रधनुष निर्मित होता है। इन्द्रियों को हटा दें, मन को हटा दें, बुद्धि को हटा दें, तो सारा जगत् शुभ्र --एक रंग का हो जाता है। वहाँ सभी विरोध मिल जाते हैं। वहाँ काला और हरा और लाल और पीला--सब एक रंग हो जाते हैं।

यह जो कृष्ण कह रहे हैं, यह इन्द्रधनुष मिटानेवाली बातें हैं। वे कह रहे हैं: निर्गुण भी वही, सगुण भी वहीं--सब गुण उसी के हैं; और फिर भी कोई गुण उसका नहीं है।

इस तरह की बातों को पढ़कर पश्चिम में तो लोग समझने लगे कि ये भारत के ऋषि-महर्षि--अवतार--ये थोड़े से विक्षिप्त मालूम होते हैं। ये इस तरह के वक्तव्य देते हैं, जिनमें कोई अर्थ नहीं है।

अरस्तु ने कहा है कि ए इज ए, एण्ड कैन नेव्हर बी नॉट ए--अ अ है और न-अ कभी नहीं हो सकता। इस आधार पर आज की सारी शिक्षण पद्धति विकसित हुई है--कि विरोध इकट्ठे नहीं हो सकते। और यह क्या बात है --वेद, उपनिषद, गीता--एक ही बात कहे चले जाते हैं कि वह दोनों है। इसे हम समझ लें ठीक से, इसे कहने का कारण है।

आपकी बुद्धि को तोड़ने के लिए यह कहा जा रहा है--आपकी बुद्धि को समझाने के लिए नहीं। यह कृष्ण अर्जुन की बुद्धि को समझाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं; ये अर्जुन की बुद्धि को तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। क्योंकि बुद्धि समझ भी

ले तो भी बुद्धि के पार न जाएगी। बुद्धि जब टूट जाय, तो ही अर्जुन पार जा सकता है।

यह वक्तव्य बुद्धि विनाशक है। वह जो खण्ड-खण्ड करनेवाली बुद्धि है, उसको तोड़ने का उपाय है; उसे व्यर्थ करने का उपाय है। और जब दोनों विरोध एक साथ दे दिये जायँ, तो बुद्धि व्यर्थ हो जाती है। फिर सोचने को कुछ भी नहीं बचता।

थोड़ा सोचें: 'निर्गुण भी वही, सगुण भी वही...'। निर्गुणवादियों ने अलग पथ निर्मित कर लिया है। उन्होंने कहा, 'नहीं, वह निर्गुण है।' सगुणवादियों ने अलग पंथ निर्मित कर लिया। उन्होंने कहा 'कि नहीं, वह सगुण है; निर्गुण कभी नहीं।'

ये दोनों बातें बुद्धिगत हैं। अगर निर्गुण है, तो सगुण नहीं हो सकता। सगुण है, तो निर्गुण नहीं हो सकता। हमने दो पंथ निर्मित कर लिए। ये दोनों पंथ अधार्मिक हैं, क्योंकि दोनों पंथ बुद्धिगत बात को मानते हैं। बुद्धि के पार नहीं जाते।

धर्म विरोध को जोड़ने वाला है। वह कहता है: 'वह दोनों है और दोनों नहीं है।' जो व्यक्ति इस बात को समझने को राजी हो जाएगा--कि वह दोनों है--उसको समझने की कोशिश में अपनी समझ ही छोड़ देनी पड़ेगी।

एक घटना मुझे याद आती है। झेन फकीर हुआ: रिन्झाई, वह खड़ा था अपने मन्दिर के द्वार पर। मन्दिर के ऊपर लगी हुई पताका हवा में हिल रही थी। रिन्झाई के दो शिष्य मन्दिर के सामने से गुजर रहे थे। उन्होंने खड़े होकर पताका की तरफ देखा। सुबह का सूरज था; हवाएँ थीं, पताका कंप रही थी, और जोर से आवाज कर रही थी।

रिन्झाई के एक शिष्य ने कहा कि 'मैं पूछता हूँ': हवा हिल रही है या पताका हिल रही है? हिल कौन रहा है?' दूसरे शिष्य ने कहा, 'हवा हिल रही है!' पहले शिष्य ने कहा कि 'गलत; पताका हिल रही है।' बड़ा विवाद हो गया।

अब हवा और पताका जब हिलते हैं, तो कौन हिलता है? आसान है एक के पक्ष में वक्तव्य देना। लेकिन सच में कौन हिल रहा है?

रिन्झाई खड़ा सुन रहा था, वह बाहर आया, उसने कहा, 'न तो पताका हिल रही है, और न हवा हिल रही है; तुम्हारे मन हिल रहे हैं।'

लेकिन रिन्झाई के शिष्यों को बात जमी नहीं। रिन्झाई का बूढ़ा गुरु मौजूद था, जिन्दा था। तो उन्होंने कहा, 'यह बात हमें जमती नहीं है। यह तो और उपद्रव हो गया। हमारा तो दो ही विवाद था। और अब एक तीसरा वक्तव्य और हो गया--कि मन हिल रहा है। पताका हिल रही है; हवा हिल रही है; मन हिल रहा है। हम बूढ़े गुरु के पास जायेंगे।'

वे तीनों बूढ़े गुरु के पास गये। बूढ़े गुरु ने कहा कि 'जब तक तुम देखते हो; हवा हिल रही है, पताका हिल रही है, मन हिल रहा है--जब तक तुम विभाजित करते हो तीन में, तब तक तुम न समझ पाओगे। संसार हिलने का नाम है। यहाँ सभी कुछ हिल रहा है। और सभी चीजें अलग-अलग नहीं हिल रही हैं। सब चीजें जुड़ी हैं। हवा भी हिल रही है; पताका भी हिल रही है; मन भी हिल रहा है। तीनों जुड़े हैं। तीनों हिल रहे हैं। संसार कंपन है।'

'लेकिन', गुरु ने कहा, 'रिन्झाई थोड़ा ठीक कहता है तुम दोनों से, क्योंकि न तो तुम पताका हिलना रोक सकते हो, और न हवा का हिलना रोक सकते हो; लेकिन मन का हिलना तुम रोक सकते हो। अगर मन का हिलना रुक जाय, तो पताका भी नहीं मिलेगी, हवा भी नहीं हिलेगी; सब हिलना बंद हो जाएगा। तुम्हारा मन हिलता है, इसलिए तुम हिलने का अनुभव कर पाते हो।'

हमारी जो बुद्धि है, वह विरोधों में बँटी है। वह चीजों को बाँटती है, एनेलाईज करती है, विश्लिष्ट करती है। वह कहती है : यह जन्म है--यह मौत। वह कहती है : यह मित्र है, यह शत्रु है। वह कहती है : यह जहर है, यह अमृत है। वह कहती है : यह अच्छा है, और यह बुरा है। हर चीज को बाँटती है।

कृष्ण का पूरा प्रयास यही है कि बाँटो मत। जगत् को, अस्तित्व को एक की तरह देखो। बाँटो मत।

निर्गुण भी वही, गुणों वाला भी वही है। इस तरह अगर थोड़े प्रयास करेंगे, इस तरह की विपरीत बातों को अगर एक साथ आँख बन्द कर के ध्यान करेंगे, तो बहुत आनंद आएगा। मन तो कहेगा कि एक कुछ भी तय कर लो जल्दी--या निर्गुण या सगुण।

इसे जरा कभी प्रयोग करके देखें। आँख बन्द करके कभी बैठ जायें अपने मन्दिर में, अपनी मसजिद में और कहें कि वह दोनों है। और फिर अपने से पूछें कि क्या मन राजी है। मन कहेगा कि नहीं, दोनों नही हो सकते। एक कुछ भी हो सकता है। मन फौरन कहेगा या तो मान लो सगुण है; या मान लो कि निर्गुण है।

तो मुसलमान मान लिए हैं कि निर्गुण है। तो मूर्तियाँ तोड़ते फिरे, क्योंकि सगुण को नहीं बचने देना है। उनको लगा कि जब निर्गुण है, तो फिर सगुण को तोड़ देना है।

एक आदमी मूर्ति पूजा कर रहा है। वह कहता है : 'भगवान् सगुण है, इसलिए हम मूर्ति बनाते हैं।' एक आदमी कहता है : 'वह निर्गुण है, इसलिए हम मूर्तियाँ तोड़ते हैं।' लेकिन दोनों मूर्ति की तरफ ध्यान लगाए हुए हैं--एक तोड़ने के लिए, एक बनाने के लिए।

मुसलमानों से ज्यादा मूर्ति-पूजक खोजना बहुत मुश्किल है, क्योंकि मूर्ति को तोड़ना भी उसके ही साथ सम्बन्धित हो जाना है। आखिर मूर्ति पर इतना ध्यान देने की जरूरत क्या है!

अगर वह निर्गुण है और सगुण नहीं है, तो मूर्ति को तोड़ने से क्या फायदा है? कोई अर्थ नहीं है। लेकिन आदमी का मन ऐसा है कि वह एक पक्ष में हो जाय, तो दूसरे पक्ष के खिलाफ कोशिश करता है; तो ही एक पक्ष में रह सकता है। डर लगता है कि कहीं दूसरा पक्ष ठीक न हो; तो मिटा दो दूसरे पक्ष को। लेकिन कुछ मिट सकता नहीं। पत्थर की मूर्तियाँ टूट सकती हैं। ये आदमी भी सब मूर्तियाँ हैं। इनको कैसे तोड़िएगा? वृक्ष भी एक मूर्ति है। पत्थर को भी तोड़ दो, तो वह टूटा हुआ पत्थर है, वह भी मूर्ति है; वह भी एक मूर्त रूप है; वह भी आकार है। आकार कैसे मिटाइएगा?

अस्तित्व में दोनों समाविष्ट हैं— आकार भी, निराकार भी। न तो बनाने की कोई जरूरत है, न मिटाने की कोई जरूरत है। बनाने और मिटाने का अगर कोई काम ही करना हो, तो भी भीतर करना जरूरी है कि भीतर इस मन को इस हालत में लाना जरूरी है कि जहाँ यह दोनों विरोधों को एक साथ स्वीकार कर ले।

जैसे ही दोनों विरोध एक साथ स्वीकार होते हैं, मन गिर जाता है और समाप्त हो जाता है। और अ-मन की स्थिति पैदा हो जाती है। वह अ-मनी स्थिति ही समाधि है।

यह सारा प्रयोजन कृष्ण का इतना ही है कि आप दोनों को एक साथ स्वीकार करने को राजी हो जायें। राजी होते ही आप रूपान्तरित हो जाएँगे। और जब तक आप राजी न होंगे और एक पक्ष में झुकेंगे, तब तक आप बदल नहीं सकते हैं, तब तक आप द्वन्द्व में ही घिरे रहेंगे।

दो में से एक को चुनना द्वैत का समर्थन करना है। दोनों को एक साथ स्वीकार करना लेना, अद्वैत की उपलब्धि है।

पाँच मिनट रुकेंगे। कोई उठे न बीच से। कीर्तन पूरा हो जाय, फिर जायें। कीर्तन के बाद दो मिनट सिर्फ संगीत चलता है, उस वक्त भी न उठें। एक पाँच मिनट पूरा बैठ रहें।

छठवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, संध्या, दिनांक १ मई, १९७३

सुनो—ताकि कर सको • स्वयं को बदलो • सम्यक् विधि
भाषा और सत्य • बुद्धि नहीं—साक्षी

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

तथा वह परमात्मा सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर रूप भी वही है । और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है अर्थात् जानने में नहीं आनेवाला है । तथा अति समीप में और अति दूर में भी स्थित वही है ।

और वह विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् के सदृश स्थित प्रतीत होता है । तथा वह जानने योग्य परमात्मा भूतों को धारण-पोषण करनेवाला और संहार करनेवाला तथा सब का उत्पन्न करनेवाला है ।

और वह ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है । तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जानने के योग्य है एवं तत्त्वज्ञान से प्राप्त होनेवाला और सबके हृदय में स्थित है ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है : 'आप बोलते हैं, तो ठीक लगता है । कभी-कभी कोई शांत ध्यान का प्रयोगसूत्र भी दे दिया करते हैं; यहाँ तक तो ठीक है । लेकिन जब आपके कीर्तन का प्रयोग चलता है, तो मन में ऐसा भाव आता ही नहीं कि जैसा की मंच पर सभी लोग इतनी तेजी से नाचा करते हैं !

तीन बातें समझनी चाहिए। एक : बोला हुआ ठीक लगना बहुत मूल्य का नहीं है । बोला हुआ ठीक लगता है, यह सिर्फ मनोरंजन हो सकता है, यह केवल एक बौद्धिक व्यायाम हो सकता है । या यह भी हो सकता है कि आप जो सुनना चाहते हैं, उससे तालमेल बैठ जाता है, इसलिए रसपूर्ण लगता है । यह भी हो सकता है कि इतनी देर मन बोलने में उलझ जाता है, तो आपकी चिंताएँ, परेशानियाँ, अशांति भूल जाती है । बहुत कारण हो सकते हैं ।

इसलिए भी अच्छा लग सकता है बोलना कि गीता आपको प्रीतिकर हो, आपके धर्म का ग्रंथ हो, तो आपके अहंकार को पोषण मिलता हो--कि गीता ठीक है । आपकी सामुदायिक संस्कार वाली मनःस्थिति को सहारा मिलता हो कि हमारा मानना बिलकुल ठीक है : गीता महान ग्रन्थ है ।

लेकिन सिर्फ बोलना ठीक लगे, तो कोई लाभ नहीं है; नुकसान भी हो सकता है ।

कुछ लोग शब्दों में ही जीते हैं । जीवन भर पढ़ते हैं, सुनते हैं, और कभी कुछ करते नहीं । ऐसे लोग जीवन को ऐसे ही गँवा देंगे, और मरते समय सिवाय पछतावे के कुछ भी हाथ नहीं रहेगा, क्योंकि मैंने क्या कहा गीता के सम्बन्ध में, वह मरते वक्त काम आने वाला नहीं है । आपने क्या किया . . . । सुना--वह मूल्य का नहीं है । क्या किया--वही मूल्य का है । लेकिन करने में कठिनाई मालूम पड़ती है ।

सुनने में आपको कुछ भी नहीं करना पड़ता । मैं बोलता हूँ, आप सुनते हैं; करना आपको कुछ भी नहीं पड़ता । सुनने में आपको करना ही क्या पड़ता है ?

विश्राम करना पड़ता है । करने में आपसे शुरुआत होती है । और जैसे ही कुछ करने की बात आती है, वैसे ही तकलीफ शुरू हो जाती है ।

उन मित्र ने यह भी पूछा है कि 'कभी-कभी आप कोई ध्यान का शांत प्रयोग-सूत्र भी दे दिया करते हैं, यहाँ तक तो ठीक है. . .।' क्योंकि वह प्रयोग भी उन्होंने किया नहीं है। वह भी मैं दे दिया करता हूँ; यहाँ तक ठीक है ।

वह शांत प्रयोग भी उन्होंने किया नहीं है । वह भी सुन लिया है । कीर्तन में अड़चन आती है, क्योंकि यहाँ कुछ लोग करते हैं ।

अब यहाँ कुछ लोग कीर्तन करते हैं, तो उससे बचने के दो उपाय हैं। या तो यह समझें कि ये लोग पागल हैं, तब आपको कोई अड़चन न होगी । इनका दिमाग खराब हो गया है । हिप्नोटाइज्ड हो गए हैं । या नाटक कर रहे हैं; बनकर कर रहे हैं। या कुछ पैसे ले लिए होंगे, इसलिए कर रहे हैं। ऐसा सोच लें, तो आपको सुविधा रहेगी, सांत्वना रहेगी । आपको करने की फिर कोई जरूरत नहीं है ।

कुछ लोग करने से इस तरह बचते हैं : वे अपने मन को समझा लेते हैं कि कुछ गलत हो रहा है । इसलिए फिर खुद को करने की तो कोई जरूरत नहीं रह जाती ।

तकलीफ तो उन लोगों को होती है, जिनको यह भी नहीं लगता कि गलत हो रहा है और करने की हिम्मत भी नहीं जुटा पाते। ये मित्र उसी वर्ग में हैं। उनको लगता है कि ठीक हो रहा है । लेकिन इतना लगना काफी नहीं है । करने की हिम्मत बड़ी दूसरी बात है । क्योंकि जैसे ही आप करना शुरू करते हैं कुछ, तो बहुत से परिणाम होंगे ।

पहला तो साहस करना पड़ेगा--पागल होने का साहस, क्योंकि धर्म साधारण आदमी करता नहीं--सुनता है । और जब भी धर्म को कोई करने लगता है, तो बाकी लोग उसको पागल समझते हैं । कबीर को भी लोग पागल समझते हैं । मीरा को भी लोग पागल समझते हैं। बुद्ध को भी पागल समझते हैं। क्राइस्ट को भी लोग पागल समझते हैं । यह तो बहुत बाद में लोग उनको समझते पाते हैं कि वे पागल नहीं हैं । यह भी वे तभी समझ पाते हैं, जब बात इतनी दूर हो जाती है कि उनसे सम्बन्ध नहीं रह जाता ।

आप भी जब पहली दफा धर्म के जीवन में उतरेंगे, तो आसपास के लोग आपको पागल समझना शुरू कर देंगे । संसार ने यह इंतजाम किया हुआ है कि इसके जाल के बाहर कोई जाय, तो उसके मार्ग में सब तरह की बाधाएँ खड़ी करनी हैं । और यह उचित भी है, क्योंकि अगर सभी लोगों को धर्म की तरफ जाने में आसानी दी जाय, तो बाकी लोग जो धार्मिक न होंगे, उनको बड़ा कष्ट होना शुरू हो जाएगा। अपने कष्ट से बचने के लिए वे धार्मिक व्यक्ति को पागल करार देकर सुविधा में

रहते हैं । वे समझ लेते हैं कि 'दिमाग खराब हो गया है ।' आसानी हो जाती है ।

आप कृष्ण को पूजते भला हों, लेकिन कृष्ण अगर आपको मिल जायँ, तो आप उनको भी पागल समझेंगे । वे तो मिलते नहीं; मूर्ति को आप पूजते रहते हैं। असली कृष्ण खड़े हो जायँ, तो शायद आप घर में टिकने भी दें । शायद आप रात में घर में ठहरने भी न दें । क्योंकि इस आदमी का क्या भरोसा ! हो सकता है आपकी पत्नी इसके लगाव में पड़ जाय, सखी बन जाय, गोपी हो जाय । तो आप घबड़ाएँगे ।

जीवित कृष्ण से तो आप परेशान हो जाएँगे । मरे हुए कृष्ण से आपकी जिन्दगी में कोई फर्क नहीं होता ।

जीसस को मानने वाले लोगों को भी अगर जीसस मिल जायँ, तो वे उनको फिर सूली पर चढ़ा देंगे, क्योंकि वह आदमी अब भी वैसा ही खतरनाक होगा।

समय बहुत जब बीत जाता है और कथाएँ हाथ में रह जाती हैं, जिनको सुनने और पढ़ने का मजा होता है, तब वह धर्म की अड़चन मिट जाती है ।

तो यहाँ जब कुछ लोग कीर्तन कर रहे हैं, तो वे लोग हिम्मत करके पागल हो रहे हैं। अगर आपको लगता है कि ठीक कर रहे हैं, तो सम्मिलित हो जायँ। सम्मिलित होने में आपको भय छोड़ना पड़ेगा।

'लोग क्या कहेंगे'--यह पहला भय है; और गहरे से गहरा भय है । 'लोग क्या समझेंगे. . . ?'

एक महिला मेरे पास कुछ दिन पहले आयी और उसने मुझे कहा कि मेरे पति ने कहा है कि सुनना तो जरूर, लेकिन भूलकर कभी कीर्तन में सम्मिलित मत होना । तो मैंने उससे पूछा कि 'पति को क्या फिक्र है तेरे कीर्तन में सम्मिलित होने से !' तो उसने कहा, 'पति मेरे डॉक्टर हैं; प्रतिष्ठावाले हैं । वे बोले कि अगर तू कीर्तन में सम्मिलित हो जाय, तो लोग मुझे परेशान करेंगे कि आपकी पत्नी को क्या हो गया ! तो तू और सब करना, लेकिन कीर्तन भर में सम्मिलित मत होना ।'

घर से लोग समझाकर भेजते हैं कि सुन लेना, करना भर मत कुछ, क्योंकि करने में खतरा है ।

सुनने में सब बात बिलकुल ठीक है । करने में अड़चन मालूम होती है, क्योंकि आप पागल होने के लिए तैयार नहीं हैं। और जब तक आप पागल होने के लिए तैयार नहीं हैं, तब तक धार्मिक होने का कोई उपाय नहीं है ।

तो सुनें मजे से; फिर चिन्ता में मत पड़ें । जिस दिन भी करेंगे, उस दिन आपको 'दूसरे क्या कहेंगे'--इसकी फिक्र छोड़ देनी पड़ेगी ।

दूसरे बहुत-सी बातें कहेंगे । वे आपके खिलाफ नहीं कह रहे हैं । वे अपनी

आत्म-रक्षा कर रहे हैं। क्योंकि अगर आपको ठीक मानें तो वे गलत लगेंगे। इसलिए उपाय एक ही है कि आप गलत हैं, तो वे अपने को ठीक मान सकते हैं। और निश्चित ही उनकी संख्या ज्यादा है।

आपको गलत होने के लिए तैयार होना पड़ेगा।

बड़े से बड़ा साहस समूह के मत से ऊपर उठना है। लोग क्या कहेंगे--यह फिक्र छोड़ देनी है। इस फिक्र को छोड़ते ही आपके भीतर भी रस का संचार हो जाएगा। यही द्वार बाँधा हुआ है, इसी से दरवाजा रुका हुआ है। यह फिक्र छोड़ते ही से आपके पैर में भी थिरकन आ जाएगी, और आपका हृदय भी नाचने लगेगा; और आप भी गा सकेंगे।

और अगर फिक्र छोड़कर आप एक बार भी गा सके और नाच सके, तो आप कहेंगे कि, अब दुनिया की मुझे कोई चिंता नहीं है। एक बार आपको स्वाद मिल जाय किसी और लोक का, तो फिर कठिनाई नहीं है--लोगों की फिक्र छोड़ने में।

कठिनाई तो अभी है कि उसका कोई स्वाद भी नहीं है --जिसे पाना है। और लोगों से जो प्रतिष्ठा मिलती है, उसका स्वाद है। जिसको छोड़ना है, उसमें रस है; और जिसको पाना है, उसका हमें कोई रस नहीं है। इसलिए डर लगता है।

हाथ की आधी रोटी भी, मिलने वाली स्वर्ग की पूरी रोटी से ज्यादा मालूम पड़ती है। स्वाभाविक है; सीधा गणित है।

लेकिन अगर उस दशा में, जिसमें आप हैं, आप सोचते हैं : सब ठीक है, तो मैं आप से नहीं कहता कि आप कोई बदलाहट करें। और आपको लगता हो कि सब गलत है, जिस हालत में आप हैं, तो फिर हिम्मत करें और थोड़े परिवर्तन की खोज करें।

शांत प्रयोग करना हो, शांत प्रयोग करें। सक्रिय प्रयोग करना हो, सक्रिय प्रयोग करें। लेकिन कुछ करें।

अधिक लोग कहते हैं कि शांत प्रयोग ही ठीक है। क्योंकि अकेले में आँख बन्द कर के बैठ जाएँगे, किसी को पता तो नहीं चलेगा। लेकिन अकसर शांत प्रयोग सफल नहीं होता। क्योंकि भीतर आप इतने अशांत हैं कि जब आप आँख बन्द कर के बैठते हैं, तो सिवाय अशांति के भीतर और कुछ भी नहीं होता। शांति तो नाम को भी नहीं होती। वह जो भीतर अशांति है, वह चक्कर जोर से मारने लगती है। जब आप शांत होकर बैठते हैं, तब आपको सिवाय भीतर के उपद्रव के और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता।

इसलिए उचित तो यह है कि वह जो भीतर का उपद्रव है, उसे भी बाहर निकल जाने दें। हिम्मत से उसको भी बह जाने दें। उसके बह जाने पर, जैसे तूफान के

बाद एक शांति आ जाती है, वैसी शांति आपको अनुभव होगी। तूफान तो धीरे-धीरे विलीन हो जाएगा और शांति स्थिर हो जाएगी।

यह कीर्तन का प्रयोग कैथार्सिस है। इसमें जो नाच रहे हैं लोग, कूद रहे हैं लोग, ये उनके भीतर के वेग हैं--जो निकल रहे हैं। इन वेगों के निकल जाने के बाद भीतर परम शून्यता का अनुभव होता है। उसी शून्यता से द्वार मिलता है और हम अनंत की यात्रा पर निकल जाते हैं।

लेकिन कुछ करें। कम से कम शांत प्रयोग ही करें। अभी शांत करेंगे, तो कभी सक्रिय भी करने की हिम्मत आ जाएगी।

लेकिन सुनने पर भरोसा मत रखें। अगर सुनने से मुक्ति होती, तो सभी की हो गई होती। सभी लोग काफी सुन चुके हैं। कुछ करना होगा। करने से जीवन बदलेगा, और क्रांति होगी।

मैं जो बोलता भी हूँ, तो प्रयोजन बोलना नहीं है। बोलना तो सिर्फ बहाना है, ताकि आपको करने की तरफ ले जा सकूँ। और अगर आप बोलने से ही खुश होकर चले जाते हैं, तो प्रयोजन व्यर्थ गया। वह लक्ष्य नहीं था।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि गीता में कृष्ण बार-बार कहते हैं कि मैं ही परम ब्रह्म हूँ। सब छोड़कर मेरी शरण आ जाओ, मैं तुम्हें मुक्त करूँगा। लेकिन यह वचन अन्य-धर्मी स्वीकार नहीं करते। और आपने कहा है कि ठीक जीवन जीने की कला ही गीता है। फिर भी अन्य-धर्मी कृष्ण को परमात्मा मानने को राजी नहीं हैं। और कहते हैं : गीता वैष्णव सम्प्रदाय का धार्मिक ग्रंथ है।

अन्य धर्मियों की फिक्र क्या है आप को? और आप अन्य-धर्मियों का कौन-सा ग्रंथ मानने को तैयार हैं? आप कुरान पढ़ते हैं और आप मानने को तैयार हैं कि कुरान परमात्मा का वचन है? आप बाइबिल पढ़ते हैं? और आप मानने को तैयार हैं कि जीसस ईश्वर का पुत्र है? और अगर आप मानने को तैयार नहीं हैं, तो आप अपने कृष्ण को किसी दूसरे को मनाने के लिए क्यों परेशान हैं! और फिर दूसरों से प्रयोजन क्या है?

आपको कृष्ण की बात ठीक लगती है, उसे जीवन में उतारें। अपने को बदलें। जिसको मोहम्मद की बात ठीक लगती हो, वह मोहम्मद की बात को जीवन में उतार ले, और अपने को बदल ले। जब आप दोनों बदल चुके होंगे, तो एक से होंगे; जरा भी फर्क न होगा।

लेकिन गीतावाले को फिक्र है कि किसी तरह मुसलमान को राजी कर ले कि गीता महान ग्रन्थ है। इससे क्या हल है?

तुम्हें तो पता है कि गीता महान ग्रन्थ है और तुम्हारी जिन्दगी में कुछ भी नहीं

हो रहा, तो मुसलमान भी मान लेगा कि गीता महान ग्रन्थ है, तो क्या फर्क हो जाएगा ?

बीस करोड़ हिन्दू तो मान रहे हैं। कुछ फर्क तो हो नहीं रहा है। तुम तो माने ही बैठे हो कि गीता-महान ग्रन्थ है और कृष्ण परम ब्रह्म हैं, तो तुम्हारे जीवन में कुछ नहीं हो रहा, तो तुम दूसरों की क्या फिक्र कर रहे हो।

दूसरे की हमें चिन्ता है नहीं। असल में हमें खुद ही भय है और शक है कि कृष्ण भगवान् हैं या नहीं। और जब तक कोई शक करनेवाला मौजूद है, तब तक हमारे शक को भी हवा मिलती है।

मुसलमान कहता है : हम नहीं मानते कि तुम्हारी गीता में कुछ सार है; तो हमें खुद ही डर पैदा होता है कि कहीं यह बात ठीक तो नहीं है। इससे पहले हम इसको राजी करने को उत्सुक हो जाते हैं।

ध्यान रहे, जब भी आदमी किसी दूसरे को राजी करने में बहुत श्रम उठाता है, तो उसका मतलब यह है कि वह खुद संदिग्ध है। वह जब तक सबको राजी न कर लेगा, तब तक उसका खुद भी मन राजी नहीं है। वह खुद भी डरा हुआ है कि बात पक्की है या नहीं ! क्योंकि इतने लोग शक करते हैं।

बीस करोड़ हिन्दू हैं, तो कोई अस्सी करोड़ मुसलमान हैं। बीस करोड़ हिन्दू जिसको मानते हैं, उसे अस्सी करोड़ मुसलमान इनकार करते हैं। कोई एक अरब ईसाई हैं, वे इनकार करते हैं। कोई अस्सी करोड़ बौद्ध हैं, वे इनकार करते हैं। तो सारी दुनिया इनकार करती है--बीस करोड़ हिन्दुओं को छोड़कर, तो शक पैदा होता है कि यह गीता अगर सच में परम ब्रह्म का वचन होता, तो साढ़े-तीन-चार अरब आदमी सभी स्वीकार करते। दो-चार न करते, तो हम समझ लेते कि दिमाग फिरा है। यहाँ तो हालत उलटी है। दो-चार स्वीकार करते हैं, बाकी तो स्वीकार नहीं कर रहे हैं। तो भीतर संदेह पैदा होता है। उस संदेह से ऐसे सवाल उठते हैं।

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; कौन स्वीकार करता है या कौन स्वीकार नहीं करता। तुम्हारी जिन्दगी बदल जाय, तो बात सत्य है। तुम कृष्ण की बात मान कर अपनी जिन्दगी को बदल लो। तुम अकेले काफी हो। कोई पूरी दुनिया में स्वीकार न करे, लेकिन तुम अकेले अगर अपनी जिन्दगी में स्वर्ण ले आते हो और कचरा जल जाता है, तो कृष्ण की बात सही है। सारी दुनिया इनकार करती रहे। तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता।

लेकिन खुद तो हम कोई परिवर्तन लाना नहीं चाहते; हम सब दूसरे को कन्व्हर्ट करने में लगे हैं। हम जैसे अजीब लोग खोजने मुश्किल हैं।

हमारी हालत ऐसी है कि जैसे घर में हमारे कुआँ हो, जिसमें अमृत भरा हो;

हम तो उसको कभी नहीं पीते। हम पड़ोसियों को समझाते हैं कि आओ, हमारे पास अमृत का कुआँ है, उसको पीओ। और पड़ोसी भी उसको कैसे माने, क्योंकि हमने खुद ही अमृत का कोई स्वाद नहीं लिया है।

अगर आप के घर में अमृत का कुआँ होता, तो पहले आप पीते, फिर दूसरों की फिक्र करने जाते। और सच तो यह है कि अगर अमृत आपने पी लिया होता और आप अमर हो गए होते और मृत्यु आपके जीवन से मिट गई होती, तो किसी को समझाने जाने की जरूरत नहीं थी। पड़ोसी खुद ही पूछने आता कि मामला क्या है ! तुम ऐसे अमृत आनंद को उपलब्ध कैसे हो गए ? क्या पीते हो ? क्या खाते हो ? क्या राज है तुम्हारा ? तुम्हें पड़ोसी के पास कहने की जरूरत न होती।

तुम्हें जरूरत इसलिए पड़ती है कि तुम्हारे कुएँ पर तुम्हें खुद ही भरोसा नहीं है। तुमने खुद ही कभी उसका पानी पी कर नहीं देखा। तुम पहले पड़ोसी को पिलाने की कोशिश में लगे हो। शायद तुम्हें डर है कि पता नहीं जहर है या अमृत। पहले पड़ोसी पर देख लें--परिणाम क्या होता है, फिर अपना सोचेंगे।

क्या फिक्र है तुम्हें ? अपने शास्त्र को दूसरों पर लादने की चिंता क्यों है ? अपने को बदलो। तुम्हारी बदलाहट दूसरों को दिखाई पड़ेगी और उन्हें लगेगा कि कुछ सार है, तो वे भी तुम्हारे शास्त्र में से शायद कुछ ले लें। लेकिन लें या न लें--इसे लक्ष्य बनाना उचित नहीं है। सभी लोग ऐसा सोचते हैं।

मेरे पास बहुत लोग आते हैं, वे कहते हैं कि गीता इतना महान ग्रन्थ है, मुसलमान क्यों नहीं मानता ? ईसाई क्यों नहीं मानता ? महान ग्रन्थ उनके पास भी हैं। और गीता से इंचभर कम महान नहीं हैं। लेकिन महान ग्रन्थ से तुमको भी मतलब नहीं है, उनको भी मतलब नहीं है।

तुम जब गीता को महान कहते हो, तो तुम यह मत सोचना कि तुम्हें पता है कि गीता महान है। गीता को तुम महान सिर्फ इसलिए कहते हो कि गीता 'तुम्हारी' है। और गीता को महान कहने से तुम्हारे अहंकार को रस आता है। गीता महान है, इसके पीछे यह छिपा है कि मैं महान हूँ, क्योंकि मैं गीता को माननेवाला हूँ।

कुरान महान है, तो मुसलमान सोचता है : मैं महान हूँ। बाइबिल महान है, तो ईसाई सोचता है : मैं महान हूँ।

अगर कोई कह दे गीता महान नहीं है, तो तुम्हें चोट लगती है, वह इसलिए नहीं कि तुम्हें गीता का पता है। वह चोट इसलिए लगती है कि तुम्हारे अहंकार को चोट लगती है।

हमारे अहंकार के बड़े जाल हैं। हम कहते हैं कि भारत महान देश है। भारत-भारत से किसी को लेना-देना नहीं है। कि चीन महान देश है। मतलब हमें अपने से

है। भारत इसलिए महान देश है, क्योंकि आप जैसा महान व्यक्ति भारत में पैदा हुआ। और कोई कारण नहीं है। अगर आप इंग्लैंड में पैदा होते, तो इंग्लैंड महान देश होता। आप जर्मनी में पैदा होते, तो जर्मनी महान देश होता। आप जहाँ पैदा होते, वही देश महान होनेवाला था!

कोई जमीन पर एकाध देश है, जो यह कहता हो : हम महान नहीं! कोई एकाध जाति है, जो कहती हो : हम महान नहीं हैं? कोई एकाध धर्म है, जो कहता है : हम महान नहीं हैं। सब अहंकार की घोषणाएँ हैं। धर्म का इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

पर हम अहंकार की सीधी घोषणा नहीं कर सकते।

अगर कोई आदमी खड़े होकर कहे कि मैं महान हूँ, तो हम सबको एतराज होगा। सीधी घोषणा खतरनाक है। क्योंकि सीधी घोषणा से दूसरों के अहंकार को चोट लगती है। क्योंकि अगर मैं कहूँ कि मैं महान हूँ, तो फिर आप? आप तत्क्षण छोटे हो जाएँगे। तो आप फौरन इनकार करेंगे कि यह बात नहीं मानी जा सकती। आपका दिमाग खराब है। लेकिन मैं कहता हूँ : हिन्दू धर्म महान है। हिन्दुओं के बीच तो यह बात स्वीकार कर ली जाएगी, क्योंकि मेरे अहंकार से किसी के अहंकार की टक्कर नहीं होती। हिन्दुओं के अहंकार को भी मेरे अहंकार के साथ पुष्टि मिलती है। हाँ, लेकिन मुसलमान इनकार करेगा।

लेकिन अगर मैं कहूँ : भारत महान है, तो भारत में रहनेवाले सभी लोग स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि उनके अहंकार को चोट नहीं लगती। चीनी के अहंकार को चोट लगेगी, जर्मन के अहंकार को चोट लगेगी।

अगर कहीं हमने किसी दिन मंगल पर या किसी और तारे पर मनुष्यता खोज ली या मनुष्य जैसे प्राणी खोज लिए, तो हम घोषणा कर सकेंगे : पृथ्वी महान है। फिर पृथ्वी पर किसी को चोट नहीं लगेगी। लेकिन मंगल ग्रह पर जो आदमी होगा, उसको फौरन चोट लगेगी।

ये सारी घोषणाएँ छिपे हुए अहंकार की घोषणाएँ हैं; परोक्ष घोषणाएँ हैं। आपके कृष्ण परम ब्रह्म हैं, तो जीसस परम ब्रह्म क्यों नहीं हैं? वे भी परम ब्रह्म हैं। और जीसस ही क्यों? परम ब्रह्म तो हरएक के भीतर छिपा है। किसी के भीतर प्रगट हो गया है और किसी के भीतर अप्रगट है। सच तो यह है कि परम ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। लेकिन बड़ी कठिनाई है।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने लिखा है . . .। बर्ट्रेन्ड रसेल तो विचारशील से विचारशील व्यक्तियों में एक है और जिसका पूरा भरोसा बुद्धि और तर्क पर है। उसने भी लिखा है कि जब मैं सोचता हूँ, तो मुझे लगता है कि बुद्ध से महान व्यक्ति पृथ्वी पर दूसरा

नहीं है। जब मैं सोचता हूँ--निष्पक्ष भाव से--तो मुझे लगता है कि बुद्ध से महान व्यक्ति जमीन पर दूसरा नहीं हुआ। लेकिन मेरे भीतर छिपा हुआ ईसाई जिसको मैं वर्षों पहले त्याग कर चुका हूँ . . .।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने ईसाइयत का त्याग कर दिया था। उसने एक बहुत अद्भुत किताब लिखी है : 'व्हाय आई एम नॉट ए क्रिश्चियन--मैं ईसाई क्यों नहीं हूँ?' लेकिन बचपन तो ईसाइयत में बड़ा हुआ था। माँ-बाप ने धर्म तो ईसाइयत दिया था; संस्कार तो ईसाइयत के थे। फिर सोच-विचार कर के ईसाइयत का त्याग कर दिया था।

तब भी बर्ट्रेन्ड रसेल कहता है कि मैं ऊपर से विचार कर के कहता हूँ कि बुद्ध से महान कोई भी नहीं। लेकिन भीतर मेरे हृदय में कोई कहता है कि बुद्ध कितने ही महान हों, लेकिन जीसस से महान तो नहीं हो सकते। भीतर कोने में कोई छिपा हुआ था। और ज्यादा से ज्यादा मैं इतना ही कर सकता हूँ कि बुद्ध और जीसस दोनों समान हैं। बड़ा-छोटा कोई भी नहीं--ज्यादा से ज्यादा। लेकिन जीसस को बुद्ध से नीचे रखना मुश्किल हो जाता है। इसलिए नहीं कि बुद्ध से नीचे हैं या ऊँचे हैं--ये बातें मूढ़तापूर्ण हैं।

जो व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध हो गया, उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। न वह किसी से नीचे है और न किसी से ऊपर। असल में ज्ञान को उपलब्ध होते ही व्यक्ति तुलना के बाहर हो जाता है।

बुद्ध और कृष्ण--और महावीर और क्राइस्ट किसी से ऊँचे-नीचे नहीं हैं। यह ऊँचे-नीचे की भाषा ही उस लोक में व्यर्थ है। यह तो हमारी भाषा है। यहाँ हम ऊँचे-नीचे होते हैं। जैसे ही अहंकार छूट गया। कौन ऊँचा होगा और कौन नीचा होगा? क्योंकि ऊँचा-नीचा अहंकार की तौल है।

बुद्ध भी अहंकारशून्य हैं और क्राइस्ट भी अहंकारशून्य हैं -- और कृष्ण भी, तो ऊँचा-नीचा कौन होगा! ऊँचा-नीचा तभी तक कोई हो सकता है, जब तक अहंकार का भाव है।

तो जो आप कहते हैं कि 'कृष्ण ब्रह्म हैं, ऐसा दूसरे धर्म के लोग क्यों नहीं मानते' -- इसीलिए नहीं मानते हैं कि इससे उनके अहंकार की कोई तृप्ति नहीं होती; और आप इसीलिए मानते हैं कि आपके अहंकार की तृप्ति होती है।

बहुत दूर के धर्मों की तो छोड़ दें, जैन भी राजी नहीं हैं -- आपसे -- मानने को, जो कि बिलकुल आपके पड़ोस में रह रहा है। और आपके और उसके धर्म में कोई बुनियादी फर्क भी नहीं दिखता, वह भी मानने को राजी नहीं है।

जैन को तो छोड़ दें, राम-भक्त -- जो कि हिन्दू है -- वह भी इस बात को

मानने को राजी नहीं है । असल में हम मानते उसी बात को हैं, जिससे हमारा अहंकार खिलता है । जिससे हमारे अहंकार में खिलावट नहीं आती, उसे हम मानते-वानते नहीं ।

यह धार्मिक आदमी की चिंता ही नहीं है, लेकिन धार्मिक आदमी इसकी फिक्र करता है कि जो मुझे ठीक लगता है, उस रास्ते से चलूँ और अपने को बदल लूँ, और नये जीवन को उपलब्ध हो जाऊँ । वह रास्ता कृष्ण के मार्ग से मिले, तो ठीक; और क्राइस्ट के मार्ग से मिले, तो ठीक । मार्गों की चिंता ही नासमझ करते हैं । मंजिल की चिंता . . . ।

लेकिन कुछ लोग होते हैं, आम नहीं खाते, गुठलियाँ गिनते हैं । इस तरह के लोग उसी कोटि में हैं । उन्हें फुर्सत ही नहीं है आम को चखने की । वे गुठलियाँ गिनते रहते हैं !

● इन मित्र ने यह भी पूछा है कि क्या निराकार परमात्मा ही कृष्ण हैं ?

निराकार परमात्मा सभी के भीतर है । कृष्ण के भीतर भी है । कृष्ण के भीतर वह ज्योति पूरी प्रगट होकर दिखाई पड़ रही है, क्योंकि सारे परदे गिर गए हैं । आपके भीतर परदे हैं, इसलिए वह ज्योति दिखाई नहीं पड़ रही है । ज्योति में कोई अंतर नहीं है । किसी का दीया ढँका है और किसी का दीया उघड़ा है । बस, उतना ही फर्क है । दीये में कोई फर्क नहीं है, ज्योति में कोई फर्क नहीं है ।

कृष्ण में और आपमें जो अंतर है, वह भीतर की ज्योति का नहीं है, बाहर के आवरण का है ।

फिर पूछते हैं, 'अभी भी कई भक्तों को, संतों को कृष्ण का साक्षात् दर्शन होता है । चौबीस घंटे उन्हें कृष्ण के सिवाय दूसरा कुछ दिखाई नहीं पड़ता । तो निराकार परमात्मा भक्तों के लिए साकार रूप लेते हैं--क्या यह सच है ?'

आप भाव से जिसका भी स्मरण करते हैं, वह आपके लिए रूपवान हो जाता है, वह आपके लिए रूपायित हो जाता है । आपका भाव निर्माता है, स्रष्टा है । भाव सृजनात्मक है । कोई कृष्ण आ जाते हैं, ऐसा नहीं है; कोई क्राइस्ट आ जाते हैं, ऐसा नहीं है । लेकिन भाव क्रिएटिव है । आप जब गहन भाव से स्मरण करते हैं, तो आपकी चेतना ही उस रूप की हो जाती है -- जिस रूप का आपने स्मरण किया है । आप कृष्णमय हो जाते हैं -- अपने ही भाव के कारण । कोई क्राइस्टमय हो जाता है -- अपने ही भाव के कारण ।

आपने शायद सुना होगा : ईसाई फकीर हैं बहुत से -- आज भी जीवित हैं -- जिनको स्टिगमेटा निकलता है । स्टिगमेटा है -- जहाँ जहाँ जीसस को खीले ठोंके गए थे हाथों में . . । हाथ में, पैर में जीसस को खीले ठोंक कर सूली पर लटकाया गया

था । तो ऐसे ईसाई फकीर हैं, जो इतने जीससमय हो जाते हैं कि शुक्रवार के दिन--जिस दिन जीसस को सूली हुई थी उस दिन--उनके हाथ और पैर में छेद हो जाते हैं और खून बहने लगता है । इसके तो वैज्ञानिक परीक्षण हुए हैं । खुले समूह के सामने फकीर आँख बन्द किए बैठा रहा और ठीक समय पर, डॉक्टरों ने सारी परीक्षा कर ली, और उसके हाथ में से खून बहना शुरू हो जाता है । और ठीक चौबीस घंटे बाद खून की धारा बंद हो जाती, घाव पुर जाते । इतना भाव से एक हो जाता है कि म जीसस हूँ, कि जीसस के शरीर पर जो घटना घटी थी, वह उसके शरीर घटना शुरू हो जाती है ।

इसलिए जीसस के भक्त को जीसस दिखाई पड़ते हैं । कृष्ण के भक्त को कृष्ण दिखाई पड़ते हैं । राम के भक्त को राम दिखाई पड़ते हैं । कृष्ण के भक्त को क्राइस्ट कभी दिखाई नहीं पड़ते । क्राइस्ट के भक्त को कृष्ण कभी नहीं दिखाई पड़ते ।

भाव जब सघन हो जाता है, तो आपकी चेतना रूपांतरित हो जाती है--उसी भाव में एक हो जाती है ।

वह जो कृष्ण आपको दिखाई पड़ते हैं, वह आपके ही भीतर की ज्योति है, जो बाहर दिखाई पड़ रही है--भाव के कारण । कोई कृष्ण वहाँ खड़े हुए नहीं हैं । इसलिए आप दूसरे को नहीं दिखा सकते हैं कि मुझे कृष्ण दिखाई पड़ रहे हैं तो आप दस मुहल्ले के लोगों को बुला लें और उनको कहें कि तुम भी देखो, मुझे दिखाई पड़ रहे हैं । या आप फोटोग्राफर को लिवा लायें और कहें कि फोटो निकालो; मुझे कृष्ण दिखाई पड़ रहे हैं । कोई फोटो नहीं आएगा । और पड़ोसी को, किसी को कृष्ण दिखाई नहीं पड़ेंगे । पड़ोसी तय करके जाएँगे कि आपका दिमाग खराब हो गया है ।

सब्जेक्टिव है; आंतरिक है; आत्मिक है । आपका ही भाव साकार हुआ है । और यह कला बड़ी अदभुत है । यह भाव अगर पूरी तरह साकार होने लगे, तो आप मनुष्य की हैसियत से मिटते जाएँगे और परमात्मा के हैसियत से प्रगट होने लगेंगे । अपने भाव से यह सृजन की क्षमता को उपलब्ध कर लेना स्रष्टा हो जाना है । यही क्रिएटर हो जाना है ।

लेकिन आप इससे ऐसा मत समझ लेना कि आपको कृष्ण का स्मरण आता है, इसलिए जिसको क्राइस्ट का स्मरण आता है, उसको गलती हो रही है । आप ऐसा भी मत समझ लेना कि कृष्ण के आपको दर्शन होते हैं, इसलिए सभी को कृष्ण के दर्शन से ही परमात्मा की प्राप्ति होगी । इस भूल में आप मत पड़ना । अपने-अपने भाव अपना-अपना मार्ग, अपनी-अपनी प्रतीति ।

और भूलकर भी दूसरे की प्रतीति को छूना मत, और गलत मत कहना । अपनी प्रतीति बता देना--कि मुझे ऐसा होता है । और मुझे यह आनंद हो रहा है । लेकिन

दूसरे की प्रतीति को गलत कहने की कोशिश मत करना, क्योंकि वह अनधिकार है, वह ट्रेसपास है। और दूसरे के भाव को नुकसान पहुँचाना अधार्मिक है।

आपको ऐसा भी लगता हो कि यह गलत हो रहा है दूसरे को, तो भी आप जल्दी मत करना, क्योंकि दूसरे के सम्बन्ध में आपको कुछ भी पता नहीं है। थोड़ा धैर्य रखना। और अगर दूसरे के सम्बन्ध में कुछ भी कहना हो, तो दूसरा जो प्रयोग कर रहा है, वह प्रयोग खुद भी कर लेना और फिर ही कहना।

रामकृष्ण को ऐसा ही हुआ। रामकृष्ण को लोग आकर पूछते थे कि इसलाम धर्म कैसा है; ईसाइयत कैसी है; तंत्र के मार्ग कैसे हैं? तो रामकृष्ण ने कहा कि 'मैं जब तक उन प्रयोगों को नहीं किया हूँ, कुछ भी नहीं कह सकता।' तो लोग पूछते हैं, तो रामकृष्ण ने सोचा कि मैं सब प्रयोग करूँगा। तो रामकृष्ण छः महीने के लिए मुसलमान की तरह रहे।

पृथ्वी पर यह प्रयोग पहला था--अपने ढंग का। रामकृष्ण छः महीने तक मन्दिर नहीं जाते थे, मसजिद ही जाते थे। और छः महीने तक नमाज ही पढ़ते थे--प्रार्थना नहीं करते थे। छः महीने तक उन्होंने हिन्दुओं जैसे कपड़े पहनने बंद कर दिए थे और मुसलमान जैसे कपड़े पहनने लगे थे। छः महीने उन्होंने अपने को इसलाम में पूरी तरह डुबा लिया और जब इसलाम से भी उन्हें वही अनुभव हो गया, जो अनुभव उन्होंने काली की प्रार्थना और पूजा करके पाया था, तब उन्होंने कहा कि ठीक है, यह रास्ता भी वहीं आता है। यह रास्ता भी वहीं ले जाता है। इस रास्ते से चलने वाले भी वहीं पहुँच जाएँगे, जहाँ दूसरे रास्तों से चलने वाले पहुँचते हैं।

फिर तो रामकृष्ण ने कोई छः धर्मों के अलग-अलग प्रयोग किये। और सभी धर्मों से जब वे एक ही समाधि को पहुँच गए, तब उन्होंने यह वक्तव्य दिया कि रास्ते अलग हैं, लेकिन पर्वत का शिखर एक है। और अलग-अलग रास्तों से--कभी-कभी विपरीत दिशाओं में जाने वाले रास्तों से भी--आदमी उसी एक शिखर पर पहुँच जाता है।

तो जल्दी मत करना। दूसरे पर कृपा करना। दूसरे को चोट पहुँचाने की कोशिश मत करना। एक ही ध्यान रखना कि आपकी पूरी शक्ति अपने ही प्रयोग में लगे। और धीरे-धीरे आपकी चेतना आपके ही भाव के साथ एक हो जाय।

परमात्मा को निकट लाने की एक ही कला है। और वह कला यह है कि आप अपने भाव को पूरा का पूरा उसमें डुबा दें।

इसके दो उपाय हैं। अगर आपके मन की वृत्ति सगुण की हो, तो आप कृष्ण, क्राइस्ट, बुद्ध, महावीर—कोई भी प्रतीक चुन लें; कोई भी रूप, कोई भी आकार चुन लें और उसी आकार में अपने को लीन करने लगें।

लेकिन अगर आकार में आपकी रुचि न हो, तो जरूरत नहीं है किसी आकार की भी। तब आप निराकार ध्यान में सीधे उतरने लगें। तब आप अनंत और अनादि का, शाश्वत और सनातन का, निराकार आकाश का ही भाव करें--किसी मूर्ति का, किसी बिम्ब का, किसी प्रतीक का नहीं। यह भी आपको खोज लेना चाहिए कि आपके लिए क्या उचित होगा।

आपका अपना भीतरी झुकाव और लगन, आपका भीतरी ढाँचा क्या है, यह आपको ठीक से समझ लेना चाहिए, क्योंकि सभी लोगों को सभी बातें ठीक नहीं होंगी; सभी मार्ग सभी के लिए ठीक नहीं होंगे।

जो आदमी निर्गुण को समझ ही नहीं सकता, वह आदमी निर्गुण के पीछे पड़ जाएगा तो कष्ट पाएगा और कभी भी उपलब्धि नहीं होगी।

इसे आप ऐसा समझें : स्कूल में बच्चे भर्ती होते हैं। सभी बच्चों को गणित नहीं जमता, क्योंकि गणित बिलकुल निराकार है। गणित का कोई आकार तो है नहीं। गणित तो एब्सट्रेक्ट है। सभी बच्चों को गणित नहीं जमता। जिन बच्चों को गणित नहीं जमता या जिनको गणित में बिलकुल रस नहीं आता, या जिनको गणित में कोई गति नहीं होती, उन्हें भूलकर भी निराकार और निर्गुण की बात में नहीं पड़ना चाहिए। मैं सिर्फ एक उदाहरण दे रहा हूँ। जिनकी गणित पर पकड़ नहीं बैठती, उनको निराकार और निर्गुण की बात ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि गणित तो स्थूलतम निराकार की यात्रा है। ध्यान तो परम यात्रा है।

आइन्स्टीन जैसा व्यक्ति निराकार में उतर सकता है सरलता से, क्योंकि उसका सारा खेल ही निराकार गणित का है।

गणित बाहर कहीं भी नहीं है, केवल बुद्धि के निराकार में है। अगर आदमी मर जाय, तो गणित बिलकुल मिट जाएगा। क्योंकि गणित का कोई सवाल ही नहीं है। आप कहते हैं : एक, दो, तीन, चार--ये कहीं भी नहीं हैं। ये सिर्फ खयाल हैं, सिर्फ एक निराकार भाव है।

इस तरह का कोई व्यक्ति हो कि उसका निराकार से, एब्सट्रेक्ट से कोई सम्बन्ध न बैठता हो, तो उसे साकार की यात्रा करनी चाहिए। जैसे मीरा है; तो मीरा को निराकार से कोई रस नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो कृष्ण को जितना रसपूर्ण देख पाती है--नाचते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, उतनी ही लीन हो जाती है।

स्त्रियाँ अकसर निराकार की तरफ नहीं जा सकतीं। क्योंकि स्त्रैण मन आकृति को प्रेम करता है, आकार को प्रेम करता है। पुरुष अकसर निराकार की तरफ जा सकते हैं। क्योंकि पुरुष मन एब्सट्रेक्ट, निर्गुण की तलाश करता है। लेकिन सभी पुरुष पुरुष नहीं होते और सभी स्त्रियाँ स्त्रियाँ नहीं होतीं। बहुत-सी स्त्रियाँ पुरुष

के ढांचे की होती हैं, बहुत से पुरुष स्त्री के ढांचे के होते हैं। यह ढांचा केवल शरीर का नहीं, मन का भी है।

तो आपको ठीक पता लगा लेना चाहिए कि आपका भीतरी ढांचा क्या है। इसलिए गुरु की बड़ी उपयोगिता है। क्योंकि आपको शायद यह समझ में भी नहीं आ सके कि आपका ढांचा क्या है। और शायद आप गलत ढांचे पर प्रयोग करते रहें और परेशान होते रहें। अनेक लोग परेशान होते हैं और वे यही समझते हैं कि अपने कर्मों के फल के कारण उपलब्धि नहीं हो रही है। अकसर तो कर्मों के फल का कोई सम्बन्ध नहीं होता। उपलब्धि में भूल इसलिए होती है कि आपसे तालमेल नहीं पड़ता--जिस विधि का आप प्रयोग कर रहे हैं।

जो आप प्रयोग कर रहे हैं, और जो आप हैं, उन दोनों में कोई संगति नहीं बैठती, उनमें विरोध है, तो आप जन्मों-जन्मों तक कोशिश करते रहें, वह रेत से तेल निकालने जैसी चेष्टा है। वह कभी सफल न होगी। और आप शायद यही सोचते रहेंगे कि कर्मों के फल के कारण बाधा पड़ रही है। कर्मों के फल के कारण बाधा पड़ती है, लेकिन इतनी बाधा नहीं पड़ती, जितनी बाधा ढांचे के विपरीत अगर कोई मार्ग चुन ले तो पड़ती है।

इसलिए गुरु का उपयोग है कि वह आपके ढांचे के सम्बन्ध में खोज कर सकता है।

पश्चिम में मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि आपको अपने मन के सम्बन्ध में उतना पता नहीं है, जितना मनस्विद् को पता है। और मनस्विद् आपका विश्लेषण करके आपके सम्बन्ध में वे बातें जान लेता है, जो आपको ही पता नहीं थीं।

तो आप यह मत समझ लेना कि चूंकि आप आप हैं, इसलिए आप अपने सम्बन्ध में सब जानते हैं। आप अपने सम्बन्ध में एक प्रतिशत भी नहीं जानते। निन्यानबे प्रतिशत तो आपको अपने बाबत ही पता नहीं है। और उसके लिए कोई दूर से निष्पक्ष खड़े होकर देखनेवाला चाहिए, जो ठीक से पहचान ले कि क्या-क्या आपके भीतर छिपा है। अगर वह आपके भीतर को ठीक से पहचान ले और पकड़ ले, तो मार्ग चुनना आसान हो जाय।

अनंत मार्ग हैं और अनंत तरह के लोग हैं। और ठीक मार्ग ठीक व्यक्ति को मिल जाय, तो कभी-कभी क्षण में भी मुक्ति फलित हो जाती है। लेकिन वह तभी, जब बिलकुल ठीक मार्ग ठीक व्यक्ति से मिल जाय।

यह करीब-करीब वैसा है, जैसा आप रेडिओ लगाते हैं, और आपकी सुई अगर ढीली हो, तो दो-दो चार-चार स्टेशन एक साथ पकड़ती है। कुछ भी समझ नहीं आता। फिर आप धीमे-धीमे, धीमे-धीमे ट्यून करते हैं और जब ठीक जगह पर सुई रुक जाती है--ठीक स्टेशन पर--तो सभी स्पष्ट हो जाता है।

करीब-करीब आपके बीच और विधि के बीच जब तक ठीक ट्यूनिंग न हो जाय, तब तक सत्य की कोई प्रतीति नहीं होती। तब तक बहुत बार आपको बहुत मार्ग बदलने पड़ते हैं; बहुत बार बहुत-सी विधियाँ बदलनी पड़ती हैं।

लेकिन अगर आदमी सजग हो, तो बिना गुरु के भी मार्ग खोज ले सकता है। समय थोड़ा ज्यादा लगेगा। अगर आदमी समर्पणशील हो, तो गुरु के सहारे बहुत जल्दी घट सकती है।

● आखिरी सवाल। एक मित्र पूछते हैं कि 'मैंने सुना है कि रामकृष्ण परमहंस जब भी गुह्यज्ञान के बारे में बताते थे, तभी बीच-बीच में रुक जाते थे, और कहते थे: माँ मुझे सच बोलने को नहीं देती। इसका क्या अर्थ है?'

सत्य बोला नहीं जा सकता; बोलने की कोशिश की जा सकती है। और जिनको सत्य का कोई पता नहीं है, उन्हें यह अनुभव कभी नहीं होता कि सत्य बोला नहीं जा सकता।

जिन्हें सत्य का पता ही नहीं है, वे मजे से बोल सकते हैं। उन्हें कभी खयाल भी न आयेगा कि सत्य को शब्द में रखना अत्यंत कठिन है, करीब-करीब असंभव है।

जिनको भी सत्य का पता है, उन्हें बहुत बार भीतर यह अड़चन आ जाती है; बहुत बार यह अड़चन आ जाती है। उन्हें मालूम है कि क्या है सत्य, लेकिन कोई शब्द उससे मेल नहीं खाता। अगर वे कोई भी शब्द चुनते हैं, तो पाते हैं कि उससे कुछ भूल हो जाएगी। वे जो कहना चाहते हैं, वह तो कहा नहीं जाएगा। और कई बार ऐसा लगता है कि वे जो नहीं कहना चाहते, वह भी इस शब्द से ध्वनित हो जाएगा।

बहुत बार ऐसा होता है कि शब्दों का उपयोग तो किया जा सकता है, लेकिन सुननेवाला गलत समझेगा; तो रुकावट हो जाती है।

रामकृष्ण का मतलब वही है। वह उनके काव्य की भाषा है कि वे कहते हैं माँ रोक लेती है--सत्य को कहने से। वह उनकी काव्य-भाषा है। लेकिन असली कारण...कोई रोकता नहीं है; सत्य ही रोक लेता है। क्योंकि सत्य शब्द के साथ बैठ नहीं पाता।

फिर रामकृष्ण की तकलीफ दूसरी भी है। क्योंकि वे शब्द के सम्बन्ध में बहुत कुशल भी नहीं थे। बे-पढ़े-लिखे थे। बुद्ध इस तरह नहीं रुकते।

रामकृष्ण दूसरी कक्षा तक मुश्किल से पढ़े। पढ़ना-लिखना नहीं हुआ। शब्द से उनका कोई बहुत सम्बन्ध नहीं था। और फिर उन्हें अनुभव तो वही हुआ, जो बुद्ध को हुआ।

लेकिन बुद्ध सुशिक्षित थे, शाही परिवार से थे। जो भी हो सकता था संस्कार --श्रेष्ठतम--वह उन्हें उपलब्ध हुआ था; जो भी अभिजात्य की भाषा थी, जो भी काव्य की--कला की भाषा थी, जो भी श्रेष्ठतम था साहित्य में, उसका उन्हें पता था। तो बुद्ध नहीं रुकते; लेकिन इसका मतलब नहीं है कि बुद्ध कह पाते हैं--सत्य है वह। नहीं।

तो बुद्ध तो ज्यादा कुशल ह, वे बीच-बीच में नहीं रुकते। वे पहले ही घोषणा कर देते हैं।

बुद्ध जिस गाँव में जाते थे, वे कहलवा देते थे, कि ग्यारह प्रश्न मुझसे कोई न पूछे। उन ग्यारह प्रश्नों में वे सब बातें आ जाती थीं, जो गुह्य सत्य के सम्बन्ध में हैं। वे कहते थे : इन्हें छोड़कर तुम कुछ भी पूछो। ये ग्यारह प्रश्न मुझसे मत पूछो। क्योंकि इनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ये अव्याख्य हैं।

रामकृष्ण ग्राम्य थे। उनकी भाषा ग्रामीण की थी। उनके प्रतीक भी ग्राम्य थे। उनकी कहानियाँ भी ग्राम्य थीं। उन्होंने पहले से घोषणा नहीं की थी, लेकिन जब वे बोलते थे, तो बीच-बीच में अड़चन आ जाती थी। वे कुछ कहना चाहते थे और वह नहीं प्रगट होता था। कोई शब्द नहीं मिलता था। लेकिन यह घटना तभी घटती है, जब आपके पास कुछ महत्त्वपूर्ण कहने को है। अगर बाजार में चीजें खरीदने और बेचने की ही भाषा हो और उतना ही आपके पास कहने को हो, तो यह अड़चन कभी नहीं आती। लेकिन जैसे ही आप ऊपर उड़ते हैं और समाज और बाजार की भाषा के बाहर की दुनिया में प्रवेश करते हैं, वैसे ही कठिनाई आनी शुरू हो जाती है।

रवीन्द्रनाथ ने छः हजार गीत लिखे हैं। शायद दुनिया में किसी कवि ने इतने गीत नहीं लिखे। पश्चिम में शेली को वे कहते हैं महाकवि। लेकिन उसके भी दो हजार गीत हैं। रवीन्द्रनाथ के छः हजार गीत हैं, जो संगीत में बद्ध हो सकते हैं।

मरने के तीन या चार दिन पहले एक मित्र ने आकर रवीन्द्रनाथ को कहा कि 'तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि पृथ्वी पर अब तक हुए महाकवियों में तुम्हारा सबसे बड़ा दान है। छः हजार गीत जो संगीत में बँध सकते हैं! और प्रत्येक गीत अनूठा है। तुम्हें मृत्यु का कोई भय नहीं होना चाहिए, और न कोई दुःख लेना चाहिए, क्योंकि तुम काम पूरा कर चुके हो; तुम फुलफिल्ड हो। आदमी तो वह दुःखी मरता है, जिसका कुछ काम अधूरा रह गया हो। तुम्हारा काम तो जरूरत से ज्यादा पूरा हो गया है।

रवीन्द्रनाथ ने कहा कि 'रुको, आगे मत बढ़ो। मेरी हालत दूसरी ही है। मैं इधर परमात्मा से प्रार्थना किये जा रहा हूँ कि अभी तो मैं अपना साज बिठा पाया

था; अभी मैंने गीत गाया कहाँ! अभी तो मैं ठोंक-पीट कर के अपना साज बिठा पाया था और गाने का वक्त करीब आता था कि इस शरीर के विदा होने का वक्त करीब आ गया। यह छः हजार गीत तो मेरी कोशिश है सिर्फ, उस गीत को गाने के लिए, जो मैं गाना चाहता हूँ। अभी उसे गा नहीं पाया हूँ और यह तो वक्त जाने का आ गया। वह गीत तो अनगाया रह गया है, जो मेरे भीतर उबलता रहा है। उसी को गाने के लिए ये छः हजार मैंने प्रयास किये थे। ये सब असफल गए हैं। मैं सफल नहीं हो पाया। जो मैं कहना चाहता था, वह अभी--अनकहा --मेरे हृदय में दबा है।

असल में जितनी ही ऊँचाई की प्रतीति और अनुभूति होगी, शब्द उतने ही नीचे पड़ जाएँगे। बाजार की भाषा ऐसे रह जाती है, जैसे कोई आकाश में उड़ गया--दूर--और बाजार की भाषा बहुत नीचे रह गई। अब उससे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

और आकाश की कोई भाषा नहीं है। अभी तक तो नहीं है। कवि बड़ी कोशिश करते हैं; कभी-कभी कोई एक झलक ले आते हैं। संतों ने बड़ी कोशिश की है और कभी-कभी कोई एक झलक शब्दों में उतार दी है। लेकिन सब झलकें अधूरी हैं। क्योंकि सब शब्द आदमी के हैं। और अनुभूति परमात्मा की है।

आदमी बहुत छोटा है और अनुभूति बहुत बड़ी है। इतना बड़ा हो जाता है अनुभव कि वाणी सार्थक नहीं रह जाती। इसलिए रामकृष्ण बीच-बीच में रुक जाते हैं। लेकिन वे भक्त थे; उनकी भाषा भक्त की ही है। जो मैंने कहा, ऐसा उत्तर वे नहीं देते। वे कहते कि 'माँ ने रोक लिया। माँ सत्य नहीं बोलने देती।' बात यही है।

माँ क्यों रोकेगी--सत्य बोलने से। लेकिन रामकृष्ण तो सत्य और माँ को एक ही मानते हैं। उनके लिए माँ सत्य है, सत्य माँ है। वह माँ उनके लिये सत्य का साकार रूप है। तो वे कहते हैं : 'माँ रोक लेती है।' वे कभी-कभी बीच में रुक जाते थे। बहुत देर तक चुप रह जाते थे। फिर बात शुरू करते थे। वह कहीं और से शुरू होती थी। जहाँ से उन्होंने शुरू की थी, जहाँ टूट गई थी, बीच में अंतराल आ जाता। इन अंतरालों का एक कारण और है।

रामकृष्ण अनेक बार बीच-बीच में भी समाधि में भी चले जाते थे। और कभी भी कोई ईश्वर-स्मरण आ जाय, उनकी समाधि लग जाती थी। कोई 'जय रामजी' कह दे, और वे खड़े हो गए; आँख उनकी बंद हो गई। यह नाम सुन के ही, राम का स्मरण सुन के ही वे समाधि में चले गए। उनको सड़क पर ले जाते वक्त भी ध्यान रखना पड़ता था। कोई मन्दिर की घंटी बज रही है और धूप जल रही

है, उनको सुगंध आ गई और घंटी की आवाज सुन ली, वे समाधि में चले गए।

तो कभी-कभी बोलते वक्त भी, जैसे ही वे करीब आते थे सत्य के कहने के उसका स्मरण आते ही वे लीन हो जाते थे, इसलिए भी अंतराल हो जाता था।

अब हम सूत्र को लें।

'तथा वह परमात्मा चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर रूप भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय अर्थात् जानने में नहीं आनेवाला है। तथा अति समीप में और अति दूर में भी स्थित वही है। और वह विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथक्-पृथक् के सदृश स्थित प्रतीत होता है। तथा वह जानने योग्य परमात्मा भूतों का धारण-पोषण करनेवाला और संहार करनेवाला तथा सबका उत्पन्न करने वाला है। और वह ज्योतियों की भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है। तथा वह बोध स्वरूप और जानने के योग्य है। एवं तत्त्वज्ञान से प्राप्त होनेवाला और सब के हृदय में स्थित है।'

तीन महत्त्वपूर्ण बातें। पहली बात : परमात्मा के सम्बन्ध में जब भी कुछ कहना हो, तो भाषा में जो भी विरोध में खड़ी हुई दो अतियाँ हैं, एक्सट्रीम पोलेरिटीज हैं, उन दोनों को एक साथ जोड़ लेना जरूरी है। क्योंकि दोनों अतियाँ परमात्मा में समाविष्ट हैं। और जब भी हम एक अति के साथ परमात्मा का तादात्म्य करते हैं, तभी हम भूल कर जाते हैं, और अधूरा परमात्मा हो जाता है और हमारा परमात्मा के सम्बन्ध में जो वक्तव्य है, वह असत्य हो जाता है, वह पूरा नहीं होता।

मगर मनुष्य का मन ऐसा है कि वह एक अति को चुनना चाहता है।

हम कहना चाहते हैं कि परमात्मा स्रष्टा है। दुनिया के सारे धर्म--सिर्फ हिन्दुओं को छोड़कर--कहते हैं कि परमात्मा स्रष्टा है, क्रिएटर है। सिर्फ हिन्दू अकेले हैं जमीन पर, जो कहते हैं : परमात्मा दोनों है--स्रष्टा भी और विनाशक भी--क्रिएटर और डिस्ट्रायर।

यह बहुत विचारणीय है और बहुत मूल्यवान है, क्योंकि परमात्मा स्रष्टा है, यह तो समझ में आ जाता है। लेकिन वही विनाशक भी है, वही विध्वंसक भी है--यह समझ में नहीं आता।

आपके बेटे को जन्म दिया तो--तो परमात्मा को धन्यवाद दे देते हैं कि परमात्मा ने बेटे को जन्म दिया। और आपका बेटा मर जाय, तो आपकी भी हिम्मत नहीं पड़ती कहने की कि परमात्मा ने बेटे को मार डाला। क्योंकि यह सोचते ही कि 'परमात्मा ने बेटे को मार डाला'--ऐसा लगता है : यह भी कैसा परमात्मा, जो मारता है!

लेकिन ध्यान रहे, जो जन्म देता है, वही मारने वाला तत्त्व भी होगा, चाहे

हमें कितना ही अप्रीतिकर लगता हो। हमारी प्रीति और अप्रीति का सवाल भी नहीं है।

जो बनाता है, वही मिटाएगा भी; नहीं तो मिटाएगा कौन? और अगर मिटने की क्रिया न हो, तो बनने की क्रिया बन्द हो जाएगी। अगर जगत् में मृत्यु बंद हो जाय, तो जन्म बंद हो जाएगा। आप यह मत सोचें कि जन्म जारी रहेगा और मृत्यु बन्द हो सकती है। उधर मृत्यु बंद होगी, इधर जन्म बंद होगा। और अनुपात निरंतर वही रहेगा। उधर मृत्यु को रोकिएगा, इधर जन्म रुकना शुरू हो जाएगा।

इधर चिकित्सकों ने, चिकित्सा शास्त्र ने मृत्यु को थोड़ा दूर हटा दिया, बीमारी थोड़ी कम कर दी, तो सारी दुनिया की सरकारें संतति निरोध में लगी हैं। वह लगना ही पड़ेगा। उसका कोई उपाय ही नहीं है। और अगर सरकारें संतति निरोध नहीं करेंगी, तो अकाल करेगा, भुखमरी करेगी, बीमारी करेगी। लेकिन जन्म और मृत्यु में एक अनुपात है। उधर आप मृत्यु को रोकिए, तो इधर जन्म को रुकना पड़ेगा।

अब इधर हिन्दुस्तान में बहुत से साधु-संन्यासी हैं, वे कहते हैं : संतति निरोध नहीं होना चाहिए। उनको यह भी कहना चाहिए कि अस्पताल नहीं होने चाहिए। अस्पताल न हों, तो संतति निरोध की कोई जरूरत नहीं है। इधर मौत को रोकने में सब राजी हैं--कि रुकनी चाहिए।

संत महात्मा लोगों को समझाते हैं कि अस्पताल खोलो; मौत को रोको। मौत को हटाओ; बीमारी कम करो। और वही संत महात्मा लोगों को समझाते हैं कि बर्थ कन्ट्रोल मत करना। इसमें तो बड़ा खतरा हो जाएगा। यह तो परमात्मा के खिलाफ है।

अगर बर्थ कन्ट्रोल परमात्मा के खिलाफ है, तो दवाई भी परमात्मा के खिलाफ है। क्योंकि परमात्मा बीमारी दे रहा है और तुम दवा कर रहे हो! परमात्मा मौत ला रहा है और तुम इलाज करवा रहे हो, तब सब चिकित्सा परमात्मा विरोध में है।

चिकित्सा बंद कर दो, संतति निरोध की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी। लोग अपने आप ही ठीक अनुपात में आ जाएँगे। इधर मौत रोकी, इधर जन्म रुकता है।

आप सोच लें : अगर किसी दिन विज्ञान ने यह तरकीब खोज निकाली कि आदमी को मरने की जरूरत नहीं, तो हमें सभी लोगों को बाँझ कर देना पड़ेगा, क्योंकि अब पैदा होने की कोई जरूरत नहीं।

जन्म और मृत्यु एक ही धागे के दो छोर हैं। उनमें एक संतुलन है।

यह सूत्र पहली बात यह कह रहा है कि परमात्मा दोनों अतियों का जोड़ है। 'सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है।'

बहुत लोग हैं, जो मानते हैं : परमात्मा बाहर है। आम आदमी की धारणा यही होती है कि कहीं आकाश में परमात्मा बैठा है। एक बहुत बड़ी दाढ़ी वाला बूढ़ा आदमी--वह सारी दुनिया को सम्हाल रहा है--सिंहासन पर बैठा हुआ! इससे बड़ा खतरा भी होता है कभी-कभी।

पश्चिम के बहुत बड़े विचारक कार्ल गुस्ताव जुंग ने अपने संस्मरणों में लिखा है : मुझे बचपन में यह समझाया गया कि परमात्मा आकाश में बैठा हुआ है अपने सिंहासन पर पर, दुनिया का काम कर रहा है। तो उसने लिखा है कि मैं अपने बाप से कह तो नहीं सका, लेकिन मुझे सदा एक ही खयाल आता था कि वह अगर पेशाब, मल-मूत्र त्याग करता होगा, तो हमीं पर गिरता होगा। आखिर वह सिंहासन पर बैठा-बैठा कब तक बैठा रहता होगा; कभी तो मल-मूत्र त्याग करता होगा!

उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि यह बात मेरे मन में बुरी तरह घूमने लगी...। छोटा बच्चा ही था। किसी से कह तो सकता नहीं, क्योंकि किसी से कहूँ तो वह पिटाई कर देगा--कि यह भी क्या बात कर रहे हो : परमात्मा और मल-मूत्र!

लेकिन जब परमात्मा सिंहासन पर बैठता है, आदमियों की तरह, जैसे आदमी कुर्सी पर बैठते हैं; और जब परमात्मा की दाढ़ी मूंछ--और सब आदमी की तरह है, तो फिर मल-मूत्र भी होना ही चाहिए।

जुंग ने लिखा है कि किसी से मैं कह तो नहीं सका, तो फिर मुझे सपना आने लगा : वह बैठा है अधर में और मल-मूत्र गिर रहा है!

आम आदमियों की धारणा यही है कि वह आकाश में बैठा हुआ है--बाहर। इसलिए आप मन्दिर जाते हैं, क्योंकि परमात्मा बाहर है। यह एक अति है।

एक दूसरी अति में लोग हैं, जो मानते हैं कि परमात्मा भीतर है; बाहर का कोई सवाल नहीं। इसलिए न कोई मन्दिर, न कोई तीर्थ; न बाहर कोई जाने की जरूरत। परमात्मा भीतर है।

यह सूत्र कहता है कि दोनों बातें अधूरी हैं। जो कहते हैं : परमात्मा भीतर है, वे भी आधी बात कहते हैं। और जो कहते हैं : परमात्मा बाहर है, वे भी आधी बात कहते हैं। और दोनों गलत हैं, क्योंकि अधूरा सत्य असत्य से भी बदतर होता है। क्योंकि वह सत्य जैसा भासता है और सत्य नहीं होता।

परमात्मा बाहर और भीतर दोनों में है।

'वह परमात्मा चराचर सब भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है।' हमारे लिए जो बाहर है और हमारे लिए जो भीतर है, वह उसके लिए न तो बाहर है, न भीतर है।

दोनों में वही है।

ऐसा समझें कि आपके कमरे के भीतर आकाश है और कमरे के बाहर भी आकाश है। आकाश बाहर है या भीतर? आपका मकान ही आकाश में बना है--तो आकाश आपके मकान के भीतर है और बाहर भी है। दीवालों की वजह से बाहर-भीतर का फासला पैदा हो रहा है। यह शरीर की दीवाल की वजह से बाहर-भीतर का फासला पैदा होता है। वैसे बाहर-भीतर वह दोनों नहीं है; या दोनों है।

सूत्र कहता है : बाहर भीतर दोनों है परमात्मा। 'चर अचर रूप भी वही है।' जो बदलता है, वह भी वही है; जो नहीं बदलता, वह भी वही है।

यहाँ भी हम इसी तरह का द्वंद्व खड़ा करते हैं कि परमात्मा कभी नहीं बदलता; संसार सदा बदलता रहता है। लेकिन बदलाहट में भी वही है। और गैर-बदलाहट में भी वही है। दोनों द्वंद्व को वह घेरे हुए है।

'सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है अर्थात् जानने में आने वाला नहीं है।' बहुत सूक्ष्म है। सूक्ष्मता दो तरह की है। एक तो कोई चीज बहुत सूक्ष्म हो, तो समझ में नहीं आती है। या कोई चीज बहुत विराट् हो, तो समझ में नहीं आती है। न तो यह अनंत विस्तार समझ में आता है और न सूक्ष्म समझ में आता है। दो चीजें छूट जाती हैं।

दो छोर हैं : विराट् और सूक्ष्म। सूक्ष्म को कहना चाहिए --शून्य जैसा सूक्ष्म; एक से भी नीचे--जहाँ शून्य है।

दो तरह के शून्य हैं। एक से भी नीचे उतर जायँ, तो एक शून्य है। और अनंत का एक शून्य है। ये दोनों समझ में नहीं आते। परमात्मा दोनों अर्थों में सूक्ष्म है। विराट् के अर्थों में भी--शून्य के अर्थों में भी। और इसलिए अविज्ञेय है। समझ में आने जैसा नहीं है।

यह तो बड़ी कठिन बात हो गई। अगर परमात्मा समझ में आने जैसा ही नहीं है, तो समझाने की इतनी कोशिश! सारे शास्त्र, सारे ऋषि एक ही काम में लगे हैं कि परमात्मा को समझाओ। और वह समझ में आने योग्य नहीं है। फिर ये समझाने से क्या सार होगा!

समझ में आने योग्य नहीं है, इसका मतलब आप यह मत समझना कि वह अनुभव में आने योग्य नहीं है। समझ में तो नहीं आयेगा, लेकिन अनुभव में आ सकता है।

जैसे अगर मैं आपको समझाने बैठूँ--नमक का स्वाद, तो समझा नहीं सकता। परमात्मा तो बहुत दूर है, नमक का स्वाद भी नहीं समझा सकता। और अगर आपने कभी नमक नहीं चखा है, तो मैं लाख सिर पटकूँ और सारे शास्त्र इकट्ठे कर लूँ और दुनिया भर के विज्ञान की चर्चा आपसे करूँ, तो भी अखिर में आप पूछेंगे कि आपकी बातें तो सब समझ में आयीं, लेकिन यह 'नमकीन' क्या है?

उसका उपाय एक ही है कि एक नमक का टुकड़ा आपकी जीभ पर रखा जाय। शास्त्र-वास्त्र की कोई जरूरत नहीं है ।

जो समझ में आने वाला नहीं है, वह भी अनुभव में आनेवाला हो जाएगा और आप कहेंगे कि आ गया अनुभव--स्वाद ।

परमात्मा का स्वाद आ सकता है । इसलिए कोई प्रत्यय के ढंग से, कंसेप्ट की तरह समझाए, तो कोई सार नहीं होता । इसीलिए तो हम परमात्मा के लिए कोई स्कूल नहीं खोल पाते, कोई पाठशाला नहीं बना पाते । या बनाते हैं तो उससे कोई सार नहीं होता ।

कितनी ही धर्म की शिक्षा दो, उससे कोई धर्म नहीं होता । सीख-साख के आदमी वैसे का वैसा कोरा लौट जाता है । और कई दफे तो और भी ज्यादा चालाक होकर लौट जाता है--जितना वह पहले नहीं था । क्योंकि अब वह बातें बनाने लगता है। अब वह अच्छी बातें करने लगता है । वह धर्म की चर्चा करने लगता है । और स्वाद उसे बिलकुल नहीं है ।

कृष्ण कहते हैं : 'सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है, समझ में आने वाला नहीं है । अति समीप है और अति दूर भी है ।' पास है बहुत; इतना पास, जितना कि आप भी अपने पास नहीं । असल में 'पास' कहना ठीक ही नहीं, क्योंकि आप ही वही हैं । और दूर इतना है, जितने दूर की हम कल्पना कर सकें । अगर संसार की कोई भी सीमा हो--विश्व की--तो उस सीमा से भी आगे । कोई सीमा है नहीं--इसलिए अति दूर और अति निकट ।

ये दो अतियाँ हैं, जिन्हें जोड़ने की कृष्ण कोशिश कर रहे हैं ।

'विभागरहित... ।' उसका कोई विभाजन नहीं हो सकता । और सभी विभागों में वही मौजूद है । 'तथा वह जानने योग्य परमात्मा भूतों का धारण-पोषण करने वाला और संहार करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला--सभी वही है ।'

वही बनाता है, वही सम्हालता है, वही मिटाता है । यह धारणा बड़ी अद्भुत है और एक बार यह खयाल में आ जाय, कि वही बनाता है, वही मिटाता है, वही सम्हालता है, तो हमारी सारी चिंता समाप्त हो जाय ।

यह एक सूत्र आपको निश्चिन्त कर देने के लिए काफी है । यह एक सूत्र आपको सारे संताप से मुक्त कर देने के लिए काफी है । क्योंकि फिर आपके हाथ में कुछ नहीं रह जाता । न आपको परेशान होने का कोई कारण रह जाता है और न आपको शिकायत की कोई जरूरत रह जाती है । और न आपको कहने की जरूरत रह जाती है कि ऐसा क्यों है ? बीमारी क्यों है ? बुढ़ापा क्यों है ? मौत क्यों है ? कुछ भी पूछने की जरूरत नहीं रह जाती ।

आप जानते हैं कि वही एक तरफ से बनाता है और दूसरी तरफ से मिटाता है । और वही बीच में सम्हालता भी है । इसलिए हमने परमात्मा का त्रिमूर्ति की तरह प्रतीक निर्मित किया है । उसमें तीन मूर्तियाँ, तीन तरह के परमात्मा की धारणा की है । शिव, ब्रह्मा, विष्णु--वह हमने तीन धारणा की है । ब्रह्मा सर्जक है, स्रष्टा है । विष्णु सम्हालनेवाला है । शिव विनष्ट कर देने वाला है । लेकिन त्रिमूर्ति का अर्थ तीन परमात्मा नहीं है । वे केवल तीन चेहरे हैं । मूर्ति तो एक है । अस्तित्व तो एक है । लेकिन उसके ये तीन ढंग हैं ।

'और वही ज्योतियों की ज्योति, माया से अति परे कहा जाता है । तथा वह परमात्मा बोधरूप और जानने के योग्य है । एवं तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला और सबके हृदय में स्थित है ।

'अविज्ञेय है, समझ में न आने वाला है, और फिर भी जानने योग्य वही है ।'

ये बातें उलझन में डालती हैं । और लगता है कि एक दूसरे का विरोध है । विरोध नहीं है । समझ में तो वह नहीं आएगा--अगर आपने समझदारी बरती । अगर आपने कोशिश की कि बुद्धि से समझ लेंगे, तर्क लगाएँगे, गणित बिठाएँगे, आर्ग्यू करेंगे, प्रमाण जुटाएँगे, तो वह आपकी समझ में नहीं आएगा । क्योंकि सभी प्रमाण आपके हैं, आपसे बड़े नहीं हो सकते ।

सभी तर्क आपके हैं; आपके अनुभव से ज्यादा की उनसे कोई उपलब्धि नहीं हो सकती । और सभी तर्क बाँझ हैं; उनसे कोई अनुभव नहीं मिल सकता । लेकिन जानने योग्य वही है । तो इसका अर्थ यह हुआ कि जानने की कोई और कीमिया, कोई और प्रक्रिया हमें खोजनी पड़ेगी ।

बुद्धि उसे जानने में सहयोगी न होगी ।

क्या बुद्धि को छोड़कर भी जानने का कोई उपाय है ? क्या कभी आपने कोई चीज जानी है, जो बुद्धि को छोड़कर जानी हो ?

अगर आपके जीवन में प्रेम का कोई अनुभव हो, तो थोड़ा-सा खयाल आ जाय । प्रेम के अनुभव में आप बुद्धि से नहीं जानते; कोई और ढंग है जानने का, कोई हार्दिक ढंग है जानने का ।

माँ अपने बेटे को बुद्धि के ढंग से नहीं जानती । सोचती नहीं उसके बाबत; जानती है । हृदय की धड़कन से जुड़कर जानती है । वह उसे पहचानती है । वह पहचान कुछ और मार्ग से होती है । वह मार्ग सीधा-सीधा खोपड़ी से नहीं जुड़ा हुआ है । वह शायद हृदय की धड़कन से और भाव, अनुभूति से जुड़ा हुआ है ।

परमात्मा को जानने के लिए बुद्धि उपकरण नहीं है । बुद्धि को रख देना एक तरफ--मार्ग है । इसलिए सारी साधनाएँ बुद्धि को हटा देने की साधनाएँ हैं । और

बुद्धि को जो एक तरफ उतार के रख दे, जैसे स्नान करते वक्त किसी ने कपड़े उतार कर रख दिये हों, ऐसा प्रार्थना और ध्यान करते वक्त कोई बुद्धि को उतार कर रख दे, बिलकुल निर्बुद्धि हो जाय, बिलकुल बच्चे जैसा हो जाय, बाल-बुद्धि हो जाय, जिसे कुछ बचा ही नहीं; सोच-समझ की कोई बात ही नहीं रही; तो तत्क्षण सम्बन्ध जुड़ जाता है।

क्यों ऐसा होता होगा? ऐसा इसलिए होता है कि बुद्धि तो बहुत संकीर्ण है। बुद्धि का उपयोग है संसार में, जहाँ संकीर्ण की हम खोज कर रहे हैं, क्षुद्र की खोज कर रहे हैं, वहाँ बुद्धि का उपयोग है। लेकिन जैसे ही हम विराट् की तरफ जाते हैं, वैसे ही बुद्धि बहुत संकीर्ण रास्ता हो जाती है। उस रास्ते से प्रवेश नहीं किया जा सकता है। उसको हटा देना, उसे उतार देना।

संतों ने न मालूम कितनी तरकीबों से एक ही बात सिखाई है--कि कैसे आप अपनी बुद्धि से मुक्त हों। इसलिए बड़ी खतरनाक भी है, क्योंकि हमें तो लगता है कि बुद्धि को बचा कर कुछ करना है; बुद्धि साथ लेकर कुछ करना है। सोच-विचार अपना कायम रखना है। कहीं कोई हमें धोखा न दे जाय। कहीं ऐसा न हो कि हम बुद्धि को उतार कर रखें, और इसी बीच कुछ गड़बड़ हो जाय। और हम कुछ भी न कर पाएँगे।

तो बुद्धि को हम हमेशा पकड़े रहते हैं, क्योंकि बुद्धि से लगता है हमें, हमारा कन्ट्रोल है, हमारा नियंत्रण है। बुद्धि के हटते ही नियंत्रण खो जाता है। और हम सहज प्रकृति के हिस्से हो जाते हैं इसलिए खतरा है और डर है। इस डर में थोड़ा कारण है। वह खयाल में ले लेना जरूरी है।

अगर आपको क्रोध आता है, तो बुद्धि एक तरफ हो जाती है। जब क्रोध चला जाता है, तब बुद्धि वापस आती है। और तब आप पछताते हैं। जब काम-वासना पकड़ती है, तो बुद्धि एक तरफ हो जाती है। और जब काम-कृत्य पूरा हो जाता है, तब आप उदास और दुःखी और चिंतित हो जाते हैं कि फिर वही भूल की। कितनी बार सोचा कि नहीं करें, फिर वही किया। फिर बुद्धि आ गयी।

एक बात खयाल रखें: प्रकृति भी तभी काम करती है, जब बुद्धि बीच में नहीं होती। आपके भीतर जो निम्न है, वह भी तभी काम करता है, जब बुद्धि नहीं होती। अगर आप बुद्धि को सजग रखें, तो आप क्रोध भी न कर पाएँगे, और आप काम-वासना में भी नहीं उतर पाएँगे।

अगर दुनिया बहुत बुद्धिमान हो जाय, तो संतान पैदा होनी बंद हो जाएगी, संसार उसी वक्त बंद हो जाएगा, क्योंकि नीचे की प्रकृति की भी सक्रियता तभी हो सकती है, जब आप बुद्धि का नियंत्रण छोड़ दें। क्योंकि प्रकृति तभी आपके भीतर काम कर पाती है, जब बुद्धि आपके बीच में बाधा नहीं डालती।

वह जो श्रेष्ठ प्रकृति है, जिसको हम परमात्मा कहते हैं, वह भी तभी काम करता है, जब आपकी बुद्धि नहीं होती। पर इसमें एक खतरा, जो समझ लेने जैसा है, वह यह कि चूंकि हम नीचे की प्रकृति से डरे हुए हैं, इसलिए बुद्धि के नियंत्रण को हम हमेशा कायम रखते हैं। हम डरे हुए हैं। अगर बुद्धि को छोड़ दें तो क्रोध, हिंसा--कुछ भी हो जाय।

अगर बुद्धि को हम छोड़ दें, तो हमारे भीतर की वासनाएँ स्वच्छंद हो जायें, तो हम तो अभी पागल की तरह न मालूम क्या कर गुजरें।

कितनी बार हत्या करने की सोची है बात, लेकिन बुद्धि ने कहा: क्या कर रहे हो? पाप है। जन्मों-जन्मों तक भटकोगे। नरक में जाओगे। और न भी गए नरक में, तो अदालत है, कोर्ट है, पुलिस है। और कहीं भी न गए, तो खुद की कांसियंस है, अन्तःकरण है, वह कचोटेगा सदा, कि तुमने हत्या की। फिर क्या मुँह दिखाओगे? कैसे चलोगे रास्ते पर? कैसे उठोगे? फिर बुद्धि ने रोक लिया है।

अगर आज कोई कहे कि बुद्धि का नियंत्रण छोड़ दो, तो पहला खयाल यही आयेगा कि अगर नियंत्रण छोड़ा कि उठाई तलवार और किसी की हत्या कर दी, क्योंकि वह तैयार बैठा है भाव भीतर।

नीचे की प्रकृति के डर के कारण हम बुद्धि को नहीं छोड़ पाते। और हमें ऊपर की प्रकृति का कोई पता नहीं है। क्योंकि वह भी बुद्धि के छोड़ने पर ही काम करती है।

उसे हम ऐसा भी समझें: अगर कोई आदमी बीमार हो, तो चिकित्सक पहली फिक्र करते हैं कि उसको नींद ठीक से आ जाय, क्योंकि वह जगा रहता है, तो शरीर की प्रकृति को काम नहीं करने देता, बाधा डालता है। नींद आ जाय, तो शरीर अपना काम पूरा कर ले; प्रकृति उसके शरीर को ठीक कर दे; उसके घाव भर दे; उसकी बीमारी को दूर करे दे।

इसलिए चिकित्सक की पहली चिंता होती है कि मरीज सो जाय। बाकी काम दूसरा है, नम्बर दो पर है। दवा वगैरह नम्बर दो पर है। पहला काम है कि मरीज सो जाय। क्योंकि इतनी चिंता है। क्योंकि मरीज की बुद्धि दिक्कत दे रही है। सो जाय, तो प्रकृति काम कर सके।

आप भी जब सोते हैं, तभी आपका शरीर स्वस्थ हो पाता है। दिन भर में आप उसको अस्वस्थ कर देते हैं।

आपको पता है: बच्चा जब पैदा होता है, तो बाईस घंटे सोता है, बीस घंटे सोता है। और माँ के पेट में नौ महीने चौबीस घंटे सोता है। तो जैसे-जैसे उम्र बड़ी होने लगती है, नींद कम होने लगती है। फिर बुढ़ापे में कोई आदमी दो-तीन घंटे ही सो ले, तो बहुत। लेकिन बूढ़े बहुत परेशान होते हैं।

सत्तर साल के बूढ़े भी मेरे पास आ जाते हैं। वे कहते हैं: 'कुछ नींद का रास्ता बताइये।' नींद की आपको जरूरत नहीं रही है अब। जैसे-जैसे शरीर मरने के करीब पहुंचता है, प्रकृति शरीर में काम करना कम कर देती है। उसकी जरूरत नहीं है। बनाने का काम बंद हो जाता है।

बच्चा चौबीस घंटे सोता है, क्योंकि प्रकृति को बनाने का काम करना है। अगर बच्चा जग जाय, तो बाधा डालेगा। उसकी बुद्धि बीच में आ जाएगी वह। कहेगा: टाँग जरा लम्बी होती, तो अच्छा था। नाक जरा ऐसी होती, तो अच्छा था। आँख जरा और बड़ी होती, तो मजा आ जाता। वह गड़बड़ डालना शुरू कर देगा।

तो नौ महीने में प्रकृति उसको एक दफे भी होश नहीं देती। वह बेहोश है; प्रकृति अपना काम करती है। जैसे ही बच्चा पूरा हो जाता है, बाहर आ जाता है। लेकिन तब भी बाईस घंटे सोता है। अभी बहुत काम होना है। अभी उसकी पूरी जिन्दगी की तैयारी होनी है। जैसे ही बच्चे के शरीर का काम पूरा हो जाता है, वैसे ही नींद एक जगह आकर रुक जाती है। छः घंटा, सात घंटा, आठ घंटा; काम प्रकृति का पूरा हो गया। अब ये आठ घंटे तो रोज के काम के लिए हैं। रोज में आप जितना शरीर को तोड़ लेंगे, उतना प्रकृति रात में पूरा कर देगी। दूसरे दिन आप सुबह ताजा होकर काम में लग जाएँगे।

बूढ़ा तो अब मरने के करीब है, उसको तीन घंटा भी जरूरत से ज्यादा है। क्योंकि अब प्रकृति कुछ बना नहीं रही है, सिर्फ तोड़ रही है। इसलिए नींद कम होती जा रही है।

प्रकृति भी काम करती है, जब आप बुद्धि से बीच में बाधा नहीं डालें।

यह मैं इसलिए उदाहरण दे रहा हूँ कि जो नीचे की प्रकृति के सम्बन्ध में सच है, वही ऊपर की प्रकृति के सम्बन्ध में भी सच है। जब आप परमात्मा को भी बाधा नहीं डालते और बुद्धि को हटा लेते हैं, तब वह भी काम करता है।

लेकिन नीचे के भय के कारण हम ऊपर से भी भयभीत होते हैं। नीचे के डर के कारण, हम ऊपर की तरफ भी नहीं खुलते। इसलिए मेरा कहना है कि प्रकृति को भी परमात्मा का बाह्य रूप समझें। उससे भी भयभीत न हों। उसमें भी उतरें। उससे भी डरें मत। उससे भी भागें मत। उसको भी घटने दें। उसमें भी बाधा मत डालें और नियंत्रण मत बनाएँ। बिना बाधा डाले, बिना नियंत्रण बनाए, होश को कायम रखें। वह अलग बात है। फिर वह बुद्धि नहीं है।

बुद्धि का अर्थ है: बाधा डालना, नियंत्रण करना। ऐसा न हो, ऐसा हो। उपाय करना। होश का अर्थ है: साक्षी होना। हम कोई बाधा न डालेंगे। अगर क्रोध आ रहा है, तो हम क्रोध के भी साक्षी हो जाएँगे। और काम-वासना आ रही है, तो हम काम-

वासना के भी साक्षी हो जाएँगे; हम देखेंगे; हम बीच में कुछ निर्णय न करेंगे कि अच्छा है, कि बुरा है। होना चाहिए, कि नहीं होना चाहिए। मैं रोकूं कि न रोकूं; करूँ कि न करूँ; हम कुछ भी निर्णय न लेंगे। हम सिर्फ शांत देखेंगे; जैसे दूर खड़ा हुआ आदमी चलते हुए रास्ते को देख रहा हो; आकाश में पक्षी उड़ रहे हों, और आप देख रहे हों--ऐसा हम देखेंगे।

नीचे की प्रकृति को भी दर्शन करना सीखेंगे, तो बुद्धि हटेगी और साक्षी जगेगा। और जब नीचे का भय न रह जाएगा, तो आप ऊपर की तरफ भी बुद्धि को हटा कर सकेंगे। क्योंकि आपको भरोसा आ जाएगा कि बुद्धि को ढोने की कोई भी जरूरत नहीं है। और जैसे ही बुद्धि हटती है, परमात्मा ज्ञात होना शुरू हो जाता है।

वह अविज्ञेय है बुद्धि से, लेकिन बुद्धि के हटते ही प्रज्ञा से, साक्षी भाव से वही जानने योग्य है, वही अनुभव योग्य है।

आखिरी बात इस सम्बन्ध में खयाल ले लें, क्योंकि साक्षी का सूत्र बहुत मूल्यवान है। और अगर आप साक्षी के सूत्र को ठीक से समझ लें, तो परमात्मा का कोई भी रहस्य आपसे अनजाना न रह जाएगा। और इस साक्षी के सूत्र को समझने के लिए छोटा-छोटा-सा प्रयोग करें। कुछ भी छोटा-मोटा काम कर रहे हों, तो कर्ता बन कर मत करें, साक्षी बन कर करें, ताकि थोड़ा अनुभव होने लगे कि देखने वाले का अनुभव क्या है।

भोजन कर रहे हैं। साक्षी हो जायँ। अचानक खयाल आये, एक गहरी श्वास लें और देखने लगें कि आप देख रहे हैं--अपने शरीर को--भोजन करते हुए। पहले थोड़ी अड़चन होगी, थोड़ा-सा विचित्र मालूम पड़ेगा, क्योंकि दो की जगह तीन आदमी हो गए। अभी भोजन था, भूख थी, करने वाला था। अब एक यह तीसरा और आ गया --देखने वाला।

अब यह देखने वाले की वजह से थोड़ी कठिनाई होगी। एक तो भोजन करना धीमा हो जाएगा। आप ज्यादा चबाएँगे आहिस्ता उठाएँगे, क्योंकि देखने वाले की वजह से क्रियाओं में जो विक्षिप्तता है, वह कम हो जाती है। शायद इसीलिए हम देखने वाले को बीच में नहीं लाते, क्योंकि जल्दी ही डालकर भागना। किसी तरह अन्दर कर देना है भोजन को, और निकल पड़ना है।

अगर आप चलेंगे भी होशपूर्वक, तो आप पाएँगे: आपकी गति धीमी हो गई।

बुद्ध चलते हैं। उनके चलने की गति ऐसी शांत है, जैसे कोई परदे पर फिल्म को बहुत धीमी स्पीड से चला रहा हो; बहुत आहिस्ता।

बुद्ध से कोई पूछता है कि 'आप इतने धीमे क्यों चलते हैं?' तो बुद्ध ने कहा कि 'उलटी बात है। तुम मुझ से पूछते हो कि मैं इतना धीमा क्यों चलता हूँ! मैं तुमसे

पूछता हूँ कि तुम पागल की तरह क्यों चलते हो ? यह इतना ज्वर, इतना बुखार चलने में क्यों है ? चलने में इतनी विक्षिप्तता क्यों है ? मैं तो होश से चलता हूँ, तो सब कुछ धीमा हो जाता है ।'

ध्यान रहे, जितना होश होगा, उतनी आपकी क्रिया धीमी हो जाएगी । और जितना कर्ता शून्य होगा, उतना क्रियाओं में से उन्माद, ज्वर चला जाएगा; क्रियाएँ शांत हो जाएँगी ।

और ध्यान रहे, शांत क्रियाओं से पाप नहीं किया जा सकता । अगर आप किसी की हत्या करने जा रहे हैं, और धीमे-धीमे जा रहे हैं, तो पक्का समझिए : हत्या-हत्या नहीं होने वाली है । अगर आप किसी का सिर तोड़ने को खड़े हो गये हैं और बड़े आहिस्ता से तलवार उठा रहे हों, तो इसके पहले कि तलवार उसके सिर में जाय, म्यान में वापस चली जाएगी ।

उतने धीमे पाप होता ही नहीं । पाप के लिए ज्वर, त्वरा, तेजी चाहिए । और जो आदमी तेजी से जी रहा है, वह चाहे पाप कर रहा हो, या न कर रहा हो, उससे बहुत पाप अनजाने होते रहते हैं । उसकी तेजी से ही होते रहते हैं । उसके ज्वर से ही हो जाता है । ज्वर ही पाप है ।

बुद्ध कहते हैं : जैसे ही होश से करोगे, सब धीमा हो जाएगा ।

रास्ते पर चलते वक्त अचानक खयाल कर लें; एक गहरी श्वास लें, ताकि खयाल साफ हो जाय और धीमे से देखें कि आप चल रहे हैं ।

खाली बैठे हैं; आँख बन्द कर लें और देखें कि आप बैठे हुए हैं । आँख बंद करके बराबर आप देख सकते हैं कि आपकी मूर्ति बैठी हुई है । एक पैर की तरफ से देखना शुरू करें कि पैर की क्या हालत है । दब गया है । परेशान हो रहा है । चींटी काट रही है । ऊपर की तरफ बढ़ें । पूरे शरीर को देखें कि आप देख रहे हैं । आप देखते-देखते ही बड़ी गहरी शांति में उतर जाएँगे, क्योंकि देखने में आदमी साक्षी हो जाता है ।

रात बिस्तर पर लेट गए हैं । सोने के पहले एक पाँच मिनट आँख बंद करके पूरे शरीर को भीतर से देखें ।

शायद आपको पता हो या न हो, पश्चिम तो अभी एनाटॉमी की खोज कर पाया है कि आदमी के शरीर में क्या-क्या है । क्योंकि उन्होंने सर्जरी शुरू की, आदमी को काटना शुरू किया । यह कोई तीन सौ साल पहले ही आदमी को काटना संभव हो पाया, क्योंकि दुनिया का कोई धर्म लाश को काटने के पक्ष में नहीं था । तो पहले सर्जन जो थे, वे चोर थे । उन्होंने लाशें चुराईं—मुरदाघरों से; काटा; आदमी को भीतर से देखा । लेकिन योग हजारों साल से भीतर आदमी के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानता है ।

अब यह पश्चिम के सर्जन कहते हैं कि पूरब में योग को कैसे पता चला आदमी

के भीतर की चीजों का । वह पता काट कर नहीं चला है । वह पता योगी के साक्षी भाव से चला है ।

अगर आप भीतर साक्षीभाव से प्रवेश करें और घूमने लगें, तो थोड़े दिन में आप अपने शरीर को भीतर से देखने में समर्थ हो जाएँगे । आप भीतर का हड्डी-मांस-मज्जा-स्नायु-जाल सब भीतर से देखने लगेंगे । और एक बार आपको भीतर से शरीर दिखाई पड़ने लगे, कि आप शरीर से अलग हो गए । क्योंकि जिसने भीतर से शरीर को देख लिया, वह अब यह नहीं मान सकता कि मैं शरीर हूँ । वह देखने वाला हो गया; वह द्रष्टा हो गया ।

चौबीस घंटों में जब भी आपको मौका मिल जाय, कोई भी क्रिया हो, साक्षी को सम्हालें । साक्षी के सम्हालते दो परिणाम होंगे । क्रिया धीमी हो जाएगी; कर्ता क्षीण हो जाएगा; और विचार और बुद्धि कम होने लगेंगे, विचार शांत होने लगेंगे । बुद्धि का ऊहापोह बंद हो जाएगा ।

कोई छोटा-सा प्रयोग । कुछ नहीं कर रहे हैं; श्वास को ही देखें । श्वास भीतर गई, बाहर गई । श्वास भीतर गई, बाहर गई । आप उसको ही देखें ।

लोग मुझसे पूछते हैं : कोई मंत्र दे दें । मैं उनसे कहता हूँ, मंत्र वगैरह न लें । एक मंत्र परमात्मा ने दिया है, वह श्वास है । उसको देखें । वह पहला मंत्र है । बच्चा पैदा होते ही पहला काम करता है—श्वास लेने का । और आदमी जब मरता है, तो आखिरी काम करता है : श्वास लेने का । श्वास से घिरा है जीवन ।

जन्म के बाद पहला काम श्वास; वह पहला कृत्य है । आप श्वास लेकर ही कर्ता हुए हैं । इसलिए अगर आप श्वास को देख सकें, तो आप पहले कृत्य के पहले पहुँच जाएँगे । आपको उस जीवन का पता चलेगा, जो श्वास लेने के भी पहले था, जो जन्म के पहले था ।

अगर आप श्वास को देखने में समर्थ हो जायँ, तो आपको पता चल जाएगा कि मृत्यु शरीर की होगी, श्वास की होगी, आपकी नहीं होने वाली । आप श्वास से अलग हैं ।

बुद्ध ने बहुत जोर दिया है : अनापान सति-योग पर—श्वास के आने-जाने को देखने का योग । वे अपने भिक्षुओं को कहते थे : तुम कुछ भी मत करो, बस, एक ही मंत्र है : श्वास भीतर गई, इसको देखो । श्वास बाहर गई, इसको देखो । और जोर से मत लेना । कुछ करना मत श्वास को; सिर्फ देखना । करने का काम ही मत करना । सिर्फ देखना ।

आँख बंद कर ली, श्वास ने नाक को स्पर्श किया । भीतर गई, भीतर गई । भीतर पेट तक जाकर उसने स्पर्श किया । पेट ऊपर उठ गया । फिर श्वास वापस

लौटने लगी। पेट नीचे गिर गया। श्वास वापस आई। श्वास बाहर निकल गई। फिर नई श्वास शुरू हो गई। यह वर्तुल है। इसे देखते रहना।

अगर आप रोज पन्द्रह-बीस मिनट सिर्फ श्वास को ही देखते रहें, तो आप चकित हो जाएँगे, बुद्धि हटने लगी। साक्षी जगने लगा। आँख खुलने लगी--भीतर की। हृदय के द्वार--जो बंद थे जन्मों से, खुलने लगे, सरकने लगें। उस सरकते द्वार में ही परमात्मा की पहली छलक उपलब्ध होगी।

साक्षी द्वार है; बुद्धि बाधा है।

पाँच मिनिट रुकेंगे। कीर्तन में सम्मिलित हों बैठ के। अगर सम्मिलित न हो सकें, तो कम से कम साक्षी भाव से देखें।

सातवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, संध्या, दिनांक १० मई, १९७३

सम्मोहन आर अध्यात्म • ऊर्ध्वगमन और आनन्द
विज्ञान और समाधि • पुरुष-प्रकृति-लीला

१४...

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

हे अर्जुन, इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान अर्थात ज्ञान का साधन और जाननेयोग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से कहा गया, इसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

और हे अर्जुन, प्रकृति अर्थात त्रिगुणमयी मेरी माया और पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ-- इन दोनों को ही तू अनादि जान और रागद्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान।

क्योंकि कार्य और करण के उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है कि व्यक्ति का ढाँचा, उसका व्यक्तित्व जानने के लिए गुरु का उपयोग होता रहा है। पर क्या हम किसी के सम्मोहन में, हिप्नोसिस में अपना टाइप, अपना ढाँचा नहीं जान सकते? क्या सम्मोहन का प्रयोग साधना के लिए खतरनाक भी हो सकता है?

सम्मोहन एक बहुत पुरानी प्रक्रिया है। लाभप्रद भी है--खतरनाक भी है। असल में जिस चीज से भी लाभ हो सकता हो, उससे खतरा भी हो सकता है। खतरा होता ही उससे है, जिससे लाभ हो सकता हो। जिसमें लाभ की शक्ति है, उसमें नुकसान की शक्ति भी होती है।

तो सम्मोहन कोई होमियोपैथिक दवा नहीं है कि जिससे सिर्फ लाभ ही पहुँचता हो और नुकसान न होता हो।

सम्मोहन के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्तियाँ हैं। लेकिन पश्चिम में तो भ्रान्तियाँ टूटती जा रही हैं। पूरब में भ्रान्तियों का बहुत जोर है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि पूरब ही सम्मोहन का पहला खोजी है। लेकिन हम उसे दूसरा नाम देते थे। हमने उसे योग-तन्द्रा कहा है। नाम हमारा बढ़िया है। नाम सुनते ही अंतर पड़ जाता है।

हिप्नोसिस का मतलब ही तंद्रा है, वह भी ग्रीक शब्द हिप्नोस से बना है, जिसका अर्थ नींद होता है।

दो तरह की नींद संभव है। एक तो नींद : जब आपका शरीर थक जाता है, रात आप सो जाते हैं। वह प्राकृतिक है। दूसरी नींद है, जो चेष्टा कर के आप में लाई जा सकती है--इन्डचूज्ड स्लीप। योग-तन्द्रा या सम्मोहन या हिप्नोसिस वही दूसरी तरह की नींद है।

रात जब आप सोते हैं, तब आपका चेतन मन धीरे-धीरे, धीरे-धीरे शांत हो

जाता है। और अचेतन मन सक्रिय हो जाता है। आपकी मन की गहरी परतों में आप उतर जाते हैं। सम्मोहन में भी चेष्टापूर्वक यही प्रयोग किया जाता है कि आपके मन की ऊपर की पर्त जो रोज सक्रिय रहती है, उसे सुला दिया जाता है। और आपके भीतर का मन सक्रिय हो जाता है।

भीतर का मन ज्यादा सत्य है। क्योंकि भीतर के मन को समाज विकृत नहीं कर पाया है। भीतर का मन ज्यादा प्रामाणिक है। क्योंकि भीतर का मन अभी भी प्रकृति के अनुसार चलता है।

भीतर के मन में कोई पाखण्ड, कोई धोखा, भीतर के मन में कोई संदेह, कोई शक-सुबहा कुछ नहीं है। भीतर का मन एकदम निर्दोष है। पहले दिन पैदा हुए बच्चे का जैसा निर्दोष मन होता है, वैसा निर्दोष मन भीतर है। धूल तो ऊपर-ऊपर जम गई है। मन की बाहर की परतों पर कचरा इकट्ठा हो गया है।

भीतर जैसे हम प्रवेश करते हैं, वैसा शुद्ध मन उपलब्ध होता है। इस शुद्ध मन को हिप्नोसिस के द्वारा संबंन्धित, हिप्नोसिस के द्वारा इस शुद्ध मन से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। स्वभावतः लाभ भी हो सकता है--खतरा भी।

अगर कोई खतरा पहुँचाना चाहे, तो भी पहुँचा सकता है, क्योंकि वह भीतर का मन सन्देह नहीं करता है। उससे जो भी कहा जाता है, वह मान लेता है। वह परम श्रद्धावान है।

अगर एक पुरुष को सम्मोहित कर के कहा जाय कि तुम पुरुष नहीं--स्त्री हो, तो वह स्वीकार कर लेता है कि मैं स्त्री हूँ। उससे कहा जाय कि 'अब तुम उठकर चलो, तुम स्त्री की भाँति चलोगे।' तो वह पुरुष, जो कभी स्त्री की भाँति नहीं चला, वह स्त्री की भाँति चलने लगेगा। उस पुरुष को कहा जाय कि तुम्हारे सामने यह गाय खड़ी है। (और वहाँ कोई भी नहीं खड़ा है।) अब तुम दूध लगाना शुरू करो, तो वह बैठ कर दूध लगाना शुरू कर देगा।

वह जो अचेतन मन है, वह परम श्रद्धावान है। उससे जो कहा जाय, वह उस पर प्रश्न नहीं उठाता। वह उसे स्वीकार कर लेता है। यही श्रद्धा का अर्थ है। वह नहीं कहता कि कहाँ है गाय? वह यह नहीं कहता कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री नहीं हूँ। वह सन्देह करना जानता ही नहीं। सन्देह तो मन की ऊपर की पर्त, जो तर्क सीख गई है, वही करती है।

इसका लाभ भी हो सकता है, इसका खतरा भी है। क्योंकि उस परम श्रद्धालु मन को कुछ ऐसी बात भी समझाई जा सकती है, जो व्यक्ति के अहित में हो, जो उसको नुकसान पहुँचाए। मृत्यु तक घटित हो सकती है।

सम्मोहित व्यक्ति को अगर भरोसा दिला दिया जाय कि तुम मर रहे हो,

तो वह भरोसा कर लेता है कि मैं मर रहा हूँ।

१९५२ में अमेरिका में एन्टी-हिप्नोसिस एक्ट बनाया गया। यह पहला कानून है हिप्नोसिस के खिलाफ--दुनिया में कहीं जो बना। क्योंकि चार लड़के एक विश्व-विद्यालय के एक छात्रावास में सम्मोहन की किताब पढ़कर प्रयोग कर रहे थे। और उन्होंने एक लड़के को, जिसको बेहोश किया था, भरोसा दिला दिया कि तू मर गया है। वे सिर्फ मजाक कर रहे थे। लेकिन वह लड़का सच में ही मर गया। वह हृदय में इतने गहरे बात पहुँची गई.....। वहाँ कोई सन्देह नहीं है। कहा कि मृत्यु हो गई, तो मृत्यु को स्वीकार कर लिया। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध तत्क्षण छूट गया। तो हिप्नोसिस के खिलाफ एक एक कानून बनाना पड़ा।

अगर मृत्यु तक पर भरोसा हो सकता है, तो फिर किसी भी चीज पर भरोसा हो सकता है।

सम्मोहन का लाभ भी उठाया जा सकता है। पश्चिम में बहुत बड़ा सम्मोहक था: कूए। कूए ने लाखों मरीजों को ठीक किया--सिर्फ सम्मोहन के द्वारा। अब तक दुनिया का कोई चिकित्सक किसी भी चिकित्सा पद्धति से इतने मरीज ठीक नहीं कर सका है, जितना कूए ने सिर्फ सम्मोहन से किया। असाध्य बीमारियाँ दूर की। क्योंकि भरोसा दिला दिया भीतर कि यह बीमारी है ही नहीं। इस भरोसे के अते ही शरीर बदलना शुरू हो जाता है।

कूए ने हजारों लोगों की शराब, सिगरेट, और तरह तरह के दुर्व्यसन क्षण भर में छुड़ा दिए, क्योंकि भरोसा दिला दिया।

मन को गहरे में भरोसा आ जाय, तो शरीर तक परिणाम होने शुरू हो जाते हैं।

लाभ भी हो सकता है। अगर आपको ध्यान नहीं लगता है, सम्मोहन में आपको सुझाव दे दिया जाय, दूसरे दिन से ही आपका ध्यान लगना गहरा हो जाएगा। आप प्रार्थना करते हैं, लेकिन व्यर्थ के विचार आते हैं। सम्मोहन में कह दिया जाय कि प्रार्थना के क्षण में कोई भी विचार न आयेंगे, तो प्रार्थना आपकी परम शांत और आनंदपूर्ण हो जाएगी, कोई विचार का विघ्न न रह जाएगा। आपकी साधना में सहयोग पहुँचाया जा सकता है।

योग के गुरु सम्मोहन का प्रयोग करते ही रहे हैं सदियों से, लेकिन कभी उसका प्रयोग जाहिर और सार्वजनिक नहीं किया गया। वह निजी गुरु के और शिष्य के बीच की बात थी।

और जब गुरु किसी शिष्य को इस योग्य मान लेता था कि अब उसके अचेतन में प्रवेश कर के काम शुरू करे, तो ही प्रयोग करता था। और जब कोई शिष्य गुरु

को इस योग्य मान लेता था कि उसके चरणों में सब कुछ समर्पित कर दे, तभी कोई गुरु उसके भीतर प्रवेश कर के सम्मोहन का प्रयोग करता था।

रास्ते पर काम करने वाले सम्मोहक भी हैं। स्टेज पर प्रयोग करने वाले सम्मोहक भी हैं। उनके साथ आपका कोई श्रद्धा का नाता नहीं है। उनके साथ आपका नाता भी है, तो व्यावसायिक हो सकता है--कि आप पाँच रुपया फीस दें और वह आपको सम्मोहित कर दे। लेकिन जो आदमी पाँच रुपये में उत्सुक है सम्मोहित करने को, वह आपको नुकसान पहुँचा सकता है।

इस तरह की घटनाएँ दुनिया भर के पुलिस थानों में रिपोर्ट की गई हैं कि, किसी ने किसी को सम्मोहित किया और उससे कहा कि रात तू अपनी तिजोरी में चाबी लगाना भूल जाना; या रात तू अपने घर का दरवाजा खुला छोड़ देना--यह पोस्ट हिप्नोटिक सजेशन है। आपको अभी बेहोश किया जाय और आपको बाद के लिए भी सुझाव दिया जा सकता है कि आप अड़तालीस घंटे बाद ऐसा काम करना। तो आप अड़तालीस घंटे बाद वैसा काम करेंगे और आपको कुछ समझ में नहीं आयेगा कि आप क्यों कर रहे हैं। या आप कोई तरकीब खोज लेंगे, कोई रेशनालाइजेशन--कि मैं--इसलिए कर रहा हूँ।

मैं एक युवक पर प्रयोग कर रहा था--पोस्ट हिप्नोटिक सजेशन का। उसे मैंने बेहोश किया और उसे कहा कि 'छः घंटे बाद तू मेरी फलाँ नाम की किताब को उठाएगा और उसके पन्द्रहवें पेज पर दस्तखत कर देगा।' फिर वह होश में आ गया। छः घंटे के बाद की बात है। वह अपने काम में लग गया। मैंने वह किताब अलमारी में रख कर ताला लगा दिया। ठीक छः घंटे बाद उसने आकर मुझे कहा कि 'मुझे आपकी फलाँ नाम की किताब पढ़नी है।' मैंने पूछा कि 'तुझे अचानक क्या जरूरत पड़ गई?' उसने कहा, 'नहीं, मुझे कई दिन से खयाल है पढ़ने का। अभी मेरे पास सुविधा है, तो मैं पढ़ना चाहता हूँ।' मैंने उसे चाबी दी और उसने खोला और जब मैं भीतर पहुँचा कमरे में, तो वह किताब पढ़ नहीं रहा था। वह पन्द्रह नम्बर के पृष्ठ पर दस्तखत कर रहा था।

जब वह पकड़ गया दस्तखत करते, तो बहुत घबड़ाया और उसने कहा कि 'मेरी समझ के बाहर है। लेकिन मुझे बड़ी बेचैनी हो रही थी कि कुछ करना है। और कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करना है। और दस्तखत करते ही मेरा मन एकदम हलका हो गया, जैसे कोई बोझ मेरे ऊपर से उतर गया हो। पर मैंने क्यों दस्तखत किया है, मुझे कुछ पता नहीं है।'

तो ऐसी रिपोर्टें की गई हैं पुलिस में कि किसी सम्मोहक ने किसी को सम्मोहित कर दिया और उसने कहा कि 'तू जाते वक्त अपने पैसे की थैली यहीं छोड़ जाना;

अपना मनीबैग यहीं छोड़ जाना। वह आदमी चैक बुक वहीं छोड़ गया--जाते वक्त, तब तो खतरे हो सकते हैं।

अचेतन मन बड़ा शक्तिशाली है। आपके चेतन मन की कोई भी शक्ति नहीं है। आपका चेतन मन तो बहुत कमजोर है। इसीलिए तो आप संकल्प करते हैं कि सिगरेट नहीं पीऊँगा, छोड़ दूँगा; और घंटे भर भी संकल्प नहीं चलता है। क्योंकि जिस मनसे आपने किया है, वह बहुत कमजोर मन है। उसकी ताकत ही नहीं है। अगर यही संकल्प भीतर के मन तक पहुँच जाय, तो यह महाशक्तिशाली हो जाता है। फिर उसे तोड़ना असम्भव है।

सम्मोहन के द्वारा व्यक्ति का ढाँचा खोजा जा सकता है। लेकिन सम्मोहित ऐसे व्यक्ति से ही होना, जिस पर परम श्रद्धा हो। व्यावसायिक सम्मोहन करने वाले व्यक्ति से सम्मोहित मत होना। क्योंकि उसकी आपमें उत्सुकता ही व्यावसायिक है। और आपसे कोई आत्मिक और आंतरिक सम्बन्ध नहीं है। और जब तक आत्मिक और आंतरिक सम्बन्ध न हो, तब तक किसी व्यक्ति को अपने इतने भीतर प्रवेश करने देना खतरनाक है।

इसलिए गुरु तो प्रयोग करते रहे हैं। लेकिन इस प्रयोग को सदा ही निजी समझा गया है। यह सार्वजनिक नहीं है। दो व्यक्तियों के बीच की निजी बात है। कभी-कभी तो यह प्रयोग पूरा भी तभी हो सकता है, जब कि बहुत निकट और प्रगाढ़ सम्बन्ध हो।

जैसे कि स्टेज पर कोई सम्मोहन कर रहा है आपको, तो आप कितने ही सम्मोहित हो जायँ, आपके भीतर एक हिस्सा असम्मोहित बना रहता है। क्योंकि आपको डर तो रहता ही है कि पता नहीं, यह आदमी क्या करवाए। तो अगर वह कहे कि गाय का दूध लगाओ, तो आप लगा लेंगे। वह कहे कि आप स्त्री की तरह चलो, तो आप चल लेंगे। लेकिन अगर वह कोई ऐसी बात कहे, जो आपके अंतःकरण के विपरीत पड़ती है, अनुकूल नहीं पड़ती है या आपकी नैतिक दृष्टि के एकदम खिलाफ है, तो आप तत्क्षण जाग जाएँगे और इनकार कर देंगे। जैसे किसी जैन को जो बचपन से ही गैर-मांसाहारी रहा है, सम्मोहित कर के अगर यह कहा जाय कि मांस खा लो; वह फौरन जग जाएगा; सम्मोहन टूट जाएगा--उसी वक्त।

किसी सती स्त्री को, जिसका अपने पति के अलावा कभी किसी के प्रति कोई भाव पैदा नहीं हुआ है, अगर उसे यह कहा जाय सम्मोहन में कि इस व्यक्ति को चूम लो, उसकी फौरन नींद खुल जाएगी, सम्मोहन टूट जाएगा। लेकिन अगर स्त्री का मन दूसरे पुरुषों के प्रति जाता रहा हो, तो सम्मोहन नहीं टूटेगा, क्योंकि इसमें कुछ कहीं खास विरोध नहीं हो रहा है। शायद उसकी दबी हुई इच्छा ही पूरी हो रही है।

तो जब कोई व्यावसायिक रूप से किसी को सम्मोहित करता है, तो आपके भीतर एक हिस्सा तो सजग रहता ही है। बहुत गहरे प्रवेश नहीं हो सकता। लेकिन जब कोई गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में सम्मोहन घटित होता है, तो प्रवेश बहुत आंतरिक हो जाता है। व्यक्ति अपने को पूरा छोड़ देता है। इसलिए समर्पण का इतना मूल्य है, श्रद्धा का इतना मूल्य है।

सम्मोहन के माध्यम से निश्चित ही व्यक्ति के टाइप का पता लगाया जा सकता है। सम्मोहन के द्वारा व्यक्ति के पिछले जन्मों में प्रवेश किया जा सकता है। सम्मोहन के द्वारा व्यक्ति के भीतर कौन-से कारण हैं, जिनके कारण वह परेशान और उलझा हुआ है, वे खोजे जा सकते हैं। और सम्मोहन के माध्यम से बहुत-सी बातों का निरसन किया जा सकता है, रेचन किया जा सकता है; बहुत-सी बातें मन से उखाड़कर बाहर फेंकी जा सकती हैं।

हम जो भी करते हैं, ऊपर-ऊपर से, वह ऐसा है, जसे कोई किसी वृक्ष की शाखाओं को काट दे। शाखाएँ कटने से वृक्ष नहीं कटता है; नयी पीकें निकल आती हैं। वृक्ष समझता है कि आप कलम कर रहे हैं। जब तक जड़ें न उखाड़ कर फेंकी जायँ, तब तक कोई परिवर्तन नहीं होता। वृक्ष फिर से सजीव हो जाता है। आप मन के ऊपर-ऊपर जो भी कलम करते हैं, वह खतरनाक है। वह फायदा नहीं करती। नये अंकुर निकल आते हैं। वही बीमारियाँ और घनी होकर पैदा हो जाती हैं। जड़ उखाड़कर फेंकना हो, तो गहरे अचेतन में जाना जरूरी है।

लेकिन सम्मोहन अकेला मार्ग नहीं है। अगर आप ध्यान करें, तो खुद भी अपने भीतर इतने ही गहरे जा सकते हैं।

सम्मोहन के द्वारा दूसरा व्यक्ति आपके भीतर गहरे जाता है और आपको सहायता पहुँचा सकता है। ध्यान के द्वारा आप स्वयं ही अपने भीतर गहरे जाते हैं और अपने को बदल सकते हैं।

जिन लोगों को ध्यान में बहुत कठिनाई होती हो, उनके लिए सम्मोहन का सहारा लेना चाहिए। लेकिन अत्यंत निकट सम्बन्ध हो किसी गुरु से--तभी। और जो व्यक्ति ध्यान में सीधे जा सकते हों, उनको सम्मोहन के विचार में नहीं पड़ना चाहिए। उसकी कोई भी जरूरत नहीं है।

और सम्मोहन का सहारा भी इसीलिए लेना चाहिए कि ध्यान में गहरे जाया जा सके। बस, और किसी काम के लिए सहारा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि बाकी सब काम तो ध्यान में गहरे जाकर किये जा सकते हैं। सिर्फ ध्यान न होता हो, तो ध्यान में कैसे मैं गहरे जाऊँ--सम्मोहन का इसके लिए सहारा लिया जा सकता है।

सम्मोहन गहरी प्रक्रिया है और बड़ी वैज्ञानिक है। और मनुष्य के बहुत हित

में सिद्ध हो सकती है। लेकिन स्वभावत: जो भी हितकर हो सकता है, वह खतरनाक भी है।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि हमें नीचे बह रही प्राकृतिक ऊर्जा को ऊपर ऊर्ध्वगमित करने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए ?

कोई नहीं कहता कि आप चेष्टा करें। आपकी ऊर्जा नीचे बह रही है, उससे दुःख हो रहा है, उससे पीड़ा हो रही है, उसमें जीवन व्यर्थ रिक्त हो रहा है, तो आपको ही लगता हो कि पीड़ा हो रही है, दुःख हो रहा है, जीवन व्यर्थ जा रहा है, तो ऊपर ले जानी चाहिए।

कोई आपसे कह नहीं रहा कि आप ऊपर ले जायें। और किसी के कहने से आप कभी ऊपर ले भी न जाएँगे। लेकिन नीचे का अनुभव ही पीड़ादायी है।

ऊर्जा के नीचे जाने का अर्थ है दुःख; ऊर्जा के ऊपर जाने का अर्थ है आनंद। लेकिन नीचे जाती ऊर्जा अगर सिर्फ दुःख ही देती हो, तब तो सभी लोग रुक जाएँगे। लेकिन नीचे जाती ऊर्जा सुख का प्रलोभन देती है और अन्त में दुःख देती है। इसीलिए तो इतने लोग उसमें बहे चले जाते हैं।

नीचे बहती हुई ऊर्जा आशा बँधाती है कि सुख मिलेगा। सुख आशा ही रहती है, दुःख मिलता है। लेकिन हम इतने बुद्धिहीन हैं कि प्रथम और अंतिम को कभी जोड़ नहीं पाते। हजार बार दुःख पाकर भी फिर जब नया प्रलोभन आता है, तो हम उसी मछली की तरह व्यवहार करते हैं, जो अनेक बार आटे को पकड़ने में काँटे से पकड़ गई। लेकिन फिर जब आटा लटकाता है मछुआ, तो फिर मछली आटे को पकड़ लेती है।

आटे और काँटे में मछली सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती। हम भी नहीं जोड़ पाते कि हम जहाँ-जहाँ सुख की आशा रखते है, वहाँ-वहाँ दुःख मिलता है; सुख मिलता नहीं। लेकिन इसका हम सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते।

जहाँ भी आपको दुःख मिलता हो, आप थोड़ा सोचें कि वहाँ आपने सुख चाहा था। सुख न चाहा होता, तो दुःख मिल ही नहीं सकता। दुःख मिलता ही तब है, जब हमने सुख चाहा हो। आटे को कोई मछली पकड़ेगी, तो ही काँटे से जकड़ सकती है। लेकिन जब काँटे से मछली जकड़ जाती है, तब वह भी नहीं सोच पाती कि इस आटे के कारण मैं काँटे में फँस गई हूँ।

आप भी नहीं सोच पाते कि जब दुःख में आप उलझते हैं, तो किसी सुख की आशा में फँस गए।

नीचे बहती ऊर्जा पहले सुख का आश्वासन देती है, और फिर दुःख में गिरा देती है। ऊपर उठती ऊर्जा पहले कष्ट, तप, साधना--जो कि कठिन है...। द्वार

पर ही मिलता है दुःख--ऊपर जाती साधना में; लेकिन अंत में सुख हाथ आता है।

तो आप एक बात ठीक से समझ लें कि दुःख अगर पहले मिल रहा हो, और पीछे सुख मिलता हो, तो आप समझना कि ऊर्जा ऊपर की तरफ जा रही है। और अगर सुख पहले मिलता हुआ लगता हो और पीछे दुःख हाथ में आता हो, तो ऊर्जा नीचे की तरफ जा रही है। यह लक्षण है कि आपकी शक्ति कब निम्न हो रही है और कब ऊर्ध्व हो रही है।

कोई भी आपसे नहीं कहता कि आप अपनी जीवन शक्ति को ऊपर ले जायें। लेकिन आप आनंद चाहते हैं, तो जीवन शक्ति को ऊपर ले जाना पड़ेगा।

समस्त धर्म जीवन शक्ति को ऊपर ले जाने की विधियाँ हैं। सारा योग, सारा तंत्र--सब एक ही बात की चेष्टा है कि आपके जीवन की जो ऊर्जा नीचे गिरती है, वह ऊपर कैसे जाय। और एक बार ऊपर जाने लगे, तो दूसरे जगत् का प्रारंभ हो जाता है।

देखा आपने : पानी नीचे की तरफ बहता है। लेकिन पानी को गरम करें और पानी भाप बन जाय, तो ऊपर की तरफ उड़ना शुरू हो जाता है। पानी ही है। लेकिन सौ डिग्री पर भाप बन गया, दिशा बदल गयी। पहले नीचे की तरफ बहता था; पहले कहीं भी पानी होता तो वह गड्ढे की तलाश करता; अब आकाश की तलाश करता है।

आपके भीतर जो जीवन है, जो एनर्जी है, जो ऊर्जा है, वह भी एक विशेष प्रक्रिया से गुजर कर ऊपर की तरफ उठनी शुरू हो जाती है। उस ऊपर उठती हुई ऊर्जा को हमने कुंडलिनी कहा है।

साधारणतः जैसा आदमी पैदा होता है प्रकृति से, ऊर्जा नीचे की तरफ जाती है। जमीन का ग्रेविटेशन उसे नीचे की तरफ खींचता है। जमीन की कशिश उसे नीचे की तरफ खींचती है। और आप नीचे की तरफ चौबीस घंटे खिंच रहे हैं। और जिन्दगी उतार है। बच्चा जितना पवित्र होता है, बूढ़ा उतना पवित्र नहीं रह जाता। बड़ी अद्भुत बात है।

बच्चा जैसा निर्दोष होता है, बूढ़ा वैसा निर्दोष नहीं रह जाता। होना तो उलटा चाहिए था। क्योंकि जीवन होना चाहिए एक विकास। यह तो हुआ पतन।

अगर हम बूढ़े आदमी के मन को खोज सकें, तो हम पायेंगे : बूढ़ा आदमी डर्टी है, एकदम गंदा हो जाता है। जीवन की सारी की सारी वासना तो बनी रहती है और शक्ति सब खो जाती है। और वासना मन में घूमती है। जैसे-जैसे आदमी बूढ़ा होने लगता है, शरीर की शक्ति तो खोती जाती है और वासना चित्त को घेरती है। क्योंकि चित्त कभी बूढ़ा नहीं होता, वह जवान ही बना रहता है। तो बड़ी

गंदगी घिर जाती है।

बच्चे और बूढ़े में विकास न दिखाई पड़ के, पतन दिखाई पड़ता है। कारण सिर्फ एक है, कि बच्चे की ऊर्जा अभी बहनी शुरू नहीं हुई है। जैसे-जैसे वह बड़ा होगा, ऊर्जा नीचे की तरफ बहनी शुरू होती है। और अगर कोई प्रयोग न किये जायँ, तो ऊर्जा ऊपर की तरफ न बहेगी।

● इन मित्र ने यह भी पूछा है कि अगर साक्षी-भाव या साधना लानी पड़ती है, तो फिर वह अप्राकृतिक हो गई। तो क्या प्रकृति का विरोध करना ठीक है?

प्रकृति नीचे भी है और ऊपर भी है। जब भाप आकाश की तरफ उड़ रही है, तब भी प्राकृतिक नियमों का ही अनुगमन कर रही है। और जब पानी नीचे की तरफ बहता है, तब भी प्राकृतिक नियमों का ही अनुगमन कर रहा है।

ऊपर की तरफ जाने वाले नियम भी प्राकृतिक हैं। और नीचे की तरफ ले जाने वाले नियम भी प्राकृतिक हैं। चुनाव आपको कर लेना है। और मनुष्य स्वतंत्र है--चुनाव के लिए। यही मनुष्य की गरिमा है। मनुष्य की खूबी यही है। पशुओं से उसमें कोई विशेषता है, तो सिर्फ एक--कि पशु चुनाव करने को स्वतंत्र नहीं है। उसको कोई चॉईस नहीं है। उसकी ऊर्जा नीचे की तरफ ही बहेगी। वह चुनाव नहीं कर सकता--ऊपर की तरफ बहने का। वह चाहे तो भी नहीं कर सकता। वह चाह भी नहीं कर सकता।

पशु बँधा हुआ है। वह नीचे की तरफ ही बहेगा। मनुष्य को संभावना है। अगर वह कुछ न करे, तो नीचे की तरफ बहेगा। अगर कुछ करे, तो ऊपर की तरफ भी बह सकता है। मनुष्य के पास उपाय है।

और जो मनुष्य चुनाव नहीं करता, वह पशु ही बना रह जाता है। वह कभी मनुष्य नहीं बन पाता। क्योंकि फिर पशु में और उसमें कोई फर्क नहीं है।

एक ही शुरुआत है फर्क की और वह यह है कि हम चुन सकते हैं, हम चाहें तो ऊपर की तरफ भी बह सकते हैं।

एक बड़े मजे की बात है। चूँकि हम ऊपर की तरफ भी बह सकते हैं, इसलिए हम पशु से भी ज्यादा नीचे गिर सकते हैं। अगर आदमी पशु होना चाहे, तो सभी पशुओं को मात कर देता है। दुनिया भर के सभी जंगली जानवरों को भी इकट्ठा कर लें, तो भी वे हिटलर का मुकाबला नहीं कर सकते; चंगेजखाँ का मुकाबला नहीं कर सकते।

दुनिया का कोई पशु आदमी जैसा पशु नहीं हो सकता--अगर आदमी पशु होना चाहे। क्योंकि जितने आप ऊपर उठ सकते हैं, उतने ही अनुपात में नीचे गिर सकते हैं।

जितने बड़े शिखर पर चढ़ने की संभावना है, उतनी ही बड़ी खाई में गिर जाने की भी संभावना साथ ही जुड़ी हुई है ! शिखर और खाई साथ-साथ चलते हैं।

लेकिन कोई भी पशु बहुत नीचे नहीं गिर सकता। आप जंगल में चले जायें, तो आप पता भी नहीं लगा सकते कि कौन-सा सिंह ज्यादा पशु है। सभी सिंह एक जैसे पशु है। भूख लगती है : चीर-फाड़ कर खा जाते हैं। लेकिन दो सिंहों में कोई फर्क नहीं किया जा सकता। एक सिंह नीचे गिर गया है, और एक सिंह ऊँचा है--ऐसा आप फर्क नहीं कर सकते।

आदमी ऊपर उठना चाहे, तो बुद्ध और कृष्ण भी और क्राइस्ट भी उसमें पैदा हो जाते हैं। और नीचे गिरना चाहे, तो चंगेज और नादिर और हिटलर और स्टैलिन भी पैदा हो जाते है। कोई अड़चन नहीं है। और आदमी कुछ न करे, तो साधारण किस्म का पशु रह जाता है।

ऊपर की तरफ जाने के लिए श्रम करना होगा। लेकिन श्रम के कारण आप यह मत समझ लेना कि वह अप्राकृतिक है।

आदमी जमीन पर चलता है। नाव में पानी में चलता है। हवाई जहाज में हवा में चलता है। अब अंतरिक्षयान हमने बनाए हैं, वे आकाश में हवा के पार भी चले जाते हैं। अप्राकृतिक कुछ भी नहीं है। क्योंकि अप्राकृतिक तो घटित ही नहीं हो सकता।

हवा में जब आदमी उड़ रहा है, हवाई जहाज में--तब भी प्रकृति के नियमों का ही उपयोग कर रहा है। और जब आदमी नहीं उड़ता था, तो उसका मतलब यह नहीं है, कि तब नियम नहीं थे। नियम थे। हमें उनका पता नहीं था।

तो जब आप ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होते हैं, तब भी आप प्रकृति के नियमों का ही काम कर रहे हैं। और जब आप काम-वासना में गिरते हैं, तब भी प्रकृति के ही नियमों का काम हो रहा है।

एक हवाई जहाज जब हवा में उड़ता है, तब भी प्रकृति के नियम काम कर रहे हैं। और जब हवाई जहाज में कुछ गड़बड़ हो जाती है और हवाई जहाज ऊपर से नीचे गिर के जमीन पर टकराता है, तब भी प्रकृति के ही नियम काम कर रहे हैं।

आप कितने ढंग से प्रकृति के नियमों का अपने अनुकूल उपयोग करते हैं, उस मात्रा में आपके जीवन में आनंद फलित होता है। और आप किस मात्रा में प्रकृति के नियमों का उपयोग नहीं कर पाते--अपने अनुकूल या अपने को नियमों के अनुकूल नहीं बना पाते, उस मात्रा में दुःख होता है।

ऊपर की यात्रा भी प्राकृतिक ही है, अप्राकृतिक नहीं है; लेकिन उच्चतर प्रकृति की तरफ है। नीचे की यात्रा भी प्राकृतिक है, लेकिन निम्न है। और जो

निम्न है, वह दुःख लाता है। और जो निम्न है, वह नरक बन जाता है। और जो श्रेष्ठ है, उच्च है, वह स्वर्ग बन जाता है--और आनंद की संभावनाओं के द्वार खुल जाते हैं।

लेकिन कोई आपसे कह नहीं रहा है कि आप ऐसा करें। किसी के कहने से आप करेंगे भी नहीं।

तो मैं आपसे इतना ही कह रहा हूँ कि अगर आप दुःख में हैं, तो आप पहचान लें कि आप नीचे की तरफ जा रहे हैं। और अगर आपको दुःख में ही रहना हो, तो फिर कुशलता से नीचे की तरफ जायें। लेकिन नीचे की तरफ जाकर सुख की आशा न करें। वह आशा गलत है। और आपको लगता है कि दुःख को बदलना है जीवन से और आनंद की यात्रा करनी है, तो ऊपर की तरफ उठना शुरू हों। और ऊपर की तरफ उठने में पहले कष्ट होगा; उसको ही हमने तप कहा है।

जब भी कोई पहाड़ की तरफ चढ़ेगा, तो परेशानी होगी। पहाड़ से उतरते वक्त कोई परेशानी नहीं होती। सभी चढ़ाव कष्टपूर्ण हैं। लेकिन सभी चढ़ावों के अंत पर विश्राम है। और कष्ट के बाद जो विश्राम है, उसका स्वाद, उसका मूल्य ही कुछ और है।

और बहुत मजे की बात है कि अगर एक हवाई जहाज से आपको एवरेस्ट पर उतार दिया जाय, तो आपको वह आनंद कभी उपलब्ध नहीं होगा, जो हिलेरी और तेनसिंह को चढ़ कर एवरेस्ट पर पहुँच कर हुआ है। आप भी उसी जगह खड़े हो जाएँगे हवाई जहाज से उतर के, जहाँ हिलेरी और तेनसिंह जा कर खड़े हुए थे। लेकिन जो आनंद उनको मिला था, वह आपको नहीं मिलेगा। क्योंकि आनंद सिर्फ मंजिल में ही नहीं है, यात्रा में भी है। और अगर यात्रा से मंजिल अलग कर ली जाय, तो कोरी, निस्सार, रसहीन हो जाती है।

इसलिए शॉर्टकट खोजने की फिक्र नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जितना शॉर्टकट आप खोज लेंगे, उतना ही मंजिल का रस चला जाएगा।

यात्रा का अपना सुख है। और यात्रा का सुख ही इकट्ठा होकर, मंजिल पर उपलब्ध होता है। जो यात्रा से बचने की कोशिश करता है, वह एक दफे पहुँच भी सकता है। लेकिन उस पहुँचने में कोई भी रस न होगा--कोई भी रस न होगा।

जो लोग बद्री और केदार की यात्रा पैदल करते रहे हैं, उनका मजा और था। अब बस से जा सकते हैं; अब वह बात न रही। कल हवाई जहाज से सीधा उतर लेंगे; कोई रस न रह जाएगा।

यात्रा और मंजिल दो चीजें नहीं हैं। यात्रा का ही अंतिम पड़ाव है मंजिल, और जिसने यात्रा ही काट दी, एक अर्थ में उसकी मंजिल ही कट गई।

यात्रा के कष्ट से भयभीत न हों, क्योंकि मंजिल के सुख में उसका भी अनुदान है ।

● इसी संदर्भ में एक मित्र ने और पूछा है कि स्लेटर ने चूहे के मस्तिष्क में एलेक्ट्रोड्स डाल कर उसके मस्तिष्क के विशेष तंतु कम्पित कर के संभोग का आनंद दिलाया । समाधि भी अस्तित्व से एक तरह का संभोग है । क्या यह संभव नहीं है कि मस्तिष्क के कोई तंतु समाधिस्थ अवस्था में कंपित होते हों और जिनकी वैज्ञानिक व्यवस्था की जा सके, तो फिर साधारण आदमी को भी उसके समाधि वाले तंतुओं को कंपित कर के समाधि का अनुभव दिया जा सकता है । फिर साधना की, योग की कोई जरूरत न रहेगी । योग तो कहता है कि समाधि को उपलब्ध करने वाला रास्ता, काम-केंद्र से सहस्रार चक्र तक, मस्तिष्क में छिपा हुआ है ।

निश्चित ही स्लेटर जैसे मनोवैज्ञानिकों का यही खयाल है कि समाधि भी यंत्रों के द्वारा पैदा की जा सकती है । न केवल खयाल है, बल्कि यंत्र भी निर्मित हो गए हैं । न केवल यंत्र निर्मित हो गए हैं, हजारों लाखों लोग पश्चिम में यंत्रों का उपयोग भी कर रहे हैं । कोई हजार रुपये की कीमत का यंत्र है; उससे आप मस्तिष्क में तार जोड़ देते हैं, यंत्र को चला देते हैं और यंत्र आपके मस्तिष्क के भीतर की तरंगों की खबर देने लगता है ।

एक खास तरंग है, जिसको पश्चिम में वे अल्फा कहते हैं । अल्फा तरंग में आदमी ध्यान की अवस्था में पहुँच जाता है । तो यंत्र खबर देने लगता है कि आपमें कब अल्फा पैदा होती है । और जैसे ही अल्फा पैदा होती है, यंत्र आवाज करता है और आप समझ जाते हैं कि अल्फा तरंग पैदा हो गई । अब इसी तरंग में आपको ठहरे रहना है । यंत्र की सहायता से आप थोड़े दिन में ठहरना सीख जाते हैं । बहुत कठिन नहीं है । दो-चार दिन में आप ठहरना सीख जाते हैं, क्योंकि आपको अंदाज हो जाता है; यंत्र खबर देता है कि ठीक यही चीज अल्फा है । क्योंकि यंत्र आवाज करता है और आप पहचान जाते हैं कि अल्फा भीतर पैदा हो रही है । बस, अब इसी तरंग में रुक जाना है । एक दो-चार दिन के अभ्यास से. . . .।

मेरे पास वह यंत्र है । इधर मैं उस पर प्रयोग किया हूँ । दो-चार दिन के अभ्यास से आप ध्यान अनुभव करने लगते हैं । बहुत शांति और विश्राम अनुभव होता है ।

ध्यान जो लोग करते हैं, जब वे ध्यान की अवस्था में हैं, तब यह यंत्र लगा दिया जाय, तो फौरन वह अल्फा की आवाज देना शुरू कर देता है ।

अब तो पश्चिम में वे इसकी भी जाँच करने में सफल हो गए हैं कि कौन आदमी ध्यान में है, कौन नहीं है ।

अब आप झूठा दावा नहीं कर सकते, क्योंकि यंत्र खबर देगा कि आप ध्यान में हैं या नहीं हैं । आप ऐसे ही नहीं कह सकते कि मैं ध्यान में हूँ । क्योंकि वह यंत्र है । उसको धोखा नहीं दिया जा सकता । आप धोखा देने की कोशिश करेंगे, फौरन अल्फा चली जाएगी, क्योंकि धोखा देने का खयाल भी बाधा है । जरा-सा कोई विचार आयेगा, यंत्र आवाज देना बंद कर देगा । जैसे ही विचार बंद होंगे, यंत्र आवाज देने लगेगा ।

इस यंत्र पर काफी काम चल रहा है । लेकिन इस यंत्र से जो पैदा होता है, वह भी यात्रारहित मंजिल है । और इसलिए एक बहुत मजे की बात खयाल में वहाँ भी आनी शुरू हो गई कि इस यंत्र से भी अल्फा पैदा की जाती है । और ध्यान करने वालों को भी अल्फा पैदा होती है । लेकिन ध्यान करने वाला कहता है 'परम आनंद मुझे मिल रहा है ।' और इस यंत्र से जिस व्यक्ति को अल्फा तरंग पैदा हो रही है, वह कहता है, 'मुझे थोड़ी शांति मालूम पड़ रही है ।' दोनों के वक्तव्य में बुनियादी भेद है ।

ध्यान करने वाला कहता है : मुझे परम आनंद मिल रहा है । और यंत्र दोनों के बाबत एक ही खबर दे रहा है । अल्फा तरंग में कोई फर्क नहीं है ।

जो समाधि का प्रयोग कर के पहुँचा है--उसके बाबत, और जो केवल मशीन के साथ तारतम्य बिठाया है उसके बाबत, यंत्र--एक-सी खबर देता है । लेकिन मशीन से जिसने सीखा है, वह कहता है : मुझे थोड़ी शांति मालूम पड़ती है । और जो ध्यान से आया है, वह कहता है : मुझे आनंद मालूम पड़ता है । तब बड़ी कठिनाई है ।

तब अभी विचारकों को यह सन्देह पैदा होने लगा है कि यंत्र से जो चीज पैदा हो रही है, वह शायद बाह्यरूप से एक-सी है, लेकिन भीतरी हिस्से पर भिन्न है । क्योंकि जिस आदमी ने तीस साल ध्यान किया है, वह कहता है : मुझे परम आनंद की, परम ब्रम्ह की अनुभूति हो रही है ।

और यह मशीन से तो तीन महीने में उतनी स्थिति पैदा हो जाएगी, जितनी बुद्ध को वर्षों में पैदा हुई । महावीर को वर्षों में . . .। वर्षों में भी कहना ठीक नहीं, जन्मों में पैदा हुई । उतना तो तीन महीने में यह यंत्र पैदा कर देगा । लेकिन जिन लोगों में उस यंत्र ने तीन महीने में वह हालत पैदा कर दी, वे बुद्ध नहीं हो जाते; न तो उनके जीवन में कोई परिवर्तन होता, न उनके जीवन में कोई सत्य, न उनके जीवन में कोई उत्सव आता है । उनके जीवन में कोई प्रफुल्लता, न उनके जीवन में कोई उत्सव आता है । उनके जीवन में वह सुगंध नहीं दिखाई पड़ती, जो बुद्ध के जीवन में दिखाई पड़ती है ।

तो कुछ बुनियादी भीतरी फर्क होगा । वह फर्क क्या है ? क्योंकि यंत्र तो

कहता है : दोनों में एक-सी तरंगें पैदा हो रही हैं। वह फर्क है--यात्रा का फर्क। वह फर्क है--असली फूल और बाजार से खरीद लाये फूल का। अपने बगीचे में पैदा किये गए फूल और जाकर बाजार से एक फूल खरीद लायें हैं, टूटा हुआ--उसमें जो फर्क है।

यह जो यंत्र से पैदा हो रहा है, यह ऊपर से चेष्टित और आरोपित है। मन यह अभ्यास सीख लेगा, और इस यंत्र के साथ तालमेल बिठा लेगा। तालमेल बैठ जाने से शांति मालूम पड़ेगी। और जिन लोगों को अशांति से तकलीफ है, उन लोगों के लिए यंत्र उपयोगी है। लेकिन ध्यान की पूर्ति नहीं होगी। ध्यान की पूर्ति असंभव है।

इसको हम ऐसा समझें : स्लेटर का जो प्रयोग मैंने आपसे कहा कि चूहों को उसने संभोग का प्रयोग करा दिया यंत्र से--और चूहा प्रयोग करता चला गया। इसमें भी वही फर्क है।

अगर किसी स्त्री से आपका प्रेम है, तो जरा मुश्किल बात है। क्योंकि आमतौर से तो लोग सोचते हैं कि सभी को प्रेम है। प्रेम इतनी ही कठिन बात है, जैसा कभी-कभी कोई वैज्ञानिक होता है। कभी-कभी कोई एक कवि होता है। कभी-कभी कोई दार्शनिक होता है। कभी-कभी कोई चित्रकार होता है। ऐसे ही कभी-कभी कोई प्रेमी होता है। प्रेमी भी सब लोग होते नहीं।

अगर सच में ही किसी पुरुष को किसी स्त्री से प्रेम है, तो उस स्त्री के साथ संभोग में जो आनंद उसे उपलब्ध होगा, वह स्लेटर का यंत्र पैदा नहीं करवा सकता। हाँ, अगर आपको स्त्री से कोई प्रेम नहीं हो और आप किसी वेश्या के पास संभोग करने चले गए हैं, तो जो आपको क्षणभर की जो प्रतीति होगी संभोग में --मुक्तता की, खाली हो जाने की, बोझ उतर जाने की, वह स्लेटर के यंत्र से भी हो जाएगा।

यंत्र के द्वारा भी वह सम्भोग पैदा हो सकता है, जो उस व्यक्ति के साथ आपको पैदा होता है--जिससे आपका कोई गहरा प्रेम नहीं है। लेकिन अगर प्रेम है, तो यंत्र से वैसे सम्भोग को पैदा नहीं कर सकते।

अगर आपको सिर्फ मन की थोड़ी-सी शांति चाहिए, जो कि ट्रैंक्वेलाइजर से भी पैदा हो जाती है, तो वैसी ही शांति आपको अल्फा तरंगें पैदा करने वाले यंत्र से भी पैदा हो जाएगी। लेकिन अगर ध्यान आपकी कोई आत्मिक यात्रा है, जैसा बुद्ध की खोज है, महावीर की खोज है--ऐसी अगर कोई खोज है, जिस पर आपका पूरा जीवन समर्पित है. . .यह कोई शांति की तलाश नहीं है, सत्य की तलाश है। यह केवल दुःख और बोझ के कम होने की बात नहीं है; आनंद में स्थापित होने की बात है।

यह कोई काम-चलाऊ--जिन्दगी ठीक से चल सके, इसलिए थोड़ी शांति

रहे, ऐसी व्यवस्था नहीं है। बल्कि परम मुक्ति कैसे अनुभव हो, उसकी खोज है; तो फिर यंत्र से यह आनंद, यह समाधि, यह ध्यान उपलब्ध नहीं होगा।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैं कोई यंत्र का विरोध कर रहा हूँ। मैं सिर्फ इतना कह रहा हूँ, कि यंत्र का उपयोग करना भी अच्छा है। उससे कम से कम शांति तो मिलेगी। और यह भी खयाल आयेगा कि जब यंत्र से इतनी शांति मिल सकती है, तो ध्यान से कितनी संभावना हो सकती है। और समाधि से कितना . . .!

एक झलक उससे मिलेगी, वह झलक अपने-आपमें बुरी नहीं है। लेकिन अगर कोई सोचता हो कि यंत्र योग की जगह ले लेंगे, तो भूल में है। कोई अगर सोचता हो कि यंत्र प्रेम की जगह ले लेंगे, तो भूल में है।

वह जो आंतरिक है, उसकी जगह कोई भी नहीं ले सकता। लेकिन अगर आपकी जिन्दगी सिर्फ बाह्य है, तो यंत्र उसकी जगह ले सकते हैं।

अब हम सूत्र को ले लें।

'हे अर्जुन, इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान अर्थात् ज्ञान का साधन और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से कहा गया। इसको तत्त्व से जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।'

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में, ज्ञान और ज्ञान के साधन के सम्बन्ध में', कृष्ण कहते हैं, 'मैंने थोड़ी-सी बातें कहीं। इनको अगर कोई तत्त्व से जान ले, तो वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।'

'तत्त्व से जानकर. . .।' इसे हम समझें।

एक तो जानकारी है : सूचना की। कोई कहता है : हम सुन लेते हैं--और हम भी जान लेते हैं। वह तत्त्व से जानना नहीं है। एक जानकारी है अनुभव की--स्वयं साक्षात की। हम ही जानते हैं, तब हम तत्त्व से जानते हैं।

एक आदमी कहता है कि सागर का सारा जल खारा है। हम समझ गए। जल भी हमने देखा है। सागर भी हमने देखा है। खारेपन का भी हमको पता है। समझ गए। वाक्य का अर्थ हमारी समझ में आ गया--कि 'सागर का जल खारा है'। लेकिन यह अर्थ शाब्दिक है। हमने सागर के जल को कभी चखा नहीं। और बिना चखे हमें कुछ पता न चलेगा। चख के जो हमें पता चलेगा, वह तत्त्व से ज्ञान होगा। अनुभव से अपने जो ज्ञान होता है, वह तत्त्व है। दूसरे से भी उसके सम्बन्ध में खबर मिल सकती है।

खतरा यह है कि हम दूसरों से मिली खबर को भी अपना ज्ञान समझ लेते हैं। इसी तरह दुनिया में अनेक लोग अज्ञानी के अज्ञानी मर जाते हैं--इस भ्रांति में कि वे जानते हैं; इस भ्रांति में कि उन्हें ज्ञान है।

रोज मुझे ऐसे लोगों से मिलना हो जाता है, जिन्हें शास्त्र कंठस्थ हैं। अगर कृष्ण भी मिल जायँ और फिर से उनसे कहा जाय कि गीता कहो, तो दोहरा न सकेंगे। क्योंकि कृष्ण को यह कोई कंठस्थ नहीं है। बहुत-सी बातें छूट जाएँगी, बहुत-सी नयी जुड़ जाएँगी। सब ढाँचा बदल जाएगा। लेकिन इनको जिनको गीता कंठस्थ है, इनसे भूल होने का उपाय नहीं है। ये कृष्ण में भी भूलें बता सकते हैं। क्योंकि कृष्ण दुबारा दोहरा न सकेंगे। वह तो सहजस्फूर्त थी। मगर इनको कंठस्थ है।

ये जो कंठस्थ किये हुए हैं, इनको धीरे-धीरे यह भ्रांति पैदा हो जाती है कि इन्हें पता है।

ऐसा हुआ एक बार कि इंग्लैन्ड में एक प्रतियोगिता रखी गई। प्रतियोगिता यह थी कि सारी दुनिया से अभिनेता आमंत्रित किये गए थे कि वे चार्ली चेपलिन का अभिनय करें। चार्ली चेपलिन को मज़ाक सूझी; उसने सोचा : मैं भी क्यों न किसी और नाम से अभिनय में सम्मिलित हो जाऊँ। मुझे तो पुरस्कार निश्चित है। शक की तो कोई बात ही नहीं, क्योंकि चार्ली चेपलिन का ही अभिनय करना था दूसरों को।

सारी दुनिया में अनेक जगह प्रतियोगिताएँ हुईं और फिर सौ प्रतियोगी लंदन में इकट्ठे हुए; किसी को भी शक नहीं था कि उसमें एक चार्ली चेपलिन भी है। वे सभी चार्ली चेपलिन जैसे लग रहे थे। वैसी ही मूंछ लगाई थी। वैसे ही कपड़े पहने थे। वैसी ही चाल चलते थे। तो उसमें चार्ली चेपलिन भी छिप गया था। वह भी किसी दूसरे नाम से भरती हो गया था।

अगर पता चल जाता आयोजकों को, तो उसे बाहर निकाल कर देते, क्योंकि उसका तो कोई सवाल ही न था। फिर तो प्रतियोगिता खराब ही हो गई। इसलिए वह छिपकर ही सम्मिलित था।

मगर कठिनाई तो तब हुई, जब उसको तीसरा नम्बर मिला। और जब पता चला कि वह मौजूद था और नम्बर तीन आया--चार्ली चेपलिन की नकल करने में, तब तो बड़ी हैरानी हुई कि यह बात क्या हो गयी! दूसरे लोग हाथ मार ले गए। क्योंकि दूसरे लोगों के लिए सिर्फ नकल थी--बँधी हुई। चार्ली चेपलिन को सहज मामला है। उसने कुछ नया कर दिया होगा, जो उसने पहले कभी नहीं किया था, उसी में फँस गया वह। क्योंकि जो उसने पहले नहीं किया था, वह तो निरीक्षकों को भी पता नहीं था, जजों को भी पता नहीं था। और जो उसने पहले नहीं किया था, वह तो चार्ली चेपलिन का माना ही नहीं जा सकता था। और उसे कभी खयाल ही नहीं था कि अपनी नकल कैसे करनी। उसने जिन्दगी भर जो भी

किया था, वह सहज था। पहली दफा उसने नकल करने की कोशिश की। खुद ही हार गया--अपनी ही नकल में! नम्बर तीन पर आया।

आप पक्का समझिए कि अगर कृष्ण भी कहीं बिठा दिये जायँ प्रतियोगिता में--कंठस्थ गीतावालों से; हारेंगे। इनसे जीतने का कोई उपाय नहीं है। ये हाथ मार ले जाएँगे। क्योंकि इनको बिलकुल कंठस्थ है--यंत्रवत।

ज्ञान को कंठस्थ होने की जरूरत ही नहीं है। सिर्फ, अज्ञान कंठस्थ करता है।

कंठस्थ का मतलब ही यह है कि तुम्हें पता नहीं है। तुम्हारे भीतर नहीं है। सिर्फ कंठ में है। शब्दों की याददाश्त है।

हम सबको शब्द याद हैं। और शब्दों के याद होने से भ्रांति होती है कि हम मालूम है।

शब्द खतरनाक हैं। अगर बार-बार दोहराते रहें, तो आप ही भूल जाते हैं कि पता नहीं है। ईश्वर--ईश्वर--ईश्वर--सुनते-सुनते ऐसा लगने लगता है कि हमें मालूम है कि 'ईश्वर है'। आत्मा--आत्मा--आत्मा--सुनते-सुनते आप भूल ही जाते हैं कि आत्मा--न हमें पता है कि क्या है, न कोई अनुभव है, न कोई स्वाद है।

यह बड़ी खतरनाक स्थिति है। क्योंकि शब्द एक भ्रम पैदा कर देते हैं, एक हवा पैदा कर देते हैं--चारों तरफ--कि मालूम है।

अगर कोई आपसे पूछे : आत्मा है? आप फौरन कहेंगे : 'हाँ!' बिना एक रत्ती भर शक पैदा हुए कि हमें कुछ भी पता नहीं है कि आत्मा है या नहीं।

और जितने आप विश्वास से कह रहे हैं, 'है', उतने ही विश्वास से रूस में किसी से पूछो, वह कहता है : 'नहीं है', क्योंकि बचपन से उसको सिखाया जा रहा है : 'नहीं है, नहीं है'। आपको सिखाया जा रहा है : 'है, है'। आप दोनों एक से हैं। जरा भी फर्क नहीं है। वह भी तोते की तरह दोहराया गया है उसको कि आत्मा नहीं है।

भारत का आदमी लगता है आस्तिक और रूस का आदमी लगता है नास्तिक। आप दोनों एक से हैं। न तो आप नास्तिक हैं, न वह नास्तिक है। वह भी, उसने जो सुना है, दोहरा रहा है। जो आपने सुना है, आप दोहरा रहे हैं। फर्क क्या है? फर्क तो पैदा होगा, जब तत्त्व से ज्ञान होगा।

सुनी हुई बातचीतों का कोई मूल्य नहीं है। और उसी आदमी को मैं बुद्धिमान कहता हूँ, जो यह याद रख सके कि सुनी हुई बातें मेरा ज्ञान नहीं है। सुनी हुई बातों को एक तरफ रखें।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि सुनी हुई बातें बुरी हैं। यह भी नहीं कह रहा हूँ

कि सुनी हुई बातों का कोई उपयोग नहीं है। लेकिन इतना स्मरण होना चाहिए कि क्या है मेरी स्मृति, और क्या है मेरा ज्ञान। क्या मैंने सुना है, और क्या मैंने जाना है।

जो जाना है, वही तुम्हारा है, वही तत्त्व है। जो नहीं जाना है, सुना है, वह सिर्फ धारणाएँ हैं, प्रत्यय हैं, कंसेप्ट्स हैं। उससे कोई जीवन बदलेगा नहीं।

तो कृष्ण कहते हैं, 'जो तत्त्व से जानता है, वह मेरा भक्त मेरे स्वरूप को उपलब्ध हो जाता है। स्वभावतः जो तत्त्व से जानेगा, वह परम ईश्वर के स्वरूप के साथ एक हो ही जाएगा। उसे कोई बाधा नहीं है।

'और हे अर्जुन, प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ --इन दोनों को ही तू अनादि जान।' यह प्रश्न विचारणीय है और बहुत ऊहापोह मनुष्य इस पर करता रहा है।

हमारे मन में यह सवाल उठता ही रहता है कि किसने बनाया जगत् को? कौन है स्रष्टा? जरूर कोई बनाने वाला है। हमारा मन यह मान ही नहीं पाता कि बिना बनाये यह जगत् हो सकता है। बनाने वाला तो चाहिए ही।

तो हम बच्चों जैसी बातें करते रहते हैं और हम बच्चों जैसी बातें प्रचारित भी करते रहते हैं कि जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है--ऐसा स्रष्टा है कोई, जो सृष्टि को बनाता है।

कृष्ण कहते हैं, तू दोनों को अनादि जान--प्रकृति को भी और पुरुष को भी। वे बनाये हुए नहीं हैं, वे सदा से हैं। कभी प्रगट होते हैं, कभी अप्रगट। लेकिन मिटता कुछ भी नहीं है। और न कुछ बनता है। कभी दृश्य होते हैं, कभी अदृश्य। लेकिन जो अदृश्य है, वह भी है। जो दृश्य है, वही नहीं है; अदृश्य भी है। आज मौजूद है, कल गैर-मौजूद हो जाता है। यह गैर-मौजूदगी भी अस्तित्व का एक ढंग है। यह न होना भी होने का एक प्रकार है। क्योंकि बिलकुल परिपूर्ण रूप से 'नहीं' तो जो है, वह हो ही नहीं सकता।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, प्रकृति भी और पुरुष भी--वह जो दिखाई पड़ता है वह, और जो देखता है वह, वे दोनों अनादि हैं। उनका कोई प्रारंभ नहीं है। उनके प्रारंभ की बात ही बचकानी है।

● एक मित्र ने सवाल पूछा है। उन्होंने पूछा है कि 'विज्ञान तो जीत गया धर्म से--संघर्ष में!' वह इसीलिए जीत गया कि वह जो भी कहता है, स्पष्ट है। और धर्म जो भी कहता है, वह स्पष्ट नहीं है। और उन मित्र ने यह कहा है कि 'धर्म अभी तक नहीं बता पाया कि जगत् को किसने बनाया; सृष्टि कैसे हुई, क्यों हुई!'

उनके प्रश्न में थोड़ा अर्थ है।

धर्म तो वस्तुतः कहता है कि जगत् अनादि है; किसी ने बनाया नहीं है। बनाने की बात ही बच्चों को समझाने के लिए है।

इस सम्बन्ध में विज्ञान भी राजी है। विज्ञान भी कहता है कि अस्तित्व प्रारंभ-शून्य है। ईसाइयत से विज्ञान की थोड़ी कलह हुई और कलह का कारण यह था कि ईसाइयत ने तय कर रखा था कि जगत् एक खास तारीख को बना। एक ईसाई पादरी ने तो तारीख और दिन सब निकाल रखा था। जीसस से चार हजार चार साल पहले, फलाँ-फलाँ दिन, इतने बजे सुबह जगत् का निर्माण हुआ!

विज्ञान को अड़चन और कलह शुरू हुई ईसायत के साथ। विज्ञान और धर्म का संघर्ष नहीं है। विज्ञान और ईसाइयत में संघर्ष हुआ जरूर, क्योंकि ईसाइयत की बहुत-सी धारणाएँ बचकानी थीं। और विज्ञान ने कहा कि यह तो बात एकदम गलत है कि चार हजार साल जीसस के पहले यह पृथ्वी बनी या जगत् बना। क्योंकि पृथ्वी में ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं, जो लाखों लाखों साल पुराने हैं।

आदमी लेकिन बड़ा बेईमान है। और आदमी अपने लिए जो भी ठीक मानना चाहता है, उसको ठीक मान लेता है। तरकीबें निकाल लेता है। जिस बिशप ने यह सिद्ध किया था कि जीसस के चार हजार चार साल पहले पृथ्वी बनी, उसने एक वक्तव्य जाहिर किया और उसने कहा कि 'हम यह मानते हैं कि पृथ्वी में ऐसी चीजें मिलती हैं, जो लाखों साल पुरानी हैं।' अब यह बड़ी कठिन बात है। अगर पृथ्वी में ऐसी चीजें मिलती हैं, जो लाखों साल पुरानी हैं, तो पृथ्वी कैसे बन सकती है--चार हजार साल पहले या छः हजार साल पहले?

उस बिशप ने कहा कि 'भगवान् के लिए सभी कुछ संभव है। उसने चार हजार साल पहले पृथ्वी बनाई और पृथ्वी में ऐसी चीजें रख दीं जो लाखों साल पुरानी मालूम पड़ती हैं; लोगों की भक्ति की परीक्षा के लिए--कि लोग अगर सच में निष्ठावान हैं, तो वे कहेंगे: हमारी तो निष्ठा है। यह भगवान् हमारी परीक्षा ले रहे हैं।'

आदमी के बेईमान होने के ढंग इतने हैं कि वह अपनी बेईमानी में ईश्वर तक को भी फँसा लेता है। ईश्वर ने बनाई तो चार हजार साल पहले ही चीजें, लेकिन ईश्वर के लिए क्या असंभव है। वह सर्व शक्तिशाली है। उसने इसे इस ढंग से बनाया कि वैज्ञानिक धोखा खा जाते हैं कि लाख साल पुरानी है। सिर्फ छाँटने के लिए कि जो असली आस्तिक हैं, वे राजी रहेंगे; और जो नकली आस्तिक हैं, वे नास्तिक हो जाएँगे। उसने यह तरकीब बिठाई।

लेकिन कृष्ण की धारणा बहुत वैज्ञानिक है। वे कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष का आदि--प्रारंभ नहीं है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इस जगत् का

प्रारंभ नहीं है। इसका फर्क समझ लें।

प्रकृति का कोई प्रारंभ नहीं है, पुरुष का कोई प्रारंभ नहीं है। आपके शरीर का कोई प्रारंभ नहीं है और आपकी आत्मा का भी कोई प्रारंभ नहीं है। लेकिन आपका प्रारंभ है। आपकी आत्मा भी अनादि है और आपका शरीर भी अनादि है। क्योंकि शरीर में क्या है, जो आपके पहले नहीं था। सभी कुछ था। मिट्टी हड्डी-मांस--जो भी आपके भीतर है, वह सब था; किसी रूप में था।

अगर आपके शरीर की सब चीजें निकाली जायँ, तो वैज्ञानिक कहते हैं, कोई चार, साढ़े चार रुपए का सामान निकलता है: अल्युमिनियम, तांबा, पीतल--सब है। बहुत थोड़ा-थोड़ा है। सब निकाल लिया जाय, तो कोई सस्ते जमाने में साढे चार रुपए का होता था। अब कुछ महंगा होता होगा। लेकिन यह सब था।

शरीर भी आपका अनादि है। और आपके भीतर जो छिपी हुई आत्मा है, वह भी अनादि है। लेकिन आप अनादि नहीं हैं। आपका तो जन्म हुआ था। आपका तो म्युनिसिपल के दफ्तर में सब हिसाब-किताब है: कब आप पैदा हुए, कहाँ पैदा हुए, कैसे पैदा हुए--वह सब है।

आप पैदा हुए, आप एक जोड़ हैं। आप तत्त्व नहीं हैं, आप एक कम्पाउन्ड हैं। इलिमेन्ट नहीं हैं, संयोग हैं। संयोग का जन्म होता है; और संयोग का वियोग होता है, विनाश होता है। लेकिन जो तत्त्व है, उसका विनाश नहीं होता।

जब आप मरेंगे, तो शरीर अपनी दुनिया में लौट जाएगा--मिट्टी-पत्थर की। और आपकी चेतना चेतना की दुनिया में लौट जाएगी। वे दोनों पहले भी थे।

आप? आप एक संयोग हैं--दो के। आपका जन्म होता है, आपका अंत होता है।

भारतीय मनीषा कहती है कि न तो प्रकृति का कोई आदि है, न कोई अंत है। और न पुरुष का कोई आदि है और न अंत है। लेकिन संसार का आदि और अंत है।

संसार ऐसे ही है, जैसे आपका शरीर और आत्मा के मिलने से आपका व्यक्तित्व। ऐसे ही इतने सारे पुरुषों और इस प्रकृति के मिलने से जो प्रगट होता है संसार, वह प्रारंभ होता है और उसका अंत होता है।

हम जिस संसार में रह रहे हैं, वह सदा नहीं था। वैज्ञानिक कहते हैं कि हमारा सूरज कोई चार हजार साल में ठंडा हो जाएगा। अरबों वर्ष से गरमी दे रहा है। उसकी गरमी चुकती जा रही है। चार हजार साल और, और वह ठंडा हो जाएगा। उसके ठंडे होते ही पृथ्वी भी ठंडी हो जाएगी। फिर पौधा यहाँ नहीं फूटेगा; फिर बच्चे यहाँ पैदा नहीं होंगे; फिर श्वास यहाँ नहीं चलेगी; फिर जीवन यहाँ शून्य

हो जाएगा।

आदमी ही नहीं मरता, पृथ्वियाँ भी मरती हैं। अभी हमारी पृथ्वी जीवित है, लेकिन वह भी बुढ़ापे के करीब पहुँच रही है। अभी कई पृथ्वियाँ मृत हैं। अभी कई पृथ्वियाँ जन्मने के करीब हैं। अभी कई पृथ्वियाँ जवान हैं। अभी कई पृथ्वियाँ बचपन में हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं, कम से कम पचास हजार ग्रहों पर जीवन है। पचास हजार पृथ्वियाँ हैं, कम से कम, जिन पर जीवन है। उसमें कोई बिलकुल बच्चों जैसी है। अभी उसमें काई फूट रही है और घास उग रहा है, अभी और बड़ा जीवन नहीं आया है। कोई बिलकुल बूढ़ी हो गई है; सब सूख गया है। आदमी भी जा चुके हैं, प्राणी भी जा चुके हैं; आखिरी काई भी सूखती जा रही है। कोई बिलकुल बंजर हो गई है--मृत। कोई अभी गर्भ में है; अभी तैयारी कर रही है। जल्दी ही जीवन का अंकुर उसमें फूटेगा।

पृथ्वियाँ आती हैं, खो जाती हैं। संसार बनते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। लेकिन मूल तत्त्व दो हैं: प्रकृति और पुरुष, प्रकृति और परमात्मा, पदार्थ और चैतन्य--वे दोनों अनादि हैं।

तब एक सवाल उठेगा मन में: तो फिर हम कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश....। ब्रह्मा बनाता है, विष्णु सम्हालते हैं, महेश मिटाते हैं। इनका क्या अर्थ है? ये भी सम्हालते, बनाते, मिटाते हैं संसारों को--अस्तित्व को नहीं। ये भी एक संसार को बनाते हैं। इसलिए बौद्धों ने तो अनेक ब्रह्मा माने हैं। क्योंकि जितने संसार हैं, उतने ब्रह्मा। क्योंकि हर संसार को बनाने की शक्ति का नाम ब्रह्मा है; ब्रह्मा कोई व्यक्ति नहीं हैं। विनष्ट हो जाने की संभावना का नाम शिव है; शिव कोई व्यक्ति नहीं हैं।

जहाँ जहाँ जीवन है, जीवन का विस्तार है, और जहाँ जहाँ जीवन का अंत है, वहाँ वहाँ ये तीन शक्तियाँ काम करती रहेंगी। लेकिन इन सबका सम्बन्ध संसारों से है।

इसलिए बहुत मजेदार घटना बौद्ध कथाओं में है। वह यह कि बुद्ध को जब ज्ञान हुआ, तो जो पहला व्यक्ति जिज्ञासा करने आया, वह था ब्रह्मा। ब्रह्मा ने सिर टेक दिया बुद्ध के चरणों में और कहा कि 'मुझे ज्ञान दें।' हमें तो बड़ी घबड़ाहट होगी। क्योंकि ब्रह्मा--बनाने वाला संसार का, वह बुद्ध के चरणों में आया पूछने कि मुझे ज्ञान दें!

ब्रह्मा संसार को बनाने वाला जरूर है, लेकिन वह संसार को बनाता ही इसलिए है कि उसमें संसार को बनाने की वासना है। बुद्ध वासना मुक्त हो गए। इसलिए बुद्ध ब्रह्मा से ऊपर हो गए। बुद्ध शुद्ध पुरुष हो गए। ब्रह्मा उनसे नीचे रह गया। क्योंकि ब्रह्मा भी बनाता है। बनाने का अर्थ ही है कि काम-वासना है। जहाँ वासना नहीं है, वहाँ कोई सृजन न होगा। इसलिए हम ब्रह्मा को मुक्त नहीं मानते। ब्रह्मा को भी

हम मानते हैं कि वह भी बन्धन में है, क्योंकि बनाने का...।

स्वभावतः आप एक छोटी-सी दुकान चलाते हैं, कितनी मुसीबत है ! अगर ब्रह्मा को हम समझें और इतने सारे संसार को चलाता है, तो उसकी मुसीबत का हम अंदाज लगा सकते हैं। उसकी मुसीबत का हम खयाल कर सकते हैं।

इतना बड़ा संसार अगर किसी को चलाना पड़ रहा है, तो उसके पीछे एक तो प्रगाढ़ कामना होनी चाहिए--अंतहीन वासना होनी चाहिए। और फिर उसका उपद्रव और जाल भी होगा ही।

वह बुद्ध से कहता है (ब्रह्मा...। यह कथा मीठी है।) कि 'मुझे भी कुछ ज्ञान दें; मैं भी उलझा हुआ हूँ; मेरा मन भी शांत नहीं है। आप जहाँ पहुँच गए हैं, वहाँ से कुछ अमृत मेरे लिए भी...।' लेकिन बुद्ध चुप हैं।

और बुद्ध को जब ज्ञान हुआ, तो उन्हें लगा कि अब बोलने की क्या जरूरत। जो जाना है, वह कहा नहीं जा सकता। और जो सुनने वाले हैं, उनमें कोई समझ भी न पायेगा, इसलिए व्यर्थ की मेहनत नहीं करनी है।

तो ब्रह्मा उनके पैर पर सिर रख कर बार बार कहता है कि 'आप लोगों से कहें, क्योंकि हम हजारों-हजारों साल से प्रतीक्षा करते हैं कि कोई बुद्ध हो, तो हमें कुछ ज्ञान मिले। हम भी कुछ जान पायें। हमें भी कुछ पता चले कि क्या है।'

ब्रह्मा का यह पूछना बड़ा मजेदार है। उसे भी पता नहीं कि क्या है। वह भी अपनी वासना में जी रहा है।

हम सब छोटे-छोटे ब्रह्मा हैं--जब हम बनाते हैं। और हम सब छोटे-छोटे विष्णु हैं--जब हम सम्हालते हैं। और हम सब छोटे-छोटे शिव हैं--जब हम मिटाते हैं। इसी को विराट् करके देखें, तो पूरे संसार का खयाल आ जाएगा।

कृष्ण कहते हैं, 'लेकिन दो मौलिक तत्त्व--प्रकृति और पुरुष अनादि हैं।'

'और राग द्वेष आदि विकारों को और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान।' और जो कुछ भी तुझे दिखाई पड़ता है--इस जगत् में पैदा होता हुआ--राग-द्वेष, विकार, त्रिगुण--सम्पूर्ण पदार्थ--इनको तू प्रकृति के ही रूप जान। ये प्रकृति से ही पैदा हुए हैं।

तत्त्व दो हैं : प्रकृति और पुरुष। बाकी जितना फैलाव दिखाई पड़ता है, वह दोनों से किसी से जुड़ा होगा। कृष्ण कहते हैं : यह जितना विस्तार है--माया का, त्रिगुण का--ये जो भी दिखाई पड़ रहे हैं: पदार्थ, इतने रूप, इतने रंग, इतना परिवर्तन--ये सब प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान। ये प्रकृति में ही उत्पन्न होते हैं और प्रकृति में ही लीन होते रहते हैं। जिसमें ये उत्पन्न होते हैं और जिसमें ये लीन होते हैं, उसका नाम प्रकृति है।

यह प्रकृति शब्द हमारा बड़ा अद्भुत है। ऐसा शब्द दुनिया की किसी भी भाषा में नहीं है। अंग्रेजी में अकसर हम प्रकृति को नेचर या क्रिएशन से अनुवादित करते हैं। दोनों ही गलत हैं। प्रकृति शब्द का अर्थ है : कृति के पहले। उसका अर्थ है : प्री-क्रिएशन। शब्द बहुत अनूठा है।

प्रकृति का अर्थ है : कृति के पहले। जब कुछ भी नहीं था, तब भी जो था। जब कुछ भी नहीं बना था, तब भी जो था--प्री-क्रिएशन। पहले जो था--सृजन के पहले भी जो था, उसका नाम प्रकृति है।

इसलिए प्रकृति को क्रिएशन तो अनुवाद किया ही नहीं जा सकता। नेचर भी अनुवाद किया नहीं जा सकता, क्योंकि नेचर तो, जो हमें दिखाई पड़ रहा है, वह है।

प्रकृति सांख्य का बड़ा अनूठा शब्द है। उसका अर्थ है : जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, यह जब नहीं था, और जिसमें छिपा था--उसका नाम प्रकृति है। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, जब यह सब मिट जाएगा और उसी में डूब जाएगा--जिससे निकला है, उसका नाम प्रकृति है।

तो प्रकृति है वह, जिससे सब निकलता है और जिसमें सब लीन हो जाता है। प्रकृति है मूल उद्गम--सभी रूपों का।

'क्योंकि कार्य और करण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है। और पुरुष सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।'

इन दो बातों को बहुत गौर से समझ लेना चाहिए। जिनकी साधना की दृष्टि है, उनके लिए बहुत काम की है।

'कार्य और करण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है। और पुरुष सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।'

घटनाएँ घटती हैं प्रकृति में, भोग की कल्पना और मुक्ति की कल्पना घटती है पुरुष में।

एक फूल खिला। फूल का खिलना प्रकृति में घटित होता है। और अगर आदमी न हो पृथ्वी पर, तो फूल न तो सुन्दर होगा और न कुरूप।--या होगा? कोई आदमी नहीं है जगत् में; एक फूल खिला एक पहाड़ के किनारे; वह सुन्दर होगा कि कुरूप होगा? वह सुखद होगा कि दुःखद होगा? वह किसी को आनंदित करेगा, कि किसी को पीड़ित करेगा? कोई है ही नहीं पुरुष।

सिर्फ फूल खिलेगा। न सुन्दर होगा, न असुन्दर; न सुखद, न दुःखद; न कोई उसकी तारीफ करेगा, न कोई उसकी निंदा करेगा। लेकिन फूल खिलेगा; फूल अपने में पूरी तरह से खिलेगा। फिर एक पुरुष प्रगट होता है। फूल के पास खड़ा हो जाता है। फूल तो प्रकृति में खिल रहा है। और उस पुरुष के मन में, पुरुष के भाव में, कल्पना

खिलनी शुरू हो जाती है--फूल के साथ-साथ समानांतर ।

पुरुष कहता है : सुन्दर है । यह सुन्दर का जो भाव खिल रहा है, यह पुरुष के भीतर खिल रहा है । फूल बाहर खिल रहा है । यह जो सुन्दर होने का भाव खिल रहा है, यह पुरुष के भीतर खिल रहा है ।

और अगर पुरुष कहता है : सुन्दर है, तो सुख पाता है, सुख भोगता है । अगर पुरुष कहता है : असुन्दर है, तो दुःख पाता है । और ऐसा नहीं है ।

सुन्दर और असुन्दर धारणाओं पर निर्भर करते हैं । आज से सौ साल पहले कोई सोच भी नहीं सकता था कि कैक्टस के पौधे को कोई घर में रखेगा । सौ साल पहले कोई रख लेता, तो हम उसका पागलखाने में इलाज करवाते ।

कैक्टस का पौधा गांव के बाहर लोग अपने खेत के चारों तरफ बागुड़ लगाने के काम में लाते रहे हैं । सुन्दर है--ऐसा कभी किसी ने सोचा नहीं था । अब हालत ऐसी है कि जिनको भी खयाल है सौन्दर्य का थोड़ा बहुत--वे गुलाब वगैरह को निकाल बाहर कर रहे हैं घरों से; कैक्टस के पौधे लगा रहे हैं !

जिनको कहें अवांगार्द हैं, जो बहुत अभिजात्य हैं, जिनको सौन्दर्य का बड़ा बोध है, या जो अपने समय से बहुत आगे हैं, वे सब तरह के टेढ़े-तिरछे कांटों वाले पौधे घरों में इकट्ठा कर रहे हैं । उसमें ऐसे पौधे भी हैं कि कांटा लग जाय, तो जहर हो जाय खून में । लेकिन उसकी भी चिंता नहीं है । पौधा इतना सुन्दर है यह कि मौत भी झेली जा सकती है ।

कोई सोच नहीं सकता था सौ साल पहले कि ये कैक्टस के पौधे सुन्दर होंगे । अभी हो गए हैं । ज्यादा दिन चलेंगे नहीं । सब फैशन है ।

अभी गुलाब के सौन्दर्य की चर्चा करना बड़ा आर्थोडॉक्स, पुराना, दकियानूसी मालूम पड़ता है । कोई कहने लगे : बड़ा सुन्दर गुलाब है, तो लोग कहेंगे, 'तुम क्या फिजूल की बातें कर रहे हो ! कितने लोग कह चुके । सब उधार है । दुनिया भर--सारा संसार गुलाब की चर्चा करके थक गया । अब हटाओ गुलाब को । आउट ऑफ डेट है । बिलकुल तिथिबाह्य है । कैक्टस की कुछ बात हो ।'

पिकासो ने अपनी एक डायरी में लिखा है कि 'मैं एक स्त्री के प्रेम में पड़ गया हूं । स्त्री सुन्दर नहीं है । लेकिन उस स्त्री में एक धार है ।' सुन्दर तो नहीं है, लेकिन वह लिखता है कि 'सुन्दर की भी क्या बकवास । यह तो बहुत पुरानी धारणा है । धार है, जैसे कि काट दे । जैसे कि तलवार में धार होती है । उस धार में मुझे रस है ।' यह कैक्टस का प्रेम ही होगा, जो स्त्री तक फैल रहा है । धार... काटना है... ! सौन्दर्य भी मुरदा-मुरदा लगता है । पुराने... । अगर कालीदास का सौन्दर्य हो, तो पिकासो को बिलकुल न जँचेगा ।

वह जो कालीदास जिस सौन्दर्य की चर्चा करता है : कुंदन जैसे सुन्दर शरीर की, स्वर्ण काया की--वह पिकासो को नहीं जँचेगा ।

मैंने सुना है : एक गांव में ऐसा हुआ कि एक दलाल जो लोगों की शादी करवाने का काम करता था, एक युवक को बहुत तारीफ करके एक स्त्री दिखाने ले गया । उसने उसकी ऐसी तारीफ की थी कि जमीन पर ऐसी सुन्दर स्त्री खोजना ही मुश्किल है ।

युवक भी बड़े उत्साह में, बड़ी उत्तेजना में था । और कुछ भी खर्च करने को तैयार था--शादी के लिए । दलाल ने इतनी बातें बाँध दीं, दलाल ने ऐसी चर्चा की थी और इतनी कविताएँ उद्धृत की थीं, और इतने शास्त्रों का उल्लेख किया था, और स्त्री के रंग-रूप और एक-एक अंग का ऐसा वर्णन किया था कि युवक बिलकुल उत्तेजित था कि शीघ्रता से मुझे ले चलो । दर्शन करना है ।

लेकिन जब युवक ने दर्शन किया, तो उसके हाथ-पैर ढीले पड़ गए । उसने दलाल के कान में कहा कि 'क्या इस स्त्री की तुम बातें कर रहे थे ! इसको तुम सुन्दर कहते हो ? इसकी आँखें ऐसी भयावनी हैं, जैसे कि भूत-प्रेत हो । ये इतनी लम्बी नाक, मैंने कभी देखी नहीं । इसके दाँत सब अस्त-व्यस्त हैं । इसको किसी बच्चे को डराने के काम में लाया जा सकता है । तुम इसको सुन्दर कह रहे थे ?'

उस दलाल ने कहा, 'तो मालूम होता है, तुम दकियानूसी हो--ईफ यू डोन्ट लाईक ए पिकासो, दैट इज नॉट माई फॉल्ट--और अगर तुम पिकासो के चित्र पसंद नहीं करते, तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं है ।' पिकासो ने ऐसे ही चित्र बनाये हैं । उसने कहा, मैं तो पिकासो जैसा... । नोबल प्राईज पुरस्कृत व्यक्ति है और अगर तुम उसके चित्र में सौन्दर्य नहीं देख सकते, तो मेरा कोई कसूर नहीं है । यह स्त्री उसी का प्रतीक है । यह आधुनिक बोध है । यह तुम कहाँ का दकियानूसी खयाल रखे हुए हो ! कालीदास पढ़ते हो ? क्या करते हो ?'

आदमी के भीतर वह जो चैतन्य है, वह भाव निर्मित करता है । फिर भाव से भोगता है ।

ध्यान रहे : अगर आप भाव से भोगते हैं, तो भाव से दुःख भी पायेंगे, सुख भी पायेंगे--दोनों पायेंगे । और मजा यह है कि फूल बाहर है । न सुन्दर है, न कुरूप है । और यह भाव आपका है ।

तो कृष्ण कहते हैं कि 'सब कार्य-कारण उत्पन्न करने में प्रकृति है हेतु और पुरुष सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है ।'

सुख-दुःख तुम पैदा करते हो । वह प्रकृति पैदा नहीं करती । प्रकृति निष्पक्ष है । कहना चाहिए, प्रकृति को पता ही नहीं है कि तुम नाहक सुख-दुःख भोग रहे हो ।

एक फूल को पता चलता होगा--कि तुम बड़े आनंदित हो रहे हो--कि तुम बड़े दुःखी हो रहे हो ? फूल को कुछ पता नहीं चलता । फूल को कुछ लेना-देना नहीं है । फूल अपने तईं खिल रहा है । तुम्हारे लिए खिल भी नहीं रहा है । तुमसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है । तुम असंगत हो । लेकिन तुम एक भाव पैदा कर रहे हो, उस भाव से तुम डाँवाडोल हो रहे हो । वह भाव तुम्हारे भीतर है ।

मेरे एक मित्र हैं । बैठे थे एक दिन गंगा के किनारे मेरे पास । अचानक उत्साह में आ गए । मैंने पूछा, 'क्या हुआ ?' इशारा किया । --दूर घाट पर एक सुन्दर स्त्री की पीठ । बोले कि 'मैं अब न बैठ सकूंगा । बड़ा अनुपात है शरीर में । और बाल देखते हैं ! और झुकान देखते हैं ! मैं जरा जाकर बस, शकल देख आऊँ ।' मैंने कहा, 'जाओ ।' वे गए । मैं उन्हें देखता रहा ।

बड़े आनंदित जा रहे थे । उनके पैर में नृत्य था । कोई खींचे जा रहा है जैसे, चुम्बक की तरह । और जब वे इस स्त्री के पास पहुँचे, तो भक्क से जैसे ज्योति चली गई । वे एक साधु महाराज थे, वे स्नान कर रहे थे ।

लौट आये--बड़े हताश । सब सुख लुट गया था । माथे पर हाथ रखकर बैठ गए ।

मैंने कहा, 'क्या मामला है ?' कहने लगे, 'अगर यहीं बैठा रहता तो ही अच्छा था । साधु महाराज हैं । वह बाल से धोखा हुआ । वहाँ स्त्री थी नहीं ।' लेकिन उतनी देर उन्होंने स्त्री का सुख लिया था-- जो वहाँ नहीं थी । वह सुख उनके अपने भीतर था । और वहीं बैठे-बैठे चले जाते, तो शायद कविताएँ लिखते । क्या करते, क्या न करते । शायद जिन्दगी भर याद रखते : वह अनुपात शरीर का, वह झुकाव, वे गोल बाहें, वह बाल, वह गोरा शरीर--वह जिन्दगी भर उन्हें सताता । संयोग से बच गए । देख लिया । छुटकारा हुआ । लेकिन दोनों भाव भीतर थे । साधु महाराज को कुछ पता ही नहीं चला कि क्या हो रहा है उनके आसपास । वे भाव उनके अपने ही भीतर उठे थे ।

सांख्य की धारणा है--वही कृष्ण कह रहे हैं--कि तुम जो भी भोग रहे हो, वह तुम्हारे भीतर उठ रहा है । बाहर प्रकृति निष्पक्ष है । उसे तुमसे कुछ लेना-देना नहीं है । तुम चाहे सुख पाओ, तुम चाहे दुःख पाओ, तुम ही जिम्मेवार हो ।

और अगर यह बात खयाल में आ जाय कि मैं ही जिम्मेवार हूँ, तो मुक्त होना कठिन नहीं है । तो फिर ठीक है, जब मैं ही जिम्मेवार हूँ, और प्रकृति न तो सुख पैदा करती है, और न दुःख...। मैं ही आरोपित करता हूँ । सुख और दुःख मेरा आरोपण है प्रकृति के ऊपर; सुख और दुःख मेरे सपने हैं, जिन्हें मैं फैलाता हूँ, और फैलाकर फिर भोगता हूँ । अपने ही हाथ से फैलाता हूँ और खुद ही फँसता हूँ और भोगता हूँ ।

अगर यह बात खयाल में आनी शुरू हो जाय, तो बड़ी अद्भुत क्रांति घट सकती है ।

जब आपके भीतर सुख का भाव उठने लगे, तब जरा चौंक कर खड़े हो जाना और देखना : प्रकृति कुछ भी नहीं कर रही है; मैं ही कुछ भाव पैदा कर रहा हूँ । आपके चौंकते ही भाव मिट जाएगा । आपके होश में आते ही भाव गिर जाएगा । प्रकृति वहाँ रह जाएगी--सुख-दुःखरहित; पुरुष भीतर रह जाएगा--सुख दुःखरहित ।

पुरुष जब प्रकृति की तरफ दौड़ता है, और आरोपित होता है, तो सुख-दुःख पैदा होता है । और जो उस सुख-दुःख में पड़ा है, वह द्वन्द्व में और अज्ञान में है ।

सुख-दुःख के बाहर है आनंद । आनंद है पुरुष का स्वभाव; सुख दुःख है आरोपण प्रकृति पर । सुख-दुःख है : पुरुष अपने को देख रहा है प्रकृति में; प्रकृति का उपयोग कर रहा है दर्पण की तरह । अपनी ही छाया को देख कर सुखी या दुःखी होता है ।

कभी-कभी आप भी अपने बाथरूम में अपने को ही आइने में देखकर सुखी-दुःखी होते हैं । कोई भी वहाँ नहीं होता । आइना ही होता है । अपनी ही शकल है । उसको ही देखकर कभी-कभी बड़े सुखी भी होते हैं । गुनगुनाने लगते हैं गीत । जिनके पास गले जैसी कोई चीज नहीं है, वे भी बाथरूम में गुनगुनाने से नहीं बच पाते । अगर कोई ऐसा आदमी मिल जाय, जो बाथरूम में नहीं गुनगुनाता, तो समझना कि योगी है ।

बाथरूम में तो लोग गुनगुनाते ही हैं । वे किसको देख के गुनगुनाने लगते हैं ? कौन-सी छबि उनको ऐसा आनंद देने लगती है ? अपनी ही । अपने ही साथ मौज लेने लगते हैं ।

करीब-करीब प्रकृति के साथ हम जो भी खेल खेल रहे हैं, वह दर्पण के साथ खेला गया खेल है । फिर कभी दुःखी होते हैं, कभी सुखी होते हैं, और वह सब हमारा ही खेल है, हमारा ही नाटक है । इसे थोड़ा बोध में लेना शुरू करें ।

घटनाएँ प्रकृति में घटती हैं, भावनाएँ भीतर घटती हैं । और भावनाओं के कारण हम परेशान हैं--घटनाओं के कारण नहीं । और बड़ा मजा यह है कि अगर हम कभी इस परेशानी से मुक्त भी होना चाहते हैं, तो हम घटनाएँ छोड़कर भागते हैं--भावनाओं को नहीं छोड़ते ।

एक आदमी दुःखी है, घर में, गृहस्थी में, वह संन्यास ले लेता है; हिमालय चला जाता है । मगर उसे पता ही नहीं है कि दुःखी इसलिए नहीं था कि यहाँ पत्नी है, बच्चा है, दुकान है । उनके कारण वह दुःखी नहीं था । वे घटनाएँ हैं प्रकृति में । दुःखी तो वह अपनी भावनाओं के कारण था । भावनाएँ तो साथ चली जाएँगी--हिमालय में भी । और वहाँ भी वह उनका आरोपण कर लेगा ।

मैंने सुना है : एक आदमी शांति की तलाश में चला गया जंगल । बड़ा परेशान

था कि बाजार में बड़ा शोरगुल है, बड़ा उपद्रव है। जंगल में जाकर एक वृक्ष के नीचे खड़ा ही हुआ था कि एक कौए ने बीट कर दी। सिर पर बीट गिरी। उसने कहा कि 'सब व्यर्थ हो गया। जंगल में भी शांति नहीं है!'

जंगल में भी कौए तो बीट कर ही रहे हैं। और कौआ कोई आपकी खोपड़ी देखकर बीट नहीं कर रहा है। न बाजार में कोई आपकी खोपड़ी देखकर कुछ कर रहा है। कहीं कोई आपकी फिक्र नहीं कर रहा है। घटनाएँ घट रही हैं। आप भावना-ग्रस्त होकर घटनाओं को पकड़ लेते हैं, और जकड़ जाते हैं।

और यह तो दूर--कि असली घटनाएँ पकड़ती हैं। लोग सिनेमा में बैठकर रोते रहते हैं। लोगों के रुमाल देखें--सिनेमा के बाहर निकलते--गीले हैं। आंसू पोंछ रहे हैं! वह तो सिनेमा में अँधेरा रहता है, इससे बड़ी सुविधा है। सबकी नजर परदे पर रहती है, तो पड़ोस में कोई नहीं देखता। और लोग झांक लेते हैं कि कोई देख रहा है, अपना आँसू पोंछ लेते हैं।

क्या हो रहा है परदे पर? वहाँ तो कुछ भी नहीं हो रहा है। वहाँ तो केवल धूप-छाया का खेल है। और आप इतने परेशान हो गए! आप धूप-छाया के खेल से भी परेशान हो रहे हैं? अगर कोई एक डाकू किसी का पीछा कर रहा है--पहाड़ की कगार पर, तो आप तक की श्वास रुक जाती है। आप सम्हल कर बैठ जाते हैं। रीढ़ ऊँची हो जाती है। श्वास रुँध जाती है। जैसे कोई आपका पीछा कर रहा है! या आप किसी का पीछा कर रहे हैं। और आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं। आप सिर्फ कुर्सी पर बैठे हुए हैं। थोड़ी देर में प्रकाश हो जाएगा।

सांख्य शास्त्र ने इसको उदाहरण की तरह लिया है कि जैसे कोई नर्तकी नाचती हो, तो उसके नाच में जो आप रस ले रहे हैं, वह आपके भीतर है। और आपके भीतर रस है, इसलिए नर्तकी नाच रही है, क्योंकि उसको लोभ है कि आपको रस होगा, तो आप कुछ देंगे। अगर आपके भीतर का रस चला जाय, नर्तकी नाच बंद कर देगी, और चली जाएगी।

सांख्य शास्त्र कहता है कि जिस दिन पुरुष रस लेना बंद कर देता है, प्रकृति उसके लिए समाप्त हो जाती है। प्रकृति हट जाती है परदे से। उसकी कोई जरूरत न रही।

सुख और दुःख मेरे प्रक्षेपण, प्रोजेक्शन हैं। मैंने उन्हें आरोपित किया है--निष्कलुष प्रकृति पर। प्रकृति का कुछ भी दोष नहीं है। प्रकृति में तो घटनाएँ घटती रहती हैं। वे घटती रहेंगी--मैं नहीं रहूँगा तब भी। और मैं नहीं था, तब भी वे घटती ही रही हैं। उनसे मेरा कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन मैं..., यह जो पुरुष है भीतर...।

इस 'पुरुष' शब्द को भी ठीक से समझ लेना जरूरी है। यह भी वैसा ही अद्‌भुत

शब्द है, जैसा प्रकृति। ये दोनों ही शब्द सांख्यों के हैं। और सांख्य की पकड़ बड़ी वैज्ञानिक है।

प्रकृति का अर्थ है: जो कृति के पूर्व है। पुरुष का अर्थ है...। वह उसी से बना है, जिससे पुर बनता है। नागपुर या कानपुर में जो पुर लगा है, पुरुष उसी शब्द से बना है। पुरुष का अर्थ है: जिसके चारों तरफ नगर बसा है और जो बीच में है। पुर के बीच में जो है, वह पुरुष।

तो सारी प्रकृति पुर है और उसके बीच में जो बसा है, जो निवासी है, वह पुरुष है। सारी घटनाएँ नगर में घट रही हैं। और वह बीच में जो बसा है, अगर होश-पूर्वक रहे, तो उसे कुछ भी न छुएगा; स्पर्श भी न करेगा। वह कुँवारा ही आएगा और कुँवारा ही चला जाएगा। वह कुँवारा ही है। जब आप उलझ जाते हैं, तब भी वह कुँवारा है; क्योंकि उसको कुछ छू नहीं सकता। निर्दोषता उसका स्वभाव है।

इसलिए कोई पाप पुरुष को छूता नहीं; सिर्फ आपकी भ्रांति है कि छूता है। कोई पुण्य पुरुष को छूता नहीं; सिर्फ भ्रांति है कि छूता है। कोई सुख-दुःख नहीं छूता।

पुरुष स्वभावतः निर्दोष है। लेकिन यह जिस दिन होश आएगा, उसी दिन आप सजग हो कर जाग जाएँगे और पाएँगे कि टूट गया, वह तारतम्य--सुख-दुःख का। आप भीतर रहते बाहर हो गए। आप पुरुष हो गए; पुर के बीच--पुर से अलग हो गए।

प्रकृति और पुरुष की इस दृष्टि को सिर्फ सिद्धान्त की तरह, सिद्धान्त की भाँति समझने से कोई सार नहीं है। इसे थोड़ा जिन्दगी में पहचानना। कहाँ प्रकृति और कहाँ पुरुष--इसका बोध रखना है। और जब प्रकृति में पुरुष आरोपित होने लगे, तो चौंक कर खड़े हो जाना और आरोपित मत होने देना।

थोड़ी-थोड़ी कठिनाई होगी; शुरू-शुरू में अड़चन पड़ेगी। पुरानी आदत है। जन्मों-जन्मों की आदत है। पता ही नहीं चलता और आरोपण हो जाता है।

फूल देखा नहीं--और पहले ही कह देते हैं: 'सुन्दर है; बड़ा आनंद आया।' अभी ठीक से देखा भी नहीं था। अभी ठीक से पहचाना भी नहीं था--कि सुन्दर है या नहीं। कह दिया। रुकें थोड़ा। और पुरुष को आरोपित न होने दें।

आरोपण है बंधन और आरोपण से मुक्त हो जाना है मुक्ति।

पाँच मिनट कोई उठे नहीं। कीर्तन में सम्मिलित हों--और फिर जायँ।

आठवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, संध्या, दिनांक ११ मई, १९७३

गीता में समस्त मार्ग हैं • मनोविश्लेषण और सद्‌गुरु
चैतन्य पुरुष : गुणातीत, अति-नैतिक

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

परन्तु प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है । और इन गुणों का संग ही इसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है ।

वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी पर ही है, केवल साक्षी होने से उपद्रष्टा और सम्मति देनेवाला होने से अनुमन्ता एवं धारण करनेवाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता तथा ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा—ऐसा कहा गया है ।

इस प्रकार पुरुष को और और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है कि पूरी गीता अर्जुन को उसका स्वधर्म और मार्ग समझाने के लिए कही गयी मालूम होती है । क्या कृष्ण और अर्जुन के बीच गुरु शिष्य का सम्बन्ध है ? यदि है, तो श्रीकृष्ण अर्जुन से उन अनेक मार्गों की अनावश्यक बातें क्यों करते हैं, जिस पर अर्जुन को चलना ही नहीं है ?

इस सम्बन्ध में पहली तो यह बात जान लेनी जरूरी है कि जिन मार्गों पर आपको नहीं चलना है, उन पर भी चलने का झुकाव आपके भीतर हो सकता है । और वह झुकाव खतरनाक है । और वह झुकाव आपके जीवन, आपकी शक्ति को, अवसर को खराब कर सकता है ।

तो कृष्ण उन सभी मार्गों की बात कर रहे हैं, अर्जुन से, जिन पर चलने के लिए किसी भी मनुष्य के मन में झुकाव हो सकता है । मनुष्य मात्र जिन मार्गों पर चलने के लिए उत्सुक हो सकता है, उन सभी की बात कर रहे हैं ।

इस बात के करने का फायदा है । इन सारे मार्गों को अर्जुन समझ ले, तो उसे खयाल में आना कठिन न रह जाएगा कि कौन-सा मार्ग उसके सर्वाधिक अनुकूल है । और जिसे आप नहीं जानते, उससे खतरा है; और जिसे आप जान लेते हैं, उससे खतरा समाप्त हो जाता है ।

सभी रास्तों के सम्बन्ध में जान लेने के बाद जो निर्णय होगा, वह ज्यादा सम्यक् होगा । इसलिए कृष्ण सभी रास्तों की बात कर रहे हैं । इस अर्थ में, कृष्ण का वक्तव्य, उनका उपदेश बुद्ध, महावीर, मोहमद और जीसस के वक्तव्य से बहुत भिन्न है ।

जीसस एक ही मार्ग की बात कर रहे हैं । महावीर एक ही मार्ग की बात कर रहे हैं । बुद्ध एक ही मार्ग की बात कर रहे हैं । कृष्ण सभी मार्गों की बात कर रहे हैं । और यह सभी मार्गों की बात जान लेने के बाद जब कोई चुनाव करता है, तो चुनाव ज्यादा सार्थक, ज्यादा अभिप्रायपूर्ण होगा । और उस मार्ग पर सफलता भी ज्यादा

आसान होगी ।

बहुत बार तो कोई मार्ग शुरू में आकर्षक मालूम होता है, लेकिन पूरे मार्ग के सम्बन्ध में जान लेने पर उसका आकर्षण खो जाता है। बहुत बार कोई मार्ग शुरू में बहुत कंटकाकीर्ण और कठिन मालूम पड़ता है, लेकिन मार्ग के सम्बन्ध में पूरी बात समझ लेने पर सुगम हो जाता है। इसलिए कृष्ण सारी बात खोल कर रखे दे रहे हैं। अर्जुन के माध्यम से जैसे वे पूरी मनुष्यता से ही बात कह रहे हैं।

मनुष्य जिस-जिस मार्ग से परमात्मा तक पहुँच सकता है, वह सभी मार्ग, अर्जुन के सामने, कृष्ण खोलकर रख रहे हैं। इन सभी मार्गों पर अर्जुन चलेगा नहीं। चलने की कोई जरूरत भी नहीं है। लेकिन सभी को जानकर जो मार्ग वह चुनेगा, वह मार्ग उसके लिए सर्वाधिक अनुकूल होगा।

दूसरी बात : कृष्ण और अर्जुन के बीच जो सम्बन्ध है, वह गुरु और शिष्य का नहीं, दो मित्रों का है। दो मित्रों का सम्बन्ध, और गुरु शिष्य के सम्बन्ध में बड़े फर्क हैं और इसीलिए कृष्ण गुरु की भाषा में नहीं बोल रहे हैं, एक मित्र की भाषा में बोल रहे हैं। वे सभी बातें अर्जुन को कह रहे हैं, जैसे वे अर्जुन को परसुएड कर रहे हैं, फुसला रहे हैं, राजी कर रहे हैं। उसमें आदेश नहीं है, उसमें आज्ञा नहीं है। एक मित्र एक दूसरे मित्र को राजी कर रहा है, समझा रहा है। उसमें कृष्ण ऊपर खड़े होकर अर्जुन को आज्ञा नहीं दे रहे हैं; साथ खड़े होकर अर्जुन से चर्चा कर रहे हैं। यह दो गहरे मित्रों के बीच संवाद है।

निश्चित ही कृष्ण गुरु हैं और अर्जुन शिष्य है, लेकिन उनके बीच सम्बन्ध दो मित्रों का है। इस मित्रता के सम्बन्ध के कारण गीता में जो वार्तालाप है, जो डायलॉग है, वह न कुरान में है, न बाइबिल में है; वह न धम्मपद में है, न जेन्दअवेस्ता में है।

डायलॉग—वार्तालाप—दो मित्र निकट से बातें कर रहे हैं। न अर्जुन को भयभीत होने की जरूरत है कि वह गुरु से बोल रहा है, न गुरु को जल्दी है कि वह मार्ग पर लगा दे अर्जुन को। दो मित्रों की चर्चा है। इस मित्रता की चर्चा से जो नवनीत निकलेगा, उसका बड़ा मूल्य है।

गहरे में तो अर्जुन शिष्य है, उसे इसका कोई पता नहीं। वह पूछ रहा है, प्रश्न कर रहा है, जिज्ञासा कर रहा है, ये शिष्य के लक्षण हैं। लेकिन वे लक्षण अचेतन हैं।

अर्जुन ऐसे ही पूछ रहा है, जैसे एक मित्र से मुसीबत में सलाह ले रहा है। उसे पता नहीं कि वह शिष्य होने के रास्ते पर चल पड़ा। सच तो यह है कि जो उसने पूछा था, उसने कभी सोचा भी न होगा कि उसके परिणाम में जो कृष्ण ने कहा, वह कहा जाएगा। अर्जुन ने तो इतना ही पूछा था कि 'मेरे प्रियजन हैं, सम्बधी हैं, मित्र हैं, नाते-रिश्तेदार हैं—सभी मेरे परिवार के लोग हैं—इस तरफ भी, उस तरफ भी। हम सब बँट के खड़े हैं—एक बड़ा कुटुंब। उस तरफ मेरे गुरु हैं, पूज्य भीष्म हैं—यह सब संघर्ष पारिवारिक है; यह हत्या अकारण मालूम पड़ती है। ऐसे राज्य को पाकर भी मैं क्या करूँगा, जिसमें मेरे सभी सम्बन्धी और मित्र नष्ट हो जायँ? तो ऐसा राज्य तो त्याग देने योग्य लगता है।'

अर्जुन के मन में एक वैराग्य का उदय हुआ है। वह उदय भी मोह के कारण ही हुआ है। अगर वह वैराग्य मोह के कारण न होता, तो कृष्ण को गीता कहने की कोई जरूरत न होती; अर्जुन विरागी हो गया होता।

जो वैराग्य मोह के कारण पैदा होता है, वह वैराग्य है नहीं। वह केवल वैराग्य की भाषा बोल रहा है। इस दुविधा के कारण गीता का जन्म हुआ।

अर्जुन कहता तो यह है कि मेरे मन में वैराग्य आ रहा है; यह सब छोड़ दूँ; यह सब असार है। लेकिन कारण जो बता रहा है—कारण यह कि 'मेरे प्रियजन, मेरे मित्र, मेरे सम्बन्धी, मेरे गुरु—ये सब मरेंगे, कटेंगे।' वैराग्य का जो कारण है, वह मोह है। यह असंभव है।

कोई भी वैराग्य मोह से पैदा नहीं हो सकता। वैराग्य तो पैदा होता है—मोह की मुक्ति से। अर्जुन की यह जो कठिनाई है, इस दुविधा के कारण पूरी गीता का जन्म हुआ।

अर्जुन को यह पता भी नहीं है कि उसका जो वैराग्य है, वह झूठा है। उसकी जड़ में मोह है। और जहाँ मोह की जड़ हो, वहाँ वैराग्य के फूल नहीं लग सकते। मोह की जड़ में कैसे वैराग्य के फूल लग सकते हैं? अर्जुन परेशान तो मोह से है।

समझें : अगर उसके रिस्तेदार न कटते होते, कोई और कट रहा होता, तो अर्जुन बिलकुल फिक्र न करता। वह घास पत्तियों की तरह तलवार से काट देता। इसके पहले भी उसने बहुत बार लोगों को काटा है; लड़ा है, झगड़ा है, लेकिन कभी उसके मन में वैराग्य नहीं उठा। क्योंकि जिनको काट रहा था। उनसे कोई सम्बन्ध न था।

वह पुराना धनुर्धर है; शिकार उसे सहज है; युद्ध उसके लिए खेल है। आज जो तकलीफ खड़ी हो रही है, वह तकलीफ—लोग कट जाएँगे—इससे नहीं हो रही है। 'अपने लोग' कट जाएँगे—वह अपनत्व, ममत्व के कारण तकलीफ हो रही है।

देखता है अपने ही परिवार को दोनों तरफ बँटा हुआ; जिनके साथ बड़ा हुआ, मित्र की तरह खेला, जो अपने ही भाई हैं, अपने ही गुरु हैं, जिन्होंने सिखाया...। उस तरफ द्रोण खड़े हैं, जिनसे सारी कला सीखी। आज उन्हीं की हत्या करने को उन्हीं की कला का उपयोग करना पड़ेगा! आज उनको ही काटना होगा, जिनके चरणों पर कल सिर रखा था। इससे अड़चन आ रही है। अगर इनकी जगह कोई

भी होते--अ,ब,स--अर्जुन ऐसे काट देता, जैसे घास काट रहा है ।

उसे कोई अहिंसा का भाव पैदा नहीं हो रहा है । वह किसी वैराग्य को उपलब्ध नहीं हो रहा है; सिर्फ मोह दुःख दे रहा है । अपनों को ही काटना कष्ट दे रहा है। इसलिए गीता का जन्म हुआ । अर्जुन का वैराग्य वास्तविक नहीं है । अगर अर्जुन का वैराग्य वास्तविक हो, तो वह कृष्ण से पूछेगा भी नहीं ।

यह भी थोड़ा समझ लेना चाहिए ।

जब हमारे भीतर झूठी चीजें होती हैं, तो हम किसी से पूछते हैं ।

एक युवक मेरे पास आया और वह कहने लगा कि 'मैं आपसे पूछने आया हूँ : क्या मैं संन्यास ले लूँ ?' मैंने उस युवक से कहा कि 'अगर मैं कहूँ कि मत लो, तो तुम क्या करोगे ?' तो वह बोला कि 'मैं नहीं लूँगा ।' तो मैंने कहा कि 'जो संन्यास किसी के उत्तर पर निर्भर करता है--कि कोई कह दे कि ले लो, कोई कह दे कि न ले लो, और तुम उसकी मान लोगे...। वह संन्यास तुम्हारे भीतर कहीं गहरे में उठ नहीं रहा है ।'

बुद्ध किसी से पूछने नहीं जाते हैं । महावीर किसी से पूछने नहीं जाते । जीसस किसी से पूछने नहीं जाते--कि 'मैं ऐसा कर लूँ ? यह वैराग्य का उदय हो रहा है, तो अब मैं क्या करूँ ?' अर्जुन पूछता है । अर्जुन के भीतर कोई वैराग्य नहीं है । सिर्फ मोह-ममता है । उसका वैराग्य झूठा है, नहीं तो वह कृष्ण से कहता कि 'मैं जाता हूँ । बात खतम हो गई । मुझे दिखाई पड़ गया कि यह सब व्यर्थ है, और असार है ।' फिर कृष्ण भी न समझाने की कोशिश करते, न समझाने का कोई अर्थ था ।

अर्जुन दुविधा में है, कहें कि सिजोफ्रेनिक है, बँटा हुआ है । आधा मन तो लड़ने के लिए आतुर है; धन के लिए आतुर है; राज्य के लिए आतुर है । वह भी मोह है । और आधा मन इस हत्या से भी भयभीत हो रहा है--अपनों को ही मारने की । वह भी मोह है । और इन दोनों से मिल के वैराग्य की वह बातें कर रहा है, जो कि बिलकुल झूठी हैं, क्योंकि इन दोनों से वैराग्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं है । इसे थोड़ा आप ठीक से समझ लेना ।

बहुत बार आप भी वैराग्य की बातें करते हैं । लेकिन ध्यान रखना कि आपका वैराग्य मोह से तो पैदा नहीं हो रहा है ।

किसी आदमी की पत्नी मर जाती है और वह विरागी हो जाता है । और कल तक उसको वैराग्य का कोई खयाल नहीं था । किसी आदमी का दिवाला निकल जाता है और वह संन्यास के लिए उत्सुक हो जाता है । कल तक उसे संन्यास का क्षण भर भी खयाल नहीं था । अब दिवाले से निकलने वाले संन्यास की कितनी कीमत हो सकती है; थोड़ा समझ लेना । और पत्नी के मरने से जो वैराग्य निकलता है, वह

किस मूल्य का होगा ? जूए में हार जाने से कोई संन्यासी हो जाएगा, तो उस संन्यास में गंध तो जूए की ही होगी । वह संन्यास जूए का ही रूप होगा, क्योंकि बीज में तो जुआ था । अगर यही आदमी जूए में जीत गया होता तो, यह पत्नी न मरी होती तो; यह दिवाला न निकला होता तो--तो इस आदमी का वैराग्य से कोई लेना-देना न था ।

तो जब आपके मन में ऐसा कोई वैराग्य उठता हो, जिसकी जड़ में मोह हो, तो आप समझना कि यह वैराग्य झूठा है और इस वैराग्य के आधार पर आप परमात्मा तक नहीं पहुँच सकेंगे ।

पर अर्जुन को पता नहीं है कि वह क्या पूछ रहा है ।

ध्यान रहे : जब आप किसी गुरु से पूछते हैं कुछ, तो जरूरी नहीं है कि जो आप पूछते हैं, वही आपकी मौलिक जिज्ञासा हो । आपका प्रश्न तो बहुत ऊपरी होता है । क्योंकि भीतरी प्रश्न भी खोजना अति कठिन है । लेकिन गुरु आपके ऊपरी प्रश्न से आपके भीतरी प्रश्नों को उठाना शुरू करता है । वह तो सिर्फ उसको एक खूँटी बना लेता है और फिर आपके भीतर प्रवेश करने लगता है--और जो छिपा है, उसे बाहर लाने लगता है ।

अर्जुन ने कुछ पूछा है; कृष्ण कुछ कह रहे हैं । और अर्जुन धीरे-धीरे उत्सुक हो गया--उनकी बात सुनने में । वह भूल ही गया । युद्ध, अपने-जन, वैराग्य--वह बात भूल गया । वह कुछ और ही बातें पूछने लगा । कृष्ण ने उस मौके का बहाना लेकर--लाभ उठा कर--अर्जुन के मन को खोल दिया--उसके भीतर की सारी संभावनाओं के प्रति ।

अर्जुन अनजाना शिष्य है । जान में तो वह मित्र है । कृष्ण जान के गुरु हैं । और अर्जुन के प्रति मित्रता का जो भाव है, वह केवल अर्जुन की मित्रता के उत्तर में है।

अर्जुन अनजाना शिष्य है और कृष्ण जान के गुरु हैं । लेकिन वे यह भी जानते हैं कि अगर वे गुरु की भाषा में बोलें, तो अर्जुन को पीड़ा होगी, उसके अहंकार को चोट लगेगी । वह तो मित्र ही मानके जीया है । अगर मित्र न माना होता, तो उनको सारथी बनाने के लिए राजी भी नहीं करता । बात ही बेहूदी है--कि उनसे कहता कि तुम मेरे घोड़ों को सम्हालो । मेरे रथ के सारथी हो जाओ ! वे बचपन के साथी हैं--दोस्त हैं । गहरी उनकी मित्रता है ।

अर्जुन के मन को चोट न पहुँचे इसलिए कृष्ण बात करते हैं मित्र की भाषा में । और धीरे-धीरे उस मित्र की भाषा में ही गुरु का संदेश भी डालते जाते हैं । और जैसे-जैसे अर्जुन राजी होता जाता है, वैसे-वैसे कृष्ण गुरु होते जाते हैं ।

जैसे ही अर्जुन बन्द होता है और डरता है, वैसे ही वे मित्र हो जाते हैं । जैसे

ही अर्जुन राजी होता है, खुलता है, ग्राहक होता है, वे बहुत ऊँचाई पर उठ जाते हैं। उस ऊँचाई पर--जहाँ कि वे परमात्मा हैं; वहाँ से बोलने लगते हैं। इसलिए कृष्ण के इन वचनों में कई तलों के वचन हैं। कभी वे ठीक मित्र की तरह बोल रहे हैं। कभी वे गुरु की तरह बोल रहे हैं। कभी वे ठीक परमातमा की तरह बोल रहे हैं।

आखिरी ऊँचाई से लेकर साधारण जीवन के तल तक कृष्ण बोल रहे हैं। इसीलिए गीता बहुत तलों पर है। और अर्जुन पर निर्भर है; अर्जुन जब जिस ऊँचाई पर उठ सकता है, उस ऊँचाई की वे बात करते हैं।

सभी मार्गों की उन्होंने अर्जुन के सामने बात रख दी, ताकि अर्जुन सहज ही चुनाव कर ले। और अर्जुन यह नहीं पूछ रहा है कि आप मुझे मार्ग दे दो। तो कृष्ण एक ही मार्ग दे सकते थे।

अर्जुन तलाश में है। अभी उसे यह भी पक्का नहीं है कि वह क्या खोज रहा है। अभी उसे यह भी मालूम नहीं है कि वह क्या चाहता है। तो कृष्ण सारे मार्ग खोलकर रखे दे रहे हैं। शायद इन मार्गों के सम्बन्ध में बात करते-करते ही कोई मार्ग अर्जुन को आकृष्ट कर ले, चुम्बक बन जाय और अर्जुन खिंच जाय।

और फिर इस बहाने--अर्जुन के बहाने--पूरी मनुष्यता के लिए यह संदेश हो जाता है। क्योंकि ऐसा कोई भी मार्ग नहीं है, जिस पर कृष्ण ने गीता में मूल बात न कर ली हो।

तो सभी मार्गों के लोग अपने योग्य बात गीता से पा सकते हैं। इसका फायदा भी है, इसका नुकसान भी है। इसका फायदा कम हुआ, नुकसान ज्यादा हुआ, क्योंकि आदमी कुछ ऐसा है कि फायदा लेना जानता नहीं; सिर्फ नुकसान लेना ही जानता है।

कृष्ण ने सारे मार्ग गीता में कह दिये हैं और जब वे एक मार्ग के सम्बन्ध में बोलते हैं, तो बाकी के सम्बन्ध में भूल जाते हैं। और उस मार्ग को उसकी पूरी ऊँचाई पर उठा देते हैं। इसलिए उन्होंने सभी मार्गों की प्रशंसा की है। कभी उन्होंने भक्ति को कहा श्रेष्ठ; कभी उन्होंने ज्ञान को कहा श्रेष्ठ; कभी उन्होंने कर्म को कहा श्रेष्ठ।

अब यह बड़ी उलझनवाली बात है, क्योंकि अगर भक्ति श्रेष्ठ है, तो साधारण बुद्धि का आदमी कहेगा : फिर कर्म को श्रेष्ठ नहीं कहना चाहिए; फिर ज्ञान को श्रेष्ठ नहीं कहना चाहिए। और अगर ज्ञान श्रेष्ठ है, तो भक्ति को श्रेष्ठ नहीं कहना चाहिए। और कृष्ण इसकी फिक्र ही नहीं करते। वे जिस मार्ग की बात करते हैं, उसे उसकी श्रेष्ठता पर पहुँचा देते हैं। उसकी ऊँचाई, उसकी आखिरी गरिमा, उसका आखिरी गौरीशंकर का शिखर खोल देते हैं। और जब दूसरे मार्ग की बात करते हैं, तो उसका गौरीशंकर खोलते हैं। तब वे भूल ही जाते हैं कि एक क्षण पहले

उन्होंने ज्ञान को श्रेष्ठ कहा था, अब वे भक्ति को श्रेष्ट कह रहे हैं। यह इस कारण . . . । यह किया तो कृष्ण ने इसलिए, ताकि अर्जुन को प्रत्येक मार्ग का जो श्रेष्ठतम है, प्रत्येक मार्ग में जो गहनतम गहराई है, उसका उसे खयाल दिला दें; फिर चुनाव उसके हाथ में है।

यह वक्तव्य कि ज्ञान श्रेष्ठ है, यह वक्तव्य कि भक्ति श्रेष्ठ है--तुलनात्मक नहीं है। यह ऐसा ही है, जैसे आपने गुलाब का फूल देखा और आपने कहा कि 'अद्‌भुत! इससे सुंदर मैंने कुछ भी नहीं देखा।' फिर आपने रात आकाश में तारे देखे और आपने कहा, 'अद्‌भुत। इससे सुंदर मैंने कुछ भी नहीं देखा।' और फिर एक दिन सुबह आपने सागर का गर्जन सुना और सागर की लहरें चट्टानों से टकराती देखी और आपने कहा कि 'इससे सुंदर मैंने कभी कुछ नहीं देखा।' ये कोई तुलनात्मक वक्तव्य नहीं हैं। यह उस क्षण में आपकी भावदशा को पूरा पकड़ लिया फूल ने और फूल इस जगत् का सर्वाधिक श्रेष्ठतम सौंदर्य हो गया। और दूसरे क्षण में इसी भाँति चाँद ने पकड़ लिया। और तीसरे क्षण में सागर ने पकड़ लिया।

इन तीनों बातों में कोई विरोध नहीं है और कोई तुलना नहीं है। ये सिर्फ इस बात की खबर देते हैं कि एक ऐसी भी भावदशा है कि जब फूल से जीवन का श्रेष्ठतम अनुभव होता है। उसी भावदशा में कभी चाँद-तारों से भी जीवन के श्रेष्ठतम सौंदर्य की प्रतीति हो जाती है। और कभी उसी भावदशा का रस, संगीत सागर की लहरों से भी बँध जाता है।

कबीर एक ढंग से उसी शिखर पर पहुँच जाते हैं। बुद्ध दूसरे ढंग से उसी शिखर पर पहुँच जाते हैं। महावीर तीसरे ढंग से उसी शिखर पर पहुँच जाते हैं। वह शिखर एक है। वह भावदशा एक है।

कृष्ण इस तरह बात कर रहे हैं कि उसमें कोई तुलना नहीं है। एक-दूसरे को नीचा दिखाने का भाव नहीं है।

● एक मित्र ने मुझसे प्रश्न पूछा है कि 'जब आप कृष्ण पर बोलते हैं, तो ऐसा लगता है कि जैसे कृष्ण श्रेष्ठतम हैं। और जब आप लाओत्से पर बोलते हैं, तो ऐसा लगता है कि लाओत्से का कोई मुकाबला नहीं। जब आप महावीर पर बोलते हैं, तो ऐसा लगता है कि बाकी सब फीके हैं; महावीर ही सब कुछ हैं।'

यह बिलकुल आपको ठीक लगता है। लेकिन उस लगने का आप साफ मतलब समझ लेना, नहीं तो नुकसान होगा; आप कन्फ्यूजन में पड़ेंगे।

जब मैं लाओत्से पर बोल रहा हूँ, तो लाओत्से के अतिरिक्त मेरे लिए कोई भी नहीं है। तो जब मैं कहता हूँ कि लाओत्से अद्वितीय हैं, तो उसका मतलब यह नहीं है कि महावीर से श्रेष्ठ हैं या बुद्ध से श्रेष्ठ हैं। उसका कुल मतलब यह है कि

अपने आप में एक गौरीशंकर हैं। उसकी कोई तुलना नहीं। और न ही महावीर की कोई तुलना है--और न बुद्ध की, और न कृष्ण की। लेकिन आम आदमी तुलना करता है, कम्पेरिजन करता है, और उससे तकलीफ में पड़ता है।

गीता के साथ बड़ा अन्याय हुआ है। शंकर एक व्याख्या लिखते हैं। वह व्याख्या भी अन्यायपूर्ण है, क्योंकि शंकर ज्ञान को श्रेष्ठतम मानते हैं। वह उनकी मान्यता है। उस मान्यता में कोई भूल नहीं है। ज्ञान श्रेष्ठ है। किसी और से श्रेष्ठ नहीं है--तुलनात्मक अर्थों में। अपने आप में श्रेष्ठ है। दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है।

शंकर की मान्यता है कि ज्ञान श्रेष्ठ है। यह मान्यता बिलकुल ठीक है और सही है। फिर वे इसी मान्यता को पूरी गीता पर थोप देते हैं। तो कुछ तो वचन ठीक हैं, जिन में कृष्ण ज्ञान को श्रेष्ठ कहते हैं। वहाँ तो शंकर को कोई तकलीफ नहीं है। लेकिन जहाँ कृष्ण भक्ति को श्रेष्ठ कहते हैं और कर्म को श्रेष्ठ कहते हैं, वहाँ शंकर को अड़चन आती है। पर शंकर बहुत कुशल तार्किक हैं। वे रास्ता निकाल लेते हैं। वे शब्दों में से भूलभुलैया खड़ी कर लेते हैं। वे शब्दों के नये अर्थ कर लेते हैं। वे शब्दों की ऐसी व्याख्या जमा देते हैं कि पूरी गीता शंकर की व्याख्या में 'ज्ञान की गीता' हो जाती है। वह अन्याय है।

रामानुज भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। बिलकुल ठीक है। कुछ गलती नहीं है। लेकिन वे भक्ति के सूत्रों के आधार पर सारी गीता पर भक्ति को आरोपित कर देते हैं। वह अन्याय है। तिलक कर्म को श्रेष्ठ मानते हैं, तो पूरी गीता पर कर्म को आरोपित कर देते हैं। वह अन्याय है। अपने आप में बात बिलकुल ठीक है।

कर्म श्रेष्ठ है--किसी और से नहीं। श्रेष्ठ है इसलिए--कि उससे परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। भक्ति श्रेष्ठ है--किसी और से नहीं--श्रेष्ठ है इसलिए, कि वह भी परमात्मा का द्वार है। ज्ञान श्रेष्ठ है--किसी और से नहीं; वह भी वहीं पहुँचा देता है, जहाँ भक्ति और कर्म पहुँचाते हैं।

और जो व्यक्ति जिस मार्ग से चलता है, स्वभावतः उसे वह श्रेष्ठ लगेगा, क्योंकि उससे वह चलता है, उससे वह पाता है, उससे उसे अनुभव होता है। और दूसरे मार्ग से जो चलता है, उसका उसे कोई भी पता नहीं है।

कृष्ण ने सभी मार्गों की बात कही है।

● एक मित्र ने मुझसे यह भी पूछा है कि शंकर ने एक व्याख्या की, रामानुज ने दूसरी व्याख्या की, वल्लभ ने तीसरी व्याख्या की, निम्बार्क ने चौथी व्याख्या की, तिलक ने पाँचवीं की; गांधी ने की--विनोबा ने की; कोई एक हजार व्याख्याकार गीता के हुए--जानेमाने, गैर-जानेमाने तो और भी बहुत हैं। मुझसे पूछा है कि

आप जो व्याख्या कर रहे हैं, इसमें और उनमें क्या फर्क है ?'

इसमें बहुत फर्क है।

मेरा कोई सम्प्रदाय नहीं है। मुझे गीता पर कुछ आरोपित नहीं करना है। न मुझे आरोपित करना है ज्ञान, न मुझे आरोपित करनी है भक्ति, न मुझे आरोपित करना है कर्म। मुझे पूरी गीता पर कोई चीज आरोपित नहीं करनी है। पूरी गीता पर जो भी कुछ आरोपित करने की कोशिश करेगा, वह कृष्ण के साथ अन्याय कर रहा है।

मुझे तो इंच इंच गीता जो कहती है, उसको ही प्रगट कर देना है--इसकी बिना फिक्र किये कि आगे-पीछे उसके विपरीत, उसके विरोध में भी कुछ कहा गया है।

मुझे कोई सिस्टम, कोई व्यवस्था नहीं बिठानी है। लेकिन कन्फ्यूजिंग होगी; मेरी बात में बड़ा भ्रम पैदा होगा। वह वैसा ही भ्रम होगा, जैसा कृष्ण की बात में है। क्योंकि कभी मैं कहूँगा : ज्ञान श्रेष्ठ है। जब गीता ज्ञान को श्रेष्ठ कहेगी, तो मैं भी कहूँगा। और जब गीता भक्ति को श्रेष्ठ कहेगी, तो मैं भी कहूँगा। मैं गीता के साथ बहूँगा। अपने साथ गीता को नहीं बहाऊँगा।

मेरी कोई धारणा नहीं है, जो मुझे गीता पर आरोपित करनी है। अगर मेरी कोई धारणा हो, जो गीता पर मुझे आरोपित करनी है, तो इसको मैं व्यभिचार मानता हूँ। यह उचित नहीं है।

और इसीलिए मुझे सुविधा है कि मैं गीता पर बोलूँ, तो मुझे तकलीफ नहीं है। मैं कुरान पर बोलूँ, तो मुझे तकलीफ नहीं है। मैं बाइबिल पर बोलूँ, तो मुझे तकलीफ नहीं है। क्योंकि मुझे किसी चीज पर कुछ आरोपित नहीं करना है।

मैं मानता हूँ कि बाइबिल अपने में इतना अद्भुत फूल है कि मैं उसको आपके सामने खोल सकूँ तो काफी; उसकी सुगंध आपको मिल जाय--बहुत। उस पर कुछ थोपने की कोई जरूरत नहीं है। इसलिए जो लोग मेरे बहुत से वक्तव्य पढ़ते हैं, उनको लगता है कि उनमें बड़ा कन्ट्राडिक्शन है। लगेगा। विरोध लगेगा।

कभी मैं यह कहा हूँ और कभी मैं यह कहा हूँ, और कभी मैं यह कहा हूँ। निश्चित ही कभी मैं गुलाब की तारीफ कर रहा था। और कभी मैं चाँद-तारों की तारीफ कर रहा था। और कभी मैं सागर के लहरों की तारीफ कर रहा था। उन तारीफों में फर्क होगा। क्योंकि गुलाब गुलाब है। चाँद-तारे चाँद-तारे हैं। लहरें लहरें हैं। और जगत् विराट है।

जो व्यक्ति इन सब के बीच तालमेल बिठालने की कोशिश करेगा, वह मुश्किल में पड़ जाएगा, अड़चन में पड़ जाएगा। तालमेल बिठालने की जरूरत ही नहीं है।

आपको सब में जो ठीक लग जाय, उस पर चलने की जरूरत है। फिर बाकी बातों को आप छोड़ दें।

गीता ज्ञान को भी कहेगी, कर्म को भी कहेगी, भक्ति को भी कहेगी। आप फिक्र छोड़ें कि तीनों में कौन श्रेष्ठ है। जो आपको श्रेष्ठ लग जाय, आप उस पर चल पड़ें।

लेकिन कुछ लोग हैं जो चलते नहीं है, जो बैठ के इस चर्चा में जीवन व्यतीत करते हैं--कि क्या श्रेष्ठ है। ज्ञान श्रेष्ठ है? भक्ति श्रेष्ठ है? कर्म श्रेष्ठ है? पूरी जिंदगी लगा देते हैं। इनके मस्तिष्क विक्षिप्त हैं। ये होश में नहीं हैं कि ये क्या कर रहे हैं।

अर्जुन के सामने कृष्ण ने सब मार्ग खोल कर रख दिये और हर मार्ग को उन्होंने इस तरह से प्रस्तावित किया है, जैसा उस मार्ग को माननेवाला प्रस्तावित करेगा--पूरी उसकी शुद्धता में। उस मार्ग को प्रस्तावित करते समय वे उसी मार्ग के साथ एक हो गए है।

कृष्ण तो जान के गुरु हैं। और बहुत बार ऐसा होता है कि आप जान के शिष्य नहीं होते। हो भी नही सकते। क्योंकि शिष्य को इतना भी होश कहाँ है कि वह क्या है, इसका भी पता लगा ले।

इजिप्त के पुराने शास्त्रों में कहा गया है कि शिष्य कभी गुरु को नहीं खोज सकता। शिष्य खोजेगा कैसे? और कैसे परखेगा कि यही गुरु मेरे लिए है? कैसे जानेगा कि यह आदमी ठीक है या गलत है? क्या है उसके पास मार्ग--दिशासूचक यंत्र--जिससे पहचानेगा कि इस आदमी के पीछे चल के मैं पहुँच जाऊँगा? शिष्य कैसे गुरु को खोजेगा?

इजिप्त की पुरानी किताबें कहती हैं कि शिष्य कभी गुरु को नहीं खोजता। इसका यह मतलब नहीं है कि शिष्य को खोज छोड़कर घर बैठ जाना चाहिए। खोजना तो उसे चाहिए, हालाँकि वह खोज न सकेगा। लेकिन खोजने के उपक्रम में गुरुओं के लिए उपलब्ध हो जाएगा। कोई गुरु उसको खोज लेगा।

हमेशा गुरु ही शिष्य को खोजता है। और गुरु खोजने नहीं निकलता। शिष्य खोजने निकलता है। लेकिन अनेक गुरुओं के पास से गुजरते-गुजरते कोई गुरु उसे पकड़ लेता है। लेकिन तब भी गुरु को ऐसी ही व्यवस्था करनी पड़ती है कि शिष्य को लगे कि उसने ही चुना है। ये जटिलताएँ हैं।

गुरु को ऐसा इन्तजाम करना पड़ता है, कि जैसे शिष्य ने ही उसे चुना है। क्योंकि शिष्य के अहंकार को यह बात बरदाश्त के बाहर होगी कि गुरु ने उसे चुन लिया। वह भाग खड़ा होगा।

यह पता चलते ही कि गुरु ने उसे चुना है--वह भाग जाएगा। तो गुरु उसे इस ढंग से व्यवस्था देगा कि उसे लगे कि उसने ही गुरु को चुना है। और अगर कभी किसी दिन गुरु को उसे अलग भी करना होगा, तो गुरु ऐसी ही व्यवस्था देगा कि शिष्य समझेगा : मैंने ही गुरु को छोड़ दिया है।

गुरु का काम जटिल है--और गहन है--और गुह्य है। लेकिन हमेशा गुरु ही आपको चुनता है, क्योंकि उसके पास दृष्टि है। वह जानता है। वह आपके भीतर झाँक सकता है। वह आपका आगा-पीछा देख सकता है। आप क्या कर सकते हैं, क्या हो सकते हैं--इसकी उसके पास देखने की पूरी, क्षमता, निरीक्षण है।

शिष्य कैसे खोजेगा?

मेरे पास लोग आते हैं। पश्चिम में बहुत दौड़ है; और पश्चिम से युवक निकलते हैं--गुरु की तलाश में; सारी जमीन को खोज डालते हैं। कभी इस मुल्क में ऐसी दौड़ थी। वह खो गई। यह मुल्क बहुत दिन पहले अध्यात्म की दिशा में मर चुका है।

जब बुद्ध जिंदा थे, तब इस मुल्क में भी ऐसी दौड़ थी। लोग एक कोने से दूसरे कोने तक घूमते थे--गुरु की तलाश में, कि कोई चुम्बक मिल जाय, जो खींच ले। सारी दुनिया से हिन्दुस्थान उस समय भी लोग आते थे।

अब फिर पश्चिम में एक दौड़ शुरू हुई है। पश्चिम के युवक और युवतियाँ खोजते निकल रहे हैं कि गुरु कहाँ है।

मेरे पास बहुत लोग आते हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि तुम खोज न पाओगे गुरु को, लेकिन खोज मत बंद करो। खोज जारी रखो, ताकि तुम अवेलेबल, उपलब्ध रहो। घूमते रहो। कोई गुरु तुम्हें चुन लेगा। और तुम्हारी अगर इतनी तैयारी हुई कि तुम किसी गुरु से चुने जाने के लिए राजी हो गये और किसी गुरु की धारा में बहने को राजी हो गये--इतनी तुम्हारी तैयारी रही--तो तुम्हारे जीवन में रूपान्तरण आसान है।

अर्जुन के सामने कृष्ण सारे मार्ग रखे दे रहे हैं। यह सिर्फ मार्ग रखना ही नहीं है; मार्ग समझा रहे हैं और यहाँ ऊपर से, कृष्ण की चेतना अर्जुन में झाँक के भी देखती जा रही है : कौन-सा मार्ग उसे जमता है; कौन-से मार्ग में वह ज्यादा रस लेता है; कौन से मार्ग में ज्यादा सवाल उठाता है; कौन से मार्ग में उसके भीतर तरंगें उठने लगती हैं; कौन-से मार्ग में वह समाधिस्थ हो कर सुनने लगता है; कौन-से मार्ग में ऊब जाता है, जम्हाई लेता है; कौन-से मार्ग से उसका तालमेल बैठता है; कौन-से मार्ग से कोई तालमेल नहीं बैठता। यह सब वे देखते जा रहे हैं।

इन सारी चर्चा के साथ-साथ अर्जुन का निरीक्षण चल रहा है। एक अर्थ

में यह अर्जुन का मनोविश्लेषण है ।

फ्रायड ने इस सदी में मनोविश्लेषण की कला खोजी । यह थोड़ा खयाल में ले लेना जरूरी होगा ।

और जो लोग मनस-शास्त्र में उत्सुक हैं और जो लोग साधना के लिए जरा भी जिज्ञासा रखते हैं, उनके बहुत काम का होगा ।

फ्रायड ने एक मार्ग खोजा, वह मार्ग बिलकुल उलटा है । जैसा मार्ग गुरु हमेशा उपयोग करते रहे थे--उससे उलटा है । फ्रायड अपने मरीज को लिटा लेता है कोच पर , पीछे बैठ जाता है--परदे की ओट में, और मरीज से कहता है,'जो भी तुझे कहना हो, कह । तू बिलकुल फिक्र मत कर कि क्या कह रहा है । जो भी तेरे भीतर आता हो, उसको तू कहता जा--सहज । असोसिएशन से--जो भी तेरे भीतर आ जाय साहचर्य से--तू कहता जा ।'

मरीज कहना शुरू कर देता है । अनर्गल बातें भी कहता है । कभी सार्थक बातें भी कहता है । कभी अचानक कुछ भी आ जाता है असंगत, वह भी कहता है । पर उसको इस तरह का सहारा देता है फ्रायड कि तू कहता जा--जो भी तेरे भीतर हो; और फ्रायड परदे के पीछे बैठ के सुनता है । वह इस मनुष्य के मन में प्रवेश कर रहा है । इसके भीतर जो चलती रहती हैं बातें--जो विचार, जो शब्द--वह उनकी जांच कर रहा है । इन शब्दों के माध्यम से वह उसके भीतर खोज रहा है कि कितनी असंगति है, कितना उपद्रव है, कितनी विक्षिप्तता है । इन शब्दों के बीच-बीच में से कहीं-कहीं उसे संध मिल जाती है, जिससे कोई कुंजी मिल जाती है; जिससे पता चलता है ।

जैसे किसी को लिटाया और वह एकदम गंदी गालियाँ बकने लगा, अश्लील बातें बोलने लगा, तो खयाल में आता है कि उसके भीतर क्या चल रहा है । और ऐसे वह भला आदमी था । अच्छा आदमी था । चर्च जाता था । सभी तरह नैतिक था । और भीतर उसके यह चल रहा है । तो फ्रायड वर्षों मेहनत करता है एक मरीज के साथ, ताकि धीरे-धीरे, धीरे-धीरे यह कितना छिपाये, छिपा न पाये, और भीतर जो निकल रहा है कचरा-कूड़ा, उसमें से वह पकड़ ले कि इसकी आत्मा की तरफ स्वास्थ्य का क्या मार्ग होगा । लेकिन यह बड़ी लम्बी बात है । इसमें कभी तीन साल लग जाते हैं और कभी तीस साल भी लग जाते हैं, पूरा मनोविश्लेषण होते हुए । अगर इस तरह मनोविश्लेषण किया जाय, तो कितने लोगों का मनोविश्लेषण होगा ? और तीस साल के बाद भी फ्रायड यह नहीं कह सकता कि मनोविश्लेषण सच में ही पूरा हो गया । क्योंकि यह निकलता ही जाता है । यह कचरा अंतहीन है ।

यह आपकी खोपड़ी इतनी विस्तीर्ण है; इतनी छोटी नहीं है, जितनी दिखाई पड़ती है । इसमें लाखों शब्द भरे हुए हैं; लाखों तथ्य भरे हुए हैं । अगर इनको खोलते ही चले जायँ, तो वे खुलते ही चले जाते हैं । तो यह तो बहुत लम्बा हो गया मार्ग ।

और पश्चिम में भी मनोविज्ञानिक कहने लगे कि साइको-एनालिसिस से कुछ हल नहीं हो सकता । अगर एक पागल को ठीक करने में तीस साल लग जायँ या दस साल लगें, तो कितने पागल तुम ठीक कर पाओगे ? और यह पूरी जमीन पागल मालूम होती है । यहाँ कौन किसका मनोविश्लेषण करेगा !

और बड़े मजे की बात तो यह है कि मनोविश्लेषक भी अपना मनोविश्लेषण दूसरे से करवाता है । करवाना पड़ता है । क्योंकि फ्रायड की शर्त यह है कि जब तक तुम्हारा खुद का मनोविश्लेषण न हो गया हो, तब तक तुम दूसरे का कैसे करोगे ? तो पहले मनोविश्लेषक अपना मनोविश्लेषण करवाता है वर्षों तक । फिर वह दूसरों का करने लगता है । मगर कितने भी मनोविश्लेषक हों, तो भी क्या होगा इस जमीन पर ? भारत की परम्परा कुछ और थी । हमने भी तरकीब खोजी थी । इसमें शिष्य नहीं बोलता था, इसमें गुरु बोलता था । यह जरा फर्क समझ लेना । यह कृष्ण और अर्जुन की बात में खयाल आ जाएगा ।

यहाँ शिष्य नहीं बोलता था । और हम शिष्य को 'मरीज' नहीं कहते हैं । वह शब्द ठीक नहीं है; हालांकि सभी शिष्य मरीज हैं । लेकिन वह शब्द ही ठीक नहीं है । वह बेहूदा है । और अब पश्चिम में भी मनोविज्ञानिक कहने लगे कि 'मरीज' शब्द उपयोग करना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे हम दूसरे को मरीज कह कर मरीज बनाने में सहयोगी होते हैं । क्योंकि जो भी शब्द हम देते हैं, उसका परिणाम होता है ।

किसी आदमी से कहो कि तुम बड़े सुंदर हो; वह फौरन खिल जाता है । इतना सुंदर था नहीं कहने के पहले; कहते से ही खिल जाता है । किसी आदमी को कह दो कि 'तुम जैसी शक्ल ! पता नहीं परमात्मा क्या कर रहा था, उस वक्त तुम्हें बनाया । कहीं भूलचूक कर गया; क्या हो गया !' वह आदमी तत्क्षण कुम्हला जाता है । वह इतना कुरूप था नहीं, जितना कहते से हो जाता है ।

एक आदमी को मरीज कहना भी खतरनाक है, क्योंकि आप एक वक्तव्य दे रहे हैं, जो उसके भीतर चला जाएगा । वह मरीज न भी हो, तो भी मरीज हो जाएगा ।

हम मरीज नहीं कहते, हम तो शिष्य कहते हैं । हम तो कहते हैं : सीखनेवाला । और बीमार भी इसीलिए बीमार है कि उसके सीखने में कमी रह गई है । और कोई बीमारी नहीं है । उसका ज्ञान क्षीण है, कम है,; उसका अज्ञान ज्यादा है ।

शिष्य सुनता था, गुरु बोलता था ।

पश्चिम में अब गुरु सुन रहा है--जो चिकित्सक है--और शिष्य, जो कि मरीज है, वह बोल रहा है। शिष्य बोल रहा है, गुरु सुन रहा है!

गुरु बोलता था और बोलते समय वह शिष्य को जाँचता चला जाता था कि कहाँ कौन-सी बात में रस आता है। उससे आपके बाबत खबर मिलती थी।

● एक मित्र ने मुझे सवाल पूछा है कि 'यह जो यहाँ कीर्तन होता है, यह बहुत खतरनाक चीज है। और यह तो ऐसा मालूम पड़ता है कि कीर्तन करने वाले साधु, संन्यासी, संन्यासिनियाँ काम-वासना निकाल रहे हैं अपनी!' और उन्हीं मित्र ने आगे पूछा है कि 'यह भी मुझे पूछना है कि जब मैं लोगों को कीर्तन करते देखता हूँ, तो अगर स्त्रियाँ कीर्तन कर रही हैं, तो मेरा ध्यान उनके स्तन पर ही जाता है!'

अब कीर्तन करते समय जिसका ध्यान स्तन पर जा रहा हो, वह यह कह रहा है कि उसे लगता है कि सब संन्यासी अपनी काम-वासना निकाल रहे हैं! उसे यह खयाल नहीं आता कि उसे जो दिखाई पड़ रहा है, वह उसके संबंध में खबर है; किसी और के संबंध में खबर नहीं है। और वह खुद ही नीचे लिख रहा है--कि मुझे उनके स्तन पर ध्यान जाता है।

निश्चित ही इस व्यक्ति को माँ के स्तन से दूध पीने का पूरा मौका नहीं मिला होगा। इसको स्तन में अभी भी अटकाव रह गया है। इसको एक काम करना चाहिए : बच्चों के लिए जो दूध पीने की बोतल आती है, वह खरीद ले, उसमें दूध भरकर रात उसको चूसना चाहिए, दस-पंद्रह मिनट सोने के पहले। तीन महीने के भीतर उसको स्तन दिखाई पड़ने बंद हो जाएँगे।

स्तन दिखाई पड़ने का मतलब यह है कि बच्चे का जो रस था स्तन में, वह कायम रह गया है। स्तन पूरा नहीं पीया जा सका। इसलिए आदिवासियों में जायँ, जहाँ बच्चे पूरी तरह अपनी माँ का स्तन पीते हैं, वहाँ किसी की उत्सुकता स्तन में नहीं है। अगर आप आदिवासी स्त्री को, हाथ रख के उसके स्तन पर, पूछें कि यह क्या है, तो वह कहेगी कि दूध पिलाने का थन है। आप अपनी इस समाज की स्त्री के स्तन की तरफ आँख भी उठायें, तो यह भी बेचैन, आप भी बेचैन। आप भी आँख बचाते हैं, तब भी बेचैन; वह भी स्तन को छिपा रही है और बेचैन है। और छिपा के भी प्रगट करने की पूरी कोशिश कर रही है, उसमें भी बेचैन है। और सबकी नजर वहीं लगी हुई है।

चाहे फिल्में देखने जायँ, चाहे उपन्यास पढ़ें, चाहे कविता करें, चाहे कहानी लिखें, स्तन बिलकुल जरूरी है! अगर कभी कोई दूसरे ग्रह की सभ्यता के लोग इस जमीन पर आये, तो वे हमें कहेंगे कि ये लोग स्तनों से बीमार समाज हैं। क्योंकि मूर्ति बनाओ तो, चित्र बनाओ तो--स्तन पहली चीज है; स्त्री गौण है। मगर यह

बच्चों का दृष्टिकोण है।

असल में बच्चा जब पहली दफा माँ से संबंधित होता है, तो वह उसका पहला संबंध है। उसके पहले उसका कोई संबंध किसी से नहीं है। वह उसका पहला समाज में पदार्पण है। वह उसका पहला अनुभव है दूसरे का। वह पूरी माँ से संबंधित नहीं होता; सिर्फ उसके स्तन से संबंधित होता है। पहला अनुभव स्तन का है। और पहले वह स्तन को पहचानता है; माँ पीछे आती है। स्तन प्रमुख है, माँ गौण है। और अगर आपको बाद की उम्र में भी स्तन प्रमुख है, स्त्री गौण लगती है, तो आप बचकाने हैं और आपकी बुद्धि परिपक्व नहीं हो पायी। आपको फिर से स्तन नकली खरीद के बाजार से, पीना शुरू कर देना चाहिए। उससे राहत मिलेगी।

गुरु बोलता था, शिष्य सुनता था; लेकिन शिष्य के सुनने में भी गुरु देखता था कि उसका रस कहाँ है; उसकी आँख कहाँ चमकने लगती है, और कहाँ फीकी हो जाती है। कहाँ उसकी आँख की पुतली खुल जाती है और फैल जाती है, और कहाँ सिकुड़ जाती है। कहाँ उसकी रीढ़ सीधी हो जाती है, और कहाँ वह शिथिल हो के बैठ जाता है। वह देख रहा है। बाहर और भीतर उसकी चेतना में क्या हो रहा है, वह देखता है और इस माध्यम से वह भी चुन रहा है कि इस शिष्य के लिए क्या जरूरी होगा, क्या उपयोगी होगा।

इसलिए कृष्ण ने सारे मार्गों की बात कही है। उन सारे मार्गों पर अर्जुन को चलना नहीं है। अर्जुन को चलना तो होगा एक ही मार्ग पर। लेकिन इन सारे को चलने के पहले जान लेना जरूरी है।

एक और प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है कि रामकृष्ण परमहंस ने अनेक-अनेक मार्गों से चलकर एक ही मंजिल और एक ही सत्य की पुष्टि की। लेकिन एक साधना के सिद्ध होने के बाद भी उन्होंने वापस दूसरी साधना को अ, ब, स से कैसे शुरू किया होगा? क्या वे ज्ञान को उपलब्ध होकर फिर से अज्ञानी हो जाते थे और फिर नये मार्ग से शुरू करते थे?

थोड़ा समझने जैसा है।

परमज्ञान के बाद तो कोई वापस नहीं लौट सकता। कोई उपाय नहीं है; क्योंकि मंजिल और यात्री एक हो जाते हैं। जब मंजिल और यात्री एक हो जाते हों, तो फिर लौटेगा कौन और कैसे? लेकिन परमज्ञान के पहले ठीक मंजिल पर पहुँचने के पहले एक आखिरी कदम जब रह जाता है, उसे हम ज्ञान कहते हैं। परम ज्ञान कहते हैं—जब मंजिल और यात्री एक हो जाते हैं। नदी सागर में गिर गई; अब नहीं लौट सकेगी। लेकिन नदी किनारे तक पहुँची है और ठहरी है। सागर में गिर सकती

है, लौट भी सकती है। ज्ञान का क्षण है, जब साधक सिद्ध होने के द्वार पर पहुँच जाता है। वहाँ से सब कुछ दिखाई पड़ता है--सागर का पूरा विस्तार। लेकिन अभी भी फासला कायम है। साधक अभी भी सिद्ध नहीं हो गया है। सिद्ध होने के करीब आ गया है; बिलकुल करीब आ गया है। सिद्ध होने के बराबर हो गया है। एक क्षण--और लीन हो जाएगा। लेकिन अभी चाहे तो लौट सकता है। जब तक दो का अनुभव होता है, तब तक लौटना हो सकता है। जब तक मैं देखता हूँ कि यह रहा परमात्मा और यह रहा मैं, तब तक मैं लौट सकता हूँ। जब तक मैं देखता हूँ : यह रहा मैं, और यह रहा आनन्द; मैं जानता हूँ आनंद को--जब तक ऐसा लगता है, लौट सकता हूँ। द्वैत कायम है, अभी वापसी हो सकती है।

लेकिन जब मुझे पता ही नहीं चलता कि कौन परमात्मा और कौन मैं---दोनों एक हो गये, तब लौटना नहीं हो सकता।

रामकृष्ण परमहंस ज्ञान की स्थिति से लौटे। सागर के ठीक किनारे पहुँच गई नदी, तब उन्होंने कहा कि अब मैं जरा दूसरी नदी के रास्ते पर भी चलकर देखूं कि वह नदी भी सागर तक पहुँचती है या नहीं; मैं तीसरी नदी के रास्ते पर भी चलकर देखूं कि वह सागर तक पहुँचती है या नहीं। इस तरह उन्होंने अनेक मार्गों की साधना की। जब अनेक मार्गों से चलकर उन्होंने देख लिया कि सभी नदियाँ सागर पहुँच जाती हैं--जो पूर्व की तरफ बहती है, वह भी सागर पहुँच जाती है; जो पश्चिम की तरफ बहती है, वह भी सागर पहुँच जाती है; उत्तर की तरफ बहती है, वह भी सागर पहुँच जाती है; जो दक्षिण की तरफ बहती है, वह भी सागर पहुँच जाती है। जिसका रास्ता बिलकुल सीधा है, वह भी सागर पहुँच जाती है और जो बहुत इरछी-तिरछी बहती है, वह भी सागर में पहुँच जाती है। जो बड़ी शांत है, गंभीर है, वह भी सागर पहुँच जाती है; और जो बिलकुल तूफानी है और विक्षिप्त है, वह भी सागर पहुँच जाती है।

जब रामकृष्ण ने यह सब देख लिया, तब वे सागर में गिर गये। उसके बाद नहीं लौटा जा सकता। यह परमज्ञान है।

बुद्ध ने भी दो शब्दों का उपयोग किया है : निर्वाण और परम निर्वाण। निर्वाण का अर्थ है : आखिरी क्षण, जहाँ से आदमी चाहे, तो वापस लौट सकता है। और जहाँ से चाहे, तो गिर सकता है। उस अवस्था में जहाँ से वापसी संभव नहीं है, उसको निर्वाण कहा है और जो गिर गया, उसको परमनिर्वाण कहा है। तो रामकृष्ण लौट निर्वाण की दशा से, ज्ञान की दशा से। परमज्ञान की दशा से कोई भी नहीं लौट सकता है।

अब हम सूत्र को लें।

'परंतु प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब

पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है। वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी पर ही है, केवल साक्षी होने से उपद्रष्टा और सम्मति देने वाला होने से अनुमंता एवं सबको धारण करनेवाला होने से भर्ता, जीव रूप से भोक्ता तथा ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानंदघन होने से परमात्मा--ऐसा कहा गया है।'

'परंतु प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए सब पदार्थों को भोगता है....।' वह जो भीतर चैतन्य है, वह जो पुरुष है, उसके बाहर चारों तरफ जो प्रकृति का त्रिगुण विस्तार है, यह पुरुष ही सभी स्थितिओं में प्रकृति से संबंधित होता है। प्रकृति किसी भी स्थिति में पुरुष से संबंधित नहीं होती। पहली तो बात यह खयाल में ले लें।

आप अपने मकान में हैं। आप कहते हैं : मेरा मकान। मकान कभी नहीं कहता कि आप मेरे हैं। और आप कल चले जाएँगे, तो मकान रोयेगा नहीं। मकान गिर जाएगा, तो आप रोयेंगे। बहुत मजे की बात है। मकान धेला भर भी आपकी चिंता नहीं करता; आप बड़ी चिंता करते हैं।

आपकी कार बिगड़ जाय, तो आँसू निकल आते हैं। जिस जमीन पर आप खून-खराबा कर सकते हैं, जान दे सकते हैं, वह जमीन आपकी रत्ती भर भी चिंता नहीं करती। बहुत पहले आप जैसे पागल और भी उस पर जान दे चुके हैं। जिस जमीन को आप अपना कहते हैं, आप नहीं थे, तब भी वह थी। कोई और उसको अपना कह रहा था। न मालूम कितने लोग दावा कर चुके। और दावेदार समाप्त हो जाते हैं और जिस पर दावा किया जाता है, वह बना रहता है।

प्रकृति आपसे कोई संबंध स्थापित नहीं करती। आप ही प्रकृति से संबंध स्थापित करते हैं। आप ही संबंध बनाते हैं, आप ही तोड़ते हैं। संबंध बना के आप ही सुख पाते हैं, आप ही दुःख पाते हैं। यह निपट आप पर ही निर्भर है। कुछ भी प्रकृति की उत्सुकता नहीं है कि आपको दुःख दे कि सुख दे। आप अपना सुख दुःख अपने हाथ से निर्मित करते हैं। और इसलिए एक मजे की घटना घटती है।

जिस चीज से आपको सुख मिलता है, आपकी दृष्टि बदल जाय तो उसी से दुःख मिलने लगता है। चीज वही है। जिस चीज से आपको दुःख मिलता है, दृष्टि बदल जाय, तो उसी से सुख मिलने लगता है। चीज वही है। पर आपकी दृष्टि बदली कि सारा अर्थ बदल जाता है। आपका खयाल बदला कि सारा संसार बदल जाता है।

आप वस्तुओं के संसार में नहीं रहते, आप भावों और विचारों के संसार में रहते हैं। वस्तुएँ तो बहुत दूर हैं, उनसे आपका कोई संबंध नहीं है। आप अपने भावों को फैला के सेतु बनाते हैं, वस्तुओं से संबंधित हो जाते हैं।

किसी को पत्नी कहते हैं, किसी को पति कहते हैं, किसी को मित्र कहते हैं। वह सब संबंध है, जो आपने निर्मित कर लिए हैं। वैसे संबंध कहीं है नहीं; सिर्फ भावों में है।

कृष्ण कह रहे हैं कि यह जो प्रकृति है चारों तरफ, उससे उत्पन्न हुए ये सारे पदार्थ हैं, इनको आप भोगते हैं अपने ही भाव से। और इन भावों के कारण ही अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेते हैं।

आप जैसा भाव करते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। भाव जन्मदाता है। आप जैसा भाव करते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। आप जो माँगते हैं, बड़े दुःख की बात यही है कि वही मिल जाता है। जो कुछ भी आप हैं, वह आपकी ही वासनाओं का परिणाम है।

थोड़ा खयाल करें : कितनी वासनाएँ आप करते हैं! और जिन वासनाओं को आप करते हैं, धीरे-धीरे-धीरे उन वासनाओं को पूरा करने के योग्य आप हो जाते हैं। वैज्ञानिक भी कहते हैं...। डार्विन ने प्रस्तावित किया है कि मनुष्य के पास जो-जो इंद्रियाँ हैं, वे इंद्रियाँ भी मनुष्य की वासनाओं से ही जन्मी हैं। आपके पास आँख है, इसलिए आप देखते हैं, यह बात ठीक नहीं है। आप देखना चाहते थे, इसलिए आँख पैदा हुई। जिराफ है, उसकी लम्बी गर्दन है। तो डार्विन कहता है कि जिराफ की इतनी लम्बी गर्दन क्यों है? ऊँट की इतनी लम्बी गर्दन क्यों है? हम तो ऊपर से यही देखते हैं कि ऊँट की इतनी लम्बी गर्दन है, तो इसलिए झाड़ पर कितने ही ऊँचे पत्ते हों, उनको तोड़कर खा लेता है। लेकिन विकासवादी कहते हैं कि झाड़ के ऊँचे पत्ते पाने के लिए ही जो वासना है उसकी, वही उसकी गर्दन को लम्बा कर देती है; नहीं तो उसकी गर्दन लम्बी न हो पायेगी।

जंगल में बड़ा संघर्ष है, क्योंकि नीचे के पत्ते तो कोई भी जानवर खा जाते। जिसकी गर्दन जितनी ऊँची होगी, वह उतनी देर तक सर्वाइव कर सकता है; उसका बचाव उतनी देर तक हो सकता है। तो डार्विन और उनके अनुयायी कहते है कि ऊँट है, जिराफ है, यह सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट--वह जो बचाव करने में सक्षम है अपने को, वह वही इंद्रियाँ पैदा कर लेता है, जिनकी उसकी वासना है। लम्बी गर्दन के कारण ऊँट बड़े वृक्षों के पत्ते नहीं खाता है; बड़े वृक्षों के पत्ते खाना चाहता है, इसलिए उसके पास लम्बी गर्दन है।

आप जो देखते हैं, वह आँख के कारण नहीं देखते हैं; देखने की वासना है भीतर इसलिए आँख है। और इसकी बड़ी अदभुत कभी-कभी घटनाएँ घटती हैं।

रूस में एक महिला अंधी हो गई। उसे देखने का रस तो लग गया था। देखा था उसने बहुत दिनों तक, फिर अंधी हो गई थी। और देखने की वासना उसमें प्रगाढ थी। और देखना है, क्योंकि देखे बिना जिंदगी एकदम बे-रौनक हो गई।

आप सोच नहीं सकते कि जिसके पास आँख रही हो और आँख चली जाय तो उसकी जिंदगी एकदम अस्सी प्रतिशत समाप्त हो गई, क्योंकि सब रंग खो गये; जिंदगी से सारी रंगीनी खो गई; सब चेहरे खो गये; सब रूप खो गये। ध्वनियों का उबानेवाला मोनोटोनस जगत् रह गया, जहाँ कोई रंग नहीं है, जहाँ कोई रूप नहीं है।

तो देखने की प्रगाढ आकांक्षा उसमें पैदा हुई। और उसने हाथ से चीजों को टटोलना शुरू किया और धीरे-धीरे उनकी अंगेलियाँ आँखों जैसा काम करने लगीं। अब तो उस पर बड़े वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं। वह आपके चेहरे के पास अंगुलियों को ला कर बिना छुए हाथ घुमा कर कह सकती है कि चेहरा सुंदर है या कुरूप है-- बिना छुए!

वैज्ञानिक कहते हैं कि उसके हाथ आपके चेहरे से निकलती किरणों के स्पर्श को अनुभव करने लगे। और सच तो बात यही है कि आँख भी चमड़ी ही है। आँख की चमड़ी ने एक स्पेशियालिटि, एक विशेष गुण पैदा कर लिया है देखने का। तो कोई वजह नहीं है कि हाथ की चमड़ी वैसा गुण क्यों पैदा न कर ले।

कुछ पशु हैं, जो पूरे शरीर से सुनते हैं। उनके पास कोई कान नहीं है। पूरा शरीर ही कान का काम करता है। आप रात को चमगादड़ देखते हैं। चमगादड़ कभी दिन में भी घर में घुस जाता है। उसे दिन में दिखाई नहीं पड़ता। उसकी आँखें खुल नहीं सकतीं। लेकिन आपने कभी खयाल किया हो, न किया हो; ठीक चमगादड़ दीवाल के बिलकुल किनारे आ कर चार-छः अंगुल की दूरी से लौट जाता है।--टकराता नहीं। टकराने को होता है और लौट जाता है। और आँख उसकी देखती नहीं। तो वैज्ञानिक उस पर बहुत काम करते हैं। तो उसका पूरा शरीर दीवाल की मौजूदगी को छः इंच की दूरी से अनुभव करता है। इसलिए वह करीब आ जाता है, टकराने के, लेकिन टकराता नहीं है। हाँ, आप उसे घबड़ा दें, परेशान करे दें, तो वह टकरा जाएगा। लेकिन अपने आप वह टकराता नहीं। बिलकुल पास आ कर हट जाता है। राडार है उसके पास, जो छः इंच की दूरी से उसे स्पर्श का बोध दे देता है। दिन में उसके पास आँख नहीं है, लेकिन बचाव की सुविधा तो जरूरी है। उसका पूरा शरीर अनुभव करने लगा है। उसका पूरा शरीर संवेदनाशील हो गया है।

हमारे भीतर वह जो छिपा हुआ पुरुष है, वह जो भी चाहता है, उसके योग्य इंद्रिय पैदा हो जाती है। इंद्रियाँ चाह की छाया हैं। यह जरा कठिन होगा।

अकसर हम कहते हैं कि इंद्रियों के कारण वासना है। गलत है बात। वासनाओं के कारण इंद्रियाँ हैं। इसीलिए तो ज्ञानी कहते हैं कि जब वासनाएँ समाप्त हो जाएँगी,

तो तुम जन्म न ले सकोगे। जन्म न ले सकने का मतलब यह है कि तुम इंद्रियों और शरीर को ग्रहण न कर सकोगे। क्योंकि इंद्रियों और शरीर मूल नहीं है; मूल वासना है।

तुम जिस घर में पैदा हुए, वह भी तुम्हारी वासना है। तुम जिस योनि में पैदा हुए, वह भी तुम्हारी वासना है।

इधर मैं एक बहुत अनूठे अनुभव पर आया। कुछ लोगों के पिछले जन्मों के संबंध में मैं काम करता रहा हूँ, क्योंकि उनके पिछले जीवन की स्मृतियों में उन्हें उतारने का प्रयोग करता रहा हूँ। एक चकित करनेवाला अनुभव हुआ; वह अनुभव यह हुआ कि पुरुष तो अकसर पिछले जन्मों भी पुरुष होते हैं, लेकिन असकर स्त्रियाँ जन्म में योनि बदलती हैं। अगर जैसे कोई पिछले जन्म में स्त्री थी, तो इस जन्म में पुरुष हो जाती है। शायद स्त्रियों के मन में गहरी वासना पुरुष होने की होगी। स्त्रियों की परतंत्रता, शोषण के कारण स्त्रियों के मन में वासना होती है कि पुरुष होतीं तो अच्छा था--प्रगाढ...। और जीवन भर का अनुभव उनको कहता है कि पुरुष होतीं तो अच्छा था। लेकिन पश्चिम में स्त्रियों की स्वतंत्रता बढ़ रही है। पचास सौ वर्ष के बाद यह बात मिट जाएगी। स्त्रियाँ स्त्री योनि में ही जन्म ले सकेंगी; पुरुष होने की वासना क्षीण हो जाएगी।

अकसर ऐसा होता है कि जो ब्राह्मण घर में है, वह दूसरे जन्म में भी ब्राह्मण घर में है; उसके पीछे भी ब्राह्मण घर में है, क्योंकि ब्राह्मण घर का बेटा एक दफा ब्राह्मण घर का अहंकार और गर्व अनुभव किया हो, तो किसी और घर में पैदा नहीं होना चाहेगा। वह उसकी वासना नहीं है। लेकिन शूद्र अकसर बदल लेंगे। एक जन्म में शूद्र है, तो दूसरे जन्म में वह दूसरे वर्ण में प्रवेश कर जाएगा। उसकी गहरी वासना उस शूद्र के वर्ण से हट जाने की है। वह भारी है, कष्टपूर्ण है, वह बोझ है; उसमें होना सुखद नहीं है।

तो हम जो वासना करते हैं, उस तरफ हम सरकने लगते हैं। हमारी वासना हमारे आगे-आगे चलती है और हमारे जीवन को पीछे-पीछे खींचती है।

कृष्ण कहते हैं; यह जो प्रकृति से फैला हुआ संसार है, हमारे भीतर छिपा हुआ पुरुष ही इसे भोगता है और गुणों का संग ही इसकी अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है। और फिर जिन चीजों से यह रस का सबंध बना लेता है, संग बना लेता है, जिनसे यह रस से जुड़ जाता है, उन्हीं योनियों में प्रवेश करने लगता है।

अगर कोई इस तरह की वासनाएँ करता है कि कुत्ता हो कर उनको ज्यादा अच्छी तरह से पूरी कर सकेगा, तो प्रकृति उसके लिए कुत्ते का शरीर दे देगी।

प्रकृति सिर्फ खुला निमंत्रण है। कोई आग्रह नहीं है प्रकृति का। आप जो होना चाहते हैं, वह हो जाते हैं। आप अपने गर्भ को चुनते हैं--जाने या अनजाने। आप अपनी योनि भी चुनते हैं--जाने या अनजाने।

आप जो माँगते हैं, वह घटित हो जाता है। जैसे पानी नीचे बहता है और गड्ढे में भर जाता है, ऐसे ही आप भी बहते हैं और अपनी योनि में भर जाते हैं। आपकी जो वासनाएँ हैं, वे आपको ले जाती हैं--एक विशेष दिशा की तरफ।

अच्छी और बुरी योनियों में जन्म हमारी ही आकांक्षाओं का फल है। लेकिन हमारी तकलीफ यह है कि हम भूल ही जाते हैं कि हमारी आकांक्षाएँ क्या हैं। हम भूल ही जाते हैं कि हमने क्या माँगा था। जब तक हमें उपलब्धि होती है, तब तक हम अपनी माँग ही भूल जाते हैं। अगर हम अपनी माँग याद रख सकें तो हमें पता चल जाएगा कि फासला चाहे कितना ही हो, माँग और प्राप्ति का है; जो हमने माँगा था, वह हमें मिल गया है।

इधर मैं देखता हूँ : लोग अपनी ही माँगों से दुःखी हैं।

एक युवती मेरे पास आयी और उसने मुझे कहा कि 'मुझे ऐसा पति चाहिए जो सुदर हो, स्वस्थ हो, शक्तिशाली हो, किसी से दबे नहीं--दबंग हो।' ठीक है, खोजकर मिल जाएगा। पर उसने कहा कि 'एक बात और है। वह सदा मेरी बात माने।' मैंने उसको कहा कि 'तू दोनों में एक तय कर ले। जो दबंग होगा वह तुझसे नहीं दबेगा। और अगर तू उसको दबाना चाहती है, तो जो तुझसे दबेगा, वह किसी से भी दबेगा। तो तू पक्का कर ले; दो में से एक चुन ले; क्योंकि दबंग तो उपद्रव रहेगा तेरे लिए भी। तू भी उसे दबा नहीं पायेगी। और अगर तेरी वासना ही है कि तू इसे दबा पाये, तो फिर वह दबंग नहीं रहेगा। वह तेरे पीछे डर के चलेगा। जो तुझसे डरेगा, वह फिर किसी से भी डरेगा। तो दो में से तू तय कर ले।'

कुछ दिन बाद आकर उसने मुझसे कहा कि 'तो ठीक; वह मुझसे दबना चाहिए, चाहे फिर कुछ और भी हो।'

अब इसको पता नहीं है इस वासना का। यह पूरी हो जाएगी। क्योंकि जो यह वासना करेगी, उसको पूरा कर लेगी। खोज लेगी अपने योग्य। सब मिल जाता है। अयोग्य तो मिलता ही नहीं, बस, अपने योग्य ही मिलता है। चाहें आप पहचान पायें या न पहचान पायें।

जब इससे दबनेवाला व्यक्ति उसको मिल जाएगा, तो उससे इसे तृप्ति नहीं होगी। किसी स्त्री को दबनेवाले व्यक्ति से तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दबनेवाला व्यक्ति स्त्रैण हो जाता है। स्त्री तो उसी पुरुष से प्रसन्न हो सकती है, जो दबाता हो। क्योंकि जो दबाता हो, उसी के प्रति समर्पण हो सकता है।

स्त्री चाहती है : कोई दबाये। हालाँकि दबाने का ढंग बहुत संस्कारित होना चाहिए। कोई सिर पर लट्ठ मारे--ऐसा नहीं। लेकिन व्यक्तित्व ऐसा हो कि दबा दे, अभिभूत कर दे--और स्त्री समर्पित हो जाय।

स्त्री सिर्फ उसी में रस ले पाती है, जो उसे दबा दे--बिना दबाये; दबाने का कोई आयोजन न करे; उसका होना, उसका व्यक्तित्व ही दबा दे और स्त्री समर्पित हो जाय; उससे तो तृप्ति मिल सकती है।

लेकिन अब यह स्त्री कहती है कि वह मुझसे दबे, तो यह स्त्री को खोज रही है; पुरुष को नहीं खोज रही है। वह उसे मिल जाएगा, क्योंकि बहुत पुरुष स्त्रियों जैसे हैं। वे उसे मिल जाएँगे, और उनसे यह परेशान होगी। और परेशान हो कर वह भाग्य को और भगवान् को--न मालूम किस-किस को दोष देगी। और कभी फिक्र न करेगी कि जो इसने माँगा था, वह इसे मिल गया था।

आप थोड़े अपने दुःखों की छानबीन करना। जो आपने माँगा था, वह आपको मिल गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा दुःख इसलिए है कि जो हमने माँगा था, वह नहीं मिला। वे गलत कहते हैं। उनको ठीक पता नहीं है कि उन्होंने क्या माँगा था। असलियत में जो आप माँगते हैं, वह मिल जाता है। माँग पूरी हो जाती है, और तब आप दुःख पाते हैं। दुःख पा कर आप समझते हैं कि माँग मेरी पूरी न हुई, इसलिए दुःख पा रहा हूँ। नहीं; आप थोड़ा समझना, खोजना; आप फौरन पा जाएँगे कि मेरी माँगें पूरी हो गई, इसलिए मैं दुःख पा रहा हूँ।

हमें पता नहीं है कि हम क्या माँगते हैं; हमारी क्या वासना है; क्या परिणाम होगा। हम कभी हिसाब भी नहीं रखते। अंधे की तरह चले जाते हैं। लेकिन समस्त धर्मों का सार है कि आप जिन वासनाओं से भोगते हैं, भरते हैं, उन योनियों में उन व्यक्तित्व में, उन ढाँचों में, उन जीवन में आपका प्रवेश हो जाता है।

'वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी पर ही है।' इस पुरुष की बहुत-सी स्थितियाँ हैं, क्योंकि पुरुष तो शरीर से भिन्न है, लेकिन जब भिन्न समझता है, तभी भिन्न है। और चाहे तो समझ ले कि मैं शरीर हूँ, तो भ्रांति में पड़ जाएगा।

'पुरुष शरीर में रहते हुए भी भिन्न है।' यह उसका स्वभाव है। लेकिन इस स्वभाव में एक क्षमता है--तादात्म्य की। यह अगर समझ ले कि मैं शरीर हूँ, तो शरीर ही हो जाएगा। आप अगर समझ लें कि आपके हाथ की लकड़ी आप हैं, तो आप लकड़ी ही हो जाएँगे। आप जो भी मान लें, वह घटित हो जाता है। मानना सत्य बन जाता है। पुरुष की यह भीतरी क्षमता है। वह जो मान लेता है, वह सत्य हो जाता है।

'वास्तव में तो यह पुरुष इस देह में स्थित हुआ 'पर' ही है। लेकिन साक्षी होने से उपद्रष्टा...। फिर इसकी अलग-अलग स्थितियाँ हैं। अगर यह साक्षी हो कर देखे अपने को भीतर, तो यह उपद्रष्टा या द्रष्टा हो जाता है।

'यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमंता हो जाता है।' अगर इसकी आप सम्मति माँगें, तो यह आपके लिए अनुमंता हो जाएगा। लेकिन आप इससे कभी सम्मति भी नहीं माँगते। कभी आप शांत और मौन हो कर अपने भीतर के पुरुष का सुझाव भी नहीं माँगते। आप वासनाओं का सुझाव मान के ही चलते हैं। इंद्रियों का सुझाव मान के चलते हैं। या परिस्थित में कोई भी घड़ी उपस्थित हो जाय, तो उसकी प्रतिक्रिया से चलते हैं।

एक आदमी गाली दे दे, तो वह आपको चला देता है। फिर आप उसकी गाली के आधार पर कुछ करने में लग जाते है। बिना इसकी फिक्र किये--कि यह आदमी कौन है, जो मुझे गुलाम बना रहा है। मैं इसकी गाली को मान के क्यों चलूँ? यह तो मुझे चला रहा है!

आप यह मत सोचना कि आप गाली न दें, तो बात खतम हो गई। तो आप भीतर उसकी गाली पर कुछ सोचेंगे। शायद यह सोचेंगे कि 'क्षमा कर दो। नासमझ है।' लेकिन यह भी आप चल पड़े। वही चला रहा है आपको। आप सोचें कि 'यह नासमझ है, पागल है। शराब पीये हुए है। इसलिए क्यों गाली का जवाब देना', तो भी उसने आपको चला दिया। आप मालिक न रहे; यह बटन दबाने वाला हो गया। इसने गाली दी और आपके भीतर कुछ चलने लगा। आप गुलाम हो गये।

अगर आप कर क्षणभर साक्षी हो जायँ और भीतर की सलाह लें--परिस्थिति की सलाह न लें, प्रतिक्रिया न करें, इंद्रियों की मानकर न पागल बनें, भीतर के साक्षी की सलाह लें, तो वह साक्षी अनुमंता हो जाता है।

'सबको धारण करने वाला होने से भर्ता, जीव रूप से भोक्ता ब्रम्हादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानंदघन होने से परमात्मा--ऐसा कहा गया है।'

यह जो भीतर पुरुष है, यह बहुत रूपों में प्रगट होता है। अगर आप इस पुरुष को शरीर के साथ जोड़ लें, तो लगने लगता है : मैं शरीर हूँ। तो आप संसार हो जाते हैं। इसको आप शरीर से तोड़ लें--ध्यान से--और साक्षी हो जायँ, तो आप समाधि बन जाते है। इसकी आप सलाह माँगने लगें, तो आप स्वयँ गुरु हो जाते हैं। इसके और भीतर प्रवेश करें कि यह समस्त सृष्टि का स्रष्टा है, तो आप परमात्मा हो जाते हैं। और इसके अंतिम गहनतम बिन्दु पर आप प्रवेश कर जायँ, जिसके आगे कुछ भी नहीं है, तो आप सच्चिदानंदघन-परमब्रह्म हो जाते हैं।

यह पुरुष ही आपका सब कुछ है। आपका दुःख, आपका सुख; आपकी अशांति आपका संसार; आपका स्वर्ग, आपका नरक; आपका ब्रह्म, आपका मोक्ष, आपका निर्वाण--यह पुरुष ही सब कुछ है।

ध्यान रहे, घटनाएँ बाहर हैं और भावनाएँ भीतर हैं। भावना का जो अंतिम स्रोत है, वह है परमब्रह्म--सच्चिदानंदघन रूप। वह भी आप हैं।

इसलिए इस मुल्क ने जरा भी कठिनाई अनुभव नहीं की यह कहने में कि प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर है। आपको पता नहीं है, यह बात दूसरी है। लेकिन परमेश्वर आपके भीतर मौजूद है। और आपको पता नहीं है, इसमें भी आपकी ही तरकीब और कुशलता है। आप पता लगाना चाहें, तो अभी पता लगा लें। शायद आप पता लगाना ही नहीं चाहते हैं।

मुझसे सवाल लोग पूछते हैं। आज ही कुछ सवाल पूछे हैं कि अगर हम ध्यान में गहरे चले गये, तो हमारी गृहस्थी और संसार का क्या होगा? शायद इसीलिए ध्यान में जाने में डर है कि गृहस्थी और संसार का क्या होगा। फिर भी पूछते हैं। पूछा है उन्होंने कि फिर भी ध्यान का कोई रास्ता बताइये? क्या करियेगा ध्यान का रास्ता जानकर? डर लगा हुआ है; क्योंकि हम जो वासनाओं का खेल बनाये हुए हैं, उसके टूट जाने का डर है। तो ध्यान को भूले रहना ठीक है।

शायद हम ध्यान में जाना नहीं चाहते, इसीलिए हम ध्यान में नहीं गये हैं। और जिस दिन हम जाना चाहें, दुनिया की कोई ताकत हमें रोक नहीं सकती।

लोग मुझसे आकर कहते हैं कि हम बड़ी कोशिश करते हैं, ध्यान में जा नहीं पाते? उनसे मैं कहता हूँ: तुम कोशिश वगैरह नहीं करते हो; तुम जाना नहीं चाहते हो। तुम्हारा रस ध्यान में नहीं है। तुम्हारा रस कहीं और होगा। तुम मुझे बताओ, क्या चाहते हो ध्यान से।

एक आदमी ने कहा कि मैं लॉटरी का नम्बर चाहता हूँ। आपके पास इसीलिए आया हूँ कि ध्यान-ध्यान-ध्यान सुनते-सुनते मुझे लगा कि ध्यान करके एक दफा सिर्फ नम्बर मिल जाय, तो बात खतम हो गई।

यह ध्यान से लॉटरी का नम्बर चाहता है! पहले उसने मुझे यह भी नहीं बताया। सोचा कि पता नहीं, मैं उसे ध्यान समझाऊँ--कि न समझाऊँ! लॉटरी में मेरी उत्सुकता हो या न हो। तो उसने कहा कि 'ध्यान की बड़ी इच्छा है। बड़ी अशांति रहती है। अशांति है--लॉटरी न मिलने की; ध्यान की नहीं है। मगर वह कह भी नहीं रहा है। वह भीतर सोच रहा है कि ध्यान लग जाय; चित्त शांत हो जाय; नम्बर दिखाई पड़ जाय; बात खतम हो गई।

आप ध्यान से भी कुछ और चाहते हैं। और जब तक कोई ध्यान को ही नहीं चाहता ध्यान के लिए, तब तक ध्यान नहीं हो सकता।

आप परमात्मा से भी कुछ और चाहते हैं। वह भी साधन है--साध्य नहीं है। सोचें: अगर आपको परमात्मा मिल जाय; यहाँ से आप घर पहुँचें और पायें कि परमात्मा बैठा हुआ है आपके बैठक-खाने में। आप क्या माँगिएगा उससे? जरा सोचें। फौरन मन फेहरिस्त बनाने लगेगा। नम्बर एक, नम्बर दो...। और जो चीजें आप माँगेंगे, सभी क्षुद्र होंगी। परमात्मा से माँगने योग्य एक भी न होंगी।

तो परमात्मा भी मिल जाय, तो आप संसार ही माँगेंगे। आप संसार माँगते हैं, इसलिए परमात्मा नहीं मिलता है।

आप जो माँगते हैं, वह मिलता है। और अभी आप संसार से इतने दुःखी नहीं हो गये हैं कि परमात्मा को सीधा माँगने लगें। इसलिए रुकावट है। अन्यथा वह आपके भीतर छिपा है। रत्ती भर का भी फासला नहीं है। आप ही वह हैं।

'इस प्रकार पुरुष को और उसके गुणों को, गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है।'

यह सूत्र खयाल में ले लेने जैसा है: 'इस प्रकार पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है।'

जिस व्यक्ति को यह खयाल में आ जाता है कि प्रकृति अलग है और मैं अलग हूँ, और जो इस अलगपन को सदा ही बिना किसी चेष्टा के स्मरण रख पाता है, फिर वह सब तरह से बर्तता हुआ भी...। वह वेश्यागृह में भी ठहर जाय, तो भी उसके भीतर की पवित्रता नष्ट नहीं होती। और आप मंदिर में भी बैठ जायें, तो सिर्फ आप मंदिर को अपवित्र करके घर वापस लौट आते हैं।

आप कहाँ हैं--इससे संबंध नहीं है। आप क्या हैं--इससे संबंध है।

अगर यह खयाल में आ जाय कि मैं अलग हूँ, पृथक हूँ, तो फिर जीवन नाटक से ज्यादा नहीं है। फिर उस नाटक में कोई बंधन नहीं है, फिर उस नाटक में कोई वासना नहीं है; फिर खेल है; और अभिनय है। और जो अभिनय की तरह देख पाता है--कृष्ण कहते हैं--वह फिर नहीं जन्मता, क्योंकि कोई वासना उसकी नहीं है। फिर सिर्फ जैसे एक काम पूरा कर रहा है। जैसे काम पूरा करने में कोई रस नहीं है। जैसे एक जिम्मेवारी है, वह निभायी जा रही है। ऐसे जैसे कि एक आदमी रामलीला में राम बन गया। जब उसकी सीता खो जाती है, तब वह भी रोता है, और वह भी वृक्षों से पूछता है कि हे वृक्ष, बताओ कि मेरी सीता कहाँ है। लेकिन उसके आँसू अभिनय हैं। उसके भीतर कुछ भी नहीं हो रहा है। न सीता खो गई,

न वृक्षों से वह पूछ रहा है, न उसे कुछ प्रयोजन है । वह अभिनय कर रहा है। वह वृक्षों से पूछेगा; आँसू बहायेगा। जार-जार रोयेगा। सीता को खोजेगा। और परदे के पीछे जाकर बैठकर चाय पीयेगा । उसको कोई लेना-देना नहीं है। गपशप करेगा। बात ही खतम हो गई । उसको कुछ लेना-देना नहीं है ।

अगर असली राम भी परदे के पीछे ऐसे ही हट कर चाय पी लेते हों, तो वे परमात्मा हो गये । अगर आप भी अपनी जिंदगी के सारे उपद्रव को एक नाटक की तरह जी लेते हों, और परदे के पीछे हटने की कला जानते हों...जिसको मैं कहता हूँ : ध्यान, प्रार्थना, पूजा--वह परदे के पीछे हटने कला है । दुकान से आप घर लौट आये । परदे के पीछे हट गये । ध्यान में चले गये : ध्यान में जाने का मतलब है कि आपने कहा कि ठीक, वह नाटक बंद ।

अगर आप सच में ही भीतर के पुरुष को याद रख सकें, तो नाटक बंद कर सकेंगे। अभी आप नहीं कर सकते। आप कितने ही परदे लटकाएँ, दरवाजा बंद करें; दुकान आपके साथ चली आयेगी । वह नाटक नहीं है । उसको आप बहुत जोर से पकड़े हुए है ।

तो आप बैठ के राम-राम कर रहे हैं और भीतर नोट गिन रहे हैं। इधर राम-राम कर रहे हैं, वहाँ भीतर कुछ और चला रहे हैं। वहाँ कोई हिसाब लगा रहे हैं कि वह नम्बर दो के खाते में लिखना भूल गये। या कल कैसे इन्कमटेक्स वालों को धोखा देना है। यह सब भीतर चल रहा है। यहाँ राम-राम चल रहा है ।

आप ध्यान रखिये कि राम-राम झूठा है--जो ऊपर चल रहा है । असली भीतर चल रहा है। इससे आपका काफी तादात्म्य है। आप दुकानदार ही हो गये हैं। आपके पास कोई भीतर पृथक नहीं बचा है, जो दुकानदार न हो ।

जैसे ही कोई व्यक्ति प्रकृति और पुरुष के फासले को थोड़ा-सा स्मरण करने करने लगता है--कि यह मैं नहीं हूँ ...। इतना ही स्मरण कि यह मैं नहीं हूँ । दुकान पर बैठे हुए कि दुकान कर रहा हूँ। जरूरी है, दायित्व है; काम है, उसे निपटा रहा हूँ। लेकिन घर पहुँच कर, स्नान करके अपने मंदिर के कमरे में आदमी प्रविष्ट हो गया । वह परदे के पीछे चला गया, नाटक के मंच से हट आया, सब छोड़ आया बाहर। और घंटे भर शांति से बैठ गया--बाहर--दुनिया के । इसका अभ्यास जितना गहन होता चला जाय, उतना ही योग्य है, उतना ही उचित है।

तो धीरे-धीरे कोई भी चीज आपको बाँधेगी नहीं । हो सकता है, जंजीरें भी आपको बाँध दी जायँ और कारागृह में आपको डाल दिया जाय, तो भी आप स्वतंत्र ही होंगे । क्योंकि कारागृह में जंजीरें बाँधोगे जिसको, वह प्रकृति होगी। और आप बाहर ही होंगे ।

अपने भीतर एक ऐसे तत्त्व की तलाश ही अध्यात्म है--जिसको बाँधा न जा सके, जो परतंत्र न किया जा सके, जो सदा स्वतंत्र है, जो स्वतंत्रता है । यह पुरुष ऐसी स्वतंत्रता का ही नाम है । और सारे अध्यात्मिक यात्रा का एक ही लक्ष्य है कि आप के भीतर उस तत्त्व की तलाश हो जाय, जिसको दुनिया में कोई सीमा न दे सके, कोई जंजीर न दे सके, कोई कारागृह में न डाल सके । जिसका मुक्त होना स्वभाव है ।

इसका यह मतलब नहीं है कि आप कृष्ण को जंजीरें नहीं डाल सकते । इसका यह मतलब नहीं है कि बुद्ध को कारागृह में नहीं डाला जा सकता । जीसस को हमने सूली ही दी है, लेकिन फिर भी आप जीसस को सूली नहीं दे सकते। जिसको आप सूली दे रहे हैं, वह प्रकृति ही है । और जब आप जीसस के हाथ में खीलें ठोक रहे हैं, तब आप प्रकृति के हाथ में खीलें ठोक रहे हैं--जीसस के हाथों में नहीं ।

जीसस के हाथ में खीले ठोकने का कोई उपाय नहीं है । जीसस को सूली देने का कोई उपाय नहीं है । जीसस जिन्दा ही हैं । आप शरीर को ही काट रहे हैं और मार रहे हैं । अगर जीसस भी शरीर से जुड़े हों, तो उनको भी पीड़ा होगी । तो वे भी रोयेंगे, चिल्लाएँगे । वे छाती पीटेंगे कि बचाओ; कोई मुझे बचा लो। यह क्या कर रहे हो ! क्षमा करो, मुझसे भूल हो गई ।' वे कुछ उपाय करेंगे । लेकिन वे कोई उपाय नहीं कर रहे हैं । उलटे वे प्रार्थना करते हैं परमात्मा से कि इन सब को माफ कर देना, क्योंकि इनको पता नहीं है कि ये क्या कर रहे हैं ।

किस चीज के लिए जीसस ने कहा है कि इन को पता नहीं है, ये क्या कर रहे हैं ? इस चीज के लिए जीसस ने कहा है कि जिसको ये सूली पर लटका रहे हैं, वह तो लटकाया नहीं जा सकता और जिसको ये लटका रहे हैं, वह मैं नहीं हूँ । इनको कुछ पता नहीं है कि ये क्या कर रहे हैं । ये मेरी भ्रांति में किसी और को सूली पर लटका रहे हैं ! यह मतलब है ।

इनको खयाल तो यही है कि मुझे मार रहे हैं, लेकिन मुझे ये कैसे मारेंगे ? जिस को ये मार रहे हैं, वह मैं नहीं हूँ । और वह तो उनसे बिना मारे भी मर जाता, उसके लिए इतना आयोजन करने की कोई जरूरत न थी । और मैं इनके आयोजन से भी न मरूँगा ।

इस भीतर के पुरुष का बोध जैसे-जैसे साफ होने लगेगा, वैसे-वैसे--कृष्ण कहते हैं--फिर सब प्रकार से बर्तता हुआ ...।

इसलिए कृष्ण का जीवन जटिल है । कृष्ण का जीवन बहुत जटिल है । और जो तर्कशास्त्री हैं, नीतिशास्त्री हैं, और जो नियम से जीते और चलते हैं और सोचते हैं, उन्हें कृष्ण का जीवन बहुत असंगत मालूम पड़ता है ।

● एक मित्र ने सवाल पूछा है कि कृष्ण अगर भगवान् हैं, तो वे छल-कपट कैसे कर सके? स्वभावतः हम सोच ही नहीं सकते कि नैतिक आदमी कैसे छल-कपट कर सकता है। और छल-कपट करके वह कैसे भगवान् हो सकता है! और वचन दिया था कि शस्त्र हाथ में नहीं लूंगा और अपना ही वचन झुठला दिया। ऐसे आदमी का क्या भरोसा—जो अपना ही आश्वासन पूरा न कर सका और खुद ही अपने आश्वासन को झूठा कर दिया।

हमें तकलीफ होती है। हमें बड़ी अड़चन होती है। कृष्ण बेबूझ मालूम पड़ते हैं। कृष्ण को समझना कठिन मालूम पड़ता है। महावीर को समझना सरल है। एक संगति है। बुद्ध को समझना सरल है। उनकी जिंदगी एक गणित की तरह है उसमें आप भूल-चूक नहीं निकाल सकते।

अगर महावीर कहते हैं : अहिंसा, तो फिर वैसा ही जीते हैं; फिर पाँव भी फूंक कर रखते हैं। फिर पानी भी छान के पीते हैं। फिर श्वास भी भयभीत होकर लेते हैं कि कोई कीटाणू न मर जाय। फिर महावीर का पूरा जीवन एक संगत गणित है। उस गणित में भूलचूक नहीं निकाली जा सकती।

लेकिन कृष्ण का जीवन बड़ा बेबूझ है। जितनी भूलचूक चाहिए, वे सब मिल जाएँगी। ऐसी भूल-चूक आप नहीं खोज सकते, जो उनके जीवन में न मिल सके। सब तरह की बातें मिल जाएँगी। उसका कारण है। क्योंकि कृष्ण की दृष्टि जो है, उनका जो मौलिक आधार है सोचने का, वह यह है कि जैसे ही यह पता चल जाय कि प्रकृति अलग और मैं अलग, फिर किसी भी भाँति बर्तता हुआ कोई बंधन नहीं है। फिर कोई जन्म नहीं है।

कृष्ण छल-कपट करते हैं—ऐसा हमें लगता है। ऐसा हमें लगता है कि वे आश्वासन देते हैं और फिर मुकर जाते हैं। लेकिन कृष्ण क्षण-क्षण जीते हैं। जब आश्वासन दिया था, तब पूरी तरह आश्वासन दिया था। उस क्षण का सत्य था वह—ट्रुथ ऑफ द मोमेन्ट—उस क्षण का सत्य था। उसमें कोई बेईमानी न थी मन में; कहीं सोच भी नहीं था कि आश्वासन को तोड़ेंगे। ऐसा कोई सवाल नहीं था। आश्वासन पूरी तरह दिया था। लेकिन दूसरे क्षण में सारी परिस्थिति बदल गई और कृष्ण के लिए यह सब अभिनय से ज्यादा नहीं है। अगर यह अभिनय न हो, तो कृष्ण भी सोचेंगे कि जो आश्वासन दिया था, उसको पूरा करो।

अगर जिंदगी बहुत असली हो, तो आश्वासन को पूरा करने का खयाल आयेगा। लेकिन कृष्ण के लिए जिंदगी एक सपने की तरह है, जिसमें आश्वासन का भी कोई मूल्य नहीं है। वह भी क्षण-सत्य था। उस क्षण में वैसा बर्तने का सहज भाव था। आज सारी स्थिति बदल गई। बर्तने का दूसरा भाव है। और इस दूसरे भाव

से कृष्ण दूसरा काम करते हैं। इन दोनों के बीच कोई विरोध नहीं है। हमें विरोध दिखाई पड़ता है, क्योंकि हम जिंदगी को असली मानते हैं।

आप इसे ऐसा समझें : आपको सपने का खयाल है। सपने का एक गुण है। सपने में आप कुछ से कुछ हो जाते हैं, लेकिन आपके भीतर कोई चिंता पैदा नहीं होती। आप जा रहे हैं। आप देखते हैं कि एक मित्र चला आ रहा है और मित्र जब सामने आ कर खड़ा हो जाता है, तो अचानक घोड़ा हो जाता है। मित्र नहीं है। पर आपके भीतर यह संदेह नहीं उठता कि यह क्या गड़बड़ है!—जाग के भला आपको थोड़ी-सी चिंता हो, लेकिन तब आप कहते है 'सपना है, सपने का क्या...।'

सपने में मित्र घोड़ा हो जाय, तो कोई चिंता पैदा नहीं होती। असलियत में आप चले जा रहे हैं सड़क पर और उधर से मित्र आ रहा हो और अचानक घोड़ा हो जाय, फिर आपकी बेचैनी का अंत नहीं है। आपको पागल खाने में जाना पड़ेगा कि यह क्या हो गया। क्यों?—क्योंकि इसको आप असलियत मानते हैं, कृष्ण इसको भी स्वप्न से ज्यादा नहीं मानते। इसलिए जिंदगी में कृष्ण के लिए कोई संगति नहीं है। सब खेल है। और सब संगतियाँ क्षणिक हैं और क्षण के पार उनका कोई मूल्य नहीं है।

कृष्ण की कोई प्रतिबद्धता, कोई कमिटमेन्ट नहीं है। किसी क्षण के लिए उनका कोई बंधन नहीं है। उस क्षण में जो है—जो सहज हो रहा है—वे कर रहे हैं। दूसरे क्षण में जो सहज होगा, वह करेंगे। वह नदी के घाट की तरह हैं। उसमें कोई बंधन, कोई रेखा, कोई रेल की पटरियों की तरह वे नहीं हैं—कि रेलगाड़ी एक ही पट्टी पर चली जा रही है। वे नदी की तरह हैं। जैसा होता है—पत्थर आ जाता है, तो बचकर निकल जाते हैं। रेत आ जाती है, तो बिना बचे निकल जाते हैं। आप यह नहीं कह सकते कि पिछली दफा बचकर निकले थे और अब? अब रेत आ गई, सो सीधा निकले जा रहे हो—बिना बचे। असंगति है। नहीं, आप नदी से कुछ भी नहीं कह सकते। जब पहाड़ होता है, तो बचकर निकल जाती है। तो आप नहीं कहते कि पहाड़ को काटकर क्यों नहीं, निकलती! और जब रेत होती है, तो नदी बीच में से काट के निकल जाती है। तब आप यह नहीं कहते कि बड़ी बेईमान हो? पहाड़ के साथ कोई व्यवहार, रेत के साथ कोई व्यवहार!

कृष्ण नदी की तरह हैं। जैसी परिस्थिति होती है, उसमें जो उनके लिए सहज अविर्भूत होता है अभिनय, वह कर लेते हैं।

और जिंदगी असलियत नहीं है। जिंदगी एक कहानी है, एक नाटक है, एक साइको-ड्रामा है, इसलिए उसमें उनको कोई चिंता नहीं है, कोई अड़चन नहीं है।

इस बात को जब तक आप ठीक से न समझ लेंगे, तब तक कृष्ण के जीवन को

समझना बहुत कठिन है, क्योंकि कृष्ण बहुत रूप में हैं और सब के पीछे कारण वही है कि कृष्ण का मौलिक खयाल है कि जैसे ही पुरुष का भेद स्पष्ट हो गया, फिर सभी भाँति बर्तता हुआ भी व्यक्ति बंधन को उपलब्ध नहीं होता; जन्मों को उपलब्ध नहीं होता। वह सभी भाँति बर्तता हुआ भी मुक्त होता है। उसके वर्तन से आचरण और अनाचरण का भी कोई सवाल नहीं है। आचरण और अनाचरण का सवाल भी तभी तक है, जब तक जिंदगी सत्य मालूम होती है। और जब जिंदगी एक स्वप्न हो जाती है, तो आचरण और अनाचरण दोनों समान हो जाते हैं।

लेकिन एक सवाल उठेगा। तो क्या बुद्ध को और महावीर को यह पता नहीं चला; क्या उनको यह पता नहीं चला कि हम अलग हैं। और जब उन्हें पता चल गया --कि हम अलग हैं--तो फिर उन्होंने क्यों चिंता की? फिर क्यों वे पंक्तिबद्ध, एक व्यवस्थित और संगत, गणित की तरह जीवन को उन्होंने चलाया? कुछ कारण हैं। वह भी व्यक्तियों की अपनी-अपनी भिन्नता, अद्वितीयता के कारण है।

सुना है मैंने कि एक बहुत बड़ा संत नारोपा अपने शिष्य को समझा रहा था कि 'जीवन तो अभिनय है। और जीवन में न कुछ गलत है, न कुछ सही है।' नारोपा ने कहा है कि 'सही और गलत का खयाल ही संसार है। कोई कहता है कि यह सही है, वह गलत है; भेद अज्ञानी बना देता है। न कुछ सही है, न कुछ गलत है। यह ज्ञान है।'

तो उसके शिष्य ने कहा कि 'आप तो बड़ी खतरनाक बात कह रहे हैं! इसका मतलब हुआ कि हम जैसा चाहें, वैसा आचरण करें?' तो नारोपा ने कहा कि 'तू समझा नहीं। जब तक तू कहता है कि जैसा चाहें, वैसा आचरण करें--जब तक चाह है, तब तक तो तुझे यह पता ही नहीं चल सकता--जो मैं कह रहा हूँ। मैं यह कहता हूँ कि जब अनुभव होता है स्वयं का, तो पता चलता है कि न कुछ गलत है, न कुछ सही है। क्योंकि यह सब खेल है।'

लेकिन उसके शिष्य ने फिर कहा कि 'इसका मतलब तो यह हुआ कि जो हम चाहें, वह करें।' नारोपा ने फिर कहा कि 'तू गलती कर रहा है। जब तक तू चाहता है, तब तक मेरी बात तो तुझे समझ में ही नहीं आ सकती। जब सब चाहें छोड़ देगा, तब तुझे यह खयाल आयेगा। और तूने अगर मेरी बात का यह मतलब लिया कि जैसा चाहें हम करें, तो उसका अर्थ हुआ कि तू मेरी बात को समझा ही नहीं। चाह जिसके भीतर है, वासना जिसके भीतर है, वह तो कितना ही धोखा देना चाहे--सही और गलत कायम रहेगा।

वासना के साथ जुड़ा है--सही और गलत का बोध।

समझें इसे: आपको मैंने कह दिया कि न 'कुछ सही है और न कुछ गलत है।

जैसा चाहो, वैसा वरतो।' आप फौरन गये और चोरी कर लाये। न कुछ गलत, न कुछ सही। लेकिन आपको चोरी का ही खयाल क्यों आया--सबसे पहले? फिर भी ठीक है। कुछ भी वर्तन करें। आप ज्ञानी हो गये हैं, अब कोई आपको बाधा नहीं है। लेकिन कोई आपकी चोरी कर ले गया, तब आप पुलिस में रिपोर्ट करने चले। और रो रहे हैं और कह रहे हैं कि बहुत बुरा हुआ है।'

मैंने तो सुना है कि एक आदमी पर अदालत में मुकदमा चला। नौंवी बार मुकदमा चला। जज ने उससे पूछा कि 'तू आठ बार सजा भोग चुका। तू बार-बार पकड़ जाता है। कारण क्या है तेरे पकड़ जाने का?' उसने कहा, 'कारण साफ है कि मुझे अकेले ही चोरी करनी पड़ती है। मेरा कोई भी साझीदार नहीं है। अकेले ही सब काम करना पड़ता है। तोड़ो दीवाल, दरवाजे तोड़ो, तिजोरी तोड़ो, सामान निकालो, बाँधो, ले जाओ। कोई सहयोगी, पार्टनर न होने से सब तकलीफ है।'

तो उस जज ने पूछा कि 'तो तू सहयोगी क्यों नहीं खोज लेता--जब तू बार-बार पकड़ा जाता है!' तो उसने कहा कि 'देखिये, जमाना इतना खराब है कि किसी पार्टनर का भरोसा नहीं किया जा सकता।'

चोर भी भरोसा रखनेवाला पार्टनर खोजता है। और दुकानदारी में तो चल भी जाय थोड़ी धोखा-धड़ी, चोरी में नहीं चल सकती। चोरी में बिलकुल ईमानदार आदमी चाहिए। इसलिए चोरों में जैसे ईमानदार आपको मिलेंगे, वैसे दुकानदारों में नहीं मिल सकते। डाकुओं में, हत्यारों में जिस तरह की निष्ठा, भ्रातृत्व, भाई-चारा मिलेगा, वैसा अच्छे आदमियों में मिलना मुश्किल है, क्योंकि वहाँ इतनी बुराई है कि उस बुराई को टिकने के लिए इतना भाई-चारा न हो, तो बुराई चल नहीं सकती।

नारोपा ने कहा कि अगर तेरे भीतर चाह है, तो तू रुक। पहले चाह को छोड़। और जब तेरे भीतर कोई चाह न रहे, तब के लिए मैं कह रहा हूँ कि फिर तू जैसा भी चाहे, वैसा बर्त। फिर कोई पाप नहीं है, फिर कोई पुण्य नहीं है।

इस तरह का विचार पश्चिम के नीति शास्त्रियों को बहुत अजीब लगता है। वे सोचते हैं कि भारत में जो नीति पैदा हुई, वह इम्मॉरल है; वह नैतिक नहीं है।

हमारे पास टेन कमान्डमेंट्स जैसी चीजें नहीं हैं। पूरी गीता में, बाइबिल जैसी टेन कमान्डमेंट्स नहीं है कि चोरी मत करो। यह मत करो, यह मत करो, यह मत करो। बल्कि उलटा यह कहा है कि कृष्ण ने कि अगर तुमको पता चल जाय कि यह पुरुष और प्रकृति अलग है, तो तुम जो हो, होने दो। फिर कोई बर्ताव हो--तुम्हारे लिए कोई बंधन नहीं है, कोई पाप नहीं है।

ईसाई बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है यह सोच के; मुसलमान बड़ी दिक्कत में पड़ जाते हैं यह सोच कर कि गीता कैसा धर्म-ग्रंथ है। यह तो खतरनाक है।

अभी टर्की ने गीता पर नियंत्रण लगा दिया है, बंध लगा दिया है। टर्की में गीता प्रवेश नहीं कर सकती। मेरे पास कुछ मित्रों ने पत्र लिखे हैं कि 'आप भी विरोध करिये। गीता जैसी महान किताब पर टर्की ने क्यों प्रतिबंध लगाया ?' मैंने कहा कि 'तुम्हें खुश होना चाहिए। कृष्ण को मरे पाँच हजार साल हो गये होंगे और अभी गीता इतनी जिंदा है कि कोई मुल्क डरता है। खुश होना चाहिए। इसका मतलब है कि गीता में अभी भी जान है, अभी भी खतरा और आग है। पर आग क्या है ?

इधर मुल्क में सब जगह विरोध हो गया। आर्य-समाजी हैं--फलां हैं, ढिकां हैं, जिनको विरोध करने का ही रस है, उन सबने विरोध कर दिया, प्रस्ताव कर दिये, और हमारे यहाँ तो प्रस्ताव करने वालों की तो कोई कमी नहीं है।--कि ऐसा नहीं होना चाहिए; बहुत बुरा हो गया; बड़ा अन्याय हो गया। लेकिन किसी ने खयाल न किया कि टर्की ने यह नियम लगाया क्यों है। उस नियम के पीछे इस तरह के सूत्र हैं। क्योंकि इससे भय मालूम पड़ता है कि अगर इस तरह की बात प्रचारित हो जाय, तो लोग अनैतिक हो जाएँगे।

यह भय थोड़ी दूर तक सच है। क्योंकि सामान्य आदमी अपने मतलब की बात निकाल लेता है।

गीता कहती है कि जब पुरुष और प्रकृति का भेद स्पष्ट हो जाय, तो फिर कुछ भी बरतो, कोई पाप नहीं, कोई पुण्य नहीं, कोई बंधन नहीं; फिर कोई जन्म नहीं है। लेकिन पहली शर्त खयाल में रहे। अगर शर्त हटा दें हम, तो निश्चित ही एक अराजकता और अनैतिकता फैल सकती है। और तब टर्की अगर नियंत्रण लगाता हो कि गीता को मुल्क में नहीं आने देंगे, तो सामान्य आदमी को जो खतरा हो सकता है, उस खतरे की दृष्टि से ठीक ही है।

पर मैं तो खुश हुआ; मैं खुश हुआ, क्योंकि इतनी पुरानी किताबों पर कभी भी नियंत्रण नहीं लगते। क्योंकि जिंदा किताबें मर जाती हैं --दो-चार-दस-साल में। फिर उनसे कोई क्रांति-वांति नहीं होती।

पाँच हजार साल...! उसके बाद भी कोई मुल्क चिंतित हो सकता है। तो उसका अर्थ है कि कोई चिनगारी--कोई बहुत विस्फोटक तत्त्व गीता में है। वह यही तत्त्व है : अनैतिक मालूम होता है।

अति-नैतिक है--गीता का संदेश। सुपर-इथिकल है। इथिकल तो बिलकुल नहीं है; नैतिक नहीं है। अति-नैतिक है। और उस अति-नैतिकता को समझने में खतरा है। और जितनी ऊँचाई पर कोई चले, उतना ही डर है : गिर जाय, तो गड्ढे हैं--बहुत बड़े।

इस सूत्र को ठीक से समझ लेना।

आपके मन में अगर कोई चाह बसी हो; मैं आपसे कहूँ कि जो भी करना हो, करो; कोई पाप नहीं है; और फौरन आपको खयाल आ जाय कि क्या करना है, तो आप समझ लेना कि आपके लिए अभी यह नियम नहीं है।

यह सूत्र सुन कर--कि कुछ भी करो, कोई हर्ज नहीं है, आपके भीतर करने का कोई भी खयाल न हो। यह सुन कर कि कोई भी बरताव हो, कोई जन्म नहीं होगा, कोई दुःख, कोई नरक नहीं होगा, और आपके भीतर कोई बरताव करने का खयाल न आये, तो यह सूत्र आपकी समझ में आता है। और तत्क्षण आपको लगे कि--ऐसा, कुछ भी करो...। ले भागो--पड़ोसी की पत्नी को...!

मैंने सुना है : एक दफ्तर में ऐसा हो गया। दफ्तर के नौकर-चाकर ठीक से काम नहीं कर रहे थे, तो एक मनोवैज्ञानिक से सलाह ली--मालिक ने। तो उसने कहा : आप ऐसा करें : वहाँ एक तख्ती लगा दें; तख्ती में लिख दें कि--जो भी कल करना है, वह आज करो; जो आज करना है, वह अभी करो। क्योंकि क्षण भर में प्रलय हो जाएगी, फिर कब करोगे। 'काल करै सो आज, आज करै सो अब; पल में परलै होइगी, बहुरि करोगे कब।' तख्ती लगा दी बड़ी।

दूसरे दिन मनोवैज्ञानिक पूछने आया कि क्या परिणाम हुआ। मालिक के सिर पर पट्टी बँधी थी। बिस्तर पर पड़े थे। उसने कहा, परिणाम..? बरबाद हो गये। क्योंकि टाइपिस्ट लड़की को लेकर भाग गया मुनीम। चिट्ठी लिख गया कि दिन से सोच रहा था, कि कब भागूँ। देखा कि 'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब; पल में परलै होइगी, बहुरि करेगा कब।' तो मैंने सोचा कि अब भागो। पल में परलय हो जाय, फिर कब करोगे !

'और वह जो आफिस बॉय था, उसने आकर जूते मार दिये सिर पर, क्योंकि वह कहता है : 'कई दिन से सोच रहे थे--मारो।' आफिस बॉय सोचता ही रहा है : कैसे मारें। उसको तो मालिक रोज ही मार रहा है। वह भी सोचता रहता है। उसने सोचा कि लिखा ही है कि आज ही कर लो --जो करना है; कल का कुछ भरोसा नहीं ...। तो उसने लगा दिये जूते।

'जो कैशियर था, वह सब ले कर भाग गया। दफ्तर बंद पड़ा है। खूब कृपा की', उस मालिक ने कहा--मनोवैज्ञानिक को। 'अच्छी तरकीब बतायी। बरबाद कर डाला।'

यह सूत्र आपके लिए नहीं है। यह सूत्र तभी है, जब पुरुष और प्रकृति का स्पष्ट बोध, भेद हो जाय, तो नीति का कोई बंधन नहीं है।

पाँच मिनिट रुकें। कीर्तन में सम्मिलित हों, और फिर जायें।

नौवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, संध्या, दिनांक १३ मई, १९७३

नीति-अतीत शिक्षा • बुद्ध पुरुष को कर्म-बंध नहीं
भाव-शून्यता और मुक्ति • पुरुष में थिरता के चार मार्ग

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन, उस परम पुरुष को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञान-योग के द्वारा देखते हैं तथा अन्य कितने ही निष्काम कर्म-योग के द्वारा देखते हैं ।

परन्तु इनसे दूसरे जो पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्त्व के जाननेवाले पुरुषों से सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुनने के परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागर को निःसंदेह तर जाते हैं ।

हे अर्जुन, यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्ण को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान ।

पहले कुछ प्रश्न

● पहला प्रश्न । एक मित्र ने पूछा है कि 'भगवान् बुद्ध ने सत्य, अहिंसा, झूठ न बोलना, चोरी न करना, बुरा न करना--यह सिखाया है, परन्तु कृष्ण की गीता में हिंसा का मार्ग बतलाया गया है । कृष्ण चोरी करना, झूठ बोलना, संभोग से समाधि की ओर जाना सिखाते हैं, तो आप कहिये कि जो हिंसा का मार्ग बताता है, क्या वह भगवान् माना जा सकता है ?'

बुद्ध, महावीर, की शिक्षाएँ नैतिक हैं और बहुत साधारण आदमी को ध्यान में रखकर दी गई हैं । कृष्ण की शिक्षाएँ धार्मिक हैं और बहुत असाधारण आदमी को ध्यान में रखकर दी गई हैं ।

बुद्ध और महावीर की शिक्षाएँ अत्यंत साधारण बुद्धि के आदमी के भी समझ में आ जाएँगी; उनमें जरा भी अड़चन नहीं है । उसमें थर्ड रेट--जो आखिरी बुद्धि का आदमी है, उसे ध्यान में रखा गया है ।

कृष्ण की शिक्षाएँ प्रथम कोटि के मनुष्य की ही समझ में आ सकती हैं । वे अति जटिल हैं । और महावीर और बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत ऊँची हैं । थोड़ा कठिन होगा समझना ।

हम सब को समझ में आ जाता है कि चोरी करना पाप है । चोर को भी समझ में आता है; आपको ही समझ में आता है--ऐसा नहीं; चोर को भी समझ में आता है की चोरी करना बुरा है । लेकिन चोरी करना बुरा क्यों है ?

चोरी करना बुरा तभी हो सकता है, जब सम्पत्ति सत्य हो; पहली बात । धन बहुत मूल्यवान हो और धन पर किसी का कब्जा माना जाय--व्यक्तिगत अधिकार माना जाय--तब चोरी करना बुरा हो सकता है ।

धन किसका है ? एक तो यह माना जाय कि व्यक्ति का अधिकार है धन पर, इसलिए उससे जो धन छीनता है, वह नुकसान करता है । दूसरा यह माना जाय

कि धन बहुत मूल्यवान है। अगर धन में कोई मूल्य ही न हो, तो चोरी में कितना मूल्य रह जाएगा? इसे थोड़ा समझें।

जितना मूल्य धन में होगा, उतना ही मूल्य चोरी में हो सकता है। अगर धन का बहुत मूल्य है, तो चोरी का मूल्य है। लेकिन कृष्ण जिस तल से बोल रहे हैं, वहाँ धन मिट्टी है।

यह बड़े मजे की बात है कि महावीर को मानने वाले जैन साधु भी कहते हैं कि धन मिट्टी है, और फिर भी कहते हैं : 'चोरी पाप है।' मिट्टी को चुराना क्या पाप होगा? धन कचरा है और फिर भी कहते हैं : चोरी पाप है!

अगर धन कचरा है, तो चोरी पाप कैसे हो सकता है? कचरे को चुराने को कोई पाप नहीं कहता। धन लगता तो मूल्यवान ही है।

असल में जो समझाते हैं कि धन कचरा है--वह भी इसीलिए--अपने को समझा रहे हैं--बाकी लगता तो उनको भी धन मूल्यवान है। इसलिए धन की चोरी भी मूल्यवान मालूम पड़ती है।

मैं एक जैन मुनि के पास था, उन्होंने अपनी एक कविता मुझे सुनाई। उस कविता में उन्होंने बड़े अच्छे शब्द संजोये थे और जो भी उनके आस-पास लोग बैठे थे, वे सब सिर हिलाने लगे। गीत अच्छा था; लय थी। लेकिन अर्थ? अर्थ बिलकुल ही व्यर्थ था। अर्थ यह था उस गीत का--कि 'हे सम्राटों, तुम अपने स्वर्ण सिंहासनों पर बैठे रहो; मैं अपनी धूल में ही पड़ा हुआ मस्त हूँ। मुझे तुम्हारे स्वर्ण सिंहासन की कोई भी चाह नहीं। मेरे लिए तुम्हारा स्वर्ण सिंहासन मिट्टी जैसा है। मैं तुम्हारे स्वर्ण सिंहासन को लात मारता हूँ। मैं अपनी धूल में पड़ा हुआ फकीर मस्त हूँ। मुझे तुम्हारे स्वर्ण सिंहासनों की कोई भी जरूरत नहीं है।' बार-बार यही ध्वनि।

गीत पूरा हो जाने पर मैंने उनसे पूछा कि 'अगर स्वर्ण सिंहासनों की सच में ही तुम्हें कोई फिक्र नहीं, तो ये गीत किसलिए लिखा है? मैंने किसी सम्राट् को इससे उलटा गीत लिखते आज तक नहीं देखा--कि फकीरों, पड़े रहो अपनी मिट्टी में, हमें तुमसे कोई भी ईर्ष्या नहीं। हम तुम्हारी फकीरी को लात मारते हैं। हम तुम्हारी फकीरी को दो कौड़ी का समझते हैं। हम अपने स्वर्ण सिंहासन पर मजे में हैं। हमें तुमसे कोई ईर्ष्या नहीं है।'

मनुष्य जाति के हजारों साल के इतिहास में एक भी सम्राट् ने ऐसा नहीं लिखा है। लेकिन फकीरों ने इस गीत जैसे बहुत गीत लिखे हैं। इसका क्या मतलब है? इसका मतलब है कि फकीरों को ईर्ष्या है। 'यह ईर्ष्या नहीं है'--यह कहना भी ईर्ष्या से ही जन्म रहा है।

अब फकीर कितना ही कह रहा हो--'अपनी धूल में मस्त हैं', वह अपने

को समझा रहा है कि हम धूल में मस्त हैं। जान तो वह भी रहा है कि सम्राट् सिंहासन पर मजा ले रहा है। नहीं तो सम्राट् को बीच में लाने का प्रयोजन क्या है? और स्वर्ण सिंहासन अगर मिट्टी ही है, तो बार-बार दोहराने की जरूरत क्या है?

कोई भी तो नहीं कहता कि मिट्टी मिट्टी है। लोग 'स्वर्ण मिट्टी है'--ऐसा क्यों कहते हैं? स्वर्ण तो स्वर्ण ही दिखाई पड़ता है, लेकिन वासना को दबाने के लिए आदमी अपने को समझाता है कि 'मिट्टी है, क्या चाहना उसको।' लेकिन चाह भीतर खड़ी है, उस चाह को काटता है। 'मिट्टी है, क्या चाहना उसको...।'

यह स्त्री की देह है, इसमें कोई भी सौन्दर्य नहीं है; हड्डी-मांस-मज्जा भरा है--ऐसा अपने को समझाता है। सौन्दर्य उसको दिखाई पड़ता है; उसकी वासना माँग करती है। उसकी वासना दौड़ती है। वह वासना को काटने के उपाय कर रहा है। वह यह समझा रहा है कि 'नहीं, इसमें हड्डी-मांस-मज्जा है; और कुछ भी नहीं है। सब गंदी चीजें भीतर भरी हैं; यह मल का ढेर है।' लेकिन यह समझाने की जरूरत क्या है! मल के ढेर को देख के कोई भी नहीं कहता कि यह मल का ढेर है, इसकी चाह नहीं करनी चाहिए।

अगर स्त्री में मल ही दिखाई पड़ता है, तो बात ही खत्म हो गई; चाह का सवाल क्या है! और 'चाह नहीं करनी चाहिए'--ऐसी धारणा का क्या सवाल है?

कृष्ण बहुत ऊँची जगह से बोल रहे हैं। महावीर और बुद्ध भी उसी ऊँची जगह पर खड़े हैं, लेकिन वे बोल रहे हैं--बहुत नीची जगह से--वहाँ जहाँ आप खड़े हैं।

सद्गुरु अपने हिसाब से चुनते हैं। वे किसको कहना चाहते हैं--इस पर निर्भर करता है।

महावीर आपको समझते हैं। वे जानते हैं कि आप चोर हो और आपको यह कहना कि चोरी और गैर-चोरी में कोई फर्क नहीं है, तो आप चोरी में ही लगे रहोगे। तो आपको समझा रहे हैं कि चोरी पाप है। हालाँकि महावीर भी जानते हैं कि चोरी तभी पाप हो सकती है, जब धन में मूल्य हो। और जब धन में कोई मूल्य नहीं है, तो चोरी में कोई मूल्य नहीं रह गया।

इसे हम ऐसा समझें : महावीर और बुद्ध समझा रहे हैं कि हिंसा पाप है; और साथ ही यह भी समझा रहे हैं कि आत्मा अमर है, उसे काटा नहीं जा सकता। इन दोनो बातों में विरोध है। अगर मैं किसी को काट ही नहीं सकता, तो हिंसा हो कैसे सकती है? इसे थोड़ा समझो।

महावीर और बुद्ध कह रहे हैं कि हिंसा पाप है। किसी को मारो मत। और पूरी जिन्दगी समझा रहे हैं कि मारा तो जा ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा अमर है

और शरीर मरा ही हुआ है, उसको मारने का कोई उपाय नहीं है ।

आपके भीतर दो चीजें हैं : शरीर है और आत्मा है । महावीर और बुद्ध भी कहते हैं कि आत्मा अमर है, उसको मारा नहीं जा सकता, और शरीर मरा ही हुआ है, उसको मारने का कोई उपाय नहीं है, तो फिर हिंसा का क्या मतलब है? फिर हिंसा में पाप कहाँ है ?

आत्मा मर नहीं सकती, शरीर मरा ही हुआ है, तो हिंसा में पाप कैसे हो सकता है ? और जब आप किसी को मार ही नहीं सकते, तो बचा कैसे सकते हैं ?--यह भी थोड़ा समझ लें ।

अहिंसा की कितनी कीमत रह जाएगी...। अगर हिंसा में कोई मूल्य नहीं है, तो अहिंसा का सारा मूल्य चला गया । अगर आत्मा काटी ही नहीं जा सकती, तो अहिंसा का क्या मतलब है ? आप हिंसा कर ही नहीं सकते, अहिंसा कैसे करियेगा ! इसे थोड़ा ठीक से समझें ।

हिंसा कर सकते हों, तो अहिंसा भी हो सकती है । जब हिंसा हो ही नहीं सकती, तो अहिंसा कैसे करियेगा ? लेकिन महावीर और बुद्ध आपकी तरफ देख के बोल रहे हैं। वे जानते हैं कि आपको न तो आत्मा का पता है--जो अमर है; न आपको इस बात का पता है कि शरीर मरणधर्मा है । आप तो शरीर को ही अपना होना मान रहे हैं--जो मरणधर्मा है । इसलिए जरा ही क्रोध आता है, तो लगता है : दूसरे आदमी को तलवार से काट के दो टुकड़े कर दो । आप जब दूसरे को काटने की सोचते हैं, तो आप दूसरे आदमी को भी शरीर मान के चल रहे हैं। इसलिए हिंसा का भाव पैदा होता है ।

इस हिंसा के भाव के पैदा होने में आपकी भूल है, आपका अज्ञान है । यह अज्ञान टूटे, इसकी महावीर और बुद्ध चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन कृष्ण का संदेश अंतिम है, आत्यंतिक है; वह अल्टिमेट है । वह पहली क्लास के बच्चों के लिए दिया गया नहीं है। वह आखिरी कक्षा में बैठे हुए लोगों के लिए दिया गया है ।

इसलिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू पागलपन की बात मत कर कि तू लोगों को काट सकता है । आज तक दुनिया में कोई भी नहीं काट सका । काटना असंभव है, क्योंकि वह जो भीतर है, शरीर को काटे जाने से कटता नहीं है । वह जो भीतर है--शरीर को जलाने से जलता नहीं । वह जो भीतर है--शरीर को छेद सकते हैं शस्त्र से--वह छिदता नहीं ।

तो इसलिए तू पहली तो भ्रांति छोड़ दे कि तू काट सकता है। इसलिए तू हिंसक हो सकता है--यह बात ही भूल । और जब तू हिंसक ही नहीं हो सकता, तो अहिंसक होने का कोई सवाल ही नहीं है ।

यह परम उपदेश है । और इसलिए जिनके पास छोटी बुद्धि है--सांसारिक बुद्धि है--उनकी समझ में नहीं आ सकेगा । पर कुछ हर्जा नहीं, वे महावीर और बुद्ध को समझ के चलें । जैसे-जैसे उनकी समझ बढ़ेगी, वैसे-वैसे उनको दिखाई पड़ने लगेगा कि महावीर और बुद्ध भी कहते तो यही हैं ।

समझ बढ़ेगी, तब उनके खयाल में आयेगा कि वे भी कहते हैं : आत्मा अमर है, वे भी कहते हैं कि आत्मा को मारने का कोई उपाय नहीं है। और वे भी कहते हैं कि धन केवल मान्यता है, उसमें कोई मूल्य है नहीं; मान्यता का मूल्य है । लेकिन जो माने हुए बैठे हैं, उनको छीन के अकारण दुःख देने की कोई जरूरत नहीं है । हालाँकि दुःख वे आपके द्वारा धन छीनने के कारण नहीं पाते हैं । वे धन में मूल्य मानते हैं, इसलिए पाते हैं ।

थोड़ा समझ लें । अगर मेरा कोई धन चुरा ले जाता है, तो मैं जो दुःख पाता हूँ, वह उसकी चोरी के कारण नहीं पाता हूँ; वह दुःख मैं इसलिए पाता हूँ कि मैंने अपने धन में बड़ा मूल्य माना हुआ था । वह मेरे ही, अज्ञान के कारण मैं दुःख पाता हूँ, चोर के कारण नहीं पाता । मैं दुःख पाता हूँ इसलिए, कि मैं सोचता था : धन बड़ा मूल्यवान है और कोई मुझसे छीन ले गया ।

कृष्ण कह रहे हैं : धन का कोई मूल्य ही नहीं है । न चोरी का कोई मूल्य है और न दान का कोई मूल्य है ।

ध्यान रखें : धन में मूल्य हो, तो चोरी और दान दोनों में मूल्य है । फिर चोरी पाप है और दान पुण्य है । लेकिन अगर धन ही निर्मूल्य है, तो चोरी और दान --सब निर्मूल्य हो गए । यह आखिरी संदेश है ।

इसका मतलब यह नहीं कि आप चोरी करने चले जायँ । इसका यह भी मतलब नहीं कि आप दान न करें । इसका कुल मतलब इतना है कि आप जान लें कि धन में कोई भी मूल्य नहीं है ।

कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि तू हिंसा करने में लग जा, क्योंकि कृष्ण तो मानते ही नहीं कि हिंसा हो सकती है । इसलिए कैसे कहेंगे कि हिंसा करने में लग जा ! कृष्ण तो यह कह रहे हैं कि हिंसा-अहिंसा भ्रान्तियाँ हैं । तू कर नहीं सकता । लेकिन करने की अगर तू चेष्टा करे, तो तू अकारण दुःख में पड़ेगा ।

इसे हम और तरह से भी समझें ; क्योंकि यह बहुत गहरा है, और जैनों, बौद्धों और हिंदुओं के बीच जो बुनियादी फासला है, वह यहीं है ।

गीता को जैन और बौद्ध स्वीकार नहीं करते । कृष्ण को उन्होंने नरक में डाला हुआ है । अपने शास्त्रों में उन्होंने लिखा है कि कृष्ण नरक में पड़े हैं और नरक से उनका छुटकारा आसान नहीं है, क्योंकि इतनी खतरनाक बात समझाने

वाला आदमी नरक में होना ही चाहिए ।

जो यह समझा रहा है कि अर्जुन, तू बेफिक्री से काट, क्योंकि कोई कटता ही नहीं है । इससे ज्यादा खतरनाक और क्या संदेश होगा । और जो कह रहा है : किसी भी तरह का वर्तन करो, वर्तन का कोई मूल्य नहीं है; सिर्फ पुरुष के भाव में प्रतिष्ठा चाहिए । तुम्हारे आचरण की कोई भी कीमत नहीं है । तुम्हारा अंतस कहाँ है--यही सवाल है ।

तुम्हारा आचरण कुछ भी हो, उसका कुछ भी मूल्य नहीं है-- न निषेधात्मक, न विधायक । तुम्हारे आचरण की कोई संगति ही नहीं है । तुम्हारी आत्मा बस, काफी है ।

ऐसी समाज विरोधी, आचरण विरोधी, नीति विरोधी, अहिंसा विरोधी बात. . . ! तो जैनों ने उन्हें नरक में डाल दिया है । और तब तक वे न छूटेंगे, जब तक इस सृष्टि का अंत न हो जाय । दूसरी सृष्टि जब जन्मेगी, तब वे छूटेंगे ।

ठीक है । जैनों की मान्यता के हिसाब से कृष्ण खतरनाक हैं, नरक में डालना चाहिए । लेकिन कृष्ण को समझने की कोशिश करें, तो कृष्ण ने इस जगत् में जो भी श्रेष्ठतम बात कही जा सकती है, वह कही है, लेकिन कहने का ढंग भी उनका उतना ही श्रेष्ठ है--जितनी बात श्रेष्ठ है । उन्होंने उसे छोटे लोगों के लिए, साधारण बुद्धि के लोगों के लिए मिश्रित नहीं किया, समझौता नहीं किया है । उन्होंने आपसे कोई समझौता नहीं किया है । सत्य जैसा है--उसे वैसा ही कह दिया है; उसके क्या परिणाम होंगे, इसकी भी फिक्र नहीं की । और निश्चित ही कुछ लोग तो चाहिए, जो सत्य को वैसा ही कह दें, जैसा है--बिना परिणामों की फिक्र किये । अन्यथा कोई भी सत्य कहा नहीं जा सकता ।

महावीर और बुद्ध समझाते हैं--दूसरे को दुःख मत दो । और महावीर और बुद्ध यह भी समझाते हैं कि तुम्हें जब दुःख होता है, तो तुम्हारे अपने कारण होता है, दूसरा तुम्हें दुःख नहीं देता । इन दोनों बातों का मतलब क्या हुआ ?

एक तरफ कहते हैं : दूसरे को दुःख मत दो; दुःख देना पाप है । दूसरी तरफ कहते हैं कि तुम्हें जब कोई दुःख देता है तो तुम अपने ही कारण दुःख पाते हो, दूसरा तुम्हें दुःख नहीं दे रहा है । दूसरा तुम्हें दुःख दे नहीं सकता । ये दोनों बातें तो विरोधी हो गईं । इसमें पहली बात साधारण बुद्धि के लोगों के लिए कही गई है; दूसरी बात परम सत्य है । और अगर दूसरी सत्य है, तो पहली झूठ हो गई ।

जब मैं दुःख पाता हूँ, तो महावीर कहते हैं कि तुम अपने कारण दुःख पा रहे हो, कोई तुम्हें दुःख नहीं देता । एक आदमी मुझे पत्थर मार देता है; महावीर कहते हैं : तुम अपने कारण दुःख पा रहे हो । क्योंकि तुमने शरीर को मान लिया

है अपना होना--इसलिए पत्थर लगने से शरीर की पीड़ा को तुम अपनी पीड़ा मान रहे हो । ठीक ।

मैं किसी के सिर में पत्थर मार देता हूँ, तो महावीर कहते हैं : दूसरे को दुःख मत पहुँचाओ । यह बात कन्ट्राडिक्टरी हो गई । जब मुझे कोई पत्थर मारता है, तो दुःख का कारण मैं हूँ; और जब मैं किसी को पत्थर मारता हूँ, तब भी दुःख का कारण मैं हूँ !

ये दो तल पर है बात । दूसरे को दुःख मत पहुँचाओ--यह क्षुद्र आदमी के लिए कहा गया है । क्योंकि क्षुद्र आदमी दूसरे को दुःख पहुँचाने में बड़ा उत्सुक है; उसके जीवन भर का एक ही सुख है कि दूसरे को कैसे दुःख पहुँचाए । वह मरते दम तक एक ही बस काम करता रहता है कि दूसरों को कैसे दुःख पहुँचाए । जब वह सोचता भी है कि मेरा सुख क्या हो, तब भी दूसरे के दुःख पर ही उसका सुख निर्भर होता है ।

आप अपने सुखों को खोजें, तो आप पता लगा लेंगे कि जब तक आपका सुख दूसरे को दुःख न देता हो, तब तक सुख नहीं मालूम पड़ता । आप एक बड़ा मकान बना लें, लेकिन जब तक दूसरों के मकान छोटे न पड़ जायँ, तब तक सुख नहीं मालूम पड़ता ।

आप जो भी कर रहे हैं, आपके सुख में दूसरे के सुख को मिटाने की चेष्टा है । इस तरह के आदमी के लिए--बुद्ध और महावीर कह रहे हैं--कि दूसरे को दुःख मत पहुँचाओ । लेकिन यह बात ऐसे झूठ है, क्योंकि दूसरे को कोई दुःख पहुँचा नहीं सकता--जब तक कि दूसरा दुःख पाने को राजी न हो । यह दूसरे की सहमति पर निर्भर है । आप पहुँचा नहीं सकते ।

फिर ऐसा क्यों कहा जा रहा है ? ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि दूसरे को दुःख पहुँचाने की चेष्टा में दूसरे को तो दुःख नहीं पहुँचाया जा सकता, तुम अपने को ही दुःख पहुँचाओगे । वह तो हो ही नहीं सकता--दूसरे को दुःख पहुँचाना, लेकिन तुम अपने को दुःख पहुँचाओगे । क्योंकि तुम दुःख के बीज बो रहे हो । और जो तुम दूसरे के लिए करते हो, वह तुम्हारे लिए होता जाता है ।

और जब तुम्हारे लिए कोई दुःख पहुँचाए, तब तुम समझना कि कोई दूसरा तुम्हें दुःख नहीं पहुँचा रहा है । यह हो सकता है कि तुम्हारे अपने ही दूसरों को पहुँचाए गए दुःखों के बीज दूसरे की सहायता से, संयोग से, निमित्त से अब तुम्हारे लिए फल बन रहे हों । लेकिन दुःख का मूल कारण तुम स्वयं ही हो ।

यह दूसरी बात ऊँचे तल से कही गई है । और पहली बात को जो पूरा कर लेगा, उसको दूसरी बात समझ में आ सकेगी । जो दूसरे को दुःख पहुँचाना बंद कर

देगा, उसे यह भी खयाल में आ जाएगा कि कोई दूसरा मुझे दुःख नहीं पहुँचा सकता।

यह दो तल की--दो कक्षाओं की बात है ।

कृष्ण एक तल की सीधी बात कह रहे हैं, वे आखिरी बात कह रहे हैं। उनके सामने जो व्यक्ति खड़ा था, वह साधारण नहीं है। जिस अर्जुन से वे बात कर रहे थे, उसकी प्रतिमा कृष्ण से जरा भी कम नहीं है। संभावना उतनी ही है--जितनी कृष्ण की है। वह कोई मंद बुद्धि व्यक्ति नहीं है। वह धनी है--प्रतिभा का। उसके पास वैसा ही निखरा हुआ चैतन्य है, वैसी ही बुद्धि है, वैसा ही प्रगाढ तर्क है। इसलिए वे जो बात कर रहे हैं; वह शिखर की बात है ।

और इसीलिए गीता लोग कंठस्थ तो कर लेते हैं, लेकिन गीता को समझ नहीं पाते। और बहुत से लोग जो गीता को मानते हैं, वे भी गीता में अड़चन पाते हैं। मान लेते हैं, तो भी गीता उनको दिक्कत देती है। कठिनाई मालूम पड़ती है। महात्मा गांधी ऐसे व्यक्ति को भी--जो गीता को माता कहते हैं, उनको भी गीता में तकलीफ है। क्योंकि यह हिंसा-अहिंसा उनको भी सताती है। वे भी रास्ता निकालते हैं कोई, क्योंकि उनका मन भी यह मानने की हिम्मत नहीं कर पाता कि कृष्ण जो कहते हैं, वह ठीक ही कहते हैं--कि काटो-- कोई कटता नहीं। मारो--कोई मरता नहीं। भयभीत मत होओ, डरो मत; तुम दूसरे को दुःख पहुँचा नहीं सकते। इसलिए दूसरे को दुःख न पहुँचाऊँ--ऐसी चेष्टा भी व्यर्थ है। और मैंने दूसरे को दुःख नहीं पहुँचाया--ऐसा अहंकार पागलपन है।

गांधी तक को तकलीफ होती है कि क्या करें। एक तरफ अहिंसा...। गांधी बुद्धि से जैन हैं--नब्बे प्रतिशत। जन्म से हिंदू हैं--दस प्रतिशत; तो गीता के साथ मोह भी है, लगाव भी है; कृष्ण को छोड़ भी नहीं सकते; और वह जो नब्बे प्रतिशत जैन होना है ...। क्योंकि गुजरात की हवा जैनियों की हवा है। वहाँ हिंदू भी जैन ही हैं। उसके सोचने के तरीके, ढंग--वह सब जैन की आधार-शिला पर निर्मित हो गए हैं।

तो गांधी गीता को भ्रष्ट कर देते हैं। वे फिर तरकीबें निकाल लेते हैं--समझाने की। वे कहते हैं : यह युद्ध वास्तविक नहीं है। यह युद्ध तो मनुष्य के भीतर जो बुराई और अच्छाई है--उसका युद्ध है। यह कोई युद्ध वास्तविक नहीं है। और कृष्ण जो समझा रहे हैं--काटने-पीटने को, यह बुराई को काटने-पीटने को समझा रहे हैं--मनुष्य को नहीं। ये कौरव बुराई के प्रतीक हैं; ये पाण्डव भलाई के प्रतीक हैं। यह मनुष्य की अन्तरात्मा में चलता शुभ और अशुभ का द्वंद्व है। बस, इस प्रतीक को पकड़ के फिर गीता में दिक्कत नहीं रह जाती; फिर अड़चन नहीं रह जाती। मगर यह बात सरासर गलत है। यह प्रतीक अच्छा है, लेकिन यह बात

गलत है।

कृष्ण तो वही कह रहे हैं, जो वे कह रहे हैं। वे तो यह कह रहे हैं कि मारने की घटना घटती ही नहीं, इसलिए मार सकते नहीं हो, तो मारने की सोचो भी मत। पहली बात। और बचाने का तो कोई सवाल ही नहीं है। बचाओगे कैसे ?

तुम दूसरे के साथ कुछ कर ही नहीं सकते हो; तुम जो भी कर सकते हो, अपने ही साथ कर सकते हो ! और जब तुम दूसरे को भी मारते हो, तो तुम अपने को ही मार रहे हो। जब तुम दूसरे को बचाते हो, तो तुम अपने को ही बचा रहे हो।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि तुम अपने से बाहर जा ही नहीं सकते। तुम अपने पुरुष में ही ठहरे हुए हो। तुम सिर्फ भावनाओं में जा सकते हो।

एक आदमी सोच रहा है कि दूसरे को मार डालूँ, चोट पहुँचाऊँ। वह सब भावनाएँ कर रहा है। वह जाकर शरीर को तोड़ भी सकता है। शरीर तक उसकी पहुँच हो जाएगी, क्योंकि शरीर टूटा ही हुआ है। लेकिन वह जो भीतर चैतन्य था, उसको छू भी नहीं पायेगा। और अगर आपको लगता है कि आप छू पाये, तो अपने कारण नहीं, वह जो चैतन्य था भीतर--उसके भाव के कारण। अगर उसने मान लिया कि तुम मुझे मारने आये हो, तुम मुझे मार रहे हो, तुम मुझे दुःख दे रहे हो, तो यह उसका अपना भाव है। इस कारण तुम्हें लगता है कि तुम उसको दुःख दे पाये।

इसे हम ऐसा समझें : अगर आप महावीर को मारने जायँ, तो आप महावीर को दुःख नहीं पहुँचा पायेंगे। बहुत लोगों ने मारा है और दुःख नहीं पहुँचा पाये। महावीर के कानों में किसी ने खीले छेद दिये, लेकिन दुःख नहीं पहुँचा पाये। क्यों ? क्योंकि महावीर अब भावना नहीं करते। तुम उन्हें दुःख पहुँचाने की कोशिश करते हो, लेकिन वे दुःख को लेते नहीं हैं। और जब तक वे न लें, दुःख घटित नहीं हो सकता। तुम पहुँचाने की कामना कर सकते हो; लेने का काम उन्हीं का है--कि वे लें भी। जब तक वे न लें, तुम नहीं पहुँचा सकते। इसलिए महावीर को हम दुःख नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि महावीर दुःख लेने को--अपने भीतर--राजी नहीं हैं।

आप उस व्यक्ति को दुःख पहुँचा सकते हैं, जो दुःख लेने को राजी है। इसका अर्थ यह हुआ की वह आपके कारण दुःख नहीं लेता; वह दुःख लेने को राजी है, इसलिए लेता है। और अगर आप न पहुँचाते, तो कोई और पहुँचाता। और अगर कोई भी पहुँचाने वाला न मिलता, तो भी वह आदमी कल्पित करके दुःख पाता। वह दुःख लेने को राजी था। वह कोई भी उपाय खोज लेता और दुःखी होता।

आप थोड़े दिन--सात दिन के लिए एक कमरे में बंद हो जायँ, जहाँ कोई दुःख पहुँचाने नहीं आता, कोई गाली नहीं देता, कोई क्रोध नहीं करवाता। आप चकित हो जाएँगे कि सात दिन में अचानक आप किसी क्षण में दुःखी हो जाते हैं--

जब कि कोई दुःख पहुँचाने वाला नहीं है। और किसी क्षण में अचानक क्रोध से भर जाते हैं, जब कि किसी ने कोई गाली नहीं दी, किसी ने कोई अपमान नहीं किया। और किसी समय आप बड़े आनंदित हो जाते हैं, जब कि कोई प्रेम करने वाला नहीं है।

अगर सात दिन आप मौन में, एकान्त में बैठें, तो आप चकित हो जाएँगे कि आपके भीतर भावों का वर्तुल चलता ही रहता है। और बिना किसी के आप सुखी दुःखी भी होते रहते हैं।

एक दफा यह आपको दिखाई पड़ जाय कि मैं बिना किसी के सुखी दुःखी हो रहा हूँ, तो आपको खयाल आ जाएगा कि दूसरे--ज्यादा से ज्यादा आपको अपनी भावनाओं को टांगने के लिए खूँटी का काम करते हैं--इससे ज्यादा नहीं। वे निमित्त से ज्यादा नहीं हैं।

यही कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं कि तू निमित्त से ज्यादा नहीं है। तू यह खयाल ही छोड़ दे कि तू कर्ता है। उस कर्ता में ही--कृष्ण के लिए--एकमात्र अज्ञान है।

हमें समझ में आता है कि हिंसा करना बुरा है। हमें यह समझ में नहीं आता कि अहिंसा 'करना' भी बुरा है। हिंसा करना बुरा है, क्योंकि दूसरे को दुःख पहुँचता है--हमारा खयाल है, लेकिन कृष्ण के हिसाब से हिंसा करना इसलिए बुरा है कि कर्ता का भाव बुरा है--कि मैं कर रहा हूँ, इससे अहंकार घना होता है।

अगर हिंसा करना बुरा है--कर्ता के कारण, तो अहिंसा करना भी उतना ही बुरा है--कर्ता के कारण। और कृष्ण कहते हैं : जड़ को ही काट दो; तुम कर्ता मत बनो। न तो तुम हिंसा कर सकते हो, न तुम अहिंसा कर सकते हो। तुम कुछ कर नहीं सकते। तुम केवल हो सकते हो।

तुम अपने इस होने में राजी हो जाओ; फिर जो कुछ हो रहा हो, उसे होने दो।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि 'अगर यह बात सच है कि मैं कुछ न-करने में ठहर जाऊँ--पुरुष में ठहर जाऊँ--अपने चैतन्य में, साक्षी-भाव में रुक जाऊँ--तो कृष्ण कहते हैं, फिर जो भी वर्तन हो, उस वर्तन से कुछ भी हानि-लाभ नहीं है, कोई पाप-पुण्य नहीं है।' उन मित्र ने पूछा है कि 'जब मेरी सब चाह मिट गई, वासना मिट गई, और जब मैंने अपने पुरुष को जान लिया, तो वर्तन होगा ही कैसे? जब मैं अपने आत्मा में ठहर गया, तो वर्तन होगा ही कैसे?

यह बात सोचने जैसी है। यह सवाल उठेगा, क्योंकि हम जितना भी वर्तन जानते हैं, वह चाह के कारण है।

आप चलते हैं, क्योंकि कहीं पहुँचना है। कोई कहे कि कहीं पहुँचने की जरूरत नहीं है, फिर चलना हो जितना, चलो। तो फिर आप कहेंगे, हम चलेंगे किस लिए?

चलने का कोई अर्थ ही न रहा, कोई प्रयोजन न रहा, कोई कारण न रहा, तो चलेंगे किस लिए? कोई पागल तो नहीं हैं कि अकारण चलते रहें--जबकि कहीं पहुँचने को नहीं है, कोई वासना नहीं है, कोई चाह नहीं है, कोई मंजिल नहीं है।

हम कर्म करते हैं--किसी वासना से। तो उन मित्र का पूछना बिलकुल ठीक है कि जब वासना ही मिट गई और कर्म अभिनय है--यह समझ में आ गया; और कुछ पाने योग्य नहीं है, कुछ पहुँचने योग्य नहीं है--यह दृष्टि स्पष्ट हो गई, तो कृष्ण का यह कहना कि फिर जो भी वर्तन हो, होने दें। फिर न कोई जन्म होगा, न वर्तन का कोई कर्मपरिणाम होगा--इसका क्या अर्थ है? फिर वर्तन होगा ही क्यों? यह थोड़ा जटिल और टेक्निकल है सवाल। इसे समझने की कोशिश करें।

करीब-करीब बात ऐसी है कि आप एक साइकल पर चल रहे हैं, पैडल चला रहे हैं। फिर आपने पैडल रोक दिये। पैडल रोकते से ही साइकिल नहीं रुक जाएगी। हालाँकि रुक जाना चाहिए, क्योंकि पैडल से चलती थी। पैडल चलाने से चलती थी, बिना पैडल चलाये साइकिल नहीं चल सकती थी। पैडल से चलती थी। लेकिन आपने पैडल रोक दिये, तो भी साइकिल थोड़ी दूर जाएगी। और थोड़ी दूर जाना बहुत चीजों पर निर्भर होगा। थोड़ी दूर बहुत दूर भी हो सकती है--अगर साइकिल उतार पर हो; अगर चढ़ाव पर हो, तो 'थोड़ी दूर' बहुत कम दूर होगी। अगर समतल पर हो, तो भी काफी दूर होगी। अगर बिलकुल उतार हो, तो मीलों भी जा सकती है। साइकिल का पैडल बंद करने से साइकिल नहीं रुकेगी, क्योंकि पैडल जो पीछे आपने चलाये थे--अतीत में--उनसे मोमेन्टम पैदा होता है, उनसे गति पैदा होती है और चाकों में गति भर जाती है। वह गति काम करेगी।

जिस दिन कोई व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है, पुरुष में ठहर जाता है, तब शरीर में मोमेन्टम रहता है। शरीर चाक की तरह गति इकट्ठी कर लेता है-- अनेक जन्मों में। अगर उतार पर यात्रा हो, तो शरीर बहुत लम्बा चल जाएगा। इसलिए जिन लोगों को पैंतीस साल के पहले ज्ञान उपलब्ध हो जाता है, उनको शरीर को लम्बा चलाना बहुत कठिन है, क्योंकि पैंतीस साल पीक है, पैंतीस साल के बाद शरीर में उतार शुरू होता है। इसलिए विवेकानन्द, शंकर या क्राइस्ट--जो बहुत जल्दी ज्ञान को उपलब्ध हो गये, पैंतीस साल के पहले मर जाते हैं। शरीर में मोमेन्टम है, लेकिन अब यह यात्रा शरीर की ऊपर की तरफ थी।

पैंतीस साल तक शरीर ऊपर की तरफ जाता है। सत्तर साल में मौत होने वाली है, तो पैंतीस साल में पीक होती है। अस्सी साल में मौत होनेवाली है, तो चालीस साल में पीक होती है। सौ साल में मौत होने वाली है, तो पचास साल में पीक होती है।

पैंतीस में औसत ले रहा हूँ। लेकिन जो लोग पैंतीस साल के बाद ज्ञान को उपलब्ध होते हैं, उनका शरीर काफी लम्बा चल जाता है, क्योंकि शरीर तब उतार पर होता है और पुराना मोमेन्टम काफी गति देता है। इसलिए बहुत से ज्ञानी जो पैंतीस साल के पहले निर्वाण को उपलब्ध होते हैं, जिन्दा नहीं रह पाते--ज्यादा देर जिन्दा नहीं रह पाते। कठिन है जिन्दा रहना। या फिर जिन्दा रहने के लिए उन्हें उपाय करने पड़ते हैं; कोई व्यवस्था जुटानी पड़ती है। अगर उनके पास कोई संदेश हो, जिसे उन्हें हस्तांतरित करना है और वह व्यक्ति मौजूद न हो--जिसको संदेश हस्तांतरित करना है या उन व्यक्तियों के बनने में, निर्मित होने में समय हो, तो फिर उन व्यक्तियों को इन्तजाम करना पड़ता है।

लेकिन भीतर जो चाह का पैडल था, वह बंद होने से ही कठिनाई शुरू हो जाती है। इसलिए अगर आपको अनेक ज्ञानी बहुत खतरनाक बीमारियों से मरते मालूम पड़ते हैं, तो उसका कारण है। उसका कारण है कि शरीर को जो गति होनी चाहिए, वह देने वाली चाह तो समाप्त हो गई। अब तो शरीर पुरानी अर्जित शक्ति से ही चलता है। वह शक्ति बहुत कम होती है। कोई भी बीमारी तीव्रता से पकड़ ले सकती है, क्योंकि रैसिस्टेन्स कम हो जाता है।

ऐसा समझिए कि आप पैडल चला रहे थे साइकिल पर और कोई अगर आपको धक्का मार देता है, तो हो सकता था आप न भी गिरते। अगर गति तेज होती, तो आप धक्के को सम्हाल जाते और आप बिना पैडल चलाये साइकिल पर थिरे हुए थे, जैसे चील आकाश में बिना पंख चलाये थिरी होती है। बस, धीमे-धीमे साइकिल चल रही थी--मंद गति से, और कोई जरा-सा धक्का दे दे, आप फौरन गिर पड़ेंगे। रैसिस्टेंस कम होता है। जितनी तेज गति होगी, रैसिस्टेन्स ज्यादा होगा; जितनी कम गति होगी, उतनी प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है।

तो रामकृष्ण और रमण अगर कैंसर से मरते हैं, तो उसका कारण है। बहुत लोगों को चिन्ता होती है कि इतने परम ज्ञानी और इन्हें तो कम से कम कैंसर नहीं होना चाहिए! क्योंकि हम सोचते हैं: पापियों को कैंसर होता है, तो इतने परम ज्ञानी को कैंसर हो जाय! बहुत कारणों में एक कारण यह भी है कि जिनका भी भीतर शरीर के साथ गति का संबंध टूट गया...। वह संबंध ही वासना का है, चाह का है। कहीं पहुँचना है, इसलिए पैडल चलाते थे। अब कहीं भी नहीं पहुँचना है; पैडल चलना बंद हो गया है। लेकिन पुरानी शक्ति और अर्जित ऊर्जा के कारण शरीर चलेगा।

कृष्ण का यह जो कहना है कि जब कोई पुरुष में थिर हो जाता है, फिर जो भी वर्तन होता है, उससे कोई कर्म-बंध नहीं होता। क्योंकि कर्म-बंध वर्तन के

कारण नहीं होता; कर्म-बंध चाह के कारण होता है।

और वर्तन थोड़ी देर जारी रहेगा। वर्तन पुराने लीक पर जारी रहेगा। थोड़े दिन तक जीवन की धारा और बहेगी। लेकिन यह एक ही शरीर तक हो सकती है। इसलिए ज्ञानी का दूसरा जन्म नहीं होगा। क्योंकि बिना मोमेन्टम के, बिना पैडल चलाये नई साइकिल नहीं चलेगी। अगर आप अभी सवार हों सीधा साइकिल पर, और बिलकुल बिना पैडल चलाये उस पर सवार हो जायें, तो न तो सवार हो सकते हैं, सवार हो भी जायें तो फौरन गिर जाएँगे।

नया शरीर नहीं चलेगा; पुराना शरीर थोड़े दिन चल सकता है। उस थोड़े दिन में जो भी होगा, उसका कोई कर्म-बंध नहीं होगा। और यह बात उचित है। क्योंकि कुछ वर्तन तो होगा ही।

महावीर को चालीस साल में ज्ञान हुआ, फिर वे अस्सी साल तक जिन्दा रहे। तो चालीस साल जो जिन्दा रहे--ज्ञान के बाद, उन्होंने कुछ तो किया ही। दुकान नहीं चलाई, राज्य नहीं किया। किसी की हत्या नहीं की, लेकिन फिर भी कुछ तो किया ही। श्वास तो ली; श्वास में भी कीटाणु मरे। पानी तो पीया; पानी में भी कीटाणु मरे। रास्ते पर चले; पैदल चलने से भी कीटाणु मरे। रात सोये, जमीन पर लेटे, उससे भी कीटाणु मरे। भोजन किया, उसमें भी हिंसा हुई। बोले--उसमें भी हिंसा हुई। आँख की पलकें झपकीं--उसमें भी हिंसा हुई।

जीवित होना ही हिंसा है। बिना हिंसा के तो क्षण भर जीवित भी नहीं रहा जा सकता। एक श्वास आप लेते हैं, कम से कम एक लाख कीटाणु मर जाते हैं। तो कैसे बचियेगा? महावीर भी नहीं बच सकते। श्वास तो लेंगे। भोजन कम कर देंगे, लेकिन भोजन लेंगे तो। हिंसा कम हो जाएगी, लेकिन होगी तो।

तो अगर चालीस साल, ज्ञान के बाद, हिंसा जारी रही, तो मुक्ति कैसे होगी? तो फिर कर्म-बंध हो जाएगा। इतनी हिंसा के लिए फिर से जन्म लेना पड़ेगा। अब यह बड़ा जटिल--विशियस--सर्कल है। अगर हिंसा के लिए फिर से जन्म लेना पड़े, तो जन्म लेते से नई हिंसा शुरू हो जाएगी। तो फिर छुटकारे का कोई उपाय नहीं है। मुक्ति होगी कैसे? जन्म-मरण से छुटकारा कैसे होगा?

महावीर भी मानते हैं कि जैसे ही परम ज्ञान हो जाता है, फिर जो भी हो रहा है, उस होने से कोई बंध नहीं होता; उस होने से फिर कोई बंधन पैदा नहीं होता। तो ही मुक्ति संभव है, नहीं तो मुक्ति असंभव है। क्योंकि कुछ भी बाकी रहा, तो मुक्ति असंभव है।

ज्ञान के बाद जो भी हो, उसका बंधन नहीं होगा। नहीं होगा इसलिए--कि हम उसे कर नहीं रहे हैं। वह पुरानी क्रियाओं की इकट्ठी शक्ति के द्वारा हो

रहा है। सच पूछें तो वह वर्तमान में हो ही नहीं रहा है। वह अतीत का ही हिस्सा है, जो आगे लुड़का जा रहा है। जिस दिन आपका शरीर और आपका कर्म बिना पैडल चलाये साइकिल की तरह लुड़कने लगते हैं और आप सिर्फ द्रष्टा रह जाते हैं, उस दिन आपके लिए फिर कोई भविष्य, कोई जन्म, कोई जीवन नहीं है।

● एक और मित्र ने पूछा है कि व्यक्ति जैसा भाव करता है, वैसा ही बन जाता है, तो क्या मुक्त होने के भाव को गहन करने से वह मुक्त भी हो सकता है?

कभी भी नहीं। क्योंकि मुक्त होने का अर्थ ही है--भाव से मुक्त हो जाना। इसलिए संसार में सब कुछ हो सकता है भाव से, मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति संसार का हिस्सा नहीं है।

भाव है संसार का विस्तार या संसार है भाव का विस्तार। तो आप जो भी भाव से चाहें, वही हो जाएँगे। स्त्री होना चाहें--स्त्री; पुरुष होना चाहें--पुरुष; पशु होना चाहें--पशु; पक्षी होना चाहें--पक्षी; स्वर्ग में देवता होना चाहें तो, नरक में भूत-प्रेत होना चाहें तो, जो भी आप होना चाहें--एक मुक्ति को छोड़कर --आप अपने भाव से होते हैं और हो सकते हैं।

मुक्ति का अर्थ ही उलटा है। मुक्ति का अर्थ है कि अब हम कुछ भी नहीं होना चाहते। अब जो हम हैं--उससे ही राजी हैं। अब हम कुछ होना नहीं चाहते हैं।

जब तक आप कुछ होना चाहते हैं, तब तक आप जो हैं, उससे आप राजी नहीं हैं। 'कुछ' होना चाहते हैं।

गरीब अमीर होना चाहता है; स्त्री पुरुष होना चाहती है; दीन धनी होना चाहता है। कुछ होना चाहता है। पशु पुरुष होना चाहता है; पुरुष स्वर्ग में देवता होना चाहता है। लेकिन कुछ होना चाहते हैं--कुछ होना चाहते हैं।

कुछ होना चाहने का अर्थ है कि जो मैं हूँ--उससे मैं राजी नहीं हूँ; मैं कुछ और होना चाहता हूँ। और जो आप हैं, वही आपका सत्य है। और जो भी आप होना चाहते हैं, वह झूठ है।

भाव से झूठ पैदा हो सकते हैं, सत्य पैदा नहीं होता। सत्य तो है ही। इसलिए सभी भाव असत्य को जन्माते हैं। सारा संसार इसीलिए माया है, क्योंकि वह भाव से निर्मित है।

आप जो होना चाहते हैं, वह हो जाते हैं। जो आप हैं, वह तो आप हैं ही। वह इस होने के पीछे दबा पड़ा रहता है। जैसे राख में अंगारा दबा होता है, ऐसे आपके होने में, बिकमिंग में आपका बीईंग--आपका अस्तित्व--दबा रहता है।

जिस दिन आप थक जाते हैं होने से, आप कहते हैं : 'अब कुछ भी मुझे होना नहीं है, अब तो जो मैं हूँ, राजी हूँ। अब मुझे कुछ भी नहीं होना है। अब तो जो

मेरा होना है; वही ठीक है। मेरा अस्तित्व ही अब मेरे लिए काफी है। अब मेरी कोई वासना, कोई दौड़ नहीं है।'

जिस दिन आपकी भाव की यात्रा बंद हो जाती है, आप मुक्त हो जाते हैं। इसलिए भावना से आप मुक्त न हो सकेंगे। भावना संसार का स्रोत है। भावना रुक जाएगी, तो आप मुक्त हो जाएँगे।

यह कहना भी ठीक नहीं--कि मुक्त आप हो जाएँगे; क्योंकि मुक्त आप हैं। भावना के कारण आप बँधे हैं। आपकी मुक्ति भावना के जाल में बँधी है। जिस दिन भावना का जाल गिर जाएगा, आप मुक्त हैं।

आप सदा मुक्त थे। मोक्ष कोई भविष्य नहीं है। और मोक्ष कोई स्थान नहीं है। ध्यान रहे : मोक्ष आपका स्वभाव है। आप जो हैं--अभी--इसी वक्त --इसी क्षण--वही आपका मोक्ष है। लेकिन वह आप होना नहीं चाहते। आप कुछ और होना चाहते हैं।

कोई भी स्वयं होने से राजी नहीं है। कोई 'कुछ और' होना चाहता है, कोई कुछ और होना चाहता है!

राजनीतिज्ञ मेरे पास आते हैं, वे साधु होना चाहते हैं। साधु मेरे पास आते हैं, उनकी बात सुन के लगता है कि वे राजनीतिज्ञ होना चाहते हैं। गरीब अमीर होना चाहते हैं। अमीर मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि बुरे उलझ गए हैं, बड़ी मुसीबत में हैं। इससे तो गरीब बेहतर।

हमने जाना भी है : बुद्ध और महावीर अमीर घरों में पैदा हुए और गरीब हो गए। छोड़ के--सड़क पर खड़े हो गए।

अमीर गरीब होना चाहते हैं। आज अमेरिका में गरीब होने की दौड़ खड़ी हो रही है, क्योंकि अमेरिका खूब अमीर हो गया है। तो नये बच्चे--लड़के, लड़कियाँ हिप्पी हो रहे हैं; वे छोड़ रहे हैं। वे कहते हैं कि भाड़ में जाय तुम्हारा धन, तुम्हारे महल, तुम्हारी कारें। हमें कुछ भी नहीं चाहिए। हमें जिंदगी चाहिए--सीधी, सरल।

अमीर गरीब होना चाहता है; गरीब अमीर होना चाहता है। कोई कुछ होना चाहता है, कोई कुछ होना चाहता है। एक बात पक्की है कि कोई भी स्वयं नहीं होना चाहता।

आप भी अपने भीतर न मालूम क्या-क्या सोचते रहते हैं। किसी को गांधी बनना है, किसी को विवेकानन्द बनना है, किसी को क्राइस्ट बनना है। बस, एक बात भर नहीं--जो आप हैं, वह भर नहीं बनना है; बाकी सब बनना है।

संसार का अर्थ है : कुछ और होने की दौड़। मोक्ष का अर्थ है : स्वयं होने के लिए राजी हो जाना। उसके लिए किसी भावना की जरूरत नहीं है। इसलिए

अगर आप भावना करके मुक्त होंगे, तो वह मुक्ति झूठी होगी । वह भी चेष्टित होगी--और मन का ही फैलाव होगा ।

कई लोग भावना करके मुक्त होने की चेष्टा करते रहते हैं । ऐसा समझाते रहते हैं कि 'हम तो आत्मा हैं, मुक्त हैं । यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह संसार मैं नहीं हूँ' --ऐसा समझा-समझा के, कोशिश कर कर के, चेष्टा से अपने को मुक्त मान लेते हैं । उनकी मुक्ति भी चेष्टित है ।

चेष्टित कोई मुक्ति हो सकती है ? जिसके लिए चेष्टा करनी पड़े, वह मुक्ति नहीं हो सकती । क्योंकि चेष्टा तो बंधन बन जाती है । और जिसे सम्हालना पड़े --रोज-रोज--वह मुक्ति नहीं हो सकती । मुक्ति तो वही है--जिसे सम्हालना न पड़े--जो है ही ।

नदी को नदी होने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ रही है । बादलों को आकाश में बादल होने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ रही है । आप के भीतर भी जो स्वभाव है, वह नदी और बादलों की तरह है, उसे होने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी है । और आप चेष्टा में लगे हैं । इसलिए एक बहुत कीमती बात समझ लें :

जो दुनिया में परम ज्ञान के संदेश-वाहक हुए हैं, उन्होंने कहा है कि वह जो परम ज्ञान है--चेष्टा रहित है, एफर्टलेस है । उसमें कोई प्रयत्न नहीं है । उसमें कुछ भी किया--कि गलती हो जाएगी । उसमें कुछ करना भर मत । करना बंद कर देना और कुछ न करना; यह जो करने का जाल है, उसे छोड़ देना और तुम न-करने में ठहर जाना ।

कृष्ण यही कह रहे हैं कि वह जो पुरुष है, वह न तो कुछ करता है, न कुछ भोगता है । वह सिर्फ है । शुद्ध स्वभाव है ।

उस पुरुष को ऐसे शुद्ध स्वभाव में जान लेना और समझना कि सब कुछ प्रकृति करती है और सब कुछ प्रकृति में होता है और मुझमें कुछ भी नहीं होता । मैं हूँ निष्क्रिय; प्रकृति है सक्रिय । कर्म मात्र प्रकृति में है और मैं अकर्म हूँ--ऐसी प्रतीति, ऐसा बोध, ऐसा इहलाम, ऐसा एहसास--फिर कोई बंधन नहीं है, फिर कोई संसार नहीं है ।

अब हम सूत्र को लें ।

'हे अर्जुन, उस परम पुरुष को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञान-योग के द्वारा देखते हैं । और अन्य कितने ही निष्काम कर्म-योग के द्वारा देखते हैं ।'

कृष्ण कहते हैं : वह जो परम पुरुष की स्थिति है, उस स्थिति को देखने के

बहुत द्वार हैं । 'कुछ लोग शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं । शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा. . . ।

बुद्धि को सूक्ष्म और शुद्ध करने की प्रक्रियाएँ हैं । बुद्धि साधारणतया स्थूल है । और स्थूल होने का कारण यह है कि स्थूल विषयों से बँधी है ।

आप क्या सोचते हैं बुद्धि से ? अगर आप अपने मन का विश्लेषण करें, तो आप पायेंगे कि आपके सोचने-विचारने में कोई पचास प्रतिशत से लेकर नब्बे प्रतिशत तो काम-वासना का प्रभाव होता है । उसका अर्थ है : आप शरीरों के सम्बन्ध में सोचते हैं । पुरुष स्त्रियों के शरीर के सम्बन्ध में सोचता रहता है ।

तो जब आप शरीर के सम्बन्ध में सोचते हैं, तो बुद्धि भी शरीर जैसी ही स्थूल हो जाती है । बुद्धि जो भी सोचती है, उसके साथ तत्सम हो जाती है ।

अगर आप शरीरों के संबंध में कम सोचते हैं, काम-वासना से कम ग्रसित हैं, तो धन के सम्बन्ध में सोचते हैं--मकानों, कारों के सम्बन्ध में सोचते हैं, जमीन-जायदाद के सम्बन्ध में सोचते हैं । वह भी सब स्थूल है और उसमें भी बुद्धि वैसी ही हो जाती है ।

जो आप सोचते हैं, बुद्धि उसी का रूप ग्रहण कर लेती है । सोचते-सोचते सोचते-सोचते बुद्धि वैसी ही हो जाती है ।

खयाल करें आप : आप जो भी सोचते हैं, क्या आपकी बुद्धि उसी तरह की नहीं हो गई है ? एक चोर की बुद्धि चोर हो जाती है । एक कंजूस की बुद्धि कंजूस हो जाती है । एक हत्यारे की बुद्धि भी हत्या से भर जाती है । जो भी वह कर रहा है, सोच रहा है, चिन्तन कर रहा है, मनन कर रहा है, वह धीरे-धीरे उसकी बुद्धि का रूप हो जाता है ।

बुद्धि को सूक्ष्म करने का अर्थ है कि धीरे-धीरे स्थूल पदार्थों से बुद्धि को मुक्त करना है और उसे सूक्ष्म आब्जेक्ट, सूक्ष्म विषय देना है । जैसे कि आप सूरज को देखें--तो यह स्थूल है । आप आँख बंद कर लें और सूरज का जो बिम्ब भीतर आँख में रह गया--निगेटिव--उस बिम्ब पर ध्यान करें । वह बिम्ब ज्यादा सूक्ष्म है । फिर आप बिम्ब पर ध्यान करते जायँ, ध्यान करते जायँ--आप देखेंगे कि बिम्ब थोड़ी देर में खो जाता है । आप रोज ध्यान करेंगे, तो बिम्ब ज्यादा देर टिकने लगेगा । बिम्ब ज्यादा देर नहीं टिकता; आपकी बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है, इसलिए आप ज्यादा देर तक उसे देख पाते हैं । रोज-रोज आप करेंगे, तो आप पायेंगे कि सूरज को देखने की जरूरत न रही, आप आँख बंद करते हैं और सूक्ष्म बिम्ब उपस्थित हो जाता है । अब आप इस बिम्ब को देखते रहते हैं--देखते रहते हैं ।

पहले तो जब बुद्धि स्थूल रहेगी, तो बिम्ब फीका पड़ता जाएगा । और जब बुद्धि सूक्ष्म होने लगेगी, तो आप चकित होंगे । जैसे-जैसे आप भीतर देखेंगे, बिम्ब उतना ही तेजस्वी होने लगेगा ।

जब बिम्ब पहले देखने में तो फीका लगे और फिर उसकी तेजस्विता बढ़ती जाय, तो समझना कि आपकी बुद्धि सूक्ष्म हो रही है । जब बिम्ब पहले तो तेजस्वी लगे और फिर धीरे-धीरे उसमें फीकापन आता जाय, तो समझना कि आपकी बुद्धि स्थूल है; सूक्ष्म को नहीं पकड़ पाती है, इसलिए बिम्ब फीका होता जा रहा है ।

कान से आवाज सुनते हैं आप, जितने जोर की आवाज हो, उतनी आसानी से सुनाई पड़ती है; जितनी धीमी आवाज हो, उतनी मुश्किल से सुनाई पड़ती है । जोर की आवाजें सुनते-सुनते आपकी सुनने की जो बुद्धि है, वह स्थूल हो गई है । कान कभी बंद कर लें और कभी भीतर की सूक्ष्म आवाजें सुनें । धीरे-धीरे भीतर आवाजों का नया जगत् प्रगट होगा । एक ध्वनियों का जाल प्रगट हो जाएगा और-और सुनते जायँ--और एक ही ध्यान रहे कि मैं सूक्ष्म से सूक्ष्म को सुनूँ ।

ऐसा करें कि बाजार में आप खड़े हैं । आँख बंद कर लें । जो तेज आवाज है, वह तो अपने आप सुनाई पड़ती है । बीच बाजार में सड़क पर खड़े होकर आँख बंद करके इन सारी आवाजों में जो सबसे सूक्ष्म आवाज है, उसे पकड़ने की कोशिश करें । आप चकित होंगे कि जैसे ही आप सूक्ष्म को पकड़ने की कोशिश करेंगे, जो बड़ी आवाजें है, वे आपके ध्यान से अलग हो जाएँगी, फौरन हट जाएँगी; और सूक्ष्म आवाजें प्रगट होने लगेंगी । और आप कभी चकित भी हो सकते हैं कि एक पक्षी वृक्ष पर बोल रहा था, वह सड़क के ट्रैफिक और उपद्रव में अचानक आपको सुनाई पड़ने लगा । सारा ट्रैफिक जैसे दूर हो गया और पक्षी की धीमी आवाज प्रगट हो गई ।

स्थूल आवाजों को छोड़ के सूक्ष्म को सुनने की कोशिश करें । उस माता में आपकी बुद्धि सूक्ष्म होगी । फिर धीरे से कान को बंद करके भीतर की आवाजें सुनें । जब ऐसे ऐसे कोई उतरता जाता है, तो आखिरी जो सूक्ष्मतम आवाज है, नाद है--भीतर ओंकार की ध्वनि -- वह सुनाई पड़नी शुरू होती है । जिस दिन वह सुनाई पड़ने लगे, समझना आपके पास शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि पैदा हो गई । नाद सुनाई पड़ने लगे तो वह पहचान है कि आपके भीतर शुद्ध बुद्धि पैदा हो गई । इसलिए हम अपने प्राचीन विद्यालयों में--इस मुल्क में, पहला यह काम करते थे. . . । अभी हम उलटे काम में लगे हैं । अभी हम सारी दुनिया में शिक्षा देते हैं, वे सभी स्थूल हैं ।

इस देश में हमने इस बात की फिक्र की थी कि विद्यार्थी जब गुरुकुल में मौजूद हो, तो पहला काम उसकी बुद्धि को सूक्ष्म करने का । जब तक उसके पास सक्ष्म बुद्धि नहीं है, तब तक क्या होगा ? उसके पास स्थूल बुद्धि है, हम स्थूल शिक्षा उसे दे सकते हैं । वह शिक्षित भी हो जाएगा, पंडित भी हो जाएगा, लेकिन ज्ञानी कभी भी नहीं हो पायेगा । पहले उसकी इस बुद्धि को स्थूल से सूक्ष्म करना है; पहले उसके उपकरण को निखार लेना है ।

अभी हम विद्यार्थियों को भेज देते हैं विद्यालय में और विद्यालय में शिक्षक उन पर हमला बोल देते हैं । सिखाना शुरू कर देते हैं--बिना इसकी फिक्र किये कि सीखने का जो उपकरण है, वह अभी सूक्ष्म भी हुआ था या नहीं; अभी उसमें धार भी आई थी या नहीं । अभी वह स्थूल ही है; उस स्थूल पर हम फेंकना शुरू कर देते हैं चीजें--और भी स्थूल हो जाता है ।

इसलिए विश्वविद्यालय से निकलते-निकलते करीब-करीब बुद्धि कुंठित हो जाती है । बुद्धि ले कर नहीं लौटते हैं विद्यार्थी विश्वविद्यालय से । खो के लौटते हैं । हाँ, कुछ तथ्य याद करके, स्मृति भर के लौट आते हैं । परीक्षा दे सकते हैं । लेकिन बुद्धिमत्ता नाम मात्र को भी नहीं दिखाई पड़ती ।

तो आज अगर सारे विश्वविद्यालयों में उपद्रव है--सारी दुनिया में--तो उसका कारण यह है । उसका कारण, बुनियादी कारण यह है कि आप उनसे बुद्धिमत्ता तो छीन लिए हैं और केवल स्मृति उनको दे दिये हैं । स्मृति का उपद्रव है । बुद्धिमत्ता बिलकुल नहीं है, विसडम बिलकुल भी नहीं है ।

और बुद्धिमत्ता पैदा होती है--बुद्धि की सूक्ष्मता से । कितना आप जानते --इससे नहीं । क्या आप जानते हैं--इससे भी नहीं । कितनी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं--इससे भी नहीं । कितनी पी.एच.डी. और डी. लिट. आपके पास है--इससे भी नहीं । बुद्धिमत्ता उपलब्ध होती है : कितनी सूक्ष्म बुद्धि आपके पास है--उससे । इसलिए यह भी हो सकता है कि कभी कोई बिलकुल अपढ़ आदमी भी बुद्धि की सूक्ष्मता को उपलब्ध हो जाय और यह तो अकसर होता है कि बहुत पढ़े-लिखे आदमी बुद्धि की सूक्ष्मता को उपलब्ध होते ही दिखाई नहीं पड़ते हैं ।

पंडित में बुद्धि की सूक्ष्मता पानी जरा मुश्किल है । बहुत कठिन है । जरा मुश्किल संयोग है । कभी-कभी ग्राम के ग्रामीण में--चरवाहे में भी कभी-कभी बुद्धिमत्ता की झलक दिखलाई पड़ती है । उसके पास बुद्धि का संग्रह नहीं है । लेकिन एक सूक्ष्म बुद्धि हो सकती है । इसलिए कबीर जैसा गैर-पढ़ा-लिखा आदमी भी परम ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है ।

परम ज्ञान का सम्बन्ध आपके पास कितनी सम्पदा है--स्मृति की, इससे नहीं है । परम ज्ञान का सम्बन्ध इससे है : आपके पास कितने सूक्ष्मतम को पकड़ने की क्षमता है; आप कितने ग्राहक, कितने रिसेप्टिव हैं, कितनी बारीक ध्वनि आप पकड़ सकते हैं और कितना बारीक स्पर्श, कितना बारीक स्वाद, कितनी बारीक गंध...।

क्योंकि भीतर सब बारीक है। बाहर सब स्थूल है, भीतर सब सूक्ष्म है। जब भीतर के जगत् को अनुभव करना हो तो सूक्ष्मता और शुद्धि की जरूरत है।

कृष्ण कहते हैं कि 'शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं।' जब किसी के पास भीतर सूक्ष्म बुद्धि होती है, तो हृदय की तरफ उसे मोड़ दिया जाता है। वह बहुत कठिन नहीं है। पर सूक्ष्म बुद्धि का होना पहले जरूरी है।

करीब-करीब जैसे आपके पास एक दूर-वीक्षण यंत्र हो, आप उसे लगा कर आँख में और किसी भी तारे की तरफ मोड़ दे सकते हैं। फिर जिस तरफ आप मोड़ेंगे, वही तारा प्रगाढ होकर प्रगट हो जाएगा। ठीक वैसे ही जब सूक्ष्म बुद्धि भीतर होती है, तो एक रास्ता है--उसे हृदय की ओर मोड़ देना। उस सूक्ष्म बुद्धि को हृदय पर लगा देना है ध्यानपूर्वक, तो उस हृदय के मंदिर में परमात्मा का आविष्कार कर लेते हैं।

'कितने ही अन्य उसे ज्ञान-योग के द्वारा देखते हैं।'...

यह हृदय की तरफ लगा देना भक्ति-योग है। हृदय भक्ति का केन्द्र है--प्रेम का। तो सूक्ष्म हुई बुद्धि को जब कोई प्रेम के केन्द्र--हृदय की तरफ लगा देता है, तो मीरा का, चैतन्य का जन्म हो जाता है।

कृष्ण कहते हैं : 'कितने ही उसे ज्ञान-योग के द्वारा...।' वही सूक्ष्म बुद्धि है, लेकिन उसे हृदय की तरफ न लगाकर मस्तिष्क का जो आखिरी केन्द्र है--सहस्रार--उसकी तरफ मोड़ देना। सहस्रार में जो परमात्मा का दर्शन करते हैं--वह ज्ञान-योग है।

'और कितने ही निष्काम-कर्म-योग के द्वारा देखते हैं।' कितने ही अपनी उस सूक्ष्म हुई बुद्धि को अपने कर्म-धारा की तरफ लगा देते हैं। वे जो करते हैं, उस करने में उस सूक्ष्म बुद्धि को समाविष्ट कर देते हैं, तो करने से मुक्त हो जाते हैं। कर्ता नहीं रह जाता है।

ये तीन मार्ग हैं : भक्ति, ज्ञान, कर्म।

भक्ति उत्पन्न होती है हृदय से। जो बुद्धि है, वह तो एक ही है; जो उपकरण है, वह तो एक ही है। उसी एक उपकरण को हृदय की तरफ बहा देने से भक्त जन्म जाता है। उसी उपकरण को सहस्रार की तरफ बहा देने से ज्ञानी का जन्म हो जाता है--बुद्ध पैदा होते हैं, महावीर पैदा होते हैं। और उसी को कर्म की तरफ लगा देने से क्राइस्ट पैदा होते हैं, मुहम्मद पैदा होते हैं।

मुहम्मद और क्राइस्ट न तो भक्त हैं और न ज्ञानी हैं--शुद्ध कर्म-योगी हैं। जो लोग ज्ञान-योग की धारा में बहते हैं, वे सोच ही नहीं सकते कि मुहम्मद को तलवार ले कर और युद्धों में जाने की क्या जरूरत है। हम सोच भी नहीं सकते कि क्राइस्ट को सूली पर लटकने की क्या जरूरत है। उपद्रव में पड़ने की क्या जरूरत है?

क्रांति इत्यादि तो सब उपद्रव हैं। ये तो उपद्रवियों के लिए हैं। हम सोच भी नहीं सकते कि बुद्ध कोई बगावत कर रहे हैं और सूली पर लटकाए जा रहे हैं। क्योंकि बुद्ध ज्ञान-योगी हैं। वे अपने सहस्रार की तरफ शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि को मोड़ रहे हैं। क्राइस्ट अपने कर्म की धारा की तरफ। इसलिए ईसाइयत की सारी धारा कर्म की तरफ हो गई है। इसलिए सेवा धर्म बन गया। इसलिए ईसाई मिशनरी जैसी सेवा कर सकता है, दुनिया के किसी धर्म का कोई मिशनरी वैसी सेवा नहीं कर सकता। उसके कारण बहुत गहरे हैं। उसमें कोई कितनी ही नकल करे...।

यहाँ हिन्दुओं के बहुत से समूह हैं, जो नकल करने की कोशिश करते हैं, पर वह नकल ही साबित होती है। क्योंकि वह उनकी मूल धारा नहीं है। क्राइस्ट की पूरी साधना सूक्ष्म हुई बुद्धि को कर्म की तरफ लगाने की है। फिर कर्म ही सब कुछ है। फिर वही पूजा है, वही प्रार्थना है।

इसलिए एक ईसाई फकीर एक कोढ़ी के पास जिस प्रेम से बैठकर सेवा कर सकता है, कोई हिंदू संन्यासी नहीं कर सकता। कोई जैन संन्यासी तो पास ही नहीं आ सकता--करने की तो बात बहुत दूर। कोढ़ी के पास! वह सोच ही नहीं सकता। वह अपने मन में सोचेगा : ऐसे हमने कोई पाप कर्म ही नहीं किये, जो कोढ़ी की सेवा करें। कोढ़ी की सेवा तो वह करे, जिसने कोई पाप कर्म किये हों। हमने ऐसे कोई पाप कर्म नहीं किये हैं।

हिन्दू संन्यासी सोच ही नहीं सकता सेवा की बात, क्योंकि हिन्दू संन्यासी को खयाल ही यह है कि संन्यासी की सेवा दूसरे लोग करते हैं। संन्यासी किसी की सेवा करता है? यह क्या पागलपन की बात है कि संन्यासी किसी के पैर दबाये। संन्यासी के सब लोग पैर दबाते हैं।

उसकी भी गलती नहीं है, क्योंकि वह जिस धारा से निष्पन्न हुआ है, वह ज्ञान-योग की धारा है; उसका कर्म से कोई लेना नहीं है; उसका सहस्रार से सम्बन्ध है। वह अपनी सारी चेतना को सहस्रार की तरफ मोड़ लेता है। और जब कोई अपनी सारी चेतना को सहस्रार की तरफ मोड़ लेता है तब स्वभावतः दूसरों को उसकी सेवा करनी पड़ती है, क्योंकि तब वह बिलकुल ही बेहाल हो जाता है। न उसे भोजन की फिक्र है, न उसे शरीर की फिक्र है। दूसरे उसकी सेवा करते हैं। इसलिए हमने संन्यासियों की सेवा की, क्योंकि वे समाधि में जा रहे थे।

रामकृष्ण मूर्च्छित पड़े रहते थे--छः छः दिन तक। दूसरे उनकी सेवा करते थे। छः दिन तक उनको दूध पिलाना पड़ता, पानी पिलाना पड़ता। वे मूर्च्छित ही पड़े हैं। वे डूब गए हैं--अपने केन्द्र में; वहाँ से लौटने के लिए शरीर को सम्हालना पड़ेगा। नहीं तो वे खत्म ही हो जाएँगे; शरीर सड़ जाएगा।

तो संन्यासी की हमने सेवा की, क्योंकि संन्यासी या तो ज्ञान या भक्ति की तरफ मुड़ा हुआ था। क्राइस्ट ने धारा मोड़ दी कर्म की तरफ।

तो कृष्ण कहते हैं : कोई कर्म की तरफ धारा को मोड़कर, निष्काम कर्म योग के द्वारा, परमात्मा को देख लेते हैं।

निष्काम कर्म योग के द्वारा परमात्मा दूसरों में दिखाई पड़ेगा। निष्काम कर्म योग के द्वारा परमात्मा चारों तरफ दिखलाई पड़ने लगेगा। जिसकी भी आप सेवा करेंगे, वहीं परमात्मा दिखाई पड़ने लगेगा, क्योंकि वह सूक्ष्म यंत्र जो बुद्धि का है, अब उस पर लग गया।

एक बात सार की है कि शुद्ध हुई बुद्धि को जहाँ भी लगा दें, वहाँ परमात्मा दिखाई पड़ेगा। और अशुद्ध बुद्धि को जहाँ भी लगा दें, वहाँ सिवाय पदार्थ के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है।

'परन्तु इससे दूसरे जो पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्त्व को जानने वाले पुरुषों से सुन कर ही उपासना करते हैं और वे सुनने के परायण हुए भी मृत्युरूप संसार सागर को निस्संदेह तर जाते हैं।'

लेकिन ये तीन बड़ी प्रखर यात्राएँ हैं; ज्ञान की, भक्ति की, कर्म की--ये बड़ी प्रखर यात्राएँ हैं। और कोई बहुत ही जीवट के पुरुष इन पर चल पाते हैं। सभी लोग इतनी प्रगाढ़ता से, इतनी प्रखरता से, इतनी त्वरा और तीव्रता से, इतनी बेचैनी, इतनी अभीप्सा से नहीं चल पाते हैं; उनके लिए क्या मार्ग है?

तो कृष्ण कहते हैं--'अर्थात् वे दूसरे भी इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से, जिन्होंने जाना है, उससे सुन कर भी उपासना करते हैं और सुनने में परायण हुए मृत्यु-रूप संसार सागर को निस्संदेह तर जाते हैं।'

इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए। क्योंकि हममें से अधिक लोग उन तीन कोटियों में नहीं आयेंगे। हममें से अधिक लोग इस चौथी कोटि में आयेंगे--जो तीनों में किसी पर भी जा नहीं सकते; जो तीनों में से किसी पर जाने की अभी अभीप्सा भी अनुभव नहीं करते हैं। लेकिन वे भी, जिन्होंने जाना है, अगर उनकी बात सुन लें...। वह भी आसान नहीं है। जिन्होंने जाना है--उनकी बात सुन लें और उनकी बात सुन कर उसमें परायण हुए, उसमें डूब जायँ, लीन हो जायँ, उससे उनकी उपासना का जन्म हो जाय, तो वे भी मृत्यु के सागर को तर जाते हैं, अमृत को उपलब्ध हो जाते हैं।

मगर कई शर्तें हैं। पहली शर्त : जिन्होंने जाना है--उससे सुनें--फर्स्ट हैंड। जिनने जाना है...। अगर आप खुद जान लें मौलिक रूप से स्वयं, तब तो ठीक है, वे तीन रास्ते हैं। अगर यह संभव न हो, तो जिनने जाना है, उनसे सीधा

सुनें। शास्त्र काम न देंगे, कोई गुरु उपयोगी होगा। जिसने जाना हो, उससे सीधा सुनें, क्योंकि अभी उससे जो शब्द निकलेंगे, उसका जो स्पर्श होगा, उसकी जो वाणी होगी, उसमें ताजी हवा होगी, उसके अपने अनुभव होंगे। इसलिए शास्त्र पर कम और गुरु पर ज्यादा जोर है।

अधिक लोगों के लिए--चौथा मार्ग जिनका होगा--उनके लिए गुरु रास्ता है। और शास्त्र का अर्थ भी गुरु के द्वारा ही खुलेगा। क्योंकि शास्त्र तो कोई हजार साल, दस हजार साल पहले लिखा गया है। दस हजार साल पहले जो कहा गया है, उसमें बहुत कुछ जोड़ा गया, घटाया गया; दस हजार साल की यात्रा में बहुत कचरा भी इकट्ठा हो गया, धूल भी जम गई। वह जो अनुभव था दस हजार साल पहले का शुद्ध, वह अब शुद्ध नहीं है, वह बहुत बासा हो गया है।

फिर किसी व्यक्ति के पास जायँ, जिसमें अभी आग जल रही हो, जो अभी जिन्दा हो, अपने अनुभव से दीप्त हो; जिसके रोयें-रोयें में अभी खबर हो; जिसने अभी-अभी जाना और जिया हो सत्य को; जो अभी-अभी परमात्मा से मिला हो; जिसके भीतर पुरुष ठहर गया हो और जिसका शरीर और जिसका संसार अब केवल एक अभिनय रह गया हो, अब उसके पास बैठ कर सुनें।

उपासना का अर्थ है : पास बैठना। उपासना शब्द का अर्थ है--पास बैठना। उपनिषद् शब्द का अर्थ है--पास बैठ के सुनना। ये शब्द बड़े कीमती हैं : उपासना, उपनिषद्।

...पास बैठ के--किसके पास?--कोई जीवन्त अनुभव जहाँ हो।
--सुनना।

सुनना भी बहुत कठिन है, क्योंकि पास बैठने में पात्रता बनानी पड़ेगी। अगर जरा-सा भी अहंकार है, तो आप पास बैठ के भी बहुत दूर हो जाएँगे।

गुरु के पास बैठना हो तो अहंकार बिलकुल नहीं चाहिए, क्योंकि वही फासला है। स्थान का कोई फासला नहीं है--गुरु के और तुम्हारे बीच। फासला तुम्हारे अहंकार का है।

लोग सीखने भी आते हैं, तो बड़ी अकड़ से आते हैं। लोग सीखने भी आते हैं, तो भी आते नहीं हैं। उनको खयाल होता है कि आते हैं।

यहाँ ऐसा हुआ। एक बहुत बड़े करोड़पति परिवार में--भारत के सबसे बड़े करोड़पति परिवार में--किसी की मृत्यु हुई, तो मुझे उन्होंने खबर भेजी कि 'आप हमारे यहाँ आयें; हमारे घर में मृत्यु घटित हो गई है, तो आप कुछ अमृत के संबंध में हमें समझाएँ।' तो मैंने उन्हें कहा कि 'समझना तुम्हें हो, तो तुम्हें मेरे पास आना होगा।' उन्होंने मुझे खबर भेजी कि 'लेकिन आप ऐसा क्यों कहते हैं!

क्योंकि और सब गुरु तो आ रहे हैं। और हम हजार रुपया प्रत्येक को भेंट भी करते हैं।

तो वे अमृत को हजार रुपये में खरीदने का इरादा रखते हैं! या अमृत के सम्बन्ध में हजार रुपये में उनको कोई बता देगा--ऐसा खयाल रखते हैं। और उन्हें जो वहाँ बताने जा रहा है, उसे भी अमृत से कोई मतलब नहीं है; हजार रुपयों से ही मतलब होगा।

असल में गुरु आपके पास नहीं आ सकता। इसलिए नहीं कि इसमें कोई अड़चन है, बल्कि इसलिए कि आने में बात ही व्यर्थ हो गई। कोई अर्थ ही न रहा। आपको ही उसके पास जाना पड़ेगा, क्योंकि जाना केवल कोई भौतिक प्रक्रिया नहीं है; जाना भीतर के अहंकार का सवाल है।

वे हैं करोड़पति, अरबपति, तो कैसे वे किसी के पास जा सकते हैं! अगर कैसे किसी के पास जा सकते हैं...और सभी उनके पास आते हैं, तो एक बात पक्की है कि वे गुरु के पास कभी नहीं पहुँच सकते हैं। और जो तथाकथित गुरु, उनके पास पहुँचते हैं, वे गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि पहुँचने का जो सम्बन्ध है, वह शिष्य को ही शुरू करना पड़ेगा; उसे ही निकटता लानी पड़ेगी, उसे ही पात्र बनना पड़ेगा।

नदी घड़े के पास नहीं आती, घड़े को ही नदी के पास जाना पड़ेगा और घड़े को ही झुकना पड़ेगा नदी में, तो ही नदी घड़े को भर सकेगी। नदी तैयार है भरने को, लेकिन घड़ा कहे कि मैं अकड़ के अपनी जगह बैठा हूँ, मैं झुकूँगा नहीं; नदी आये और मुझे भर दे और मैं हजार रुपये भेंट करूँगा, तो नदी नहीं आ सकती। हाँ, कोई 'नल की टोंटी' आ सकती है। पर नल की टोटियों में और नदियों में बड़ा फर्क है।

कोई पंडित आ सकता है, कोई गुरु नहीं आ सकता।

तो पास पहुँचना एक कला है--विनम्रता, निरअहंकार भाव सीखने की तैयारी है। सीखने की उत्सुकता हो, तो सीखने में बाधा न डालें--फिर सुनें। क्योंकि सुनना भी बहुत कठिन है। क्योंकि जब आप सुनते भी हैं, तब भी सुनते कहाँ है। सोचते ज्यादा हैं। सोचेंगे आप क्या?

जब अब सुन रहे हैं, तब भी आप सोच रहे हैं कि अच्छा, यह अपने मतलब की बात है; यह अपने सम्प्रदाय की है; अपने शास्त्र में ऐसा लिखा है कि नहीं।

अब जिन मित्र ने यह सवाल पूछा है कि 'महावीर और बुद्ध ने अहिंसा की बात की और कृष्ण तो हिंसा की बात कर रहे हैं-- इनको कैसे भगवान् मानें', वे यहाँ बैठे हैं। वे बिलकुल नहीं सुन पा रहे होंगे। उनके प्राण बड़े बेचैन होंगे कि

बड़ी मुसीबत हो गई। वे सुन ही नहीं सकते, क्योंकि सुनते समय उनके भीतर तौल चल रही है: कौन भगवान् है? कृष्ण भगवान् हैं कि नहीं? क्योंकि वे हिंसा की बात कह रहे हैं। कैसे भगवान् हो सकते हैं!

तुमसे पूछ कौन रहा है? तुम्हारा मत माँगा भी नहीं गया है। और कृष्ण कोई तुम्हारे वोट के कारण भगवान् होने को नहीं हैं। तुम चिंता कर रहे हो। तुम वोट नहीं दोगे, तो वे भगवान् नहीं रह जाएँगे--ऐसा कुछ नहीं है। दुनिया में सब लोग इनकार कर दें, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। सब लोग स्वीकार कर लें, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता।

कृष्ण के होने में कोई अन्तर नहीं आता इससे कि कौन क्या मानता है। वह तुम्हारी अपनी झंझट है। उससे उनका कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन तुम परेशान हो।

अब उन्होंने अहिंसा की बात नहीं कही; हिंसा की बात कही; तुम अपने अहिंसा के सिद्धांत को पकड़े बैठे हो, वह सिद्धांत तुम्हें सुनने न देगा। वह सिद्धांत बीच में दीवाल बन जाएगा। उस सिद्धांत की वजह से--जो कहा जा रहा है--उसके तुम कुछ और मतलब निकालोगे--जो कहे ही नहीं गये। तुम सब विकृत कर लोगे। तुम अपनी बुद्धि को बीच में डाल लोगे और गुरु ने जो कहा है, उस सब को नष्ट कर दोगे।

पास बैठना चुप हो कर, मौन होकर...। इसलिए बहुत बार पुरानी परम्परा तो यही थी कि शिष्य गुरु के पास जाय, तो साल दो साल कुछ पूछे न; सिर्फ चुप बैठे; सिर्फ बैठना सीखे।

सूफियों में कहा जाता है कि पहले बैठना सीखो। गुरु के पास आओ, बैठना सीखो, आना सीखो। अभी जल्दी कुछ ज्ञान की नहीं है। ज्ञान कोई इतनी आसान बात भी नहीं है कि लिया-दिया और घर की तरफ भागे। कोई इन्सटैन्ट इनलाइटनमेन्ट नहीं है। कॉफी हो सकती है--बनाई एक क्षण में और पी ली! कोई समाधि, कोई ज्ञान क्षण में नहीं होता। सीखना होगा।

सूफी अकसर सालों बिता देते हैं; सिर्फ गुरु के पास झुकके बैठे रहते हैं। प्रतीक्षा करते हैं कि गुरु पहले पूछे कि 'कैसे आये? क्या चाहते हो?' कभी-कभी वर्षों बीत जाते हैं। वर्षों कोई साधक रोज आता है नियम से, अपनी जगह आँख बंद करके शांत बैठ जाता है। गुरु को कभी लगता है, तो कुछ कहता है। नहीं लगता, तो नहीं कहता। दूसरे आने-जाने वाले लोगों से बात करता रहता है, शिष्य बैठा रहता है।

वर्षों सिर्फ बैठना होता है। जिस दिन गुरु देखता है कि 'बैठक' जम गई;

सच में शिष्य आ गया और बैठ गया। अब उसके भीतर कुछ भी नहीं है। उपासना हो गई . . .।

अब वह बैठा है। सिर्फ पास है। जस्ट निअर। अब कुछ दूरी नहीं है--न अहंकार की, न विचारों की, न मत-मतान्तर की; न कोई वाद-विवाद की, न कोई शास्त्र की। अब कुछ नहीं है। बस, सिर्फ बैठा है। जैसे एक मूर्ति रह गई, जिसके भीतर अब कुछ नहीं है। बाहर कुछ नहीं है। अब खाली घड़े की तरह बैठा है। उस दिन गुरु डाल देता है--जो उसे डालना है, जो कहना है। उस दिन उंडेल देता है अपने को। उस दिन नदी उतर जाती है घड़े में।

चौथे मार्ग पर बैठना सीखना होगा, मौन होना सीखना होगा, प्रतीक्षा सीखनी होगी, धैर्य सीखना होगा; और किसी जीवित गुरु की तलाश करनी होगी।

'ऐसे सुनने के परायण हुए भी मृत्युरूप संसार सागर को निस्संदेह तर जाते हैं। हे अर्जुन, यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्ण को तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान।'

सभी विचार के पीछे कृष्ण बार-बार दोहरा देते हैं : क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ--वह जानने वाला और जो जाना जाता है, वह--इन दो को वे बार-बार दोहरा देते हैं: कि जो भी पैदा होता है, वह सब क्षेत्र है। बनता है, मिटता है--वह सब क्षेत्र है। और वह जो न बनता है, न मिटता है, न पैदा होता है--जो सिर्फ देखता है, जो सिर्फ दर्शन मात्र की शुद्ध क्षमता है, जो केवल ज्ञान है--जो मात्र बोध है, जो प्योर कान्शसनेस है--जो सिर्फ शुद्ध चित्त है--वही पुरुष है, वही परम मुक्ति है।

● एक मित्र ने पूछा है कि 'कृष्ण बहुत बार पुनरुक्ति करते मालूम होते हैं गीता में। फिर वही बात, फिर वही बात, फिर वही बात। ऐसा क्यों है? क्या लिपिबद्ध करने वाले आदमी ने भूल की है? या कि कृष्ण जान के ही पुनरुक्ति करते हैं या कि अर्जुन बहुत मंद बुद्धि है कि बार-बार कहो, तभी उसकी समझ में आता है? या कृष्ण भूल जाते हैं बार-बार--फिर वही बात कहने लगते हैं?'

विचारणीय है।

ऐसा कृष्ण के साथ ही नहीं है। बुद्ध भी ऐसा ही बार-बार दोहराते हैं। क्राइस्ट भी ऐसा ही बार-बार दोहराते हैं। मुहम्मद भी ऐसा ही बार-बार दोहराते हैं। इस दोहराने में जरूर कुछ बात है। यह सिर्फ पुनरुक्ति नहीं है। यह एक प्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया को समझ लेना चाहिए, नहीं तो पुनरुक्ति समझ के--आदमी सोचता है कि क्या जरूरत। गीता को छाँट के एक पन्ने में छापा जा सकता है। मतलब की बातें उतने में आ जाएँगी, क्योंकि उन्हीं-उन्हीं बातों को वे बार-बार

दोहराये चले जाते हैं।

मतलब की बातें तो उसमें आ जाएँगी, लेकिन वे मुरदा होंगी और उनका कोई परिणाम न होगा।

कई बातें समझ लेनी जरूरी है।

एक। कृष्ण उन्हीं बातों को दुबारा दोहराते हैं, तब आपको पता नहीं कि शब्द भला वही हों, प्रयोजन भिन्न हैं। प्रयोजन इसलिए भिन्न है कि इतना समझ लेने के बाद अर्जुन भिन्न हो गया है। जो बात उन्होंने शुरू में कही थी अर्जुन से, वही जब वे बहुत देर समझाने के बाद फिर से कहते हैं, तो अर्जुन अब वही नहीं है। इस बीच उसकी समझ बढ़ी है, उसकी प्रज्ञा निखरी है। अब यही शब्द दूसरा अर्थ ले आयेंगे।

आप अगर इसकी परीक्षा करना चाहें तो ऐसा करें : कोई एक किताब जो आपको पसंद हो, उसको इस वर्ष पढ़ें और अंडरलाइन (रेखांकित) कर दें--जो-जो आपको अच्छा लगे--उसको लाल स्याही से निशान लगा दें और जो-जो आपको बुरा लगे, उसको नीली स्याही से निशान लगा दें। और जो-जो आपको उपेक्षा-योग्य लगे, उसको काली स्याही से निशान लगा दें।

साल भर किताब को बंद करके रख दें। सालभर बाद फिर खोलें। फिर से पढ़ें। अब जो पसन्द आये उसको लाल स्याही से निशान लगायें। आप हैरान हो जाएँगे। जो बात पिछले साल इसी किताब में आपको पसन्द नहीं पड़ी थी, अब पसंद पड़ रही है। आपने उपेक्षा की थी पिछले साल, इस बार बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम हो रही है। और जिसको आपने असाधारण समझा था, वह साधारण हो गई है। जिसको आपने नापसंद किया था, उसमें भी कुछ पसन्द आया है और जिसको आपने पसन्द किया था, उसमें से बहुत कुछ नापसन्दगी में डाल देने योग्य है। किताब वही है, आप बदल गए हैं।

और अगर साल भर बाद आपको सब वैसा ही लगे, जैसा साल भर पहले लगा था, तो समझना कि आपकी बुद्धि साल भर पहले ही कुंठित हो गई है; बदल नहीं रही है; मर गई है। उसमें कोई बहाव नहीं रहा है।

साल भर के बाद फिर उसी किताब को पढ़ना, आप चकित होंगे, नये शब्द अर्थपूर्ण हो जाते हैं; नये वाक्य उभर के सामने आ जाते हैं; पुराने खो जाते हैं। किताब का पूरा प्रयोजन बदल जाता है, किताब का पूरा अर्थ बदल जाता है। इसलिए हमने इस मुल्क में पाठ पर बहुत जोर दिया--पढ़ने पर कम।

पढ़ने का मतलब एक दफा एक किताब पढ़ ली; खत्म हो गया। पाठ का मतलब है : एक किताब को पढ़ते ही जाना है--जीवन भर। रोज नियमित पढ़ते जाना

है। लेकिन आप अगर मुरदे की तरह पढ़े, तो कोई सार नहीं है। पढ़ने में इतना बोध होना चाहिए कि आप में जो फर्क हुआ है, उस फर्क के कारण जो आप पढ़ रहे हैं, उसमें फर्क पड़ रहा है कि नहीं, तो पाठ है।

गीता कल भी पढ़ी थी, आज भी पढ़ी, कल भी पढ़ेंगे; अगले वर्ष भी पढ़ेंगे पढ़ते जायेंगे। जब बच्चे थे, तब पढ़ी थी; जब बूढ़े होंगे, तब पढ़ेंगे;। लेकिन बूढ़ा अगर सच में ही विकसित हुआ हो, प्रौढ़ हुआ हो--सिर्फ शरीर की उम्र न बढ़ी हो, भीतर चेतना ने भी अनुभव का रस लिया हो, जागृति आई हो, पुरुष स्थापित हुआ हो, तो गीता जो बुढ़ापे में पढ़ी जाएगी, उसके अर्थ बड़े और हो जाएँगे।

तो कृष्ण जब बार-बार दोहराते हैं, तो वह अर्जुन जितना बदलता है, उस हिसाब से दोहराते हैं। वे उन्हीं शब्दों को दोहरा रहे हैं, जो उन्होंने पहले भी कहे थे। लेकिन उनका अर्थ अब अर्जुन के लिए दूसरा है।

दूसरी बात। जो भी महत्त्वपूर्ण है, उसे बार-बार चोट करना जरूरी है। क्योंकि आपका मन इतना मुश्किल में पड़ा है, सुनता ही नहीं; उसमें कुछ प्रवेश नहीं करता। उसमें बार-बार चोट की जरूरत है। उसमें हथौड़ी की तरह हेमरिंग की जरूरत है। तो जो मूल्यवान है, जैसे कोई गीत की कड़ी दोहरती है--ऐसा जो मूल्यवान है, कृष्ण उसको फिर से दोहराते हैं। वे यह कह रहे हैं कि फिर से एक चोट करते हैं। और कोई नहीं जानता कि किस कोमल क्षण में वह चोट काम कर जाएगी और कील भीतर सरक जाएगी। इसलिए बहुत बार दोहराते हैं, बहुत बार चोट करते हैं।

इसलिए भी बार-बार दोहराते हैं कि जीवन का जो सत्य है, वह तो एक ही है। उसको कहने के ढंग कितने ही हों, जो कहना चाहते हैं, वह तो एक बहुत छोटी-सी बात है। उसे तो एक शब्द में भी कहा जा सकता है। लेकिन एक शब्द में आप न समझ सकेंगे। इसलिए बहुत शब्दों में कहते हैं। बहुत फैलाव करते हैं। शायद इस बहाने समझ जायँ। इस बहाने न समझें, तो दूसरे बहाने समझ जायँ। दूसरे बहाने न समझें, तो तीसरा सही।

बहुत रास्ते खोजते हैं, मार्ग खोजते हैं।

घटना तो एक ही घटानी है। और वह घटना सिर्फ इतनी ही है कि आप साक्षी हो जायँ। आप जाग के देख लें जगत् को। मूर्च्छा टूट जाय। आपको यह खयाल में आ जाय कि मैं जानने वाला हूँ। और जो भी मैं जान रहा हूँ, वह मैं नहीं हूँ।

यह इतनी-सी घटना घट जाय, इसके लिए सारा आयोजन है; इसके लिए इतने उपनिषद् हैं, इतने वेद हैं, इतनी बाइबिल, कुरान, गीता--और सब हैं। बुद्ध हैं, महावीर, जरथुस्त्र, मुहम्मद--और सारे लोग हैं। लेकिन वे कह सभी एक बात

रहे हैं--बहुत-बहुत ढंगों से, बहुत-बहुत व्यवस्थाओं से।

वह एक बात मूल्यवान है, लेकिन आपको अगर वह बात सीधी कह दी जाय, तो आपको सुनाई ही नहीं पड़ेगी। और मूल्य तो बिलकुल पता नहीं चलेगा।

आपको बहुत तरह से प्रलोभित करना होता है। जैसे माँ छोटे बच्चे को प्रलोभित करती है, भोजन के लिए राजी करती है। राजी करना है भोजन के लिए, प्रलोभन बहुत तरह के देती है। बहुत तरह की बातें, बहुत तरह की कहानियाँ गढ़ती है और तब बच्चे को राजी कर लेती है। कल वह दूसरे तरह की कहानियाँ गढ़ेगी, परसों तीसरे तरह की कहानियाँ गढ़ेगी। लेकिन प्रयोजन एक है--कि वह बच्चा राजी हो जाय भोजन के लिए।

कृष्ण का प्रयोजन एक है। वे अर्जुन को राजी करना चाहते हैं--उस परम क्रांति के लिए। इसलिए सब तरह की बातें करते हैं और फिर मूल स्वर पर लौट आते हैं। और फिर वे वही दोहराते हैं।

इसके अंत में भी उन्होंने वही दोहराया है: 'हे अर्जुन, जो कुछ भी स्थावर जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सम्पूर्ण को तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान।'

वह जो भीतर जो क्षेत्रज्ञ बैठा है और बाहर क्षेत्र फैला है--उन दोनों के संयोग से ही सारे मन का जगत् है। सारे सुख, सारे दुःख; प्रीति अप्रीति, सौंदर्य कुरूपता, भला बुरा, सफलता असफलता, यश अपयश--वह सब इन दो के जोड़ हैं।

और इन दो के जोड़ में वह पुरुष ही अपनी भावना से जुड़ता है। प्रकृति के पास कोई भावना नहीं है। तू अपनी भावना खींच ले, जोड़ टूट जाएगा। तू भावना करना बंद कर दे, परम मुक्ति तेरी है।

पाँच मिनट रुकेंगे। कोई बीच से उठे नहीं। कीर्तन पूरा हो जाय, तभी उठें।

दसवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, संध्या, दिनांक १३ मई, १९७३

विक्षिप्तता और अध्यात्म ● अहंकार विसर्जन की एक विधि : भाग्य
कौन है आँखवाला

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३०॥

इस प्रकार जानकर जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है ।

क्योंकि वह पुरुष सब में समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ, अपने द्वारा नष्ट नहीं करता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है ।

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है ।

और यह पुरुष जिस काल में भूतों के न्यारे-न्यारे भाव को एक परमात्मा के संकल्प के आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्मा के संकल्प से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उस काल में सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है कि 'प्रायः लोग ऐसा सोचते हैं कि योग या अध्यात्म की ओर वे ही झुकते हैं, जो मस्तिष्क के विकार से ग्रस्त हैं भावुक हैं या जीवन की कठिनाई से संत्रस्त हैं । प्रायः पागलपन या उन्माद को साधना का प्रस्थान बिन्दु मान लिया जाता है ?

जो ऐसा सोचते हैं, वे थोड़ी दूर तक ठीक ही सोचते हैं । भूल उनकी यह नहीं है कि जो लोग मन से पीड़ित और परेशान हैं, वे ही लोग ध्यान, योग और अध्यात्म की ओर झुकते हैं; यह तो ठीक है । लेकिन जो अपने को सोचते हैं कि मानसिक रूप से पीड़ित नहीं हैं, वे भी उतने ही पीड़ित हैं और उन्हें भी झुक जाना चाहिए ।

मनुष्य का होना ही संत्रस्त है । मनुष्य जिस ढंग का है, उसमें ही पीड़ा है । मनुष्य का अस्तित्व ही दुःखपूर्ण है । इसलिए असली तो ना-समझ वह है, जो सोचता है कि बिना अध्यात्म की ओर झुके हुए आनन्द को उपलब्ध हो जाएगा । आनन्द पाने का कोई उपाय और है ही नहीं । और जो जितना जल्दी झुक जाय, उतना हितकर है।

यह बात सच है कि जो लोग अध्यात्म की ओर झुकते हैं, वे मानसिक रूप से पीड़ित और परेशान हैं । लेकिन दूसरी बात भी खयाल में ले लेना : झुकते ही उनकी मानसिक पीड़ा समाप्त होनी शुरू हो जाती है । झुकते ही मानसिक उन्माद समाप्त हो जाता है । और अध्यात्म की प्रक्रिया से गुजर कर वे स्वस्थ, शांत और आनन्दित हो जाते हैं ।

देखें बुद्ध की तरफ, देखें माहावीर की तरफ, देखें कृष्ण की तरफ । उस आग से गुजर कर सोना निखर आता है । लेकिन जो झुकते ही नहीं, वे पागल ही बने रह जाते हैं ।

आप ऐसा मत सोचना कि अध्यात्म की तरफ नहीं झुक रहे हैं, तो आप स्वस्थ

हैं। अध्यात्म से गुजरे बिना तो कोई स्वस्थ हो ही नहीं सकता। स्वास्थ्य का अर्थ ही होता है : स्वयं में स्थित हो जाना। स्वयं में स्थित हुए बिना तो कोई स्वस्थ हो ही नहीं सकता। तब तक तो दौड़ और परेशानी और चिंता और तनाव बना ही रहेगा।

जो झुकते हैं, वे तो पागल हैं। जो नहीं झुकते हैं, वे और ज्यादा पागल हैं। क्योंकि झुके बिना पागलपन से छूटने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए यह मत सोचना कि आप बहुत समझदार हैं। क्योंकि आपकी समझदारी का कोई मूल्य नहीं है--अगर भीतर चिंता है, पीड़ा है, दुःख है तो आप कितना ही जानते हों, कितनी ही समझदारी हो, वह कुछ काम न आयेगी। आपके भीतर पागलपन तो इकट्ठा हो ही रहा है।

और मैंने कहा कि आदमी का होना ही पागलपन है। उसका कारण है। क्योंकि आदमी सिर्फ बीज है, सिर्फ एक संभावना है--कुछ होने की। और जब तक वह हो न जाय, तब तक परेशानी रहेगी। जब तक उसके भीतर का फूल पूरा खिल न जाय, तब तक बीज के प्राण तनाव से भरे रहेंगे। बीज टूटे, अंकुरित हो और फूल बन जाय, तो आनन्द होगा।

दुःख का एक ही अर्थ है--आध्यात्मिक भाषा में--कि आप जो हैं, वह नहीं हो पा रहे हैं। और आनन्द का एक ही अर्थ है कि आप जो हो सकते हैं, वह हो गए हैं। आनन्द का अर्थ है कि अब आपके भीतर कोई संभावना नहीं बची है। आप सत्य हो गए हैं। आप जो भी हो सकते थे, वह आपने आखिरी शिखर छू लिया है। आप अपनी पूर्णता पर पहुँच गए हैं। और जब तक पूर्णता उपलब्ध नहीं होती, तब तक बेचैनी रहेगी।

जैसे नदी दौड़ती है सागर की तरफ--बेचैन, परेशान, तलाश में--वैसा आदमी दौड़ता है। सागर से मिलकर शांति हो जाती है। लेकिन कोई नदी ऐसा भी सोच सकती है कि ये पागल नदियाँ हैं, जो सागर की तरफ दौड़ रही हैं। और जो नदी सागर की तरफ दौड़ना बंद कर देगी, वह सरोवर बन जाएगी। नदी तो सागर में दौड़कर मिल जाती है, विराट् हो जाती हैं। लेकिन सरोवर सड़ता है केवल--कहीं पहुँचता नहीं।

अध्यात्म गति है--मनुष्य के पार, मनुष्य के ऊपर, वह जो आत्यंतिक है, अंतिम है--उस दिशा में। लेकिन आप अपने को यह मत समझा लेना कि 'सिर्फ पागल इस ओर झुकते हैं। मैं तो बुद्धिमान आदमी हूँ। मैं क्यों झुकूँ। आपकी बुद्धिमानी का सवाल नहीं है।

अगर आप आनंद को उपलब्ध हो गए हैं, तब कोई सवाल नहीं है झुकने का।

लेकिन अगर आपको आनन्द की कोई खबर नहीं मिली है, और आपका हृदय नाच नहीं रहा है, और आप समाधि के, शांत होने के परम गुह्य रहस्य को उपलब्ध नहीं हुए, तो इस डर से कि कहीं कोई पागल न कहे, अध्यात्म से बच मत जाना। नहीं तो जीवन की जो परम खोज है, उससे ही बच जाएँगे।

पागल झुकते हैं अध्यात्म की ओर, यह सच है, लेकिन वे पागल सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि उन्हें कम से कम इतना होश तो है कि झुक जायँ--इलाज की तरफ।

उन पागलों के लिए क्या कहा जाय, जो पागल भी हैं और झुकते भी नहीं हैं; जो बीमार भी हैं और चिकित्सक की तलाश भी नहीं करते और चिकित्सा की खोज भी नहीं करते। उनकी बीमारी दोहरी है। वे अपनी बीमारी को स्वास्थ्य समझे बैठे हैं।

मेरे पास रोज ऐसे लोग आ जाते हैं, जिनके पास बड़े-बड़े सिद्धांत हैं, जिन्होंने बड़े शास्त्र अध्ययन किये हैं। और जिन्होंने बड़ी उधार बुद्धि की बातें इकट्ठी कर ली हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि मुझे इसमें कोई उत्सुकता नहीं है कि आप क्या जानते हैं। मेरी उत्सुकता इसमें है कि आप क्या हैं। अगर आपको आनन्द मिल गया हो, तो आपकी बातों का कोई मूल्य है मेरे लिए, अन्यथा ये सारी की सारी बातचीत सिर्फ दुःख को छिपाने का उपाय है। तो बुनियादी बात मुझे बता दें: आपको आनन्द मिल गया है? तो फिर आप जो भी कहें, उसे मैं सही मान लूँगा। और आनन्द न मिला हो, तो आप जो भी कहें, उस सबको मैं गलत मानूंगा, चाहे वह कितना ही सही दिखाई पड़ता हो। क्योंकि जिससे जीवन का फूल न खिलता हो, उसके सत्य होने का कोई आधार नहीं है। और जिससे जीवन का फूल तो बंद का बंद रह जाता हो, बल्कि ज्ञान का कचरा उसे दबा देता हो और खिलना मुश्किल हो जाता हो, उसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मेरे हिसाब में आनंद की तरफ जो ले जाय, वह सत्य है; और दुःख की तरफ जो ले जाय, वह असत्य है।

अगर आप आनन्द की तरफ जा रहे हैं, तो आप जो भी कर रहे हैं, वह ठीक है। और अगर आप आनन्द की तरफ नहीं जा रहे हैं, तो आप कुछ भी कर रहे हों, वह सब गलत है। क्योंकि अंतिम कसौटी तो एक ही बात की है कि आपने जीवनी के परम आनन्द को अनुभव किया या नहीं।

तो ये मित्र ठीक कहते हैं : विक्षिप्त लोग झुके हुए मालूम पड़ते हैं, लेकिन सभी विक्षिप्त हैं।

मनसविद् से पूछें : कौन स्वस्थ है? जिसको आप नार्मल, सामान्य आदमी कहते हैं, उसे आप यह मत समझ लेना कि वह स्वस्थ है। वह केवल नार्मल ढंग से

पागल है । और कोई खास बात नहीं है । और पागलों जैसा ही पागल है । पूरी भीड़ उसके जैसे ही पागल है, इसलिए वह पागल नहीं मालूम पड़ता । जरा ही ज्यादा आगे बढ़े जाता है, तो दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है ।

पागल में और आप में जो अन्तर है, वह मात्रा का है, गुण का नहीं है । थोड़ा डिग्रीज का फर्क है। आप निन्यानबे डिग्री पर हैं और पागल सौ डिग्री पर उबल के पागल हो गया है । एक डिग्री आप में कभी भी जुड़ सकती है--किसी भी क्षण । जरा-सी कोई घटना--और आप पागल हो सकते हैं ।

बुद्धिमान से बुद्धिमान आदमी को जरा-सी गाली दे दो और वह पागल हो जाता है। वह तैयार ही खड़ा था; एक छोटी-सी गाली ऊँट पर आखिरी तिनके का काम करती है और ऊँट बैठ जाता है ।

आपकी बुद्धिमानी जरा में सरकाई जा सकती है; उसका कोई मूल्य नहीं है। आप किसी तरह अपने को सम्हाले खड़े हैं । इस सम्हाले खड़े रहने से कोई सार नहीं है। विक्षिप्तता से मुक्त होना जरूरी है । और योग विक्षिप्ता से मुक्ति का उपाय है ।

अच्छा है कि आप अपनी विक्षिप्तता को पहचान लें ।

ध्यान रहे : बीमारी को पहचान लेना अच्छा है, क्योंकि पहचान लेने से उपाय हो सकता है, इलाज हो सकता है । बीमारी को झुठलाना खतरनाक है । क्योंकि बीमारी झुठलाने से मिटती नहीं, भीतर बढ़ती चली जाती है । लेकिन अनेक बीमार ऐसे हैं, जो इस डर से कि कहीं यह पता न चल जाय कि हम बीमार हैं, अपनी बीमारी को छिपाएँ रखते हैं। अपने घावों को ढाँक लेते हैं--फूलों से, सुन्दर वस्त्रों से, सुंदर शब्दों से--और अपने को भुलाए रखते हैं । लेकिन धोखा वे किसी और को नहीं दे रहे हैं । धोखा वे अपने को ही दे रहे हैं। घाव भीतर बढ़ते ही चले जाएँगे । पागलपन ऐसे मिटेगा नहीं, गहन हो जाएगा । और आज नहीं कल उसका विस्फोट हो जाएगा ।

अध्यात्म की तरफ उत्सुकता चिकित्सा की उत्सुकता है । और उचित है कि आप पहचान लें कि अगर दुःखी हैं, तो दुःखी होने का कारण है । उस कारण को मिटाया जा सकता है । उस कारण को मिटाने के लिए उपाय है । उन उपायों का प्रयोग किया जाय, तो चित्त स्वस्थ हो जाता है ।

आप अपनी फिक्र करें; दूसरे क्या कहते हैं, इसकी बहुत चिन्ता न करें। आप अपनी चिन्ता करें, कि आपके भीतर बेचैनी है, संताप है, संत्रस्तता है, दुःख है, विषाद है, और आप भीतर उबल रहे हैं--आग से--और कहीं कोई छाया नहीं जीवन में, कहीं कोई विश्राम का स्थल नहीं है, तो फिर भय न करें । अध्यात्म

आपके जीवन में छाया बन सकता है, और योग आप के जीवन में शांति की वर्षा कर सकता है ।

अगर प्यासे हैं, तो उस तरफ सरोवर है । और प्यासे हैं तो सरोवर की तरफ जायँ । सिर्फ बुद्ध या कृष्ण जैसे व्यक्तियों को योग की तरफ जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि योग से वे गुजर चुके हैं । आपको तो जरूरत है ही । आपको तो जाना ही होगा । एक जन्म आप झुठला सकते हैं, दूसरे जन्म में जाना होगा । आप अनेक जन्मों तक झुठला सकते हैं, लेकिन बिना जाए कोई उपाय नहीं है । और जब तक कोई अपने भीतर के आत्यंतिक केन्द्र को अनुभव न कर ले, और जीवन के परम स्रोत में न डूब जाय, तब तक विक्षिप्तता बनी ही रहती है ।

दो शब्द हैं । एक है--विक्षिप्तता और एक है--विमुक्तता ।

मन का होना ही विक्षिप्तता है । ऐसा नहीं है कि कोई-कोई मन पागल होते हैं; मन का स्वभाव ही पागलपन है । मन का अर्थ है : मैडनेस । वह पागलपन है । और जब कोई मन से मुक्त होता है, तो स्वस्थ होता है, तो विमुक्त होता है ।

आमतौर से हम सोचते हैं कि किसी का मन खराब है, और किसी का मन अच्छा है । यह जान कर आपको हैरानी होगी : योग की दृष्टि से मन का होना ही खराब है । कोई 'अच्छा मन' नहीं होता । मन होता ही रोग है । कोई 'अच्छा रोग' नहीं होता; रोग बुरा ही होता है ।

जैसे हम अगर कहें, अभी तूफान था सागर में और अब तूफान शांत हो गया है। तो आप मुझसे पूछ सकते हैं कि शांत तूफान कहाँ है ? तो मैं कहूँगा : शांत तूफान का अर्थ ही यह होता है कि अब तूफान नहीं है । 'शांत तूफान' जैसी कोई चीज नहीं होती । शांत तूफान का अर्थ ही होता है कि तूफान अब नहीं है । तूफान तो जब भी होता है, तो अशांत ही होता है ।

ऐसे ही अगर आप पूछें कि शांत मन क्या है, तो मैं आपसे कहूँगा कि शांत मन जैसी कोई चीज होती ही नहीं । मन तो जब भी होता है, तो अशांत ही होता है ।

शांत मन का अर्थ है कि मन रहा ही नहीं । मन और अशांति पर्यायवाची हैं । उन दोनों का एक ही मतलब है--भाषा कोश में नहीं; उसमें तो मन का अलग अर्थ है और अशांति का अलग अर्थ है । लेकिन जीवन के कोश में मन और अशांति एक ही चीज के दो नाम हैं । और शांति और अ-मन एक ही चीज के दो नाम हैं। नो-माइंड--अ-मन ।

जब तक आप के पास मन है, आप विक्षिप्त रहेंगे ही । मन भीतर पागल की तरह चलता ही रहेगा । और अगर आपको भरोसा न हो, तो एक छोटा-सा प्रयोग करना शुरू करें ।

अपने परिवार या अपने मित्रों को लेकर बैठ जायँ। एक घंटे दरवाजा बंद कर लें। अपने निकटतम दस-पाँच मित्रों को लेकर बैठ जायँ, और एक छोटा-सा प्रयोग करें। आपके भीतर जो चलता हो, उसको जोर से बोलें। जो भी भीतर चलता हो, जिसको आप मन कहते हैं, उसे जोर से बोलते जायँ--ईमानदारी से। उसमें बदलाहट न करें। इसकी फिक्र न करें कि लोग सुनकर क्या कहेंगे। एक छोटा-सा खल है। इसका उपयोग करें। आपको बड़ा डर लगेगा कि यह जो भीतर धीमे-धीमे चल रहा है, उसको जोर से कहूँ! पत्नी क्या सोचेगी, बेटा क्या सोचेगा! मित्र क्या सोचेंगे! लेकिन अगर सच में हिम्मत हो, तो यह प्रयोग करने जैसा है।

फिर एक-एक व्यक्ति करे; पन्द्रह-पन्द्रह मिनट एक-एक व्यक्ति बोले। जो भी उसके भीतर हो, उसको जोर से बोलता जाय। एक घंटा भर के प्रयोग के बाद पूरा कमरा अनुभव करेगा कि हम सब पागल हैं।

आप कोशिश कर के देखें। अगर आपको डर लगता हो दूसरों का, तो किसी दिन अकेले में ही पहले कर के देख लें। आपको पता चल जाएगा कि पागल कौन है। लेकिन राहत भी बहुत मिलेगी। अगर इतनी हिम्मत कर सके मित्रों के साथ, तो यह खेल बड़े ध्यान का है; बहुत राहत मिलेगी, क्योंकि भीतर का बहुत-सा कचरा बाहर निकल जाएगा, और एक हल्कापन आ जाएगा और पहली दफा यह अनुभव होगा कि मेरी असली हालत क्या है। मैं अपने को बुद्धिमान समझ रहा हूँ; बड़ा सफल समझ रहा हूँ; बड़े पदों पर पहुँच गया हूँ; धन कमा लिया है; बड़ा नाम है; इज्जत है--और भीतर पागल बैठा है! और इस पागल से छुटकारा पाने का नाम अध्यात्म है।

मेहरबाबा १९३६ में अमेरिका में थे। और एक व्यक्ति को उनके पास लाया गया। उस व्यक्ति को दूसरों के विचार पढ़ने की कुशलता उपलब्ध थी। उसने अनेक लोगों के विचार पढ़े थे। वह किसी भी व्यक्ति के सामने आँख बंद करके बैठ जाता था और वह व्यक्ति जो भीतर सोच रहा होता, उसे बोलना शुरू कर देता।

मेहरबाबा वर्षों से मौन थे, तो उनके भक्तों को, मित्रों को जिज्ञासा और कुतूहल हुआ कि वह जो आदमी वर्षों से मौन है, वह भी भीतर तो कुछ सोचता होगा! तो इस आदमी को लाया जाय, क्योंकि वे तो कुछ बोलते नहीं।

तो उस आदमी को लाया गया। मेहरबाबा के सामने आँख बंद करके बड़ी उसने मेहनत की। पसीना-पसीना हो गया। और फिर उसने कहा कि 'लेकिन बड़ी मुसीबत है। यह आदमी कुछ सोचता ही नहीं। मैं बताऊँ तो भी क्या बताऊँ। मैं बोलूँ, तो भी क्या बोलूँ। मैं आँख बन्द करता हूँ और जैसे मैं एक दीवाल के सामने

हूँ, जहाँ कोई विचार नहीं है।

इस निर्विचार अवस्था का नाम विमुक्तता है। जब तक भीतर विचार चल रहा है, वह पागल है, वह पागलपन है।

यह ऐसा ही समझिए कि आप बैठे-बैठे दोनों टाँग चलाते रहें यहाँ, तो आपको पड़ोस का आदमी कहेगा बंद करिये ये टाँगें चलाना; आपका दिमाग ठीक है? आप टाँगें क्यों चला रहे हैं? टाँग को चलाने की जरूरत है--जब कोई चल रहा हो रास्ते पर। बैठ कर टाँग क्यों चला रहे हैं?

मन की भी तब जरूरत है, जब कोई सवाल सामने हो--उसको हल करना हो, तो मन चलाएँ। लेकिन न कोई सवाल है, न कोई बात सामने है। बैठे हैं और मन की टाँगें चल रही हैं। यह विक्षिप्तता है; यह पागलपन है।

आपका मन चलता ही रहता है। आप चाहें भी रोकना, तो रुकता नहीं। कोशिश करके देखिए। रोकना चाहेंगे, तो और भी नहीं रुकेगा। और जोर से चलेगा। और सिद्ध करके बता देगा, कि तुम मालिक नहीं हो, मालिक मैं हूँ।

छोटी-सी कोई बात रोकने की कोशिश करें। और वही-वही बात बार-बार मन में आनी शुरू हो जाएगी।

लोग बैठ कर राम का स्मरण करते हैं। राम का स्मरण करते हैं--नहीं आता। कुछ और आता है। कुछ दूसरी बातें आती हैं।

एक महिला मेरे पास आयी, वह कहने लगी कि 'मैं राम की भक्त हूँ। बहुत स्मरण करती हूँ, लेकिन वह नाम छूट-छूट जाता है और दूसरी चीजें आ जाती हैं!

मैंने कहा कि 'तू एक काम कर। कसम खा ले कि राम का नाम कभी न लूँगी। फिर देख।' उसने कहा, 'आप क्या कह रहे हैं!' मैंने कहा, 'तू कसम खा कर देख। और हर तरह से कोशिश करना कि राम का नाम भर भीतर न आने पाये।'

वह तीसरे दिन मेरे पास आयी। उसने कहा कि 'आप मेरा दिमाग खराब करवा दोगे। चौबीस घंटे सिवाय राम के और कुछ आ ही नहीं रहा है। और मैं कोशिश में लगी हूँ कि राम का नाम न आये --और राम का नाम आ रहा है!'

मन सिद्ध करता है हमेशा कि आप मालिक नहीं हैं, वह मालिक है। और जब तक मन मालिक है, आप पागल हैं। जिस दिन आप मालिक हों, उस दिन स्वस्थ हुए, स्वयं में स्थित हुए।

अध्यात्म से गुजरे बिना कोई भी स्वस्थ नहीं होता।

● एक मित्र ने पूछा है कि ऐसा कहा जाता है कि भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। यदि यह बात सच है, तो हमारा सारा जीवन उनकी इच्छा के अनुसार ही चलता है। तो फिर जो हमें भले-बुरे विचार आते हैं, अच्छे-

बुरे काम बनते हैं--वह भी उनकी ही इच्छा के अनुसार होता है? फिर तो साधना का भी क्या प्रयोजन है? फिर तो स्वयं को बदलने का भी क्या अर्थ है?

अगर यह बात समझ में आ गई, तो साधना का फिर कोई प्रयोजन नहीं है। साधना शुरू हो गई। अगर इतनी ही बात खयाल में आ जाय कि जो भी कर रहा है, वह भगवान् कर रहा है, तो मेरा कर्तापन समाप्त हो गया।

सारी साधना इतनी ही है कि मेरा अहंकार समाप्त हो जाय। फिर वह अच्छा भी वही कर रहा है, बुरा भी वही कर रहा है। फिर अच्छे-बुरे का कोई सवाल ही नहीं रहा। वही कर रहा है--दोनों वही कर रहा है। दुःख वही दे रहा है, सुख वही दे रहा है। जन्म उसका, मृत्यु उसकी। बंधन उसका, मुक्ति उसकी। फिर मेरा कोई सवाल न रहा। मुझे बीच में आने की कोई जरूरत न रही। फिर साधना की कोई भी जरूरत नहीं है। क्योंकि साधना हो गयी। शुरू हो गई। यह विचार ही परम साधना बन जाएगा। यह खयाल ही इस जीवन से सारे रोग को काट डालेगा। क्योंकि सारा रोग ही अहंकार है। सारा रोग ही इस बात में है कि 'मैं कह रहा हूँ'।

यह समर्पण का परमसूत्र है। लोग इसे समझ लेते हैं कि यह भाग्यवाद है। यह भाग्यवाद नहीं है। भारत के इस विचार को बहुत कठिनाई से कुछ थोड़े लोग ही समझ पाये हैं। यह कोई वाद नहीं है। यह एक प्रक्रिया है--साधना की। यह साधना का एक सूत्र है। यह कोई सिद्धांत नहीं है कि भगवान् सब कर रहा है। यह एक विधान, एक प्रक्रिया, एक विधि है।

ऐसा अगर कोई स्वीकार कर ले कि जो भी हो रहा है--परमात्मा कर रहा है, तो वह मिट जाता है, उसी क्षण शून्य हो जाता है। और जैसे ही आप शून्य होते हैं, बुरा होना बंद हो जाएगा। आपको बुरा बंद करना नहीं पड़ेगा। यह जरा जटिल है।

अहंकार के गिरते ही बुरा होना बंद हो जाएगा। दुःख मिलना समाप्त हो जाएगा, क्योंकि बुरा होता है सिर्फ अहंकार के दबाव के कारण। और दुःख मिलना बंद हो जाएगा, क्योंकि दुःख मिलता है केवल अहंकार को। जिसका अहंकार का घाव मिट गया, उसको चोट नहीं पड़ती फिर। फिर उसे कोई दुःख नहीं दे सकता।

इसका मतलब हुआ कि अगर कोई स्वीकार कर ले कि परमात्मा सब कुछ कर रहा है, फिर कुछ करने की जरूरत न रही। और बुरा अपने आप बंद होता चला जाएगा, और दुःख अपने आप शून्य हो जाएँगे। जिस मात्रा में यह विचार गहरा होगा, उसी मात्रा में बुराई विसर्जित हो जाएगी। क्योंकि बुराई के लिए आपका होना जरूरी है। आपके बिना बुराई नहीं हो सकती। भलाई आपके बिना भी हो सकती है।

भलाई के लिए आपके होने की कोई भी जरूरत नहीं है। सच तो यह है कि भलाई के लिए आपका होना बाधा है। आप जब तक हैं, भलाई हो ही नहीं सकती। चाहे भलाई का ऊपरी ढंग दिखाई भी पड़ता हो भले जैसा, भीतर भीतर बुराई ही होगी। वह जो आप भीतर बैठे हैं, वह बुरा ही कर सकता है। और जैसे ही आप विदा हो गए, मूल आधार खो गया बुराई का। फिर आपसे जो भी होगा, वह भला है; आपको भला करना नहीं पड़ेगा।

लेकिन इसको--इस विचार को पूरी तरह से अपने में डुबा लेना और इस विचार में पूरी तरह से डूब जाना बड़ा कठिन है। क्योंकि अकसर हम इसको बड़ी होशियारी से काम में लाते हैं। जब तक हमसे कुछ बन सकता है, तब तक तो हम सोचते हैं: हम कर रहे हैं। जब हमसे कुछ नहीं बन सकता, हम असफल होते हैं, तब अपनी असफलता छिपाने को हम कहते हैं कि परमात्मा कर रहा है।

हम बहुत धोखेबाज हैं। और हम परमात्मा के साथ भी धोखा करने में जरा भी कृपणता नहीं करते।

जब भी आप सफल होते हैं, तब तो आप समझते हैं: आप ही कर रहे हैं। और जब आप असफल होते हैं, तब आप कहते हैं: भाग्य है; उसकी बिना इच्छा के तो पत्ता भी नहीं हिलता।

नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने एक पत्र में लिखा है अपनी पत्नी को। बहुत कीमती बात लिखी है। उसने लिखा है कि 'मैं भाग्यवाद का भरोसा नहीं करता हूँ। मैं पुरुषार्थी हूँ। लेकिन भाग्यवाद को बिना माने भी नहीं चलता; क्योंकि अगर भाग्यवाद को न मानो, तो अपने दुश्मन की सफलता को फिर कैसे समझाओ; उसकी क्या व्याख्या हो! फिर मन को बड़ी चोट बनी रहती है। अपनी सफलता पुरुषार्थ से समझा लेते हैं। अपने दुश्मन की सफलता भाग्य से--कि भाग्य की बात है, इसलिए जीत गया, अन्यथा जीत कैसे सकता था।' पड़ोसियों को जो सफलता मिलती है, वह परमात्मा की वजह से मिल रही है। और आपको जो सफलता मिलती है, वह आपकी वजह से मिल रही है। नहीं तो मन में बड़ी तकलीफ होगी।

अपनी हार स्वीकार करने का मन नहीं है। अपनी सफलता स्वीकार करने का जरूर मन है।

हारे हुए मन से जो इस तरह के सिद्धांत को स्वीकार करता है कि उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, वह आदमी कुछ भी नहीं पा सकेगा। उसके लिए सिद्धांत व्यर्थ है।

यह किसी हारे हुए मन की बात नहीं है। यह तो साधना का सूत्र है। यह तो जीवन को देखने का एक ढंग है, जहाँ से कर्ता को हटा दिया जाता है। और सारा

कर्तृत्व परमात्मा पर छोड़ दिया जाता है ।

एक और मित्र ने सवाल पूछा--वे दो-तीन दिन से पूछ रहे हैं --इसी सम्बन्ध में । उन्होंने पूछा है कि 'आप बहुत जोर देते हैं—भाग्यवाद पर ?'

मैं जरा भी जोर नहीं देता भाग्यवाद पर । भाग्यवाद हजारों विधियों में से एक विधि है--जीवन को रूपान्तरित करने की, अहंकार को गला डालने की।

उन मित्र ने कहा है कि अगर भाग्यवाद ही सच है, तो आप बोलते क्यों हैं ?

वे समझे नहीं अपनी बात । अगर भाग्यवाद ही सच है, तो क्यों का कोई सवाल ही नहीं; परमात्मा ही मुझसे बोलता है । बोलते क्यों हैं--यह कोई सवाल नहीं है ।

● उन मित्र ने पूछा है : अगर भाग्यवाद ही सच है, तो आप लोगों से क्यों कहते हैं कि साधना करो ?

यह मेरा भाग्य है कि मैं उनसे कहूँ, कि साधना करो। इसमें मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ । यह मेरी नियति है । और यह आपकी नियति है कि आप सुनो--और बिलकुल करो मत ।

भाग्य कोई वाद नहीं है । भाग्य जीवन को देखने का एक ढंग है और जीवन को बदलने की एक कीमया है । यह कोई कमजोरों की बात नहीं है --कि बैठ गए हाथ पर हाथ रख के, सिर झुका के--कि क्या करें; भाग्य में नहीं है। बहुत हिम्मत की बात है, और बहुत ताकतवर लोगों की बात है--कि जो कह सकें कि सभी कुछ उस परमात्मा से हो रहा है--सभी कुछ--बेशर्त । अच्छा या बुरा, सफलता या असफलता, मैं अपने को हटाता हूँ। मैं बीच में नहीं हूँ ।

अपने को हटाना बहुत शक्तिशाली लोगों के हाथ की बात है। कमजोर अपने को हटाने की ताकत ही नहीं रखते ।

जैसे ही आप यह समझ पायेंगे कि भाग्य एक विधि है, एक टेकनीक . . . । हजारों टेकनीक हैं । मगर भाग्य बहुत गजब की टेकनीक है । अगर इसका प्रयोग कर सकें, तो आप चौबीस घंटे के लिए उपयोग कर के देखें ।

तय कर लें कि कल सुबह से परसों सुबह तक जो कुछ भी होगा : परमात्मा कर रहा है, मैं बीच में नहीं खड़ा होऊँगा । चौबीस घंटे में आप ऐसे संतोष और ऐसी शांति और ऐसी आनंद की झलक को उपलब्ध होंगे, जो आपने जीवन में कभी नहीं जानी । और ये चौबीस घंटे फिर खतम नहीं होंगे, क्योंकि एक बार रस आ जाय, स्वाद आ जाय, ये बढ़ जाएँगे । यह आपकी पूरी जिन्दगी बन जाएगी ।

एक दिन के लिए आप भाग्य की विधि का प्रयोग कर लें, फिर कोई तनाव नहीं है ।

सारा तनाव इस बात से पैदा होता है कि मैं कर रहा हूँ । स्वभावत: इसलिए पश्चिम में ज्यादा तनाव है, ज्यादा टेन्शन है, ज्यादा मानसिक बेचैनी है । पूरब में इतनी बेचैनी नहीं थी । अब बढ़ रही है। वह पश्चिम की शिक्षा से बढ़ेगी, क्योंकि पश्चिम की शिक्षा का सारा आधार पुरुषार्थ है । और पूरब की शिक्षा का सारा आधार भाग्य है । दोनों विपरीत हैं ।

पूरब मानता है कि सब परमात्मा कर रहा है । और पश्चिम मानता है : सब मनुष्य कर रहा है । निश्चित ही जब सब मनुष्य कर रहा है, तो फिर मनुष्य को उत्तरदायी होना पड़ेगा । फिर चिन्ता पकड़ती है । थोड़ा फर्क देखें ।

बर्ट्रेन्ड रसेल परेशान है कि तीसरा महायुद्ध न हो जाय । उसकी नींद हराम होगी । आइन्स्टीन मरते दम तक बेचैन है कि मैंने एटम बम बनने में सहायता दी है; कहीं दुनिया बरबाद न हो जाय । मरने के थोड़े दिन पहले उसने कहा कि अगर मैं दुबारा पैदा होऊँ तो मैं वैज्ञानिक होने की बजाय एक प्लम्बर होना पसंद करूँगा। मुझसे भूल हो गई। क्योंकि दुनिया नष्ट हो जाएगी ।

लेकिन एक बात मजे की है कि आइन्स्टीन समझ रहा है कि मेरे कारण नष्ट हो जाएगी । बर्ट्रेन्ट रसेल सोच रहे हैं कि शांति का उपाय मैंने न किया, हमने न किया, तो दुनिया नष्ट हो जाएगी। इधर कृष्ण की दृष्टि बिलकुल उलटी है ।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जिनको तू सोचता है कि तू मारेगा, उन्हें मैं पहले ही मार चुका हूँ । वे मर चुके हैं । नियति सब तय कर चुकी है । बात सब हो चुकी है। कहानी का सब लिखा जा चुका है । तू तो सिर्फ निमित्त है ।

इन दोनों में फर्क देखें । इन दोनों में फर्क यह है कि पश्चिम में सोचा जाता है कि आदमी जिम्मेवार है । अगर आदमी जिम्मेवार है हर चीज के लिए, तो चिंता पकड़ेगी, एंग्झायटी पैदा होगी । फिर जो भी मैं करूँगा; मैं जिम्मेवार हूँ । फिर हाथ मेरे कँपेंगे, हृदय मेरा कँपेगा ।

आदमी कमजोर है । और जगत् बहुत बड़ा है । और सारी जिम्मेवारी आदमी पर, तो बहुत घबड़ाहट पैदा हो जाती है। इसलिए पश्चिम इतना विक्षिप्त मालूम हो रहा है । इस विक्षिप्तता के पीछे पुरुषार्थ का आग्रह है ।

पूरब बड़ा शांत है । यहाँ जो भी हो रहा था, कोई जिम्मेवारी व्यक्ति की न थी--उस परम नियंता की थी । यह सच है या झूठ --यह सवाल नहीं है। पुरुषार्थ ठीक है कि भाग्य--यह सवाल नहीं है।

मेरे लिए तो पुरुषार्थ चिंता पैदा करने का उपाय है। अगर किसी को चिंता पैदा करनी है, तो पुरुषार्थ सुगम उपाय है। अगर आपको चिंता में रस है, तो सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लें । और अगर आपको चिंता में रस नहीं है और समाधि

में रस है, तो सारी जिम्मेवारी परमात्मा पर छोड़ दें। परमात्मा न भी हो, तो कोई फर्क नहीं पड़ता। आपके छोड़ने से फर्क पड़ता है।

समझ लें।

परमात्मा न भी हो, कहीं कोई परमात्मा न हो, लेकिन आप परमात्मा पर छोड़ दें, आपसे उतर जाय, आपके खयाल से हट जाय; आप जिम्मेवार नहीं हैं, कोई और जिम्मेवार है--बात समाप्त हो गई। आपकी चिंता विलीन हो गई।

चिंता के मूल आधार में अस्मिता, अहंकार है।

इसे एक विधि की तरह समझें और प्रयोग करें, तो आप चकित हो जाएँगे। आपकी जिंदगी को बदलने में भाग्य की धारणा इतना अद्भुत काम कर सकती है, जिसका कोई हिसाब नहीं है। लेकिन बहुत सजग होकर उसका प्रयोग करना पड़े।

कोई आदमी आपको गाली देता है, तो आप स्वीकार करते हैं कि परमात्मा की मरजी है। आपके भीतर क्रोध आ जाता है, तो भी आप स्वीकार करते हैं कि परमात्मा की मरजी। मारपीट हो जाती है, तो भी आप स्वीकार करते हैं कि परमात्मा की मरजी। वह आपकी छाती पर बैठ जाता है, तो भी आप स्वीकार करते हैं कि परमात्मा की मरजी या आप उसकी छाती पर बैठ जाते हैं, तो भी आप स्वीकार करते हैं कि परमात्मा की मरजी है।

ध्यान रहे : जब वह आपकी छाती पर बैठा हो, तब स्वीकार करना बहुत आसान है कि परमात्मा की मरजी है, जब आप उसकी छाती पर बैठे हों, तब स्वीकार करना बहुत मुश्किल है कि परमात्मा की मरजी है। क्योंकि आप काफी कोशिश करके उसकी छाती पर बैठ पाये हैं। उस वक्त मन में यही होता है कि अपने पुरुषार्थ का ही फल है कि इसकी छाती पर बैठे हैं।

सुख के क्षण में परमात्मा की मरजी साधना है। सफलता के क्षण में परमात्मा की मरजी—साधना है। विजय के क्षण में परमात्मा की मरजी का स्मरण साधना है।

तो आपकी जिन्दगी बदल जाती है। अनिवार्य रूपेण आप बिलकुल नये हो जाते हैं। चिंता का केन्द्र टूट जाता है।

अब हम सूत्र को लें।

'इस प्रकार जानकर जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है।'

कौन देखता है? कौन जानता है? किसके पास दर्शन है--दृष्टि है? यह सूत्र उसकी व्याख्या है। किसका जानना सही जानना है? और किसके पास

असली आँख है? कौन देखता है?

'इस प्रकार जानते हुए जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है।

यह संसार हम सब देखते हैं। इसमें सभी नाश होता दिखाई पड़ता है। सभी परिवर्तित होता दिखाई पड़ता है। सभी लहरों की तरह दिखाई पड़ता है--क्षण-भंगुर। इसे देखने के लिए कोई बड़ी गहरी आँखों की जरूरत नहीं है। जो आँखें हमें मिली हैं, वे काफी हैं। इन आँखों से ही दिखाई पड़ जाता है। लेकिन बड़ी कठिनाई है।

इन आँखों से ही दिखाई पड़ जाता है कि यहाँ सब क्षण-भंगुर है, लेकिन हममें बहुत से लोग आँखें होते हुए बिलकुल अंधे हैं--यह भी दिखाई नहीं पड़ता--कि यहाँ सब क्षण-भंगुर है। यह भी दिखाई नहीं पड़ता।

हम क्षण-भंगुर वस्तुओं को भी इतना जोर से पकड़ते हैं, उससे पता चलता है कि हमें भरोसा है कि चीजें पकड़ी जा सकती हैं और रोकी जा सकती हैं।

एक युवक मेरे पास आया और उसने कहा कि एक युवती से मेरा प्रेम है। लेकिन कभी प्रेमपूर्ण लगता है मन, और कभी घृणा से भर जाता है। और कभी मैं चाहता हूँ--इसके बिना न जी सकूँगा। और कभी मैं सोचने लगता हूँ कि इसके साथ जीना मुश्किल है। मैं क्या करूँ?'

मैंने उससे पूछा, 'तू चाहता क्या है? तो उसने कहा, 'चाहता तो मैं यही हूँ कि सतत मेरा प्रेम इसके प्रति बना रहे!' फिर मैंने उससे कहा कि 'तू दिक्कत में पड़ेगा। क्योंकि इस जगत् में सभी क्षण-भंगुर है--प्रेम भी। यह तो तेरी आकांक्षा ऐसी है, जैसे कोई आदमी कहे कि मुझे भूख कभी न लगे; पेट मेरा भरा ही रहे। भूख लगनी जरूरी है, तो ही पेट भरने का प्रयास होगा। और फिर भूख मिट जाएगी। लेकिन पेट भरते ही नई भूख पैदा होनी शुरू हो जाएगी। एक वर्तुल है।

रात है, दिन है। ऐसे ही प्रेम है और घृणा है। आकर्षण है और विकर्षण है। आदर है और अनादर है।

हमारी सारी तकलीफ यह होती है कि अगर किसी व्यक्ति के प्रति हमारा आदर है, तो हम कोशिश करते हैं: सतत बना रहे। वह बना रह नहीं सकता। क्योंकि आदर के साथ वैसे ही रात भी जुड़ी है--अनादर की। और प्रेम के साथ घृणा की रात जुड़ी है।

और सभी चीजें बहती हुई हैं—प्रवाह है। यहाँ कोई चीज थिर नहीं है। इसलिए जब भी आप किसी चीज को थिर करने की कोशिश करते हैं, तभी आप मुसीबत में पड़ जाते हैं।

लेकिन कोशिश आप इसीलिए करते हैं, कि आपको भरोसा है कि शायद चीजें थिर हो जायँ।

जवान आदमी जवान बने रहने की कोशिश करता है। सुन्दर आदमी सुन्दर बने रहने की कोशिश करता है। जो किसी पद पर है, वह पद पर बने रहने की कोशिश करता है। जिसके पास धन है, वह धनी बने रहने की कोशिश करता है। हम सब कोशिश में लगे हैं।

हमारे अगर जीवन के प्रयास को एक शब्द में कहा जाय, तो वह यह है कि जीवन है परिवर्तनशील और हम कोशिश में लगे हैं कि यहाँ कुछ शाश्वत मिल जाय। इस परिवर्तनशील प्रवाह में हम कहीं पैर रखने को कोई भूमि पा जायँ--जो बदलती नहीं है। क्योंकि बदलाहट से बड़ा डर लगता है। कल का कोई भरोसा नहीं है। क्या होगा, क्या नहीं होगा--सब अनजान मालूम होता है। और अँधेरे में बहे चले जाते हैं। इसलिए हम सब चाहते हैं: कोई ठोस भूमि--कोई आधार--जिस पर हम खड़े हो जायँ--सुरक्षित। सिक्योरिटी मिल जाय--यह हमारी चेष्टा है। यह चेष्टा बताती है कि हमें क्षण-भंगुरता दिखाई नहीं पड़ती।

यहाँ सभी कुछ क्षण भर के लिए है। हमें यही दिखाई नहीं पड़ता। कृष्ण तो कहते हैं: 'और वही देखता है, जो क्षण-भंगुर के भीतर शाश्वत को देख लेता है।'

हमें तो क्षण-भंगुर ही नहीं दिखाई पड़ता। पहली बात। क्षण-भंगुर न दिखाई पड़ने से हम अपने ही मन के शाश्वत निर्मित करने की कोशिश करते हैं। वे झूठे सिद्ध होते हैं। वे सब गिर जाते हैं।

हमारा प्रेम, हमारी श्रद्धा, हमारा आदर--हमारे सब भाव मिट जाते हैं--धूल-धूसरित हो जाते हैं। हमारे सब भवन गिर जाते हैं। हम कितने ही मजबूत पत्थर लगाएँ--हमारे सब भवन खण्डहर हो जाते हैं। हम जो भी बनाते हैं इस जिन्दगी में, वह सब जिन्दगी मिटा देती है। कुछ बचता नहीं। सब राख हो जाता है। लेकिन फिर भी हम स्थिर को बनाने की कोशिश करते रहते हैं, और असफल होते रहते हैं। हमारे जीवन का विषाद यही है।

सम्बन्ध चाहते हैं स्थिर बना लें। वे नहीं बन पाते।

हमने कितनी कोशिश की है कि पति-पत्नी का प्रेम स्थिर हो जाय, वह नहीं हो पाता। बड़ा विषाद है, बड़ा दुःख--बड़ी पीड़ा है। कुछ स्थिर नहीं हो पाता।

मित्रता स्थिर हो जाय--शाश्वत हो जाय। कहानियों में होती है। जिन्दगी में नहीं हो पाती।

कहानियाँ भी हमारी मनोवांछाएँ हैं। जैसा हम चाहते हैं जिन्दगी में हो, वैसा हम कहानियों में लिखते हैं। वैसा होता नहीं। इसलिए हर कहानी: दो प्रेमियों का विवाह हो जाता है--कोई फिल्म या कोई कथा--और खत्म होती है कि इसके बाद दोनों आनंद से रहने लगे। यहाँ खत्म होती है! यहाँ कोई जिंदगी खत्म नहीं होती।

कहानी चलती है, जब तक विवाह नहीं हो जाता और शहनाइयाँ नहीं बजने लगतीं। और शहनाई बजते ही दोनों प्रेमी फिर सदा सुख शांति से रहने लगे--यहाँ खतम हो जाती है। और आदमी की जिंदगी में जाकर देखें।

शहनाई जब बजती है, उसके बाद ही असली उपद्रव शुरू होता है। इसके पहले थोड़ी बहुत सुख-शांति रही भी हो। इसके बाद बिलकुल नहीं रह जाती। लेकिन उसे हम ढाँक देते हैं। वहाँ से परदा गिरा देते हैं। वहाँ कहानी खत्म हो जाती है। वह हमारी मनोवांछा है: ऐसा होना चाहिए था। ऐसा होना नहीं है।

हम अपनी कहानियों में जो-जो लिखते हैं, वह अकसर वही है, जो जिन्दगी में नहीं होता। हम अपनी कहानियों में उन चरित्रों को बहुत ऊपर उठाते हैं आसमान पर, जो जिन्दगी में हो नहीं सकते।

जिन्दगी तो बिलकुल क्षण-भंगुर है। वहाँ कोई चीज थिर होती नहीं; टिक नहीं सकती। टिकना वहाँ होता ही नहीं।

इसे ठीक से समझ लें। क्षण-भंगुर है, जगत् चारों तरफ। हम इस जगत् से डर के अपना एक शाश्वत--मन का--जगत् बनाने की कोशिश करते हैं। वह नहीं टिक सकता। हमारा जगत् क्या टिकेगा; हम खुद क्षण-भंगुर हैं। बनाने वाला यह मन क्षण-भंगुर है। इससे कुछ भी बन नहीं सकता। और जिस सामग्री से यह बनता है, वह भी क्षण-भंगुर है। लेकिन अगर हम क्षण-भंगुरता में गहरे देखने में सफल हो जायँ, हम क्षण-भंगुरता के विपरीत कोई शाश्वत जगत् बनाने की कोशिश न करें, बलिक क्षण-भंगुरता में ही आँखों को पैना गड़ा दें, तो क्षण-भंगुरता के पीछे ही, प्रवाह के पीछे ही, वह जो अविनश्वर है, वह जो परमात्मा है शाश्वत, वह दिखाई पड़ जाएगा।

दो तरह के लोग हैं जगत् में। एक: वे जो क्षण-भंगुर को देखकर अपने गृह-उद्योग खोल लेते हैं--शाश्वत को बनाने के। और दूसरे: वे जो क्षण-भंगुर को देखकर अपना गृह-उद्योग नहीं खोलते शाश्वत को बनाने का, बलिक क्षण-भंगुर में ही गहरा प्रवेश करते हैं। अपनी दृष्टि को एकाग्र करते हैं। और क्षण-भंगुर की परतों को पार करते हैं। क्षण-भंगुर लहरों के नीचे वे शाश्वत के सागर को उपलब्ध कर लेते हैं।

कृष्ण कहते हैं, 'इस प्रकार जानकर जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर

भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है।' उसके पास ही आँख है, वही आँख वाला है, वही प्रज्ञावान है--जो इस सारी क्षण-भंगुरता की धारा के पीछे समभाव से स्थित शाश्वत को देख लेता है।

एक बच्चा पैदा हुआ। आप देखते हैं--जीवन आया। फिर वह बच्चा जवान हुआ, फिर बूढ़ा हुआ और फिर मरघट पर आप उसको बिदा कर आये। और आप देखते हैं--मौत आ गई।

कभी इस जन्म और मौत दोनों के पीछे समभाव से स्थित कोई चीज आपको दिखाई पड़ी? जन्म दिख जाता है, मृत्यु दिख जाती है। लेकिन जन्म और मृत्यु के पीछे छिपा हुआ जो जीवन है, वह हमें कभी नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि जन्म के पहले भी जीवन था, और मृत्यु के बाद भी जीवन होगा।

मृत्यु और जन्म जीवन की विराट् व्यवस्था में केवल दो घटनाएँ हैं। जन्म एक लहर है और मृत्यु लहर का गिर जाना है। लेकिन जिससे लहर बनी थी, वह जो सागर था, वह जन्म के पहले भी था और मृत्यु के बाद भी होगा। वह हमें दिखाई नहीं पड़ता। तो जन्म के समय हम बैंड-बाजे बजा लेते हैं कि जीवन आया, उत्सव हुआ। फिर मृत्यु के समय हम रो-धो लेते हैं कि जीवन गया; उत्सव समाप्त हुआ। मौत घट गई। दोनों स्थिति में हम चूक गए--उसे देखने से, जो न कभी पैदा होता है और न कभी नष्ट होता है। पर हमारी आँखें उसको नहीं देख पातीं।

अगर हम जन्म और जीवन के भीतर परम जीवन को देख पायें, तो कृष्ण कहते हैं, तो तुम्हारे पास आँख है।

तो आँख की एक परिभाषा हुई--कि परिवर्तनशील में जो शाश्वत को देख ले। जहाँ सब बदल रहा हो, वहाँ उसे देख ले, जो कभी नहीं बदलता है। वह आँख वाला है। इसलिए हमने इस मुल्क में फिलॉसफी को दर्शन कहा है। दर्शन का अर्थ है यह : जो देख ले शाश्वत को परिवर्तनशील में। बनाने की जरूरत नहीं है; हमारे बनाए, वह न बनेगा। वह मौजूद है। वह जो परिवर्तन है, वह केवल ऊपर की पर्त है, परदा है। उसके भीतर वह छिपा है--चिरंतन। हम सिर्फ परदे को हटाकर देखने में सफल हो जायें। हम कब तक सफल न हो पायेंगे?--जब तक हम अपने गृह-उद्योग जारी रखेंगे और शाश्वत को बनाने की कोशिश करते रहेंगे। जब तक हम परिवर्तन के विपरीत अपना ही सनातन बनाने की कोशिश करेंगे, तब तक हम परिवर्तन में छिपे शाश्वत को न देख पायेंगे।

गृहस्थ का आध्यात्मिक अर्थ होता है--जो अपना शाश्वत बनाने में लगा है। संन्यस्थ का आध्यात्मिक अर्थ होता है : जो अपना शाश्वत में नहीं बनाता, जो परिवर्तन में शाश्वत की खोज में लगा है।

गृहस्थ का अर्थ है : घर बनाने वाला। संन्यस्थ का अर्थ है : घर खोजने वाला। संन्यासी उस घर को खोज रहा है, जो शाश्वत है ही--जिसको किसी ने बनाया नहीं। वही परमात्मा है। वही असली घर है। और जब तक उसको नहीं पा लिया, तब तक हम घरविहीन--होमलेस--भटकते ही रहेंगे।

गृहस्थ है, जो परमात्मा की फिक्र नहीं कर रहा है। वह चारों तरफ परिवर्तन है, इसके बीच में पत्थर की मजबूत दीवालें बना के अपना घर बना लेता है खुद, और उस घर को सोचता है : मेरा घर है, मेरा आवास है।

गृहस्थ का अर्थ है : जिसका घर अपना ही बनाया हुआ है। संन्यस्थ का अर्थ है : जो उस घर की तलाश में है--जो अपना बनाया हुआ नहीं है--जो है ही।

दो तरह के शाश्वत हैं : एक शाश्वत जो हम बनाते हैं : वे झूठे ही होने वाले हैं। हमसे क्या शाश्वत निर्मित होगा? शाश्वत तो वह है, जिससे हम निर्मित हुए हैं।

आदमी जो भी बनाएगा, वह टूट जाएगा, बिखर जाएगा। आदमी जिससे बना है, जब तक उसको न खोज ले, तब तक सनातन, शाश्वत, अनादि, अनंत का कोई अनुभव नहीं होता। और जब तक उसका अनुभव न हो जाय, तब तक हमारे जीवन में चिंता, पीड़ा, परेशानी रहेगी। क्योंकि जहाँ सब कुछ बदल रहा है, वहाँ निश्चिंत कैसे हुआ जा सकता है? जहाँ पैर के नीचे से जमीन खिसकी जा रही हो, वहाँ कैसे निश्चिंत रहा जा सकता है? जहाँ हाथ से जीवन की रेत खिसकती जाती हो, और जहाँ एक-एक पल जीवन रिक्त होता जाता हो और मौत करीब आती हो, वहाँ कैसे शांत रहा जा सकता है? वहाँ कैसे कोई आनंदित हो सकता है? जहाँ चारों तरफ घर में आग लगी हो, वहाँ कैसा उत्सव और कैसे नृत्य चल सकता है? असंभव है। तब एक ही उपाय है कि आग लगे हुए घर के भीतर हम छोटा और घर बना लें, उसमें छिप जायँ--अपने उत्सव को बचाने के लिए। लेकिन वह बच नहीं सकता। परिवर्तन की धारा--जो भी हम बनाएँगे--उसे तोड़ देगी।

बुद्ध का वचन बहुत कीमती है। बुद्ध ने कहा है : ध्यान रखना--जो बनाया जा सकता है, वह मिटेगा। बनाना एक छोर है, मिटना दूसरा छोर है। और जैसे एक डंडे का एक छोर नहीं हो सकता; दूसरा भी होगा ही। चाहे आप कितना ही छिपाओ, भुलाओ--डंडे का दूसरा छोर भी होगा ही। या कि आप सोच सकते हैं कि कोई ऐसा डंडा हो सकता है, जिसमें एक ही छोर हो? वह असंभव है।

तो बुद्ध कहते हैं : जो बनता है, वह मिटेगा। जो निर्मित होता है, वह बिखरेगा। दूसरे छोर को भुलाओ मत। वह दूसरा छोर है ही, उससे बचा नहीं जा सकता। लेकिन हमारी आँखें अंधी हैं। हम ऐसे अंधे हैं, हमारी आँखों पर ऐसी परतें हैं, जिसका हिसाब नहीं।

मैं एक उजड़े हुए नगर में मेहमान था। वह नगर कभी बहुत बड़ा था। लोग कहते हैं कि कोई सात लाख उसकी आबादी थी। रही होगी, क्योंकि खंडहर गवाही देते हैं। केवल सात सौ वर्ष पहले वह नगर आबाद था। सात लाख उसकी आबादी थी। और अब मुश्किल से नौ सौ आदमी उस नगर में रहते हैं। नौ सौ की संख्या तख्ती पर लगी हुई है।

उस नगर में इतनी-इतनी बड़ी मसजिदें हैं कि जिनमें दस हजार लोग एक साथ नमाज पढ़ सकते थे। इतनी-इतनी बड़ी धर्म-शालाएँ हैं, जिनमें अगर एक लाख लोग भी गाँव में मेहमान हो जायँ अचानक, तो भी कोई अड़चन न होगी। आज वहाँ पर करीब नौ सौ आदमी रहते हैं। सारा नगर खंडहर हो गया है।

जिन मित्र के साथ मैं ठहरा था, वे अपना नया मकान बनाने की योजना कर रहे थे। वे इतने भावों से भरे थे नये मकान के; मुझे नक्शे दिखाये, मॉडल दिखाये कि ऐसा बनाना है, ऐसा बनाना है। और उनके चारों तरफ खंडहर फैले हुए हैं!

उनकी भी उम्र उस समय कोई साठ के करीब थी। अब तो वे हैं ही नहीं। चल बसे। मकान बनाने की योजना कर रहे थे।

उनकी सारी योजनाएँ सुन कर मैंने कहा, 'लेकिन एक बार तुम घर के बाहर जाकर ये खंडहर भी तो देखो।' उन्हें मेरी बात सुन के ऐसा लगा, जैसे मैं भी कहाँ खुशी की बात में एक दुःख की बात बीच में ले आया। वे बड़े उदास हो गये। उन्होंने मेरी बात टालने की कोशिश की: उन्होंने कहा कि नहीं, मैंने खंडहर तो देखे हैं।' फिर, लेकिन, वही मॉडल। वही चर्चा।

मैंने कहा, 'नहीं, आपने नहीं देखे। क्योंकि जिन्होंने ये बनाये थे, उन्होंने आपसे भी बहुत ज्यादा सोचा होगा। इतने बड़े महल आप नहीं बना सकोगे। आज न बनाने वाले हैं, न उनके महल बचे। सब मिट्टी हो गया है। आप जो बनाओगे, मिट्टी हो जाएगा--इसको ध्यान में रखकर बनाना।' वे कहने लगे कि 'आप कुछ ऐसी बातें करते हो, कि मन उदास हो जाता है। अकारण आप उदास कर देते हैं।'

मैंने कहा, 'मैं आपको उदास नहीं कर रहा हूँ। दूसरा छोर देखना जरूरी है। दूसरे छोर को देखकर बनाओ। दूसरे छोर को जानते हुए बनाओ कि जो भी बनाएँगे, वह मिट जाएगा।'

हमारा बनाया हुआ शाश्वत नहीं हो सकता। हम शाश्वत नहीं हैं। लेकिन हमारे भीतर और इस परिवर्तन के भीतर कुछ है, जो शाश्वत है। अगर हम उसे देख लें...। उसे देखा जा सकता है।

परिवर्तन को जो साक्षीभाव से देखने लगे, थोड़े दिन में परिवर्तन की पर्त हट जाती है और शाश्वत के दर्शन शुरू हो जाते हैं। परिवर्तन से जो लड़े नहीं, परिवर्तन

को जो देखने लगे; परिवर्तन के विपरीत कोई उपाय न करे, परिवर्तन के साथ जीने लगे; परिवर्तन से भागे नहीं, परिवर्तन में बहने लगे; न कोई लड़ाई, न कोई झगड़ा, न विपरीत में कोई आयोजन--जो परिवर्तन को राजी हो जाय--सिर्फ जागा हुआ देखता रहे--धीरे-धीरे...। परिवर्तन की पर्त बहुत पतली है--होगी ही। परिवर्तन की पर्त बहुत मोटी नहीं हो सकती--बहुत पतली है, तभी तो क्षण में बदल जाती है। धीरे-धीरे परिवर्तन की पर्त मखमल की पर्त मालूम होने लगती है। उसे आप हटा लेते हैं। उसके पार शाश्वत दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है।

'कृष्ण कहते हैं, 'नाश रहित परमेश्वर को जो समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है। क्योंकि वह पुरुष समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है। इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।'

'क्योंकि वह पुरुष समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है।' इसे समझ लें। '...इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।'

हम अपने ही द्वारा अपने आपको नष्ट करने में लगे हैं। हम जो भी कर रहे हैं, उसमें हम अपने आपको नष्ट कर रहे हैं। लोग--अगर मैं उनसे कहता हूँ: ध्यान करो, प्रार्थना करो, पूजा में उतरो, तो वे कहते हैं: समय कहाँ! और वे ही लोग ताश खेल रहे हैं। उनसे मैं पूछता हूँ: क्या कर रहे हो? वे कहते हैं: समय काट रहे हैं। उनसे मैं कहूँ: ध्यान करो। वे कहते हैं: समय कहाँ। होटल में घंटों बैठकर सिगरेट फूक रहे हैं, चाय पी रहे हैं, व्यर्थ की बातें कर रहे हैं। उनसे मैं पूछता हूँ: क्या कर रहे हो? वे कहते हैं: समय नहीं कटता। समय काट रहे हैं।

बड़े मजे की बात है। जब भी कोई काम की बात हो, तो समय नहीं है। और जब कोई बेकाम बात हो, तो हमें इतना समय है कि उसे काटना पड़ता है। ज्यादा है हमारे पास समय!

कितनी जिंदगी है आपके पास? ऐसा लगता है: बहुत ज्यादा है; जरूरत से ज्यादा है। आप कुछ खोज नहीं पा रहे--क्या करें इस जिंदगी का। तो ताश खेल कर काट रहे हैं। सिगरेट पी कर काट रहे हैं, शराब पी कर काट रहे हैं। सिनेमा में बैठकर काट रहे हैं। फिर भी नहीं कटता, तो सुबह जिस अखबार को पढ़ा, उसे दोपहर फिर पढ़कर समय काट रहे हैं। शाम को फिर उसी को पढ़ रहे हैं।

कटती नहीं जिन्दगी; ज्यादा मालूम पड़ती है। आपके पास समय बहुत मालूम पड़ता है और आप समय काटने के उपाय खोज रहे हैं।

पश्चिम में विचारक बहुत परेशान हैं, क्योंकि काम के घंटे कम होते जा रहे हैं। और आदमी के पास समय बढ़ता जा रहा है। और काटने के उपाय कम पड़ते

जा रहे हैं। बहुत मनोरंजन के साधन खोजे जा रहे हैं, फिर भी समय नहीं कट रहा है।

तो पश्चिम के विचारक घबड़ाये हुए हैं कि अगर पचास साल ऐसा ही चला, तो पचास साल में मुश्किल से एक घंटे का दिन हो जाएगा--काम का। वह भी मुश्किल से। वह भी सभी लोगों को काम नहीं मिल सकेगा। क्योंकि टेक्नालॉजी, यंत्र सब सम्हाल लेंगे। आदमी खाली हो जाएगा।

बड़े से बड़ा जो खतरा पश्चिम में आ रहा है, वह यह है कि जब आदमी खाली हो जाएगा और समय काटने को कुछ भी न होगा, तब आदमी क्या करेगा? आदमी बहुत उपद्रव मचा देगा। वह कुछ भी काटने लगेगा--समय काटने के लिए। वह कुछ भी करेगा; समय काटेगा। क्योंकि बिना समय काटे वह नहीं रह सकता।

आपको पता नहीं चलता। आप कहते रहते हैं कि कब जिन्दगी के उपद्रव से छुटकारा हो। कब दफ्तर से छूटूं। कब नौकरी से मुक्ति मिले? कब रिटायर हो जाऊं? लेकिन जो रिटायर हैं, उनकी हालत देखें। रिटायर होते ही से जिन्दगी बेकार हो जाती है। समय नहीं कटता। मनस्विद् कहते हैं कि रिटायर होते ही आदमी की दस साल उम्र कम हो जाती है। अगर वह काम करता रहता, दस साल और जिन्दा रहता। क्योंकि अब समय कहाँ काटे? तो अपने को ही काट लेता है।

यह सूत्र कहता है कि 'जो व्यक्ति परिवर्तन के भीतर छिपे हुए शाश्वत को समभाव से देख लेता है, वह फिर अपने आपको नष्ट नहीं करता।' नहीं तो हम नष्ट करेंगे ही। हम करेंगे क्या? इस क्षण-भंगुर के प्रवाह में हम भी क्षण-भंगुर का एक प्रवाह हो जाएँगे। और हम क्या करेंगे? इस क्षण-भंगुर के प्रवाह में, उससे लड़ने में हम कुछ इन्तजाम करने में, सुरक्षा बनाने में--मकान बनाने में, धन इकट्ठा करने में, अपने को बचाने में सारी शक्ति लगा देंगे और यह सब बह जाएगा। हम बचेंगे नहीं। वह सब जो हमने किया, व्यर्थ चला जाएगा।

थोड़ा सोचें: आपने जो भी जिन्दगी में किया है, जिस दिन आप मरेंगे, उसमें से कितना सार्थक रह जाएगा? अगर आज ही आपकी मौत आ जाय, तो आपने बहुत काम किये हैं: अखबार में नाम छपता है, फोटो छपती है। बड़ा मकान है। बड़ी गाड़ी है। धन है, तिजोरी है, बैंक बैलेंस है। प्रतिष्ठा है। लोग नमस्कार करते हैं। लोग मानते हैं। डरते हैं, भयभीत होते हैं। जहाँ जायँ, लोग उठकर खड़े होकर स्वागत करते हैं। लेकिन मौत आ गई आज। इसमें से तब कौन-सा सार्थक मालूम पड़ेगा? मौत आते ही यह सब व्यर्थ हो जाएगा। और आप खाली हाथ विदा होंगे।

आपने जिन्दगी में कुछ भी कमाया नहीं है; सिर्फ गँवाया है। आपने जिन्दगी गँवाई है। आपने अपने को काटा और नष्ट किया है। आपने अपने को बेचा और व्यर्थ की चीजें खरीद लाये। आपने आत्मा गँवाई और सामान इकट्ठा कर लिया है।

जीसस ने बार-बार कहा है कि क्या होगा फायदा, अगर तुमने पूरी दुनिया भी जीत ली और अपने को गँवा दिया? क्या पाओगे तुम, अगर सारे संसार के मालिक भी हो गए और अपने ही मालिक न रहे?

महावीर ने बहुत बार कहा है कि जो अपने को पा लेता है, वह सब पा लेता है। जो अपने को गँवा देता है, सब गँवा देता है।

हम सब अपने को गँवा रहे हैं। कोई फर्नीचर खरीद ला रहा है--आत्मा बेचकर। लेकिन हमें पता नहीं चलता कि आत्मा बेची, क्योंकि आत्मा का हमें पता ही नहीं है। हमें पता ही नहीं, हम कब उसको बेच देते हैं; कब हम उसको खो आते हैं। जिसका हमें पता ही नहीं, वह सम्पदा रिक्त होती चली जाती है।

चार पैसे के लिए आदमी बेईमानी कर सकता है, झूठ बोल सकता है, धोखा दे सकता है। पर उसे पता नहीं कि धोखा, बेईमानी करने, झूठ बोलने में वह कुछ गँवा भी रहा है, वह कुछ खो भी रहा है। वह जो खो रहा है, उसका उसे पता नहीं है। वह जो कमा रहा है चार पैसे, वह उसे पता है। इसलिए कौड़ियाँ हम इकट्ठी कर लेते हैं और हीरे खो देते हैं।

कृष्ण कहते हैं: वही आदमी अपने को नष्ट करने से बचा सकता है, जिसको सनातन शाश्वत का थोड़ा-सा बोध आ जाय। उसके बोध आते ही अपने भीतर भी शाश्वत का बोध आ जाता है।

जो हम बाहर देखते हैं, वही हमें भीतर दिखाई पड़ता है। जो हम भीतर देखते हैं, वही हमें बाहर दिखाई पड़ता है। बाहर और भीतर दो नहीं हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

अगर मुझे सागर की लहरों में सागर दिखाई पड़ जाय, तो मुझे मेरे मन की लहरों में मेरी आत्मा भी दिखाई पड़ जाएगी। अगर एक बच्चे के जन्म और एक बूढ़े की मृत्यु में लहरें मालूम पड़ें और भीतर छिपे हुए जीवन की झलक मुझे आ जाय, तो मुझे अपने बुढ़ापे, अपनी जवानी, अपने जन्म, अपनी मौत में भी जीवन की शाश्वतता का पता हो जाएगा। इस बोध का नाम ही दृष्टि है। और इस बोध से ही कोई परम गति को प्राप्त होता है।

'और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है, तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है।'

वही मैं जो आपसे कह रहा था। चाहे आप ऐसा समझें कि सब परमात्मा

कर रहा है, तब भी आप अकर्ता हो जाते हैं ।

सांख्य कहता है : सभी कुछ प्रकृति कर रही है, तब भी आप अकर्ता हो जाते हैं।

मूल बिन्दु है : अकर्ता हो जाना । नॉन-डुअर--आप करनेवाले नहीं हैं । किसी को भी मान लें कि कौन कर रहा है, इससे फर्क नहीं पड़ता । सांख्य की दृष्टि को कृष्ण यहाँ प्रस्तावित कर रहे हैं । वे कह रहे हैं, 'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है । और यह पुरुष जिस काल में भूतों के न्यारे-न्यारे भाव को एक परमात्मा के संकल्प के आधार पर स्थित देखता है तथा उस परमात्मा के संकल्प से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उस काल में सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त होता है ।'

जो कुछ हो रहा है, जो भी कर्म हो रहे हैं, वे प्रकृति से हो रहे हैं । और जो भी भाव हो रहे हैं, वह परमात्मा से हो रहे हैं, वह पुरुष से हो रहे हैं ।

पुरुष और प्रकृति दो हैं । सारे कर्म प्रकृति से हो रहे हैं और सारे भाव पुरुष से हो रहे हैं। इन दोनों को इस भाँति देखते ही आपके भीतर का जो आत्यंतिक बिन्दु है, वह दोनों के बाहर हो जाता है । न तो वह भोक्ता रह जाता है, और न कर्ता रह जाता है । वह देखने वाला ही हो जाता है। एक तरफ देखता है--प्रकृति की लीला और एक तरफ देखता है--भाव की, पुरुष की लीला । और दोनों के पीछे सरक जाता है । वह तीसरा बिन्दु हो जाता है, असली पुरुष हो जाता है। तो कृष्ण कहते हैं : वह सच्चिदानंदघन को प्राप्त हो जाता है।

'ऐसा जो देखता है वही देखता है ।' बाकी सब अंधे हैं ।

जीसस बहुत बार कहते हैं कि 'अगर तुम्हारे पास आँखें हों, तो देख लो। अगर तुम्हारे पास कान हों, तो सुन लो ।' जिनसे वे बोल रहे थे, उनके पास ऐसी ही आँखें थीं, जैसी आपके पास हैं । जिनसे वे बोल रहे थे, वे कोई बहरे नहीं थे। कोई गूंगे-बहरों की भीड़ में नहीं बोल रहे थे । लेकिन वे निरंतर कहते हैं कि आँखें हों, तो देख लो। कान हों, तो सुन लो । क्या मतलब है उनका ?

मतलब यही है कि हमारे पास आँखें तो जरूर हैं, लेकिन अब तक हमने उनसे देखा नहीं। या जो हमने देखा है, वह देखने योग्य नहीं है । हमारे पास कान तो जरूर हैं, लेकिन हमने उनसे कुछ सुना नहीं; और जो हमने सुना है, न सुनते तो कोई हर्ज न था। चूक जाते तो कुछ भी न चूकते । न देख पाते, न सुन पाते, जो हमने सुना और देखा है, तो कोई हानि नहीं थी ।

थोड़ा हिसाब लगाया करें कभी-कभी--कि जिन्दगी में जो भी आपने देखा है, अगर न देखते, तो क्या चूक जाता ? भला ताजमहल देखे हों । न देखते तो क्या चूक जाता ? और जो भी आपने सुना है, अगर न सुनते, तो क्या चूक जाता ?

अगर आपके पास ऐसी कोई चीज देखने में आई हो, जो आप कहें कि उसे अगर न देखते, तो जरूर कुछ चूक जाता, और जीवन अधूरा रह जाता । और ऐसा कुछ सुना हो, कि उसे न सुना होता, तो कानों का होना व्यर्थ हो जाता । अगर कुछ ऐसा देखा और सुना हो कि मौत भी उसे छीन न सके और मौत के क्षण में वह आपकी सम्पदा बनी रहे, तो आपने आँख का उपयोग किया, तो आपने कान का उपयोग किया । तो आपका जीवन शाश्वत हुआ है ।

कृष्ण कहते हैं, वही देखता है, जो इतनी बातें कर लेता है : परिवर्तन में शाश्वत को पकड़ लेता है । प्रवाह में नित्य को देख लेता है । बदलते हुए में न बदलते हुए की झलक पकड़ लेता है । वही देखता है ।

कर्तृत्व प्रकृति का है । भोक्तृत्व पुरुष का है । और जो दोनों के बीच साक्षी हो जाता है. . .। जो दोनों से अलग कर लेता है, कहता है : न मैं भोक्ता हूँ और न मैं कर्ता हूँ . . .।

सांख्य की यह दृष्टि बड़ी गहन दृष्टि है ।

कभी-कभी वर्ष में तीन सप्ताह के लिए छुट्टी निकाल लेनी जरूरी है । छुट्टी हम निकालते हैं, लेकिन हमारी छुट्टियाँ, जो हम रोज करते हैं, उससे भी बदतर होती हैं । हम छुट्टियों से थके-माँदे लौटते हैं । घर आकर बड़े प्रसन्न अनुभव करते हैं कि चलो, छुट्टियाँ खत्म हुईं; अपने घर लौट आये । छुट्टी है ही नहीं ।

हमारा जो हॉलि-डे है, जो अवकाश का समय है, वह भी हमारे बाजार के जीवन की ही दूसरी झलक है । उसमें कोई फर्क नहीं है ।

लोग पहाड़ पर जाते हैं । और वहाँ भी रेडियो लेकर पहुच जाते हैं। रेडियो तो घर पर ही उपलब्ध था । वह पहाड़ पर जो सूक्ष्म संगीत चल रहा है, उसे सुनने का उन्हें पता ही नहीं चलता । वहाँ भी जाकर रेडिओ वे उसी तेज आवाज से चला देते हैं । उससे उनको तो कोई शांति नहीं मिलती, पहाड़ की शांति जरूर थोड़ी खंडित होती है ।

सारा उपद्रव लेकर आदमी अवकाश के दिनों में भी पहुँच जाता है जंगलों में । सारा उपद्रव लेकर ! अगर उस उपद्रव में जरा भी कमी हो, तो उसको अच्छा नहीं लगता । वह सारा उपद्रव वहाँ जमा लेता है । इसलिए सभी सुन्दर स्थान खराब हो गए हैं । क्योंकि वहाँ भी होटलें खड़ी करनी पड़ती हैं । वहाँ भी सारा उपद्रव वही लाना पड़ता है, जो जहाँ से आप छोड़कर आ रहे हैं, वही सारा उपद्रव वहाँ ले जाना पड़ता है--जहाँ आप जा रहे हैं ।

अगर यह कृष्ण का सूत्र समझ में आये, तो इसका उपयोग करने के लिए आप वर्ष में तीन सप्ताह के लिए अवकाश ले लें । अवकाश का मतलब है : एकांत जगह

में चले जायँ। और इस भाव को गहन करें कि जो भी कर्म हो रहा है, वह प्रकृति में हो रहा है। और जो भी भाव हो रहा है, वह मन में हो रहा है। और मैं दोनों का द्रष्टा हूँ। मैं सिर्फ देख रहा हूँ। जस्ट ए वाचर ऑन द हिल--पहाड़ पर बैठा हुआ मैं सिर्फ एक साक्षी हूँ। सारा कर्म और भाव का जगत् नीचे रह गया। सारा भाव और कर्म मेरे चारों तरफ चल रहा है और मैं बीच में खड़ा देख रहा हूँ। और मैं तीन सप्ताह सिर्फ देखूँगा। मैंने देखने को नहीं भूलूँगा। मैं स्मरण रखूँगा--उठते-बैठते--चाहे कितनी ही बार चूक जाऊँ; बार-बार अपने को लौटा लूँगा और खयाल रखूँगा कि मैं सिर्फ देख रहा हूँ, मैं सिर्फ साक्षी हूँ। मुझे कोई निर्णय नहीं लेना है: क्या बुरा, क्या भला; क्या करना, क्या नहीं करना। मैं कोई निर्णय नहीं लूँगा। मैं सिर्फ देखता रहूँगा।

तीन सप्ताह इस पर आप प्रयोग करें, तो कृष्ण का सूत्र समझ में आयेगा। तो शायद आपकी आँख से थोड़ी धूल हट जाय और आपको पहली दफा जिन्दगी दिखाई पड़े। आँख से थोड़ी धूल हट जाय और आँख ताजी हो जाय। और आपको बढ़ते हुए वृक्ष में वह भी दिखाई पड़ जाय, जो भीतर छिपा है। बहती हुई नदी में वह दिखाई पड़ जाय, जो कभी नहीं बहा। चलती, सनसनाती हवा में वह सुनाई पड़ जाय, जो बिलकुल मौन है। सब तरफ आपको परिवर्तन के पीछे थोड़ी-सी झलक उसकी मिल सकती है, जो शाश्वत है। लेकिन आपकी आँख पर जमी हुई धूल थोड़ी हटनी जरूरी है। उस धूल को हटाने का उपाय है--साक्षी के भाव में प्रतिष्ठा।

अगर आप तीन सप्ताह अवकाश ले लें--बाजार से नहीं--कर्म से, कर्ता से; भोग से नहीं--भोक्ता से।

भोग से भाग जाने में कोई कठिनाई नहीं है। आप अपनी पत्नी को छोड़कर भाग सकते हैं जंगल में। पत्नी भाग सकती है मंदिर में पति को छोड़कर के। भोग से भागने में कोई अड़चन नहीं है। क्योंकि भोग तो बाहर है। लेकिन भोक्ता भीतर बैठा हुआ छिपा है, वह हमारा मन है। वह वहाँ भी भोगेगा। वह वहाँ भी मन में ही भोग के संसार निर्मित कर लेगा। वही रस लेने लगेगा।

वहाँ भीतर से मैं भोक्ता नहीं हूँ, भीतर से मैं कर्ता नहीं हूँ--ऐसी दोनों धाराओं के पीछे साक्षी छिपा है। उस साक्षी को खोदना है। उसको अगर आप खोद लें, तो आपको आँख उपलब्ध हो जाएगी। और आँख हो तो दर्शन हो सकता है।

शास्त्र पढ़ने से नहीं होगा दर्शन; दृष्टि हो, तो दर्शन हो सकता है। शब्द सुन लेने से नहीं होगा सत्य का अनुभव, आँख हो तो सत्य दिखाई पड़ता है, क्योंकि सत्य प्रकाश जैसा है। अंधे को हम कितना ही समझाएँ कि प्रकाश कैसा है, हम न समझा पायेंगे। अंधे की तो आँख की चिकित्सा होनी जरूरी है।

ऐसा हुआ कि एक गाँव में बुद्ध ठहरे, और एक अँधे आदमी को लोग उनके पास लाये। और उन लोगों ने कहा कि यह अंधा मित्र है हमारा, बहुत घनिष्ट मित्र है। लेकिन यह बड़ा तार्किक है। लेकिन हम पाँच आँख वाले भी इसको समझा नहीं पाते कि प्रकाश है। और यह हँसता है और हमारे तर्क सब तोड़ देता है। और कहता है कि तुम मुझे अंधा सिद्ध करने के लिए प्रकाश का सिद्धांत गढ़ लिए हो। यह अंधा आदमी कहता है कि 'प्रकाश वगैरह है नहीं। तुम सिर्फ मुझे अंधा सिद्ध करना चाहते हो, इसलिए प्रकाश का सिद्धांत गढ़ लिए हो। तुम सिद्ध करो। अगर प्रकाश है, तो मैं उसे छूकर देखना चाहता हूँ। क्योंकि जो भी चीज है, वह छू कर देखी जा सकती है। अगर तुम कहते हो छूने में संभव नहीं है, तो मैं चखकर देखना चाहता हूँ। अगर तुम कहते हो, उसमें स्वाद नहीं है, तो मैं सुन सकता हूँ। तुम प्रकाश को बजाओ। मेरे कान सुनने में समर्थ हैं। अगर तुम कहते हो कि वह सुना भी नहीं जा सकता, तो तुम प्रकाश की गंध दो, तो मैं सूंघ लूँ। मेरे पास चार इन्द्रियाँ हैं। तुम इन चारों में से किसी से प्रकाश से मेरा मिलन करवा दो। और अगर तुम चारों से मिलन करवाने में असमर्थ हो, तो तुम झूठी बातें मत करो। न तो तुम्हारे पास आँख है और न मेरे पास आँख है। लेकिन तुम चालाक हो और मैं सीधा-सादा आदमी हूँ। और तुमने मुझे अंधा सिद्ध करने के लिए प्रकाश का सिद्धांत गढ़ लिया है।'

उन पाँचों मित्रों ने कहा कि 'इस अंधे को हम कैसे समझाएँ? न हम चखा सकते, न स्पर्श करा सकते, न कान में ध्वनि आ सकती। प्रकाश को कैसे बजाओ? तो हम आपके पास ले आये हैं। और आप हैं बुद्ध पुरुष, आप हैं परम ज्ञान को उपलब्ध, इतना ही काफी होगा कि आप हमारे अंधे मित्र को प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ समझा दें।'

बुद्ध ने कहा, 'तुम गलत आदमी के पास आ गए। मैं तो समझाने में भरोसा ही नहीं करता। तुम किसी वैद्य के पास ले जाओ इस अंधे आदमी को। इसकी आँख का इलाज करवाओ। समझाने से क्या होगा? तुम पागल हो? अंधे को समझाने बैठे हो। इसमें तुम्हारा पागलपन सिद्ध होता है। तुम इसकी चिकित्सा करवाओ। तुम इसे वैद्य के पास ले जाओ। इसकी आँख अगर ठीक हो जाय, तो तुम्हारे बिना तर्क के भी, तुम्हारे बिना समझाए यह प्रकाश को जानेगा। और तुम अगर इनकार करोगे कि प्रकाश नहीं है, तो यह सिद्ध करेगा कि प्रकाश है।'

आँख के अतिरिक्त प्रकाश का कोई प्रमाण नहीं है।

संयोग की बात थी कि वे उसे वैद्य के पास ले गए। उन्हें यह कभी खयाल ही नहीं आया था। वे सभी पंडित थे, सभी ब्राह्मण थे, सभी 'ज्ञानी' थे। सब तरह से

तर्क लगाकर समझाने की कोशिश कर ली थी। यह तो खयाल ही चूक गया था कि आँख न हो तो प्रकाश को समझाया कैसे जाय। प्रकाश कोई समझाने की बात नहीं है; अनुभव की बात है।

विशेषज्ञ ने कहा कि 'पहले क्यों न ले आये? इस आदमी की आँख अंधी नहीं है, केवल जाली है। और छः महीने की दवा के इलाज से जाली कट जाएगी। यह आदमी देख सकेगा। तुम इतने दिन तक कहाँ थे?' उन्होंने कहा, 'हम तो तर्क म उलझे थे। हमें इस अंधे आदमी की आँख से कोई प्रयोजन न था। हमें तो अपने सिद्धांत समझाने में रस था। वह तो बुद्ध की कृपा कि उन्होंने कहा कि चिकित्सक के पास ले जाओ।'

छः महीने बाद उस आदमी की आँख ठीक हो गई। तब तक बुद्ध तो बहुत दूर जा चुके थे। लेकिन वह आदमी बुद्ध को खोजता हुआ उनके गाँव तक पहुँचा। उनके चरणों पर गिर पड़ा। बुद्ध को तो खयाल भी नहीं रहा था कि वह कौन है। बुद्ध ने पूछा, 'तू इतना क्यों आनंदित हो रहा है? तेरी क्या खुशी? इतना उत्सव किस बात का? तू किस बात का धन्यवाद देने आया है? मेरे चरणों में इतने आनंद के आँसू क्यों बहा रहा है?' उसने कहा कि 'तुम्हारी कृपा। मैं यह कहने आया हूँ कि प्रकाश है।'

लेकिन प्रकाश तभी है, जब आँखें हैं।

कृष्ण कह रहे हैं: उस आदमी को मैं कहता हूँ आँख वाला, जो परिवर्तन में शाश्वत को देख लेता है।

पाँच मिनट रुकें। कोई बीच से उठे नहीं। कीर्तन पूरा हो, तब जायँ।

ग्यारहवाँ प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई संध्या, दिनांक १४ मई, १९७३

साधना और समझ • अहंकार और अध्यात्म
कष्ट और दुःख में फर्क • अलिप्त चैतन्य

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन, अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न करता है और न लिपायमान होता है।

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता है।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है : आप ध्यान या साधना पर इतना जोर क्यों देते हैं ? आध्यात्मिक दार्शनिक ग्रन्थों का पठन-पाठन या कृष्णमूर्ति या आप जैसे ज्ञानियों का श्रवण और स्वयं चिंतन-मनन––इनसे जो समझ आती है, क्या वह परिवर्तन के लिए पर्याप्त नहीं है ? क्या यही साधना नहीं है ? ध्यान को बैठने का फिर क्या प्रयोजन है ? ध्यान का अर्थ अगर साक्षीभाव है, तो दिनभर सब जगह हर काम करते वक्त भी पूरा अवसर है, फिर ध्यान करने की––अलग से बैठने की क्या जरूरत है ?

समझ काफी है, लेकिन समझ केवल सुन लेने या पढ़ लेने से उपलब्ध नहीं होती । समझ को भी भूमि देनी पड़ती है। उसके बीज को भी भूमि देनी पड़ती है। बीज में कोई सम्भावना है कि यह वृक्ष हो जाय, लेकिन बीज को भी जमीन में न डालें, तो वह वृक्ष नहीं होगा।

ध्यान समझ के लिए भूमि है। समझ काफी है, उससे जीवन में क्रांति हो जाएगी। लेकिन समझ का बीज ध्यान के बिना टूटेगा ही नहीं ।

और अगर समझ आप में पैदा होती हो––बिना ध्यान के––तो कृष्णमूर्ति को या मुझे सुनने का भी क्या प्रयोजन है ! और मुझे वर्षों से बहुत लोग सुनते है, कृष्णमूर्ति को चालीस वर्षों से बहुत लोग सुनते हैं। अब भी सुनने जाते हैं। समझ अभी भी पैदा नहीं हुई।

चालीस वर्ष से जो आदमी कृष्णमूर्ति को सुन रहा है, अब उसको कृष्णमूर्ति को सुनने जाने की क्या जरूरत है––अगर समझ पैदा हो गई हो ? अब भी सुनने जाता है। और कृष्णमूर्ति चालीस साल से एक ही बात कह रहे हैं––कि समझ पैदा करो। वह अभी चालीस वर्ष तक सुनकर भी पैदा नहीं हुई है। वह चार हजार वर्ष सुनकर भी पैदा नहीं होगी।

न तो सुनने से समझ पैदा हो सकती है, न पढ़ने से समझ पैदा हो सकती है।

ध्यान की भूमि में ही समझ पैदा हो सकती है। हाँ, सुनने से ध्यान की तरफ जाना हो सकता है। पढ़ने से ध्यान की तरफ जाना हो सकता है। और अगर समग्र मन से सुनें, तो सुनना भी ध्यान बन सकता है। और अगर समग्र मन से पढ़ें, तो पढ़ना भी ध्यान बन सकता है। लेकिन ध्यान जरूरी है।

ध्यान का अर्थ समझ लें। ध्यान का अर्थ है--मन की ऐसी अवस्था जहाँ कोई तरंग नहीं है। निस्तरंग चैतन्य में ही समझ का जन्म होता है।

यह निस्तरंग चैतन्य कई तरह से पैदा हो सकता है। किसी को प्रार्थना से पैदा हो सकता है। किसी को पूजा से पैदा हो सकता है। किसी को नृत्य से--कीर्तन से पैदा हो सकता है। किसी को सुनने से पैदा हो सकता है। किसी को देखने से पैदा हो सकता है। किसी को मात्र बैठने से पैदा हो सकता है। किसी को योग की क्रियाओं से पैदा हो सकता है। किसी को तंत्र की क्रियाओं से पैदा हो सकता है।

निस्तरंग चित्त बहुत तरह से पैदा हो सकता है; और जिस तरह से आपको पैदा होता है, जरूरी नहीं कि दूसरे को भी उसी तरह से पैदा हो। तो आपको खोजना पड़ेगा कि कैसे निस्तरंग चित्त पैदा हो।

निस्तरंग चित्त का नाम ही ध्यान है। तरंगायित चित्त का नाम मन है। वह जो उथल-पुथल से भरा हुआ मन है, उसमें कोई भी समझ पैदा नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ इतना भूकंप चल रहा है कि कोई बीज थिर नहीं हो सकता। अंकुरित होने के लिए अवसर ही नहीं है। इसलिए ध्यान पर इतना जोर है।

और अगर आप सोचते हों कि कृष्णमूर्ति का ध्यान पर जोर नहीं है, तो आप समझते ही नहीं। ध्यान शब्द का वे उपयोग नहीं करते हैं, क्योंकि उनको ऐसा खयाल है कि ध्यान शब्द बहुत विकृत हो गया है। लेकिन कोई शब्द विकृत नहीं होते। और केवल नये शब्द चुन लेने से कोई फर्क नहीं पड़ता है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं कि मुझे सुनते समय, सिर्फ सुनो। वह ध्यान हो गया। कोई भी क्रिया करते वक्त अगर सिर्फ क्रिया की जाय और उसके सम्बन्ध में सोचा न जाय, तो ध्यान हो जाएगा। चलते वक्त अगर केवल चला जाय और कुछ भी मन में न करने दिया जाय, तो ध्यान हो जाएगा। भोजन करते वक्त अगर भोजन किया जाय और मन में उसके सम्बन्ध में कोई चिंतन न किया जाय, तो भोजन करना ध्यान हो जाएगा। अगर आप अपने चौबीस घन्टे को ध्यान में बदल लेते हैं, तो बहुत अच्छा है।

लेकिन लोग बहुत बेईमान हैं। एक घंटा न बैठने के लिए वे कहेंगे : चौबीस घन्टे ध्यान क्यों नहीं किया जा सकता! और चौबीस घंटे वे ध्यान करने वाले नहीं हैं। और एक घंटा बैठना न पड़े, इसलिए चौबीस घन्टे पर टालेंगे।

अगर आप चौबीस घन्टे ध्यान कर सकते हों, तो कौन आपको कहेगा कि घन्टे भर करिये। आप मजे से चौबीस घन्टे करिये। लेकिन चौबीस घन्टे आप कर नहीं रहे हैं। और कर रहे होते, तो यहाँ मेरे पास पूछने को नहीं आना पड़ता।

क्या जरूरत है मेरे पास आने की ? ध्यान नहीं है, इसलिए कहीं जाना पड़ता है, सुनना पड़ता है, समझना पड़ता है। ध्यान हो तो आपके भीतर ही पौधा खिल जाएगा। आपके पास दूसरे लोग आने लगेंगे। आपको कहीं जाने की जरूरत नहीं होगी।

अपनी समझ आ जाय, तो फिर किसी से क्या समझना है ! लेकिन, आदमी का मन ऐसा है कि अगर कहो कि घन्टे भर बैठो, तो कहेगा : घन्टे भर बैठने की क्या जरूरत है ? चौबीस घन्टे ध्यान नहीं किया जा सकता ? मजे से करिये, लेकिन कम से कम घन्टे से शुरू तो करिये।

एक घंटा भी ध्यान करना मुश्किल है। चौबीस घंटा तो बहुत मुश्किल है। जब ध्यान करने बैठेंगे, तब पता चलेगा कि एक क्षण को भी ध्यान हो जाय, तो बहुत बड़ी घटना है। क्योंकि मन चलता ही रहता है।

तो उचित है कि एक घंटा निकाल लें--चौबीस घंटे में से अलग--ध्यान के लिए ही, और अनुभव करें। जिस दिन एक घन्टे में आपको लगे कि सधने लगी बात, घटने लगी बात, चौबीस घन्टे पर फैला दें। फैलाना तो चौबीस घन्टे पर ही है। क्योंकि जब तक जीवन पूरा ध्यानमय न हो जाय, तब तक कोई क्रांति न होगी। लेकिन शुरुआत कहीं से करनी पड़ेगी।

और फिर एक घन्टे ध्यान का परिणाम चौबीस घन्टे पर होता है। ठीक वैसे ही जैसे एक घंटा सुबह कोई व्यायाम कर लेता है, तो चौबीस घन्टे स्वास्थ्य प्रभावित होता है। और आप यह नहीं कहते कि चौबीस ही घन्टे व्यायाम क्यों न किया जाय! करें, तो ठीक है। जो आदमी चौबीस घन्टे व्यायाम कर रहा है, उसको एक घन्टे व्यायाम करने की कोई जरूरत भी नहीं है। जो चौबीस घन्टे श्रम में लगा हुआ है, उसे और व्यायाम की क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जो व्यायाम नहीं कर रहा है, उसे घन्टे भर भी कर लेने से चौबीस घन्टे पर परिणाम होगा।

ध्यान के लिए एक घंटा निकाल लेना इसलिए उपयोगी है कि आप उस समय को पूरा का पूरा ध्यान में नियोजित कर सकते हैं।

एक दफा कला आ जाय, तो उस कला का उपयोग आप चौबीस घन्टे कर सकते हैं। ध्यान एक कला है। फिर जो भी आप करें, वह ध्यानपूर्वक कर सकते हैं। और तब अलग से ध्यान करने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। लेकिन जब तक

वैसी घटना न घटी हो, तब तक कृष्णमूर्ति को सुनकर या किसी को भी सुन कर तरकीबें मत निकालें।

हम इतने होशियार हैं--तरकीबें निकालने में, कि जिससे हमारा मतलब सधता हो, वह बात हम तत्काल निकाल लेते हैं।

कृष्णमूर्ति लोगों को कहते हैं : गुरु की कोई जरूरत नहीं है। उनके पास उसी तरह के लोग इकट्ठे हो जाते हैं, जो किसी भी गुरु के सामने झुकने में अहंकार की तकलीफ पाते हैं; वे इकट्ठे हो जाते हैं। वे बड़े प्रसन्न होते हैं। वे कहते हैं : जब कृष्णमूर्ति कह रहे हैं, तो ठीक कह रहे हैं कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन अगर गुरु की कोई जरूरत नहीं है आपको, तो कृष्णमूर्ति के पास किसलिए जाते हैं? क्या प्रयोजन ?

सिर्फ कह देने से कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है, कोई फर्क पड़ता है? जब तक आप किसी से सीखने जाते हैं, तब तक आपको गुरु की जरूरत है। और बड़े मजे की बात यह है कि यह बात भी आपकी बुद्धि से पैदा नहीं हुई है कि किसी गुरु की जरूरत नहीं है। यह भी किसी दूसरे ने आपको सिखायी है; यह भी आपने गुरु से ही सीखी है!

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, 'कृष्णमूर्ति ऐसा कहते हैं, कृष्णमूर्ति वैसा कहते हैं। वे कहते हैं : गुरु की कोई जरूरत नहीं है।' यह भी तुम्हारी बुद्धि का मामला नहीं है, यह भी तुम किसी गुरु से सीख आये हो! इसको भी सीखने तुम्हें किसी के पास जाना पड़ा है। इस साधारण-सी बात को सीखने भी किसी के पास जाना पड़ा है--कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है! परमात्मा को सीखने तुम किसी गुरु के पास नहीं जाना चाहते हो!

अड़चन कहीं और है। गुरु की जरूरत नहीं है--इससे तुम्हारा मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न इसलिए होता है कि चलो, अब झुकने की कोई जरूरत नहीं है; अब कहीं झुकने की कोई जरूरत नहीं है।

तुमने बड़ी गलत बात निकाली। तुमने अपने मतलब की बात निकाल ली।

मेरे पास लोग आते हैं। मैं जो कहता हूँ, उसमें से वे बातें निकाल लेते हैं, जो उनके मतलब की हैं--और जिनसे उनको बदलना नहीं पड़ेगा। वे मेरे पास आते हैं कि आपने बिलकुल ठीक कहा। जंगल में जाने की, पहाड़ पर जाने की क्या जरूरत है। ज्ञान तो यहीं हो सकता है। बिलकुल ठीक कहा है। तो मैं उनको पूछता हूँ : 'यहीं हो सकता है; कब तक होगा--यह मुझे कहो। और यहीं हो सकता है, तो तुम यहीं करने के लिए क्या कर रहे हो ?'

उन्होंने मतलब की बात निकाल ली कि कहीं जाने की कोई जरूरत नहीं है।

लेकिन जहाँ तुम हो, वहाँ तो तुम पचास वर्ष से हो ही। अगर वहीं ज्ञान होना होता, तो कभी का हो गया होता। लेकिन तुमने अपने हिसाब की बात निकाल ली। ध्यान कठिन है। न तो चिंतन, न मनन, न सुनना, न श्रवण। इनमें कोई कठिनाई नहीं है। ध्यान बहुत कठिन है।

ध्यान का अर्थ है कि कुछ घड़ी के लिए बिलकुल शून्य हो जाना। सारी व्यस्तता समाप्त हो जाय। मन कुछ भी न कर रहा हो।

यह 'न करना' बहुत कठिन है, क्योंकि मन कुछ न कुछ करना ही चाहता है। करना मन का स्वभाव है। और अगर आप न-करने पर जोर दें, तो मन सो जाएगा।

मन दो चीजें जानता है, या तो क्रिया और या निद्रा। आप या तो उसे काम करने दो और या फिर वह नींद में चला जाएगा। ध्यान तीसरी दशा है। क्रिया न हो और निद्रा भी न हो, तब ध्यान फलित होगा।

कठिन से कठिन जो घटना मनुष्य के जीवन में घट सकती है, वह ध्यान है। और आप कहते हैं : हम चौबीस घन्टे क्यों न करें! आप मजे से करें। लेकिन घड़ी भर करना मुश्किल है, तो चौबीस घन्टे पर आप फैलाइएगा कैसे?

एक उपाय है कि आप साक्षीभाव रखें, तो चौबीस घन्टे पर फैल सकता है। लेकिन साक्षीभाव आसान नहीं है। और जो आदमी घड़ी भर ध्यान कर रहा हो, उसके लिए साक्षीभाव भी आसान हो जाएगा। लेकिन जो आदमी घड़ी भर भी न कर रहा हो, उसके लिए साक्षीभाव भी बहुत कठिन होगा।

अति कठिन है यह खयाल करना कि मैं देखनेवाला हूँ। कोशिश करें! घड़ी अपने सामने रख लें और घड़ी में जो सैकेंड का काँटा है, जो चक्कर लगा रहा है, उस सैकेंड के काँटे पर ध्यान करें, और इतना खयाल रखें कि मैं देखनेवाला हूँ। मैं सिर्फ देख रहा हूँ। आप हैरान होंगे कि पूरा एक सैकेंड भी आप यह ध्यान नहीं रख सकते। एक सैकेंड में भी कई दफा आप भूल जाएँगे और कई दूसरी बातें आ जाएँगी। चौबीस घंटा तो बहुत दूर है, एक सैकेंड भी पूरा का पूरा आप यह ध्यान नहीं रख सकते कि मैं सिर्फ द्रष्टा हूँ। इसी बीच आप घड़ी का नाम पढ़ लेंगे, इसी बीच घड़ी में कितना बजा है--यह भी देख लेंगे; घड़ी में कितनी तारीख है--वह भी दिखाई पड़ जाएगी। इसी बीच बाहर कोई आवाज देगा, वह भी सुनाई पड़ जाएगी। टेलिफोन की घंटी बजेगी, वह भी खयाल में आ जाएगी कि किसका फोन आ रहा है। अगर कुछ भी बाहर न हो, तो भीतर कुछ स्मरण आ जाएगा, कोई शब्द आ जाएगा। बहुत कुछ हो जाएगा।

एक सैकेंड भी आप सिर्फ साक्षी नहीं रह सकते। तो अपने को धोखा मत

दें। घड़ी भर तो निकाल ही लें चौबीस घन्टे में, और इसको सिर्फ ध्यान में नियोजित कर लें। हाँ, जब घड़ी में सध जाय वह सुगंध, तो चौबीस घन्टे पर फैला दें। जब घड़ी में जल जाय वह दीया, तो चौबीस घन्टे फिर उसे साथ लेकर चलने लगें। फिर अलग से बैठने की जरूरत न रह जाएगी।

अलग से बैठने की जिस दिन जरूरत समाप्त हो जाती है, उसी दिन जाना कि ध्यान उपलब्ध हुआ। अलग से बैठना तो अभ्यास-काल है। वह तो प्राथमिक चरण है। वह तो सीखने का वक्त है। इसलिए ध्यान के जानकारों ने कहा है कि जब ध्यान करना व्यर्थ हो जाय, तभी समझना कि ध्यान पूरा हुआ। लेकिन उसको पहले ही मत समझ लेना--कि जब ज्ञानी कहते हैं कि ध्यान करना व्यर्थ हो जाय, तब ध्यान पूरा हुआ, तो हम करें ही क्यों! तो आपके लिए फिर कभी भी कोई यात्रा संभव नहीं हो पाएगी।

अच्छा है अगर चौबीस घन्टे पर फैलाएँ। लेकिन मैं जानता हूँ, वह आप कर नहीं सकते। जो आप कर सकते हैं, वह है कि आप थोड़ी घड़ी निकाल लें। एक कोना अलग निकाल लें जीवन का और उसे ध्यान पर ही समर्पित कर दें। और जब आपको आ जाय कला और आपको पकड़ आ जाय सूत्र, और आप समझ जायँ कि किस क्वालिटी--किस गुण को ध्यान कहते हैं, और फिर उस गुण को आप चौबीस घन्टे याद रखने लगें, स्मरण रखने लगें; उठते बैठते उसको सम्हालते रहें। जैसे किसी को कोई कीमती हीरा मिल जाय। वह दिन भर सब काम करे, बार-बार खीसे में हाथ डालकर टटोल ले कि हीरा वहाँ है? खो तो नहीं गया। कुछ भी करे, बात करे, चीत करे, रास्ते पर चले, लेकिन ध्यान उसका हीरे में लगा रहे। कबीर ने कहा है कि जैसे स्त्रियाँ नदी से पानी भर के घड़े को सिर पर रख के लौटती हैं, तो गाँव की स्त्रियाँ हाथ भी नहीं लगातीं, सिर पर घड़े की सम्हाल लेती हैं। गपशप करती, बात करती, गीत गाती लौट आती हैं। तो कबीर ने कहा है कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वे कोई भी ध्यान घड़े को नहीं देतीं, लेकिन भीतर ध्यान घड़े पर ही लगा रहता है। गीत भी चलता है। बात भी चलती है। चर्चा भी चलती है। हँसती भी हैं। रास्ता भी पार करती हैं। लेकिन भीतर सूक्ष्म ध्यान घड़े पर लगा रहता है और घड़े को वे सम्हाले रखती हैं।

जिस दिन ऐसी कला का खयाल आ जाय, फिर आप कुछ भी करें, ध्यान पर आपका काम भीतर चलता रहेगा। लेकिन यह आपसे आज नहीं हो सकेगा।

कृष्णमूर्ति की बुनियादी भूल यही है कि वे आप पर बहुत भरोसा कर लेते हैं। वे सोचते हैं: आप यह आज ही कर सकेंगे। उनसे भी यह आज ही नहीं हो गया है। यह भी बहुत जन्मों की यात्रा है। और उनको भी यह बिना गुरु के नहीं

हो गया है। सच तो यह है कि इस सदी में जितने बड़े गुरु कृष्णमूर्ति को उपलब्ध हुए, किसी दूसरे व्यक्ति को उपलब्ध नहीं हुए। और गुरुओं ने जितनी मेहनत कृष्णमूर्ति पर की है, उतनी किसी शिष्य के ऊपर पर कभी मेहनत नहीं की गयी है।

जीवन के उनके पच्चीस साल बहुत अद्भुत गुरुओं के साथ, उनके सत्संग में, उनके चरणों में बैठकर बीते हैं। उनसे सब सीखा है। लेकिन यह बड़ी जटिलता की बात है कि जो व्यक्ति गुरुओं से ही सब सीखा है, वह व्यक्ति गुरुओं के इतने खिलाफ कैसे हो गया है! और वह क्यों यह कहने लगा कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है? और जिस व्यक्ति ने ध्यान की बहुत प्रक्रियाएँ कर के ही समझ पाई है, वह क्यों कहने लगा कि ध्यान की कोई जरूरत नहीं है? इसके पीछे बड़ी मनोवैज्ञानिक उलझन है। और वह उलझन यह है कि अगर गुरु को आपने ही चुना हो, तब तो ठीक है। लेकिन अगर गुरुओं ने आपको चुनकर आपके साथ मेहनत की हो, तो एक अंतर्विरोध पैदा हो जाता है।

कृष्णमूर्ति ने खुद नहीं चुना है। कृष्णमूर्ति को चुना गया है। और कुछ गुरुओं, ने अथक मेहनत की है उनके साथ, ताकि वे ज्ञान को उपलब्ध हो जायँ।

यह बड़े मजे की बात है कि अगर आपको जबरदस्ती स्वर्ग में भी ले जाया जाय, तो आप स्वर्ग के भी खिलाफ हो जाएँगे। और आपने मन से आप नरक भी चले जायँ, तो गीत गाते, सीटी बजाते जाएँगे।

अपने मन से आदमी नरक भी गीत गाता जा सकता है। और जबरदस्ती स्वर्ग में लाया जाय, तो वह स्वर्ग के भी खिलाफ हो जाएगा। और इन लोगों को कभी माफ न कर सकेगा, जिन्होंने जबरदस्ती स्वर्ग में धक्का दिया है।

कृष्णमूर्ति पर यह ज्ञान एक तरह की जबरदस्ती थी। यह किन्हीं और लोगों का निर्णय था। और अगर कृष्णमूर्ति अपने ही ढंग से चलते, तो उन्हें कोई तीन-चार जन्म लगते। लेकिन यह बहुत चेष्टा करके, बहुत त्वरा और तीव्रता से कुछ लोगों ने अथक मेहनत लेकर उन्हें जगाने की कोशिश की। ठीक जैसे आप गहरी नींद में सोये हों और कोई जबरदस्ती आपको जगाने की कोशिश करे, तो आपके मन में बड़ा क्रोध आता है। और कोई जबरदस्ती जागा ही दे...। भला जगाने वाले की बड़ी शुभ आकांक्षा हो, भला स्थिति यह हो कि मकान में आग लगी हो और आपको जगाना जरूरी हो, लेकिन फिर भी जब आप गहरी नींद में पड़े हों और सुखद सपना देख रहे हों, तो जगाने वाला दुश्मन मालूम पड़ता है।

कृष्णमूर्ति को अधूरी नींद से जगा दिया गया है। और जिन लोगों ने जगाया है, बड़ी मेहनत की है। लेकिन कृष्णमूर्ति उनको अभी भी माफ नहीं कर पाये हैं। वह बात अटकी रह गई। इसलिए चालीस साल हो गए; उनके सब गुरु मर चुके हैं,

लेकिन गुरुओं की खिलाफत जारी है।

उनका अपना अनुभव यही है कि गुरुओं से बचना। इसलिए वे कहते हैं कि गुरुओं से बचना। क्योंकि उन पर जो हुआ है, वह जबरदस्ती हुआ है।

वे कहते हैं: ध्यान से बचना--क्योंकि कोई भी विधि कहीं कंडीशनिंग, संस्कार न बन जाय। क्योंकि उन पर तो सारी विधियों का प्रयोग किया गया है। इसलिए अब वे कहते हैं: सिर्फ समझो। लेकिन समझना भी एक विधि है। और वे कहते हैं: केवल होश को गहराओ, लेकिन होश को गहराना भी एक विधि है।

अध्यात्म के जगत् में आप कुछ भी करो, विधि होगी ही। और गुरु को इनकार करो, तो भी गुरु होगा। क्योंकि आप अगर अपने ही तईं बिना गुरु के और बिना विधि के उपलब्ध हो सकते हैं, तो आप हो ही गए होते।

कृष्णमूर्ति की अपनी अड़चन और तकलीफ है। और वह अड़चन और तकलीफ एक अँधेरी छाया की तरफ उनको घेरे रहेगी। वह उनके वक्तव्य में छूटती नहीं है। कोई पूछेगा कि अगर वे ज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं, तो यह बात छूटती क्यों नहीं? यह भी थोड़ी-सी जटिल है बात।

अगर कोई ज्ञान को उपलब्ध हो गया है, तो वह यह क्यों नहीं देख सकता कि मेरा यह विरोध--गुरुओं का--मेरी प्रतिक्रिया है। मेरे साथ गुरुओं ने जो किया है, उनको मैं अब तक माफ नहीं कर पा रहा हूँ। ध्यान का और योग का मेरा विरोध मेरे ऊपर ध्यान और योग की प्रक्रियाएँ लादी गई हैं--उनकी प्रतिक्रिया है।

जो आदमी ज्ञान को उपलब्ध हो गया, वह यह क्यों नहीं देख पाता? और मैं मानता हूँ कि कृष्णमूर्ति ज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं। इसलिए और जटिल हो जाती है बात।

अगर कोई कह दे कि वे ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुए हैं, तो कोई अड़चन नहीं है। मैं मानता हूँ: वे ज्ञान उपलब्ध हैं। फिर प्रतिक्रिया--यह जीवनभर का विरोध घटता क्यों नहीं है? उसका कारण आप से कहूँ। वह समझने जैसा है।

जब भी कोई व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है, तो ज्ञान के उपलब्ध होने का क्षण वही होता है, जहाँ मन समाप्त होता है, जहाँ मन छूट जाता है और आदमी ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। लेकिन ज्ञान को उपलब्ध होने के बाद अगर उसे अपनी बात लोगों से कहनी हो, तो उसे उसी छूटे हुए मन का उपयोग करना पड़ता है। क्योंकि मन के बिना कोई संवाद, कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

आपसे मैं बोल रहा हूँ, तो मन का मुझे उपयोग करना पड़ेगा। जब मैं चुप बैठा हूँ, अपने में हूँ, तब मुझे मन की कोई जरूरत नहीं है।

अपने स्वभाव में मुझे मन की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जब आपसे मुझे

बात करनी है, तो मुझे मन का उपयोग करना पड़ेगा।

तो कृष्णमूर्ति का जिस दिन मन छूटा, उस मन की जो आखिरी विरोध की दशा थी, उस मन का जो आखिरी भाव था--गुरुओं के, विधियों के खिलाफ --वह मन के साथ पड़ा है। और जब भी कृष्णमूर्ति मन का उपयोग कर के आप से बोलते हैं, तब वही मन जो चालीस साल पहले काम के बाहर हो गया, वही काम में लाना पड़ता है। और कोई मन उनके पास है नहीं। इसलिए स्वभावतः उसी मन का वे उपयोग करते हैं। इसलिए जो वे नहीं कहना चाहें, जो उन्हें नहीं कहना चाहिए, वह भी कहा जाता है। वह उस मन के साथ है।

ऐसा समझिए कि आपके पास एक पुरानी मोटर है, जिसको आपने रख दिया है। अब आप उपयोग नहीं करते हैं। आप पैदल ही चलते हैं। लेकिन चालीस साल से मोटर आपके घर में रखी है। लेकिन कभी आपको तेज चलना पड़ता है और पैदल चलने से काम नहीं आता, आप अपनी पुरानी मोटर निकाल लेते हैं। और खटर-पटर करके, मुहल्ले भर के लोगों की नींद खराब करते आप अपनी गाड़ी को लेकर चल पड़ते हैं।

करीब-करीब मन जिस दिन छूटता है, उसकी जो स्थिति रहती है, जब भी उसका उपयोग करना हो, उसी स्थिति में करना पड़ेगा। उसमें फिर कोई ग्रोथ (विकास) नहीं होती। वह फिर एक पुराने यंत्र की तरह पड़ा रह जाता है भीतर।

व्यक्ति की चेतना अलग हो जाती है, यंत्र की तरह मन पड़ा रह जाता है। उसी मन का उपयोग करना पड़ता है। वह मन वही भाषा बोलता है, जिस भाषा में समाप्त हुआ था। वह वहीं रुका हुआ है।

कृष्णमूर्ति चालीस साल से दूसरी दुनिया में हैं। लेकिन मन वहीं पड़ा हुआ है, जहाँ उसे छोड़ा था। वह पुरानी गाड़ी, वह फोर्ड की पुरानी कार वहीं खड़ी है। जब भी उसका उपयोग करते हैं, वह फिर ताजा हो जाता है। उसके लिए वह घटना उतनी ही ताजी है।

गुरुओं ने जबरदस्ती उन्हें धक्के देकर जगा दिया है। वह मन अब भी प्रतिरोध से भरा हुआ है। वह ध्यान के विरोध में है, गुरुओं के विरोध में है, लेकिन अगर उनकी बात को ठीक से समझें, तो वह विरोध मन का ही है। ऊपरी ही है।

अगर सच में ही कोई व्यक्ति गुरुओं के विरोध में है, तो वह किसी को शिक्षा नहीं देगा, क्योंकि शिक्षा देने का मतलब ही क्या है!

तो कृष्णमूर्ति कितना ही कहें कि मैं कोई शिक्षा नहीं दे रहा हूँ, लेकिन शिक्षा नहीं दे रहे हैं, तो क्या कर रहे हैं? वे कितना ही कहें कि तुम्हें कोई बात देने की मेरी इच्छा नहीं है। लेकिन चेष्टा बड़ी कर रहे हैं कि कोई बात दे दी जाय। और

अगर श्रोता नहीं समझ पाते, तो बड़े नाराज हो जाते हैं।

समझाने की बड़ी अथक चेष्टा है। बड़ी आग्रहपूर्ण चेष्टा है--कि समझो! और कहे चले जाते हैं कि मुझे कुछ समझाना नहीं है; मुझे कुछ बताना नहीं है। मुझे कोई मार्ग नहीं देना है। लेकिन क्या ?--क्या कर रहे हैं फिर ?

हो सकता है कि आप सोचते हों कि यही मार्ग है। कोई मार्ग न देना--यही शिक्षा है। कोई विधि न देना--यही गुरुत्व है--गुरुओं से छुड़ा देना। लेकिन यह भी सब वही का वही है। कोई फर्क नहीं है।

तो कृष्णमूर्ति की एक जटिलता है: मन उसका कुछ विरोधों से भरा पड़ा है। वह पड़ा हुआ है। और जब भी वे उसका उपयोग करते हैं, वे सारे के सारे विरोध सजग हो जाते हैं। लेकिन आप सावधान रहना। आप अपनी फिक्र करना।

आप चौबीस घन्टे ध्यान कर सकते हों, तो जरूर करना। और न कर सकते हों तो कृष्णमूर्ति कहते हैं, कि घन्टे भर ध्यान करने से कोई फायदा नहीं है--इसलिए घन्टे भर करना रोक मत देना।

सागर मिल जाय, तो अच्छा है--ध्यान का। न मिले, तो जो छोटा सरोवर है, उसका भी उपयोग तो करना ही। जब तक सागर न मिल जाय, तब तक सरोवर का ही उपयोग करना; तब तक एक बूंद भी पानी की हाथ में हो, वह भी जरूरी है। वह बूंद आपको जिलाए रखेगी और सागर का स्वाद देती रहेगी--और सागर की तरफ बढ़ने में साथ-सहयोग-शक्ति देती रहेगी।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है: आत्म-विश्वास और लगन से मनुष्य को किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त हो सकती है। क्या अध्यात्म के सम्बन्ध में भी यही सच है ?

अध्यात्म के सम्बन्ध में इससे ज्यादा गलत और कोई बात नहीं है। न तो आत्म-विश्वास वहाँ काम देगा, न लगन वहाँ काम देगी। इसे थोड़ा हम समझ लें।

आत्म-विश्वास का क्या अर्थ होता है ?--अपने पर भरोसा। अपने पर भरोसा अहंकार की ही छाया है। अध्यात्म में तो आसानी होगी, अगर आप सारा भरोसा ईश्वर पर छोड़ दें--बजाय अपने पर रखने के। अध्यात्म में तो अच्छा होगा--आप अपने को बिलकुल असहाय (हेल्पलेस) समझें। वहाँ अकड़ काम न देगी--कि मुझे अपने पर भरोसा है। वहाँ तैरने से आप नहीं पहुँच सकेंगे। वहाँ तो आप नदी की धारा में अपने को छोड़ दें और कह दें कि तू ही जान।

जितनी आपके मन में यह अकड़ होगी कि मैं कर लूँगा--मैं कर के दिखा दूंगा--उतनी ही बाधा पड़ेगी--अध्यात्म में। और जगह की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। अगर धन पाना हो, तो आत्म-विश्वास बिलकुल जरूरी है, वहाँ अगर आप

कहें कि परमात्मा पर छोड़ता हूँ, तो आप लुट जाएँगे।

संसार में कुछ भी पाना हो तो अहंकार जरूरी है। ध्यान रखना। संसार अहंकार की यात्रा है। वहाँ आप भरोसा दूसरे पर मत करना; वहाँ तो भरोसा अपने पर करना। वहाँ तो सभी तरह से अपने को केन्द्र मानना, तो ही संसार में आप चल पायेंगे। वह उपद्रव की दुनिया है; वहाँ अहंकार बिलकुल जरूरी है।

ठीक संसार से विपरीत यात्रा है अध्यात्म की। जो संसार में सहयोगी है, वही अध्यात्म में विरोधी हो जाता है। और जो संसार में सीढ़ी है, वही अध्यात्म में मार्ग का पत्थर--अवरोध हो जाता है। ठीक उलटा हो जाता है। इसलिए संसार में जो सफल होते हैं, वे अहंकारी लोग हैं। जो बिलकुल पागल हैं, जिनको पक्का भरोसा है कि दुनिया की कोई ताकत उनको रोक ही नहीं सकती। वे पागल की तरह लगे रहते हैं और सफल हो जाते हैं।

सफल होने में अड़चन क्या है? अड़चन यही है कि उनसे बड़े पागल उनकी प्रतिस्पर्धा में न हों। और कोई अड़चन नहीं है। अगर उनसे भी बड़े पागल और उनसे भी बड़े अहंकारी उनकी प्रतिस्पर्धा में हों, तो वे उनको मात कर देंगे। लेकिन मात करने का और जीतने का एक ही उपाय है वहाँ। आप कितने अहंकार के पागलपन से जुटते हैं . . .।

अध्यात्म में आपका अहंकार जरा भी सहयोगी नहीं है--बाधा है। वहाँ तो उतना ही सफल होगा, जितनी मात्रा में अहंकार को छोड़ कर चलता है।

जीसस ने कहा है: धन्य हैं वे लोग, जो इस संसार में अंतिम खड़े हैं। क्योंकि प्रभु के राज्य में उनके प्रथम होने की सम्भावना है।

जो यहाँ अंतिम है, वह प्रभु के राज्य में प्रथम हो सकता है। अंतिम का क्या अर्थ है? अंतिम का अर्थ है: जिसे अहंकार का कोई भी रस नहीं है। प्रथम होने की कोई इच्छा नहीं है।

इसलिए हमारी सारी शिक्षा गैर-आध्यात्मिक है। क्योंकि वह प्रथम होना सिखाती है। हमारे सारे संस्कार अहंकार को जन्माने वाले हैं। हमारी सारी दौड़, प्रत्येक को मजबूत अहंकार चाहिए--इस पर खड़ी है। इसलिए फिर हम अध्यात्म की तरफ जाने में बड़ी अड़चन पाते हैं। क्योंकि वहाँ यही अवरोध है। वहाँ तो एक ही चीज सहयोगी है कि आप बिलकुल मिट जायँ।

आत्म-विश्वास का तो सवाल ही नहीं है। वहाँ आपको यह खयाल भी न हो कि मैं हूँ। मेरा होना भी न रहे। मैं खाली, शून्य हो जाऊँ। वहाँ मैं ऐसे प्रवेश करूँ, जैसे मैं ना कुछ हूँ--असहाय, निरालम्ब, निराधार। न कुछ कर सकता हूँ, न कुछ हो सकता है। जिस घड़ी कोई व्यक्ति इतना निराधार हो जाता है, इतना

असहाय हो जाता है कि लगता है कि मैं शून्य जैसा हूँ, उसी क्षण परमात्मा उसके भीतर घटित हो जाता है। क्योंकि खाली हो गई जगह। जो अहंकार से भरा था भवन, अब खाली हो गया। अब वह बड़ा मेहमान उतर सकता है।

अभी तो आप अपने से इतने भरे हैं कि आपके भीतर परमात्मा के प्रवेश की कोई रंध्र मात्र भी जगह नहीं है।

तो वहाँ कोई आत्म-विश्वास काम नहीं देगा।

इसका मतलब मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आत्म-अविश्वास काम देगा। आप ध्यान रखना : आत्म-विश्वास काम नहीं देगा, इसका मतलब यह नहीं है कि आप अपने पर अविश्वास कर लें, तो काम देगा। नहीं। अविश्वास भी अहंकार है! आप तो केन्द्र रहते ही हैं।

कोई कहता है : मुझे अपने पर विश्वास है। कोई कहता है : मुझे अपने पर विश्वास नहीं है। लेकिन 'अपना' तो दोनों में मौजूद रहता है।

एक कहता है कि मैं कमजोर हूँ, एक कहता है कि मैं ताकतवर हूँ। लेकिन दोनों कहते हैं : मैं हूँ। जो कमजोर है, वह ताकतवर हो सकता है कल। जो ताकतवर है, वह कल कमजोर हो सकता है। उनमें कोई गुणात्मक फर्क नहीं है। वे एक ही चीज के दो रूप हैं।

असहाय का अर्थ है कि मैं हूँ ही नहीं। कमजोर भी नहीं हूँ। ताकतवर होने का तो सवाल ही नहीं है। मैं कमजोर भी नहीं। क्योंकि कमजोरी भी ताकत का एक रूप है। मैं हूँ ही नहीं। इस भाँति जो अपने को मिटा लेता है, वह अध्यात्म में गति करता है।

और वहाँ लगन का सवाल नहीं है। यहाँ संसार में लगन का सवाल है। यहाँ तो बिलकुल पागल लगन चाहिए। यहाँ तो बिलकुल विक्षिप्त की तरह दौड़ने की जिद्द चाहिए। यहाँ तो ऐसा दाँव लगाने की बात चाहिए कि चाहे जिन्दगी रहे कि जाय, मगर यह चीज मैं पा कर रहूँगा। जब कोई संसार में इस भाँति दौड़ता है, तभी कुछ थोड़ी छीना-झपटी कर पाता है।

अध्यात्म में लगन का कोई सवाल नहीं है। अध्यात्म में तो गति की जरूरत नहीं है, इसलिए लगन की जरूरत नहीं है।

इसे हम ऐसा समझें कि संसार में कुछ पाना हो, तो दौड़ना पड़ता है। और अध्यात्म में कुछ पाना है, तो खड़े हो जाना पड़ता है। संसार में कुछ पाना हो, तो छीनना-झपटना पड़ता है। अध्यात्म में कुछ पाना हो, तो मुट्ठी खोल देनी पड़ती है। कुछ झपटना नहीं, कुछ पकड़ना नहीं। संसार में कुछ पाना हो तो दूसरों से झगड़ना पड़ता है। अध्यात्म में कुछ पाना हो तो वहाँ दूसरा है ही नहीं, जिससे झगड़ने

का सवाल है।

संसार में कुछ पाना हो तो यहाँ लगन चाहिए। लगन का मतलब है कि बहुत तरफ ध्यान न जाय। जैसे हम ताँगे में घोड़े को जोत देते हैं, और उसकी आँखों पर दोनों तरफ चमड़े की पट्टियाँ बाँध देते हैं, ताकि उसको चारों तरफ दिखाई न पड़े, सिर्फ सामने दिखाई पड़े। क्योंकि चारों तरफ दिखाई पड़ेगा, तो घोड़े को चलने में बाधा आयेगी। इधर घास दिख जाएगा, तो इधर जाना चाहेगा। उधर पास में कोई जवान घोड़ी दिख जाएगी, तो उस पर आकर्षित हो जाएगा। कहीं कोई सामने ताकतवर घोड़ा हिनहिना देगा, तो लड़ने को तैयार हो जाएगा। पच्चीस चीजें खड़ी हो जाएँगी। ध्यान बँटेगा।

इसलिए घोड़े को हम करीब-करीब अंधा कर देते हैं। निन्यानबे प्रतिशत अंधा कर देते हैं। सिर्फ एक तरफ उसकी आँख खुली रहती है—सामने की तरफ बस, उसको उतना ही रास्ता दिखाई पड़ता है।

लगन का इतना ही मतलब होता है : घोड़े की तरह हो जाना—ताँगे में जुते हैं! कुछ दिखाई नहीं पड़ता। बस, एक ही चीज दिखाई पड़ती है। उसको हम लगन कहते हैं। लगन का मतलब है कि अब कहीं चित्त नहीं जाता। बस, एक चीज में जाता है। इसलिए सब ताकत वहीं लग जाती है।

राजनीतिज्ञ है, वह लगन का आदमी होता है। उसे सिर्फ दिल्ली दिखाई पड़ती है। और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। उसे पार्लियामेंट का भवन भर दिखाई पड़ता है और उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। बस, उसे दिल्ली. . .। दिल्ली उसके मन में रहती है। वह ताँगे में जुते घोड़े की तरह है। उसको संसार में कुछ दिखाई नहीं पड़ता। बस, दिल्ली! और वह जैसे-जैसे करीब दिल्ली के पहुँचने लगता है, वैसे-वैसे उसकी आँखें और संकीर्ण होने लगती हैं। फिर कैबिनेट दिखाई पड़ता है उसको—मंत्री-मंडल दिखाई पड़ता है। मंत्री-मंडल में पहुँच जाय, तो प्रधानमंत्री की कुर्सी भर दिखाई पड़ती है। फिर कुछ नहीं दिखाई पड़ता।

यह क्रमशः अंधे हो जाने की तरकीब है। ऐसे वह क्रमशः अंधा होता जाता है। लेकिन जितना वह अंधा होता जाता है, उतनी ही शक्ति संकीर्ण दिशा में प्रवाहित होने लगती है। वह उतना ही सफल हो जाता है।

दिल्ली की तरफ जाने के लिए आँख पर अंधापन होना जरूरी है, तो ही सफलता मिल सकती है।

एक आदमी धन की खोज में है। वह सब छोड़ देता है फिक्र। न उसे प्रेम से मतलब—न पत्नी से, न बच्चे से, न धर्म से। उसे किसी चीज से मतलब नहीं है। उसे धन से मतलब है। उसे हर चीज में धन दिखाई पड़ता है। उठते, सोते

जागते उसके सारे सपने धन से भरे होते हैं, तब वह सफल हो पाता है। वह लगन का आदमी है।

पागल आदमियों को हम लगन के आदमी कहते हैं। एक चीज की तरफ जो पागल हैं, वे कुछ उपलब्ध कर लेते हैं। जो बहुत तरफ भागेंगे, निश्चित ही, वे कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पायेंगे।

संसार में जो बहुत तरफ देखता है, वह कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाता है। इसके पहले कि वह तय करे कि क्या मैं पाऊँ, जिन्दगी हाथ से निकल गई होती है। लेकिन यही बात अध्यात्म के सम्बन्ध में सही नहीं है।

अध्यात्म कोई लगन नहीं है। अध्यात्म तो सब तरह की लगन से छुटकारा है।

इसे हम ऐसा समझें : तीन तरह के आदमी हैं। एक आदमी जो सब तरफ देखता है। इधर भी चाहता है दौड़ूँ, उधर भी चाहता है दौड़ूँ। सोचता है : डॉक्टर भी हो जाऊँ; वकील भी हो जाऊँ; लेखक भी हो जाऊँ ; राजनीतिज्ञ भी हो जाऊँ। जो भी कुछ हो सकता हूँ, सब हो जाऊँ। इस सब होने की दौड़ में कुछ भी नहीं हो पाता। या जो भी होता है, वह सब कचरा हो जाता है। वह एक खिचड़ी हो जाता है। उसके पास कोई व्यक्तित्व नहीं निखरता। वह एक कवाड़-खाना हो जाता है, जिसमें सब तरह की चीजें हैं।

दूसरा आदमी है, जो कहता है : मुझे बस एक चीज होना है। सब दाँव पर लगाके एक तरफ चल पड़ता है। एकाग्रता से लग जाता है। वह लगन का आदमी है। वह पागल आदमी है। वह एक चीज को पा लेगा।

एक तीसरी तरह का आदमी है, जो न एक को पाना चाहता है, न सब को पाना चाहता है, जो पाना ही नहीं चाहता। यह तीसरा आदमी आध्यात्मिक है, जो कहता है : सब पाना फिजूल है। एक का पाना भी फिजूल है; सबका पाना भी फिजूल है। बहुत-बहुत जिन्दगियों में बहुत चीजें खोज कर देख लीं, कुछ भी न पाया। अब खोजेंगे नहीं, अब बिना खोजे देखेंगे। अब बिना खोज में रुक जाएँगे। अब नहीं खोजेंगे। अब दौड़ेंगे नहीं। अब कहीं भी न जाएँगे। अब न तो सब तरफ देखेंगे, न एक तरफ देखेंगे। अब आँख को बंद कर लेंगे और वहाँ देखेंगे, जो भीतर है--जो मैं हूँ। अब किसी तरफ न देखेंगे। अब सब दिशाएँ व्यर्थ हो गईं।

इस घड़ी में, जब कोई चाह नहीं रहती, कोई लगन नहीं रहती, कुछ पाने का लक्ष्य नहीं रहता, कुछ विषय नहीं रह जाता पाने के लिए, कोई अंत नहीं दिखता बाहर, बाहर कोई मंजिल नहीं रह जाती, जब व्यक्ति की चेतना सब भाँति खड़ी हो जाती है, उसका सब प्रवाह, यात्रा बंद हो जाती है, तब एक नया द्वार खुलता है, जो भीतर है।

जब बाहर जाना बंद हो जाता है चैतन्य का, तो चैतन्य भीतर जाता है। और जब सब तरफ दौड़ बंद हो जाती है, तो अपनी तरफ आता है, अपने में उतरता है, अपने में स्थिर होता है।

इसलिए अध्यात्म कोई लगन नहीं है। अध्यात्म कोई सफलता, कोई अहंकार की यात्रा, कोई इगो-ट्रिप नहीं है। इसलिए संसार में जो सूत्र काम देते हैं, उनका उपयोग आप अध्यात्म में मत कर लेना। बहुत लोग कर रहे हैं। करते हैं, इसलिए अध्यात्म में असफल होते हैं।

जो संसार में सफलता का सूत्र है, वही अध्यात्म में असफलता का सूत्र है। और जो अध्यात्म में सफलता का सूत्र है, वही संसार में असफलता का सूत्र है। दोनों तरह की भूल करने वाले लोग हैं। और ऐसा नहीं कि थोड़े लोग हैं। बहुत बड़ी संख्या में लोग हैं, जो दोनों तरह की भूल करते हैं।

जैसे, इस मुल्क में हमने अध्यात्म में सफलता पाने के कुछ सूत्र खोज निकाले थे। हमने उनका ही उपयोग संसार में करना चाहा। इसलिए पूरब संसार की दुनिया में असफल हो गया। गरीब, दीन, दरिद्र, भुखमरा--भीख माँगता हो गया।

हमने, जो सूत्र अध्यात्म में सफल हुए थे, उनका उपयोग संसार में करने की कोशिश की। वह मूढता हो गई। इसलिए हम आज जमीन पर भिखमंगे की तरह खड़े हैं।

पश्चिम ने संसार में जिन चीजों से सफलता मिल जाती है, उन्हीं की कोशिश अध्यात्म में भी करनी शुरू की है। उनसे कोई सफलता नहीं मिल सकती। पश्चिम अध्यात्म में असफल हो गया है। इसलिए एक बड़ी मजेदार घटना घट रही है।

पूरब का मन पश्चिम की तरफ हाथ फैलाये खड़ा है कि धन दो, दवा दो, भोजन दो, कपड़ा दो। और पश्चिम के लोग पूरब की तरफ हाथ फैलाए खड़े हैं। आत्मा दो, ध्यान दो, मंत्र दो, तंत्र दो। यह बड़े मजे की बात है कि दोनों भिखमंगे की हालत में हैं। और इसलिए हमें कठिनाई होती है।

अगर पश्चिम से युवक-युवतियाँ भारत की तरफ आते हैं, खोजते हैं, तो हमें बड़ी हैरानी होती है कि तुम यहाँ किसलिए आ रहे हो ! हम तो यहाँ भूखे मर रहे हैं। हम तो तुम्हारी तरफ आशा लगाए बैठे हैं। तुम यहाँ किस लिए आ रहे हो ? तुम्हारा दिमाग खराब है ?

और जब हमारे मुल्क के युवक-युवतियाँ पश्चिम की तरफ जाते हैं--टैक्नालॉजी सीखने, उनका विज्ञान सीखने, और अभिभूत होते हैं, और समर्पित होते हैं उन दिशाओं में, तो पश्चिम में भी चिंता होती है कि हम तो तुम्हारी तरफ खोजने आ रहे हैं कि कुछ तुम्हारे पास होगा। तुम यहाँ चले आ रहे हो ! मामला क्या है ?

मामला एक बुनियादी भूल का है। जो अध्यात्म में सफलता की कुंजी है, वही कुंजी संसार के ताले को नहीं खोलती। जो संसार के ताले को खोल देती है, वही कुंजी अध्यात्म के ताले को नहीं खोलती है। और अब तक कोई 'मास्टर की' नहीं खोजी जा सकी है--और खोजी भी नहीं जा सकती--जो दोनों तालों को एक साथ खोल देती है।

अगर दोनों ताले खोलने हों एक साथ, तो दो कुंजियों की जरूरत पड़ेगी, उनकी प्रक्रिया अलग है। संसार में अहंकार आधार है--महत्त्वाकांक्षा, संघर्ष। अध्यात्म में निरअहंकारिता--महत्त्वाकांक्षा से शून्य हो जाना--एक गहरी विनम्रता --कोई दौड़ नहीं, कोई पागलपन नहीं, कोई यात्रा नहीं। इसे खयाल रखेंगे।

तो जब आप संसार से घबड़ा के अध्यात्म की तरफ मुड़ने लगें, तो संसार के ढंग अध्यात्म में मत ले जाना। उनको संसार के साथ छोड़ देना। वे ढंग वहाँ काम नहीं आयेंगे। उस यात्रा में उनकी कोई भी जरूरत नहीं है। उन्हें आप छोड़ देना। वे बोझ बन जाएँगे।

अध्यात्म की शिक्षा में आपको संसार में सीखा हुआ कुछ भी काम नहीं आयेगा। सिर्फ एक बात भर--कि संसार व्यर्थ है, अगर इतना आपने सीख लिया हो, तो पीछे की तरफ मुड़ सकते हैं। लेकिन इस व्यर्थता में संसार के सारे अनुभव, सारी साधना, सारा ज्ञान, सब व्यर्थ हो जाता है।

संसार का एक ही उपयोग है अध्यात्म के लिए कि यह अनुभव में आ जाय कि यह पूर्णतया व्यर्थ है, तो आप भीतर की दुनिया में प्रवेश कर सकते हैं।

● एक आखिरी सवाल। एक मित्र ने पूछा है कि यदि प्रकृति में घटनाएँ होती हैं और पुरुष में भाव, तो क्या जब कोई सिद्धि को प्राप्त हो जाता है और अनुभव कर लेता है अपनी पृथकता को, तो उसके शरीर में दुःख और मन में पीड़ा बंद हो जाती है?

इसे थोड़ा समझना पड़े।

पहली तो बात समझनी पड़े--दुःख और कष्ट का फर्क। अगर आपके पैर में कोई काँटा चुभाए, तो दो घटनाएँ घटती हैं। एक घटना है: कष्ट। कष्ट का अर्थ है कि आप अनुभव करते हैं कि पैर में पीड़ा हो रही है। मैं जान रहा हूँ कि पैर में पीड़ा हो रही है। आप जानने वाले होते हैं। पीड़ा पैर में घटित होती है, आप देखनेवाले होते हैं। आप साक्षी होते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि आप साक्षी होंगे, तो आपके पैर में कोई काँटा चुभाए, तो आपको कोई पीड़ा नहीं हो। इस भ्रांति में आप मत पड़ना। पीड़ा होगी। कष्ट होगा। क्योंकि काँटे का चुभना एक घटना है। लेकिन दुःख नहीं

होगा। इस फर्क को खयाल में ले लें।

दुःख तब होता है, जब मैं कष्ट के साथ अपने को एक कर लेता हूँ। जब मैं कहता हूँ कि 'मुझे' कोई कांटा चुभ रहा है, तब दुःख होता है। 'पैर' को कोई काँटा चुभा रहा है, मैं देख रहा हूँ, तब कष्ट होता है। इसलिए जीसस को भी जब सूली लगी, तो उनको कष्ट हुआ है। दुःख नहीं हुआ।

कष्ट तो होगा। कष्ट तो घटना है। कष्ट का तो मतलब ही इतना है कि...। इसका तो मतलब है कि कोई मेरा पैर काटे, तो मुझे पता नहीं चलेगा कि मेरा पैर किसी ने काटा है?

कोई मेरा पैर काटेगा, तो मुझे पता चलेगा कि पैर मेरा किसी ने काटा। वह एक घटना है। और पैर के काटने में जो पैर के तंतुओं में तनाव और परेशानी होगी, वह मुझे अनुभव में आयेगी कि परेशानी हो रही है।

अगर मैं ऐसा समझ लूँ कि मैं कट रहा हूँ--पैर कटने में--तो दुःख होगा।

दुःख है: कष्ट के साथ तादात्म्य--कष्ट के साथ एक हो जाना। इसलिए ज्ञानी को दुःख नहीं होता; कष्ट तो होगा।

और एक बात मजे की है कि ज्ञानी को आपसे ज्यादा कष्ट होगा। आप तो दुःख में इतने लीन हो जाते हैं कि कष्ट का आपको पूरा पता ही नहीं चलता। आपको तो कष्ट दिखाई ही नहीं पड़ पाता, उसके पहले ही आप दुःख में डूब जाते हैं। तो आपका तो पूरा चैतन्य धुएँ से भर जाता है--दुःख के। इसलिए आपको कष्ट का ठीक-ठीक बोध नहीं हो पाता। आप तो रोना-धोना-चिल्लाना शुरू कर देते है। लेकिन ज्ञानी न तो रो रहा है, न चिल्ला रहा है, न कोई धुआँ है उसके भीतर।

ज्ञानी को तो कोई दुःख होगा नहीं, इसलिए कोई लीनता नहीं होगी। वह तो सजग होकर देखता रहेगा। उसकी संवेदनशीलता बहुत गहन होगी; आपसे ज्यादा होगी, क्योंकि उसका तो मन बिलकुल दर्पण है। सब साफ-साफ दिखाई पड़ेगा।

आपको तो कष्ट दिखाई ही नहीं पड़ पाता, उसके पहले ही आप दुःख में डूब जाते हैं। तो आपका तो पूरा चैतन्य धुएँ से भर जाता है, दुःख के, इसलिए आपको कष्ट का ठीक-ठीक बोध नहीं हो पाता। आप तो रोना-धोना-चिल्लाना शुरू कर देते हैं। उसमें आप अपने को भुला लेते हैं। लेकिन ज्ञानी न तो रो-धो रहा है, न चिल्ला रहा है, न कोई धुआँ है उसके भीतर। उसका मन तो पूरा, जो हो रहा है उसे जान रहा है। वह कष्ट को उसकी पूर्णता में जानेगा।

आप कष्ट को पूर्णता में नहीं जान पाते हैं, क्योंकि दुःख की छाया कष्ट को ढाँक लेती है। शायद हमने इसीलिए दुःख में डूब जाना आसान समझा है। वह कष्ट से बचने का एक उपाय है।

समझें : आपके घर में कोई मर गया ; पत्नी मर गई । आप रोएँ मत; साक्षी भाव से बैठे रहें, तो आपको कष्ट का पूरा अनुभव होगा । वह आपके रोएँ-रोएँ में अनुभव होगा। आपके रग-रग में अनुभव होगा। आपके एक-एक कोष्ठ में वह पीड़ा अनुभव होगी, क्योंकि पत्नी का मरना सिर्फ पत्नी का मरना नहीं है, आपका कुछ अनिवार्य हिस्सा भी साथ में मर गया।

पत्नी और आप अगर चालीस साल साथ में रहे थे, तो बहुत दूर तक एक हो गए थे । आपके दोनों के शरीर ने बहुत तरह की एकता जानी थी । वह एकता एक दूसरे के शरीर में व्याप्त हो गई थी । जब पत्नी मर रही है, तो सिर्फ पत्नी का शरीर नहीं मर रहा है, आपके शरीर में भी जो पत्नी के शरीर का अनुदान था, वह बिखरेगा, और विनष्ट होगा । वह जाएगा । बड़ा कष्ट होगा । रोएँ-रोएँ, रग-रग में पीड़ा होगी । लेकिन आप छाती पीटकर रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, और कह रहे हैं कि मेरी पत्नी मर गई है। और लोग आपको समझा रहे हैं और आपको समझ में नहीं आ रहा है--इस सब में आप कष्ट से बच रहे हैं। यह तरकीब है।

इस रोने-धोने में, आपको जो कष्ट अनुभव होता--जो उसकी तीव्रता छिद जाती छाती में भाले की तरह, वह नहीं छिदेगी । आप रो-धो कर वक्त गुजार देंगे, तब तक कष्ट विर्सजित हो जाएगा ।

इसलिए बड़े होशियार लोग हैं . . . । जब किसी के घर में कोई मर जाता है, तो बाकी लोग आ-आ कर उनको बार-बार रुलाते हैं । वह बड़ा कारगर है । वह करना चाहिए । फिर कोई बैठने आ गया । फिर आप रोने लगे । और दो तीन दिन के बाद हालत ऐसी हो जाती है कि आपको अब रोना भी नहीं आ रहा है। और कोई बैठने आ गया, तो आप रो रहे हैं !

महीने पन्द्रह दिन में लोग आपको इतना थका देते हैं--रुला-रुला के कि अब आपका मन होने लगता है कि अब मरने से कष्ट नहीं हो रहा है किसी के, जितना तुम्हारे आने से हो रहा है। अब तुम बंद करो । जब ऐसी घड़ी आ जाती है, तभी लोग आना बंद करते हैं ।

इस बीच महीने भर में जो कष्ट की महान घटना घटी थी, वह आपको दिखाई नहीं पड़ती । आप इस रोने की मूर्च्छा में सब विर्सजित कर जाते हैं ।

अगर आप साक्षीभाव से बैठें, तो आपको लगेगा पत्नी ही नहीं मर रही है, आप भी मर रहे हैं । जब भी कोई प्रिय मरता है, तो आप भी मरते हैं। क्योंकि आपका शरीर उससे न मालूम कितने कितने रूपों में जुड़ गया था । आप एक हो गए थे । आपका कुछ टूट रहा है; अंग--हाथ-पैर कट रहे हैं आपके । वह पूरा कष्ट आपको अनुभव होगा । तब आपको बड़ी चीजें साफ होंगी । तब आपको यह भी

पता चलेगा कि पत्नी के मरने से कष्ट नहीं हो रहा है। पत्नी के साथ जो मोह था, उस मोह के टूटने से कष्ट हो रहा है।

यह सवाल पत्नी के मरने का नहीं है। चूँकि मैं भी मर रहा हूँ. . . उसके साथ जुड़ा था, अब मेरा एक हिस्सा टूट जाएगा सदा के लिए और खाली हो जाएगा, जिसको शायद भरना संभव नहीं होगा । उससे दुःख, उससे कष्ट हो रहा है।

लेकिन कष्ट से बचने के लिए हमने बेहोश होने की बहुत-सी तरकीबें निकाली हैं। उसमें सब से गहरी तरकीब यह है कि हम आच्छादित हो जाते हैं कष्ट से, तादात्म्य कर लेते हैं और विचलित होने लगते हैं भीतर । उस विचलित अवस्था में बाहर का कष्ट गुजर जाता है और हम उसे सह लेते हैं ।

ज्ञानी को कष्ट बिलकुल साफ होगा । क्योंकि वह किसी तरह के दुःख में नहीं पड़ेगा । उसके मन पर कोई भी दुःख का बादल घेर कर उसे डुबाएगा नहीं। उसे कष्ट बिलकुल साफ होगा ।

इसे हम ऐसा समझें कि आप बहुत विचारों से भरे बैठे हैं । रास्ते पर किसी के मकान में आग लग जाय और शोरगुल मच जाय, तो भी आपको पता नहीं चलता। लेकिन आप ध्यान में बैठे हैं--बिलकुल शांत। एक सुई भी गिर जाय, तो आपको सुनाई पड़ेगी । जैसे ही कोई व्यक्ति गहरे ध्यान को उपलब्ध होता है, तो जरा-सी चीज भी शरीर में हो जाय, तो उसे पता चलेगी।

कष्ट उसे होगा । लेकिन दुःख नहीं होगा । दुःख के होने का अर्थ है कि कष्ट से अपने को जोड़े तभी होता है। जब आप कष्ट से अपने को न जोड़ें, तो दुःख नहीं होता।

इसलिए ध्यान रखें: अध्यात्म की यात्रा पर चलने वाले कुछ लोग इससे उलटा काम करने लगते हैं। वे कोशिश करते हैं कि उनको कष्ट भी न हो। कष्ट न हो, तो उसकी तरकीब दूसरी है। उसकी तरकीब है: शरीर को धीरे-धीरे जड़ बनाना । चैतन्य को सजग नहीं करना, साक्षी को नहीं जगाना--शरीर को जड़ बनाना ।

अगर आप काशी जाते हैं, तो वहाँ आपको काँटों पर सोये हुए लोग मिल जाएँगे। आप बड़े चकित होंगे। आपको लगेगा : बेचारे कितने ज्ञान को उपलब्ध लोग हैं! कैसा परम ज्ञान उपलब्ध हो गया कि काँटों पर पड़े हैं और कोई दुःख नहीं हो रहा है !

कोई ज्ञान को उपलब्ध होकर काँटों पर पड़ने की जरूरत नहीं है। लेकिन काँटों पर पड़ने का अभ्यास कर लिया जाता है। अभ्यास कर लेने के बाद कोई कष्ट नहीं होता है, क्योंकि शरीर जड़ हो जाता है। अगर आप एक ही जगह रोज सुई

चुभोते रहें, तो आज जितनी तकलीफ होगी, कल कम होगी, परसों और कम होगी। आप रोज अभ्यास करते रहें। एक दो महीने बाद आप सुई चुभाएँगे और बिलकुल पता नहीं चलेगी। तो आप कोई ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो गए, सिर्फ दो महीने में आपने शरीर को जड़ कर लिया। उस जड़ता के कारण अब आपको कष्ट भी नहीं होता।

ध्यान रहे : दुःख न होना तो एक क्रांतिकारी घटना है। कष्ट न होना, शरीर को मुरदा बना लेने का प्रयोग है।

तो आप चाहें तो शरीर को मुरदा बना ले सकते हैं। बहुत से उपाय हैं, जिससे शरीर जड़ हो जाता है। उसकी सेन्सिटिविटि, संवेदना कम हो जाती है। संवेदना कम हो जाती है, तो कष्ट नहीं होता। कष्ट नहीं होता, तो दुःख आपको होने का कोई कारण नहीं रहा। क्योंकि दुःख होने के लिए कष्ट का होना जरूरी था। लेकिन आप ने कष्ट का दरवाजा बंद कर दिया, तो अब दुःख होने का कोई कारण नहीं रहा। लेकिन आप जरा भी नहीं बदले हैं। आप वही के वही हैं। आपकी चेतना नहीं बदली है। अगर आपको कष्ट पहुँचाया जाय, नये ढंग से, तो आपको दुःख होगा। क्योंकि भीतर कोई साक्षी पैदा नहीं हो गया है। यह धोखा है अध्यात्म का।

शरीर को जड़ बना लेना--धोखा है अध्यात्म का। चैतन्य को और चैतन्य कर लेना असली अध्यात्म है। लेकिन जितना आप चैतन्य को और चैतन्य करेंगे--और साक्षी बनेंगे--उससे आपका कष्ट से छुटकारा नहीं हो जाएगा। सच तो यह है कि आपको बहुत से नये कष्ट पता चलने लगेंगे, जो पहले आपको कभी पता नहीं चले थे; क्योंकि पहले आप जड़ थे। अब आप और संवेदनाशील हो रहे हैं। आपको और कष्टों का पता चलेगा। लेकिन कष्ट आपसे दूर होंगे। आप कष्टों से दूर होंगे। दोनों के बीच एक फासला--एक डिस्टेन्स होगा। और आप देखने वाले होंगे। आप भोक्ता नहीं होंगे। बस, साक्षी जग जाय और भोक्ता खो जाय।

तो यह मत सोचना कि जब कृष्ण के पैर में किसी ने तीर मार दिया, तो उन्हें कोई कष्ट न हुआ होगा। आपसे ज्यादा हुआ होगा, क्योंकि कृष्ण जैसा संवेदनाशील आदमी खोजना बहुत मुश्किल है।

कृष्ण कोई जड़ व्यक्ति नहीं थे, नहीं तो उनके ओठों से ऐसी बाँसुरी और ऐसे गीत पैदा नहीं हो सकते थे। बहुत कोमल, बहुत संवेदनाशील, बहुत रसपूर्ण थे।

तो जिसके होठों से बाँसुरी पर ऐसे गीत पैदा हुए और जिसके शरीर की कोमलता और सौन्दर्य ने न मालूम कितने लोगों को आकर्षित किया और प्रेम में गिरा लिया, आप यह मत सोचना कि जब उसके पैर में तीर चुभा होगा, तो उसे कष्ट नहीं हुआ होगा।

कष्ट तो पूरा होगा। आपसे बहुत ज्यादा होगा। लेकिन दुःख बिलकुल नहीं होगा। वह देखता रहेगा, जैसे किसी और के पैर में तीर चुभा हो, ऐसा ही वह इसे भी देखता रहेगा। भीतर कुछ भी हलचल न होगी। भीतर जो थिर था, वह थिर ही रहेगा। भीतर जो चेतना जैसी थी, वैसी ही रहेगी। इस तीर से शरीर में फर्क पड़ेगा। शरीर खबर देगा, मन के तंतु कँपेंगे। मन तक खबर पहुँचेगी। लेकिन चेतना अलिप्त, असंग, निर्दोष, कुँवारी ही बनी रहेगी।

यह हमारे खयाल में न होने से बड़ा उपद्रव हुआ है। इसलिए हम जड हो गए लोगों को आध्यात्मिक समझते हैं। और जड़ता पैदा कर लेने में न तो कोई कुशलता है, न कोई बड़े गुण की बात है। इसलिए अकसर बहुत बुद्धिहीन लोग भी आध्यात्मिक होने की तरह पूजे जाते हैं। वे कोई भी जड़ता का काम कर लें।

एक गाँव से मैं गुजरा। एक आदमी दस वर्षों से खड़े हुए हैं। और कोई गुण नहीं है बस, खड़े हैं। वे खड़े श्री बाबा हो गए हैं! लोग उनके चरणों पर सिर रख रहे हैं। यह बड़ी भारी बात हो गई कि वे दस साल से खड़े हैं। रात भी वे दोनों हाथों का लकड़ियों से सहारा लेकर सो जाते हैं। उनके पैर हाथीपाँव हो गए हैं। सारा खून शरीर का पैरों में उतर गया है। लोग समझ रहे हैं कि कोई अध्यात्म घट गया है।

मैंने उनसे कहा कि 'खड़े श्री बाबा को बैठे श्री बाबा बना कर भी तो देखो।'

अब वे बैठ भी नहीं सकते। सारा पैर जड़ हो गया है। अब तुम बिठाना भी चाहो, तो बिठाने का कोई उपाय नहीं है। यह शरीर की विकृति और कुरूपता है। इसको अध्यातम से क्या लेना-देना है? और इस आदमी में और कुछ भी नहीं है।

मैंने उनसे पूछा, 'और कुछ? खड़े होने की बात मान ली। और कुछ क्या है?' यही क्या कम है! यह बड़ी भारी घटना है। दस साल से कोई आदमी खड़ा है!

तो पैरों की जड़ता का नाम अध्यातम नहीं है। पैर जड़ हो सकते हैं, किये जा सकते हैं। इसमें क्या अड़चन है! न तो यह कोई गुण है, और न कोई सम्मान के योग्य है। लेकिन हम इस तरह की बातों को सम्मान देते हैं, तो जड़ता बढ़ती है। और जड़ता को हम पूजते हैं।

संवेदनशीलता पूजनीय है। लेकिन अकेली संवेदनशीलता पूजनीय नहीं है। अगर संवेदनशीलता के साथ साक्षीभाव भी जुड़ जाय, तो वही क्रांतिकारी घटना है, जिससे व्यक्ति जीवन के परम तत्त्व को जानने में समर्थ हो पायेगा।

अब हम सूत्र को लें।

'हे अर्जुन, अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा

शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न करता है, न लिपायमान होता है।

'जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता है।'

जो मैं कह रहा था, यह सूत्र उसी की तरफ इशारा है।

'हे अर्जुन अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होता हुआ भी वास्तव में न करता है, न लिपायमान होता है।' यही अत्यधिक कठिन बात समझने की है।

हम देखते हैं: आकाश सबको घेरे हुए है। सब कुछ आकाश में होता है, लेकिन फिर भी आकाश को कुछ नहीं होता। एक गंदगी का ढेर लगा है। गंदगी के ढेर को भी आकाश घेरे हुए है। गंदगी का ढेर भी आकाश में ही लगा हुआ है, ठहरा हुआ है, लेकिन आकाश गंदगी के ढेर से गंदा नहीं होता। गंदगी का ढेर हट जाता है, आकाश जैसा था, वैसा ही बना रहता है।

फिर एक फूल खिलता है। चारों तरफ सुगन्ध फैल जाती है। फूल के सौन्दर्य को भी आकाश घेरे हुए है। लेकिन आकाश इस फूल के सौन्दर्य से भी अप्रभावित रहता है। वह इसके कारण सुन्दर नहीं हो जाता। फूल आज है। कल नहीं होगा। आकाश जैसा था, वैसा ही होगा।

आकाश के इस गुण को बहुत गहरे समझ लेना जरूरी है, क्योंकि यही आत्मा का गुण भी है।

आकाश सदा ही कुँवारा है। उसे कोई भी चीज छू नहीं पाती। ऐसा समझें: हम एक पत्थर पर लकीर खींचते हैं। पत्थर पर खींची लकीर हजारों साल तक बनी रहेगी। पत्थर पकड़ लेता है लकीर को। पत्थर लकीर के साथ तत्सम हो जाता है, तादात्म्य कर लेता है। पत्थर लकीर बन जाता है।

फिर हम लकीर खींचें पानी पर। खिंचती जरूर है, लेकिन खिंच नहीं पाती। हम खींच भी नहीं पाते और लकीर मिट जाती है। हम खींचकर पूरा कर पाते हैं, लौटकर देखते हैं, लकीर नादारद है। पानी पर लकीर खिंचती तो है, लेकिन पानी लकीर को पकड़ता नहीं। खिंचते ही मिट जाती है। खींचते हैं, इसलिए खिंच जाती है, लेकिन टिक नहीं पाती, क्योंकि पानी उसे पकड़ता नहीं। पत्थर पकड़ लेता है। पत्थर में हजारों साल तक टिक जाती है। पानी में क्षणभर नहीं टिकती; बनती जरूर है।

आकाश में लकीर खींचें, वहाँ बनती भी नहीं। पानी पकड़ता नहीं, लेकिन बनने देता है। पत्थर बनने भी देता है, पकड़ भी लेता है। आकाश न बनने देता

है और न पकड़ता है।

आकाश में लकीर खींचें, कुछ भी खिंचता नहीं। इतने पक्षी उड़ते हैं, लेकिन आकाश में कोई पद-चिह्न नहीं छूट जाते।

इतना सृजन, इतना परिवर्तन, इतना विनाश चलता है और आकाश अछूता बना रहता है--अस्पर्शित, सदा कुँवारा। आकाश का यह जो गुण है, यही परमात्मा का भी गुण है।

या ऐसा कहें कि जो हमें बाहर आकाश की तरह दिखता है, वही भीतर आकाश परमात्मा है; इनर स्पेस--भीतर का आकाश परमात्मा है।

कृष्ण कहते हैं, यह जो भीतर छिपा हुआ चैतन्य है, इसे कुछ भी छूता नहीं। तुम क्या करते, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम क्या करते हो, क्या होता है--इससे तुम्हारे भीतर के आकाश पर कोई लकीर नहीं खिंचती। तुम भीतर शुद्ध ही बने रहते हो। यह शुद्धि तुम्हारा स्वभाव है।

यह बड़ा खतरनाक संदेश है। इसका मतलब हुआ कि पाप करते हो, तो भी कोई रेखा नहीं खिंचती। पुण्य करते हो, तो भी कोई लाभ की रेखा नहीं खिंचती।

न पाप न पुण्य, न अच्छा न बुरा--भीतर कुछ भी छूता नहीं। भीतर तुम अछूते ही बने रहते हो।

खतरनाक इसलिए है कि सारी नैतिकता, सारी अनैतिकता व्यर्थ हो जाती है।

भीतर की शुद्धि शाश्वत है। तुम्हारे करने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लेकिन तुम्हारे करने से तुम अकारण दुःख पाते हुए मालूम होते हो।

अगर तुम बुरा करते हो, तो तुम बुरे के साथ तादात्म्य बना लेते हो और दुःख पाते हो। अगर तुम शुभ करते हो, तो तुम शुभ के साथ तादात्म्य बना लेते हो और सुख पाते हो। लेकिन सुख-दुःख दोनों तुम्हारी भ्रांतियाँ हैं।

वह जो भीतर छिपा है, वह न सुख पाता, न दुःख पाता है। वह जो भीतर छिपा है, वह सदा एक-रस अपने में ही है। न तो वह दुःख की तरफ डोलता है, न सुख की तरफ डोलता है।

वह भीतर कौन है--तुम्हारे भीतर छिपा हुआ--उसकी खोज ही अध्यात्म है। एक ऐसे बिन्दु को स्वयं के भीतर पा लेना है, जो सभी चीजों से अस्पर्शित है।

एक गाड़ी चलती है। गाड़ी का चाक चलता है, हजारों मील की यात्रा करता है। लेकिन गाड़ी के चाक के बीच में एक कील है, जो बिलकुल नहीं चलती, जो खड़ी ही है। चाक चलता है--चला जाता है। चाक अच्छे रास्तों पर चलता है, बुरे रास्तों पर चलता है। चाक सुन्दर और असुंदर रास्तों पर चलता है। चाक

सपाट राजपथों पर चलता है, गंदगी और कीचड़ से भरे हुए जंगली रास्तों पर चलता है। वह जो कील है--चाक के बीच में खड़ी--वह चलती ही नहीं ; वह खड़ी ही रहती है।

तुम्हारा मन सुख में चलता है, दुःख में चलता है; तुम्हारा शरीर कष्ट में चलता है, सुविधा में चलता है, लेकिन भीतर एक कील है चैतन्य की, वह खड़ी ही रहती है--वह चलती ही नहीं।

अगर तुम शरीर से अपने को एक समझ लेते हो, तो बहुत तरह के कष्ट तुम्हारे दुःख का कारण बन जाते हैं। अगर तुम मन से अपने को एक समझ लेते हो, तो बहुत तरह की मानसिक व्यथाएँ, चिंताएँ तुम्हें घेर लेती हैं; तुम उनसे घिर जाते हो। शरीर से अलग कर लो, शरीर में कष्ट होते रहेंगे, लेकिन तुम दुःखी नहीं हो। मन से अलग कर लो, भावों के तूफान चलते रहेंगे, लेकिन तुम दूर खड़े उनको देखते रहोगे।

शरीर और मन दोनों से पार खड़ा हो जाता है जो, उसे पता चलता है कि यहाँ तो कभी कुछ नहीं हुआ। यहाँ तो सदा ही सब वैसा का वैसा है। जैसा अगर सृष्टि का कोई पहला क्षण रहा होगा, तो उस दिन जितनी शुद्ध थी चेतना, उतनी ही शुद्ध आज भी है।

इसे हम ऐसा समझें कि आप एक नाटक में काम करते हैं। रावण बन गए। बड़े बुरे काम करने पड़ते हैं। सीता चुरानी पड़ती है। हत्याएँ करनी पड़ती हैं। युद्ध करना पड़ता है। या राम बन गए हैं। बड़े अच्छे काम करते हैं। बड़े आदर्श--मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। लोग आदर देते हैं, सम्मान करते हैं। लेकिन जब आप नाटक छोड़कर घर आते हैं, तो आप न राम होते हैं, न रावण होते हैं। न तो रावण का होना आपको छूता है, न राम का होना आपको छूता है। लेकिन कभी-कभी खतरा हो सकता है।

कभी-कभी अभिनय भी छू सकता है। अगर आप अपने को, एक समझ लें, अगर आप यह समझ लें कि मैंने इतने दिन तक राम का पार्ट किया, तो अब गाँव के लोगों को मुझे राम समझना चाहिए। तो फिर झंझट हो सकती है। ऐसा हुआ।

अमेरिका में लिंकन का एक आदमी ने पार्ट किया एक साल तक, क्योंकि लिंकन की कोई शताब्दि मनाई जाती थी और उसकी शकल लिंकन से मिलती-जुलती थी। अमेरिका के सभी बड़े नगरों में उसे लिंकन का पार्ट करने के लिए जाना पड़ता। एक साल तक वह लिंकन की तरह चलता, लिंकन की छड़ी हाथ में रखता, लिंकन के कपड़े पहनता, लिंकन की तरह हकलाता, लिंकन की तरह बोलता--सब लिंकन की तरह करता।

साल भर लम्बा वक्त है। वह आदमी भूल गया। साल भर के बाद जब वह घर आया, तो वह सीधा न चल सके, जैसा वह पहले चलता रहा। कोशिश करे, तो थोड़ी देर सीधा चले, नहीं तो वह फिर लिंकन की तरह चलने लगे। बोले भी तो लिंकन की तरह बोले। जहाँ लिंकन अटकता था, वहीं वह भी अटके। घर के लोगों ने कहा कि 'अब छोड़ो भी; अब बात खतम हो गई!' लेकिन एक साल का नशा उस पर ऐसा छा गया--जगह-जगह सम्मान, स्वागत, सत्कार। उस आदमी ने कहा, 'क्या छोड़ो! मैं अब्राहम लिंकन हूँ। तुम किस भ्रांति में पड़े हो?' लोगों ने समझा : वह मजाक कर रहा है--थोड़े दिन; लेकिन वह मजाक नहीं कर रहा था। वह अब्राहम लिंकन हो ही गया था।

उसे बहुत समझाया-बुझाया। मित्रों ने कहा, 'तुम पागल तो नहीं हो गए हो?' लेकिन उसे पक्का भरोसा आ गया था। साल भर लम्बा वक्त है। उसे जितना लोगों ने समझाया, उसकी मजबूती बढ़ती चली गई। लोगों से कहने लगा, 'तुम पागल तो नहीं हो गये हो? मैं लिंकन हूँ।' जितना लोगों ने कहा, कि तुम नहीं हो, उतनी ही उसकी जिद्द बढ़ती चली गई। फिर तो यहाँ तक हालत पहुँच गई कि मनोवैज्ञानिकों के पास ले जाकर उसका इलाज करवाना पड़ा।

तो मनोवैज्ञानिक ने कहा, कि 'यह कितना ही बोल रहा हो, लेकिन भीतर तो यह गहरे में तो जानता ही होगा कि मैं लिंकन नहीं हूँ।' तो अमेरिका में उन्होंने लाइ डिटेक्टर नामक एक छोटी-सी मशीन बनाई है; अदालत में काम में लाते हैं--झूठ पकड़ने के लिए। उस मशीन पर आदमी को खड़ा कर देते हैं। उससे पूछते हैं, जो बात वह सच बोलता है, तो हृदय की धड़कन अलग होती है। आप भी जब सच बोलते हैं, तो हृदय की धड़कन अलग होती है। जब आप झूठ बोलते हैं, तो एक धक्का लगता है। हृदय की धड़कन में फर्क हो जाता है।

किसी ने आपसे पूछा, 'आपकी घड़ी में कितने बजे हैं?' आप कहते हैं, 'आठ।' किसी ने पूछा कि 'सामने जो किताब रखी है, इसका क्या नाम है?' आपने पढ़कर बता दिया। आपके हृदय में कहीं कोई झटका नहीं लगता। फिर किसी ने पूछा, 'आपने चोरी की?' तो भीतर से तो आप कहते हैं कि की और ऊपर से कहते हैं : नहीं की। तो रिदम--भीतर की लय--टूट जाती है। वह लय का टूटना मशीन पकड़ लेती है--कि आपके हृदय की गति में फर्क पड़ गया। ग्राफ टूट जाता है।

तो उस आदमी को, अब्राहम लिंकन को, बने हुए अब्राहम लिंकन को खड़ा किया गया--लाई डिटेक्टर पर। वह भी परेशान हो गया था। जो देखे, वही समझाए कि 'अरे, क्यों पागल हो रहे हो? होश में आओ। यह नाटक था।' वह भी घबड़ा गया था। उसने सोचा कि इससे कैसे छुटकारा हो?

तो मनोवैज्ञानिक ने बहुत से सवाल पूछे। फिर पूछने के बाद उसने पूछा : 'क्या तुम अब्राहम लिंकन हो ?' तो उसने सोचा : यह झंझट खतम ही करो। कह दो कि नहीं हूँ। तो उसने कहा कि 'नहीं, मैं अब्राहम लिंकन नहीं हूँ।' मनोवैज्ञानिक बड़ा खुश हुआ। लेकिन नीचे मशीन ने ग्राफ बताया कि यह आदमी झूठ बोल रहा है। इतना गहरा उसको खयाल है कि मैं अब्राहम लिंकन हूँ। खुद ही मना कर रहा है। लेकिन उसका हृदय जानता है कि मैं हूँ।

अब क्या करिएगा! एक साल का नाटक अगर ऐसी स्थिति बना देता हो, तो आपने शरीर के साथ बहुत जन्मों में नाटक किया है। कितनी-कितनी लम्बी यात्रा है--शरीर के साथ एक होने की। मन के साथ कितने समय से आप अपने को एक बनाए हुए हैं। इसलिए कठिनाई है। इसलिए तादात्म्य तोड़ने में अड़चन मालूम पड़ती है। इतना लम्बा हो गया है यह सब कि आप जन्म-जन्मों से 'लिंकन' का पार्ट कर रहे हैं। और अब कोई आपसे पूछता है, तो आप कितना ही कहें : 'मैं शरीर नहीं हूँ,' लेकिन भीतर आपको लाइ डिटेक्टर पर खड़ा कर के पूछा जाय--कि क्या तुम शरीर हो?... आप बड़े आत्म-ज्ञानी हैं। गीता पढ़ते हैं, कुरान पढ़ते हैं--कंठस्थ है। और आप रोज सुबह बैठ के दोहराते हैं कि मैं शरीर नहीं हूँ। आप लाइ डिटेक्टर पर खड़े किये जायँ। आप कहेंगे : 'मैं शरीर नहीं हूँ।' वह डिटेक्टर कहेगा कि यह आदमी झूठ बोल रहा है। क्योंकि आपको मान्यता तो गहरी है कि आप शरीर हैं। आप जानते हैं। आपके गहरे तक यह बात घुस गई है। इसे तोड़ने में इसलिए कठिनाई है। लेकिन यह तोड़ी जा सकती है, क्योंकि यह झूठ है। यह सत्य नहीं है।

आप पृथक हैं ही। आप कितना ही मान लें कि मैं पृथक नहीं हूँ, आप पृथक हैं। आपके मानने से सत्य बदलता नहीं। आपके मानने से आपकी जिन्दगी असत्य हो जाती है।

कृष्ण कहते हैं, यह जो भीतर बैठा हुआ स्वरूप है, यह सदा मौन, सदा शांत, सदा शुद्ध, सदा अनन्द से भरा है। इसका हमने कभी कोई दर्शन नहीं किया है। और जो भी हम जानते हैं--अपने सम्बन्ध में--वह या तो शरीर है या मन है।

मन के सम्बन्ध में भी हम बहुत नहीं जानते हैं। मन की भी थोड़ी-थोड़ी-सी परतें हमें पता हैं। बहुत परतें तो अचेतन में छिपी हैं, उनका हमें कोई पता नहीं है।

साक्षी का अर्थ है कि मैं शरीर से भी अपने को तोड़ूँ और मन से भी अपने को तोड़ूँ। और जब मैं कहता हूँ--तोड़ूँ, तो मेरा मतलब है, यह जो गलत जोड़ है, वही तोड़ना है। वस्तुतः तो हम जुड़े हुए नहीं हैं।

इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'हे अर्जुन, अनादि होने से और गुणातीत होने से

यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी वास्तव में न करता है, है न लिपायमान होता है।' न तो यह कुछ करता है और चाहे किसी को लगता हो कि कुछ हो भी रहा है, तो भी लिप्त नहीं होता।

जैसे कमल का पत्ता है। पानी की बूँद पड़ जाय उसके ऊपर तो भी छूता भी नहीं बूँदों को, बूँदें अलग बनी रहती हैं--पत्ते पर पड़ी हुई भी। जल छूता नहीं। वैसे यह अछूता रह जाता है। इसने कभी कुछ नहीं किया है। हम इसे कैसे मानें?

हम तो सब चौबीस घन्टे कुछ न कुछ कर रहे हैं। हम इसे कैसे मानें? हम यह कैसे स्वीकार करें कि यह जो भीतर है, यह सदा शुद्ध है। क्योंकि हम बहुत से पाप कर रहे हैं; चोरी कर रहे हैं, झूठ बोल रहे हैं। यह कृष्ण की बात समझ में नहीं आती कि हम--और शुद्ध हो सकते हैं! हम--जिनने इतनी बुराइयाँ की हैं? ना भी की हों, तो इतनी बुराइयाँ सोची हैं, करनी चाही हैं। कितनी बार हत्या करने का मन हुआ है, चोरी करने का मन हुआ है। यह मन हमारा--यह कैसे भीतर शुद्ध हो सकता है?

बाहर के आकाश को देखें : सब कुछ घटित हो रहा है और बाहर का आकाश शुद्ध है। भीतर भी एक आकाश है--ठीक बाहर के आकाश जैसा। बीच में सब घटित हो रहा है। वह भी भीतर शुद्ध है।

इस शुद्धता का स्मरण भी आ जाय, तो अपनी जिन्दगी में एक नया आयाम खुल जाय। आप दूसरे आदमी होने शुरू हो जाएँगे। फिर आप जो भी कर रहे हैं, करते रहें, लेकिन करने से रस खो जाएगा। फिर जो भी कर रहे हैं, करते रहें, लेकिन करने में से अकड़ खो जाएगी। फिर करना ऐसे हो जाएगा, जैसे साँप तो निकल गया और केवल साँप का ऊपर का खोल पड़ा रह गया है। जैसी रस्सी तो जल गई, लेकिन सिर्फ राख--रस्सी के रूप की-- रह गई है। अगर आपको यह खयाल आना शुरू हो जाय कि मैं अकर्ता हूँ, तो कर्म जारी रहेगा--जली हुई रस्सी की भाँति--जिसमें अब रस्सी रही नहीं, सिर्फ राख है। सिर्फ रूप रह गया है पुराना।

कर्म चलता रहेगा अपने तल पर, और आप हटते जाएँगे। जैसे-जैसे कर्म से हटेंगे, वैसे-वैसे लगेगा कि मैं अलिप्त भी हूँ। कुछ मुझे लिप्त नहीं कर सकता।

एक घटना आपसे कहूँ। एक बौद्ध भिक्षु हुआ बहुत अनूठा--नागार्जुन। नागार्जुन के पास एक युवक आया और युवक ने कहा 'मैं भी चाहता हूँ कि जान लूँ उसको जो कभी लिप्त नहीं होता। जान लूँ उसको जो अकर्ता है। जान लूँ उसको जो परम आनन्दित है--सच्चिदानन्दघन है। कोई रास्ता?'

नागार्जुन बहुत आपने किस्म का अनूठा गुरु था। उसने कहा कि 'पहले तुझसे पूछता हूँ कि तुझे किसी चीज से कोई लगाव, कोई प्रेम तो नहीं है?' उस युवक ने

कहा कि 'कोई ज्यादा तो नहीं है। सिर्फ एक भैंस है मेरे पास, उससे मुझे लगाव है।' तो नागार्जुन ने कहा कि 'बस' इतना काफी है। इससे काम हो जाएगा। साधना शुरू हो जाएगी।'

उस युवक ने कहा कि 'भैंस से और साधना से का क्या सम्बन्ध? और मैं तो डर भी रहा था कि यह अपना लगाव बताऊँ भी कि नहीं। कोई स्त्री से हो, किसी मित्र से हो तो भी कुछ समझ में आता है। यह भैंस वाला लगाव! मैंने सोचा था कि इसकी तो चर्चा ही नहीं उठेगी। लेकिन आपने पूछा... ।'

नागार्जुन ने कहा, 'बस, तू एक काम कर। यह सामने मेरी गुफा के जो दूसरी गुफा है, उसमें तू चला जा और एक ही भाव कर कि मैं भैंस हूँ। जो तेरा प्रेम है, उसको तू आरोपित कर। बस, तू अपने को भैंस का रूप बना ले। और तू लौट कर मत आना। जब जरूरत होगी, तो मैं आऊँगा। तू तो बस, इतना ही भाव कर--एक ही भाव--कि मैं भैंस हूँ।'

उस युवक ने साधना करनी शुरू की। एक दिन बीता, दो दिन बीता, तीसरे दिन उस गुफा से भैंस की आवाज आनी शुरू हो गई। नागार्जुन ने अपने शिष्यों से कहा कि 'अब चलने का वक्त आ गया। अब चलो, देखो, क्या हालत है।'

वे सब वहाँ अन्दर गए। युवक दरवाजे के पास ही सिर झुकाए खड़ा था। दरवाजा काफी बड़ा था। बाहर निकल सकता था। लेकिन सिर झुकाए खड़ा था, जैसे कोई अड़चन है। भैंस की आवाज कर रहा था। नागार्जुन ने कहा कि 'बाहर आ जाओ।' उसने कहा कि 'बाहर कैसे आ जाऊँ! मेरे सींग दरवाजे में अड़ रहे हैं।' आँखें उसकी बंद हैं।

नागार्जुन के बाकी शिष्य तो बड़े हैरान हुए। उन्होंने कहा कि 'सींग दिखाई तो पड़ते नहीं!' नागार्जुन ने कहा कि 'जो नहीं दिखाई पड़ता, वह भी अड़ सकता है। जो नहीं है, वह भी अड़ सकता है। अड़ने के लिए होना जरूरी नहीं है। सिर्फ भाव होना जरूरी है। इसका भाव पूरा है।

नागार्जुन ने उसे हिलाया और कहा, 'आँख खोल।' उसने घबड़ा के आँख खोली, जैसे किसी गहरी नींद से उठा हो। तीन दिन की लम्बी नींद--आत्म-सम्मोहन--सेल्फ हिप्नोसिस, तीन दिन तक निरंतर भाव--कि मैं भैंस हूँ। जैसे बड़ी गहरी नींद से जगा हो, एकदम तो पहचान भी न सका कि क्या मामला है।

नागार्जुन ने कहा कि 'घबड़ा मत। कहाँ हैं तेरे सींग?' उसने सिर पर हाथ फेरा। उसने कहा कि 'नहीं, सींग तो नहीं हैं। लेकिन अभी अड़ रहे थे!' उसने कहा, 'वह भी मुझे खयाल है। मैं तीन दिन से निकलने को कोशिश कर रहा हूँ। और तुमने कहा था कि निकलना मत। मैं तीन दिन से कोशिश करके भी निकल

नहीं पा रहा हूँ। वे सींग अड़ जाते हैं बीच में। बड़ी तकलीफ भी होती है। टकराता हूँ; तकलीफ होती है।' तो नागार्जुन ने कहा, 'कहाँ हैं सींग? कहाँ है तेरा भैंस होना?' नागार्जुन ने कहा कि 'तुझे अब कुछ और सिखाऊँ कि बात तू सीख गया?' उसने कहा, 'मैं बात सीख गया। तीन दिन का मौका मुझे और दे दें।'

नागार्जुन और उसके शिष्य वापस लौट आये। शिष्यों ने कहा, 'हम कुछ समझे नहीं। यह क्या वार्तालाप हुआ? नागार्जुन ने कहा, 'तीन दिन बाद...।'

तीन दिन तक वह युवक फिर उस कोठरी में बन्द था। और जैसे तीन दिन उसने अपने को भैंस होना स्वीकार कर के भैंस बना लिया, वैसे तीन दिन उसने अस्वीकार किया कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ। और तीन दिन बाद जब नागार्जुन और उसके शिष्य वहाँ पहुँचे, तो वह जो व्यक्ति उन्होंने देखा था, वहाँ सिर्फ 'रस्सी की राख' रह गई थी--जली हुई।

उस व्यक्ति ने आँख खोली और नागार्जुन ने अपने शिष्यों से कहा, 'इसकी आँखों में झाँको।' उन आँखों में जैसे गहरा शून्य था। और नागार्जुन ने पूछा कि 'अब तुम कौन हो?' तो उस व्यक्ति ने कहा कि 'सिर्फ आकाश। अब मैं नहीं हूँ। सब समाप्त हो गया। और जो मैं चाहता था जानना, वह मैंने जान लिया! और जो मैं चाहता था, होना वह हो गया हूँ।'

जो भी आप सोच रहे हैं कि आप हैं, यह आपकी मान्यता है। यह आटो-हिप्नोसिस है। यह आत्म-सम्मोहन है। और यह सम्मोहन इतना गहरा है--बचपन से डाला जाता है-- इससे आपको खयाल भी नहीं है कभी, कि यह अपनी ही मान्यता है, जो हम अपने चारों तरफ खड़ी कर लिए हैं।

आपका व्यक्तित्व आपकी मान्यता है। इसलिए बहुत मजे की घटनाएँ घटती हैं। अगर आप दुनिया की अलग-अलग संस्कृतियों का अध्ययन करें, तो आप चकित हो जाएँगे। कुछ ऐसी कौमें हैं, जो मानती हैं कि पुरुष कमजोर है, और स्त्री ताकतवर है। वहाँ पुरुष कमजोर हो गया है और स्त्री ताकतवर हो गई है। वहाँ मरदाना होने का कोई मतलब नहीं है। वहाँ जनाना होने की शान है। और वहाँ अगर कोई मर्द ताकतवर होता है, तो लोग कहते हैं: 'क्या जनाना मर्द है; क्या शानदार मर्द है--ठीक औरत जैसा।'

आप यह मत सोचना की औरत कमजोर है। औरत का कमजोर होना एक मान्यता है।

आप चकित होंगे जानकर कि अमेजान में एक छोटी-सी कौम है। जब बच्चा होता है किसी स्त्री को, तो पति को भी प्रसव की पीड़ा होती है। एक खाट पर पड़ती है स्त्री, दूसरी खाट पर लेटता है पति। और दोनों तड़पते हैं। आप कहेंगे,

यह पति बनता होगा। क्योंकि, आखिर इधर भी तो इतने बच्चे पैदा होते हैं। नहीं; पति बनता बिलकुल नहीं। और जब पहली दफा ईसाई मिशनरियों ने यह चमत्कार देखा, तो वे बड़े हैरान हुए कि 'ये पति भी क्या ढोंग कर रहे हैं! पति को कहीं प्रसव पीड़ा होती है? पत्नी को बच्चा हो रहा है, तुम क्यों तकलीफ पा रहे हो?' और पत्नी से भी ज्यादा शोरगुल पति मचाता है, क्योंकि पति पति है। पत्नी तो थोड़ा-बहुत मचाती है। पति बहुत उछल-कूद करता है। गिर-गिर पड़ता है। रोता है, पीटता है। जब तक बच्चा नहीं हो जाता, तब तक तकलीफ पाता है। बच्चा होते ही से वह बेहोश होकर गिर जाता है।

तो पादरियों ने समझा कि 'यह भी एक खेल है। इन्होंने बना रखा है। बाकी इसमें कोई हो तो नहीं सकती सचाई।' तो जब चिकित्सकों ने जाँच की, तो उन्होंने पाया कि यह बात सच है। दर्द होता है। तकलीफ होती है। पेट में बहुत उथल-पुथल मच जाती है, जैसे बच्चा होने वाला हो। हजारों साल की उनकी मान्यता है कि जब दोनों का ही बच्चा है, तो दोनों को तकलीफ होगी।

और आप यह भी जान कर हैरान होंगे कि ऐसी भी कौमें हैं, इस मुल्क में भी ऐसी ग्रामीण और आदिवासी कौमें हैं, जहाँ स्त्री को बच्चा बिना तकलीफ के होता है। जैसे गाय को होता है, ऐसे स्त्री को होता है। वह जंगल में काम कर रही है--खेत में काम कर रही है। बच्चा हो जाता है। बच्चे को उठाकर --खुद ही--अपनी टोकरी में रख कर वृक्ष के नीचे छोड़ देती है और फिर काम करना शुरू कर देती है।

हमारी स्त्रियाँ सोच भी नहीं सकतीं कि खुद को बच्चा हो और न नर्स हो, न अस्पताल हो, न डॉक्टर हो; और खुद ही को बच्चा हो, और उठाकर टोकरी में रखकर और काम शुरू! काम में कोई अन्तराल ही नहीं पड़ता। वह भी मान्यता है। स्त्रियों को जो इतनी तकलीफ हो रही है, वह भी मान्यता है। स्त्रियों को तकलीफ न हो, वह भी मान्यता है।

लोझेन कर के एक फ्रेंच चिकित्सक है, उसने एक लाख स्त्रियों को बिना दर्द के प्रसव करवाया है। और सिर्फ करता इतना ही है कि वह उनको कहता है: दर्द होता ही नहीं। यह समझाता रहता है: दर्द तुम्हारी भ्रांति है। उनको कान में मंत्र डालता है कि दर्द होता ही नहीं। सम्मोहित करता है; समझा देता है।

एक लाख स्त्रियाँ बिना दर्द के...।

लोझेन का शिष्य है, वह और एक कदम आगे बढ़ गया है। वह कहता है: दर्द की तो बात ही गलत है। जब बच्चा पैदा होता है, तो स्त्री के जीवन में सबसे बड़ा सुख होता है। और उसने कोई पाँच सौ स्त्रियों को सुख करवा के भी बता दिया। वे स्त्रियाँ कहती हैं कि जो समाधि का आनन्द हमने जाना है--बच्चे के होने में, वह तो कभी जाना ही नहीं।

वह भी उनको समझाता है कि यह परम अनुभव का क्षण है। बच्चा जब पैदा होता है, तो स्त्री के जीवन का यह शिखर है--आनन्द अनुभव का। अगर इसमें वह चूक गई, तो उसे जीवन में कभी आनन्द ही नहीं मिलेगा।

उसका शिष्य समझा के आनन्द भी करवा देता है!

आदमी बहुत अद्भुत है। आदमी सेल्फ हिप्नोसिस करने वाला प्राणी है। वह अपने को जो भी मान लेता है, वैसा कर लेता है।

आपके सारे व्यक्तित्व की परतें आपकी मान्यताओं की परतें हैं। आप जो हैं, वह आपका सम्मोहन है।

अध्यात्म का अर्थ है, इस सारे सम्मोहन को तोड़कर उसके प्रति जग जाना--जिसका कोई भी सम्मोहन नहीं है। यह शरीर, यह मन, ये धारणाएँ--ये स्त्री ये पुरुष, यह अच्छा यह बुरा--इन सबसे हटते जाना और सिर्फ चैतन्य मात्र, शुद्ध चित्त मात्र शेष रह जाय। मैं सिर्फ जाननेवाला हूँ--इतनी प्रतीति भर बाकी बचे, तो उस प्रतीति के क्षण में पता चलता है कि वह जो भीतर बैठा हुआ आकाश है, वह सदा कुँवारा है। न उसने कभी कुछ किया है--और न कुछ उस पर अभी तक लिप्त हुआ है। वह अस्पर्शित--शुद्ध--है।

पाँच मिनिट रुकें। कोई बीच से उठे न। कीर्तन पूरा करें और फिर जायँ।

बारहवाँ समापन प्रवचन

क्रॉस मैदान, पारसी कुआँ, बम्बई, संध्या, दिनांक १५ मई, १९७३

होशपूर्वक मरना सीखें • दुःख का मूल : कर्ताभाव
अकस्मात विस्फोट की पूर्व तैयारी • द्रष्टा का बोध

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

हे अर्जुन, जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारयुक्त प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान-नेत्रों के द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

*

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है : गीता में कहा है कि जो मनुष्य मरते समय जैसी ही चाह करे, वैसा ही वह दूसरा जन्म पा सकता है। यदि एक मनुष्य, जिसने सारा जीवन पाप करने में ही गँवा दिया हो और मरते समय दूसरे जन्म में महावीर और बुद्ध जैसा बनने की चाह करे, तो क्या वह आदमी दूसरे जन्म में महावीर और बुद्ध जैसा बन सकता है?

निश्चित ही मरते क्षण की अन्तिम चाह दूसरे जीवन की प्रथम घटना बन जाती है। जो इस जीवन में अंतिम है, वह दूसरे जीवन में प्रथम बन जाता है।

इसे ऐसा समझें : रात आप जब सोते हैं, तो जो रात सोते समय आपका आखिरी विचार होता है, वह सुबह जागते समय आपका पहला विचार बन जाता है। इसे आप प्रयोग कर के जान सकते हैं। रात आखिरी विचार--जब आपकी नींद उतर रही हो--जो आपके चित्त पर हो, उसे खयाल कर लें। तो सुबह आपको जैसे ही पता लगेगा कि मैं जाग गया हूँ, वही विचार पहला विचार होगा।

मृत्यु महानिद्रा है, बड़ी नींद है। इसी शरीर में नहीं जागते हैं, फिर दूसरे शरीर में जागते हैं। लेकिन इस जीवन का जो अंतिम विचार, अंतिम वासना है, वही दूसरे जीवन का प्रथम विचार और प्रथम वासना बन जाती है।

इसलिए गीता ठीक कहती है कि अंतिम क्षण में जो विचार होगा, जो वासना होगी, वही दूसरे जीवन का कारण बन जाएगी।

लेकिन, अगर आपने जीवन भर पाप किया है, तो अंतिम क्षण में आप बुद्ध होने का विचार कर नहीं सकते। वह असंभव है। अंतिम विचार तो आपके पूरे जीवन का निचोड़ होगा। अंतिम विचार में सुविधा नहीं है आप के हाथ में कि आप कोई भी विचार कर लें। मरते क्षण में आप धोखा नहीं दे सकते। समय भी नहीं है धोखा देने के लिए। मरते क्षण में तो आपका पूरा जीवन निचुड़ कर आपकी वासना

बनता है। आप नयी वासना कर नहीं सकते--मरते क्षण में।

तो जिस आदमी ने जीवन भर पाप किया हो, मरते क्षण में वह महा पापी बनने की वासना ही कर सकता है। वह आपके हाथ में नहीं है कि मरते वक्त आप बुद्ध बनने का विचार कर लें। बुद्ध बनने का विचार तो तभी आ सकता है, जब जीवन भर बुद्ध बनने की चेष्टा रही हो। क्योंकि मरते क्षण में आपका जीवन पूरा का पूरा निचुड़ के आखिरी वासना बन जाता है। वह बीज है। उसी बीज से फिर नये जीवन की शुरुआत होगी।

इसे ऐसा समझें : एक बीज हम बोते हैं; वृक्ष बनता है। फूल खिलते हैं। फूल में फिर बीज लगते हैं। उस बीज में उसी वृक्ष का प्राण फिर से समाविष्ट हो जाता है। वह बीज नये वृक्ष का जन्म बनेगा।

तो आपने जीवन भर जो किया है, जो सोचा है, जिस भाँति आप रहे हैं, वह सब निचुड़ कर आपकी अंतिम वासना का बीज बन जाता है। वह आपके हाथ में नहीं है।

जिस आदमी ने जीवन भर धन की चिंता की हो, मरते वक्त वह धन की ही चिंता करेगा।

थोड़ा समझें। इससे विपरीत असंभव है। क्योंकि जिसके मन पर धन का विचार ही प्रभावी रहा हो, मरते समय जीवन भर का अनुभव, जीवन भर की कल्पना, जीवन भर की योजना, जीवन भर के स्वप्न--वे सब धक्का देंगे कि वह धन के सम्बन्ध में अंतिम विचार करे। इसलिए धन को पकड़ने वाला अंतिम समय में धन को ही पकड़े हुए मरेगा।

लोक कथाएँ हैं कि अगर कृपण मर जाता है, तो अपनी तिजोड़ी पर साँप बन कर बैठ जाता है। या अपने खजाने पर साँप बनकर बैठ जाता है। ये कथाएँ सार्थक हैं। वे इस बात की खबर हैं कि अंतिम क्षण में आप अपने जीवन की पूरी की पूरी निचुड़ी हुई अवस्था को बीज बना लेंगे।

तो गीता ठीक कहती है कि जो अंतिम क्षण में विचार होगा, वही आपके नये जन्म की शुरुआत होगी। लेकिन आप यह मत सोचना कि आप अंतिम क्षण में कोई विचार कर लेंगे, जिसका आपके जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह असंभव है। वह बिलकुल ही असंभव है। आप वही विचार करेंगे अंतिम क्षण में, जो आपके पूरे जीवन पर छाया रहा है। इसलिए बड़ा उपद्रव होता है।

इस तरह के वचन पढ़कर हम मन में बड़ी शांति और सांत्वना पाते हैं। हम सोचते हैं : क्या हर्ज है, करते रहो जीवनभर पाप, मरते क्षण में सोच लेंगे कि बुद्ध हो जाना है--और हो जाएँगे! जब गीता का आश्वासन है, तो बात हो ही जाएगी।

जब आप जिन्दगी में बुद्ध होना नहीं सोचते, तो मरने में आप कैसे बुद्ध होना सोच लेंगे? सच तो यह है कि जिन्दगी में आप वही सोचते हैं, जो चाहते हैं। क्योंकि जिन्दगी अवसर है। मौत तो कोई अवसर नहीं है। तो मौत के लिए तो आप वही चीजें छोड़ देते हैं, जो आप वस्तुतः चाहते नहीं। उनको मरने में कर लेंगे। बाकी जो आपको करना है, वह तो आप जिंदगी में कर लेते हैं। इसलिए हम धर्म को टालते जाते हैं और अधर्म को करते चले जाते हैं।

धर्म कोई करना नहीं चाहता, इसलिए उसे हम पोस्टपोन करते हैं। उसे हम कहते हैं : कर लेंगे बुढ़ापे में; अभी क्या जल्दी है? पाप करने की बड़ी जल्दी है! उसे अभी करना है। वह जवानी में ही हो सकता है। धर्म बुढ़ापे में कर लेंगे। अगर कोई जवान आदमी धार्मिक होने लगे या उत्सुक हो जाय, तो बुद्धिमान उसे समझाते हैं कि अभी तेरी उम्र नहीं है। अभी अधर्म कर। उनका मतलब यह है कि अभी अधर्म की उम्र है। जब तक ताकत है, तब तक अधर्म कर लो। जब ताकत न बचे, तो धर्म कर लेना। लेकिन ताकत अधर्म के लिए जरूरी है, क्या धर्म के लिए ताकत जरूरी नहीं है? जीवन अधर्म के लिए जरूरी है; शक्ति अधर्म के लिए जरूरी है। तो आप समझते हैं : धर्म कोई नपुंसकों का काम है कि उसके लिए कोई शक्ति की जरूरत नहीं है!

ध्यान रहे : जिस शक्ति से आप पाप करते हैं, वही शक्ति पुण्य बनती है। और जब शक्ति हाथ में नहीं रह जाती, तो न तो आप पाप कर सकते हैं, न पुण्य कर सकते हैं। जिस दिन आप पाप नहीं कर सकते, उस दिन आपके पास पुण्य करने की शक्ति भी नहीं रह गई।

लोग टालते चले जाते हैं : बुढ़ापे में--बुढ़ापे में...। लेकिन बुढ़ापे में भी मन नहीं भर रहा है। तो लोग कहते हैं : मरते क्षण, आखिरी क्षण भगवान् का नाम ले लेंगे। वह भी खुद नहीं ले पाते, क्योंकि आखिरी क्षण कोई तय तो नहीं है--कब होगा। इसके बाद का क्षण आखिरी हो सकता है। उसका पता तो नहीं है। आखिरी क्षण तो हो जाएगा, तभी पता चलेगा। लेकिन आप मर चुके होंगे, तो लोग इंतजाम कर लिए हैं कि हम न ले पायें--आखिरी क्षण में भगवान् का नाम, तो पुरोहित, पंडे, पंडित--कोई दूसरा भगवान् का नाम ले!

लोग मर रहे हैं, बेहोश हालत में पड़े हैं और कोई उनके कान में भगवान् का नाम ले रहा है। पाप तुमने किए भगवान् का नाम कोई और ले रहा है! अच्छा होता, तुमने पाप किसी और पर छोड़ दिये होते कि तू कर लेना मेरी तरफ से। लेकिन पाप आदमी खुद करता है। जो हम करना चाहते हैं, वह हम खुद करते हैं। जो हम नहीं करना चाहते, वह हम नौकरों पर टाल देते हैं।

मरते वक्त भगवान् का नाम कोई दूसरा आपके कान में ले रहा है। और आप तो होश में भी नहीं हैं। क्योंकि जो आदमी जिन्दगी में होश नहीं सम्हाल सका, वह मौत में कैसे होश सम्हाल सकेगा ? जिसने जिन्दगी में ध्यान सम्हाला हो, वही आदमी मृत्यु में भी होशपूर्ण हो सकता है।

आप जिन्दा रहकर होश नहीं सम्हाल सकते, मरते वक्त आप कैसे होश सम्हालेंगे ?

इसे समझ लें। क्योंकि मृत्यु की प्रक्रिया में आपके भीतर जितने जहर हैं, वे सब आपकी चेतना को घेर लेंगे और छा जाएँगे। मृत्यु मूर्च्छा में घटित होगी। कभी लाख में एकाध आदमी होश में मरता है--कभी एकाध लाख आदमी में। और वह वही आदमी है, जिसने जीवनभर ध्यान सम्हाला हो। वह होश में मरेगा। आप तो बेहोश मरेंगे।

आप जिये बेहोशी में हैं, तो मृत्यु तो बहुत बड़ा ऑपरेशन है। बड़े से बड़ा ऑपरेशन है। कोई चिकित्सक, कोई सर्जन इतना बड़ा ऑपरेशन नहीं करता।

ऑपरेशन सर्जन को करना पड़ता है, तो आपको बेहोश कर देता है। क्योंकि असह्य होगी पीड़ा। आपका हाथ काटना है, तो पहले आपको बेहोश करते हैं। जब आप बिलकुल बेहोश होते हैं, तब हड्डी निकाल पाता है। मृत्यु तो सबसे बड़ी सर्जरी है, क्योंकि आपकी पूरी आत्मा को आपके पूरे शरीर से अलग करना है। इसलिए मृत्यु तो आपको बेहोश कर ही देती है। बिना बेहोश किये आप मारे नहीं जा सकते। आप बहुत उपद्रव खड़ा करेंगे।

शरीर में ग्रंथियाँ हैं, जिनमें जहर है। साधारण रूप से भी उन ग्रन्थियों का उपयोग होता है। जब आप क्रोध से भर जाते हैं, तो आपने खयाल किया : क्रोध से भरा हुआ आदमी अपने से ताकतवर आदमी को उठाकर फेंक देता है। उसकी ग्रंथियाँ जहर छोड़ देती हैं, जिससे वह पागल हो जाता है। अगर आप क्रोध में हैं, तो आप इतनी बड़ी चट्टान को सरका सकते हैं, जो आप क्रोध में न होते, तो कभी आप से सरकने वाली न थी। आपकी ग्रंथियाँ जहर छोड़ देती हैं, उस जहर के नशे में आप कुछ भी कर सकते हैं।

क्रोध में--अब तो वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं--कि जहर छूटता है। उस जहर के प्रभाव में ही कोई हत्या कर सकता है।

भीतर ग्रंथियाँ हैं, जो आपको मूर्च्छित करती हैं। जब आप काम-वासना से भर के पागल होते हैं, तब भी आपकी ग्रंथियाँ विषाक्त द्रव्य छोड़ देती हैं। आप होश में नहीं होते, क्योंकि होश में आकर तो आप पछताते है। बड़ा पश्चात्ताप करते हैं कि फिर वही भूल की। और आप ने ही की है। और पहले भी बहुत

बार करके पछताए हैं। फिर कैसे हो गई ? जरूर आप होश में नहीं हैं।

आदमी जो भी भूलें करता है, वह बेहोशी में करता है।

मौत के क्षण में आपके शरीर की सारी विषाक्त ग्रंथियाँ पूरा विष छोड़ देती हैं। आपकी पूरी चेतना धुएँ से भर जाती है। आपको कुछ होश नहीं रहता। जब आपका शरीर आत्मा से अलग होता है, तो आप उतने ही बेहोश होते हैं, जितना सर्जरी में कोई मरीज बेहोश होता है। उससे ज्यादा।

मृत्यु के पास अपना अनेस्थेसिया है। इसलिए आप होश में मर नहीं सकते; आप बेहोशी में मरेंगे। इसी कारण तो आपको दूसरे जन्म में याद नहीं रह जाता --पिछला जन्म। क्योंकि जो बेहोशी में घटा है, उसकी याददाश्त नहीं होती।

हम बहुत बार मर चुके हैं। हजार बार, लाख बार मर चुके हैं। और हमें कुछ भी याद नहीं कि हम कभी भी मरे हैं। हमें कोई याद नहीं है पिछली मृत्यु की। और चूंकि मृत्यु की याद नहीं है, इसलिए बीच में एक गैप, एक अंतराल हो गया है। इसलिए पिछले जन्म की कोई भी याद नहीं है।

जो आदमी होश में मरेगा, उसे दूसरे जन्म में याद रहेगा--पिछला जन्म। आपको किसी को भी याद नहीं है।

तो जो होश में ही नहीं जी सकते, तो आप क्या सोचिएगा, क्या करिएगा मरते वक्त ? मौत तो घटेगी बेहोशी में ; मरने के पहले आप बेहोश हो गए होंगे, इसलिए आखिरी विचार तो बेहोश होगा। होश वाला नहीं होगा।

तो जिन्दगी भर जो आपने अचेतन में बेहोश वासनाएँ पाली हैं, वे ही आपका बीज बनेंगी। उन्हीं के सहारे आप नयी यात्रा पर निकल जाएँगे। न आपको मृत्यु की कोई याद है, न आपको जन्म की कोई याद है। आपको याद है : जब आपका जन्म हुआ ? कुछ भी याद नहीं है।

माँ के पेट में नौ महीने आप बेहोश थे। वह भी बेहोशी जरूरी है। नहीं तो बच्चे का जीना मुश्किल हो जाय। नौ महीने कारागृह हो जाय--अगर होश हो। अगर बच्चे को होश हो, तो माँ के पेट में बहुत कष्ट हो जाय। वह कष्ट झेलने योग्य नहीं है, इसलिए बेहोश है।

पैदा होने के बाद भी आपको कुछ पता नहीं कि क्या हुआ। जब आप गर्भ से बाहर आ रहे थे, आपको कुछ भी पता है ? अगर आप बहुत कोशिश करेंगे, पीछे लौटने की, तो तीन साल की उम्र, दो साल की उम्र...। बहुत जो जान सकते हैं, स्मृति कर सकते है वे भी दो साल से पीछे नहीं हट सकते हैं। दो साल तक आप ठीक होश में नहीं थे।

मरने में बेहोशी, गर्भ में बेहोशी, जन्म में बेहोशी, जन्म के बाद भी बेहोशी।

और जिसको आप जीवन कहते हैं, वह भी करीब-करीब बेहोश है। उसमें भी कुछ होश नहीं है।

मरते क्षण में तो वही व्यक्ति अपनी वासना को होशपूर्वक निर्धारित कर सकता है, जिसने जीवनभर ध्यान साधा हो।

इसे हम ऐसा समझें कि छोटी-मोटी बात में भी तो आपका वश नहीं। अपने जन्म को निर्धारित करने में आप क्या करेंगे? अगर मैं आपसे कहूँ कि चौबीस घंटे आप अशांत मत होना; इस पर भी तो आपकी मालकियत नहीं है। आप कहेंगे : अशांति आ जाएगी, तो मैं क्या करूँगा? कोई गाली दे देगा, तो मैं क्या करूँगा?

चौबीस घंटे आपसे कहा जाय कि अशांत मत होना, तो इसकी भी आपकी मालकियत नहीं है। क्षुद्र-सी बात है। अति क्षुद्र बात है। लेकिन आप सोचते हैं कि पूरे जीवन को, नये जीवन को मैं अपनी आकांक्षा के अनुकूल ढाल लूंगा।

एक मन की छोटी-सी तरंग भी आप सम्हाल नहीं सकते। अगर आपसे कहा जाय कि चौबीस घंटे आपके मन में यह विचार न आये, उस विचार को भी आने से आप रोक नहीं सकते। इतनी तो गुलामी है। और सोचते हैं कि अंतिम क्षण में, इतनी मालकियत दिखा देंगे, कि पूरे जीवन की दिशा निर्धारित करना अपने हाथ में होगा!

अपने हाथ में जरा भी तो कुछ निर्णय नहीं हो पाता। जरा-सा भी संकल्प पूरा नहीं होता। सब जगह हारे हुए हैं। लेकिन इस तरह के विचार सांत्वना देते हैं। उससे आदमी सोचता है : किये चले जाओ पाप, आखिरी क्षण में सम्हाल लेंगे। अगर सम्हालने की ही ताकत है, तो अभी सम्हालने में क्या तकलीफ है? अगर बुद्ध जैसे होने की ही बात है, तो अगले जन्म पर टालना क्यों? अभी हो जाने में कौन बाधा डाल रहा है? अगर तुम्हारे ही हाथ में है बुद्ध होना, तो अभी हो जाओ। लेकिन तुम भली-भाँति जानते हो कि अपने हाथ में नहीं दिखता, तो टालते हैं। इससे मन में राहत बनी रहती है कि कोई फिक्र नहीं, आज नहीं तो कल हो जाएँगे, कल नहीं तो परसों हो जाएँगे। और हम बहते चले जाते हैं मूर्च्छा में।

मरते क्षण में आपको कोई होश होने वाला नहीं है। जिस व्यक्ति को मरते क्षण में होश रखना हो, उसे जीवित क्षण को होश के लिए उपयोग करना होगा। और इसके पहले कि असली मृत्यु घटे आपको ध्यान में मरने की कला सीखनी होगी।

ध्यान मृत्यु की कला है। वह मरने की तरकीब है, अपने हाथ। जब शरीर अपने आप मरेगा, तब हो सकता है इतनी सुविधा भी न हो। वह घटना इतनी नयी होगी कि आप मुश्किल में पड़ जाएँगे। उस वक्त होश सम्हालना अति अड़चन का होगा। ध्यान में आप मर के पहले ही देख सकते हैं। ध्यान में आप शरीर को छोड़

सकते हैं और शरीर से अलग हो सकते हैं।

जो व्यक्ति ध्यान में मृत्यु को साधने लगता है, वह मृत्यु के आने के बहुत पहले मृत्यु से भली-भाँति परिचित हो जाता है। उसने मर के देख ही लिया है। अब मृत्यु के पास नया कुछ भी नहीं है। और जो व्यक्ति अपने को अपने शरीर से अलग करके देख लेता है, मृत्यु फिर उसे बेहोश करने की आवश्यकता नहीं मानती। फिर कोई जरूरत नहीं है।

ऐसा हुआ कि सन् १९०८ में काशी के नरेश का एक ऑपरेशन हुआ पेट का। लेकिन काशी के नरेश ने कहा कि मैं कोई बेहोशी की दवा लेने को तैयार नहीं हूँ। एपेन्डिसाइटिस का ऑपरेशन था, डॉक्टर ने कहा कि मुश्किल मामला है। बेहोश तो करना ही पड़ेगा, क्योंकि इतनी असह्य पीड़ा होगी कि अगर आप हिल गये, चिल्लाने लगे, रोने लगे, भागने लगे, तो हम क्या करेंगे? सारा खतरा हो जाएगा। जीवन का खतरा है।

लेकिन नरेश ने कहा कि 'बिलकुल चिंता मत करें। मुझे सिर्फ मेरी गीता पढ़ने दें। मैं अपनी गीता पढ़ता रहूँगा, आप ऑपरेशन करते रहना।'

कोई उपाय नहीं था। नरेश लेने को राजी नहीं था बेहोशी की कोई दवा और ऑपरेशन एकदम जरूरी था। अगर ऑपरेशन न हो, तो भी मौत हो जाय। तो फिर यह खतरा लेना उचित मालूम पड़ा। जब बिना ऑपरेशन के भी मौत हो जाएगी, तो एक खतरा लेना उचित है। ऑपरेशन करके देख लिया जाय। ज्यादा से ज्यादा मौत ही होगी, जो कि निश्चित है। लेकिन संभावना है कि बच भी जायें।

यह पहला मौका था कि चिकित्सा के इतिहास में——इतना बड़ा ऑपरेशन बिना किसी बेहोशी की दवा के किया गया।

काशी नरेश गीता का पाठ करते रहे, ऑपरेशन हो गया। ऑपरेशन पूरा हो गया। कोई कहीं अड़चन न हुई। चिकित्सक बहुत हैरान हुए। जो अंग्रेज डॉक्टर थे, जिस सर्जन ने यह ऑपरेशन किया था, वह तो चमत्कृत हो गया। उसने कहा कि, 'आप किये क्या? क्योंकि इतनी असह्य पीड़ा...!' तो काशी नरेश ने कहा, कि मैं ध्यान करता रहा कृष्ण के वचनों का——न शरीर के काटे जाने से आत्मा कटती है, न छेदे जाने से छिदती है, न जलाये जाने से जलती है। बस, मैं एक ही भाव में डूबा रहा कि मैं अलग हूँ। मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ। मैं सिर्फ साक्षी हूँ। न मुझे कोई जला सकता है, न मुझे कोई छेद सकता है; न मुझे कोई काट सकता है। यह भाव मेरा सघन बना रहा। तुम्हारे औजारों की खटपट मुझे सुनाई पड़ती रही। लेकिन ऐसे जैसे कहीं दूर फासले पर सब हो रहा है। पीड़ा भी थी, लेकिन दूर, जैसे मैं उससे अलग खड़ा हूँ। मैं देख रहा हूँ। जैसे पीड़ा किसी और

को घटित हो रही है।

अब यह जो सम्राट् है, यह मृत्यु में भी होश रख सकता है। जीवन में इसने होश का गहरा प्रयोग कर लिया है।

मृत्यु पर भरोसा न करें, जीवन पर भरोसा करें। और जीवन में साध लें, जो भी होना चाहते हों। मृत्यु पर टालें मत। वह धोखा सिद्ध होगा।

जो भी क्षण हाथ में हैं, उनका उपयोग करें। और अगर बुद्धत्व को पाना है, तो इसी घड़ी उसके श्रम में लग जायँ, क्योंकि बुद्धत्व कोई ऐसी बच्चों जैसी बात नहीं है कि आप सोच लेंगे और हो जाएगी। बहुत श्रम करना होगा, बहुत साधना करनी होगी। और तभी अंतिम क्षण में वह बीज बन जाएगा और नया जन्म उस बीज के मार्ग से अंकुरित हो सकता है।

● एक मित्र ने पूछा है: अगर सभी मनुष्य अकर्ता बन जायँ, गीता की बात को मान लें, तो जीवन में, संसार में क्या रस बाकी रह जाएगा?

अभी क्या रस है जीवन में? अभी कर्ता बने हुए हैं--गीता के विपरीत, अभी क्या रस है जीवन में? और अगर जीवन में रस है ही, तो गीता को पढ़ने की जरूरत क्या है? गीता को सुनने की क्या जरूरत है? अगर जीवन में रस ही है, तो धर्म की बात ही क्यों उठानी? परमात्मा और मोक्ष, ध्यान और समाधि की चर्चा ही क्यों चलानी?

अगर जीवन में रस है, तो बात खतम हो गई। रस की ही तो खोज है। रस ही तो परमात्मा है। बात खतम हो गई। फिर कुछ करना नहीं है। फिर और ज्यादा कर्ता हो जायँ, ताकि और ज्यादा रस मिले। और संसार में उतर जायँ, ताकि रस के और गहरे स्रोत मिल जायँ।

अगर जीवन में रहा मिल ही रस है कर्ता बन के, तो गीता वगैरह को--सबको अग्नि में आहुति कर दें। कोई आवश्यकता ही नहीं है। और कृष्ण वगैरह की बात ही मत सुनना। नहीं तो वे आपका रस नष्ट न कर दें। आप बड़े आनन्द में हैं! कहाँ इनकी बातें सुनते हैं?

लेकिन आप अगर रस में ही होते, तो यह बात ठीक थी। आपको बिलकुल रस नहीं है। दुःख में हैं--गहन दुःख में हैं। हाँ, रस की आशा बनाये हुए हैं। जब भी हैं, तब दुःख में हैं और रस भविष्य में है।

संसार में जरा भी रस नहीं है। सिर्फ भविष्य की आशा में रस है। जहाँ हैं, वहाँ तो दुःखी हैं। लेकिन सोचते हैं कि कल एक बड़ा मकान बनेगा और वहाँ आनन्द होगा। जितना है, उसमें तो दुःखी हैं। लेकिन सोचते हैं: कल ज्यादा हो जाएगा और बड़ा रस आयेगा। कल कुछ होगा, जिससे रस घटित होने वाला है।

कल की आशा में आज के दुःख को हम बिताते हैं। वह कल कभी नहीं आता। कल होता ही नहीं। जो भी है, वह आज है।

संसार आशा है। उस आशा में रस है। डर लगता होगा कि अगर साक्षी हो जाएँगे, तो फिर रस खो जाएगा। क्योंकि साक्षी होते ही भविष्य खो जाता है; वर्तमान ही रह जाता है। इसलिए सवाल तो बिलकुल सही है।

संसार में रस नहीं है, जो खो जाएगा। क्योंकि संसार में रस होता, तब तो धर्म की कोई जरूरत ही नहीं थी। संसार में दुःख है, इसलिए धर्म पैदा हो सका है। संसार में बीमारी है, इसलिए धर्म की चिकित्सा खोजी जा सकी है। अगर संसार स्वास्थ्य है, तो धर्म तो बिलकुल निष्प्रयोजन है।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने ठीक कहा है। उसने कहा है कि 'दुनिया में धर्म तब तक रहेगा, जब तक दुःख है। इसलिए अगर हमको धर्म को मिटाना है, तो दुःख को मिटा देना चाहिए।'

वह ठीक कहता है। लेकिन दुःख मिट नहीं सकता। पाँच हजार साल का इतिहास तो हमें ज्ञात है। आदमी दुःख को मिटाने की कोशिश कर रहा है। और एक दुःख मिटा भी लेता है, तो दस दुःख पैदा हो जाते हैं। पुराने दुःख मिट जाते हैं, तो नये दुःख आ जाते हैं। लेकिन दुःख नहीं मिटता।

निश्चित ही हजार साल पहले दूसरे दुःख थे, आज दूसरे दुःख हैं। कल दूसरे दुःख होंगे। हिन्दुस्थान में एक तरह का दुःख है, अमेरिका में दूसरी तरह का दुःख है। रूस में तीसरी तरह का दुःख है। लेकिन दुःख नहीं मिटता।

जमीन पर कोई भी समाज आज तक यह नहीं कह सका कि हमारा दुःख मिट गया, अब हम आनन्द में हैं। कुछ व्यक्ति जरूर कह सके हैं कि हमारा दुःख मिट गया और हम आनन्द में हैं। लेकिन वे व्यक्ति वही हैं, जिन्होंने धर्म का प्रयोग किया है।

आज तक धर्म से रहित व्यक्ति यह नहीं कह सका कि मैं आनन्द में हूँ। वह दुःख में है।

रसेल ठीक कहता है: धर्म को मिटाना हो तो दुःख को मिटा देना चाहिए। मैं भी राजी हूँ। लेकिन दुःख मगर मिट सके--तब।

दो संभावनाएँ हैं। दुःख मिट जाय, धर्म मिट जाय--एक संभावना। एक दूसरी संभावना है कि धर्म आ जाय, तो दुःख मिट जाय। रसेल पहली बात से राजी हैं। मैं दूसरी बात से राजी हूँ।

दुःख मिट नहीं सकता, लेकिन धर्म आ जाय, तो दुःख मिट सकता है। धर्म तो चिकित्सा है। वह तो जीवन से दुःख के जो-जो कारण हैं, उनको नष्ट करना है। जिस कारण से हम दुःख पैदा कर लेते हैं जीवन में, उस कारण को तोड़ देना है।

वह कारण है : कर्ता का भाव। वह कारण है कि 'मैं कर रहा हूँ'--वही दुःख का मूल है। अहंकार--मैं हूँ, वही दुःख का मूल है। उसे तोड़ते ही दुःख विलीन हो जाता है, और आनन्द की वर्षा शुरू हो जाती है।

ये मित्र कहते हैं : जीवन में रस क्या रह जाएगा ? जीवन में रस है ही नहीं : पहली बात। पर दूसरी बात सोचने जैसी है : भविष्य का जो रस है, वह जरूर खो जाएगा। साक्षी के लिए कोई भविष्य नहीं है। इसे थोड़ा समझें।

समय के हम तीन विभाजन करते हैं--अतीत, वर्तमान, भविष्य। वे समय के विभाजन नहीं हैं। समय तो सदा वर्तमान है। समय का तो एक ही टेन्स है--प्रजेन्ट। अतीत तो सिर्फ स्मृति है मन की, वह कहीं है नहीं। और भविष्य भी केवल कल्पना है मन की, वह भी कहीं है नहीं। जो समय है, वह तो सदा वर्तमान है।

आपका कभी अतीत से कोई मिलना हुआ ?--कि भविष्य से कोई मिलना हुआ ? जब भी मिलना होता है, तो वर्तमान से होता है। आप सदा अभी और यहीं--हिअर एन्ड नाउ--होते हैं। न तो आप पीछे होते हैं, न आगे होते हैं। हाँ, पीछे का खयाल आप से हो सकता है। वह आपके मान की बात है। और आगे का खयाल भी हो सकता है। वह भी मन की बात है।

लेकिन वर्तमान है; मन--अतीत और भविष्य है।

एक और मजे की बात है : अस्तित्व वर्तमान है सदा, और मन कभी वर्तमान नहीं है। मन कभी अभी और यहीं नहीं होता। इसे थोड़ा सोचें।

अगर आप पूरी तरह से यहीं होने की कोशिश करें--इसी क्षण में, भूल जायँ सारे अतीत को--जो हो चुका। वह अब नहीं है। भूल जायँ सारे भविष्य को--जो अभी हुआ नहीं है। सिर्फ यहीं रह जायँ--वर्तमान में, तो मन समाप्त हो जाएगा। क्योंकि मन को या तो अतीत चाहिए--दौड़ने के लिए, पीछे स्मृति; या भविष्य चाहिए, स्पेस चाहिए, जगह चाहिए। वर्तमान में जगह ही नहीं है। वर्तमान का क्षण इतना छोटा है कि मन को फैलने की जरा भी जगह नहीं है।

क्या करिएगा ?--अगर अतीत छीन लिया, भविष्य छीन लिया, तो वर्तमान में मन को करने को कुछ भी नहीं बचता। इसलिए ध्यान की एक गहनतम प्रक्रिया है और वह है--वर्तमान में जीना; तो ध्यान अपने आप फलित होने लगता है, क्योंकि मन समाप्त होने लगता है। मन बच ही नहीं सकता।

समय सिर्फ वर्तमान है। मन है--अतीत और भविष्य।

अगर आप साक्षी होंगे, तो वर्तमान में हो जाएँगे। भविष्य और अतीत दोनों खो जाएँगे। क्योंकि साक्षी तो उसी के हो सकते हैं--जो है। अतीत के क्या साक्षी होंगे--जो है ही नहीं ? भविष्य के क्या साक्षी होंगे--जो अभी होने को है ?

साक्षी तो उसी का हुआ जा सकता है--जो है।

साक्षी होते ही मन समाप्त हो जाता है। इसलिए भविष्य का जो रस है, वह जरूर समाप्त हो जाएगा। लेकिन आपको पता ही नहीं है कि भविष्य का रस तो समाप्त होगा, वर्तमान का आनन्द आपके ऊपर बरस पड़ेगा। और भविष्य का रस तो केवल आश्वासन है--झूठा, वह कभी नहीं होता।

इसे इस तरह सोचें : अगर आप पचास साल के हो गए हैं, तो यह पचास साल की उम्र आज से दस साल पहले भविष्य थी और दस साल पहले आपने सोचा होगा : न मालूम क्या-क्या आनन्द आनेवाला है। अब तो वह आप देख चुके हैं। वह अभी तक आनन्द आया नहीं।

बचपन से आदमी यह सोचता है : कल--कल--कल--और एक दिन मौत आ जाती है और आनन्द नहीं आता। लौटकर देखें : कोई एकाध क्षण आपको ऐसा खयाल आता है, जिसको आप कह सकें : वह आनन्द था, जिसके कारण आप कह सकें कि मेरा जीवन सार्थक हो गया ? जिसके कारण आप कह सकें कि जीवन के सब दुःख झेलने योग्य थे ? क्योंकि वह, आनन्द का एक क्षण भी मिल गया, तो सब दुःख गये। कोई नुकसान नहीं हुआ।

क्या एकाध ऐसा क्षण जीवन में आपको खयाल है, जिसके लिए आप फिर से जीने को राजी हो जायँ? आप कहें, 'यह सारी तकलीफ झेलने को मैं राजी हूँ, क्योंकि वह क्षण पाने जैसा था।' ऐसा कोई क्षण याद नहीं आता। सब बासा-बासा, सब राख-राख, सब बेस्वाद है। लेकिन आशा फिर भी टँगी है भविष्य में। मरते दम तक आशा टँगी है। उस आशा में रस मालूम पड़ता है। उस आशा में धोखा है।

साक्षी, अकर्ता के भाव में धोखे का रस उपलब्ध नहीं होता, लेकिन वास्तविक रस की वर्षा हो जाती है।

कृष्ण का जो नृत्य है, बुद्ध का जो मौन है, महावीर का जो सौन्दर्य है, वह भविष्य के रस से पैदा हुई बात नहीं है। वह वर्तमान में--अभी--यहीं उनके ऊपर घनघोर वर्षा हो रही है।

कबीर कहते हैं, 'अमृत बरस रहा है और मैं नाच रहा हूँ।' वह अमृत किसी भविष्य की बात नहीं है। वह अभी बरस रहा है। वह यहीं बरस रहा है। कबीर कहते हैं : 'देखो, मेरे कपड़े बिलकुल भीग गए हैं! मैं अमृत की वर्षा में खड़ा हूँ। बादल गरज रहे हैं और अमृत बरस रहा है। बरसेगा नहीं--बरस रहा है। देखो, मेरे कपड़े भीग रहे हैं!'

धर्म है वर्तमान की घटना, वासना है भविष्य की दौड़। अगर भविष्य में

बहुत रस मालूम पड़ता हो, तो अकर्ता बनने की कोशिश मत करना, क्योंकि बनते ही भविष्य गिर जाता है। और अगर दुःख ही दुःख पाया हो. . .। भविष्य रोज तो वर्तमान बन जाता है और दुःख लाता है। तो फिर एक दफे हिम्मत करके अकर्ता भी बनने की कोशिश करना। अकर्ता बनते ही वह द्वार खुल जाता है--इटरनिटी का--शाश्वतता का। वह वर्तमान से ही खुलता है।

वर्तमान है अस्तित्व का द्वार। अगर आप अभी और यहीं एक क्षण को भी ठहरने को राजी हो जायँ, तो आपका परमात्मा से मिलन हो सकता है। लेकिन हमारा मन बहुत होशियार है। अभी मैं बात कर रहा हूँ, मन कहेगा कि 'ठीक कह रहे हैं। घर चल के इसकी कोशिश करेंगे। (घर चल के?--भविष्य. . .।) जरा किसी दिन फुर्सत मिलेगी, तो अकर्ता बनने की भी चेष्टा करेंगे।'...भविष्य!

जो अभी हो सकता है, उसको हम कल पर टाल के वंचित हो जाते हैं। लेकिन रस तो केवल उन्हीं लोगों ने जाना है, जो वर्तमान में प्रविष्ट हो गए हैं। बाकी लोगों ने सिवाय दुःख के और कुछ भी नहीं जाना है।

बुद्ध के जीवन में उल्लेख है : बुद्ध को सभी सुख उपलब्ध थे, जो आप खोज सकते हैं। लेकिन सभी सुख उपलब्ध होने में एक खतरा हो जाता है। वह खतरा यह होता है कि भविष्य की आशा नहीं रह जाती है।

दुःख में एक सुविधा है : भविष्य में आशा रहती है। जो कार आप चाहते हैं, वह कल मिल सकती है, आज --अभी--नहीं मिल सकती। श्रम करेंगे, पैसा जुटाएँगे, चोरी करेंगे, बेईमानी करेंगे--कुछ उपाय करेंगे। कल--समय चाहिए। जो मकान आप बनाना चाहते हैं, वक्त लेगा।

लेकिन बुद्ध को एक मुसीबत हो गई, एक अभिशाप, जो वरदान सिद्ध हुआ। उनके पास सब था, इसलिए भविष्य का कोई उपाय न रहा। जो भी हो सकता है, वह सब था। महल बड़े से बड़े उनके पास थे। स्त्रियाँ सुन्दर से सुन्दर उनके पास थीं। धन--जितना हो सकता था, उनके पास था। जो भी हो सकता था उस जमाने में--श्रेष्ठतम, सुन्दरम--वह सब उनके पास था। बुद्ध मुश्किल में पड़ गए। क्योंकि आशा का कोई उपाय न रहा। खोज समाप्त हो गई। इससे बड़ा मकान नहीं हो सकता; इससे सुन्दर स्त्री नहीं हो सकती; इससे ज्यादा धन नहीं हो सकता। बुद्ध की तकलीफ यह हो गई कि उनके पास सब था, इसलिए भविष्य गिर गया। और दुःख दिखाई पड़ गया--कि सब दुःख है। वे भाग खड़े हुए।

यह बड़े मजे की बात है : सुख में से लोग जाग गए हैं, भाग गए हैं, और दुःख में चलते चले जाते हैं! सुख में लोग इसलिए भाग खड़े होते हैं कि दिखाई पड़ जाता है कि अब और तो कुछ हो नहीं सकता। जो हो सकता था, हो गया है--

और कुछ हुआ नहीं। और भीतर दुःख ही दुःख है। भविष्य कुछ है नहीं। आशा बँधती नहीं। आशा टूट जाती है। आशा के सब सेतु गिर गए। बुद्ध भाग गए।

जब बुद्ध भाग रहे हैं, तो उनका सारथी उनसे कहता है कि 'आप क्या पागलपन कर रहे हैं!' सारथी गरीब आदमी है। उसको अभी आशाएँ हैं। वह प्रधान सारथी हो सकता है। अभी राजकुमार का सारथी है। अभी बड़ी आशाएँ हैं। वह बुद्ध को कहता है: 'मैं बूढ़ा आदमी हूँ; मैं तुम्हें समझाता हूँ; तुम गलती कर रहे हो। तुम नासमझी कर रहे हो। तुम यौवन की भूल में हो। लौट चलो। इतने सुन्दर महल कहाँ मिलेंगे? इतनी सुन्दर पत्नियाँ कहाँ मिलेंगी? इतना सुन्दर पुत्र कहाँ पाओगे? तुम्हारे पास सब कुछ है, तुम कहाँ भागे जा रहे हो!'

वह सारथी और बुद्ध के बीच जो बातचीत है. . .। वह सारथी गलत नहीं कहता। वह अपने हिसाब से कहता है। उसको अभी आशाओं का जाल आगे खड़ा है : ये महल अभी उसे भी मिल सकते हैं भविष्य में। ये सुन्दर स्त्रियाँ वह भी पा सकता है। अभी दौड़ कायम है। उसे बुद्ध बिलकुल नासमझ मालूम पड़ते हैं--कि यह लड़का बिलकुल नासमझ है। यह बच्चों जैसी बात कर रहा है। जहाँ जाने के लिए सारी दुनिया कोशिश कर रही है, वहाँ से यह भाग रहा है!

आखिरी क्षण में भी वह कहता है, 'एक बार मैं तुमसे फिर कहता हूँ : लौट चलो। महलों में वापस लौट चलो।' तो बुद्ध कहते हैं : 'तुझे महल दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि तू महलों में नहीं है। मुझे वहाँ सिर्फ आग की लपटें और दुःख दिखाई पड़ता है। क्योंकि मैं वहाँ से आ रहा हूँ। मैं उनमें रहकर आ रहा हूँ। तू उनके बाहर है। इसलिए तुझे कुछ पता नहीं है। तू मुझे समझाने की कोशिश मत कर।'

बुद्ध महल छोड़ देते हैं। और वे छः वर्ष तक बड़ी कठिन तपश्चर्या करते हैं--परमात्मा को, सत्य को, मोक्ष को पाने की। लेकिन छः वर्ष की कठिन तपश्चर्या में भी न मोक्ष मिलता, न परमात्मा मिलता, न आत्मा मिलती।

बुद्ध की कथा बड़ी अनूठी है। छः वर्ष वे, जो भी कहा जाता है, करते हैं। जो भी साधना पद्धति बताई जाती है, करते हैं। उनसे गुरु घबड़ाने लगते हैं। अकसर शिष्य गुरु से घबड़ाते हैं, क्योंकि गुरु जो कहता है, वे नहीं कर पाते। लेकिन बुद्ध से गुरु घबड़ाने लगते हैं। गुरु उनको कहते हैं कि 'बस, जो भी हम सिखा सकते थे, सिखा दिया और तुमने सब कर लिया।' और बुद्ध कहते हैं कि 'आगे बताओ।' क्योंकि अभी कुछ भी नहीं हुआ।' तो वे कहते हैं, 'अब तुम कहीं और जाओ।'

जितने गुरु उपलब्ध थे, बुद्ध सब के पास घूम कर सबको थका डालते हैं। छः वर्ष बाद निरंजना नदी के किनारे वृक्ष के नीचे वे थक कर बैठे हैं। यह थकान बड़ी गहरी है। एक थकान तो महलों की थी -- कि महल व्यर्थ हो गए थे। महल तो

व्यर्थ हो गए थे, क्योंकि महलों में कोई भविष्य नहीं था।

इसे थोड़ा समझें; यह बारीक है। महलों में कोई भविष्य नहीं था। सब था पास में, आगे कोई आशा नहीं थी। जब उन्होंने महल छोड़े तो आशा फिर बँध गई; भविष्य खुला हो गया। अब मोक्ष, परमात्मा, आत्मा, शांति, आनन्द—इनके भविष्य की मंजिलें बन गईं। अब वे फिर दौड़ने लगे। वासना ने फिर गति पकड़ ली। अब वे साधना कर रहे थे, लेकिन वासना जग गई। क्योंकि वासना भविष्य के कारण जगती है। वासना है—मेरे और भविष्य के बीच जोड़। अब वे फिर दौड़ने लगे।

ये छः वर्ष—तपश्चर्या के वर्ष—वासना के वर्ष थे। मोक्ष पाना था। और आज मिल नहीं सकता। भविष्य में था। इसलिए सब कठोर उपाय किये, लेकिन मोक्ष नहीं मिला। क्योंकि मोक्ष तभी मिलता है, जब दौड़ सब समाप्त हो जाती है। भीतर का शून्य तो तभी उपलब्ध होता है—या पूर्ण तभी उपलब्ध होता है—जब सब वासना गिर जाती है।

यह भी वासना थी कि ईश्वर को पा लूँ, सत्य को पा लूँ।

जो चीज भी भविष्य की माँग करती है, वह वासना है।

ऐसा समझ लें कि जिस विचार के लिए भी भविष्य की जरूरत है, वासना है।

तो बुद्ध उस दिन थक गए। यह थकान दोहरी थी। महल बेकार हो गए। अब साधना भी बेकार हो गई। अब वे वृक्ष के नीचे थक कर बैठे थे। उस रात उनको लगा : अब करने को कुछ भी नहीं बचा। महल जान लिए। साधना की पद्धतियाँ जान लीं। कहीं कुछ पाने को नहीं है। यह थकान बहुत गहरी उतर गई—कहीं कुछ पाने को नहीं। इस विचार ने—कि कहीं कुछ पाने को नहीं है, स्वभावतः दूसरे विचार को भी जन्म दिया—कि कुछ करने को नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें।

जब कुछ पाने को नहीं है, तो करने को क्या बचता है? जब तक पाने को है, तब तक करने को बचता है। बुद्ध को लगा कि अब कुछ न पाने को है, न कुछ करने को है। वे उस रात खाली रह गए—उस वृक्ष के नीचे। नींद कब आ गई, उन्हें कुछ पता नहीं।

सुबह जब रात का आखिरी तारा डूबता था, तब उनकी आँखें खुलीं। आज कुछ भी करने को नहीं था। न महल, न संसार, न मोक्ष, न आत्मा—कुछ भी करने को नहीं था। उनकी आँखें खुलीं। भीतर कोई वासना नहीं थी। आज उन्हें यह भी खयाल नहीं था कि उठकर कहाँ जाऊँ। उठकर क्या करूँ। उठने का भी

क्या प्रयोजन? आज कोई बात बाकी न रही थी! वे थे; आखिरी डूबता हुआ तारा था; सुबह का सन्नाटा था; निरंजना नदी का तट था। और बुद्ध को ज्ञान उपलब्ध हो गया। जो साधना से न मिला, दौड़ कर न मिला, वह उस सुबह रुक जाने से मिल गया। कुछ किया नहीं—और मिल गया!

बुद्ध कुछ कर नहीं रहे थे, उस क्षण में क्या हुआ? उस क्षण में वे साक्षी हो गए। जब कोई कर्ता नहीं होता, तो साक्षी हो जाता है। और जब तक कोई कर्ता होता है, तब तक साक्षी नहीं हो पाता। उस क्षण को देखने में बुद्ध समर्थ हो गए। कुछ करने को नहीं था। इसलिए करने की कोई वासना मन में नहीं थी। कोई द्वन्द्व, कोई तनाव, कोई तरंग—कुछ भी नहीं था। मन बिलकुल शून्य था, जैसे नदी में कोई लहर न हो। इस लहरहीन अवस्था में परम आनन्द उन पर बरस गया।

शांत होते ही आनन्द बरस जाता है। मौन होते ही आनन्द बरस जाता है। रुकते ही मंजिल पास आती है। दौड़ते हैं—मंजिल दूर जाती है। रुकते हैं—मंजिल पास आ जाती है।

यह कहना ठीक नहीं है कि रुकते ही मंजिल पास आ जाती है। रुकते ही आप पाते हैं कि आप ही मंजिल हैं। कहीं जाने की कोई जरूरत नहीं थी। जा रहे थे, इसलिए चूक रहे थे। खोज रहे थे, इसलिए खो रहे थे। रुक गए और पा लिया।

एक आखिरी प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है कि क्या बिना साधना किये अकस्मात—आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता?

कठिन है सवाल, लेकिन जो मैं अभी कह रहा था, उससे जोड़कर समझेंगे तो आसान हो जाएगा।

'क्या अकस्मात आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता?'

पहली तो बात : जब भी आत्म-साक्षात्कार होता है, तो अकस्मात ही होता है। जब भी आत्मा का अनुभव होता है, तो अकस्मात ही होता है। लेकिन इसका मतलब आप यह मत समझना कि उसके लिए कुछ भी करना नहीं पड़ता है। आपके करने से नहीं होता, लेकिन आपका करना जरूरी है।

इसे ऐसा समझें कि आपको किसी मित्र का नाम भूल गया है। और आप चेष्टा करते हैं याद करने की। और जितनी चेष्टा करते हैं, उतना ही कुछ याद नहीं आता। और ऐसा भी लगता है कि बिलकुल जबान पर रखा है। अब जबान पर ही रखा है, तो निकाल क्यों नहीं देते? लेकिन पकड़ में नहीं आता। और जितनी कोशिश पकड़ने की करते हैं, उतना ही बचता है, भागता है। और भीतर कहीं—

एहसास भी होता है कि मालूम है। यह भी एहसास होता है कि अभी आ जायेगा। और फिर भी पकड़ में नहीं आता। फिर आप थक जाते हैं। फिर आप थक के बगीचे में जाकर गड्ढा खोदने लगते हैं। या उठा कर अखबार पढ़ने लगते हैं। या सिगरेट पीने लगते हैं। या रेडियो खोल देते हैं। या कुछ भी करने लगते हैं। या लेट जाते हैं। और थोड़ी देर में अचानक जैसे कोई बबूले की तरह वह नाम उठकर आपके मुँह पर आ जाता है। और आप कहते हैं कि 'देखो, मैं कहता था, जबान पर रखा है। अब आ गया।' लेकिन इसमें दो बातें समझ लेनी जरूरी हैं।

आपने जो कोशिश की, उसके कारण आया नहीं है। लेकिन अगर आपने कोशिश न की होती, तो भी न आता। यह जरा जटिल है।

आपने कोशिश की उसके कारण नहीं आया है, क्योंकि कोशिश में तनाव हो जाता है। तनाव के कारण मन संकीर्ण हो जाता है; दरवाजा बंद हो जाता है। आप इतने उत्सुक हो जाते हैं लाने के लिए कि उस उत्सुकता के कारण ही उपद्रव पैदा हो जाता है। भीतर सब तन जाता है। नाम के आने के लिए आपका शिथिल होना जरूरी है, ताकि नाम ऊपर आ सके, उसका बबूला आप तक आ जाय।

लेकिन आपने जो चेष्टा की है, वह अगर आप चेष्टा ही न करें, तो बबूले की आने की कोई जरूरत नहीं रह जाती।

इसका अर्थ यह हुआ कि चेष्टा करना जरूरी है और फिर चेष्टा छोड़ देना भी जरूरी है। यही आध्यात्मिक साधना की सबसे कठिन बात है। यहाँ कोशिश भी करनी पड़ेगी और एक सीमा पर कोशिश को छोड़ भी देना पड़ेगा। कोशिश करना जरूरी है और छोड़ देना भी जरूरी है।

इसे ऐसा भी समझें, कि आप एक सीढ़ी पर चढ़ते हैं। अगर कोई मुझसे पूछे कि क्या मैं सीढ़ियों पर चढ़ने से मंजिल पर पहुँच जाऊँगा, छत पर पहुँचा जा सकता है? या बिना सीढ़ी चढ़े भी छत पर पहुँचा जा सकता है? तो मेरी वही दिक्कत होगी, जो इस सवाल में हो रही है।

मैं आपसे कहूँगा कि सीढ़ियों पर चढ़ना जरूरी है और फिर सीढ़ियों को छोड़ देना भी जरूरी है। सीढ़ी पर बिना चढ़े कोई छत पर नहीं पहुँच सकता। और कोई सीढ़ियों पर ही चढ़ता रहे, और सीढ़ियों पर ही रुका रहे, तो भी छत पर नहीं पहुँच सकता। सीढ़ियों पर चढ़ना होगा और एक जगह आयेगी, जहाँ सीढ़ियाँ छोड़कर छत पर जाना होगा।

आप कहें कि जिस सीढ़ी पर हम चढ़ रहे थे, उसी पर चढ़ते रहेंगे, तो फिर आप छत पर कभी नहीं पहुँच पायेंगे। सीढ़ियों पर चढ़ो भी और सीढ़ियों को छोड़ भी दो।

आध्यात्मिक साधना सीढ़ियों जैसी है। उस पर चढ़ना भी जरूरी है, उससे उतर जाना भी जरूरी है। उदाहरण के लिए अगर आप कोई जप का प्रयोग करते हैं, राम का जप करते हैं, तो ध्यान रहे: जब तक राम का जप न छूट जाय, तब तक राम से मिलन न होगा। लेकिन छोड़, तो वही सकता है, जिसने किया हो।

कुछ ना-समझ कहते हैं कि 'तब तो बिलकुल ठीक ही है; हम अच्छी हालत में ही हैं। छोड़ने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि कभी हमने किया ही नहीं।' वे सीढ़ी के नीचे खड़े हैं। छोड़ने वाला सीढ़ी को ऊपर से छोड़ेगा। उन दोनों के तलों में फर्क है।

साधना बुद्ध ने छः वर्ष की। बौद्ध चिंतन, बौद्ध धारा निरंतर सवाल उठाती रही है कि बुद्ध ने छः वर्ष साधना की, तप किया, उस तप से सत्य मिला या नहीं? एक उत्तर है--कि उस तप से नहीं मिला; छः वर्ष की मेहनत से कुछ भी नहीं मिला। मिला तो तब, जब तप छोड़ दिया। तो एक वर्ग है बौद्धों का, जो कहता है कि बुद्ध को तप से कुछ भी नहीं मिला, इसलिए तप व्यर्थ है। लेकिन जो ज्यादा बुद्धिमान वर्ग है, वह कहता है: तप से नहीं मिला; लेकिन फिर भी मिला, वह तप पर आधारित है। वह तप के बिना भी नहीं मिलेगा।

आप जाकर बैठ जायँ--निरंजना नदी के किनारे। वह झाड़ अभी लगा हुआ है। आप वैसे ही जाकर मजे से उसके नीचे बैठ जायँ। सुबह आखिरी तारा अब भी डूबता है। सुबह आप आँख खोल लेना। अलार्म की घड़ी लगा लेना--ठीक वक्त पर आँख खुल जाएगी। आप तारे को देख लेना और बुद्ध हो जाना!

आप बुद्ध नहीं हो पायेंगे। वह छः वर्ष की दौड़ इस बैठने के लिए जरूरी है। यह आदमी इतना दौड़ा था, इसलिए बैठ सका। आप दौड़े ही नहीं हैं, तो बैठेंगे कैसे?

इसे हम ऐसा समझें कि एक आदमी दिन भर मेहनत करता है, तो रात गहरी नींद में सो जाता है। नींद उलटी है। दिन भर मेहनत करता है, रात गहरी नींद में सो जाता है। आप कहते हैं कि मुझे नींद क्यों नहीं आती? आप दिन भर आराम कर रहे हैं और फिर रात नींद नहीं आती, तो आप सोचते हैं कि मुझे तो और नींद आनी चाहिए। मैं तो नींद का दिन भर अभ्यास करता हूँ और यह आदमी तो दिन भर मेहनत करता है। नींद के अभ्यास का इसे मौका ही नहीं मिलता और मैं तो दिन भर अभ्यास करता हूँ। आँख बंद कर के सोफे पर पड़ा ही रहता हूँ। करवट बदलता रहता हूँ। और इसको नींद आ जाती है--जिसने दिन में बिलकुल अभ्यास नहीं किया। और मुझे नींद रात बिलकुल नहीं आती--जिसने कि दिन भर का अभ्यास किया है! यह कैसा अन्याय हो रहा है जगत् में?

आपको खयाल नहीं है कि जिसने दिन भर मेहनत की है, वही विश्राम का हकदार हो जाता है। विश्राम मेहनत का फल है। मेहनत करना जरूरी है। विश्राम तभी उपलब्ध होता है, जब उसके पहले श्रम से गुजरा हो।

जो आदमी बुद्ध की तरह गहरी तपश्चर्या में दौड़ता है, वह अगर किसी दिन थक कर बैठ जाएगा, तो उसके बैठने का गुण-धर्म अलग है। वह आप जैसा नहीं बैठा है। आप बैठे हुए भी चल रहे हैं। आप भी उसी बोधिवृक्ष के नीचे बैठ सकते हैं, मगर आपका मन चलता ही रहेगा; आपका मन योजनाएँ बनाता रहेगा। सुबह का तारा भी डूब रहा होगा, तब भी आपके भीतर हजार चीजें खड़ी होंगी। वहाँ कोई मौन नहीं हो सकता। जब तक वासना है, तब तक मौन नहीं हो सकता।

बुद्ध की दौड़ से सत्य नहीं मिला--यह ठीक है। लेकिन बुद्ध की दौड़ से ही सत्य मिला--यह भी उतना ही ठीक है।

इस द्वन्द्व को ठीक से आप समझ लेंगे, तो इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।

आत्म-साक्षात्कार तो सदा अकस्मात ही होता है, क्योंकि उसका कोई प्रिडिक्शन नहीं हो सकता, कोई भविष्य-वाणी नहीं हो सकती कि कल सुबह ग्यारह बजे आपको आत्म-साक्षात्कार हो जाएगा।

आपकी मौत की भविष्य-वाणी हो सकती है। आपकी बीमारी की भविष्य-वाणी हो सकती है। सफलता असफलता की भविष्य-वाणी हो सकती है। आत्म-साक्षात्कार की कोई भविष्य-वाणी नहीं हो सकती, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार इतनी अनूठी घटना है, और कार्य-कारण से इतनी मुक्त है कि उसके लिए कोई गणित नहीं बिठाया जा सकता।

आत्म-साक्षात्कार तो अकस्मात ही होगा। और कभी-कभी ऐसे क्षणों में हो जाता है, जिनको आप सोच भी नहीं सकते कि इस क्षण में और आत्म-साक्षात्कार होगा। लेकिन अगर आप इसका यह मतलब समझ लें कि साधना करनी जरूरी नहीं है, (अकस्मात जब होना है, हो जाएगा।) तो कभी भी नहीं होगा। साधना जरूरी है।

साधना जरूरी है--आपको तैयार करने के लिए। आत्म-साक्षात्कार साधना से नहीं आता, लेकिन आप तैयार होते हैं, आप योग्य बनते हैं, आप पात्र बनते हैं, आप खुलते हैं। और जब आप योग्य और पात्र हो जाते हैं, तो आत्म-साक्षात्कार की घटना घट जाती है।

इस फर्क को ठीक से खयाल में ले लें।

आप परमात्मा को साधना से नहीं ला सकते। वह तो मौजूद है। साधना से सिर्फ आप अपनी आँख खोलते हैं। साधना से सिर्फ अपने को तैयार करते हैं।

परमात्मा तो मौजूद है; उसको पाने का कोई सवाल नहीं है।

ऐसा समझें कि आप अपने घर में बैठे हैं। सूरज निकल गया है। सुबह है। और आप सब तरफ से द्वार-दरवाजे बंद किये अंदर बैठे हैं। सूरज आपके दरवाजे को तोड़कर भीतर नहीं आयेगा। लेकिन दरवाजे पर उसकी किरणें रुकी रहेंगी। आप चाहें कि जाकर बाहर सूरज की रोशनी को गठरी में बांध कर भीतर ले आयें, तो भी आप न ला सकेंगे। गठरी भीतर आ जाएगी, रोशनी बाहर की बाहर रह जाएगी। लेकिन आप एक काम कर सकते हैं कि दरवाजे खुले छोड़ दें और सूरज भीतर चला आयेगा।

न तो सूरज को जबरदस्ती भीतर लाने का कोई उपाय है। और न सूरज जबरदस्ती अपनी तरफ से भीतर आता है। आप क्या कर सकते हैं?

एक मजेदार बात है: आप सूरज को भीतर नहीं ला सकते, लेकिन बाहर रोक सकते हैं। आप दरवाजा बंद रखें, तो भीतर नहीं आयेगा। आप दरवाजा खोल दें, तो भीतर आयेगा।

ठीक परमात्मा ऐसा ही मौजूद है, और जब तक आप अपने विचारों में बंद अपने मन से घिरे, मुरदे की तरह हैं, एक कब्र में चारों तरफ दीवालों से घिरे हुए--एक कारागृह में; वासनाओं का, विचारों का स्मृतियों का, कारागृह; आशाओं का, अपेक्षाओं का कारागृह जब तक है, तब तक परमात्मा से आपका मिलन नहीं हो पाता। जिस क्षण यह कारागृह आपसे गिर जाता है, जिस क्षण...। जैसे वस्त्र गिर जायें, और आप नग्न हो गए, ऐसे ही सारे विचार-वासनाओं के वस्त्र गिर गए और आप नग्न हो गए--अपनी शुद्धता में, उसी क्षण आपका मिलन हो जाता है।

साधना आपको निखारती है, परमात्मा को नहीं मिलाती। लेकिन जिस दिन आप निखर जाते हैं...। और कोई नहीं कह सकता कि कब आप निखर जाते हैं, क्योंकि इतनी अनहोनी घटना है कि कोई मापदण्ड नहीं है। और जाँचने का कोई उपाय नहीं है। कोई दिशा-सूचक यंत्र नहीं है। कोई नक्शा नहीं है--अनचार्टेड है। यात्रा बिलकुल ही नक्शेरहित है।

आपके पास कुछ भी नहीं है कि आप पता लगायें कि कहाँ पहुँच गए--निन्यानवे डिग्री पर पहुँच गए--कि साढ़े निन्यानवे डिग्री पर पहुँच गए--कि कब सौ डिग्री हो जाएगी; कब आप भाप बन जाएँगे। यह तो जब आप बन जाते हैं, तभी पता चलता है कि बन गए। वह आदमी पुराना समाप्त हो गया और एक नयी चेतना का जन्म हो गया।

अकस्मात--अचानक विस्फोट हो जाता है। लेकिन उस अकस्मात विस्फोट के पहले लम्बी यात्रा है साधना की।

जब पानी भाप बनता है, तो सौ डिग्री पर अकस्मात बन जाता है। लेकिन आप यह मत समझना कि निन्यानबे डिग्री पर, अट्ठानबे डिग्री पर भी अकस्मात बन जाएगा। सौ डिग्री पर पहुँचेगा, तो एकदम से भाप बन जाएगा। लेकिन सौ डिग्री तक पहुँचने के लिए जो गरमी की जरूरत है, वह साधना जुटाएगी। इसलिए हमने साधना को तप कहा है। तप का अर्थ है: गरमी। तपाना है स्वयं को और एक ऐसी स्थिति में ले आना है, जहाँ परमात्मा से मिलन हो सकता है।

बुद्ध उस रात उस जगह आ गए, जहाँ सौ डिग्री पूरी हो गई। फिर आग देने की कोई जरूरत भी न रही। वे टिक कर उस वृक्ष से बैठ गए। उन्होंने तप भी छोड़ दिया। लेकिन घटना सुबह हो गई।

जीवन के परम रहस्य अकस्मात घटित होते हैं। लेकिन उन अकस्मात घटित होने वाले रहस्यों की भी बड़ी पूर्व भूमिका है।

अब हम सूत्र को लें।

'हे अर्जुन, जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारयुक्त प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान-नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।'

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि एक सुबह रास्ते से निकलते वक्त, वर्षा के दिन थे' और रास्ते के किनारे जगह-जगह डबरे हो गये थे और पानी भर गया था। कुछ डबरे गंदे थे। कुछ डबरों में जानवर स्नान कर रहे थे। कुछ डबरे शुद्ध थे। कुछ डबरे बिलकुल स्वच्छ थे। किन्हीं के पोखर का पानी बड़ा स्वच्छ-साफ था। किन्हीं का बिलकुल गंदा था। और सुबह का सूरज निकला। रवीन्द्रनाथ ने कहा कि 'मैं घूमने निकला था। मुझे एक बात बड़ी हैरान कर गई और अकस्मात वह बात मेरे हृदय के गहरे से गहरे अन्तस्तल को स्पर्श करने लगी।

'देखा मैंने कि सूरज एक है; गंदे डबरे में भी उसी का प्रतिबिम्ब बन रहा है, स्वच्छ पानी में भी उसी का प्रतिबिम्ब बन रहा है। और यह भी खयाल में आया कि गंदे डबरे में जो प्रतिबिम्ब बन रहा है, वह गंदे पानी की वजह से गंदा नहीं हो रहा है। प्रतिबिम्ब तो वैसा का वैसा ही निष्कलुष है। सूरज का जो प्रतिबिम्ब बन रहा है, वह तो वैसा का वैसा निर्दोष और पवित्र है। और शुद्ध जल में भी उसका प्रतिबिम्ब बन रहा है। वे प्रतिबिम्ब दोनों बिलकुल एक जैसे हैं। गंदगी जल में हो सकती है, डबरे में हो सकती है, लेकिन प्रतिबिम्ब की शुद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ रहा है। और फिर एक ही सूर्य न मालूम कितने डबरों में--करोड़ों-करोड़ों डबरों में पृथ्वी पर प्रतिबिम्बित हो रहा होगा।'

कृष्ण कहते हैं: जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा, एक ही चैतन्य समस्त जीवन को आच्छादित किये हुए है।

वह जो आपके भीतर चैतन्य की ज्योति है, और वह जो मेरे भीतर चैतन्य की ज्योति है, और वह जो वृक्ष के भीतर चैतन्य की ज्योति है, वह एक ही प्रकाश के टुकड़े हैं, एक ही प्रकाश की किरणें हैं।

प्रकाश एक है, उसका स्वाद एक है। उसका स्वभाव एक है। दीये अलग-अलग हैं। कोई मिट्टी का दीया है; कोई सोने का दीया है, लेकिन सोने के दीये में जो प्रकाश होता है, वह कुछ कीमती नहीं हो जाता। और मिट्टी के दीये में जो प्रकाश होता है, वह कोई कम कीमती नहीं हो जाता। और मिट्टी के दीये की ज्योति को अगर आप जाँचें और सोने के दीये की ज्योति को जाँचें तो उन दोनों का स्वभाव एक है।

चैतन्य एक है। उसका स्वभाव एक है। वह भाव है--साक्षी होना; वह स्वभाव है--जानना, वह स्वभाव है--दर्शन की क्षमता।

प्रकाश का क्या स्वभाव है?--अँधेरे को तोड़ देना। जहाँ कुछ न दिखाई पड़ता हो, वहाँ सब कुछ दिखाई पड़ने लगे। चैतन्य का स्वभाव है, देखने की, जागने की क्षमता; दर्शन की--ज्ञान की क्षमता। वह भी भीतरी प्रकाश है। उस प्रकाश में सब कुछ दिखाई पड़ने लगता है।

खतरा एक ही है कि जब भीतर दीया हमारा जलता है और हमें चीजें दिखाई पड़ने लगती हैं, तो हम चीजों को स्मरण रख लेते हैं और जिसमें दिखाई पड़ती हैं, उसे भूल जाते हैं। यह विस्मरण संसार है। जो दिखाई पड़ता है, उसे पकड़ने दौड़ पड़ते हैं। और जिसमें दिखाई पड़ता है, उसका विस्मरण हो जाता है।

जिस चैतन्य के कारण हमें सारा संसार दिखाई पड़ रहा है, उस चैतन्य को हम भूल जाते हैं। और वह जो दिखाई पड़ता है, उसके पीछे चल पड़ते हैं। इसी यात्रा में हम जन्मों-जन्मों भटके हैं।

कृष्ण कहते हैं सूत्र--इससे जागने का। वह सूत्र है कि हम उसका स्मरण करें, जिसको दिखाई पड़ रहा है। जो दिखाई पड़ता है, उसे भूलें। जिसको दिखाई पड़ता है, उसको स्मरण करें। विषय भूल जाय, और वह जो भीतर बैठा हुआ द्रष्टा है, वह स्मरण में आ जाय। यह स्मृति ही क्षेत्रज्ञ में स्थापित कर देती है। यह स्मृति ही क्षेत्र से तोड़ देती है।

सारा विचार कृष्ण का इन दो शब्दों के बीच चल रहा है: क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। यह वह जो जानने वाला है वह--और जो जाना जाता है वह। जाना जो जाता है, वह संसार है। और जो जानता है, वह परमात्मा है।

यह परमात्मा अलग-अलग नहीं है। यह हम सब के भीतर एक है। लेकिन हमें अलग-अलग दिखाई पड़ता है, क्योंकि हम भीतर तो कभी झाँक कर देखे नहीं। हमने केवल शरीर की सीमा देखी है।

मेरा शरीर अलग है। आपका शरीर अलग है। स्वभावतः वृक्ष का शरीर अलग है। तारों का शरीर अलग है। पत्थर का शरीर अलग है। तो शरीर हमें दिखाई पड़ते हैं, इसलिए खयाल होता है कि जो भीतर छिपा है, वह भी अलग है।

एक बार हम अपने भीतर देख लें और हमें पता चल जाय कि शरीर में जो छिपा है, शरीर से जो घिरा है, वह अशरीरी है। पदार्थ जिसकी सीमा बनाता है, वह पदार्थ नहीं है। सब सीमाएँ टूट गईं। फिर सब शरीर खो गए। फिर सब आकृतियाँ विलुप्त हो गईं और निराकार का स्मरण होने लगा। इस सूत्र में उसी निराकार का स्मरण है।

'हे अर्जुन, जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकारयुक्त प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्मा जन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।'

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को . . .' बहुत बारीक भेद है और जरा में भूल जाता है। क्योंकि जिसे हम देख रहे हैं, उसे देखना आसान है। और जो देख रहा है, उसे देखना मुश्किल है। अपने को ही देखना मुश्किल है। इसलिए बार-बार दृष्टि पदार्थों पर अटक जाती है। बार-बार कोई विषय, कोई वासना, कुछ पाने की आकांक्षा पकड़ लेती है। चारों तरफ बहुत कुछ है।

गुरजिएफ कहा करता था कि जो व्यक्ति सेल्फ रिमेम्बरिंग स्व-स्मृति को उपलब्ध हो जाता है, उसे फिर पाने को कुछ नहीं रह जाता। सॉक्रेटीज ने कहा है कि स्वयं को जान लेना सब कुछ है; स्वयं को जान लेना सब कुछ जान लेना है। मगर यह स्वयं को जानने की कला है। और वह कला है : क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद। वह कला है : सदा जो दिखाई पड़ रहा है, उससे अपने को अलग कर लेना। इसका अर्थ गहरा है।

इसका अर्थ यह है कि आपको मकान दिखाई पड़ता है, तो अलग कर लेने में कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन आपको अपना शरीर भी दिखाई पड़ता है। यह हाथ मुझे दिखाई पड़ता है। तो जिस हाथ को मैं देख रहा हूँ, निश्चित ही उस हाथ से मैं अलग हो गया। और तब आँख बंद करके कोई देखे, तो अपने विचार भी दिखाई पड़ते हैं। अगर आँख बंद करके शांत होकर देखें, तो आपको दिखाई पड़ेगी : विचारों की कतार—ट्रैफिक की तरह चल रही है। एक विचार आया, दूसरा विचार

आया, तीसरा विचार आया। भीड़ लगी है—विचारों की। इनको भी अगर आप देख लेते हैं, तो इसका मतलब हुआ कि ये भी क्षेत्र हो गए।

'जो भी देख लिया गया, वह मुझसे अलग हो गया'—यह सूत्र है साधना का। जो भी मैं देख लेता हूँ, वह मैं नहीं हूँ। और मैं उसकी तलाश करता रहूँगा, जिसको मैं देख नहीं पाता हूँ। उसका मुझे पता उसी दिन चलेगा, जिस दिन देखनेवाली कोई भी चीज मेरे सामने न रह जाय।

संसार से आँख बंद कर लेनी बहुत कठिन नहीं है। आँख बंद हो जाती है, संसार बंद हो जाता है। लेकिन संसार के प्रतिबिम्ब भीतर छूट गए हैं, वे चलते रहते हैं। फिर उनसे भी अपने को तोड़ लेना है। और तोड़ने की कला यही है कि मैं आँख गड़ा कर देखता रहूँ—सिर्फ देखता रहूँ। और इतना ही स्मरण रखूँ कि जो भी मुझे दिखाई पड़ जाय, वह मैं नहीं हूँ।

धीरे-धीरे-धीरे विचार भी खो जाएँगे। जैसे-जैसे यह धार तलवार की गहरी होती जाएगी, प्रखर होती जाएगी, और मेरे काटने की कला साफ होती जाएगी—कि जो भी मुझे दिखाई पड़ जाय, वह मैं नहीं हूँ—एक घड़ी ऐसी आती है, जब कुछ भी दिखाई पड़ने को शेष नहीं रह जाता है। वही ध्यान की घड़ी है। उसको शून्य कहा जाता है, क्योंकि कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

लेकिन अगर शून्य दिखाई पड़ता है, तो वह भी मैं नहीं हूँ—यह खयाल रखना जरूरी है। क्योंकि ऐसे बहुत से ध्यानी भूल में पड़ गए हैं। क्योंकि जब कोई भी विषय नहीं बचता, तो वे कहते हैं : शून्य रह गया।

बौद्धों का एक शून्यवाद है। नागार्जुन ने उसकी प्रस्तावना की है। और नागार्जुन ने कहा है कि 'सब कुछ शून्य है।' यह भी भूल है। यह आखिरी भूल है। क्योंकि शून्य बचा। लेकिन तब शून्य भी एक आब्जेक्ट बन गया। यदि मैं शून्य को देख रहा हूँ, तो निश्चित ही मैं शून्य भी नहीं हो सकता।

जो भी मुझे दिखाई पड़ जाता है, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो वह हूँ—जिसको दिखाई पड़ता है। इसलिए पीछे-पीछे सरकते जाना है। एक घड़ी ऐसी आती है, जब शून्य से भी मैं अपने को अलग कर लेता हूँ।

जब शून्य दिखाई पड़ता है, तब ध्यान की अवस्था है। कुछ लोग ध्यान में ही रुक जाते हैं, तो शून्य को पकड़ लेते हैं। जब शून्य को भी कोई छोड़ देता है, शून्य को छोड़ते ही सारा आयाम बदल जाता है। फिर कुछ भी नहीं बचता। संसार तो खो गया, विचार खो गए, शून्य भी खो गया। फिर कुछ भी नहीं बचता। फिर सिर्फ जानने वाला ही बच रहता है।

शून्य तक ध्यान है। और जब शून्य भी खो जाता है, तो समाधि है। जब

शून्य भी नहीं बचता, सिर्फ मैं ही बच रहता हूँ, सिर्फ जानने वाला . . .।

ऐसा समझें कि दीया जलता है। सिर्फ प्रकाश रह जाता है। कोई प्रकाशित चीज नहीं रह जाती। किसी चीज पर प्रकाश नहीं पड़ता। सिर्फ प्रकाश रह जाता है। सिर्फ जानना रह जाता है और जानने को कोई भी चीज नहीं बचती--ऐसी अवस्था का नाम समाधि है। यह समाधि ही परम ब्रह्म का द्वार है।

तो कृष्ण कहते हैं : 'जो इस भेद को तथा विकारयुक्त प्रकृति से छूटने के उपाय को (यही उपाय है।) ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं. . .।'

लेकिन शब्द से तो जान सकते हैं आप। मैंने कहा, आपने सुना और एक अर्थ में आपने जान भी लिया। पर यह जानना काम नहीं आयेगा। यह तो केवल व्याख्या हुई। यह तो केवल विश्लेषण हुआ। यह तो केवल शब्दों के द्वारा प्रत्यय की पकड़ हुई। लेकिन 'ज्ञान-नेत्रों' के द्वारा जो तत्त्व से जान लेता है'--ऐसा आपका अनुभव बन जाय। यह तो आप प्रयोग करेंगे, तो अनुभव बनेगा। यह तो आप अपने भीतर उतरते जाएँगे और काटते चले जाएँगे क्षेत्र को, ताकि क्षेत्रज्ञ उसकी शुद्धतम स्थिति में अनुभव में आ जाय. . .। क्षेत्र से मिश्रित होने के कारण वह अनुभव में नहीं आता।

तो इलिमिनेट करना है, काटना है, क्षेत्र को छोड़ते जाना है, हटाते जाना है--और उस घड़ी को ले आना है भीतर, जहाँ कि मैं ही बचा अकेला; कोई भी न बचा। सिर्फ मेरे जानने की शुद्ध क्षमता रह गई, केवल ज्ञान रह गया, तो जिस दिन आप अपने ज्ञान नेत्रों से. . .।

स्मृति को आप ज्ञान मत समझ लेना। समझ ली कोई बात, इसको आप अनुभव मत समझ लेना। बिलकुल अकल में आ गई, तो भी आप यह मत समझ लेना कि आप में आ गई। बुद्धि में आ जाना तो बहुत आसान है, क्योंकि साधारणतया जो सोच-समझ सकता है, वह भी समझ लेगा कि बात ठीक है--कि जो मुझे दिखाई पड़ता है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ। मैं तो वही होऊँगा, जिसको दिखाई पड़ता है। यह तो बात सीधी गणित की है। वह तो तर्क की पकड़ में आ जाती है।

यह मेरा हाथ है, इससे मैं जो भी चीज पकड़ लूँ, एक बात पक्की है कि वह मेरा हाथ नहीं होगा। जो भी चीज मैं इससे पकड़ूँगा, वह कुछ और होगी। इसी हाथ को इसी हाथ से पकड़ने का कोई उपाय नहीं है।

आप एक चमीटे से चीजें पकड़ लेते हैं। दुनिया भर की चीजें पकड़ सकते हैं। सिर्फ उसी चमीटे को नहीं पकड़ सकते--उसी चमीटे से। दूसरे से पकड़ सकते हैं। वह सवाल नहीं है। लेकिन उसी चमीटे से आप सब चीजें पकड़ लेते हैं। यह बड़ी मुश्किल की बात है।

यह दुनिया बड़ी अजीब है। जो चमीटा सभी चीजों को पकड़ लेता है, वह भी

अपने को पकड़ने में असमर्थ है। तो आप चमीटे में कुछ भी पकड़े हो, एक बात पक्की है कि चमीटा नहीं होगा वह; वही चमीटा नहीं होगा; कुछ और होगा। जब सब पकड़ छूट जाय, तो शुद्ध चमीटा बचेगा।

जब मेरे हाथ में कुछ भी पकड़ में न रह जाय, तो मेरा शुद्ध हाथ बचेगा। जब मेरी चेतना के लिए कोई भी चीज जानने को शेष न रह जाय, तो सिर्फ चैतन्य बचेगा। लेकिन यह अनुभव से हो।

तर्क से समझ में आ जाता है। और एक बड़े से बड़ा खतरा है, जब समझ में आ जाता है, तो हम सोचते हैं : बात हो गई।

इधर मैं देखता हूँ : पचास साल से गीता पढ़ने वाले लोग हैं। रोज पढ़ते हैं। भाव से पढ़ते हैं, निष्ठा से पढ़ते हैं। उनकी निष्ठा में कोई कमी नहीं है। उनके भाव में कोई कमी नहीं है। प्रामाणिक है उनका श्रम। और गीता वे बिलकुल समझ गए हैं। वही खतरा हो गया है। किया उन्होंने बिलकुल नहीं है कुछ भी।

सिर्फ गीता को समझते रहे हैं, बिलकुल समझ गए हैं। उनके खून में बह गई है गीता। वे मर भी गए हों और उनको उठा लो तो वे गीता बोल सकते हैं, इतनी गहरी उनकी हड्डी-मांस-मज्जा में उतर गई है। लेकिन उन्होंने किया कुछ भी नहीं है, बस उसको पढ़ते रहे हैं, समझते रहे हैं। बुद्धि भर गई है, लेकिन हृदय खाली रह गया है। और अस्तित्व से कोई सम्पर्क नहीं हो पाया है।

तो कई बार बहुत प्रामाणिक भाव, श्रद्धा, निष्ठा से भरे लोग भी चूक जाते हैं। चूकने का कारण यह होता है कि वे स्मृति को ज्ञान समझ लेते हैं।

अनुभव की चिंता रखना सदा। और जिस चीज का अनुभव न हुआ हो, खयाल में रखे रखना कि अभी मुझे अनुभव नहीं हुआ है। इसको भूल मत जाना।

मन की बड़ी इच्छा होती है, इसे भूल जाने की, क्योंकि मन मानना चाहता है कि हो गया अनुभव। अहंकार को बड़ी तृप्ति होती है कि मुझे भी हो गया अनुभव।

लोग मेरे पास आते हैं। वे मुझसे पूछते हैं कि मुझे ऐसा-ऐसा अनुभव हुआ है, आत्मा का अनुभव हुआ है। आप कह दें कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया कि नहीं ?

मैं उनसे पूछता हूँ कि 'तुम मुझसे पूछने किस लिए आये हो? क्योंकि आत्मा का जब तुम्हें अनुभव होगा, तो तुम्हें किसी से पूछने की जरूरत न रह जाएगी। मैं कह दूँ कि तुम्हें आत्मा का अनुभव हो गया, तुम बड़ी प्रसन्नता से चले जाओगे। तुम्हें एक प्रमाण-पत्र, एक सर्टिफिकेट मिल गया। सर्टिफिकेट की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हें अभी हुआ नहीं है। तुमने समझ ली है सारी बात। तुम्हें समझ में इतनी आ गई है कि तुम यह भूल ही गए हो कि अनुभव के बिना समझ में आ गई है।

अनुभव को निरंतर स्मरण रखना जरूरी है। इसलिए कृष्ण कहते हैं : 'जिनको अपने ही ज्ञान नेत्रों से तत्त्व का अनुभव होता है, वे महात्मा जन है।' और यहाँ वे तत्क्षण उनके लिए महात्मा शब्दों का उपयोग करते हैं।

अनुभव आपको महात्मा बना देता है। उसके पहले आप पंडित हो सकते हैं। पंडित उतना ही अज्ञानी है, जितना कोई और अज्ञानी। फर्क थोड़ा-सा है कि अज्ञानी शुद्ध अज्ञानी है। और पंडित इस भ्रांति में है कि वह अज्ञानी नहीं है। इतना ही फर्क है कि पंडित के पास शब्दों का जाल है। और अज्ञानी के पास शब्दों का जाल नहीं है। पंडित को भ्रांति है कि वह जानता है। और अज्ञानी को भ्रांति नहीं है।

अगर ऐसा समझें, तब अज्ञानी बेहतर हालत में है। क्योंकि उसका जानना कम से कम सचाई के करीब है। पंडित खतरे में है। इसलिए उपनिषद कहते हैं कि अज्ञानी तो भटकते है अंधकार में, ज्ञानी महाअंधकार में भटक जाते हैं। वे इन्हीं ज्ञानियों के लिए कहते हैं।

यह तो बड़ा उलटा सूत्र मालूम होता है! उपनिषद के इस सूत्र को समझने में बड़ी जटिलता हुई, क्योंकि सूत्र कहता है : अज्ञानी तो भटकते हैं अंधकार में, ज्ञानी महाअंधकार में भटक जाते हैं। तो फिर तो बचने का कोई उपाय ही न रहा।

अज्ञानी भी भटकेंगे और ज्ञानी और बुरी तरह भटकेंगे, तो फिर बचेगा कौन? --बचेगा अनुभवी। अनुभवी बिलकुल तीसरी बात है।

अज्ञानी वह है: जिसे शब्दों का, शास्त्रों का कोई पता नहीं। और ज्ञानी वह है, जिसे शब्दों और शास्त्रों का पता है। और अनुभवी वह है, जिसे शास्त्रों का, शब्दों का नहीं, जिसे सत्य का ही स्वयं पता है--जहाँ से शास्त्र और शब्दों पैदा होते हैं।

शास्त्र तो प्रतिध्वनि है--किसी को अनुभव हुए सत्य की। वह प्रतिध्वनि है। और जब तक आपको ही अपना अनुभव न हो जाय, सभी शास्त्र झूठे रहेंगे। आप गवाह जब तक न बन जायें, जब तक आप न कह सकें कि ठीक, गीता वही कहती है, जो मैंने भी जान लिया, तब तक गीता आपके लिए असत्य रहेगी।

आपके हिन्दू होने से गीता सत्य नहीं होती। और आपके गीता प्रेमी होने से गीता सत्य नहीं होती। जब तक आपका अनुभव गवाही न दे दे कि ठीक, जो कृष्ण कहते हैं--क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद--वह मैंने जान लिया है; और मैं गवाही देता हूँ--अपने अनुभव से...। तब आपके लिए गीता सत्य होती है।

शास्त्रों से सत्य नहीं मिलता, लेकिन आप शास्त्रों के गवाही बन सकते हैं। और तब शास्त्र, जो आप नहीं कह सकते, जो आपको बताना कठिन होगा, उसको बताने का माध्यम हो जाता है।

शास्त्र केवल गवाहियाँ हैं--जाननेवालों की। और आपकी गवाही भी जब उनसे मेल खा जाती है, तभी शास्त्र से सम्बन्ध हुआ।

गीता को रट डालो, कंठस्थ कर लो। कोई सम्बन्ध न होगा। लेकिन जो गीता कहती है, वही जान लो--सम्बन्ध हो गया।

जब तक आप गीता को पढ़ रहे हैं, तब तक ज्यादा से ज्यादा आपका सम्बन्ध अर्जुन से हो सकता है। लेकिन जिस दिन आप गीता को अनुभव कर लेते हैं, उसी दिन आपका सम्बध कृष्ण से हो जाता है।

पाँच मिनट रुकेंगे। आखिरी दिन है। कोई बीच में उठे न। कीर्तन में पूरी तरह सम्मिलित हों और फिर जायँ।

श्रीमद्भगवद्गीता

चौदहवाँ अध्याय

गुणत्रय विभाग योग

(दस प्रवचन)

पहला प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक १ दिसम्बर १९७३

चाह है संसार और अचाह है परम सिद्धि

श्री भगवान् उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण बोले, 'हे अर्जुन, ज्ञानों में भी अति उत्तम परम-ज्ञान को मैं फिर भी तेरे लिये कहूँगा, कि जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम-सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।

'हे अर्जुन, इस ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते हैं।

'हे अर्जुन, मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया संपूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतनरूप बीज को स्थापन करता हूँ। उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।'

यूनान में एक विचारक हुआ पिरहो। विचारक को जैसा होना चाहिए-- जितने संदेह से भरा हुआ, उतने संदेह से भरा हुआ विचारक पिरहो था।

एक दिन साँझ पिरहो निकला है अपने घर के बाहर। वर्षा के दिन हैं। रास्ते के किनारे एक गड्ढे में उसका बूढ़ा गुरु गिर पड़ा है और फँस गया है। गले तक कीचड़ में डूबा हुआ गुरु; पिरहो किनारे खड़ा हो कर सोच रहा है : निकालूँ या न निकालूँ। क्योंकि पिरहो का खयाल है कि तब तक कोई कर्म करना उचित नहीं, जब तक उसके परिणाम पूरी तरह सुनिश्चित रूप से ज्ञात न हो जायँ। और परिणाम शुभ होंगे या अशुभ, जब तक यह साफ न हो, तब तक कर्म में उतरना भ्रांति है। गुरु को बचाने से शुभ होगा या अशुभ; गुरु बच कर जो भी करेंगे जीवन में, वह शुभ होगा या अशुभ, जब तक यह साफ न हो जाय, तब तक पिरहो गुरु को कीचड़ से निकालने को तैयार नहीं है। क्योंकि कोई भी कृत्य तभी किया जा सकता है, जब उसके अंतिम फल स्पष्ट हो जायँ।

भला हुआ कि और लोग आ गए और उन्होंने डूबते हुए गुरु को बचा लिया। लेकिन पिरहो किनारे पर ही खड़ा रहा। और जानकर आप आश्चर्यचकित होंगे कि जिन दूसरे शिष्यों ने गुरु को बचाया, गुरु ने कहा उनसे कि 'वे ठीक-ठीक विचारक नहीं हैं। ठीक विचारक पिरहो ही है। इसलिए मेरी गद्दी का अधिकारी वही है, क्योंकि जिस कर्म का फल तुम्हें साफ नहीं, तुम उसे कर कैसे सकते हो?'

पिरहो पश्चिम में संदेहवाद का जन्मदाता है। लेकिन अगर कर्म का फल स्पष्ट न हो, तो कोई भी कर्म किया नहीं जा सकता। क्योंकि किसी कर्म का फल स्पष्ट नहीं है, और स्पष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि कर्म है अभी, और फल है भविष्य में। और प्रत्येक कर्म अनेक फलों में ले जा सकता है; वैकल्पिक फल हैं। इसलिए अगर कोई यही तय कर ले कि जब तक फल निर्णायक रूप से निश्चित न हो, तब तक मैं कर्म में हाथ न डालूँगा, तो वैसा व्यक्ति कोई भी कर्म नहीं कर सकता।

पिरहो खड़ा है : इसे फिर से सोचें। अगर मुझे वह मिल जाय, तो उससे मैं कहूँगा कि खड़े रहने का फल ठीक होगा या बचाने का-- यह भी सोचना होगा। क्योंकि खड़ा होना कृत्य है। तुम कुछ निर्णय ले रहे हो। गुरु को बचाना ही अकेला निर्णय नहीं है। मैं खड़ा रहूँ या बचाने में उतरूँ--यह भी निर्णय है। मैं इस समय सोचूँ या कर्म करूँ--यह भी निर्णय है।

निर्णय से बचने का कोई उपाय नहीं है। चाहे मैं कुछ करूँ और चाहे न करूँ, निर्णय तो लेना ही होगा। और करने का भी फल होता। न करने का भी फल होता है। न-करने से गुरु मर भी सकता था।

तो न-करने का फल नहीं होता-- ऐसा मत सोचना। फल तो न-करने का भी होता है। कर्म का भी फल होता है, आलस्य का भी फल होता है।

हम कुछ करें या न करें, निर्णय तो लेना ही होगा। निर्णय मजबूरी है। इसलिए जो सोचता हो कि मैं निर्णय से बच रहा हूँ, वह बेईमान है। क्योंकि बचना भी अन्ततः निर्णय है और उसके भी फल होंगे।

अर्जुन भी ऐसी ही दुविधा में है। वह कर्म में उतरे, न उतरे; युद्ध में प्रवेश करे, न करे। क्या होगा फल?--शुभ होगा कि अशुभ होगा? इसके पहले कि वह कदम उठाये, वह भविष्य को देख लेना चाहता है, जो कि संभव नहीं है, जो कभी भी संभव नहीं हुआ और कभी भी संभव नहीं होगा। क्योंकि भविष्य का अर्थ ही यह है कि जो न देखा जा सके; जो अभी नहीं है; जो अभी गर्भ में है--होगा।

वर्तमान देखा जा सकता है। निर्णय वर्तमान के संबंध में लिए जा सकते हैं। भविष्य अँधेरे में है -- छिपा है अज्ञात में। अर्जुन चाहता है उसका भी निर्णय ले ले, तो ही युद्ध में उतरे।

और ध्यान रहे : पिरहो और अर्जुन की हालत में बहुत फर्क नहीं है। अर्जुन की हालत और भी बुरी है। वहाँ तो एक आदमी डूबता और मरता था, यहाँ तो लाखों लोगों के मरने और बचने का सवाल है। युद्ध की आखिरी घड़ी में उसके मन को संदेह ने पकड़ लिया है।

वस्तुतः जब भी आपको कोई कर्म करने का निर्णय लेना होता है, तब आप सभी अर्जुन की अवस्था में पहुँच जाते हैं। इसलिए अधिक लोग निर्णय लेने से बचते हैं। कोई और उनके लिए निर्णय ले ले। पिता बेटे से कह दे : ऐसा करो। गुरु शिष्य से कह दे : ऐसा करो। आप इसीलिए आज्ञा मानते हैं। आज्ञा मानने की मौलिक आधारशिला खुद निर्णय से बचना है।

दुनिया में लोग कहते हैं कि लोगों को स्वतंत्र होना चाहिए। लेकिन लोग स्वतंत्र नहीं हो सकते। लोग आज्ञा मानेंगे ही। क्योंकि आज्ञा मानने में एक तरकीब है : उसमें निर्णय कोई और लेता है, आप निर्णय की जो दुविधा है, निर्णय का जो कष्ट है, जो कठिनाई है, उससे बच जाते हैं। इसलिए लोग गुरु को खोजते हैं, नेताओं को खोजते हैं। किसी के पीछे चलना चाहते हैं।

पीछे चलने में एक सुविधा है; जो आगे चल रहा है, वह निर्णय लेगा। पीछे चलने वाले को निर्णय लेने की जरूरत नहीं है। यद्यपि यह भी भ्रांति है। क्योंकि किसी के पीछे चलने का निर्णय लेना, सारे निर्णयों की जिम्मेवारी आपके ऊपर आ गई। चुन तो आपने लिया है, लेकिन अपने को धोखा देने की सुविधा है।

अर्जुन जैसी कठिनाई प्रत्येक व्यक्ति को अनुभव होगी। इसलिए गीता का संदेश बहुत शाश्वत है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में वही कठिनाई है। हर कदम पर, प्रतिपल--एक पैर भी उठाना है, तो निर्णय लेना है। क्योंकि हर पैर उठाने का परिणाम होगा और जीवन भिन्न होगा। एक कदम भी बदल देने से जीवन भिन्न हो जाएगा।

आज आप यहाँ मुझे सुनने आ गए हैं। आपका जीवन वही नहीं हो सकता अब, जो आप मुझे सुनने न आये होते तो होता। वही हो ही नहीं सकता। अब कोई उपाय नहीं है। यह बड़ा निर्णय है, क्योंकि इस समय में आप कुछ करते : किसी के प्रेम में पड़ सकते थे, विवाह कर सकते थे। किसी से झगड़ सकते थे; दुश्मनी पैदा कर सकते थे। इस समय में कुछ न कुछ आप करते, जो जिन्दगी को कहीं ले जाता।

इस समय मुझे सुन रहे हैं। यह भी कुछ कर रहे हैं। यह भी जिन्दगी को कहीं ले जाएगा। क्योंकि एक-एक शब्द आपको भिन्न करेगा। आप वही नहीं हो सकते। चाहे आप मैं जो कहूँ, उसे मानें या न मानें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। न मानें, तो भी आप वही नहीं होंगे। क्योंकि न मानने का निर्णय आपको भिन्न जगह ले जाएगा। मानें तो भी, न मानें तो भी.....।

एक पलक भी झपकती है, तो हम बदल रहे हैं। और एक पलक का फासला बड़ा फासला हो सकता है। मंजिल में हजारों मील का फर्क हो सकता है।

इस अर्जुन की मनःस्थिति को ठीक से समझ लें, तो फिर कृष्ण का प्रयास समझ में आ सकता है कि कृष्ण क्या कर रहे हैं।

अर्जुन उस दुविधा में खड़ा है, जो प्रत्येक मन की दुविधा है। और जब तक मन रहेगा, दुविधा रहेगी, क्योंकि मन कहता है : तुम कुछ करने जा रहे हो, इसका परिणाम तुम्हें ज्ञात नहीं। और जब तक परिणाम ज्ञात न हो, तुम कैसे करने में उतर रहे हो? मन प्रश्न उठाता है और उत्तर नहीं है।

अर्जुन प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़ा है। उत्तर की तलाश है। यह उत्तर उधार भी मिल सकता है। कोई कह दे और जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ले। कोई कह दे कि भविष्य ऐसा है। भविष्य के सम्बंध में कोई निर्णायक मन्तव्य दे दे और सारा जिम्मा

अपने ऊपर ले ले, तो अर्जुन युद्ध में कूद जाय या युद्ध से रुक जाय । कोई भी निष्कर्ष अर्जुन ले सकता है । लेकिन तब निर्णय उधार होगा--और पर-निर्भर होगा ।

कृष्ण कोई उधार वक्तव्य अर्जुन को नहीं देना चाहते । इसलिए गीता एक बड़ा गहन मनो-मंथन है । एक शब्द में भी कृष्ण कह सकते थे कि मुझे पता है भविष्य । तू युद्ध कर । पर कृष्ण की अनुकम्पा यही है कि उत्तर न देकर, अर्जुन के मन को गिराने की वे चेष्टा कर रहे हैं । जहाँ से संदेह उठते हैं, उस श्रोत को मिटाने की कोशिश कर रहे हैं-- ना कि संदेह के ऊपर आस्था और श्रद्धा का एक पत्थर रखकर दबाने की ।

अर्जुन को किसी तरह समझा-बुझा देने की कोशिश नहीं है । अर्जुन को रूपान्तरित करने की चेष्टा है । अर्जुन नया हो जाय, वह उस जगह पहुँच जाय, जहाँ मन गिर जाता है । जहाँ मन गिरता है, वहाँ संदेह गिर जाता है । क्योंकि कौन करेगा संदेह ? जहाँ मन गिरता है, वहाँ भविष्य गिर जाता है, क्योंकि कौन सोचेगा भविष्य?

मन के गिरते ही वर्तमान के अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नहीं है । मन के गिरते ही व्यक्ति कर्म करता है, लेकिन कर्ता नहीं होता । क्योंकि वहाँ कोई अहंकार नहीं बचता पीछे, जो कहे : मैं । मन ही कहता है : मैं ।

फिर कर्म सहज और सरल हो जाता है । फिर वह कर्म चाहे युद्ध में जाना हो, चाहे युद्ध से हट जाना हो, लेकिन उस कर्म के पीछे कर्ता नहीं होगा । सोच-विचार के, गणित-तर्क से लिया गया निष्कर्ष नहीं होगा । सहज होगा कर्म । अस्तित्व जो चाहेगा-- उस क्षण में, वही अर्जुन से हो जाएगा । कृष्ण की भाषा में परमात्मा जो चाहेगा अर्जुन से, वही हो जाएगा । अर्जुन निमित्त हो जाएगा ।

अभी अर्जुन कर्ता होने की कोशिश कर रहा है । अभी वह चाहता है : मैं जो करूँ, उसकी जिम्मेवारी मेरी है । उसका दायित्व मेरा है । मेरे ऊपर होगा--शुभ या अशुभ । मैं कर रहा हूँ । और अगर आप कर रहे हैं, तो बड़ी चिन्ता पकड़ेगी । इसलिए जितना ज्यादा मैं का भाव होगा, उतनी ज्यादा जीवन में चिन्ता होगी । जितना मैं का भाव कम होगा, उतनी चिन्ता क्षीण हो जाएगी । और जिस व्यक्ति को चिन्ता से बिलकुल मुक्त होना है, उसे मैं से मुक्त हो जाना पड़ेगा । मैं ही चिन्ता है ।

लोग मेरे पास आते हैं । वे कहते हैं : 'हम कैसे निश्चित हो जायँ ?' मैं उनसे कहता हूँ : 'जब तक तुम हो, तब तक निश्चित न हो सकोगे । क्योंकि तुम चिन्ता के स्रोत हो । जैसे बीज से अंकुर निकलते हैं, ऐसे तुमसे चिन्ताओं के अंकुर निकलते हैं । तुम चिन्ताओं का पोषण कर रहे हो । तुम आधार हो । फिर तुम परेशान हो कि मैं कैसे निश्चित हो जाऊँ! तब निश्चित होना और एक नई चिन्ता बन जाती है । तब शांत होने की चेष्टा एक नयी अशांति बन जाती है । इसलिए साधारण आदमी उतना चिन्तित नहीं है, जितना धार्मिक, असाधारण आदमी चिन्तित होता है । अपराधी

उतना चिन्तित नहीं है, जितना साधु चिन्तित दिखाई पड़ता है ।

जितना ज्यादा चिन्ता से हम छूटना चाहते हैं, उतनी नयी चिन्ता हमें पकड़ती है । एक तो यह नयी चिंता पकड़ लेती है कि चिन्ता से कैसे छूटें ! और कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता छूटने का, तो मन बड़े भयंकर बोझ से दब जाता है । जैसे कोई छुटकारा नहीं, कोई मार्ग नहीं, इस कारागृह के बाहर जाने के लिए कोई द्वार खुला नहीं दिखता, कोई श्रोत नहीं दिखता, कोई सूत्र नहीं समझ में आता--कि कैसे बाहर आयें । एक प्रकाश की किरण भी दिखाई नहीं पड़ती । जो उस अँधेरे में मजे से रह रहा है, उसकी चिन्ताएँ कारागृह के भीतर की हैं । जो कारागृह के बाहर जाना चाहता है, उसकी तो नयी चिन्ताएँ आ गईं--कि कारागृह के बाहर कैसे निकलें ? इसलिए धार्मिक आदमी गहन चिन्ता में डूब जाता है । यह स्वाभाविक है । मैं--चूँकि चिन्ता का केन्द्र है....।

कृष्ण की पूरी चेष्टा यही है कि अर्जुन कैसे मिट जाय । गुरु का सारा उपाय सदा ही यही रहा है कि शिष्य कैसे मिट जाय ।

यहाँ बड़ी जटिलता है । क्योंकि शिष्य मिटने नहीं आता । शिष्य होने आता है । शिष्य बनने आता है, कुछ पाने आता है । सफलता, शांति, सिद्धि, मोक्ष, समृद्धि, स्वास्थ्य--शिष्य कुछ पाने आता है । इसलिए गुरु और शिष्य के बीच एक आंतरिक संघर्ष है । दोनों की आकांक्षाएँ बिलकुल विपरीत हैं । शिष्य कुछ पाने आया है और गुरु कुछ छीनने की कोशिश करेगा । शिष्य कुछ होने आया है, गुरु मिटाने की कोशिश करेगा । शिष्य कहीं पहुँचने के लिए उत्सुक है, गुरु उसे यहीं ठहराने के लिए उत्सुक है ।

पूरी गीता इसी संघर्ष की कथा है । अर्जुन घूम-घूम कर वही चाहता है, जो प्रत्येक शिष्य चाहता है । कृष्ण घूम-घूम कर वही करना चाह रहे हैं, जो प्रत्येक गुरु करना चाहता है । एक दरवाजे से कृष्ण हार जाते लगते हैं, क्योंकि अज्ञान गहन है, तो दूसरे दरवाजे से कृष्ण प्रवेश की कोशिश करते हैं । वहाँ भी हारते दिखाई पड़ते हैं, तो तीसरे दरवाजे से प्रवेश करते हैं ।

ध्यान रहे : शिष्य बहुत बार जीतता है । गुरु सिर्फ एक बार जीतता है । गुरु बहुत बार हारता है शिष्य के साथ । लेकिन उसकी कोई हार अंतिम नहीं है । और शिष्य की कोई जीत अंतिम नहीं है । बहुत बार जीत के भी शिष्य अन्ततः हारेगा, क्योंकि उसकी जीत उसे कहीं नहीं ले जा सकती । उसकी जीत उसके दुःख के डबरे में ही उसे डाले रहेगी । और जब तक गुरु न जीत जाय, तब तक शिष्य दुःख के डबरे के बाहर नहीं आ सकता है । लेकिन संघर्ष होगा । बड़ा प्रीतिकर संघर्ष है । बड़ी मधुर लड़ाई है ।

शिष्य की अड़चन यही है कि वह कुछ और चाह रहा है। और इन दोनों में कहीं मेल सीधा नहीं बैठता। इसलिए गीता इतनी लम्बी होती जाती है। एक दरवाजे से कृष्ण कोशिश करते हैं, अर्जुन वहाँ जीत जाता है। जीत जाता है मतलब : वहाँ नहीं टूटता। चूक जाता है उस अवसर को। उसकी जीत उसकी हार है। क्योंकि अंततः जिस दिन वह हारेगा, उसी दिन जीतेगा। उसकी हार उसका समर्पण बनेगी।

तो कृष्ण दूसरे दरवाजे पर हट जाते हैं; दूसरे मोर्चे से संघर्ष शुरू हो जाता है।

यह प्रत्येक अध्याय अलग-अलग मोर्चे हैं। और इन अलग-अलग अध्यायों में वे सब द्वार आ गए हैं, जिनसे कभी भी किसी गुरु ने शिष्य को मिटाने की कोशिश की है।

अर्जुन मिटे तो ही हल हो सकता है। बिना मिटे कोई हल नहीं है।

शिष्य की मृत्यु में ही समाधान है, क्योंकि वहीं उसकी बीमारियाँ गिरेंगी। वहीं उसकी समस्याएँ गिरेंगी। वहीं उसके प्रश्न गिरेंगे। और वहीं से उसके भीतर उसका उदय होगा, जिसके लिए कोई समस्या नहीं है। वह चेतना भीतर छिपी है और उसे मुक्त करना है। और जब तक यह साधारण मन न मर जाय, तब तक कारागृह नहीं टूटता, जंजीरें नहीं गिरतीं, भीतर छिपा हुआ प्रकाश मुक्त नहीं होता।

प्रकाश बंद है आप में, उसे मुक्त करना है। और आपके अतिरिक्त कोई बाधा नहीं डाल रहा है। आप सब तरह से कोशिश करेंगे, क्योंकि आप समझ रहे हैं--जिसे अपना स्वरूप, जिस अहंकार को, आप उसे बचाने की कोशिश करेंगे। आप सोचते हैं : आत्म-रक्षा कर रहे हैं। अर्जुन भी आत्म-रक्षा में संलग्न है।

लेकिन गुरु अन्ततः जीतता है। उसके हारने का कोई उपाय नहीं है। बहुत बार हारता है। उसकी सब हार झूठी है। शिष्य बहुत बार जीतता है। उसकी सब जीत झूठी है। अन्ततः उसे हार जाना होगा।

अब हम इस सूत्र में प्रवेश करें।

'कृष्ण बोले : हे अर्जुन, ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान को मैं फिर भी तेरे लिए कहूँगा कि जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम-सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं।'

'ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान मैं फिर तेरे लिए कहूँगा।' बहुत बार पहले भी उन्होंने कहा है। कहते हैं : फिर तेरे लिए कहूँगा। गुरु थकता ही नहीं। जब तक तुम सुन ही न लोगे, तब तक वह कहे ही चला जाएगा।

पश्चिम में बुद्ध के वचनों पर बड़ी खोज हुई है। वे बड़े हैरान हुए। हैरानी की बात है, क्योंकि बुद्ध अस्सी साल जीये। कोई चालीस साल की उम्र में ज्ञान हुआ। वे चालीस साल तुम अलग कर दो। फिर चालीस साल बचते हैं। इस चालीस साल

में एक तिहाई हिस्सा तो नींद में चला गया होगा। कुछ घंटे रोज यात्रा में चले गए होंगे। अगर आठ घंटे नींद के गिन लें, चार घंटे रोज यात्रा के गिन लें; दो घंटे भोजन-स्नान-भिक्षा के गिन लें, तो चालीस साल में से करीब तीस साल ऐसे व्यय हो जाते हैं। दस साल बचते हैं। लेकिन पश्चिम की खोज कहती है कि बुद्ध के इतने वचन उपलब्ध हैं कि अगर बुद्ध पैदा होने के दिन से पूरे सौ वर्ष अहर्निश बोले हों--सुबह से दूसरी सुबह तक; न सोए हों, न उठे, न बैठे हों, तो भी शास्त्र ज्यादा मालूम पड़ते हैं। एक व्यक्ति सौ वर्ष निरन्तर बोलता रहे--बिना रुके, अविच्छिन्न, जन्म के दिन से मरने के क्षण तक, न सोए, न कुछ और करे, तो इतना बोल पायेगा--जितना बुद्ध के वचन उपलब्ध हैं।

स्वभावतः खोज करने वाले कहते हैं कि ये प्रक्षिप्त हैं। दूसरे लोगों के वचन इसमें मिल गए हैं। एक आदमी इतना बोल नहीं सकता। दस साल में इतना नहीं बोला जा सकता, जितना कि सौ साल निरन्तर कोई बोले!

इसका मतलब यह हुआ कि अगर बुद्ध दस गुना जीते, तो इतना बोल सकते थे। या दस बुद्ध होते तो इतना बोल सकते थे।

मैं इसका कुछ और ही अर्थ लेता हूँ। इसका इतना ही अर्थ लेता हूँ कि जो बात इतनी लम्बी मालूम पड़ती है, उसके लम्बे होने का कारण शिष्यों के साथ संघर्ष है। अर्जुन के साथ तो कृष्ण का अकेला संघर्ष है। एक शिष्य है। बुद्ध के पास दस हजार शिष्य हैं। यह संघर्ष बड़ा विराट् है। इतने वचन इसीलिए हैं, जैसे बुद्ध दस मुँह से एक साथ बोले हों। ऐसी कोई जगह नहीं छोड़ी है, जहाँ से शिष्य पर हमला न किया हो--आक्रमण न किया हो।

गुरु थकता नहीं।

'फिर से तेरे लिए कहूँगा...। ज्ञानों में भी अति उत्तम ज्ञान को--परमज्ञान को मैं फिर से तेरे लिए कहूँगा कि जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं।'

अज्ञान गैर-जानकारी का नाम नहीं है। अज्ञान गलत जानकारी का नाम है। गैर-जानकारी भोलापन भी हो सकती है। अज्ञान जटिल है, भोलापन नहीं है। अज्ञानी कुशल होते हैं, चालाक होते हैं, कुटिल होते हैं। अज्ञानी नहीं जानता--ऐसा नहीं है; गलत जानता है। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

न जानने से हम उलझन में नहीं पड़ते हैं। हमारी उलझन गलत जानने की उलझन है। न जानने से कोई कैसे उलझेगा? गलत जानने से कोई उलझ सकता है। उलझने के लिए भी कुछ जानना जरूरी है। थोड़ी देर को समझें : अर्जुन की जगह अगर कोई सच में ही भोला-भाला आदमी होता, जो कुछ नहीं जानता, तो

वह युद्ध में उतर जाता । क्या अड़चन थी ? अर्जुन के सिवाय किसी ने सवाल नहीं उठाया ।

भीम है--उसे कोई अड़चन नहीं है । वह अपनी गदा उठाये तैयार खड़ा है । जब भी युद्ध शुरू हो जाएगा, वह कूद पड़ेगा । वह भी अज्ञानी है । लेकिन अर्जुन से भिन्न तरह का अज्ञान है । उसका अज्ञान सिर्फ जानकारी का अभाव है । उसे यह सवाल भी नहीं उठते कि क्या शुभ है, क्या अशुभ है । मारूँगा तो पाप लगेगा कि पुण्य होगा--ये सब सवाल भी नहीं उठते । वह बच्चे की तरह है ।

अर्जुन पंडित है । अर्जुन जानता है । अर्जुन जानता है कि यह बुरा है, यह भला है; ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए । धर्म अधर्म का उसे खयाल है । उसकी जानकारी ही उसकी उलझन है ।

अज्ञान अगर सिर्फ गैर-जानकारी हो, तो मनुष्य सरल होता है, निर्दोष होता है, बच्चों की भाँति होता है । उलझन नहीं होती । मुक्त नहीं हो जाता उतने से, कारागृह के बाहर भी नहीं निकल जाता, लेकिन कारागृह में ही प्रसन्न होता है । उसे कारागृह का पता ही नहीं होता । जानकारी हो, अड़चन शुरू हो जाती है ।

अर्जुन की कठिनाई यह है कि उसे पता है कि गलत क्या है । लेकिन इतना भर पता होने से कि गलत क्या है, वासना नहीं मिट जाती । वासनाएँ तो अपने ही मार्ग पर चलती हैं । और बुद्धि अलग मार्ग पर चलने लगती है, दुविधा खड़ी होती है । पूरी प्रकृति शरीर की कुछ कहती है करने को, और बुद्धि ऊपर से खड़े हो कर सोचने लगती है । व्यक्ति दो हिस्सों में बँट जाता है । यह बँटाव, यह खंडित हो जाना व्यक्ति का, यह स्प्लिट पर्सनेलिटी, दो स्वर का पैदा हो जाना--इससे दुविधा खड़ी होती है । फिर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता ।

अर्जुन युद्ध तो करना ही चाहता है । सत्य तो यही है कि वही युद्ध की इस स्थिति को ले आया है । कौन कहता था--युद्ध करो ? युद्ध की इस घड़ी तक आने की भी कोई जरूरत न थी । वासनाएँ तो युद्ध के क्षण तक ले आयी हैं ।

इस सारे युद्ध की जड़ में अर्जुन छिपा है । इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए, क्योंकि उससे ही गीता का अर्थ भी स्पष्ट होगा ।

यह सारा युद्ध शुरू होता है द्रौपदी के साथ । द्रौपदी को अर्जुन ले आया । दुर्योधन भी लाना चाहता था । वह सुंदरतम स्त्री रही होगी । न केवल सुंदरतम, बल्कि तीखी से तीखी स्त्रियों में एक । सौंदर्य जब तीखा होता है, तो और भी प्रलोभित करने वाला हो जाता है । द्रौपदी तेज है, अति तीव्र धार वाली स्त्री है । उसने सभी को आकर्षित किया होगा । दुर्योधन भी उसे अपनी पत्नी बना के ले आना चाहता था । वासनाओं का संघर्ष था । अर्जुन उसे ले आया । संघर्ष भारी रहा होगा । क्योंकि अर्जुन के भी

चार भाई उसे लाना चाहते थे । और स्त्री ऐसी कुछ रही होगी कि पाँचों भाई उसके कारण टूट सकते थे और मिट सकते थे । इसलिए पाँचों ने बाँट लिया है । कहानी तो सिर्फ ढाँकने का उपाय है ।

कहानी है कि माँ ने कहा कि तुम पाँचों बाँट लो, क्योंकि माँ को कुछ पता नहीं । अर्जुन ने बाहर से इतना ही कहा कि 'माँ, देखो, क्या ले आया हूँ ।' उसने भीतर से कहा कि 'तुम पाँचों बाँट लो ।' यह कहानी तो सिर्फ ढाँकने का उपाय है । असली बात यह है कि द्रौपदी पर पाँचों भाइयों की नजर है । और अगर द्रौपदी नहीं बँटती, तो ये पाँचों कट जाएँगे, ये पाँचों बँट जाएँगे ।

इस द्रौपदी से सारा का सारा...अगर ठीक से समझें, तो काम से, वासना से, इच्छा से सारा सूत्रपात है । फिर उपद्रव बढ़ते चले जाते हैं । लेकिन मूल में द्रौपदी को पाने की आकांक्षा है । फिर धीरे-धीरे एक-एक बात जुड़ते-जुड़ते यह युद्ध आ गया ।

आज तक अर्जुन को खयाल नहीं उठा; आखिरी चरण में ही स्मरण आया । अब तक इतनी सीढ़ियाँ चढ़ के जहाँ पहुँचा है, हर सीढ़ी से इस बात की सूचना मिल सकती थी ।

जब भी आप कुछ चाहते हैं, आप युद्ध में उतर रहे हैं । क्योंकि आप अकेले चाहने वाले नहीं हैं और करोड़ों लोग भी चाह रहे हैं ।

चाह का मतलब प्रतियोगिता है, चाह का मतलब युद्ध है । जैसा ही मैंने चाहा कि मैं संघर्ष में उतर गया । इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि संघर्ष के बाहर केवल वही हो सकता है, जिसकी कोई चाह नहीं । उसकी कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है । वह किसी की दुश्मनी में नहीं खड़ा है ।

पर अर्जुन को यह खयाल कभी नहीं आया । अब तक वह ठीक शरीर के एक हिस्से को मानकर चलता रहा । आज सारी चीज अपनी विकराल स्थिति में खड़ी हो गई है । यह थोड़ा समझने जैसा है ।

कामवासना जन्म की पर्यायवाची है और युद्ध मृत्यु का पर्यायवाची है । और सभी कामवासना अन्त में मृत्यु पर ले आती है । ऐसा होगा ही । इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि जो मृत्यु के पार जाना चाहता हो, उसे कामवासना के पार जाना होगा । काम में हमारा जन्म है और काम में ही हमारी मृत्यु है ।

यह युद्ध तो आखिरी क्षण है-- जब मृत्यु प्रगट हो गई । लेकिन इसका बीज तो बो दिया गया इस दिन, उस दिन द्रौपदी पर कामवासना फेंकी गई । उस दिन इसका बीज बो दिया गया ।

दुर्योधन भी चाहता था । अर्जुन के खुद दूसरे भाई भी चाहते थे । और चाह सभी की एक-सी है । गलत और सही--चाह में कुछ भी नहीं होता ।

अर्जुन द्रौपदी को पा सका है, क्योंकि धर्नुविद्या में कुशल है। तो द्रौपदी को पाना किसी कुशलता पर निर्भर है, तो फिर दुर्योधन ने जुए में कुशलता दिखाने की कोशिश की है और द्रौपदी को छीन लेना चाहा है। वह भी एक कुशलता है। कुशलता का संघर्ष है।

और महाभारत के एक-एक पात्र में उतरने जैसा है, क्योंकि वे जीवन के प्रतीक हैं।

द्रौपदी की शादी के बाद पांडवों ने एक महल बनाया, वह उत्सव के लिए था। और दुर्योधन और उसके भाइयों को निमन्त्रित किया। महल ऐसा बनाया था -- उस दिन की श्रेष्ठतम इन्जीनियरिंग की व्यवस्था की थी कि जहाँ दरवाजे नहीं थे, वहाँ दरवाजे दिखाई पड़ने--इस भाँति काँचों का, दर्पणों का जमाव किया। जहाँ दीवाल थी, वहाँ दरवाजा दिखाई पड़ता था; भ्रामक था। जहाँ दरवाजा था, वहाँ दीवाल मालूम होती थी। दर्पणों के आयोजन से ऐसा किया जा सकता है। और जब दुर्योधन उन झूठे दरवाजों में टकरा गया--जहाँ दीवाल थी--तो द्रौपदी हँसी और उसने कहा कि 'अंधे के लड़के हैं।' यह व्यंग भारी पड़ गया। पांडव हँसे। उन्होंने मजा लिया। अंधे के बेटे तो जरूर कौरव थे। लेकिन कोई भी अपने बाप को अंधा नहीं सुनना चाहता--अंधा हो तो भी। कोई भी अपने को बुरा नहीं देखना चाहता। और ध्यान रहे : गाली एक बार क्षमा कर दी जाय, व्यंग क्षमा नहीं किया जा सकता।

गाली उतनी चोट नहीं करती, व्यंग सूक्ष्मतम गाली है। किसी पर हँसना गहन से गहन चोट है। इसलिए ध्यान रखना : आप गाली देकर दूसरों को इतनी चोट नहीं पहुँचाते। जब कभी आप मजाक करते हैं, तब जैसी आप चोट पहुँचते हैं, वैसी कोई गाली नहीं पहुँचा सकती।

महावीर ने अपने वचनों में कहा है साधु किसी का व्यंग न करे। इसको हिंसा कहा है-- बड़ी से बड़ी हिंसा।

लेकिन अर्जुन ने उस दिन सवाल नहीं उठाया कि हम एक बड़ी हिंसा कर रहे हैं। यह सब वासना का खेल चलता रहा। अब यह उसकी अंतिम परिणति है। यह युद्ध उस सब का फल है। यहाँ आ कर उसे पता चला। यहाँ उसकी बुद्धि ने देखा चारों तरफ नजर डालकर--कि क्या हमने कर डाला है! और हम कहाँ आकर खड़े हो गए हैं?

ध्यान रहे : जब भी आप किसी भ्रांति में कदम उठाते हैं, तो पहले कदम पर किसी को पता नहीं चलता। पहले कदम पर पता चल जाय, तो दुनिया में भ्रांतियाँ ही न हों। अंतिम कदम पर पता चलता है, जब पीछे लौटना मुश्किल होता है।

जब आप में पहली दफा क्रोध उठता है, पहली लहर, तब आपको पता नहीं-

चलता। जब आप छुरा ले कर किसी की छाती में भोंकने को ही हो जाते हैं, जब कि अपने ही हाथ को रोकना असंभव हो जाता है, जब कि हाथ इतना आगे जा चुका कि अब लौटाया नहीं जा सकता!--कि आप लौटाना भी चाहें, तो अब मोमेंटम हाथ का ऐसा है कि अब लौट नहीं सकते। हाथ को जो गति मिल गई है, वह छुरा छाती में घुस कर रहेगा। अब एक ही उपाय है, इतना आप कर सकते हैं कि चाहें तो छुरे की धार अपनी छाती की तरफ कर लें। या दूसरे की तरफ कर दें। लेकिन हाथ चल पड़ा। या तो हत्या होगी या आत्म-हत्या होगी।

तो जीवन में पहले कदम पर ही कुछ किया जा सकता है। इस सम्बंध में मनुष्य के अंतस्तल की एक यांत्रिक व्यवस्था को समझ लेना जरूरी है।

मनुष्य के व्यक्तित्व में दो तरह के यंत्र हैं। एक, जो स्वेच्छा से चालित है। हम इच्छा करते हैं, तो चलते हैं। दूसरे यन्त्र हैं, जो स्वेच्छाचालित नहीं हैं, जो स्वचालित हैं। जिनमें हमारी इच्छा कुछ नहीं कर सकती। और जब पहले यंत्र से हम काम लेते हैं, तो एक सीमा आती है, जहाँ से काम पहले यंत्र के हाथ से दूसरे यंत्र के हाथ में चला जाता है।

समझें कि आप काम-वासना से भर गए हैं। एक सीमा है, जब तक आप चाहें, तो रुक सकते हैं। लेकिन एक सीमा आयेगी, जहाँ कि शरीर का स्वचालित यंत्र काम-वासना को पकड़ लेगा। फिर आप रुकना भी चाहें, तो नहीं रुक सकते। फिर रुकना असंभव है।

सभी वासनाएँ दोहरे ढंग से काम करती हैं। पहले हम उन्हें इच्छा से चलाते हैं। फिर इच्छा उन्हें आग की तरह उत्तप्त करती है, सौ डिग्री पर लाती है, फिर वे भाप बन जाती हैं। फिर इच्छा के हाथ के बाहर हो जाता है। फिर आपके भीतर यंत्रवत् घटना घटती है। इसलिए बुद्ध ने कहा है : क्रोध पैदा हो, उसके पहले तुम जग जाना। वासना उठे, उसके पहले तुम उठ जाना और होश से भर जाना। क्योंकि पहला कदम अगर उठ गया, तो तुम्हें अंतिम कदम उठाने की भी मजबूरी हो जाएगी। मध्य में रुकना असंभव है। चीजें चल पड़ती हैं।

महावीर का एक बहुत प्रसिद्ध वचन है कि जो आधा चल पड़ा, वह मंजिल पर पहुँच ही गया। क्योंकि बीच से लौटना मुश्किल है। इसका कारण यही है कि हमारे भीतर दोहरे यंत्र हैं। आप अपनी किसी भी वृत्ति में इसका निरीक्षण करें, तो आपको पता चल जाएगा कि एक सीमा तक आप चाहें, तो वापस लौट सकते हैं; हाथ के भीतर है। आप खुद ही वह सीमा-रेखा पहचान लेंगे और अगर अपने भीतर, आपने उस सीमा को पकड़ लिया, जहाँ से इच्छाएँ हाथ के बाहर हो जाती हैं, तो आप अपने मालिक हो सकते हैं।

अर्जुन आखिरी घड़ी में, जब कि सब हो चुका, बस आखिरी परिणाम होने को है, वहाँ आ कर डाँवाडोल हो गया है।

और ध्यान रहे : सभी लोग वहीं आ कर डाँवाडोल होते हैं। क्योंकि जब पूरी चीजें प्रगट होती हैं, तभी हमें होश आता है। पहले तो चीजें छिपी-छिपी चलती हैं। बहुत धाराओं में चलती हैं। छोटे-छोटे झरने बहते हैं। फिर सब झरने मिल के जब बड़ा विराट् नद बन जाता है, तब हमें दिखाई पड़ता है। फिर हमें लगता है : यह हमने क्या कर दिया! फिर हम भागना चाहते हैं। लेकिन अब घटना हम से बड़ी हो गई। और अब भागने का कोई उपाय नहीं है। अब पीछे हटने का कोई उपाय नहीं है।

अर्जुन उस घड़ी में बात कर रहा है, जहाँ कि चीजें स्वचालित हो गई हैं, जहाँ कि युद्ध अस्तित्व की घटना बन गई है। इसे थोड़ा समझ लेना चाहिए।

युद्ध से अब लौटने का कोई उपाय नहीं, अब युद्ध होगा। पानी सौ डिग्री तक गरम हो चुका। अगर आप नीचे से अंगारे भी निकाल लें, तो भी भाप बनेगी। यह भाप का बनना अब एक नैसर्गिक कृत्य हो गया है। और इसी घड़ी में आदमी घबड़ाता है। लेकिन उसकी घबड़ाहट व्यर्थ है। रुकना था, पहले रुक जाना था।

यह अर्जुन आखिरी क्षण में डाँवाडोल हो रहा है। सभी का मन होता है। नियम यह है कि या तो पहले क्षण में सजग हो जायँ और वासना की यात्रा पर न निकलें। और अगर कोई वासना अंतिम क्षण में पहुँच गई हो, तो घबड़ाएँ मत। अब निमित्त हो कर उसे पूरा हो जाने दें।

पहले क्षण में आप मालिक हो सकते थे, निमित्त होने की जरूरत न थी। यहीं कृष्ण और महावीर की साधनाओं का भेद है। और इसलिए लोगों को लगता है कि ये तो बड़ी विपरीत बातें हैं।

जैन गीता को कोई आदर नहीं दे सकते, क्योंकि पूरे पहलू अलग हैं। गीता है वासना के आखिरी क्षण में साधना। महावीर की साधना के सारे सूत्र पहले क्षण में हैं। इसीलिए महावीर कहते हैं : अपने मालिक बनो। क्योंकि अगर पहले क्षण में कोई निमित्त बन गया, तो व्यर्थ बह जाएगा वासना में। पहले क्षण में मालिक बन सकता है।

जब तक इच्छा के अंतर्गत है सब, तब तक हम उसका त्याग कर सकते हैं। पहले क्षण में निमित्त बनने की कोई भी जरूरत नहीं है। और जो पहले क्षण में मालिक बन जाता है, उसे निमित्त बनने की कभी भी जरूरत नहीं पड़ेगी। अंतिम क्षण आयेगा ही नहीं।

इसलिए महावीर और कृष्ण की साधनाएँ बिलकुल विपरीत मालूम पड़ेंगी।

और जो नहीं समझ सकते हैं, सब शास्त्र पढ़ते हैं, उनको लगेगा कि वे विरोधी हैं। वे विरोधी नहीं हैं।

जैसे कि कोई आदमी पानी गरम कर रहा है, और अभी उसने आग जलाई ही है। हम कहते हैं : अंगार बाहर खींच लो। अभी रुक सकती है बात। अभी पानी गरम भी नहीं हुआ था। अभी कुनकुना भी नहीं हुआ था। अभी भाप बनना बहुत दूर है। अभी आँच पकड़ी ही नहीं थी पानी को। अभी पानी अपनी जगह था, आपने चूल्हा जलाया ही था। अभी अंगारा, ईंधन वापस खींचा जा सकता है।

महावीर कहते हैं : पहले क्षण में रुक जाओ; आधे के बाद रुकना मुश्किल हो जाएगा, चीजें तुम्हारी सामर्थ्य के बाहर हो जाएँगी। और निश्चित ही जो पहले क्षण में नहीं रुक सकता, वह आधे में कैसे रुकेगा? क्योंकि पहले क्षण में चीजें बहुत कमजोर थीं, आधी में तो बहुत मजबूत हो गईं; तब तुम कैसे रुकोगे? और जब अंतिम--निन्यानबे डिग्री पर पानी पहुँच गया, तब तो तुम कैसे रुकोगे!

अगर महावीर से अर्जुन पूछता, तो वे कहते, जिस दिन तू द्रौपदी को स्वयम्बर करने चला गया था, उसी दिन लौट आना था। वह पहला क्षण था। लेकिन कोई सोच भी नहीं सकता कि महाभारत का यह महायुद्ध द्रौपदी के स्वयम्बर से शुरू होगा!

बीज में वृक्ष नहीं देखे जा सकते। जो देख ले, वह धन्यभागी है। वह वहीं रुक जाएगा। वह बीज को बोयेगा ही न। वृक्ष के फलों का कोई सवाल नहीं उठेगा।

लेकिन कृष्ण के सामने सवाल बिलकुल अन्यथा है। अंतिम क्षण है। घटना घट कर रहेगी। चीजें उस जगह पहुँच गई हैं, जहाँ से लौटाई नहीं जा सकतीं। चीजों ने अपनी गति ले ली है। स्वचालित हो गई हैं। अब युद्ध अवश्यम्भावी है; वह भाग्य है; अब वह नियति है। इस क्षण में क्या करना?

इस क्षण में कृष्ण कहते हैं : तू निमित्त बन जा। अब तू कर्ता की तरह सोच ही मत। अब तू यह निर्णय ही मत ले। अब तू निर्णय अस्तित्व के हाथ छोड़ दे। तू सिर्फ एक उपकरण की तरह--जो हो रहा है--उसे हो जाने दे। तू सिर्फ साक्षी रह और उपकरण बन।

जो व्यक्ति पहले क्षण में रुक जाय, उसे निमित्त बनने की कभी जरूरत न पड़ेगी। इसलिए महावीर की साधना में निमित्त शब्द का उपाय ही नहीं है, उपकरण बनने की बात ही फिजूल है। जो व्यक्ति किसी वासना के अंतिम चरण में साक्षी और निमित्त बन जाय, वह दूसरी वासना के प्रथम क्षण में कभी कदम नहीं उठायेगा। जो पहले कदम पर रुक जाय, उसे अंतिम तक पहुँचने का कारण नहीं है। जो अंतिम पर निमित्त बन जाय, उस साक्षी भाव में वह चीजों को इतनी प्रगाढता में देख लेगा कि दूसरी कोई भी वासना बीज की तरह उसको धोखा नहीं दे पायेगी।

अगर अर्जुन इस युद्ध में निमित्त बन के गुजर जाय, तो कोई दूसरी द्रौपदी उसे कभी नहीं लुभायेगी। फिर कोई वासना का बीज, जहाँ से उपद्रव शुरू होता है--उसे पकड़ेगा नहीं। वह आर-पार देखने में समर्थ हो जाएगा, उसकी दृष्टि पारदर्शी हो जाएगी।

अंतिम क्षण में निमित्त और पहले क्षण में मालिक--ये साधना के सूत्र हैं। और दो में से एक काफी है। क्योंकि दूसरे की जरूरत नहीं पड़ेगी।

'ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान को मैं फिर तेरे लिए कहूँगा कि जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त हो कर परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

'इस संसार से मुक्त होकर...।'

संसार को थोड़ा समझ लेना जरूरी है। संसार वह नहीं है, जो आपके चारों तरफ फैला हुआ दिखाई पड़ता है। संसार वह है, जो आपके मन के चारों तरफ आपने बो रखा है। और अगर इस बाहर के संसार से आपका कोई भी सम्बंध है, तो इस भीतर के मन की बुनावट के कारण है। इस बाहर के संसार को मिटाने--छोड़ने--भागने का कोई अर्थ नहीं है। इस भीतर के मन की जड़ों को, इस मन के जाल को, जिससे आप देखते हैं चारों तरफ, जिससे परमात्मा आपको संसार जैसा दिखाई पड़ता है, इन वासनाओं के परदों को या चश्मों को अलग कर लेने की बात है। नहीं तो परम ज्ञान संसार से कैसे मुक्त करेगा!

संसार तो रहेगा, ज्ञानी के लिए भी। कृष्ण के लिए भी संसार है। बुद्ध के लिए भी संसार है। आपके लिए भी संसार है। संसार तो ज्ञानी के लिए भी है, लेकिन ज्ञानी के पास मन नहीं है, इसलिए इसी संसार को वह किसी और ढंग से देखने में समर्थ हो जाता है। यह संसार तब उसे ब्रह्म-स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस संसार में तब उसे वह सारा उपद्रव, वह सारा युद्ध, वह सारा विग्रह नहीं दिखाई पड़ता, जो हमें दिखाई पड़ता है। यह सारे प्रपंच का जाल हमें दिखाई पड़ता है। यह हमारे मन का विभाजन है।

ऐसा समझें कि एक प्रिज्म में से कोई सूर्य की किरण को निकालता है। जैसे ही सूर्य की किरण प्रिज्म को पार करती है कि सात हिस्सों में टूट जाती है। इन्द्रधनुष पैदा होता है। इन्द्रधनुष इसी तरह बनता है। हवा में अटके हुए पानी के कण प्रिज्म का काम करते हैं। उन पानी के कणों से जैसे ही सूर्य की किरण गुजरती है, वह सात हिस्सों में टूट जाती है। इन्द्रधनुष निर्मित हो जाता है। सूर्य की किरण में कोई भी रंग नहीं है। टूट के सात रंग हो जाते हैं। सूर्य की किरण रंगहीन है, टूट के इन्द्रधनुष बन जाती है।

जगत् में कोई भेद नहीं है, कोई प्रकार नहीं है, कोई रंग नहीं है, लेकिन मन के

प्रिज्म से दिखाई पड़ने पर बहुत रंगीन हो जाता है, इन्द्रधनुष की तरह हो जाता है। जगत् हमारे मन से देखा गया ब्रह्म है। और जब मन से जगत् देखा जाता है, अस्तित्व देखा जाता है, तो संसार निर्मित हो जाता है। संसार टूटा हुआ, इन्द्रधनुष है। किसी भी भाँति प्रिज्म बीच से हट जाय, तो इन्द्रधनुष खो जाएगा और बिना रंग की शुद्ध किरण शेष रह जाएगी -- रूप-रंगहीन। अदृश्य किरण शेष रह जाएगी।

संसार अर्थात् मन। इस शब्द के कारण बड़ी भ्रांति हुई, क्योंकि निरन्तर ज्ञानी जन कहते रहे : संसार से ऊपर उठो। और अज्ञानीजन समझते रहे कि बाहर जो संसार फैला है, इससे भागो। इससे ऊपर उठो; मतलब : हिमालय चले जाओ। कोई ऊँची जगह खोज लो, जहाँ संसार से ऊपर उठ गए। दूर हट जाओ।

और इन्द्रधनुष से जो भागता है, उससे ज्यादा पागल और कौन है! इन्द्रधनुष न दिखाई पड़े--ऐसी दृष्टि चाहिए। यह दृष्टि भीतरी घटना है। इसलिए कृष्ण कह सकते हैं कि 'ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान को मैं फिर से कहूँगा कि जिसको जानकर सब मुनिजन संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं।'

संसार से मुक्त होना अर्थात् मन से मुक्त होना। और मन से जो मुक्त हुआ, वह परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह भीतर छिपी है सिद्धि, वह स्वभाव है। वह परम निर्वाण या मोक्ष भीतर छिपा है।

जैसे ही मन नहीं कि हमें अपने होने का पता चल जाता है कि हम कौन हैं। इस मन के कारण न तो हमें अस्तित्व की वास्तविकता दिखाई पड़ती है और न अपनी। यह प्रिज्म दोहरा है। यह संसार को तोड़ता है, बाहर अस्तित्व को तोड़ता है और भीतर स्वयं को तोड़ता है। तो भीतर हमें सिवाय विचारों के, वासनाओं के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

ह्यूम ने कहा है कि जब भी मैं अपने भीतर जाता हूँ, तो मुझे सिवाय वासनाओं के, विचारों के, कामनाओं के, कल्पनाओं के, स्वप्नों के और कुछ भी नहीं मिलता। और लोग कहते हैं : 'भीतर जाओ, तो आत्मा मिलेगी।' ह्यूम ने कहा है कि 'अनुभव से मैं कहता हूँ कि भीतर बहुत बार जाकर देखा, आत्मा कभी नहीं मिलती। और हजार चीजें मिलती हैं।'

आप भी प्रयोग करेंगे, तो ह्यूम से राजी होंगे। प्रयोग नहीं करते, इसलिए आप सोचते हैं : भीतर आत्मा छिपी है। भीतर जाते ही नहीं, इसलिए कभी मौका ही नहीं आता कि आप समझ सकें कि भीतर आपको क्या मिलेगा। आप भी भीतर जाएँगे तो ह्यूम से राजी होंगे। क्योंकि जब तक मन से छुटकारा न हो, तब तक भीतर भी इन्द्रधनुष मिलेगा, सात रंग मिलेंगे; वास्तविक किरण नहीं मिलेगी, मौलिक किरण नहीं मिलेगी।

यह प्रिज्म दोहरा है। बाहर तोड़ता है--अस्तित्व संसार हो जाता है। भीतर तोड़ता है--अस्तित्व विचारों में बँट जाता है। भीतर प्रतिपल विचार चलते हैं।

यह संसार शब्द और भी सोचने जैसा है। संसार शब्द का मतलब होता है चाक--द व्हील। संसार का मतलब होता है: जो घूमता रहता है--गाड़ी के चाक की तरह।

कभी आपने अपने मन के सम्बंध में सोचा कि मन बिलकुल गाड़ी के चाक की तरह घूम रहा है। वही-वही विचार बार-बार घूमते रहते हैं। आप एक दिन की डायरी बना के देखें। सुबह से उठ के लिखना शुरू करें शाम तक। आप बड़े चकित हो जाएँगे कि आपके पास बड़ी दरिद्रता है-- विचार की भी दरिद्रता है। वही विचार घड़ी आधा घड़ी बाद आ जाता है। और अगर आप एक दो-चार महीने की डायरी ईमानदारी से रखें, तो आप पायेंगे कि इन विचारों के बीच वैसी ही श्रृंखला है, जैसी गाड़ी में लगे हुए आरों की होती है। वही स्पोक फिर आ जाता है घूम कर, फिर आ जाता है, फिर आ जाता है। रिकरेन्स--पुनरावृत्ति भीतर होती रहती है।

एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक इस सम्बंध में अध्ययन कर रहा था, तो बहुत हैरान हुआ, क्योंकि अगर हम सोच लें कि एक विचार एक सैकेण्ड लेता हो, क्योंकि विचार ज्यादा वक्त नहीं लेता, एक सैकेण्ड में झलक आ जाती है, तो आप एक मिनट में कम से कम साठ विचार करते हैं। फिर इस साठ में आप और साठ का गुणा करें, तो एक घंटे में इतने विचार। फिर इसमें आप चौबीस का गुणा करें, तो एक दिन में इतने विचार! कई लाख विचार! बड़े से बड़ा विचारक भी कई लाख विचार एक दिन में दावा नहीं कर सकता।

तो आप भीतर बड़ी दरिद्रता पायेंगे। वे ही विचार...! फिर तो आपको खुद भी हँसी आयेगी कि मैं कर क्या रहा हूँ। जिस बात को मैं हजार दफा सोच चुका हूँ, उसको फिर सोच रहा हूँ। वे ही शब्द हैं, वे ही भीतर भाव हैं। वे ही मुद्राएँ हैं। फिर वही दोहर रहा है--यंत्रवत।

बाहर संसार भी दौड़ रहा है। वर्षा आयेगी, सर्दी आयेगी, गरमी आयेगी, मौसम घूम रहे हैं। सूरज निकलेगा, डूबेगा, चाँद बड़ा होगा--छोटा होगा। वर्तुल है। सारी चीजें वर्तुल में घूम रही हैं--बाहर भी और भीतर भी। व्हील्स विदिन व्हील्स--चाकों के भीतर छोटे चाक घूम रहे हैं। उनके भीतर और छोटे चाक घूम रहे हैं। अपनी घड़ी खोल के भीतर देखें, उसमें जैसी हालत है, वैसी आपके मन की है। चाक हैं। बहुत से चाक हैं। और एक चाक दूसरे को घुमा रहा है, दूसरा तीसरे को घुमा रहा है--सब घूम रहे हैं, लेकिन कुछ बँधे हुए विचार हैं, वे ही दौड़ रहे हैं बार-बार। इसलिए भारत कहता रहा है कि बाहर भी संसार है, भीतर भी संसार है।

क्योंकि वर्तुलाकार गति है। और जब तक इन चाकों से आप मुक्त न हो जायँ, तब तक सिद्ध न होंगे।

सिद्ध का अर्थ है--जो घूमने के बाहर हो गया।

प्रदर्शनियाँ लगती हैं, मेले भरते हैं, तो बच्चों के लिए घूमने के झूले होते हैं, घोड़े हैं, हाथी हैं, शेर हैं--झूलों में। बच्चे उन पर बैठे हैं और झूले चक्कर काट रहे हैं। और बच्चे बड़ा आनन्द लेते हैं--जितने जोर से चक्कर चलता है। बच्चों को ऐसा लगता है--कहीं पहुँच रहे हैं। यात्रा बहुत होती है, पहुँचते कहीं भी नहीं हैं। वह अपनी जगह पर घूम रहा है। शेर, हाथी, घोड़े--उन पर बैठने का मजा; फिर इतनी तेज गति; कहीं पहुँचने का खयाल--बड़ा रस देता है।

करीब-करीब हम सब वैसी ही बच्चों की हालत में हैं। थोड़ा हमारा झूला बड़ा है और वहाँ भी हाथी, घोड़े हैं। अभी आप देखते हैं: पेट्रोल की कमी है, तो इंदिरा टाँगे पर बैठी हुई है।

इस मुल्क में अकल कभी आ नहीं सकती। अटल बिहारी बाजपेयी बैलगाड़ी पर बैठे हैं। पीलू मोदी ने कहा कि वे हाथी पर पहुँचेंगे। और मैं सोचता रहा कि गदहे पर किसी को...। क्योंकि वह राष्ट्रीय पशु है। वह चरित्र का प्रतीक है। हमारी सब जीवन की व्यवस्था ऐसी ही है, बचकानी है।

छोटे पद हैं, बड़े पद हैं; धन है, महल है, प्रतिष्ठाएँ हैं: पद्म भूषण हैं, भारतरत्न हैं--सब बैठे हैं: कोई अपने घोड़े पर, कोई हाथी पर; चक्कर चल रहा है। जब तक कि कोई आपको उतार ही न दे! बच्चे भी बड़ी जिद कर देते हैं झूले से उतरने में। जब तक कि माँ-बाप उनको उतार ही न दें। रोते-चीखते वे बैठे हैं। जब तक इनको भी कोई उतार ही न ले इन घोड़ों पर से, तब तक वे अपनी तरफ से नहीं उतरते।

यह सारा का सारा...। और पहुँचना कहीं भी नहीं है। यात्रा बहुत है। तेज गति है। भाव जरूर है कि कहीं पहुँच जाएँगे।

सिद्धि का अर्थ है: ऐसी जगह, जहाँ से कहीं और जाने का भाव न उठे। जब तक कहीं जाने का भाव उठता है, तब तक संसार है। सिद्धि का अर्थ है: जहाँ आप हैं, वहीं परम स्थान है। उसके अतिरिक्त कहीं जाने का कोई भाव नहीं है। कोई मोक्ष भी सामने ला के रख दे, तो आप आँख बंद कर लें कि हम तो पहले ही मोक्ष में बैठे हैं।

नान-इन के सम्बंध में एक कथा है। वह एक झेन फकीर है; एक पहाड़ की तलहटी पर रहता था। पहाड़ पर ऊपर एक तीर्थ था और हजारों यात्री वर्ष में यात्रा करते थे--पैदल--पहाड़ पर। नान-इन पहाड़ की तलहटी में एक झाड़ के नीचे लेटा रहता था। अनेक साधु भिक्षु भी यात्रा पर जाते थे। अज्ञान का कोई गृहस्थों से

सम्बंध नहीं है। साधु-संन्यासी भी वैसे ही अज्ञान में हैं। भिक्षु भी, संन्यासी भी--वे भी पहाड़ पर यात्रा करने जाते हैं। जैसे वहाँ कुछ हो! नान-इन झाड़ के नीचे पड़ा रहता था।

एक दिन कुछ भिक्षुओं ने उसे देखा। वे भी विश्राम करने उसके वृक्ष के पास रुके थे। उन्होंने कहा, 'नान-इन, हम हर वर्ष यात्रा पर आते हैं। तुम इस झाड़ के नीचे कब तक पड़े रहोगे? यात्रा नहीं करनी है? हमने तुम्हें कभी तीर्थ के उस मंदिर में नहीं देखा, पहाड़ की चोटी पर नहीं देखा?' नान-इन ने कहा कि 'तुम जाओ। हम वहीं हैं, जहाँ तीर्थ है। हम उस जगह बहुत पहले पहुँच गए हैं। जहाँ तुम पहाड़ पर खोज रहे हो--जिस जगह को--वहाँ हम बहुत पहले पहुँच गए हैं। हम तीर्थ पर हैं। और नान-इन जहाँ होता है, वहीं तीर्थ होता है।'

समझा उन्होंने कि यह आदमी पक्का नास्तिक मालूम होता है, अहंकारी मालूम होता है। क्योंकि नान-इन ने कहा, 'नान-इन जहाँ होता है, वहीं तीर्थ है। तीर्थ हमारे साथ चलता है। तीर्थ हमारी हवा है। हम तीर्थ में नहीं जाते।'

लेकिन यह नान-इन ठीक कह रहा है। यह एक सिद्ध पुरुष के वचन हैं।

जिस दिन कहीं जाने को कुछ शेष न रह जाय. . .। कब होगा ऐसा? ऐसा तभी होगा, जब कोई वासना न रह जाएगी। जब तक कोई वासना है, तब तक कहीं जाने का मन बना ही रहेगा।

वासनाग्रस्त आदमी कहीं न कहीं जा रहा है, जाने की सोच रहा है; योजना बना रहा है; मगर जा रहा है। वस्तुतः न जा रहा हो, तो कल्पना में जा रहा है। लेकिन वासनाग्रस्त आदमी कहीं न कहीं जा रहा है। एक बात पक्की है: वासनाग्रस्त आदमी वहाँ नहीं मिलेगा, जहाँ वह है। वहाँ आप उसको नहीं खोज सकते। अपने घर में वह कभी नहीं ठहरता। वह हमेशा कहीं और अतिथि है।

सिद्ध पुरुष का अर्थ है: जो अपने घर में आ गया; जो अब वहीं है--जहाँ है। उससे अन्यथा जाने का कोई भाव नहीं है। उससे अन्यथा जाने की कहीं कोई वृत्ति नहीं है। उससे अन्यथा होने की कोई कामना नहीं है। जो है, जहाँ है, जैसा है--राजी है। यह राजीपन पूरा है।

'इस संसार से मुक्त होकर ज्ञानीजन जिस ज्ञान को पाकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गए हैं, वह मैं फिर से तेरे लिए कहूँगा। हे अर्जुन, इस ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में भी व्याकुल नहीं होते हैं।'

'इस ज्ञान को आश्रय करके, धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में व्याकुल नहीं होते।' जो व्यक्ति

अपने स्वभाव में ठहर गया, ज्ञान में ठहर गया, जिसे कुछ जानने को शेष न रहा और जिसे पहुँचने को कोई जगह न रही, जो विश्राम को उपलब्ध हो गया, जो सिद्ध हो गया--कृष्ण कह रहे हैं, ऐसा पुरुष फिर न तो पैदा होता है और न वस्तुतः मरता है। सृष्टियाँ पैदा होती रहेंगी, लेकिन सृष्टि का जाल फिर उसे अपने चक्र में न खींच पायेगा। चक्र घूमते रहेंगे सृष्टि के, लेकिन सृष्टि का कोई भी आरा फिर उस पुरुष को अपनी ओर आकर्षित न कर पायेगा, क्योंकि जिसको जाने की कहीं वासना न रही, वह सृष्टि में भी नहीं जाएगा। सृष्टि में हम जाते इसीलिए हैं, पैदा हम इसीलिए होते हैं कि हमें कहीं पहुँचना है। यह हमारा पैदा होना भी वाहन है, यह शरीर भी हमारे यात्रा का वाहन है, इसे हमने चुना है--किन्हीं वासनाओं के कारण। कुछ हम करना चाहते हैं, बिना शरीर के वह न हो सकेगा।

जो लोग प्रेतात्माओं का अध्ययन करते हैं, वे कहते हैं कि प्रेतात्माओं की एक ही पीड़ा है कि उनके पास वासनाएँ तो वही हैं, जो आपके पास हैं, लेकिन वासनाओं को पूरा कर सकें, ऐसा कोई उपकरण नहीं है। क्रोध उनको भी आता है, लेकिन चाँटा मारना मुश्किल है, क्योंकि हाथ नहीं हैं। काम-वासना उनको भी जगती है, लेकिन काम-वासना का कोई यन्त्र उनके पास नहीं है कि संभोग कर सकें। इसलिए प्रेतात्म-विद् कहते हैं कि ऐसी आत्माएँ निरन्तर कोशिश में होती हैं कि किसी घर में मेहमान हो जायँ, किसी व्यक्ति के शरीर में मेहमान हो जायँ, और अगर आप थोड़े कमजोर हैं, संकल्प से थोड़े हीन हैं. . .। संकल्पहीन आदमी का मतलब होता है, जो सिकुड़ा हुआ है, जिसके भीतर खाली जगह है। संकल्पवान आदमी का अर्थ होता है: जो फैला हुआ है, जिसके भीतर कोई जगह नहीं है। सच में जो अपने शरीर से बाहर भी जी रहा है। भीतर की तो बात ही अलग। जो फैल के जी रहा है। ऐसे व्यक्ति में प्रेतात्माएँ प्रवेश नहीं कर पाती हैं। लेकिन जो सिकुड़ के जी रहा है--डरा हुआ. . .। डरे हुए का मतलब --सिकुड़ा हुआ। जो अपने ही घर में एक कोने में छिपा है; बाकी घर जिसने खाली छोड़ रखा है। जिसका शरीर भी बहुत-सा खाली पड़ा है, उसमें कोई प्रेतात्मा प्रवेश कर जाएगी। क्योंकि प्रेतात्मा कोशिश में है: शरीर मिल जाय, तो वासनाएँ पूरी हो सकें।

आप भी शरीर में इसीलिए प्रविष्ट हुए हैं, गर्भ में इसीलिए प्रविष्ट हुए हैं कि कुछ वासनाएँ हैं, जो अधूरी रह गई हैं। पिछले मरते क्षण में कुछ वासनाएँ थीं जो आपके मन में अधूरी रह गई हैं, वे आपको खींच लाई हैं। मरते क्षण में आदमी की जो वासना होती है, वही वासना उसके नए जन्म का कारण बनती है। या मरते क्षण में उसके जीवन भर का जो सार-निचोड़ होता है--उसकी आकांक्षाओं का, वही उसे धक्का देता है--नए गर्भ में प्रविष्ट हो जाने का।

कृष्ण कहते हैं: जो सिद्ध पुरुष है, वह साधारण जन्म-मरण में तो फँसेगा ही

नहीं, साधारण गर्भ में तो प्रवेश ही नहीं करेगा, क्योंकि जिसको कहीं जाना नहीं, वह ट्रेन में किसलिए सवार हो, वह किसलिए टिकट खरीदेगा--जाकर क्यू में खड़े हो कर; किसलिए धक्के खायेगा ? कोई कारण नहीं है । उसे कहीं जाना नहीं है ।

शरीर एक यात्रा-वाहन है । और गर्भ के द्वार पर वैसा ही क्यू है, जैसा किसी भी यात्रा-वाहन पर लगा होता है । वहाँ भी उतनी ही धक्का-मुक्की है । वहाँ भी गर्भ में प्रवेश करने के लिए उतना ही संघर्ष है ।

क्या आपको पता है कि एक संभोग में कोई एक करोड़ जीव-कोष गर्भ की तरफ यात्रा करते हैं । उनमें से एक--वह भी कभी-कभी--शरीर ग्रहण कर पाता है । बायोलॉजिस्ट कहते हैं कि दौड़--संघर्ष की--वहीं शुरू हो जाती है--संभोग के क्षण में । जैसे ही पुरुष का वीर्य प्रवेश करता है स्त्री में, एक करोड़ कम से कम, ज्यादा से ज्यादा दस करोड़ --एक संभोग के क्षण में इतने जीव-कण स्त्री में छिपे हुए अंडे की तरफ दौड़ना शुरू करते हैं । यह दौड़ बड़ी लम्बी है; उनके हिसाब से बहुत लम्बी है, क्योंकि जीव-कण बहुत छोटा है; खाली आँख से दिखाई नहीं पड़ सकता । उतने छोटे जीव-कण के लिए कोई थोड़े से इंचों की दौड़ उतनी ही है कि अगर जीव को आपके बराबर कर दिया जाये अनुपात में, तो दो मील का फासला है । उस अनुपात में वीर्य कण को करीब-करीब दो मील का फासला पार करना पड़ रहा है--स्त्री के अंडे तक पहुँचने के लिए । अगर वीर्य-कण आपके बराबर हों, तो फासला दो मील के बराबर होगा । छः घंटे के बीच उस छोटे से जीवाणु को. . .। और भयंकर संघर्ष है, क्योंकि एक करोड़ जीवाणु भी भाग रहे हैं । आपकी सड़क पर ट्रैफिक में वैसा जाम नहीं है । वे सभी एक करोड़ जीव-कोष उतनी ही कोशिश कर रहे हैं कि अंडे तक पहुँच जायँ, क्योंकि उस अंडे में छिपा है शरीर--जहाँ से व्यक्ति पैदा होगा और यंत्र उपलब्ध हो जाएगा ।

बायोलॉजिस्ट कहते हैं कि इस दुनिया में जो प्रतियोगिता दिखाई पड़ रही है, वह कुछ भी नहीं है । जिसको बाजार में गला-घोंट-प्रतियोगिता कहते हैं, थ्रोट-कट कॉम्पिटिशन--वह कुछ भी नहीं है । क्योंकि एक करोड़ में से एक पहुँच पायेगा अंडे तक । जो पहले पहुँच जाएगा, वह प्रवेश कर लेगा । और अंडा कुछ इस भाँति का है कि जैसे ही एक जीव-कोष प्रवेश करता है, अंडे के द्वार बंद हो जाते हैं । फिर दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता । इसीलिए कभी-कभी दो बच्चे एक साथ पैदा हो जाते हैं, अगर दो जीव-कोष बिलकुल एक साथ पहुँच जायँ अंडे के द्वार पर, तो दोनों प्रवेश कर जाते हैं । लेकिन ऐसा मुश्किल से होता है । दोनों बिलकुल एक साथ, युगपत--एक क्षण के हजारवें हिस्से का भी फासला न हो--तो दो या तीन भी कभी हो जाते हैं; चार भी कभी हो जाते हैं ।

एक व्यक्ति जीवन में कोई चार हजार संभोग करता है । चार हजार संभोग में, कोई अगर पुराने ढंग का भारतीय हो तो ज्यादा से ज्यादा बीस बच्चे पैदा कर सकता है । चार हजार संभोग में बीस मौके हैं कुल; और प्रत्येक संभोग में कोई एक करोड़ से दस करोड़ तक जीवाणु यात्रा करेंगे ।

जितने लोग इस समय पृथ्वी पर हैं--कोई चार अरब--एक एक व्यक्ति के भीतर चार अरब जीव-कोष हैं । एक व्यक्ति इतनी पूरी पृथ्वी को पैदा कर सकता है । लेकिन पैदा होंगे : दस बच्चे, बीस बच्चे--ज्यादा से ज्यादा । दो-चार बच्चे सामान्यतः । इतना भयंकर संघर्ष है । इतना भयंकर युद्ध है । वहाँ भी क्यू है ! इतनी आत्माएँ दौड़ती हैं--एक शरीर को पकड़ने को । बड़ी वासना होगी ।

बायोलॉजिस्ट चकित हैं कि छोटा-सा जीव-कण इतनी स्पर्धा से दौड़ता है, इतनी त्वरा से दौड़ता है, इतनी तेजी से दौड़ता है । और सब तरह से कोशिश करता है कि दूसरों को पीछे छोड़ दे और आगे निकल जाय । उससे पता लगता है कि आत्माएँ कितने जोर से शरीर को पकड़ने की चेष्टाएँ कर रही होंगी । कितनी विराट् वासना भीतर धक्के नहीं दे रही होगी ।

सिद्ध पुरुष इस गर्भ में पैदा होने, जन्म लेने और मृत्यु से तो छूट ही जाता है ।

पूरी सृष्टि भी इसी भाँति विलीन होती है, जैसे हर व्यक्ति मरता है. . . । हर वस्तु मरती है, ऐसा पूरी सृष्टि भी मरती है, क्योंकि पूरी सृष्टि का प्रारम्भ होता है, तो अंत भी होता है । पूरी सृष्टि के प्रारंभ में और अंत के क्षण में भी जब सब जन्मता है फिर से, सब ताजा होता है फिर से, तब भी सिद्ध पुरुष डाँवाडोल नहीं होता । क्योंकि यहाँ भी कुछ पाने को नहीं है । पूरी सृष्टि फिर से बन रही है, फिर से जीवन जग रहा है; फिर सूरज और चाँद-तारे पैदा हो रहे हैं; फिर पृथ्वियाँ बसेंगी; फिर सारे खेल का विस्तार होगा । इस विराट् सृष्टि के क्रम में भी वह दूर खड़ा रह जाता है । वह अपनी जगह तृप्त है । यह विराट् आयोजन भी उसे बुला नहीं सकता; इसका भी कोई निमंत्रण कारगर नहीं है । उसे अब कोई नहीं हिला सकता ।

और जब पूरी सृष्टि भी नष्ट होगी और प्रलय होगा और भयंकर पीड़ा होगी . . .। क्योंकि एक-एक व्यक्ति के मरने पर हम समझते हैं : कितनी पीड़ा और कितना दुःख, और कितना संताप है । जब पूरी सृष्टि अंतिम क्षण में प्रलय में लीन होती है, भयंकर हाहाकार है; उससे बड़े हाहाकार की हम कोई कल्पना नहीं कर सकते । दुःख अपनी चरम अवस्था पर होता है । उस क्षण में भी कृष्ण कहते हैं, प्रलय काल में भी सिद्ध पुरुष व्याकुल नहीं होता ।

जिसकी कोई वासना नहीं है, उसकी कोई पीड़ा भी नहीं है । जिसकी कोई वासना नहीं है, दूसरे की भी पीड़ा देख के उसको दया आ सकती है, व्याकुलता नहीं

होती। इस फर्क को समझ लेना चाहिए।

अगर बुद्ध के सामने आप मर रहे हों, तो बुद्ध व्याकुल नहीं होते। दया आ सकती है। दया आपकी मूढ़ता पर आती है। क्योंकि दुःख आपका सृजित किया हुआ है। ऐसे जैसे एक बच्चा रो रहा है, क्योंकि उसकी गुड़िया की टाँग टूट गई है। रोने में कोई भेद नहीं है। रोना वास्तविक है। टाँग चाहे गुड़िया की हो, चाहे पत्नी की हो। टाँग असली है कि नकली है--यह दूसरी बात है, लेकिन बच्चे के आँसुओं में तो कोई झूठ नहीं है।

एक बच्चे की गुड़िया की टाँग टूट गई है, बच्चा रो रहा है आपके सामने; आप दुःखी होते हैं या दया से भरते हैं? आप व्याकुल होते हैं या करुणा से भरते हैं? या आपको बच्चे पर दया आती है कि बेचारा! इसे कुछ पता नहीं--कि यह गुड़िया मरी ही हुई है। इसमें कुछ टूटने का मामला नहीं है। यह टाँग टूटी ही हुई थी।

इस बच्चे को आप खिलाते हैं, हँसाते हैं; दूसरी गुड़िया पकड़ाते हैं। लेकिन आप गंभीर नहीं हैं। यह एक खेल था, जिसको बच्चे ने ज्यादा गंभीरता से ले लिया, इसलिए दुःखी हो रहा है।

बच्चा गुड़िया के कारण दुःखी नहीं हो रहा है। अपनी गंभीरता और मूढ़ता के कारण दुःखी हो रहा है।

बुद्ध जब आपको पीड़ा में देखते हैं, तब वे जानते हैं कि आपकी पीड़ा भी बचकानी है।

किसी का घर जल गया है, जो उसका था ही नहीं। किसी की पत्नी मर गई है। कौन किसका हो सकता है? किसी का पति खो गया है; जो कभी अपना नहीं था, वह खो कैसे सकता है? किसी का धन चोरी चला गया है!

इस जगत् में कोई मालकियत सच नहीं है। चोरी कैसे हो सकती है? यहाँ मालिक झूठे हैं; चोर झूठे हैं। चौर इसलिए हैं कि मालिक हैं। एक झूठ दूसरे झूठ को पैदा करता है।

तो बुद्ध दया कर सकते हैं। और अगर आप बहुत ही रोएँ-गाएँ, तो वे आपको समझा-बुझा भी सकते हैं। लेकिन वह समझाना-बुझाना सिर्फ दयावश है। इसमें कोई व्याकुलता नहीं है।

जिस दिन पूरी सृष्टि भी विनष्ट हो रही हो, उस दिन भी सिद्ध पुरुष, कृष्ण कहते हैं, व्याकुल नहीं होता। और अर्जुन व्याकुल हो रहा है--जरा-सा युद्ध खड़ा है उससे। पूरी सृष्टि के हिसाब से वह युद्ध न-कुछ है। गुड़ियों का खेल है। बड़ा व्याकुल हो रहा है।

कृष्ण कहते हैं: मैं तुझे वह ज्ञान कहूँगा, फिर से कहूँगा, जिससे प्रलय काल में

भी सिद्ध पुरुष व्याकुल नहीं होते। यह युद्ध तो बिलकुल खेल है।

'हे अर्जुन, मेरी महत ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है। और मैं इस योनि में चैतन्यरूप बीज को स्थापन करता हूँ। उस जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।'

'त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है।'... कृष्ण कहते हैं कि सारा जगत् एक गहन स्वप्न से पैदा होता है। जिस जगत् को हम देखते हैं, वह वास्तविक कम, स्वप्नमय ज्यादा है। वह पदार्थ से कम बना है और वासना से ज्यादा बना है। उसका निर्माण इच्छाओं के सघनभूत रूप से हुआ है। इसलिए भारत ने एक शब्द चुना है, जो है--माया।

यह 'माया' शब्द बहुत अद्भुत है। और ऐसा शब्द दुनिया की किसी भाषा में खोजना आसान नहीं है, क्योंकि ऐसी दृष्टि, ऐसे तत्त्व के सम्बंध में खोज किसी और संस्कृति में पैदा नहीं हुई। पश्चिम में जो शब्द है--मैटर,वह माया का ही एक विकृत रूप है। मूल धातु संस्कृत की वही है--मैटर की भी--जो माया की है। लेकिन पश्चिम का विज्ञान कहता है कि जगत् मैटर से, पदार्थ से बना है। लेकिन अब पदार्थ की खोज जैसे-जैसे गहरी हुई, वैसे-वैसे उनको पता चला कि पदार्थ तो है ही नहीं। बिलकुल माया है पदार्थ। जैसे ही खोज करके वे इलेक्ट्रान्स पर पहुँचे, वैसे उनको पता चला कि वहाँ तो पदार्थ है ही नहीं। सिर्फ दिखता था, है नहीं। मौलिक जो आधार-भूत तत्त्व है विद्युत, वह तो अदृश्य है। उसे अब तक किसी ने देखा नहीं। उसे कोई कभी देख भी नहीं सकेगा। वह है भी या नहीं--इसको हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। पदार्थ दिखाई पड़ता है और पदार्थ नहीं है; उसका आण्विक रूप अदृश्य है। वही है।

पश्चिम में मैटर का भी अर्थ अब माया ही करना चाहिए। अब कोई फर्क नहीं रहा। मूल धातु वही है। लेकिन अब तो मैटर शब्द का अर्थ भी माया भी हो गया है। माया का अर्थ है: जो दिखाई पड़ता है--और है नहीं। जो सब भाँति प्रतीत होता है कि है--और है नहीं।

ध्यान रहे: भारतीय मनीषा की खोज तीन हैं।

एक: सत्य--जो है और दिखाई नहीं पड़ता। उसे हम ब्रह्म कहें, ईश्वर कहें परमात्मा कहें--जो भी नाम देना चाहें। परम सत्य --जो है और दिखाई नहीं पड़ता।

दूसरा: परम असत्य--जो नहीं है। और नहीं है इसलिए दिखाई पड़ने का कोई कारण ही नहीं है। और तीसरा--दोनों के मध्य में माया--जो दिखाई पड़ती है और नहीं है।

ये तीन तल हैं। माया मध्यवर्ती तल है। माया दिखाई पड़ती है ऐसे, जैसे

ब्रह्म दिखाई पड़ना चाहिए--जो है--वास्तविक । और माया नहीं है--वैसे, जैसे कि असत्य, जो कि है ही नहीं । माया मध्यवर्ती तत्त्व है । भास, अपीयरेन्स--सिर्फ प्रतीत है ।

आपकी वासनाएँ प्रतीतियाँ हैं । हैं नहीं; सिर्फ भाव है; सिर्फ स्वप्न है । और जब तक आप उनको सत्य मानते हैं, तब तक बड़े सत्य मालूम होते हैं । जैसे ही आप जागते हैं, सब असत्य हो जाते हैं ।

जिब्रान की एक छोटी-सी कहानी है । एक आदमी एक अजनबी देश में आया । वह उस देश की भाषा नहीं जानता है । एक बड़े महल में उसने लोगों को आते-जाते देखा, तो वह भी भीतर प्रविष्ट हो गया । द्वारपालों ने झुक-झुक कर नमस्कार किया, तो उसने समझा कि यह कोई महाभोज है । वह एक बहुत बड़ी होटल थी । लोग खा रहे थे । आ रहे थे, जा रहे थे, पी रहे थे । टेबलें भरी थीं । वह भी एक खाली टेबल पर जा कर बैठ गया । एक बैरा आया । सामने उसने भोजन रखा । वह बहुत चकित हुआ । उसने सोचा कि कोई महाभोज है । वह बहुत खुश भी हुआ । उसने सोचा कि यह गाँव बड़ा अतिथियों का प्रेमी है । मैं अजनबी, अनजान आदमी; भाषा नहीं जानता; मेरा इतना स्वागत किया जा रहा है !

फिर बैरा ने उसको, जब भोजन पूरा हो गया, तो उसका बिल लाकर दिया । तो वह सोचा कि गजब के लोग हैं ! न केवल भोजन देते हैं, बल्कि लिखित धन्यवाद भी देते हैं । तब हलचल शुरू हुई, क्योंकि बैरा उससे कहने लगा कि वह पैसे चुकाये और वह झुक-झुक के धन्यवाद करने लगा । वे दोनों एक दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ हैं ।

आखिर बैरा उसे मैनेजर के पास ले आया । उसने कहा, धन्य मेरे भाग । न केवल महल के नौकर-चाकर सेवा करते हैं, मालिक खुद . . . ! वह झुक-झुक के नमस्कार करता, बहुत-बहुत धन्यवाद देता । और मैनेजर ने कहा, या तो आदमी पागल है या हद दर्जे का धूर्त है । इसे अदालत ले जाओ ।

उसे एक गाड़ी में बैठा के अदालत ले जाने लगे । उसने सोचा कि ऐसा लगता है कि ये सब इतने प्रसन्न हो गए हैं कि मुझे नगर का जो सम्राट् है उसके पास ले जा रहे हैं । अदालत बड़ा भवन था और मजिस्ट्रेट सजा-धजा बैठा हुआ था । बड़ी शानदार रौनक थी । तो वह जा कर झुक-झुक के नमस्कार किया । उसने बहुत धन्यवाद दिये । और मजिस्ट्रेट ने कहा कि 'यह आदमी ! कुछ समझ में नहीं आता । इसे कुछ भी कहो, सुनता नहीं । वह अपनी ही लगाए हुए है । क्या कह रहा है, इसका भी कुछ पता नहीं चलता । लेकिन इस तरह की घटना दुबारा नहीं घटनी चाहिए ।' तो उस गाँव का रिवाज था, तो उस आदमी को दंड दिया गया कि उसे गधे पर उलटा बैठा

दिया जाय और उसकी छाती पर एक तख्ती लगा दी जाय कि यह आदमी धूर्त है । इससे सावधान । नगर में कोई इसका भरोसा न करे ।

जब वह गधे पर बैठा गया उलटा और उसके गले में तख्ती टाँगी गई, तब तो उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही । उसने सोचा : न केवल वे प्रसन्न हैं, बल्कि पूरे गाँव में घुमाकर लोगों को दिखाना चाहते हैं कि देखो, कैसा अतिथि हमारे गाँव में आया है । अभी तक . . . ।

वह बड़ा प्रसन्न था । वह बिलकुल अकड़ के बैठा हुआ था । उसकी अकड़, उसकी प्रसन्नता में जरा भी असत्य नहीं है । जो हो रहा है, इसका उसे कुछ पता नहीं है । लेकिन जो वह सोच रहा है, उसका उसे पक्का भरोसा है । वह बहुत खुश है । उसकी खुशी का कोई अंत नहीं था । लेकिन एक ही पीड़ा थी--कि काश, उसके गाँव के लोग भी उसकी ये शान-शौकत . . .एक भी आदमी देख लेता तो उसके घर तक खबर पहुँच जाती कि किस तरह . . . । जिसके गाँव के लोगों ने कभी चिन्ता न की जिसकी, आज उसका कैसा विराट् भव्य स्वागत समारंभ हो रहा है ।

तभी उसे भीड़ में . . . । बच्चे दौड़ रहे हैं, लोग चल रहे हैं; आस-पास भीड़ इकट्ठी हो गई है, लोग मजा ले रहे हैं । लोग बड़े खुश हैं । और वह भी बड़ा खुश है और बड़ा प्रसन्न है । तभी उसे एक आदमी दिखाई पड़ा, जो उसके गाँव का रहने वाला है, जिसने बहुत साल पहले गाँव को छोड़ दिया था, उसे देख के उसकी छाती फूल गई । उसने कहा, देखो, मेरे भाई . . . । लेकिन वह आदमी नीचे सिर झुका के भीड़ में सरक गया । क्योंकि वह वहाँ की भाषा समझता था । वह अनेक दिन से वहाँ था । उसने देखा कि यह कैसा अपमान हो रहा है । लेकिन गधे पर बैठे हुए आदमी ने सोचा : आश्चर्य; ईर्ष्या की भी सीमा होती है ! ईर्ष्यावश . . . । इसका स्वागत नहीं हुआ और मेरा स्वागत हुआ है । तो यह सिर झुका के भीड़ में नदारद हो गया ।

वह आदमी आनंदित ही घर लौटा । उसने यह कहानी अपने गाँव में सब लोगों को कही । जहाँ तक इसके भीतर के सोचने का सम्बंध है, सभी कुछ सही जैसा है । लेकिन जहाँ तक सत्य से सम्बंध है, उसका सत्य से कोई भी सम्बंध नहीं है ।

आप जिस जगत् में रह रहे हैं, कृष्ण उसको माया कहते हैं । और वे कहते हैं : सारा जन्म इस माया से होता है । माया को वे कहते हैं कि 'प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है', समस्त भूतों का गर्भस्थल है । वहाँ से सब पैदा होते हैं । उसी स्वप्न में, उसी वासना में, उसी इच्छा में--कुछ होने, कुछ पाने की दौड़ में एक विराट् स्वप्न का जन्म होता है ।

'मैं उस योनि में चेतन रूप बीज को स्थापित करता हूँ । उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है ।'

माया तो जड़ है, वासना का जगत् तो जड़ है। वह पदार्थ है। मेरा अंश उसमें चेतन रूप से प्रविष्ट होता है और जीवन की उत्पत्ति होती है।

इसे हम विस्तार से धीरे-धीरे समझेंगे।

इसमें दो बातें खयाल में ले लेनी चाहिए।

हमारा शरीर दो तत्त्वों का जोड़ है : एक माया--जिसको हम पदार्थ कहें। और एक चेतन--जिसको हम परमात्मा कहें।

मनुष्य दो चीजों का जोड़ है। मनुष्य एक संयोग है--पदार्थ का और परमात्मा का।

मृत्यु में पदार्थ और परमात्मा अलग होते हैं। न तो कोई मरता, न कोई विनष्ट होता। क्योंकि पदार्थ मरा ही हुआ है; उसके मरने का कोई उपाय नहीं। परमात्मा अमर्त्य है, उसके मरने का कोई उपाय नहीं। सिर्फ संयोग टूटता है।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि वासना के माध्यम से पदार्थ और चेतना में संयोग जुड़ता है--माया के माध्यम से। और ज्ञान के माध्यम से संयोग स्पष्ट हो जाता है--कि संयोग है। मृत्यु में संयोग टूटता है। जन्म में संयोग बनता है।

अज्ञान में लगता है कि मैं शरीर हूँ; ज्ञान में लगता है : मैं पृथक् हूँ। जैसे ही यह बोध किसी व्यक्ति को हो जाता है कि मैं पृथक् हूँ और शरीर पृथक् है; चैतन्य और जड़ अलग-अलग हैं--माया और ब्रह्म अलग-अलग हैं, जैसे ही यह बोध साफ हो जाता है, इस सारे जगत् का खेल सिर्फ आभास रह जाता है। युद्धों का होना, लोगों का पैदा होना या मरना, महामारियाँ, जीवन या मृत्यु--सब एक बड़े नाटक के हिस्से हो जाते हैं। क्योंकि मृत्यु असम्भव है। केवल संयोग टूटते हैं; कुछ मरता नहीं है। कुछ मर सकता नहीं है।

कृष्ण अर्जुन को एक ही बात का बोध दिलाने की कोशिश कर रहे हैं। वह मृत्यु को देखकर भयभीत है। वह सोच रहा है : मृत्यु होगी। कृष्ण कहते हैं : मृत्यु एक असत्य है; वह माया का एक आभास है। जन्म भी एक असत्य है; वह भी सिर्फ, माया का आभास है। लेकिन जब तक हम माया में होते हैं, तब तक हमें सत्य मालूम होता है। ठीक जैसे रात सपना देखते हैं। सपने के क्षण में तो सपना बिलकुल ही सच मालूम होता है।

यह जगत् एक विराट्तर सपना है। कहें कि यह ईश्वर के चित्त में चल रहा सपना है। हमारे सपने निजी होते हैं, यह सपना विराट् है। जैसे हम अपने सपने से सुबह जागते हैं और सपना फिजूल हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इस सपने से जाग जाता है--इस विराट् सपने से--और यह सपना व्यर्थ हो जाता है।

सुबह जाग कर आप रोते नहीं हैं कि रात मैंने एक आदमी की हत्या कर दी। न सुबह जा कर गाँव में ढिंढोरी पीटते हैं कि रात मैंने एक भूखे आदमी को सपने में रोटी खिला दी। सुबह आप जानते हैं कि सपना सपना था। न तो सपने की हत्या सच थी, और न सपने की सेवा सच थी। न तो पाप का भाव पैदा होता है सुबह, न पुण्य का। सपने को जानते ही कि सपना है, सब भाव खो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष इस विराट् सपने से भी जाग जाता है। एक और जागरण है, उस जागरण का नाम ही ध्यान है, समाधि है। उस जागरण में ज्ञानी पुरुष जानता है कि वह जो उसने देखा है--युद्ध थे, शान्तियाँ थीं; प्रेम था, घृणा थी; मित्र थे, शत्रु थे; वे सब स्वप्नवत् खो गए।

कृष्ण कहते हैं : वह ज्ञान मैं तुझे फिर से कहूँगा--वह परम ज्ञान, जिसे जानकर व्यक्ति परम सिद्धि को उपलब्ध हो जाता है।

आज इतना ही।

दूसरा प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक २ दिसम्बर, १९७३

युधिष्ठिर और अर्जुन में फर्क • मृत्यु और धर्म • कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है
त्रिगुणात्मक जीवन के पार

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे अर्जुन, नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करनेवाली माता है और मैं बीज को स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

हे अर्जुन, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण--ऐसे यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।

हे निष्पाप, उन तीनों गुणों में प्रकाश करनेवाला निर्विकार सत्त्वगुण तो निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाँधता है।

सूत्र के पहले थोड़े से प्रश्न ।

● पहला प्रश्न : पाण्डवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर को धर्मराज कहा गया है, लेकिन कृष्ण ने धर्मराज को छोड़कर अर्जुन को गीता कही--ऐसा क्यों? क्या धर्मराज पात्र न थे?

इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें समझनी जरूरी हैं। पहली बात : धर्म को जानना --शास्त्र से, परम्परा से--एक बात है। धर्म को जानना--जीवन से--बिलकुल दूसरी बात है। और जीवन से केवल वे ही जान सकते हैं, जिनके ऊपर शास्त्रों का, परम्परा का बोझ न हो।

जिनके ऊपर शास्त्रों का बोझ है, उनकी जिज्ञासा कभी भी मौलिक नहीं हो पाती। उनकी जिज्ञासा भी झूठी होती है। वे प्रश्न भी पूछते हैं, तो शास्त्रों के कारण। प्रश्न भी उनके अपने नहीं होते। उनके प्रश्न सैद्धान्तिक होते हैं। वे तत्त्व की चर्चा करते हैं--जैसा एक विचारक करे। लेकिन वे तत्त्व की वैसी खोज नहीं करते--जैसा एक साधक करे। उनके लिए तत्त्वचर्चा एक बौद्धिक विलास है, जीवन-मरण की समस्या नहीं।

धर्मराज परम्परा से धार्मिक हैं। शास्त्रों ने क्या कहा है, इसे वे जानते हैं। उनका अस्तित्व धार्मिक नहीं है। उन्होंने अस्तित्वगत रूप से धर्म को खोजा नहीं। उनके जीवन में भी उनके स्पष्ट लक्षण मिलेंगे।

परम्परागत रूप से जो आदमी धार्मिक है, उस आदमी के पास कोई निज की चेतना नहीं होती। वह स्वयं नहीं सोचता। नियम के अनुसार चलता है। नियम अगर गलत हो, तो वह गलत चलता है। नियम अगर सही हो, तो वह सही चलता है। समाज जिसे भी ठीक कहता है, उसे वह मानता है--चाहे वह गलत ही क्यों न हो।

महाभारत के उन दिनों में जूए को अनैतिक नहीं माना जाता था, वह अधार्मिक भी नहीं था। सिर्फ एक खेल था। जैसे कोई आज फुटबाल खेल रहा है, वालीबॉल

खेल रहा है और उस खेल में कोई अनैतिकता नहीं है । ऐसा ही जूआ भी खेल था; एक क्रीड़ा थी । उसमें कोई अनीति नहीं थी । तो समाज में कोई जूए के विपरीत भाव नहीं था ।

युधिष्ठिर जूआ खेल सकते हैं । उन्हें इसमें जरा भी अड़चन नहीं हुई । धर्मराज होने मात्र से जूआ खेलने में उन्हें कोई पीड़ा, कोई विचार नहीं उठा । जूआ ही नहीं खेल सकते, अपनी स्त्री को दाँव पर भी लगा सकते हैं । समाज में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति थी--स्त्री-धन! उन दिनों तक समाज की चेतना इस जगह नहीं थी कि स्त्री को हम स्वतंत्र व्यक्तित्व दिए होते । स्त्री पुरुष की सम्पत्ति थी, पति की सम्पदा थी । तो जब मैं अपना धन लगा सकता हूँ, तो अपनी पत्नी भी लगा सकता हूँ । क्योंकि पत्नी मेरा पजेशन थी, मेरा परिग्रह थी ।

युधिष्ठिर द्रौपदी को दाँव पर लगा सकते हैं । उनकी चेतना को जरा भी चोट नहीं हुई । उन्हें ऐसा नहीं लगा कि मैं यह क्या कर रहा हूँ !

कोई व्यक्ति किसी की सम्पत्ति कैसे हो सकता है? वस्तु सम्पत्ति नहीं हो सकती--वस्तुतः, तो व्यक्ति सम्पत्ति कैसे हो सकता है? व्यक्ति पर कोई मालकियत नहीं हो सकती । और व्यक्तियों को जूए के दाँवों पर नहीं लगाया जा सकता । लेकिन वह समाज, उन दिनों की परम्परा स्त्री को सम्पदा मानती थी; पुरुष उसे जूए पर दाँव पर लगा सकता था ।

तो युधिष्ठिर को कोई अपनी चेतना नहीं है । न अपना कोई विचार है, न अपनी कोई जिज्ञासा है । वे परम्परागत रूप से धार्मिक व्यक्ति हैं । गीता उनसे नहीं कही जा सकती ।

कृष्ण जैसे व्यक्तित्व का सम्पर्क परम्परागत चेतना से नहीं हो सकता । कृष्ण को तो वही समझ पायेगा, जो परम्परागत नहीं है । जो शास्त्र से बँधा नहीं है, और जिसकी जिज्ञासा आन्तरिक है ।

अर्जुन की जिज्ञासा में बड़ा फर्क है । अर्जुन के लिए जीवन-मरण की समस्या है । युद्ध के इस क्षण में वह कोई शास्त्र का विवेचन नहीं उठा रहा है । युद्ध के इस क्षण में उसकी चेतना में ही यह पीड़ा खड़ी हो गई है, एक अन्तर्द्वंद्व उठ खड़ा हुआ है--कि जो मैं कर रहा हूँ, वह क्या करने योग्य है?

वस्तुतः सच तो यह है कि शास्त्र तो कहते हैं कि क्षत्रिय का धर्म है कि लड़े । क्षत्रिय को युद्ध में कुछ भी पाप नहीं है । क्षत्रिय काटे--इसमें कुछ पाप नहीं है । वह उसके क्षत्रिय होने का हिस्सा है । लेकिन अर्जुन को एक अस्तित्वगत, ऐक्जिस्टेन्शियल सवाल खड़ा हो गया है । वह यह कि अगर मैंने इन सब को मार ही डाला और इन को मार कर मैं इस राज्य का मालिक भी हो गया, तो क्या वह राज्य, वह मालकियत

इतनी कीमत की है कि इतने जीवन नष्ट किए जायें? क्या मुझे यह हक है कि मैं इतने जीवन नष्ट करूँ? सिर्फ इस सुख को पाने के लिए कि मैं सम्राट् हो गया । क्या सम्राट् होने का इतना अर्थ है, इतना मूल्य है? इतने जीवन के विनाश का कोई कारण है?

अर्जुन का सवाल उसकी निजता से उठा है । वह किसी शास्त्र से नहीं आया है । अगर अर्जुन भी शास्त्रीय होता, तो गीता का सवाल ही नहीं उठता । युधिष्ठिर यह सवाल नहीं पूछते ।

युधिष्ठिर जूआ खेलते वक्त नहीं पूछे; पत्नी को दाँव लगाते वक्त नहीं पूछे । युद्ध के क्षण में भी क्यों पूछते । सदा से क्षत्रिय लड़ता रहा है । और अपनी रक्षा के लिए और अपनी सम्पदा के लिए और अपनी सीमा और राज्य के लिए लड़ना उसका कर्तव्य है । यह बात उठती नहीं थी । अर्जुन को उठी ।

अर्जुन बड़ी आधुनिक चेतना है--एक अर्थ में । यह केवल उसी व्यक्ति को उठ सकता है--ऐसी संकट की स्थिति, जो परम्परा से बँधा हुआ नहीं है, युवा है; जीवन्त है; जीवन को जी रहा है और जीवन में समस्याएँ हैं, उनको हल करना चाहता है ।

इसलिए गीता जैसा जीवन्त शास्त्र जगत् में दूसरा नहीं है । क्योंकि गीता जैसी जीवन्त स्थिति किसी शास्त्र के जन्म में कारण-भूत नहीं बनी ।

युद्ध--अत्यंत संकट का क्षण है । जहाँ मृत्यु निकट है, वहाँ जीवन अपनी पूरी ज्योति में जलता है । जितनी घनी होती है मृत्यु, जितना अंधकार मृत्यु का सघन होता है, उतनी ही जीवन की बिजली जोर से चमकती है । मृत्यु के क्षण में ही जीवन का सवाल उठता है कि जीवन क्या है ।

कुरान है, बाइबिल है, महावीर के वचन हैं, बुद्ध के वचन हैं, बड़े बहुमूल्य । लेकिन उनकी परिस्थिति इतनी जीवन्त नहीं है । जीवन के इतने घनेपन--जहाँ मृत्यु चारों तरफ खड़ी हो, जहाँ निर्णय बड़ा मूल्यवान होने वाला है; लाखों लोगों का जीवन निर्भर करेगा--अर्जुन के निर्णय पर । अर्जुन भाग जाता है तो, अर्जुन लड़ता है तो, अर्जुन के ऊपर भाग्य निर्धारण है--लाखों के जीवन का ।

अगर महावीर के पास कोई कुछ पूछने आया, तो उसके जीवन का निर्धारण होगा, उसकी अपनी निजी बात होगी; लेकिन अर्जुन का सवाल बड़ा गहन है । उसके साथ लाखों जीवन बुझेंगे--जलेंगे । वह जो पूछ रहा है--बड़ा शाश्वत है ।

अर्जुन को ही गीता कही जा सकती है--धर्मराज युधिष्ठिर को नहीं ।

और अर्जुन कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं है । यह ध्यान रखें । इसीलिए प्रश्न उठ सका । धार्मिक व्यक्ति होता तो प्रश्न उठता ही नहीं । अगर वह धार्मिक होता, परम्परा के अनुसार हिन्दू होता, तो वह लड़ता । क्योंकि क्षत्रिय का धर्म है--लड़ना । कोई

शास्त्र नहीं कहता हिन्दुओं का कि क्षत्रिय न लड़े। लड़ना उसका धर्म है। वह क्षत्रिय होने के भीतर है।

अगर अर्जुन जैन होता जन्म से, तो लड़ने का सवाल ही नहीं उठता था। लड़ना पाप है। युद्ध का मौका ही नहीं आता। वह कभी का संन्यस्थ हो गया होता; वह कभी का जंगल चला गया होता।

अगर अर्जुन जैन या बौद्ध होता तो कभी का जा चुका होता। अगर हिन्दू होता--परम्परागत--तो लड़ता। यह कोई सवाल नहीं था।

अर्जुन धार्मिक नहीं है, इसीलिए उसकी चिन्तना मौलिक है। वह किसी शास्त्र से, किसी विधि से बँधा हुआ नहीं है। वह किसी को मान के चल नहीं रहा है। जीवन सवाल उठा रहा है, वह अपना उत्तर खोज रहा है। इस खोज से ही कृष्ण उससे संबंध जोड़ पाये।

कृष्ण जैसे व्यक्ति केवल उन्हीं लोगों से सम्बन्ध जोड़ पा सकते हैं, जो बंधे हुए लीक से, किसी लकीर से जुड़े हुए नहीं हैं, जो मुक्त हैं और जिनके प्रश्न अपने हैं।

मेरे पास जैन आते हैं, वे पूछते हैं : 'निगोध क्या है?' जैनों के सिवाय कभी किसी ने मुझसे नहीं पूछा कि निगोध क्या है। क्योंकि किसी के शास्त्र में निगोध का वर्णन नहीं है। वह जैनों के शास्त्र में है। वह जैनों का अपना पारिभाषिक शब्द है। आपके मन में तो सवाल ही नहीं उठ सकता कि निगोध क्या है। यह शब्द ही व्यर्थ है। लेकिन जैन के मन में उठता है--इसलिए नहीं कि उसके जीवन की समस्या है। उसने किताब में पढ़ा है। पढ़ा है, तो सवाल उठता है।

बौद्ध कभी नहीं पूछते कि परमात्मा कहाँ है, क्योंकि उनके शास्त्र में लिखा है : परमात्मा है ही नहीं। हिंदू पूछते हैं : परमात्मा कहाँ है? उसका रूप क्या है? उसने सृष्टि क्यों बनाई? जैन कभी नहीं पूछता कि परमात्मा ने सृष्टि क्यों बनाई! क्योंकि जैन मानता ही नहीं कि सृष्टि बनाई गई है। वह मानता है : सृष्टि शब्द ही गलत है। इसका कभी सृजन हुआ नहीं है। अस्तित्व सदा से है। असृष्ट है। इसकी कोई सृष्टि कभी नहीं हुई। इसलिए बनाने वाले का तो कोई सवाल नहीं है।

लेकिन ये सब सवाल शास्त्रीय हैं। ये आपने कहीं पढ़ लिए। ये उधार हैं। आपने ही जीवन में इनको नहीं खोजा है। शब्द आपके भीतर गए, और शब्दों से नये शब्द पैदा हो गए हैं। ये शब्दों की सन्तान हैं।

लेकिन हिंदू मेरे पास आता है, वह पूछता है : क्रोध से कैसे मुक्त होऊँ। जैन आता है, वह भी पूछता है : क्रोध से कैसे मुक्त होऊँ? बौद्ध आता है, वह भी पूछता है : क्रोध से कैसे मुक्त होऊँ? यह सवाल शास्त्र से नहीं आ रहा है; यह जीवन से आ रहा है। शास्त्र के सवाल तीनों के अलग हैं। जीवन का सवाल तीनों का एक है।

और जब भी कोई व्यक्ति जीवन से प्रश्न उठाने लगेगा, पूछने लगेगा, तो प्रश्न एक हो जाएगा, क्योंकि हर मनुष्य की कठिनाई एक है।

शास्त्र अलग हैं; आदमी एक है। शास्त्र भिन्न-भिन्न हैं, आदमी का स्वभाव एक है। इसलिए गीता अनूठा है शास्त्र। और इसलिए गीता हिन्दू के भी काम आ सकता है, मुसलमान के भी काम आ सकता है, जैन के भी काम आ सकता है, क्योंकि जिस समस्या से वह उठा है, वह समस्या सबकी समस्या है। जब मैं कहता हूँ, सबकी समस्या है, तो आपको थोड़ी हैरानी होगी, क्योंकि आप कोई महाभारत के युद्ध में खड़े हुए नहीं हैं। फिर से सोचें तो आप पायेंगे कि आप महाभारत के युद्ध में ही खड़े हुए हैं।

हर मनुष्य युद्ध में खड़ा हुआ है। प्रतिपल युद्ध है। किसी न किसी से लड़ ही रहे हैं। और जब लड़ रहे हैं, तो किसी न किसी की मृत्यु और जीवन आपके हाथ में है। चाहे इंच-इंच किसी को मिटा रहे हों, चाहे इकट्ठा मिटा रहे हों, लेकिन किसी को आप मिटा रहे हैं; मिटाना चाह रहे हैं। किसी को समाप्त कर देना चाहते हैं। किसी की जगह खुद हो जाना चाहते हैं। और जहाँ-जहाँ संघर्ष है, प्रतिस्पर्धा है, युद्ध है, वहाँ-वहाँ सवाल है : क्या इसका कोई मूल्य है?

एक राजनीतिज्ञ कभी नहीं पूछता कि मैं इतनी दौड़-धूप कर रहा हूँ, इतने लोगों को खींच के पीछे करूँगा, आगे जाऊँगा--क्या इसका सच में कोई मूल्य है कि इतना उपद्रव लिया जाय?

धन की खोज में दौड़ने वाला कभी नहीं सोचता कि मेरे धन की तलाश से कितने लोग निर्धन हो जाएँगे। क्या धन का इतना मूल्य है कि इतने लोग दुःखी और पीड़ित हो जायँ? मेरी तिजोरी भर जाएगी, लेकिन कितने पेट खाली हो जाएँगे! क्या तिजोरी को भरने में इतनी कोई सार्थकता है?

तराजू पर अगर तौले कोई भी, तो जो भी आप कर रहे हैं, आपको पूछना ही पड़ेगा कि यह करने योग्य है? इसके करने का परिणाम जो चारों तरफ हो रहा है, उतना मूल्य चुकाया जाय--ऐसी यह मंजिल है? इतनी यात्रा की जाय और पहुँचें कहीं भी ना...।

प्रत्येक व्यक्ति महाभारत में खड़ा है। और प्रत्येक व्यक्ति के सामने यही सवाल है : मैं दूसरे को मिटाऊँ--अपने होने के लिए?

अर्जुन के सामने सवाल है कि मैं अपने होने के लिए इन सबको मिटाऊँ? उसके सामने सवाल है कि इनमें मेरे मित्र भी हैं, मेरे सम्बन्धी भी हैं। खुद अर्जुन का गुरु सामने दुश्मन के दल में खड़ा है। 'जिससे मैंने सब सीखा, जो मैंने सीखा है--जिससे ही, उसको ही मिटाने के काम में लाऊँ?' प्रियजन हैं, सम्बन्धी हैं। घर का

ही झगड़ा है, पारिवारिक युद्ध है।

ध्यान रहे : सारे युद्ध पारिवारिक हैं, क्योंकि मनुष्यता परिवार है। आप किसी से भी लड़ रहे हों, आपके ही भाई से लड़ रहे हैं। वह भाई कितने पीछे आपसे जुड़ा है, यह दूसरी बात है। लेकिन अगर आप पीछे जाएँगे, तो कहीं न कहीं पायेंगे कि आपके दोनों का पिता--कहीं न कहीं पीछे एक था।

ईसाई कहते हैं कि एक आदमी आदम और महिला ईव उन दोनों से ही सारी मनुष्यता पैदा हुई है। वह ठीक ही है। कहानी ठीक ही है।

हम आज कितने ही दूर हों . . . । वृक्ष की शाखाएँ एक दूसरी शाखाओं से बहुत दूर निकल जाती हैं। उप-शाखाएँ पहचान भी नहीं सकतीं, लेकिन नीचे जड़ में एक वृक्ष से जुड़ी हैं। सारी मनुष्यता एक वृक्ष है। और सारा संघर्ष पारिवारिक है। और जब भी आप किसी को मिटा रहे हैं, तो अपने ही किसी को मिटा रहे हैं। कितना ही अपरिचय हो गया हो, लेकिन जहाँ भी कोई मनुष्य है, वह मुझसे जुड़ा है। मनुष्य होने के कारण हम एक परिवार के हिस्से हैं।

अर्जुन की समस्या आपकी भी समस्या है; हर आदमी की समस्या है। और जब आप लड़ेंगे, जिनको आप दुश्मन मान रहे हैं, अगर थोड़ा पहचानेंगे, गौर करेंगे तो पायेंगे : सगे सम्बन्धी उस तरफ भी खड़े हैं। अन्यथा हो भी नहीं सकता।

इसलिए मैं कहता हूँ कि ठीक से सोचने पर पायेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति महाभारत के युद्ध में है। और थोड़ा होश हो, तो आप भी यही पूछेंगे, जो अर्जुन पूछ रहा है। थोड़ा होश हो, तो आप भी कृष्ण को खोजेंगे, जैसा अर्जुन ने खोज लिया है। और गीता आपके लिए भी सार्थक हो सकती है।

धर्मराज मूल्य के नहीं हैं, उनका बहुत मूल्य नहीं है। अर्जुन मूल्यवान है। और ऐसा सदा होता है। आज भी पण्डित हैं, धर्मगुरु हैं, पोप है, शंकराचार्य हैं, मठाधीश हैं, साधु हैं परम्परागत, संन्यासी हैं, उनका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब धर्मराज हैं। इनकी खोज वास्तविक नहीं है। उनके लिए धर्म भी एक लकीर है, सुविधापूर्ण है, कनवीनिएन्ट है। उसके साथ जीने में उन्हें आराम है, सांत्वना है। और ऐसा सदा हो जाता है।

एक तरफ जीसस है, जो सूली पर लटकता है और एक तरफ वेटिकन का पोप है। क्या सम्बन्ध है? इतना ही सम्बन्ध है कि सूली पर जीसस लटकता है, वेटिकन का पोप सोने की एक सूली अपने गले में लटकाए है। क्या सम्बन्ध है? सूलियों में गले लटकाये जाते हैं, गले में सूलियाँ नहीं लटकाई जातीं! और फिर सोने की सूली का क्या अर्थ है? ये धर्मराज हैं।

पोप को आप अधार्मिक नहीं कह सकते। नियम से जीते हैं। समय पर प्रार्थना

करते हैं। समय पर बाइबिल पढ़ते हैं। जीवन को आचरण में बाँध रखा है। कोई चोर नहीं हैं, बेईमान नहीं हैं, व्यभिचारी नहीं हैं। जो दस आज्ञाएँ बाइबिल में हैं, शायद उनको पूरी तरह पालन करते हैं। लेकिन फिर भी धार्मिक नहीं हैं। फिर भी जीवन में वह ज्योति नहीं है, जो जीसस के जीवन में है।

जीसस की खोज अपनी है। प्राणों को दाँव पर लगाया है, तो खोजा है। पोप की खोज अपनी नहीं है; एक परम्परागत व्यवस्था है। पोप एक पद है। जीसस कोई पद नहीं है। और जीसस होने में कठिनाई है, पोप होने में सुविधा है। सभी पोप होना चाहेंगे। जितने ईसाई पादरी हैं, सभी प्रतिस्पर्धा में हैं कि वे कब पोप के पद तक पहुँच जायँ। लाखों में एक पहुँच पायेगा। बारह लाख कैथोलिक पादरी हैं--सारी दुनिया में। बड़ा साम्राज्य है। बारह लाख पुरोहित--छोटा-मोटा साम्राज्य नहीं है! फिर इन बारह लाख में से एक आदमी पोप पाल तक पहुँच पाता है। इसके चुनाव हैं, सीढ़ियाँ हैं, उनको पार करते-करते कोई एक आदमी पहुँच पाता है। अन्दाजन तीस-चालीस वर्ष में कोई एक आदमी पोप हो पाता है।

जीसस मर गए तैंतीस वर्ष में। पोप होते-होते कोई भी आदमी पचास साल पार कर जाता है, साठ पार कर जाता है। बूढ़ा ही आदमी पोप हो सकता है। क्योंकि यह जो पदों की परम्परा है--एक-एक सीढ़ी चढ़ना है। अगर जीसस होते, तो कभी पोप नहीं हो पाते, क्योंकि तैंतीस साल में कोई पोप हो ही नहीं सकता। उसका तो एक ढाँचा है। और तैंतीस साल के आदमी पर भरोसा भी नहीं किया जा सकता। कोई परम्परा भरोसा नहीं कर सकती कि उसको पोप बनाये। तैंतीस साल का आदमी खतरनाक है।

अमेरिका में हिप्पी युवकों का एक नारा है कि तीस साल के ऊपर जो हो, उसका भरोसा मत करो। क्योंकि तीस साल के बाद मुश्किल है कि आदमी बेईमान न हो जाय। अनुभव आदमी को बेईमान बनाना शुरू कर देता है। और वह जितना अनुभवी होने लगता है, उतनी ही क्रांति क्षीण हो जाती है।

इसके विपरीत मैं अभी एक लेख पढ़ रहा था, एक बूढ़े आदमी ने लेख लिखा है और उसने कहा है कि 'तीस साल से कम उम्र के आदमी का कोई भरोसा मत करो।' उसकी भी दलीलें हैं। वह कहता है कि तीस साल के पहले आदमी का कोई अनुभव ही नहीं है। और जिसका कोई अनुभव नहीं है, उसकी बातों का कोई भरोसा नहीं है। उसे मनुष्य जाति के इतिहास का कोई खयाल नहीं है।

जो भूलें हजार बार हो चुकी हैं, जवान हमेशा उन्हीं को दोहराता है, क्योंकि उसके पास कोई अनुभव नहीं है। बूढ़ा कभी भूलें नहीं दोहराता। लेकिन बूढ़ा कभी कोई नया काम ही नहीं करता; भूलें दोहराने का कोई कारण नहीं है। भूल तो उससे

होती है, जो नया काम करता है ।

जीसस पोप नहीं हो सकते । अगर आदि शंकराचार्य पैदा हों, तो किसी मठ के शंकराचार्य नहीं हो सकते । तीस साल में शंकराचार्य समाप्त हो गए । कुछ कारण हैं । एक तो परम्परागत सिंहासन है । उन पर पहुँचता ही वह है, जो बिलकुल मुरदा होता है, नहीं तो गुजर नहीं सकता है । बीच की जो सीढ़ियाँ हैं, उनसे कभी का हटा दिया जाएगा । अगर जरा-सी भी बगावत का लक्षण है, जरा-सा भी स्वयं के सोचने का ढंग है, तो वह कभी का अलग छाँट दिया जाएगा । वहाँ तक तो वही पहुँचेगा, जो बिलकुल लकीर का फकीर है । जिसने पच्चीसों वर्ष तक प्रमाण दे दिए हैं कि न मैं सोचता हूँ, न मैं विचारता हूँ, मैं सिर्फ दोहराता हूँ । मैं सिर्फ एक ग्रामोफोन रेकार्ड हूँ । वह आदमी पोप तक पहुँच पायेगा । वह धर्मराज होगा । लेकिन गीता उससे नहीं कही जा सकती ।

इसलिए अर्जुन पात्र है, और धर्मराज पात्र नहीं हैं ।

● दूसरा प्रश्न : युद्ध की पार्श्वभूमि में मृत्यु का क्षण अर्जुन के रूपान्तरण में सहायक सिद्ध हुआ । क्या अर्जुन अन्यत्र रूपान्तरित न हो पाता ? और क्या हमें भी अनिवार्यतया मृत्यु के क्षण जैसी स्थिति रूपान्तरण के लिए आवश्यक है ?

निश्चय ही जब तक किसी व्यक्ति को मृत्यु का ठीक-ठीक बोध नहीं होता, जब तक मृत्यु का तीर आपके हृदय में ठीक-ठीक चुभन पैदा नहीं करता, तब तक आप जीवन के सम्बन्ध में सोचना शुरू नहीं करेंगे ।

मृत्यु ही सवाल उठाती है कि जीवन क्या है । अगर मृत्यु न हो, तो जीवन के सम्बन्ध में कोई सवाल न उठेगा । अगर मृत्यु न हो, तो धर्म के जन्म का कोई उपाय नहीं है ।

मृत्यु ही हिलाती है । मृत्यु ही जगाती है । मृत्यु ही प्रश्न बनाती है—कि जिस जीवन को तुम जी रहे हो, अगर वह कल मिट ही जाने वाला है, तो उसका मूल्य क्या है ? उसमें अर्थ क्या है ? जिसके लिए तुम आज इतने बेचैन हो और वह कल ऐसे मिट जाएगा, जैसे पानी पर खींची गई लकीर, तो खींचने के लिए इतनी आतुरता क्या है ? जिन हस्ताक्षरों को करने में तुम इतनी पीड़ा उठा रहे हो कि जीवन उन्हें याद रखे, वह रेत पर बनाये गए हस्ताक्षर हैं । तुम पूरा भी न कर पाओगे कि हवा का झोंका उन्हें पोंछ जाएगा । तो जीवन में इतना ज्यादा रस व्यर्थ मालूम होगा ।

मृत्यु ही बतायेगी कि जिसे तुम जीवन समझ रहे हो, वह जीवन नहीं है । और मृत्यु ही तुम्हें धक्का देगी कि तुम उस जीवन की खोज करो, जिसे मृत्यु न मिटा सके । क्योंकि वही जीवन है, जो अमृत है । और जहाँ कोई मृत्यु न होगी, कोई अन्त न होगा।—अगर ऐसा कोई जीवन नहीं है, तो जिसे हम जीवन कह रहे हैं, यह नितान्त मूढ़ता है । यह नितान्त असंगत है, एक दुःख-स्वप्न, एक नाइटमेअर है । अगर कोई ऐसा जीवन हो सकता हो, जिसका अंत न हो, तो ही इस जीवन में कोई सार हो सकता है । तब हम इस जीवन को उस जीवन में जाने की परिस्थिति बना सकते हैं । तब हम इस जीवन को उस जीवन में प्रवेश की साधना बना सकते हैं । तब हम इस जीवन को एक द्वार की तरह, एक शिक्षण की तरह उपयोग कर सकते हैं और परम जीवन में प्रवेश कर सकते हैं ।

इस जीवन का एक ही उपयोग हो सकता है कि यह किसी महत्तर जीवन में जाने का साधन बन जाय ।

मृत्यु ही बताती है कि यह अन्त नहीं है । अंत कहीं और खोजना होगा । मृत्यु ही बताती है कि यह यात्रा-पथ भला हो, मंजिल नहीं है; मंजिल कहीं और खोजनी होगी ।

अर्जुन को ही नहीं, किसी को भी मृत्यु ही जगाती है । अगर कोई समझदार हो—अर्जुन जैसा—तो दूसरे की मृत्यु भी जगाने वाली बन जाती है । अगर कोई मूढ़ हो, तो दूसरे की मृत्यु का उससे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता ।

हेनरिक हेन—एक जर्मन कवि—ने लिखा है. . . । जिस गाँव में हेनरिक हेन था, उस गाँव की परम्परा थी कि जब भी कोई गाँव में मर जाय तो चर्च का घंटा बजे । चर्च का घंटा बजे, ताकि पूरे गाँव को खबर हो जाय कि कोई मर गया है । और लोग पूछने भेज दें चर्च में कि कौन मर गया है । हेनरिक ने अपनी डायरी में लिखा है : 'डोन्ट सेन्ड एनी बडी टू आस्क, फॉर हूम द बेल टॉल्स, इट टॉल्स फार दी; मत भेजो किसी को पूछने, कि चर्च का घंटा किसके लिए बज रहा है । यह घंटा तुम्हारे लिए बज रहा है ।' कोई भी मरे, तुम्हारी मौत का ही इशारा है ।

हर मौत खबर है कि तुम भी मरोगे । हर मौत किसी अंश में तुम्हारी मौत है । जब भी कोई मरता है, कुछ हिस्सा तुम्हारा मर जाता है । और तुम्हारी मौत तुम्हें घेर लेती है क्षणभर को ।

अर्जुन को दूसरे की मृत्यु भी प्रतीक हुई जा रही है । वह सिर्फ यही नहीं पूछ रहा है कि इनको मैं क्यों मारूँ; वह यह पूछ रहा है कि अगर यह मारना ही सब कुछ है, तो जीवन का मूल्य क्या है ? अगर इस मृत्यु से जीवन मिलता हो, तो ऐसे जीवन का मैं त्याग करता हूँ । वह यह कह रहा है कि अगर मृत्यु के माध्यम से जीवन मिलता हो, तो मैं ऐसे जीवन का त्याग करता हूँ । इससे तो बेहतर है कि मैं भाग जाऊँ जंगल । इससे तो बेहतर है, मैं मर जाऊँ—मारने की बजाय ।

जब भी आप किसी और की मृत्यु देख रहे हैं, तब अगर आप थोड़े भी विचार-पूर्ण हैं, तो आप तत्क्षण सजग हो जाएँगे कि आपकी मौत भी करीब है । और जिस

क्यू में यह आदमी गिर गया है, उसी क्यू में आप भी खड़े हैं--थोड़े फासले पर खड़े होंगे। यह नम्बर एक था; इसका वक्त आ गया। लेकिन इसके आने से एक नम्बर आप भी आगे सरक गए हैं। क्यू में आप थोड़े आगे आ गए हैं। जहाँ मौत घटने वाली थी, उस बिंदु के आप करीब सरक रहे हैं। हर क्यू में गिरने वाला आदमी आपको करीब ला रहा है। हर रास्ते से निकलती लाश आपकी मौत को करीब ला रही है। हर लाश एक सीढ़ी है, जो आपको मौत तक पहुँचा देगी।

मृत्यु का बोध बुद्ध को संन्यस्थ जीवन में ले गया। मृत्यु का बोध ही किसी भी मनुष्य को कभी भी धार्मिक होने की प्रेरणा दिया है। मृत्यु का परम वरदान है। मृत्यु है, इसलिए आप सोचते हैं।

कोई भी जानवर धार्मिक नहीं है। न होने का कारण कुल इतना है कि कोई भी जानवर अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में नहीं सोचता पाता। मृत्यु उसके लिए कभी विचारणीय नहीं बनती। इतना भविष्य में पशु का मन नहीं सोच सकता। और अगर कोई मर भी जाय, तो पशु यह नहीं सोच सकता कि मैं मरूँगा। यह एक दुर्घटना है। इस पर कोई सोच-विचार भी नहीं होता। अगर पशुओं को भी खयाल आ जाय कि उनकी मृत्यु करीब है, तो वे भी अपना धर्म निर्मित कर लें।

धर्म वस्तुतः मृत्यु के पार जाने का उपाय है। इसलिए जिस व्यक्ति को भी वस्तुतः धार्मिक रूपान्तरण से गुजरना हो, उसे अपनी मृत्यु के प्रति बहुत सघन रूप से सचेत हो जाना चाहिए।

मृत्यु के प्रति सचेत होने का अर्थ मृत्यु से भयभीत होना नहीं है। सच तो यह है : जो सचेत नहीं होते, वे ही भयभीत होते हैं। जो सचेत होते हैं, वे तो उसके पार जाने का उपाय करने लगते हैं। उनका मृत्यु का भय स्पष्ट हो जाता है।

मृत्यु का बोध--कांशसनेस आप डेथ--चाहिए--कि मृत्यु है, और उससे हम आँख न चुरायें। और हमारे आँख चुराने से हम बचेंगे नहीं। आँख चुराना शुतुर्मुर्गी है। शुतुर्मुर्ग छिपा लेता है अपनी गरदन को रेत में--कोई दुश्मन को देखता है तो। आँख बंद हो जाती है, रेत में गरदन छिप जाती है; शुतुर्मुर्ग सोचता है : जब दुश्मन दिखाई नहीं पड़ता, वह नहीं है। यह तर्क शुतुर्मुर्गी है। हम भी यही तर्क का उपयोग करते हैं। जिस चीज से हम डरते हैं, उसको हम देखते नहीं हैं। और सोचते हैं : न दिखाई पड़ने से हम बच जाएँगे।

असल में जिससे भी भय हो, उसकी तरफ आँख गड़ा कर ही देख लेना उपाय है। तब कुछ किया जा सकता है।

मौत के प्रति ध्यान जरूरी है। हम उससे भाग न सकेंगे। हम कहीं भी भागें, हम उसी में पहुँच जाएँगे। हमारी सब भाग-दौड़ मृत्यु में ले जाएगी। उससे बचने

का कोई उपाय नहीं है। सिर्फ एक ही उपाय है कि हम मृत्यु को देखें, समझें और अपने भीतर किसी ऐसे तत्त्व को खोज लें, जो नहीं मर सकता है। फिर मृत्यु व्यर्थ हो जाती है। फिर कोई हँस सकता है। फिर कोई मृत्यु के साथ खेल सकता है।

कृष्ण भी अर्जुन को यही इशारा दे रहे हैं। वे यही समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि मृत्यु वास्तविक नहीं है, क्योंकि जो भीतर छिपा है, वह कभी भी नहीं मरता। न उसे हम जला सकते हैं--जलाने से; न उसे डुबा सकते हैं, न गला सकते हैं; न उसमें छिद्र किए जा सकते हैं--शस्त्रों से; न उसे आग जलाती है। जब कोई मार ही डाला जाय, तो भी वह नहीं मरता है।

अर्जुन मृत्यु के प्रति सचेत हो गया है। कृष्ण उसे अमृत के प्रति सचेत करने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन ध्यान रहे : अमृत के प्रति उसी की आँखें उठ सकती हैं, जो मृत्यु को देखने में ठीक-ठीक सफल हो गया। क्योंकि मृत्यु के पार अमृत है।

पहले तो मृत्यु को देखना ही पड़ेगा। और आँख इतनी गहरी चाहिए कि मृत्यु के आर-पार प्रवेश कर जाय और छिपे हुए अमृत को खोज ले।

जो मृत्यु से बचेगा, वह आत्मा से भी बच जाएगा। जो मृत्यु से आँख चुरायेगा, अमृत से भी उसके सम्बन्ध जुड़ नहीं पायेंगे। यह उलटा मालूम होगा, पैराडॉक्सिकल लगेगा--विरोधाभासी--कि जो मृत्यु से बचता है, वही मरता है। और जो मृत्यु का साक्षात कर लेता है, उसकी कोई मृत्यु नहीं है।

धर्म मृत्यु के साक्षात्कार की प्रक्रिया है।

● तीसरा प्रश्न : 'ज्ञानों में भी अति उत्तम परम ज्ञान'--ऐसा कृष्ण ने कहा। क्या ज्ञान में भी श्रेणी-क्रम है?

ज्ञान में तो कोई श्रेणी-क्रम नहीं है, लेकिन व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए एक ज्ञान आपके लिए परम ज्ञान हो सकता है और दूसरा ज्ञान आपके लिए परम ज्ञान न हो।

परम ज्ञान से प्रयोजन है, जिस ज्ञान से आपकी मुक्ति हो जाय। जिस साधना-विधि से आप सिद्ध हो जाएँगे, वह परम है।

हजार साधना विधियाँ हैं, उनमें कोई श्रेणी-क्रम नहीं है। वे सभी श्रेष्ठ हैं। लेकिन वे सभी आपके लिए श्रेष्ठ नहीं हैं। कोई और उनसे पहुँच सकता है।

व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं, सभी रास्ते वहाँ पहुँचा देते हैं। जो रास्ता आपको पहुँचा देता है, वह परम है--आपके लिए। जो रास्ता मुझे पहुँचा देता है, वह परम है--मेरे लिए। आपका रास्ता मेरे लिए दो कौड़ी का है। मेरा रास्ता आपके लिए दो कौड़ी का है। उसका कोई भी मूल्य नहीं।

यह जो परम शब्द का कृष्ण उपयोग कर रहे हैं, यह दो रास्तों में तौलने के

कारण नहीं है । हजार रास्ते हैं, लेकिन एक व्यक्ति को एक ही रास्ता पहुँचाएगा। और अपने रास्ते को खोज लेना परम को खोज लेना है ।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें । यह तुलना रास्तों को नीचा-ऊँचा करने की नहीं है । इसलिए कृष्ण को समझने में कई बार कठिनाई होती है । जब वे भक्ति की बात करते हैं, तब वे कहते हैं--परम । जब वे ज्ञान की बात करते हैं, तब वे कहते हैं : परम। इसलिए इतनी टीकाएँ कृष्ण की गीता पर हो सकीं । और सभी टीकाकार गलती करते हुए भी ऐसा नहीं मालूम पड़ते कि गलती करते हैं । क्योंकि उनके मन की बात भी कृष्ण ने कहीं कही है । वे उसको ऊपर उठा लेते हैं ।

जैसे रामानुज--भक्त हैं और मानते हैं कि भक्ति ही मार्ग है । तो कृष्ण के वचन हैं, जिसमें उन्होंने कहा है कि भक्ति परम है; सर्वश्रेष्ठ भक्त है । तो बस, उसको रामानुज चुन लेंगे, उसको बिंदु बना लेंगे--आधार--और उसके आधार पर पूरी गीता की व्याख्या कर देंगे, जो गलत है । क्योंकि कई जगह कृष्ण ज्ञान को परम कह रहे हैं--कि ज्ञानी परम है, श्रेष्ठ है । तब रामानुज उसकी ऐसी व्याख्या करेंगे कि जिससे वह भक्ति श्रेष्ठ रहे । और यह ज्ञान नम्बर दो का हो जाय । कैसे वे व्याख्या करेंगे ?

आदमी शब्दों के साथ खेल करता है । खेल यह है कि वे कहते हैं : परम ज्ञानी वही है, जिसको भक्ति का ज्ञान है । हल हो गया । अड़चन हल हो गई ।

शंकर ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं । वचन हैं गीता में--यही वचन है--कि मैं तुझसे परम ज्ञान कहता हूँ । तो शंकर क्या करेंगे--जहाँ भक्ति श्रेष्ठ है ? --शंकर कहेंगे कि भक्ति भी ज्ञान तक पहुँचने का एक मार्ग है । लेकिन ज्ञान ही है अंत । भक्ति भी एक मार्ग है ज्ञान तक पहुँचने का । लेकिन वह मार्ग कमजोरों के लिए है । जो सबल हैं, वे सीधा ज्ञान का मार्ग ले लेते हैं । जो भावाविष्ट हैं, भावुक हैं, स्त्रैण हैं, वे भक्ति का मार्ग लेंगे । वह भी एक मार्ग है । उसको भी बरदाश्त किया जा सकता है ।

कृष्ण कहीं कर्म को श्रेष्ठ कहते हैं । वे कहते हैं कि कर्मयोगी ही श्रेष्ठ है । तो तिलक उसको पकड़ लेते हैं, और गीता की पूरी व्याख्या कर्म-योग कर देते हैं । तब ज्ञान भी तभी सार्थक है, जब कर्म में उतरे । और भक्ति भी तभी सार्थक है, जब वह तुम्हारा कर्म और सेवा बन जाय । फिर तिलक कर्म का विस्तार किये चले जाते हैं ।

गीता का हजार व्याख्याएँ संभव हैं । हजार व्याख्याएँ हुई हैं । होने का कारण यह है कि कृष्ण पांथिक नहीं हैं । वे किसी एक पंथ की बात नहीं कह रहे हैं । वे सभी दृष्टियों की बात कर रहे हैं । और जब वे जिस दृष्टि की बात करते हैं, तो उसमें जो श्रेष्ठतम है, उसको खींच के ऊपर लाते हैं । और जब वे उस दृष्टि की बात करते हैं,

तो उसके साथ तल्लम हो जाते हैं, एक हो जाते हैं । फिर वे भूल जाते हैं कि और भी दृष्टियाँ हैं । और तभी ऐसा हो सकता है, नहीं तो उस दृष्टि का पूरा गहन विश्लेषण भी नहीं हो सकता ।

कृष्ण दूर खड़े होकर विश्लेषण नहीं करते हैं । जब वे भक्ति की बात अर्जुन से कह रहे हैं, तब वे भक्त ही हो जाते हैं । तब वे उसका गुणगान करते हैं --जितना हो सकता है । उस गुणगान में वे कंजूसी नहीं करते । और उस गुणगान में यह ख़याल नहीं रखते कि पहले मैंने क्या कहा है । क्योंकि वह तो सिर्फ चालाक आदमियों का हिसाब है कि पहले मैंने क्या कहा था । वे इसका भी हिसाब नहीं रखते कि कल मैं क्या कहूँगा । क्योंकि वे कोई दुकानदार नहीं हैं । कल कल देखा जाएगा ।

और जब वे गुलाब के फूल की प्रशंसा करेंगे, तो सब फूल भूल जाएँगे । और जब वे कमल के फूल की प्रशंसा करेंगे, तो सब फूल भूल जाएँगे । तब कमल का फूल ही सारे फूलों का सार हो जाएगा । लेकिन यह दृष्टि समझनी कठिन है, क्योंकि तब कृष्ण बेबूझ हो जाते हैं । और सम्प्रदाय वाले लोग फिर उनसे अपना अपना मतलब निकालते हैं ।

इसलिए सभी ने कृष्ण के साथ ज्यादती की है । ज्यादती करनी ही पड़ेगी, क्योंकि इतना विराट् हृदय है ! कृष्ण जैसा हृदय बहुत बहुत मुश्किल है--जहाँ सब समा जायँ ।

नसरुद्दीन गाँव का न्यायधीश हो गया था । पहला ही मुकदमा उसकी अदालत में आया । पक्ष के वकील ने कुछ कहा; अपना वक्तव्य दिया । नसरुद्दीन ने कहा, 'बिलकुल ठीक ।' जो कोर्ट का क्लर्क था, जो नीचे ही नसरुद्दीन के बैठा था, वह थोड़ा घबड़ाया । जज को ऐसा निर्णय नहीं देना चाहिए । अभी दूसरे पक्ष की बात सुनी ही नहीं गई ।

उसने झुक के नसरुद्दीन को कहा कि 'शायद आपको पता नहीं--अदालत के नियम ! आप चुप रहें । निर्णय आखिर में । और अगर आप अभी कह देते हैं : बिलकुल ठीक, तो दूसरे विपक्षी को कहने का क्या मौका रहा ?' नसरुद्दीन ने कहा, 'बिलकुल ठीक ।' उस क्लर्क से कहा ।

फिर विपक्षी की बात सुनी । और जब विपक्षी अपना पूरा वक्तव्य दे चुका, तो नसरुद्दीन ने कहा 'बिलकुल ठीक ।' क्लर्क झुका, उसने कहा, 'अब हद हो गई । पक्ष भी ठीक; मैंने विरोध किया--वह भी ठीक । अब यह जो विरोधी कह रहे हैं, वह भी ठीक ! आपका मतलब क्या है ? ये सब ठीक नहीं हो सकते ! नसरुद्दीन ने कहा 'बिलकुल ठीक ।'

इस भाव-दशा को समझना थोड़ा कठिन है । या तो मूढ़ में हो सकती है--

यह भाव-दशा, या परम ज्ञानी में। या तो मूढ़ ऐसी मूढ़ता कर सकता है--कि सभी को ठीक कह दे। और या फिर परम ज्ञानी ऐसे ज्ञान की बात कर सकता है--कि सभी को ठीक कहे। मध्य में तो हमें सदा ऐसा लगेगा कि कुछ ठीक और कुछ गलत। अगर एक पक्ष ठीक है, तो विपक्ष गलत होगा ही।

हम सब अरस्तु के तर्क से जीते हैं। जहाँ विपरीत बातें हैं, दोनों सही नहीं हो सकतीं। दोनों गलत हो भी सकती हैं, लेकिन दोनों सही नहीं हो सकतीं। सही तो एक ही हो सकती है।

लेकिन कृष्ण जैसे व्यक्ति अरस्तु के तर्क से नहीं जीते हैं। कृष्ण जैसे व्यक्ति विराट् हैं। उनमें सब समाया हुआ है। और जब भी वे किसी एक बात की चर्चा करते हैं, तो पूरे उसमें तल्लीन हो जाते हैं। उस तल्लीनता के कारण वे जगह-जगह कभी भक्ति को श्रेष्ठ कहते हैं, कभी ज्ञान को श्रेष्ठ कहते हैं, कभी कर्म को श्रेष्ठ कहते हैं।

आप क्या करें? आप उलझन में पड़ जाएँगे। क्योंकि अगर वे एक को श्रेष्ठ कह दें, तो आप आँख बंद करके चल पड़ें। लेकिन शायद उचित ही है कि वे आपको आँख बंद करने का मौका नहीं देते। वे आपसे यह कह रहे हैं कि मैं तो सबको श्रेष्ठ कह रहा हूँ, लेकिन तुम्हारे लिए क्या श्रेष्ठ है, वह तुम्हें खोजना पड़ेगा।

तुमसे किस चीज का तालमेल बैठ जाता है, तुम्हारे हृदय में कौन-सी चीज अनुगूंज पैदा करती है, तुम्हारी धड़कनें किस बात के साथ नाचने लगती हैं, तुम किससे अपना तारतम्य पाते हो--वही तुम्हारे लिए श्रेष्ठ है। इसे खयाल रखें अन्यथा कृष्ण बहुत असंगत मालूम होंगे।

सभी महापुरुष असंगत होते हैं, (सिर्फ क्षुद्र व्यक्तित्व असंगत नहीं होते।) क्योंकि उनमें विपरीत समाया होता है। वे अपने से भिन्न को भी अपने भीतर समालेते हैं।

● चौथा प्रश्न : कृष्ण, बुद्ध, महावीर जानते हैं कि संसार माया है, एक स्वप्न है, तो भी वे अपने शिष्यों के साथ इतना श्रम क्यों करते हैं? क्या उनका श्रम भी--शिष्यों को साधना करवाना भी--माया के अंतर्गत नहीं है?

निश्चित ही माया के अन्तर्गत है। जैसे कोई सोया हो, स्वप्न देख रहा हो, कि उसके घर में आग लग गई और तड़फ रहा हो, नींद में हाथ-पैर मार रहा हो, चिल्ला रहा हो : 'आग-आग।' आप जागे हुए बैठे हैं और आप जानते हैं कि कहीं आग नहीं लगी है। आप जानते हैं कि वह स्वप्न देख रहा है। उसके माथे पर जो पसीना बह रहा है, वह स्वप्न की आग से पैदा हुआ है। उसके मुँह से जो चिल्लाहट निकल रही है : 'आग'; मर गए; लुट गए; वह स्वप्न की आग से निकल सही है। आप उसको जगाने की कोशिश करेंगे--कि जाग जाओ। हिलाएँगे; उससे कहेंगे : यह स्वप्न है।

स्वप्न को तोड़ने की क्या जरूरत है ? वह स्वप्न है ही। स्वप्न को तोड़ने के लिए आप परेशान क्यों हो रहे हैं? अगर स्वप्न स्वप्न ही है, तो इतनी परेशानी आपको क्या है! इसको चिल्लाने दो, रोने दो, चीखने दो। स्वप्न ही है। लेकिन फिर भी आप कोशिश करेंगे। माना कि जो यह देख रहा है, वह तो स्वप्न है, लेकिन जो यह भोग रहा है, वह सत्य है। इस फर्क को ठीक से समझ लें।

जो यह देख रहा है कि आग लगी है, वह तो स्वप्न है, लेकिन जो यह भोग रहा है, जो पीड़ा है, वह सत्य है। उस पीड़ा में कोई फर्क नहीं पड़ता। वस्तुतः घर में आग लगी हो, तो भी इतनी ही पीड़ा होगी और सपने में आग लगी है, तो भी इतनी ही पीड़ा हो रही है। या कि कोई फर्क पड़ता है?

पीड़ा वास्तविक है। संसार असत्य है, लेकिन संसार में भोगा गया दुःख वास्तविक है।

यह संसार सत्य हो या असत्य हो, इससे फर्क नहीं पड़ता; आप दुःख भोग रहे हैं--यह सवाल है। और बुद्ध और महावीर और कृष्ण जानते हैं कि तुम्हारा दुःख असत्य से पैदा हो रहा है, लेकिन तुम दुःखी हो--यह निश्चित है।

इतना भर कह देने से कि यह सब माया है, सपना है; छोड़ो, इसमें कुछ रखा नहीं है--तुम्हारा दुःख नहीं मिटेगा। तुम्हें जगाना पड़ेगा।

साधना पद्धति का अर्थ होता है--जगाने की कोई व्यवस्था। और यह नींद ऐसी गहरी है; यह नींद साधारण नींद नहीं है। साधारण नींद में तो दूसरा आदमी आपको हिला के उठा दे। यह नींद ऐसी गहरी है कि जब तक आप ही अपने को हिलाना न शुरू करें, कोई कृष्ण, कोई बुद्ध आपको हिला के नहीं उठा सकते हैं।

इसलिए कृष्ण, बुद्ध और महावीर इतना ही कर सकते हैं कि आपको कुछ विधियाँ दें, जिनके माध्यम से आप अपने को हिलाना शुरू करें और किसी दिन जाग जायँ। जाग के आप भी पायेंगे कि स्वप्न था। जाग के आप भी पायेंगे कि जो मैं देख रहा था, वह वास्तविक नहीं था। लेकिन फिर भी आप बुद्ध के चरणों में सिर रख के धन्यवाद देंगे, क्योंकि जो आप भोग रहे थे, वह काफी वास्तविक था।

झूठी चीजों से भी सत्य भोगा जा सकता है। एक आदमी रास्ते पर चल रहा है; रस्सी पड़ी है अँधेरे में, और वह साँप दिखाई पड़ती है; वह भाग खड़ा होता है। क्या उसकी छाती कम धड़केगी, क्योंकि वहाँ रस्सी है, साँप नहीं? साँप होता तो क्या ज्यादा धड़कती? इस आदमी के लिए तो साँप है ही। यह भाग रहा है। इसकी घबड़ाहट तो वास्तविक है। इसकी पीड़ा वास्तविक है। इसका हार्ट फेल हो सकता है। और आप यह न कह सकेंगे कि 'गलत है तुम्हारा हार्ट फेल। क्योंकि तुमने जो देखा, वह साँप नहीं था--रस्सी थी। वापस लौटो। यह बिलकुल ठीक नहीं है। यह जायज

नहीं है।' मगर आपके कहने से कोई वापस लौटने वाला नहीं है। जायज, नाजायज--कौन पूछेगा? उसके हृदय की धड़कन बंद हो सकती है--झूठे साँप को देखकर। वास्तविक हृदय की धड़कन बंद हो सकती है--झूठे साँप को देखकर!

आप दुःख तो भोग ही रहे हैं। इस दुःख से बाहर आने की व्यवस्था साधना है।

और महावीर, बुद्ध और कृष्ण इतना श्रम लेते हैं, वह श्रम भी आपको श्रम मालूम पड़ रहा है। शायद आपको कभी-कभी तो पागलपन भी मालूम पड़ता होगा। क्योंकि श्रम में भी कोई पुरस्कार तो दिखाई पड़ता नहीं। श्रम भी आदमी करता है, तो कुछ पाने को। इनको मिलता क्या है? कभी-कभी जीसस जैसे व्यक्ति को सूली मिल जाती है, और तो कुछ मिलता नहीं। कभी सुकरात को जहर मिल जाता है--और तो कुछ मिलता नहीं। यह पुरस्कार है!

मिलता क्या है? श्रम ही दिखाई पड़ता है। किसलिए श्रम कर रहे हैं? आपको ऐसा लगता है कि श्रम कर रहे हैं; उनकी तरफ से श्रम नहीं है। उनकी तरफ से सहज आनन्द है। उनकी तरफ कोई मेहनत नहीं हो रही है। जो उन्होंने जाना है, उसे दूसरे को भी जना देना एक आनन्द है। जो उन्होंने पाया है, वह दूसरा भी पा ले; उस दूसरे के पाने में भी बड़ा आनन्द है।

यह श्रम किसी पुरस्कार को पाने के लिए नहीं है। यह श्रम अपने में ही पुरस्कार है। इसके पार और कुछ पाने का सवाल नहीं है। यह श्रम प्रेम का एक हिस्सा है। यह एक करुणा है।

अब हम सूत्र लें।

'हे अर्जुन, नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

'हे अर्जुन, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण--ऐसे यह प्रकृति से उत्पन्न हुए ये तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।

'हे निष्पाप, उन तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्त्वगुण तो निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाँधता है।'

पहली बात: गीता के अनुसार और वस्तुतः सांख्य के अनुसार प्रकृति तीन तत्त्वों का मेल है--सत्त्व, रज, तम।

यह आश्चर्य की बात है कि जगत् में जहाँ भी किसी ने विश्लेषण किया है जीवन का, अंतिम विश्लेषण हमेशा तीन पर टूट जाता है। प्रतीकों में, धारणाओं में, सिद्धान्तों में अस्तित्व तीन हिस्सों में टूट जाता है।

ईसाइयत ट्रिनिटि में विश्वास करती है--कि ईश्वर के तीन रूप हैं। उनसे ही सारा जगत् निर्मित होता है। हिन्दू त्रिमूर्ति में विश्वास करते हैं--कि परमात्मा के तीन चेहरे हैं: ब्रह्मा, विष्णु, महेश। उन तीन चेहरों से ही सारा जगत्--उन तीन व्यक्तित्वों से ही सारा जगत् निर्मित है।

सांख्य अति वैज्ञानिक है। वह ट्रिनिटि और त्रिमूर्ति की बात नहीं करता--तीन चेहरों की बात नहीं करता; वह तीन तत्त्वों की बात करता है: सत्त्व, रज, तम।

सत्त्व, रज, तम--तीनों के तीन गुण हैं और इन तीनों गुणों के मेल से सारा अस्तित्व गतिमान है।

तम स्थिति-स्थापक है। तम का अर्थ है: आलस्य की, विश्राम की दशा, ठहरी हुई दशा--अवरोधक। एक पत्थर आप फेंकते हैं। अगर आप न फेंकते, तो पत्थर अपनी जगह पड़ा रहता। अपनी जगह पड़ा रहना तम है। जब तक कि कोई बाहरी चीज का धक्का न दे, सभी चीजें अपनी जगह पड़ी रहेंगी। तम का अर्थ है: अपनी जगह ठहरे रहना--हटना नहीं। और जब आप पत्थर को फेंकते हैं, तब भी आपको ताकत लगानी पड़ती है। वह ताकत इसीलिए लगानी पड़ती है, क्योंकि पत्थर अपनी जगह रहना चाहता है। उसको जगह से हटाने में आपको संघर्ष करना पड़ता है।

फिर आप पत्थर को फेंक भी देते हैं, अगर तम जैसी कोई चीज न होती, तो पत्थर फिर कभी रुकता ही नहीं। वह चलता ही चला जाता। लेकिन पत्थर लड़ रहा है रुकने के लिए। आपने फेंक दिया, तो आपने थोड़ी-सी ऊर्जा उसको दी, शक्ति दी अपने शरीर की, वह शक्ति जैसे ही चुक जाएगी, पत्थर वापस जमीन पर गिर जाएगा।

विज्ञान जिसको ग्रेव्हिटेशन कहता है, सांख्य उसको तम कहता है--ठरने की, प्रतिरोध की, रुकने की, स्थिति में बने रहने की क्षमता।

अगर दुनिया में तम न हो, तो फिर कोई चीज ठहरेगी नहीं। बड़ा मुश्किल हो जाएगा। सभी चीजें गति में रहेंगी और गति इतनी विक्षिप्त हो जाएगी कि उसके ठहरने का कोई उपाय नहीं रह जाएगा। अकेली गति काफी नहीं है। ठहरने का तत्त्व कहीं प्रकृति में गहन होना चाहिए।

तम है: स्थिति का, ठहरने का तत्त्व--कहें: मृत्यु का तत्त्व। क्योंकि मृत्यु ठहरा लेती है। मर जाने के बाद फिर कोई गति नहीं है। इसलिए तामसिक व्यक्ति हम उसको कहते हैं, जो मरा-मरा जीता है; जिसमें तम इतना है कि जिसमें गति है ही नहीं। जो चलता ही नहीं है। उठता ही नहीं है। जिसके भीतर कोई क्रांति, कोई परिवर्तन, कोई नया नहीं होता; कुछ रूपान्तरण नहीं होता, जो पत्थर की तरह पड़ा होता है।

देखें, हम प्रकृति में भी इसी तरह हिसाब लगाते हैं विकास का। जितना ज्यादा तम हो, उतनी अविकसित चीज मानी जाएगी। और जितना कम तम हो उतनी विकसित। आदमी सबसे ज्यादा गतिमान है। पत्थर सबसे ज्यादा गतिहीन है। पौधों में थोड़ी गति है। पशुओं में और ज्यादा। मनुष्य में बहुत।

मनुष्य पानी में भी गति करे, जमीन पर भी, हवा में, आकाश में भी--चाँद तारों तक भी जाय। उसे रोकने का उपाय नहीं है। वह सब तरफ भागता है, इसलिए मनुष्य सर्वाधिक विकसित है। उसने अपने तम पर या अपने भीतर की मृत्यु पर सर्वाधिक विजय पा ली है। वह बदल सकता है।

समाज में भी वही समाज सबसे ज्यादा प्रगतिशील होगा, जिसने तम को तोड़ दिया है। पश्चिम के समाज अपने तम को तोड़ने में काफी सफल हुए हैं। विकास तीव्र हो गया है। लेकिन किन्हीं सीमाओं में विकास इतना ज्यादा हो गया है, कि ठहरने की उन्हें कला ही भूली जा रही है। तो भी घबड़ा गए हैं। क्योंकि एक आदमी चल पड़े और रुकना न जाने, रुकना भूल जाय; मंजिल पर पहुँचने को चला था, लेकिन मंजिल पर रुकना पड़ेगा; और वह रुकना भूल जाय; और चलना ऐसा हो जाय कि वह रुकना भी चाहे, तो रुक न सके। मंजिल भी आ जाय, तो क्या करे? मंजिल पीछे छूट जाएगी। वह आदमी चलता ही रहेगा।

तम ठहरने वाली, ठहराने वाली, रोकने वाली। रज गति देने वाली, तीव्रता देने वाली। रज शक्ति है, ऊर्जा है--प्रवाहमान, जैसे नदी, विद्युत।

यह सारा जगत् गतिमान है। अगर चीजें ठहरी ही रहें, तो जगत् नहीं हो सकता। उसमें चलना, उसमें बढ़ना ...।

बच्चा पैदा होता है; बढ़ेगा। मौत अगर तम है, तो जीवन रज है, जन्म रज है। जन्म के क्षण में बच्चे में रज का तत्त्व ज्यादा होता है, तम का कम। बूढ़े में तम बढ़ जाता है और रज कम हो जाता है। जिस दिन रज और तम दोनों समान होते हैं उस दिन व्यक्ति जवान होता है; उस दिन उसमें गति और ठहराव बराबर होते हैं। उस दिन संतुलन होता है। उस दिन एक बैलेंस होता है। इसीलिए जवानी में एक सौंदर्य है।

बच्चे में एक त्वरा होती है, चंचलता होती है, क्योंकि रज, तेज होता है, तम कम होता है। तुम उसे कहो कि बैठो शांत, तो वह शांत नहीं बैठ सकता। बूढ़ों को बहुत अखरता है कि बच्चे शांत नहीं बैठते। उनको अखरने का कारण है। क्योंकि वे चंचल नहीं हो सकते। लेकिन उनको पता नहीं कि बच्चे बूढ़े नहीं हैं, इसलिए उनसे ठहरने की आकांक्षा करनी गलत है। अगर उन्हें ठहराना भी हो, तो एक ही उपाय है कि उन्हें काफी दौड़ाओ--कि वे थक जायँ। उनका रज थक जाय। उनका रज थक

जाय, तो तम ज्यादा हो जाएगा। फिर वे बैठ जाएंगे। उनके विश्राम का एक ही उपाय है कि वे काफी दौड़ लें।

बूढ़े के दौड़ने का एक ही उपाय है कि काफी विश्राम कर ले, तो थोड़ा दौड़ सकता है। उसका तम थक जाय--विश्राम कर-कर के, तब रज थोड़ा गतिमान हो सकता है।

और जवानी एक संतुलन है। और जब पूरी तरह संतुलित होती है--गति की क्षमता और ठहरने की क्षमता, तो सौन्दर्य प्रगट होता है, क्योंकि दोनों विपरीत बिलकुल मिल जाते हैं। दोनों में जरा भी भेद नहीं रह जाता। दोनों तनाव एक जगह पर आ जाते हैं, उस तनाव का नाम जवानी है--उस टेंशन का नाम--जहाँ दोनों विपरीत शक्तियाँ बराबर मात्रा की हो जाती हैं।

सत्त्व न तो गति का तत्त्व है--न ठहरने का। सत्त्व है--संतुलन। सत्त्व वहीं प्रगट होता है, जहाँ दोनों तत्त्व संतुलित हो जाते हैं। सत्त्व है--बैलेंस। इसलिए जब भी आप जीवन की किसी भी दिशा में संतुलन को पाते हैं, तो सत्त्व प्रगट होता है।

साधु का अर्थ है : जो संतुलन को उपलब्ध हुआ--सात्त्विक हुआ।

सत्त्व है : संयम--विपरीत के बीच संयम। दोनों विपरीत टूट गए। दोनों विपरीत एक दूसरे को साथ दिए। दो विरोधी स्वरों से एक संगीत पैदा हो गया। इस संगीत का नाम है सत्त्व।

रज और तम--शक्ति, दौड़ और ठहरने के नियम हैं। और दोनों के बीच जब कोई संतुलन पैदा होता है, तो जो तत्त्व पैदा होता है, वह है सत्त्व। इन तीन तत्त्वों से मिल के प्रकृति बनी है।

प्रकृति में जहाँ भी सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, वहाँ समझना कि सत्त्व पैदा हो गया। हम भगवान् के मंदिर में मूर्ति पर फूल ले जाकर चढ़ाते हैं। वह फूल सत्त्व का प्रतीक है। वह फूल सौन्दर्य का प्रतीक है। वृक्ष के जीवन में, प्राणों में, फूल तभी लगता है, जब एक गहन संतुलन पैदा हो जाता है। उस संतुलन को हम परमात्मा के चरणों में चढ़ाते हैं। वह प्रतीक है। ऐसा संतुलन, ऐसा फूल हमारे जीवन में खिले, और उसे हम मंदिर में चढ़ा सकें--वह उसकी आकांक्षा है; वह उस दिशा की तरफ हमारा भाव है।

बुद्ध में जो संतुलन दिखाई पड़ता है, वह सत्त्व है। महानतम व्यक्तियों में भी--पृथ्वी पर जो हम देख सकते हैं ज्यादा से ज्यादा--वह सत्त्व है। इन तीनों के पार भी एक अवस्था है--जिसको कृष्ण बाद में बताएँगे, जिसे वे गुणातीत कहते हैं। पर उस अवस्था को देखा नहीं जा सकता। बुद्ध में वह पैदा होती है, कृष्ण में पैदा होती है, पर उसको हम देख नहीं सकते हैं। वह तो हममें ही जब पैदा हो, तभी हम उसका

अनुभव कर सकते हैं ।

बुद्ध को भी हम ज्यादा से ज्यादा सत्त्व में देख सकते हैं, क्योंकि आँखें सत्त्व को देख सकती हैं । आँखें प्रकृति की हैं । वे भी तीन तत्त्वों से बनी हैं । उनमें भी रज है, तम है और सत्त्व है । इसलिए जो हमारा आँखों में छिपा है, उसे हम पहचान सकते हैं--ज्यादा से ज्यादा । सभी लोग नहीं पहचान सकेंगे ।

बुद्ध के पास अगर कोई तामसी जाएगा, तो बुद्ध को बिलकुल नहीं पहचान पायेगा । वह समझेगा कि कोई ढोंगी है; वह समझेगा कि लोगों को धोखा दे रहा है। इससे सावधान रहना; कहीं रात सो गए तो जेब न काट ले । वह बुद्ध के पास भी अपनी जेब पर हाथ रखेगा कि 'क्या भरोसा ! देखने में तो भोला लगता है, लेकिन भोलापन हमेशा खतरनाक होता है । पता नहीं बन के भोला बैठा हो यह आदमी । कोई तरकीब हो । कोई इसके पीछे हिसाब जरूर होगा, नहीं तो क्यों भोला बैठेगा !'

बुद्ध के पास अगर कोई रज से भरा हुआ, भाग-दौड़ से भरा हुआ, चंचल व्यक्ति पहुँचेगा तो वह मुरदा समझेगा बुद्ध को । वह कहेगा, यह क्या जीवन है? यह कोई जीवन है ! पलायनवादी है, एस्केपिस्ट है यह आदमी । यह भाग गया है। इसमें कुछ कमी है । यह लड़ न सका । कायर है, कमजोर है । लोगों ने ऐसा कहा है। कहने वाले का कारण है । क्योंकि वह चंचलता में जीवन देखता है; भाग-दौड़ में जीवन देखता है । ऊर्जा नाचती हो, वहाँ जीवन देखता है ।

यहाँ बुद्ध में सब शांत है । यहाँ जैसे कोई तरंग भी नहीं हिलती । तो वह कहेगा : 'यह भी कोई जीवन है ! यह तो मरने का एक ढंग हुआ । यह आदमी तो मर चुका । मैदान में आओ--जिन्दगी के । वहाँ तुम्हारा पता चलेगा । भगोड़े हो ।'

बुद्ध को भी वही पहचान पायेगा, जिसमें सत्त्व का थोड़ा उदय हुआ हो । क्योंकि हम वही पहचान सकते हैं, जो हमारे भीतर है । अन्यथा को पहचानने का कोई उपाय नहीं है । वही देख सकते हैं, जो हमारी आँख में भी आ गया हो । वही हमारे हृदय को भी छू सकता है, जो हमारे हृदय में भी कम्पित हो रहा हो । समान समान से मिल जाते हैं । समान समान को पहचान लेते हैं ।

तो सात्त्विक व्यक्ति ही बुद्ध को पहचान पायेगा--कि कौन-सी महान घटना घटी है । इस व्यक्ति के भीतर कौन-सा फूल खिला है ।

इसलिए बुद्ध के पास वे लोग इकट्ठे हो पायेंगे, जो सात्त्विक हैं, जो सरल हैं, जो संतुलित हैं, जो संयमी हैं--और जिन्होंने एक भीतरी हारमनी--एक लयबद्धता को पा लिया है । बहुत लोग पास से गुजरेंगे, उन बहुतों में से बहुत थोड़े लोग ही बुद्ध के पास रुक पायेंगे ।

सांख्य ने इन तीन तत्त्वों को खोजा । ये तीन बड़े अद्भुत हैं । और इन तीन

तत्त्वों के आधार पर मनुष्य का, प्रकृति का सारा व्यवहार समझा जा सकता है ।

फिर आधुनिक विज्ञान ने भी तीन तत्त्वों की खोज की और परमाणु के विस्फोट पर उनको पता चला कि परमाणु भी तीन तत्त्वों से ही निर्मित है । एक को वे कहते हैं : इलेक्ट्रॉन, एक को पोजिस्ट्रॉन और एक को न्यूट्रॉन । और तीनों के भी लक्षण करीब-करीब वही हैं, जो सत्त्व, रज और तम के हैं । उनमें से एक स्थिति को पकड़ने वाला है, एक गति देने वाला है, और एक संतुलक है ।

निश्चित ही कहीं गहराई में विज्ञान भी उसी तत्त्व को छू रहा है, जिसे सांख्यों ने छुआ था , जिसकी कृष्ण इन सूत्रों में बात कर रहे हैं ।

और ये तीन तत्त्व वही हैं, जिनको हिन्दू मिथ में हमने ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहा है। तीनों लक्षण भी यही हैं उनके । ब्रह्मा पैदा करता है; वह रज है । विष्णु सम्हालते हैं, संतुलन देते हैं, वे सत्त्व हैं । शिव तम हैं; विनष्ट करते हैं । सब चीजें शांत हो जाती हैं वहाँ आकर । इसलिए अकसर तामसी जो लोग हैं, शिव की पूजा करते दिखाई पड़ते हैं । शिव उनको रसपूर्ण मालूम होते हैं । शिव विध्वंसक हैं, वे मृत्यु के प्रतीक हैं । इसलिए शिव के पीछे अगर चरस, गाँजा, अफीम तेजी से चल पड़ा, उसका कारण है । क्योंकि सभी तत्त्व मृत्यु के तत्त्व हैं । सभी विध्वंसक हैं । सभी आपको नष्ट कर देंगे । इनके विनाश में जो रस आ सकता है, वह तामसी वृत्ति को आ सकता है ।

पश्चिम में एल. एस. डी., मेस्केलीन, मारिजुआना तेज गति पर है और पश्चिम के ये भक्त--मरिजुआना के भक्त, एल. एस. डी. के भक्त--उनके मन में भी शिव के प्रति बड़ा प्रेम पैदा हो रहा है । हिप्पी आता है, तो काशी जाता है । क्योंकि वह शिव की नगरी है । वहाँ जा कर वह शिव के दर्शन करता है । वह नेपाल जाता है, क्योंकि वहाँ शिव के बडे प्राचीन मंदिर हैं; शिव भक्तों की बड़ी पुरानी धारा है । अमेरिका के हिप्पी बस्तियों में भी 'बम भोले, जय भोले' की आवाज सुनाई पडने लगी है ।

जहर मौत का प्रतीक है और जहर आपके भीतर चीजों को ठंडा कर देता है, गति छीन लेता है, इसलिए नशे का इतना रस है, क्योंकि आप इतने तनाव में रहते हैं, इतनी भाग-दौड़ में रहते हैं कि थोड़ी शराब पी लेते हैं, तो थोड़ा तनाव कम हो जाता है, भाग-दौड़ कम हो जाती है । पड़ जाते हैं--बेहोशी में पड़ जाते हैं, लेकिन रुक जाते हैं ।

सभी मादक द्रव्य तमस पैदा करते हैं । वे आपके भीतर दौड़ को रोक देते हैं । इसलिए बहुत दौड़ने वाले लोग शराब से नहीं बच सकते । क्योंकि उनकी दौड़ इतनी ज्यादा है कि उनको इस दौड़ को रोकने के लिए किसी न किसी तरह की बेहोशी चाहिए । वे बेहोश होंगे, तभी रुक पायेंगे, नहीं तो रुक नहीं सकते । रात नींद में भी

दौड़ते रहेंगे।

पश्चिम में शराब का मूल्य बढ़ता चला गया है, क्योंकि पश्चिम दौड़ रहा है, उसने रज पर भरोसा कर लिया है। और रज पर अगर आप भरोसा करेंगे, तो तम को भी आपको साथ में लाना पड़ेगा नहीं तो रज घातक हो जाएगा। आप विक्षिप्त हो जाएँगे।

पश्चिम मे अधिकतम लोग पागल हो रहे हैं, वह रज का परिणाम है। ज्यादा दौड़ेंगे, तो विक्षिप्त हो जाएँगे। ठहरना भी उतना ही जरूरी है। और जो व्यक्ति जानता है--जैसा ताओ ने कहा है--कहाँ ठहर जाना; जो जानता है--कहाँ ठहर जाना है, वह कभी संकट में नहीं पड़ता।

दौड़ना भी जरूरी है; ठहरना भी जरूरी है। दौड़ने में और ठहरने में जो संतुलन को पैदा कर देता है, वह सत्त्व को उपलब्ध हो जाता है, वह साधु है।

साधुता का अर्थ है : भीतर एक लयबद्धता पैदा हो जाय। न तो दौड़ हो और न मूर्च्छा हो। मूर्च्छा हो तो तम होता है; दौड़ हो तो पागलपन होता है। दौड़ और रुकने की क्षमता--दोनों मिल जायँ और एक तीसरा तत्त्व पैदा हो जाय, उस तत्त्व को कृष्ण ने सत्त्व--सांख्य ने सत्त्व कहा है। यह सत्त्व भी आखिरी नहीं है। इस संसार में श्रेष्ठतम है। इससे ही कोई मुक्त नहीं हो जाएगा, लेकिन इससे मुक्ति की संभावना बनती है।

ध्यान रहे : कोई सात्त्विक होकर मुक्त नहीं हो जाएगा। सात्त्विक होकर संसार का ही हिस्सा रहेगा। इसलिए साधु मुक्त नहीं होता। संत को हम मुक्त कहते हैं--साधु को नहीं। लेकिन साधु में संत होने की क्षमता हो जाती है। चाहे तो साधु संत हो सकता है। साधुता में सिर्फ पूर्व भूमिका है। संतुलन पैदा हो गया है। अब चाहे तो समाधि भी आ सकती है। लेकिन संतुलन ही समाधि नहीं है।

ये तीन तत्त्व तो प्रकृति के ही हैं। इसमें तम मूर्च्छा में ले जाता है। इसमें रज गति और विकास, त्वरा में ले जाता है। इसमें सत्त्व शांति में ले जाता है। लेकिन ये तीनों तत्त्व जगत् के भीतर हैं।

सत्त्व के भी पार जाना जरूरी है, तब गुणातीत अवस्था पैदा होती है, जो तीनों गुणों के पार है। और जो तीनों गुणों के पार है, वह प्रकृति के पार है। वही परमात्मा है।

तीन गुण प्रकृति के और तीनों गुणों के जो पार निकल जाय, वह परमात्मा है, वह परमपुरुष है; वह मुक्त की दशा है। लेकिन सत्त्व द्वार बन जाता है। पर अगर आप नासमझी करें, तो सत्त्व ही बाधा भी बन सकता है। क्योंकि अगर साधुता का अभिमान आ जाय--जो कि आ सकता है; शांति का अभिमान आ जाय--जो कि आ

सकता है। सत्त्व में ज्ञान का अभिमान आ जाय--जो कि आ सकता है। सात्त्विक होने की अहंमन्यता आ जाय--जो कि बड़ी सरल है।

इसलिए साधु से ज्यादा अहंकारी आदमी दूसरे नहीं पाये जा सकते। उनके पास अहंकार करने को कुछ है भी। और जब कुछ अहंकार करने को हो, तब बड़ी कठिनाई हो जाती है। संसार में तो ऐसे लोग भी अहंकार में पड़े हैं, जिनके पास अहंकार करने को कुछ भी नहीं है। उनका अहंकार जस्टीफाइड भी नहीं है। वे भी अहंकार कर रहे हैं। लेकिन साधु का अहंकार न्याय-संगत भी मालूम पड़ सकता है। उसके पीछे तर्क है, आधार भी है। वह शांत है। वह सत्त्व में ठहरा हुआ है। वह एक तरह का सुख पा रहा है।

सत्त्व एक सुख देता है, जिसका अंतिम दर्जा स्वर्ग है। सत्त्व की जो आखिरी दशा है, वह स्वर्ग है; मोक्ष नहीं--स्वर्ग। सुख की बड़ी गहन क्षमता है।

साधु के पास कुछ है। और जब हम न-कुछ के अभिमानी हो जाते हैं, तो जिनके पास कुछ है, उनको अहंकार पकड़ ले, इसमें आश्चर्य नहीं है। खतरा है। उनको अहंकार से छुड़ाना बहुत मुश्किल है। संसारी को अहंकार से छुड़ाना बहुत आसान है। साधु को अहंकार से छुड़ाना बहुत मुश्किल है, क्योंकि उसको लगता है कि अहंकार का कुछ कारण है। वह ऐसे ही अहंकार नहीं कर रहा है; कुछ वजह है। वह वजह बाधा बन जाती है।

अब हम इस सूत्र को देखें :

'हे अर्जुन, नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ, जितने शरीर, जितने रूप उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया को तो गर्भ धारण करने वाली माता समझो।' यह जो प्रकृति है, तीन गुणों से भरी हुई, इसे तुम माँ समझो, गर्भ समझो। 'और मैं बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ।'

तो शरीर और रूप तो इन तीन गुणों से मिलता है। मन, शरीर, रूप इन तीन गुणों से मिलता है। चेतना परमात्मा से आती है; इन तीनों गुणों के पार से आती है। चेतना इन तीनों गुणों के भिन्न जगत् से आती है। और इन तीन के भीतर आवास करती है।

लेकिन इन तीनों में से किसी न किसी में जकड़ जाने का डर है। या तो चेतना आलस्य में उलझ जाती है--तम में पड़ जाती है। या तो विक्षिप्तता में, चंचलता में, दौड़ में पड़ जाती है। और या फिर सत्त्व के अहंकार में पड़ जाती है। और इन तीनों में से किसी एक से भी जुड़ जाय, तो अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाती, क्योंकि वास्तविक स्वरूप तीनों के पार से आता है। यह इसका अर्थ है। ये तीन गुण तो माँ है, 'और मैं बीज को स्थापन करने वाला पिता हूँ।' मैं से अर्थ है : ब्रह्म। मैं से

अर्थ है : इस जगत् की परम चेतना ।

'हे अर्जुन, सत्त्व गुण, रजो गुण और तमो गुण--ऐसे यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं ।'

ये तीन जीवात्मा के लिए बंधन निर्मित करते हैं । इन तीनों के बिना जीवात्मा शरीर में नहीं हो सकता । तम चाहिए, जो ठहराव की शक्ति दे । रज चाहिए, जो गति दे और जीवन दे । सत्त्व चाहिए, जो संतुलन दे, सुख दे । अगर इन तीनों में से एक भी कम है, तो आप टिक न पायेंगे । अगर सुख बिलकुल न रह जाय, तो आप आत्महत्या कर लेते हैं । क्यों ?-- किसलिए जीएँ ? सुख की थोड़ी झलक तो चाहिए । असाधु में भी थोड़ी-सी तो सुख की झलक चाहिए ही । आज नहीं कल, कल नहीं परसों, कहीं सुख मिलेगा--इसका थोड़ा आसरा चाहिए । उतना भी काफी है बाँधने के लिए । अगर सुख के सब सेतु टूट जायें; साफ हो जाय : कोई सुख नहीं, आप इसी क्षण मर जाएँगे । ये तीनों चाहिए । ये तीन शरीर को बाँधते हैं ।

'हे निष्पाप, इन तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्त्व गुण है ।' इन तीनों गुणों में सबसे ज्यादा प्रकाशित , सबसे ज्यादा निर्मल, निर्विकार सत्त्वगुण है । 'निर्मल होने के कारण सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाँधता है ।'

चूँकि सत्त्वगुण निर्मल है, शांत है, शुद्ध है, सुख देता है, ज्ञान भी देता है, क्योंकि एक क्लैरिटी, एक स्वच्छता आँखों में आ जाती है; देखने की एक क्षमता आ जाती है; चीजों को आर-पार पहचानने की कला आ जाती है । सुख भी देता है भीतर । और साथ में एक जानकारी--जीवन में प्रवेश करने की--ज्ञान की क्षमता देता है । पर इन दोनों से अभिमान पैदा होता है ।

ज्ञान से भी अभिमान पैदा होता है--कि मैं जानता हूँ । सुख से भी अभिमान पैदा होता है--कि मैं सुखी हूँ । और वह जो मैं का भाव इन दोनों से पैदा हो जाता है, तो सत्त्व गुण भी फिर संसार में ही रखने का कारण बनता है ।

जिस दिन ये दोनों बातें भी छोड़ दी जाती हैं : न तो कोई सुख से बँधता है और न कोई ज्ञान से . . . । इसे थोड़ा समझ लें ।

हम तो दुःख से भी बँधे हुए हैं । दुःख को भी कहते हैं : मेरा दुःख, मेरा सिरदर्द; मेरी बीमारी--उसके साथ भी हम मैं को जोड़ते हैं । अज्ञान के साथ भी हम मैं को जोड़ते हैं, तो ज्ञान के साथ तो हम मैं को जोड़ेंगे ही । सुख के साथ तो हम कैसे बचेंगे बिना जोड़े ! इसलिए अगर स्वर्ग के देवता मुक्त होने से वंचित रह जाते हैं, तो उसका कारण है । देवता सत्त्व के साथ बँधे हुए लोग हैं । स्वर्ग में सुख बहुत है और वहाँ सुख ज्यादा हो वहाँ तादात्म्य तोड़ने का मन भी पैदा नहीं होता ।

दुःख से तो तादात्म्य तोड़ने का मन भी पैदा होता है--कि कोई समझा दे कि दुःख अलग है और मैं अलग हूँ । कोई बता दे कि अज्ञान अलग है और मैं अलग हूँ । इसकी थोड़ी आकांक्षा होती है । क्योंकि दुःख कोई भी चाहता नहीं है । अज्ञान कोई भी चाहता नहीं है ।

लेकिन अगर आप सुख में हों और कोई बताये कि तुम अलग और सुख अलग, तो आप उसको मित्र न समझेंगे, शत्रु समझेंगे । उससे कहेंगे : 'जाओ, कहीं और समझाओ ।' कोई आपसे कहे : 'तुम्हारा ज्ञान अलग, तुम अलग, यह ज्ञान कचरा है । तुम ज्ञान नहीं हो । यह सुख व्यर्थ है । तुम सुख नहीं हो, तुम दूर अलग हो।' . . .

इसलिए संतों ने कहा है : दुःख अभिशाप नहीं--वरदान है, क्योंकि दुःख में दुःख से टूटने की कामना पैदा होती है ।

सूफी फकीर जुन्नैद बीमार रहता था । उसके भक्तों ने उससे कहा कि 'तुम एक दफा प्रार्थना करो परमात्मा से, तो तुम्हारी सब बीमारी दूर हो जाय ।'

जुन्नैद हँसने लगा । कहा, 'प्रार्थना तो हम करते हैं ।' तो उन्होंने कहा, 'अगर तुम प्रार्थना करते हो, तो बीमारी दूर क्यों नहीं होती ?' उसने कहा, 'प्रार्थना ही हम यह करते हैं कि बीमारी बनी रहे, क्योंकि मुझे अच्छी तरह याद है, जब भी बीमारी मिट जाती है, मैं परमात्मा को भूल जाता हूँ । यह उसकी बड़ी कृपा है । बीमारी बनी रहती है, तो मैं सोचता रहता हूँ : मैं शरीर नहीं हूँ । यह बीमारी शरीर को है, मैं अलग हूँ । और जैसे ही बीमारी हटती है, सुख हो जाता है, मैं भूल ही जाता हूँ कि यह शरीर मैं नहीं हूँ ।'

दुःख भी साधना बन जाता है । दुःख जब साधना बन जाता है, तो उसे हमने तपश्चर्या कहा है । तपश्चर्या का मतलब यह है कि दुःख से हम अपने को अलग कर रहे हैं । इसलिए साधक सामान्य दुःखों से अपने को तोड़ता ही है, अगर जरूरत पड़े तो विशेष दुःख भी अपने लिए पैदा कर लेता है, जिनकी वजह से वह अपने को तोड़ सके ।

आपने देखा है, सुना है, कोई साधु काँटों पर लेटा हुआ है । कोई साधु दिन-रात आग को जलाकर बैठा रहता है । भयंकर गरमी है और वह आग को जला कर बैठा है । पसीने-पसीने होता रहता है । शरीर सूखता है । इसमें वस्तुतः जो जानता है रहस्य को...।

जरूरी नहीं कि ऐसा करने वाले सभी जानते हों । उसमें कई तरह के लोग हैं । उसमें कई तो सिर्फ दुःखवादी हैं, जो खुद को सताने में मजा ले रहे हैं । उसमें कई सिर्फ एग्जिबीशननिस्ट हैं--प्रदर्शनवादी हैं, जो दूसरों को अपना दुःख दिखा के मजा ले रहे हैं । क्योंकि दूसरे उनको पूजते हैं, सिर्फ इसीलिए क्योंकि वे काँटों पर लेट हुए

हैं। लेकिन इसमें से कुछ हैं, जो तपश्चर्या को कर रहे हैं। उनकी तपश्चर्या क्या है?

उनकी तपश्चर्या यह है कि सारे शरीर पर काँटे चुभ रहे हैं, तब वे भीतर अपने को इस स्मृति से भर रहे हैं कि 'मैं शरीर नहीं हूँ। ये काँटे मुझे नहीं छू रहे हैं। ये काँटे शरीर को छू रहे हैं।' और वे तब तक काँटों पर लेटे रहेंगे, जब तक कि काँटे बिलकुल ही विस्मृत न हो जायँ। शरीर को ही छूयें--उनको जरा भी न चुभें। जब चेतना काँटों से बिलकुल अलग हो जाएगी, तभी वे इस काँटों की सेज से उठेंगे।

तो साधक अपने आसपास आयोजित दुःख भी कर सकता है, जिससे अपने को तोड़े।

इन की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से . . .।' सत्त्व भी ज्ञान के अभिमान से बाँधता है। तम और रज तो बाँधते ही हैं, सत्त्व भी बाँधता है। बुरा तो बाँधता ही है, जिसे हम अच्छा कहते हैं, वह भी बाँधता है। शुभ भी बाँधता है। यहाँ जंजीरें सिर्फ लोहे की नहीं हैं, सोने की भी हैं। कुछ लोहे की जंजीरों से बँधते हैं, कुछ सोने की जंजीरों से बँध जाते हैं। लेकिन बँधते दोनों हैं। और जब तक बँधन है, तब तक संसार है।

इन तीन गुणों के बंधन के पार जो उठ जाय, वही व्यक्ति उस परम ज्ञान को अनुभव कर पाता है--कृष्ण कह रहे हैं--जिसे मैं फिर से कहूँगा।

आज इतना ही।

तीसरा प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ३ दिसम्बर, १९७३

मार्ग और मंजिल जुड़े हैं • शंकाओं का निरसन • हे निष्पाप अर्जुन
जीवन में त्रिगुण का विस्तार

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥

हे अर्जुन, रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान। वह जीवात्मा को कर्मों की और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है।

और हे अर्जुन, सर्वदेहाभिमानियों के मोहनेवाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।

क्योंकि हे अर्जुन, सत्त्वगुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञान को अच्छादन करके अर्थात् ढँक के प्रमाण में भी लगाता है।

पहले थोड़े प्रश्न।

● पहला प्रश्न : परम जीवन और परम आनंद की बात जो आप बार-बार करते हैं, उसका तो कोई अनुभव मुझे हुआ नहीं है, लेकिन इस मार्ग पर चलने में भी आनन्द आता है। तो क्या मंजिल पर पहुँचने के भी पहले यात्रा में भी आनन्द हो सकता है?

हमारी आदत है--सभी चीजों को बाँटकर देखने की, इसलिए हम मार्ग और मंजिल को भी बाँट लेते हैं। बिना बाँटे हमारा मन मानता नहीं।

मन सभी चीजों को तोड़ता है। और वस्तुतः कुछ भी टूटा हुआ नहीं है। मार्ग का ही अंतिम हिस्सा मंजिल है। और मंजिल का पहला चरण मार्ग है। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ मार्ग समाप्त होता हो और मंजिल शुरू होती हो।

मार्ग और मंजिल दो नहीं हैं, वे एक ही हैं। अगर वे दो होते, तो आप मार्ग से चलकर मंजिल तक पहुँचते कैसे? अगर उनके बीच रत्तीभर भी फासला होता, तो आप मार्ग पर ही रह जाते, मंजिल पर कैसे पहुँचते?

मार्ग मंजिल से जुड़ा है। इसलिए मार्ग मंजिल में ले जाता है। साधन और साध्य भिन्न नहीं हैं। और जो उन्हें भिन्न मानता है, बड़ी भूल करता है। क्योंकि जैसे ही हमें यह खयाल आ गया कि साधन और साध्य भिन्न हैं, मार्ग और मंजिल अलग है, वैसे ही हम मंजिल की तो चिंता करते हैं और मार्ग से बचने की कोशिश शुरू हो जाती है। फिर हमारा मन कहता है कि अगर बिना मार्ग के भी मंजिल मिलती हो, तब हम मार्ग को छोड़ दें और मंजिल पर पहुँच जायँ। शार्टकट की खोज बेईमानी का हिस्सा है।

फिर हम सोचते हैं : मार्ग जितना कम हो जाय...; क्योंकि मार्ग कोई मंजिल तो नहीं है। और किसी चालाकी से, किसी तरकीब से अगर हम बिना मार्ग पर चले मंजिल तक पहुँच जायँ, तो हम जरूर पहुँचना चाहेंगे। हमारी दृष्टि फिर भविष्य में

हो जाती है । और वर्तमान से जो बचता है, उसका भविष्य बिलकुल अंधकारपूर्ण है। क्योंकि सभी भविष्य वर्तमान से ही पैदा होगा; कल आज से पैदा होगा ।

मार्ग तो आज है; मंजिल कल है । और जो आज से बचेगा, वह कल से वंचित रह जाएगा । क्योंकि कल तो भी होने वाला है, वह आज से ही जन्मेगा; आज के ही गर्भ में छिपा है ।

ऐसा समझ लें कि मार्ग है गर्भ और मंजिल है जन्म ।

बाँटें मत । और तब यह बात समझ में आ जाएगी । परम आनन्द तो मंजिल पर मिलेगा । मंजिल का मतलब है : मार्ग जहाँ पूरा हो जाय; जहाँ मार्ग पूर्णता पर पहुँच जाय । जहां जाने के लिए और आगे कोई जगह न रहेगी——परम आनन्द तो वहाँ मिलेगा । लेकिन आनन्द की पहली घटना तो पहले कदम पर ही घट जाएगी। मार्ग पर चलने का खयाल भी आनन्द से भर देगा । चलना तो दूर, सिर्फ यह संकल्प कि मैं मार्ग पर चलूँगा, खोजूँगा——इस संकल्प से भी मन एक नई झलक आनन्द की ले लेगा ।

एक कदम भी जो रखेगा, एक कदम के योग्य मंजिल तो मिल ही गई । समझें कि मंजिल अगर हजार कदमों पर मिलेगी, तो एक बटा हजार मंजिल तो पहले कदम पर ही मिल गई । उतने आनन्द के हम हकदार हो गए ।

और ध्यान रहे : यह आनन्द ऐसा नहीं है कुछ, जो अंत में मिलेगा——फल की तरह; यह प्रतिपल बढ़ेगा; यह जीवन है । आनन्द प्रतिपल मिलेगा और प्रतिपल बढ़ता रहेगा ।

मार्ग पर जो चलता है, वह मंजिल पर पहुँचने ही लगा । मार्ग पर जो खड़ा हो गया, उसने दूर से ही, लेकिन मंजिल पर हाथ रख लिया । झलकें आनी शुरू हो जाएँगी । निर्णय लेते ही चलने का, पहला कदम उठाते ही मन हल्का होने लगेगा, शांत होने लगेगा, प्रसन्न होने लगेगा । जैसे बगीचा कितनी ही दूर हो, हम उसकी तरफ चलने लगें; ठंडी हवाएँ आनी शुरू हो जाएँगी——जैसे-जैसे हम करीब पहुँचेंगे, फूलों की सुगंध भी हवाओं में आने लगेगी । शीतलता बढ़ेगी । हवा ताजी होने लगेगी। मन प्रफुल्लित और नाचने को होने लगेगा । एक वसंत हमारे भीतर भी खिलने लगेगा। ठीक ऐसा ही होगा ।

और ध्यान रहे : मंजिल की फिक्र छोड़ दें । मार्ग की ही फिक्र करें । जिसने मार्ग को सम्हाल लिया, उसे मंजिल तो मिल ही जाती है । मंजिल को बिलकुल भी भूल जायँ, तो कुछ हर्ज नहीं । मार्ग को पूरा सम्हाल लें । क्योंकि जितना मन आपका मंजिल में लगता है, उतना ही मन मार्ग में लगने से छूट जाता है ।

सारा मन मार्ग पर लगा दें । जिस क्षण आपका सारा मन मार्ग पर लग जाएगा,

उसी क्षण मार्ग मंजिल हो जाता है । यह दूरी कोई स्थान की दूरी नहीं है । यह दूरी इन्टेन्सिटी की, तीव्रता की दूरी है । अगर पूरा मन मेरा इसी क्षण मार्ग पर लग जाय, तो इसी क्षण मंजिल घट जाएगी । जितना कम मन लगता है, उतनी मंजिल दूर है । जितना मेरा मन अधूरा-अधूरा है, उतना ही ज्यादा फासला है ।

और फासला कोई चल के पूरा होने वाला नहीं है । संकल्प से ही पूरा हो जाता है । चलना तो सिर्फ संकल्प को बढ़ाने का बहाना है । जो जानते हैं, वे बिना इंच भर चले मंजिल पर पहुँच जाते हैं । जो नहीं जानते, वे बहुत चलते हैं, बहुत भटकते हैं और कहीं भी नहीं पहुँचते हैं ।

ध्यान रखें : मंजिल को तो छोड़ दें । मंजिल की तो बात मत उठाएँ । क्योंकि मंजिल की बात उठाने का मतलब है : फल की इच्छा हो गई । मंजिल का विचार करने का मतलब है : हम छलाँग लगाने लगे आगे; आज को भूलने लगे, कल को याद करने लगे । और श्रम करना है आज ।

आज में जीयें——अभी और यहीं । और जो भी घट सकता है, वह सब घट जाएगा । इसी क्षण में घट सकता है । आप पूरी तीव्रता से, अपने पूरे प्राणों से, सारी श्वासों को समर्पित कर के साधना में लग जायँ, चलने में लग जायँ ।

और उचित ही है कि जो आनन्द अभी मिल रहा हो, उसे पूरा जीयें । उसका पूरा रस निचोड़ लें । क्योंकि ध्यान रहे : जितना आप आनन्द को लेने में समर्थ हो जाएँगे, उतने ही ज्यादा आनन्द के द्वार आपके लिए खुलने लगेंगे ।

प्रकृति की गहरी व्यवस्था है : आपको वही मिल सकता है, जिसे आप झेल सकते हैं । आप यह मत सोचना परम आनन्द आपको मिल जाय, तो आप झेल लेंगे । अगर आप आदी नहीं हो गए हैं, तो परम आनन्द घातक हो जाएगा, मृत्यु हो जाएगी । उतने बड़े विस्फोट को आप न झेल पायेंगे ।

जैसे कोई अँधेरे से अचानक सूर्य के सामने आ जाय, तो आँखें बंद हो जाएँगी, चौंधिया जाएँगी । अंधकार ही हो जाएगा । आँखें सूर्य को देख ही न पाएँगी । सूर्य को देखने के लिए आँखों को धीरे-धीरे तैयार करना होगा । मिट्टी का दीया भी सूरज का ही हिस्सा है । उसे देखने से तैयारी करें । नहीं तो आँखें अंधी हो जाती हैं ।

तो प्रकृति की व्यवस्था है : उसी को मिलता है, जो झेल सकता है । साधना सिर्फ पाने की ही खोज नहीं है, झेलने की तैयारी भी है । अगर आप पर एकदम आकाश टूट पड़े, तो आप मिट जाएँगे, विक्षिप्त हो जाएँगे । आप फिर लौट कर भूल कर भी उस रास्ते पर नहीं जाएँगे । आप आनन्द चाहते हैं, इससे आप यह मत सोचना कि आप आनन्द को झेलने के लिए तैयार भी हैं ।

छोटा-सा दुःख कठिनाई देता है; छोटा-सा सुख कठिनाई देता है । छोटा-सा

सुख आ जाय तो रात नींद नहीं आती। सुख उत्तेजित कर देता है। आनन्द तो बहुत विचलित कर देगा। रत्ती-रत्ती उसका अभ्यास करना होगा। बूंद-बूंद पी कर तैयार होना पड़ेगा। और बूंद-बूंद पी कर कोई तैयार हो--चाहे दुःख भी कोई बूंद-बूंद पी कर तैयार हो, तो नरक से भी गुजर सकता है--बिना विचलित हुए।

आपने सुना होगा : पुराने दिनों में भारत के सम्राट् विष कन्याएँ तैयार करते थे। सुन्दर युवतियाँ... बचपन से ही रोज थोड़ा-थोड़ा जहर पिला कर तैयार की जाती थीं। जहर की मात्रा इतनी कम होती थी रोज, कि युवती मर नहीं पाती थी। और धीरे-धीरे जहर उसके रोएँ-रोएँ, रग-रग में प्रवेश कर जाता था। जवान होते-होते, सोलह अठारह वर्ष की होते-होते उसका पूरा खून जहर हो जाता था। तब ऐसी सुन्दर युवतियों को शत्रुओं के पास भेज दिया जाता था। एक चुम्बन जो भी उनका लेगा, वह तत्क्षण मर जाएगा। उनका चुम्बन विषाक्त हो जाता। उनसे जो संभोग करेगा, जिंदा नहीं बचेगा; संभोग से जिन्दा नहीं लौटेगा। उनका पूरा शरीर जहर था। इस तरह की कन्याओं को 'विष कन्याएँ' कहा गया, लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि जिनके चुम्बन से दूसरा मर जाएगा--वे जिंदा हैं।

धीरे-धीरे एक-एक बूंद जहर की उनको देकर उन्हें तैयार किया गया है। उन्हें साँप काट ले, तो साँप मर जाएगा। उन्हें बेहोश करने का कोई उपाय नहीं है। कोई शराब उन्हें बेहोश न कर सकेगी।

बूंद-बूंद दुःख की आप झेलते रहें, तो आप नरक से भी बिना विचलित हुए गुजर जाएँगे। तपश्चर्या का यही अर्थ है : दुःख को झेलने की तैयारी। लेकिन जो दुःख के सम्बन्ध में सच है, वही सुख के सम्बन्ध में भी सच है। वह भी बूंद-बूंद ही झेला जा सकता है। और आनन्द तो बड़ी घटना है। वह महा सुख है।

अगर मंजिल आपको मिल भी जाय, तो पहली तो बात आप उसे पहचान न सकेंगे। आपकी आँखें बहुत छोटी हैं और मंजिल बहुत बड़ी होगी। उसे आपकी आँखें नहीं देख पाएँगी। मंजिल सामने भी हो--सामने है ही--तो भी आप पहचान न पाएँगे, क्योंकि उसको पहचानने के लिए आँखों का एक प्रशिक्षण चाहिए। और दुर्भाग्य से अगर मंजिल आपको मिल भी जाय, आप पहचान भी लें, तो वह वरदान सिद्ध नहीं होगी; अभिशाप सिद्ध होगी, क्योंकि उतना आनन्द आप झेल नहीं पाएँगे। वह आनन्द महाघातक होगा।

तो साधना बहुत-सी तैयारियों का नाम है। मंजिल तक पहुँचना है; मंजिल को देख सकें, इसके लिए आँखों को प्रशिक्षित करना है। मंजिल को अनुभव कर सकें, इसलिए आनन्द की एक-एक लहर को धीरे-धीरे आत्मसात करना है। मंजिल को झेल सकें, वह महा आनन्द जब बरसे तब आप विक्षिप्त न हो जायँ, होश में रहें, मूर्च्छित

न हो जायँ, गिर न पड़ें, मिट न जायँ--उसके लिए भी हृदय के पात्र को तैयार करना जरूरी है।

मंजिल को छोड़ ही दें। मंजिल की बात ही मत उठाएं। मार्ग की फिक्र करें। और एक-एक इंच मार्ग को मंजिल ही समझ कर चलें। बहुत आनन्द मिलेगा। बहुत आनन्द बढ़ेगा। और एक दिन अचानक किसी भी क्षण वह घटना घट सकती है। जिस क्षण भी ट्यूनिंग पूरी हो जाएगी, जिस क्षण भी हृदय की वीणा बजने को बिलकुल तैयार होगी, उसी क्षण मंजिल सामने होगी।

और तब आप हँसेंगे, क्योंकि तब आप यह भी पायेंगे कि यह मंजिल सदा से सामने थी। मैं ही तैयार नहीं था, मंजिल सदा तैयार थी। मैं द्वार पर ही खड़ा था, शायद पीठ किये था। शायद मुड़ने भर की जरूरत थी। थोड़ा-सा ध्यान मोड़ने की जरूरत थी। और जिसे मैं तलाश रहा था, वह बिलकुल पास था।

उपनिषद् कहते हैं : वह परम सत्य दूर से दूर और पास से भी पास है। दूर से दूर--आपके कारण; पास के पास--उसके कारण। आप जैसे हैं, उस हिसाब से बहुत दूर। वह जैसा है, उस हिसाब से बिलकुल पास।

परमात्मा की तरफ हमें चलना पड़ता है, इसलिए नहीं कि परमात्मा दूर है। परमात्मा की तरफ हमें चलना पड़ता है, क्योंकि हम अयोग्य हैं। हमारी अयोग्यता ही उसकी दूरी बन गई है।

तो उचित है : मार्ग पर आनन्द मिलता हो; आह्लादित हों, अनुगृहीत अनुभव करें। गहरे भाव से भरें और उस आनन्द को भोगें। जैसा-जैसा भोगेंगे, वैसा-वैसा आपकी भोगने की क्षमता बढ़ती जाएगी।

परमात्मा परम भोग है। उसके लिए तैयार होना होगा। उसके लिए विराट् आकाश जैसा हृदय चाहिए।

विराट् को हम बुलाते हैं क्षुद्र में, यह असंभव है। जिसे हम बुलाते हैं, उसके योग्य हमारे पास स्थान भी चाहिए।

परमात्मा को बहुत लोग पुकारते हैं--बिना इसकी फिक्र किये, कि कहाँ है वह घर, जहाँ उसे ठहराएँगे। कहाँ है, वह आसन, जिस पर उसे बिठायेंगे? आतिथ्य का सामान कहाँ है? किन फूलों से करेंगे उसकी पूजा? वह मस्तक कहाँ, जो उसके चरणों में रखेंगे? और अचानक वह सामने आजाय, तो बड़ी विबूचन हो जाएगी, बड़ी अड़चन हो जाएगी। हम पागल होकर दौड़ेंगे। कुछ भी न मिलेगा कि क्या करें, क्या न करें। शायद हम ऐसी अड़चन में न पड़ें, इसलिए परमात्मा तब तक प्रतीक्षा करता है।

● दूसरा प्रश्न : कृष्ण अर्जुन को पिछले तेरह अध्यायों में समझा चुके हैं। फिर

भी अर्जुन के मन में प्रश्न, शंकाएँ और संशय उठते ही चले जाते हैं। आप भी हमें अनेक वर्षों से लगातार समझा रहे हैं, लेकिन फिर भी हमारे मन में प्रश्न, शंकाएँ और अविश्वास उठते ही चले जाते हैं। इसके क्या कारण हैं और इसका क्या समाधान है?

कृष्ण के समझाने से अर्जुन नहीं समझेगा। अर्जुन के समझने से ही समझेगा। अगर कृष्ण के हाथ में यह बात होती कि अर्जुन समझाने से समझता होता, तो पृथ्वी पर कोई अज्ञानी अब तक न बचता। बहुत कृष्ण हो चुके; अर्जुन बाकी हैं।

अर्जुन के समझने से घटना घटेगी। कृष्ण जो मेहनत कर रहे हैं, वह समझाने के लिए नहीं कर रहे हैं। अगर ठीक से समझें तो वे ऐसी परिस्थिति पैदा कर रहे हैं, जहाँ अर्जुन समझने के लिए तैयार हो जाय, जहाँ अर्जुन समझ सके। वे अर्जुन को धक्का दे रहे हैं। किसी तरफ इशारा कर रहे हैं। आँख तो अर्जुन को ही उठानी पड़ेगी। और अगर अर्जुन आँख उठाने को राजी न हो, तो कृष्ण के जीतने का कोई भी उपाय नहीं है। लेकिन कृष्ण आयोजन कर रहे हैं पूरा।

इन तेरह अध्यायों में अलग-अलग मोर्चों से कृष्ण अर्जुन पर हमला कर रहे हैं। कई तरफ से चोट कर रहे हैं। शायद किसी चोट में सजग हो जाय। लेकिन यह बात 'शायद' है। इसमें अर्जुन का सहयोग जरूरी है। अगर अर्जुन सहयोग न दे, तो कृष्ण की कोई सामर्थ्य नहीं है।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें, क्योंकि हम में से बहुतों को यह खयाल रहता है: गुरु कृपा से हो जाएगा। अगर गुरु कृपा से होता, तो इतनी बड़ी गीता बिलकुल फिजूल है। कृष्ण ना-समझ नहीं हैं। अगर यह घटना कृपा से घटती होती, तो कृष्ण जैसा कृपा करने वाला और अर्जुन जैसा कृपा को पाने वाले पात्र को दुबारा खोजने की कहाँ सुविधा है। दोनों मौजूद थे।

कृष्ण कृपा कर सकते थे और अर्जुन कृपा का आकांक्षी था और पात्र था। और क्या पात्रता चाहिए? इतनी आत्मीयता थी, इतनी निकटता थी कि जो बात कृपा से हो सकती, उसके लिए कृष्ण क्यों इतनी लम्बी गीता में जाते! इतने लम्बे आयोजन की कोई भी जरूरत नहीं थी।

नहीं; वह घटना कृपा से नहीं होने वाली। कृपा भी तभी घट सकती है, जब अर्जुन खुला हो, राजी हो, तैयार हो, सहयोग करे। यह कृपा ही है कि कृष्ण उसे समझा रहे हैं--यह जानते हुए भी कि समझाने से कोई समझ नहीं जाता। यह कृपा का हिस्सा है। लेकिन इस चेष्टा से संभावना है कि अर्जुन बच न पाये।

अर्जुन सारी कोशिश करेगा बचने की। अर्जुन सवाल उठाएगा, समस्याएँ खड़ी करेगा। संशय-सन्देह--ये सब चेष्टाएँ हैं आत्मरक्षा की।

अर्जुन कोशिश कर रहा है अपने को बचाने की। अर्जुन कोशिश कर रहा है कि तुम दिखा रहे हो, लेकिन हम न देखेंगे। इसको थोड़ा समझें।

अर्जुन की ये सारी शंकाएँ, ये सारे सन्देह इस बात की कोशिश है कि तुम दिखा रहे हो, वह ठीक, लेकिन हम न देखेंगे; हम और सवाल उठाते हैं। हम और धुआँ पैदा करते हैं। तुम जिस तरफ इशारा करते हो, हम उसको धुँधला कर देते हैं। यह आत्मरक्षा है गहरी।

जैसे हम अपने शरीर को बचाना चाहते हैं, वैसे ही हम अपने मन को भी बचाना चाहते हैं। जैसे कोई आपके शरीर पर हमला करे, तो आप आत्मरक्षा के लिए कुछ आयोजन करेंगे। गुरु का हमला और भी गहरा है। वह आपके मन को मिटाने को तत्पर हो गया है। शरीर को जो मिटाते हैं, उनका मिटाना बहुत गहरा नहीं है। क्योंकि वासना आपकी मौजूद है। आप फिर शरीर ग्रहण कर लेंगे। वे आपसे वस्त्र छीन रहे हैं। लेकिन जो मन को मिटाने की कोशिश कर रहा है, वह आपसे सब कुछ छीन रहा है। फिर आप चाहें तो भी शरीर ग्रहण न कर सकेंगे। अगर मन समाप्त हो गया, तो जन्म की सारी व्यवस्था खो गई। मृत्यु परम हो गई। इसलिए ध्यान महा समाधि है।

महा समाधि शब्द का उपयोग हम मृत्यु के लिए भी करते हैं। वह ठीक है। क्योंकि समाधि एक भीतरी मृत्यु है। आप वस्तुतः मर जाएँगे। तो जैसे कोई शरीर पर हमला करे तलवार से, और ढाल से आप अपनी रक्षा करें, ऐसा जब भी कोई गुरु आपके मन को तोड़ने के लिए हमला करेगा, तब शंकाओं से, सन्देहों से, सवालों से आप अपनी रक्षा करेंगे। वे ढाल हैं। वह आप बचा रहे हैं। आप कह रहे हैं: 'करो कोशिश।' शायद यह सचेतन नहीं है; यह अचेतन है। यह वैसा ही अचेतन है, जैसा आपकी आँख के सामने कोई जोर से हाथ करे, तो आपको सोचना भी नहीं पड़ता--आँख झपकने के लिए। आँख झपक जाती है। आँख झपकती है अचेतन से। आपको सोचना नहीं पड़ता। मैं आपकी आँख के सामने हाथ करूँ, तो ऐसा नहीं कि आप पहले सोचते हैं कि हाथ आ रहा है। अब मैं अपने को बचाऊँ, तो आँख बंद कर लूँ। इतना सोचने में तो आँख फूट जाएगी। इतना समय नहीं है। और विचार में समय लगता है। इसलिए मनुष्य के मन की दोहरी व्यवस्था है। जिन चीजों में समय की सुविधा है, उनमें हम विचार करते हैं। और जिनमें समय की सुविधा नहीं है, उनमें हम अचेतन से प्रतिकार करते हैं।

आँख पर कोई हमला करे, तो तत्क्षण आँख बंद हो जाती है। इसकी अनकान्शस, अचेतन व्यवस्था है। नींद में भी कीड़ा आपके पैर पर चले, तो पैर आप झटक देते हैं। उसके लिए होश की जरूरत नहीं है। ठीक ऐसे ही मन भी अपनी आंतरिक रक्षा करता है।

और गुरु के पास मन जितना परेशान हो जाता है, उतना और कहीं नहीं होता, क्योंकि वहाँ मौत निकट है। अगर ज्यादा गुरु के आसपास रहे, तो मरना ही पड़ेगा। उससे बचने के लिए आप अपने चारों तरफ सुरक्षा की दीवाल खड़ी करते हैं। वह कवच है।

अर्जुन यह कह रहा है कि 'समझाओ। लेकिन मुझे समझ में ही नहीं आ रहा है। जब समझ में ही नहीं आ रहा है, तो बदलने की कोई जरूरत नहीं है। मैं जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा। जब तक समझ में न आ जाय; जब तक मेरी सब शंकाएँ न मिट जायें, तब तक मैं जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा। और इसमें दोष मेरा नहीं है। तुम नहीं समझा पा रहे हो, तो दोष तुम्हारा है।'

इस भीतरी मन की कुशलता को अगर समझ लेंगे, तो दोनों बातें खयाल में आ जाएँगी कि क्यों अर्जुन बार-बार सवाल उठाए चला जा रहा है। और क्यों कृष्ण जवाब दिए जा रहे हैं।

यह एक खेल है। जिस खेल में अर्जुन अपनी व्यवस्था कर रहा है और कृष्ण अपनी व्यवस्था कर रहे हैं। एक जगह अर्जुन ढाल रख लेता है, तो कृष्ण दूसरी तरफ से हमला करते हैं--जहाँ उसने अभी ढाल नहीं रखी। वे उसे थका ही डालेंगे। वह ढाल रखते-रखते थक जाएगा। न केवल थक जाएगा, बल्कि ढाल रखते-रखते उसे समझ में भी आ जाएगा कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं किससे बच रहा हूँ। जो मुझे महा जीवन दे सकता है, उससे मैं बचने की कोशिश कर रहा हूँ! मैं किसके सम्बन्ध में संदेह उठा रहा हूँ? किसलिए उठा रहा हूँ? यह उसे धीरे-धीरे खयाल में आएगा। और यह वर्षों में भी खयाल आ जाय, तो भी जल्दी है। जन्मों में भी खयाल आ जाय, तो भी जल्दी है।

इसलिए कृष्ण कितना समझाते हैं: यह बड़ा सवाल नहीं है। कितना ही समझाएँ, थोड़ा ही है। और अर्जुन कितनी ही देर लगाए, तो भी जल्दी है। क्योंकि मन सब तरह के आयोजन कर लेगा; थकेगा। जब बिलकुल क्लान्त हो जाएगा, जब सब संदेह उठा चुकेगा और सन्देह उठाना भी व्यर्थ मालूम पड़ने लगेगा, और जब सन्देह भी बासे और उधार मालूम पड़ने लगेंगे--कि यह मैं उठा चुका, उठा चुका, बहुत बार कह चुका, इनसे कुछ हल नहीं होता--तभी शायद वह किरण--ध्यान की--उस तरफ जाएगी, जहाँ कृष्ण ले जाना चाह रहे हैं।

यह सदा ऐसा ही हुआ है। इससे निराश होने की कोई भी जरूरत नहीं है। इस श्रम में लगे ही रहना है।

और ध्यान रहे: उचित यही है कि आप अपनी सारी शंकाएँ, और सारे सन्देह सामने ले आयें, क्योंकि सामने आ जाएँगे, तो मिटने की सुविधा है। भीतर छिपे रहेंगे,

तो उनके मिटने का कोई उपाय नहीं है।

अर्जुन ईमानदार है। उतना ही ईमानदार होना जरूरी है। वह सवाल उठाए ही चला जा रहा है। बेशर्मी से उठाए चला जा रहा है। उसमें जरा भी संकोच नहीं कर रहा है। किसी को भी संकोच आने लगता कि अब ठहर जाऊँ। लेकिन संकोच खतरनाक होगा। भीतर उठते चले जाएँगे, अगर बाहर ठहर गए। तो फिर कृष्ण नहीं जीत सकते हैं।

उठाए ही चले जायँ। वह घड़ी जल्दी ही आ जाएगी, जब सन्देह उठने बंद हो जाएँगे। हर चीज की सीमा है।

इस जगत् में परमात्मा को छोड़ कर और कुछ भी असीम नहीं है। आपका मन तो निश्चित ही असीम नहीं है। आप उठाए चले जायँ, किनारा जल्दी ही आ जाएगा। किनारा आता नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि आप बेईमान हैं। ठीक से उठाते ही नहीं। जिस दिन किनारा आ जाएगा, उसी दिन छलाँग लग सकती है।

● तीसरा प्रश्न: अर्जुन को अभी गीता कही जा रही है। वह अभी ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुआ! फिर भी कृष्ण उसे सम्बोधित करते हैं: हे निष्पाप--ऐसा क्यों?

क्योंकि कृष्ण उस अर्जुन को सम्बोधित नहीं करते--जो प्रश्न उठा रहा है। कृष्ण उस अर्जुन को सम्बोधित करते हैं--जो प्रश्नों के पीछे खड़ा है। कृष्ण उस अर्जुन को सम्बोधित नहीं करते--जो सामने दिख रहा है--हड्डी, मांस, मज्जा का बना हुआ; कृष्ण उस अर्जुन को सम्बोधित करते हैं, जो इसके पीछे छिपा हुआ चिन्मय है। जो परम चैतन्य है, वह निष्पाप है।

और कृष्ण क्यों कहते हैं बार-बार, हे निष्पाप! ताकि अर्जुन का ध्यान उस तरफ जा सके कि वह जहाँ से सवाल उठा रहा है, कृष्ण वहाँ जवाब नहीं दे रहे हैं। कृष्ण कहीं और गहरे में जवाब ले जा रहे हैं।

यह तो अर्जुन को भी साफ होगा कि निष्पाप वह नहीं है। इसे बताने की कोई जरूरत नहीं; यह तो वह भी जानता है। लेकिन कृष्ण उससे बार-बार कह रहे हैं: हे निष्पाप! वे चोट कर रहे हैं बार-बार इस बात पर कि तेरे भीतर जो छिपा है, वहाँ कोई पाप ने कभी प्रवेश नहीं किया--और न प्रवेश कर सकता है। सब पाप ऊपर-ऊपर हैं। सब पुण्य भी ऊपर-ऊपर हैं।

आप निष्पाप का मतलब यह मत समझना कि हे पुण्य-धर्मा। निष्पाप का अर्थ है: जहाँ कोई विकार नहीं।--न पुण्य का कोई विकार है, न पाप का कोई विकार है। 'हे निर्विकार'।... जहाँ कुछ भी नहीं पहुँचता है। जहाँ तेरा शुद्ध होना है। जहाँ बाहर से आये हुए कोई भी संस्कार गति नहीं करते। सब परिधि पर इकट्ठे हो जाते हैं, भीतर तो कुछ जाता नहीं। उस भीतर का जो केन्द्र है, वह सदा निष्पाप

है। वह सदा शुद्ध है। वह सदा निर्दोष--कुँवारा है। उस कुँवारेपन में कभी आँच नहीं लगती।

आप कितने ही पाप करें और कितने ही पुण्य करें, उस कुँवारेपन पर कभी भी कोई बासापन नहीं आता। वह कुँवारापन हमारा स्वभाव है।

अर्जुन को जगाने की चेष्टा है उस शब्द में भी। सद्गुरु एक शब्द भी व्यर्थ नहीं बोलते हैं। वे जो भी बोलते हैं, कोई गहरा कारण है।

आप भी निष्पाप हैं। अस्तित्व सदा निष्पाप है। और अगर पाप और पुण्य आपके ऊपर है, तो वैसे ही जैसे कोई यात्री राह से गुजरे और धूल इकट्ठी हो जाय--ऊपर-ऊपर। एक डुबकी लगा ले नदी में, धूल बह जाय। हमने तीर्थ बनाए थे; वे प्रतीक थे। फिर प्रतीक सब गलत हो जाते हैं--गलत आदमियों के हाथों में। हमारे प्रतीक थे तीर्थ--कि हम कहते थे कि वहाँ जा स्नान कर लो, सब पाप से छुटकारा हो जाता है। कोई तीर्थ में जाकर स्नान करने से पाप का छुटकारा नहीं होता। इतना आसान होता, तो जितने तीर्थ हमारे मुल्क में हैं--और जितने पापी स्नान कर रहे हैं...तो इस मुल्क में पाप होता ही नहीं।

तीर्थ में स्नान करने से पाप से कोई छुटकारा नहीं होता। लेकिन बात बड़े मूल्य की है। बात असल में यह है कि पाप और पुण्य धूल से ज्यादा नहीं है। और जैसे धूल स्नान करने से बह जाती है और धूल कोई आपकी आत्मा में नहीं चली जाती है, बस, आपकी परिधि पर होती है, ऐसे पुण्य और पाप हैं। जो जान ले तरकीब स्नान करने की, वह इनसे भी ऐसे ही मुक्त हो जाएगा, जैसे कोई धूल से मुक्त हो जाता है।

तो तीर्थ प्रतीक थे।

रामकृष्ण से किसी ने पूछा है कि 'मैं गंगा जा रहा हूँ। कहते हैं कि गंगा में स्नान करने से पाप धुल जाएँगे।' रामकृष्ण थोड़ी अड़चन में पड़े। रामकृष्ण को लगा कि 'कहूँ : ऐसा ठीक नहीं है, तो गलत होगा।' यह ठीक है कि कोई स्नान करने की कला को जान ले और गंगा की खोज ले, तो पाप धुल जाते हैं। इस बात में कहीं भूल-चूक नहीं है। लेकिन गंगा यह नहीं है, जो बाहर बहती दिखाई पड़ती है। और स्नान की कला शरीर पर पानी डालने की नहीं है, मन पर ध्यान डालने की है।

तो बात तो ठीक ही है। प्रतीक काव्यात्मक है, पर बात ठीक है। और कठिन बातें कविता में ही कही जा सकती हैं। उनके लिए गणित के फार्मूले नहीं हो सकते। क्योंकि बड़े सूक्ष्म और नाजुक इशारे हैं। पत्थर जैसे नहीं है, फूल जैसे हैं। उन्हें बहुत सम्हाल के काव्य में संजोकर ही बचाया जा सकता है।

तो बात तो ठीक है। लेकिन फिर भी गलत हो गई, क्योंकि लोग गंगा में स्नान

कर के घर लौट आते हैं, इस खयाल से कि बात खत्म हो गई, फिर से पाप शुरू करो। और दिक्कत क्या है? कितने ही पाप करो, वापस गंगा में जाकर स्नान से धुल सकते हैं।

तो रामकृष्ण ने कहा, 'तू जा जरूर, लेकिन तुझे पता है : गंगा के किनारे बड़े वृक्ष लगे हैं, वे किसलिए लगे हैं? वे किसलिए लगे हैं?' उस आदमी ने कहा, 'यह तो कहीं शास्त्रों में इसका कोई उल्लेख नहीं है।' तो उन्होंने कहा कि 'वही असली महत्त्वपूर्ण बात है। जब तू गंगा में डूबेगा, तो गंगा में पाप बाहर निकल जाते हैं। क्योंकि गंगा पवित्र है। पर वे जो बड़े वृक्ष हैं, पाप उन पर बैठ जाते हैं। तो तू डूबा रहेगा कि लौटेगा? लौटेगा, कि वे पाप फिर झाड़ों से उतर कर तेरे सिर पर सवार हो जाएँगे। तो गंगा तो धो देगी, लेकिन तू इस भ्रम में मत पड़ना कि खाली होकर लौट आया। वे झाड़ इसीलिए खड़े हैं!'

सारे प्रतीक व्यर्थ हो जाते हैं। व्यर्थ इसलिए हो जाते हैं कि हम प्रतीकों की गरदन दबा लेते हैं। उनका निचोड़ देते हैं प्राण ही--बाहर।

पाप बाहर है, धूल से ज्यादा नहीं। झड़ाये जा सकते हैं। कोई आदमी ठीक से निर्णय भी कर ले झड़ाने का, तो झड़ जाते हैं, क्योंकि आपके ही निर्णय से वे पकड़े गये हैं। सच तो यह है कि उन्होंने आपको पकड़ा है--यह कहना ही गलत है। आप उनको पकड़े हैं और सम्हाले हैं। जिस दिन आप छोड़ देंगे, वे गिर जाएँगे। और वह जो पकड़े हुए है, वह सदा निष्पाप है।

मनुष्य की अंतरात्मा पापी नहीं हो सकती। और अगर अंतरात्मा पापी हो जाय, तो फिर उसे शुद्ध करने का कोई भी उपाय नहीं है। फिर उसे कैसे शुद्ध करिएगा? फिर कौन उसे शुद्ध करेगा? फिर आत्मा से भी शुद्ध तत्त्व कोई हो, तो ही शुद्ध कर पायेगा।

एक स्कूल में एक शिक्षक अपने बच्चों को विज्ञान पढ़ रहा है। और उसने कहा कि 'एक नयी खोज हो रही है। एक ऐसा रासायनिक द्रव्य खोजा जा रहा है, जिसमें हर चीज गल जाती है।' एक छोटे से बच्चे ने कहा, 'उसको रखिएगा कहाँ?' शिक्षक सिर खुजलाने लगा। उसने कहा, 'उसकी भी खोज की जा रही है।' उस छोटे बच्चे ने कहा, 'पहले उसकी खोज कर लेना चाहिए--पीछे इस रासायनिक द्रव्य की। अगर खोज लिया इसे पहले, तो रखिएगा कहाँ?'

आत्मा अगर अशुद्ध हो जाय, तो उसे फिर शुद्ध करने का कोई भी उपाय नहीं है। उसे फिर किस चीज से शुद्ध करिएगा? और जिससे भी शुद्ध करिएगा, उसे तो कम से कम शुद्ध रहना ही चाहिए; उसके अशुद्ध होने का उपाय नहीं होना चाहिए।

एक तत्त्व इस जगत् में ऐसा चाहिए, जिसके अशुद्ध होने का उपाय न हो, क्योंकि उसके ही माध्यम से सब शुद्ध हो सकता है। अगर सभी चीजें अशुद्ध हो जाती हों, तो

फिर शुद्धि का कोई उपाय नहीं, फिर मोक्ष की कोई संभावना नहीं है ।

हम उसी तत्त्व को आत्मा कहते हैं, जिसके अशुद्ध होने का कोई उपाय नहीं है, जो सदा शुद्ध है। इसलिए आत्मा को शुद्ध नहीं करना होता, सिर्फ आत्मा को पहचानना काफी है। पहचानते ही पता चलता है कि मैं सदा से शुद्ध-बुद्ध हूँ । वहाँ क्षण भर को भी कालिमा प्रविष्ट नहीं हुई है ।

इस महत तत्त्व की ओर इशारा करने के लिए अर्जुन को बार-बार कृष्ण कहे जा रहे हैं : हे निष्पाप!

● चौथा प्रश्न : जब यह सारा जगत् पुरुष और प्रकृति का खेल है, तो हम कहाँ भागीदार हैं, जो इतना दुःख झेल रहे हैं?

इसीलिए दुःख झेल रहे हैं कि आपको भ्रांति है कि आप भागीदार हैं। आप भागीदार न रह जायँ, दुःख समाप्त हो जाएगा। दुःख इसलिए नहीं है कि दुःख है। दुःख इसलिए है कि आप भागीदार हैं। आप सोचते हैं : मैं कुछ कर रहा हूँ। मैं हिस्सा बँटा रहा हूँ। मैं उत्तरदायी हूँ--यह अस्मिता ही आपके दुःख का कारण है।

जहाँ भी आप भागीदार हो जाएँगे, वहीं दुःख पैदा हो जाता है। लेकिन ध्यान रहे : वह दुःख हम इसीलिए पैदा करते हैं कि वही तरकीब सुख पैदा करने की भी है। जहाँ भी आप भागीदार होते हैं, वहाँ सुख पैदा हो जाता है। क्योंकि हम सुख चाहते हैं, इसलिए हम भागीदार होते हैं।

समझें कि एक फिल्म आप देख रहे हैं। अगर आप बिलकुल तटस्थ रहें, तो फिल्म से आपको कोई सुख न मिल सकेगा। सिर्फ थक कर आप वापस लौटेंगे। फिजूल मेहनत लगेगी। आँखें थकेंगी। सुख मिल सकता है, अगर आप भूल जायँ अपने को और भागीदार हो जायँ। भागीदार हो जाने का मतलब है : अपने को भूल जाना, विस्मृत कर देना। द्रष्टा न रह जाय। और आप भी जैसे एक पात्र हो गए हैं--फिल्म की कथा में।

और हर व्यक्ति फिल्म की कथा में पात्र हो जाता है। किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। फिर उस पात्र पर जो बीतता है, इस पर बीतने लगता है। फिर जब वह कष्ट में होता है, तो यह रीढ़ सीधी उठाकर कुर्सी पर बैठ जाता है। जब वह आराम में होता है, तो यह भी अपनी कुर्सी पर विश्राम करता है। इससे सुख उपलब्ध होता है। लेकिन इससे दुःख भी उपलब्ध होता है।

लोग दुःखान्त फिल्मों में आँसू पोंछ-पोंछ कर थक जाते हैं। वह तो भला है कि अँधेरा होता है, इसलिए कोई किसी दूसरे को देख नहीं सकता। सब अपने-अपने रूमालों को भीगा करते हैं।

टालस्टाय ने लिखा है कि मेरी माँ नाटक देखने की शौकीन थी। बड़े शाही

परिवार के लोग थे--ज़ार परिवार से सम्बन्ध था। तो मास्को में ऐसा कोई नाटक नहीं था, जिसमें उसकी माँ न जाती हो।

और टालस्टाय ने लिखा है कि वह बहुत रोती। वह इतनी दयालु महिला थी कि जरा-सा दुःख--नाटक में कुछ हो रहा हो, तो बस, वह जार-जार हो जाती थी। लेकिन अकसर यह होता था कि बर्फ पड़ती रहती मास्को में और बाहर जो कोचवान उसकी गाड़ी पर बैठा रहता, वह बर्फ के कारण सिकुड़ कर मर जाता। जब हम नाटक देखकर बाहर निकलते, तो कोचवान मरा हुआ होता। उसे उठाकर सड़क के किनारे फेंक के दूसरा कोचवान गाड़ी लेकर घर की तरफ जाता। और माँ अभी भी आँसू पोंछती रहती--नाटक के कारण! इस कोचवान से कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन नाटक में सम्बन्ध जुड़ता था।

टालस्टाय ने लिखा है कि मेरी समझ के बाहर था कि यह क्या हो रहा है! एक जिंदा आदमी मर गया, उसकी फिर बात ही नहीं उठती थी। वह सड़क के किनारे फेंक दिया गया। उसका कोई मूल्य नहीं था, उसकी कोई कीमत नहीं थी। वह जैसे आदमी था ही नहीं; एक यंत्र का हिस्सा था। एक दूसरा यंत्र बिठा दिया गया। और माँ घर तक रोती रहती। वह नाटक उसका पीछा करता।

आप भी जितने दुःखी हो जाते हैं फिल्म में, उतना जिन्दगी में वही घटना देख कर दुःखी नहीं होते, क्योंकि जिन्दगी में आप बहुत सोच समझ के संयुक्त होते हैं। नाटक में संयुक्त होने में कोई खतरा नहीं है, कुछ हर्जा नहीं है, कुछ खर्च भी नहीं है। थोड़ी देर में नाटक के बाहर हो जाएँगे; अपने घर आ जाएँगे।

लेकिन जहाँ भी तादात्म्य हो जाता है, वहीं सुख-दुःख मिलना शुरू हो जाता है। और जहाँ भी तादात्म्य टूट जाता है, वहाँ सुख-दुःख दोनों प्रक्रियाएँ बंद हो जाती हैं।

साक्षीभाव का इतना ही अर्थ है कि मैं कहीं भी तादात्म्य न बनाऊँ। जो भी हो रहा हो, वह नाटक से ज्यादा न हो।

विराट् नाटक चल रहा है, उसे मिटाने की कोई जरूरत भी नहीं है। उसे मिटाना अर्थपूर्ण भी नहीं है। पर उसमें भागीदार होने में भूल है। उसमें आप एक अभिनेता से ज्यादा न रहें। अभिनेता भी शायद भागीदार हो जाय, क्योंकि अभिनय जब जोश में आता है, तो अभिनेता भी भूल जाता है कि वह अभिनय कर रहा है। वह कर्ता हो जाता है। उसका कर्तापन कभी-कभी टूटता है। नहीं तो वह कर्ता ही हो जाता है।

असल में अभिनेता को अगर ठीक से अभिनय करना हो, तो उसे भूल जाना चाहिए कि वह अभिनय कर रहा है। उसे कर्ता हो जाना चाहिए। तो उसके आँसू ज्यादा वास्तविक होंगे, उसका प्रेम ज्यादा वास्तविक दिखाई पड़ेगा। उसके कृत्य, उसकी भाव भंगिमाओं में सचाई आ जाएगी।

इसलिए कुशल अभिनेता भूलना जानता है कि वह अभिनेता है और वह कर्ता हो जाता है। लेकिन तब चीजें उसे छूने लगती हैं। छूने के कारण ही वास्तविक हो जाती हैं।

संसार में अभिनेता और द्रष्टा दोनों अगर आपके जीवन में प्रविष्ट हो जायें...। क्योंकि सिर्फ यहाँ आप द्रष्टा नहीं हो सकते, क्योंकि यहाँ बहुत कुछ करना भी पड़ रहा है। आप हॉल में नहीं बैठे हैं, मंच पर खड़े हुए हैं। यहाँ हॉल है ही नहीं, मंच ही मंच है। यहां जहाँ भी आप खड़े हैं, आप मंच पर हैं।

जापान में एक नाटक होता है: नो-ड्रामा, उसमें कोई मंच नहीं होता। उसमें अभिनेता ठीक हाल में ही काम करते हैं। और नया आदमी खड़ा हो तो उसे समझना मुश्किल हो जाता है कि कौन दर्शक है और कौन अभिनेता है!

यह नो-ड्रामा झेन फकीरों की ईजाद है। और इसमें पूरी पाण्डुलिपि तैयार नहीं होती; सिर्फ इशारे होते हैं। और इशारों पर भी कोई जिद नहीं होती कि घटना वैसी ही बहनी चाहिए। स्पॉन्टेनियस, सहज होने की सुविधा होती है। और कोई बैठा हुआ दर्शक जोश में आ जाए और भाग लेने लगे, तो उसको भी मनाही नहीं है। और कोई अभिनेता पात्र करते-करते अपना सारा ढंग बदल दे, तो पीछे से प्रॉम्प्ट करने का कोई उपाय नहीं है, कोई सुविधा भी नहीं है। नाटक बहता है, जैसे जिन्दगी बहती है--अनजान में। क्या घटना होगी, पक्का नहीं है। निष्कर्ष पहले से तय नहीं है। बहुत रोमांचक है। और ठीक जिन्दगी जैसा है।

ठीक यह पूरी जिन्दगी एक बड़ा नो-ड्रामा है। यहाँ कहीं कोई दर्शक नहीं हैं। यहाँ सभी अभिनेता हैं। और लिखी हुई पाण्डुलिपि हाथ में नहीं है। परदे के पीछे से कोई कह नहीं रहा है कि यह बोलो। कुछ भी निश्चित नहीं है। प्रत्येक चीज सांयोगिक होती जा रही है। कहानी कहाँ खतम होगी, कहना कठिन है। सच पूछो तो कहीं कहानी खतम नहीं होती। पात्र आते हैं, चले जाते हैं, कहानी चलती रहती है।

आप कहानी की शुरुआत में थोड़े ही आये; मध्य में आये हैं। और अंत में थोड़े ही बिदा होंगे; बीच में बिदा हो जाएँगे। कहानी आपके पहले से चलती थी; कहानी आपके बाद भी चलती रहेगी।

इस पूरे लम्बे कथानक में आप अभिनेता भी हो और द्रष्टा भी हो, तो आप भागीदार नहीं रहे। फिर कोई दुःख नहीं है। फिर कोई सुख भी नहीं है।

जब तक सुख है, तब तक दुःख भी होगा। वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक गिरेगा, तो दूसरा भी गिर जाएगा। और जब दोनों गिर जाते हैं, तब जो घटित होता है, उसको हमने आनन्द कहा है।

जब भागीदार मिट जाता है और सिर्फ साक्षी रह जाता है, तो जो अनुभूति

जन्मती है, उसका नाम आनन्द है।

अब हम सूत्र को लें।

'हे अर्जुन, रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान। वह जीवात्मा को कर्मों की और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है।'

इनमें तीनों गुणों की जो कि बाँधने वाले तत्त्व हैं...। संस्कृत में गुण शब्द का एक अर्थ रस्सी भी है, जिससे बाँधा जाय। इनको गुण इसलिए भी कहा जाता है ये बाँधते हैं। इसलिए हम परमात्मा को निर्गुण कहते हैं।

निर्गुण का यह मतलब नहीं कि उसमें कोई गुण नहीं है। निर्गुण का यह मतलब है कि उस पर कोई बंधन नहीं है। वह कहीं बँधा हुआ नहीं है। ये तीन गुण उसमें नहीं हैं, जो बाँध सकते हैं। वह इन तीन के बंधन के बाहर है। उसकी निर्गुणता का अर्थ है: वह परम स्वतंत्र है। और आपके भीतर जो छिपा है, वह भी परम स्वतंत्र है। लेकिन उसके चारों तरफ बंधन है। बंधन से आपकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो गई है, सिर्फ अवरुद्ध हो गई है।

कोई बंधन स्वतंत्रता को नष्ट नहीं करता। मेरे हाथों में कोई हथकड़ियाँ डाल दे, इससे मेरी स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती। सिर्फ अवरुद्ध हो जाती है। मैं अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग नहीं कर सकता। लेकिन मेरी स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती। कल मेरी जंजीरें टूट जायँ; मेरी स्वतंत्रता मेरे पास थी; सिर्फ अवरोध हट गया।

तो कोई भी चेतना किसी भी स्थिति में स्वतंत्रता तो नहीं खोती है, लेकिन अवरोध खड़े हो जाते हैं। और अगर अवरोधों से हमारा लगाव हो जाय, तब बड़ी कठिनाई हो जाती है। वही कठिनाई है।

हमारे हाथ में जंजीरें नहीं हैं। और अगर जंजीरें हैं, तो हम उनको आभूषण समझे हुए हैं। और हमने उनमें हीरा, चाँदी, सोना जड़ लिया है। हमने उनमें रंग-बिरंगे चित्र बना लिए हैं। अब अगर कोई हमारी जंजीर तोड़ना भी चाहे, तो हम उनको समझेंगे यह दुश्मन है, हमारे सौन्दर्य को, हमारे आभूषण को नष्ट कर रहा है।

और जब भी कोई व्यक्ति अपनी जंजीर को आभूषण समझ ले, तो उसकी स्वतंत्रता बहुत मुश्किल हो गई। अगर कोई कारागृह को अपना घर समझ ले और सजावट करने लगे, तब फिर उसके छुटकारे का कोई उपाय न रहा। छुटकारे के लिए पहली बात तो जान लेनी जरूरी है कि मैं कारागृह में हूँ। और इसे सजाना नहीं है, इसे तोड़ना है। और जो मुझे बाँधे हुए है, वह आभूषण नहीं है, जंजीरें हैं। उनसे गौरवान्वित नहीं होना है; उनसे छुटकारा पाना है।

'हे अर्जुन रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान।

वह इस जीवात्मा को कर्मों की और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है।'

सत्त्वगुण को कृष्ण ने कहा कि वह सुख की आसक्ति और ज्ञान का अभिमान —इससे बाँधता है।

जिसको हम पांडित्य कहें, वह सत्त्व से बँधा हुआ व्यक्तित्व है। जिसको हम साधुत्व कहें, वह भी सत्त्व से बँधा हुआ व्यक्तित्व है। उसकी दो आकांक्षाएँ हैं। एक आकांक्षा है कि उसे सुख मिले। इसलिए वह स्वर्ग को खोजता है। स्वर्ग का मतलब है : जहाँ दुःख बिलकुल न हो, सिर्फ सुख हो। वह स्वर्ग की खोज के लिए सब कुछ करने को तैयार है। तप करेगा, पूजा, यज्ञ -- सब करेगा, लेकिन स्वर्ग मिले। ऐसी जगह मिले जाय, जहाँ सुख ही सुख हो; शुद्ध सुख हो और दुःख न हो। सत्त्व ऐसे लोगों को बाँध लेता है।

स्वर्ग भी बंधन है। देवता मुक्त नहीं हैं।

बुद्ध के जीवन में कथा है कि जब बुद्ध को परम ज्ञान हुआ, तो ब्रह्मा और अनेक देवताओं ने आकर उनके चरणों में निवेदन किया कि हमें उपदेश दें। हिन्दुओं को इस कहानी से बड़ी चोट पहुँची। उनको लगा : हमारे देवता और बुद्ध के चरणों में क्यों प्रार्थना करने जायें? लेकिन बात बड़ी कीमती है। देवता किसी के भी हों, बुद्ध के चरणों में नमस्कार करने जाना ही होगा। बुद्ध किसी के भी नहीं हैं। देवता किसी के भी हों...।

लेकिन जब भी बुद्धत्व घटित होता है, तो देवता को भी चरणों में नमस्कार करने और मार्ग खोजने जाना होगा। ब्रह्मा ने कहा कि हमें उपदेश दें, क्योंकि हम भी बँधे हैं। तुम सुख से भी मुक्त हो गए; हम सुख से बँधे हैं। सुख ही सुख है हमारे जीवन में, लेकिन दुःख का डर मौजूद है। क्योंकि जो भी है, उसके खोने का डर होता है।

धनी के पास कितना ही धन हो, धन के खोने का डर तो दुःख देता ही है। इसलिए हम कँपते रहते हैं, कि कब हमारा सुख छिन जाय। और सुख हमने कमाया है पुण्यों से, उसकी एक मात्रा है। पुण्य चुक जाएँगे, सुख चुक जाएगा। तब हम वापस दुःख में फेंक दिये जाएँगे। 'तो हम कम्पित हैं। हम डरे हुए हैं। हम घबड़ाए हुए हैं। हमें आश्वस्त करें। आप सुख से भी मुक्त हो गए हैं। अब आपको भय न रहा। अब आपको कोई कँपा नहीं सकता; आपसे अब कोई कुछ छीन नहीं सकता। आपके पास कुछ है ही नहीं जो छीना जा सके। अब आप सिर्फ आप हैं, जिसको छीनने का कोई उपाय नहीं है, चुराने का कोई उपाय नहीं है, मिटाने का कोई उपाय नहीं है। आप उस परम मुक्त अवस्था को उपलब्ध हो गए हैं, जिसके लिए देवता भी तरसते हैं, हम तरसते हैं।'

सत्त्व देवत्त्व तक ले जा सकता है। वह शुद्धतम जंजीर है, सुन्दरतम जंजीर है। तो जिनके मन सुख की गहरी आकांक्षा है -- सुख की, शांति की या आनंद की जिनके मन में गहरी आकांक्षा है -- वे सत्त्व से मुक्त न हो पाएँगे। क्योंकि सत्त्व सुख देता है और जो सुख देता है, उससे हम बँध जाएँगे। जिनके मन में आसक्ति है, लगाव है, जो किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर निर्भर होते हैं अपने सुख लिए...। पति है, वह कहता है : पत्नी के बिना मैं नहीं जी सकता। या पत्नी है, वह कहती है : पति मरेंगे तो मैं सती हो जाऊँगी, उनकी चिता पर जल जाऊँगी। उनके बिना नहीं जी सकती।

सती आसक्ति का गहनतम प्रतीक है। मेरा जीवन किसी और के जीवन पर पूरी तरह निर्भर है, उसके बिना कोई अर्थ नहीं है, कोई सार नहीं है। फिर मर जाना भी उचित है। फिर मृत्यु भी हितकर मालूम होती है -- बजाय जीवन के।

तो जब कोई व्यक्ति आसक्ति से किसी से बँधता है, तो ऐसी आसक्ति और कामना से जो उत्पन्न होता है, वह रजोगुण है। या इस जीवात्मा के कर्मों की और उनके फल की आसक्ति जो है, उससे रजोगुण उत्पन्न होता है।

एक तो आसक्ति है किसी से बँध जाना -- ऐसा बँध जाना कि लगे कि मेरे प्राण मेरे भीतर नहीं, उसके भीतर हैं। यह व्यक्ति के साथ भी हो सकता है, वस्तु के साथ भी हो सकता है।

कुछ लोग हैं कि उनके प्राण उनकी तिजोरी में हैं। आप उनको मारो, वे न मरेंगे। तिजोरी को मार दो, वे मर जाएँगे।

नसरुद्दीन एक अँधेरी गली से गुजर रहा है। और एक आदमी ने पिस्तौल उसकी छाती पर रख दी। उसने कहा, 'नसरुद्दीन, धन देते हो या जीवन?' नसरुद्दीन ने कहा, 'थोड़ा सोचने दो।' फिर सोच कर उसने कहा कि 'जीवन'। उस आदमी ने कहा, 'क्या मतलब है?' नसरुद्दीन ने कहा, 'धन तो बुढ़ापे के लिए इकट्ठा किया है। जीवन तुम ले सकते हो। 'धन देकर मैं क्या करूँगा? फिर कहाँ बचूँगा?'

पुरानी कहानियाँ हैं, बच्चों की कहानियाँ हैं -- परियों की, राजाओं की -- जिनमें कोई राजा होता है, जिसके प्राण किसी तोते में बन्द हैं। राजा को मारो, आप नहीं मार सकते। तोते को मारना पड़े। पता लगाना पड़े, राजा के प्राण कहाँ कैद हैं। वे कहानियाँ बड़ी अर्थपूर्ण हैं; वे हम सबकी कहानियाँ हैं।

आपको मारने में कोई सार नहीं है। पहले पक्का पता लगाना पड़े : किस 'तोते' में आपके प्राण हैं। बस, वहाँ मार दो, आप मर गए।

आसक्त व्यक्ति का अर्थ है कि उसके प्राण उसके अपने भीतर नहीं, कहीं और

हैं। ऐसा व्यक्ति तो गहन परतंत्रता में होगा -- जिसके प्राण भी अपने में नहीं। यह तो पूरा कारागृह है।

रजोगुण ऐसी आसक्ति से बढ़ता है, निर्मित होता है। और ऐसा व्यक्ति सदा ही फलों की आसक्ति से बँधा होता है। क्या मिलेगा अंत में? -- वह उसकी नजर में होता है। वह हमेशा फल को देखता है। वृक्ष की उसे चिंता नहीं होती। वह सब कर सकता है, लेकिन फल... । नजर में, आँख में, प्राण में एक ही बात गूँजती रहती है : फल। ऐसा व्यक्ति सदा दुःखी होगा। दुःखी इसलिए होगा कि वह जो भी करेगा, उसमें तो उसे कोई रस नहीं है। रस तो फल में है। फल सदा भविष्य में है।

और ऐसे व्यक्ति की धीरे-धीरे एक व्यवस्था हो जाती है मन की कि वह वर्तमान में देख ही नहीं सकता। और जब फल भी आयेगा, तब भी वह फल को नहीं देख पायेगा, क्योंकि फल तब वर्तमान हो जाएगा और उसकी आँखें भविष्य में देखेंगी।

तो ऐसा व्यक्ति फल के द्वारा फिर किसी और फल को खोजने लगता है। पहले 'धन' कमाता है। धन उसकी आकांक्षा होती है। फिर जब धन मिल जाता है, तो उस धन से वह और धन कमाने लगता है। फिर यही चलता है।

उसकी हालत ऐसी है कि एक रास्ते का उपयोग दूसरे रास्ते तक पहुँचने के लिए करता है। फिर दूसरे रास्ते का उपयोग तीसरे रास्ते तक पहुँचने के लिए करता है। जिंदगी भर वह रास्तों पर चलता है और मंजिल कभी नहीं आती। आयेगी नहीं, क्योंकि हर साधन का उपयोग वह फिर किसी दूसरे साधन तक पहुँचने के लिए करता है। साध्य का कोई सवाल नहीं है।

और ऐसे व्यक्ति की नजर सदा साध्य पर लगी होती है। उसको दिखता है हमेशा--फल। इसके पहले कि वह कुछ करे, वह अंत में देख लेता है। और अंत को देख कर ही चलता है। इसमें बड़ी कठिनाइयाँ हैं। अगर वस्तुतः उसे अन्त मिल भी जाय, तो भी उसकी आगे देखने की आदत उसे अंत का सुख न लेने देगी। और अंत मिलना इतना असान भी नहीं है। क्योंकि फल आपके हाथ में नहीं है। फल हजारों कारणों के समूह पर निर्भर है। और कोई भी व्यक्ति इतना समर्थ नहीं है कि जगत् के सारे कारणों को नियोजित कर सके।

आप धन कमा रहे हैं। धन कमा लेंगे, यह आप पर ही निर्भर नहीं है। यह करोड़ों कारणों पर निर्भर है, वह मल्टी कॉजल है। समझ लें : एक क्रांति हो जाय; धन किसी का रह ही न जाय, सामूहिक सम्पत्ति हो जाय। सम्पत्ति का वितरण हो जाय। आप जब तक धन कमा पायें, तब तक महँगाई इतनी बढ़ जाय कि धन का कोई मूल्य न रह जाय।

पिछले महायुद्ध में चीन में ऐसी हालत थी कि एक माचिस खरीदनी हो तो एक थैली भर कर नोट ले जानी पड़ती थी। वह हालत यहाँ कभी भी आ सकती है।

एक बड़ी प्रसिद्ध घटना चीन में घटी पिछले महायुद्ध में। दो भाई थे। जब बाप मरा तो आधी-आधी सम्पत्ति कर गया। काफी सम्पत्ति थी। कई लाख रुपये दोनों को मिले। एक भाई उन लाखों रुपयों को लगाकर धंधे में लग गया--कमाने में। दूसरे भाई ने उन सब लाखों रुपयों की शराब पी डाली; लेकिन उसे शौक था एक--शराब की बोतलें इकट्ठी करने का। उसने लाखों शराब की बोतलें इकट्ठी कर लीं। फिर महँगाई बढ़ते-बढ़ते उस जगह पहुँची कि उसने बोतलें अपनी बेच लीं। जितने की उसने शराब पी थी, उससे कई गुना रुपया उसे बोतलों के बेचने से मिल गया। और जो भाई धंधे में था, वह मर गया, डूब गया। लोगों के पास पैसे न रहे खरीदने को उसकी चीज; चीजें थीं; लेकिन पैसे नहीं थे लोगों के पास।

जिंदगी बड़ी जटिल है। यहाँ आप अकेले नहीं हैं। यहाँ अरबों लोग हैं। अरबों कारण काम कर रहे हैं। आप सब कुछ कर लें और माओ का दिमाग खराब हो जाय---या निक्सन का---और वे एक एटम बम गिरा दें। आपने यहाँ सब कुछ कर के इंतजाम कर लिया था; बिलकुल बस, बैंक से रुपया उठाने ही जा रहे थे। सब समाप्त हो गया।

हिरोशिमा पर जब एटम गिरा, तो एक लाख बीस हजार लोग मरे। पाँच मिनट में सब समाप्त हो गया। उसमें आप ही जैसे सब लोग थे, जिनकी बड़ी योजनाएँ थीं।

फलाकांक्षी बड़ी कठिनाई में है। पहले तो वह फल मिल भी जाय, जो कि असंभव जैसा है। जो फल वह चाहता है, वह मिल भी जाय, तो वह उसको भोग न सकेगा। उसकी आदत गलत है।

पहले मिलना ही मुश्किल है, क्योंकि फल आपके हाथ में नहीं है। और जब आप तय करते हैं कुछ पाने का, तब इतने कारण काम कर रहे हैं कि आप उन पर कोई कब्जा नहीं कर सकते। अगर इस स्थिति को हम ठीक से समझें, तो इसी को कृष्ण ने कहा है : फल भगवान् के हाथ में है। करोड़ों यह जो कारण हैं, अनंत जो कारण हैं, यह अनंत कारणों का इकट्ठा नाम भगवान है। भगवान् कहीं कोई ऊपर बैठा हुआ आदमी नहीं है, जिसके हाथ में है। ऐसा अगर हो, तब तो हम कोई तरकीब निकाल लें--उसको प्रभावित करने की। हम उसकी स्तुति कर सकते हैं, खुशामद कर सकते हैं। उस पर काम न चले, तो उसकी पत्नी होगी, उसको प्रभावित कर सकते हैं। उसके लड़के-बच्चे होंगे, कोई नाता-रिश्ता खोज सकते हैं, कोई रास्ता बन ही सकता है।

अगर कोई भगवान् है--व्यक्ति की तरह, तो हम से बच नहीं सकता। हम फल को नियोजित कर सकते हैं। उसके माध्यम से हम कुछ तय कर सकते हैं। लेकिन ऐसा भगवान् नहीं हैं। भगवान् का कुल अर्थ है : इस जगत् का जो अनंत विस्तार है--अनंत कारणों का--इन अनंत कारणों के जोड़ का नाम भाग्य या भगवान् है--जो भी आपको पसंद हो। जब हम कहते हैं : फल भाग्य के हाथ में है, तो इसका मतलब इतना है कि मैं अकेला नहीं हूँ, अरबों कारण काम कर रहे हैं।

आप अपने घर से निकले। आप बड़ी योजनाएँ बनाये चले जा रहे हैं। दूसरा आदमी अपनी कार लेकर निकला। वे शराब पी गए हैं। आपको उनका बिलकुल पता नहीं है कि वे चले आ रहे हैं तेजी से आपकी तरफ--कार भगाते हुए। वे कब आपको पटक देंगे सड़क पर, आपकी योजनाओं के साथ, आपको कुछ पता नहीं है। उनका आपने कुछ बिगाड़ा नहीं दिखाई पड़ता ऊपर से। शराब आपने उन्हें पिलाई नहीं। मगर वह सारी जिन्दगी का नक्शा बदल दे सकते हैं।

प्रतिपल हजारों काम आपके आसपास चल रहे हैं। आप असहाय हैं। आप कर क्या सकते हैं? लेकिन जो आदमी फल पर बहुत आकांक्षा बाँध लेता है, वह बड़ी मुश्किल में पड़ता है, क्योंकि फल पूरे नहीं हो पाते। जब पूरे नहीं हो पाते, तो विषाद से भर जाते हैं।

कृष्ण कहते हैं कि यह जो फल की आसक्ति है, यह रजोगुण का स्वभाव है!

'और हे अर्जुन, सर्व देह अभिमानियों के मोहने वाले तमो गुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।'

सत्त्व--ज्ञान और सुख के द्वारा; रज--आसक्ति और फल की आकांक्षा के द्वारा; और तम--अज्ञान, मूर्च्छा, प्रमाद और आलस्य के द्वारा बाँधता है।

प्रमाद शब्द को ठीक से समझ लेना चाहिए। उसमें सारा रस तम का छिपा हुआ है। प्रमाद का अर्थ है : मूर्च्छा का एक भाव, बेहोश, अजागरूक। चले जा रहे हैं। किये जा रहे हैं, लेकिन कोई सावधानी नहीं है। जो भी कर रहे हैं, ऐसे कर रहे हैं, जैसे नींद में हों। क्यों कर रहे हैं--इसका पक्का पता नहीं। करें या न करें--इसका कोई बोध नहीं है। क्या कर रहे हैं--इस करते हुए क्षण में चेतना का ध्यान, चेतना का प्रवाह उस कर्म की तरफ नहीं है।

खाना खा रहे हैं; हाथ खाना खाये जा रहे हैं--यंत्रवत, क्योंकि उनकी आदत हो गई है। मन कहीं भागा हुआ है। मन न मालूम किन लोकों की यात्राएँ कर रहा है! न मालूम मन किस काम में संलग्न है। तो आप यहाँ नहीं हैं। आप यहाँ बेहोश हैं।

बुद्ध कहते हैं, बस, एक ही है साधना--कि तुम जहाँ हो, वहाँ तुम्हारी चेतना भी हो। तुम्हारा पैर उठे रास्ते पर, तो तुम्हारी चेतना भी पैर के साथ उठे। तुम होशपूर्वक हो जाओ। तुम पानी पिओ, तो वह पीना यंत्रवत न हो। तुम्हारा पूरा होश तुम्हारे पानी के साथ तुम्हारे भीतर जाय।

बुद्ध ने कहा है : तुम्हारी श्वास बाहर जाय, तो होशपूर्वक; तुम्हारी श्वास भीतर आये, तो होशपूर्वक। बुद्ध की सारी प्रक्रिया इस अनापान-सती-योग पर निर्भर है।

बड़ा अनूठा प्रयोग है : अनापान-सती-योग का--बड़ा सरल--कि श्वास का मुझे बोध बना रहे। जब श्वास नाक को छुए, भीतर जाती श्वास, तो मुझे पता रहे कि उसने स्पर्श किया नाक का। फिर नाक के भीतरी अंतस हिस्सों का स्पर्श किया; फिर श्वास भीतर गई, फेफड़ों में भरी। पेट ऊपर उठा। फिर श्वास वापस लौटने लगी। उसका आने का मार्ग, जाने का मार्ग--दोनों का बोध हो।

बर्मा में इसे वे विपस्सना कहते हैं। विपस्सना का मतलब है : देखना--देखते रहना--ध्यानपूर्वक देखते रहना। कोई भी एक क्रिया को ध्यानपूर्वक देखते रहने का का परिणाम परम बोध हो सकता है। और कोई व्यक्ति अपनी दिन भर की सारी क्रियाओं को देखता रहे, तो उसका प्रमाद टूट जाएगा। जब प्रमाद टूट जाता है, तो तम का बंधन गिर जाता है।

लेकिन हम सब बेहोश जीते हैं। हम जो भी करते हैं; वह ऐसा करते हैं, जैसे हिप्नोटाइज्ड हैं। कुछ होश नहीं। चले जा रहे हैं; किये जा रहे हैं--यंत्रवत।

यह यंत्रवतता, आलस्य, प्रमाद, निद्रा--ये तम की आधार शिलाएँ हैं, इसीलिए कृष्ण गीता में कहते हैं कि योगी, जब आप सोते हैं, तब भी सोता नहीं।

आप तो जब जागते हैं, तब भी सोते ही हैं। आपका जागना भी जागना नहीं है, सिर्फ नाममात्र जागना है। आप खुद भी कोशिश करें, तो कई बार दिन में अपने को सोया हुआ पकड़ लेंगे। जरा ही चौंकाएँ अपने को. . ।

गुरजिएफ कहता था, एक झटका दे कर खड़े हो जायँ कहीं पर, तो आप अचानक पायेंगे कि अभी तक सोया था। पर वह एक झटके ही में थोड़ी-सी झलक आयेगी, जैसे किसी ने नींद में हिला दिया हो। फिर नींद पकड़ लेगी।

योगी, कृष्ण कहते हैं, सोता है, तब भी सोता नहीं। उसका कुल मतलब इतना है कि उसके तम का जो बंधन है, वह टूट गया। प्रमाद नहीं है। विश्राम करता है, लेकिन भीतर कोई उसके जागा ही रहता है--जागा ही रहता है। कोई दीया जलता ही रहता है। वहाँ कोई पहरेदार सदा बना ही रहता है। ऐसा कभी नहीं होता कि घर खाली हो और पहरेदार सोया हो। वहाँ कोई पहरे पर बैठा ही रहता है। इस पहरेदार को संतों ने--कबीर ने दादू ने नानक ने--सुरति कहा है।

सुरति का अर्थ है : कोई स्मरणपूर्वक जगा रहे। स्मृति का ही रूप है सुरति। शब्द बुद्ध का है--स्मृति। फिर बिगड़ते--बिगड़ते--कबीर तक आते-आते वह लोकवाणी में सुरति हो गया।

कबीर कहते हैं : जैसे कोई कुलवधू, कोई गाँव की वधू कुएँ से पानी भर कर घर लौटती है, तो सिर पर तीन-तीन मटकियाँ रखी रहती है। हाथ से पकड़ती भी नहीं। पास की सहेलियों से गपशप भी करती है, हँसी-मजाक भी करती है; गीत भी गाती है और रास्ते पर चलती है। लेकिन उसकी सुरति वहीं लगी रहती है--ऊपर--कि वे घड़े कहीं गिर न जायँ। उसने हाथ भी नहीं लगाया हुआ है। सिर्फ सुरति के सहारे ही सम्हाला हुआ है। वह सब बात करती रहेगी, हँसती रहेगी, रास्ते पर चलती रहेगी; कोई घड़ा गिरने को होगा, तो तत्काल उसका हाथ पहुँच जाएगा। उसकी स्मृति का धागा पीछे बँधा हुआ है। उसका ध्यान वहीं लगा हुआ है।

आपकी क्रियाएँ ध्यानपूर्वक हो जायँ, तो अप्रमाद फलित होता है। और आपकी क्रियाएँ गैर-ध्यानपूर्वक हों, तो प्रमाद होता है।

'हे अर्जुन, सब देहाभिमानियों को मोहने वाले तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान।' और अज्ञान का अर्थ यहाँ जानकारी की कमी नहीं है। अज्ञान का अर्थ है--आत्म-अज्ञान, अपने को नहीं जानना।

जो अपने को नहीं जानता, वह जागेगा भी कैसे? वह किसको जगाए? कौन जगाए? और जो जागा हुआ नहीं है, वह अपने को कभी जानेगा कैसे? वह दोनों एक दूसरे पर निर्भर बात है। जो जितना ही जागता है, उतना ही स्वयं को पहचानता है। जो जितना स्वयं को पहचानता है, उतना ही जागता चला जाता है। परम जागरण आत्म-ज्ञान बन जाता है।

तमोगुण अज्ञान है। रजोगुण आसक्ति है। सत्त्वगुण सूक्ष्म अभिमान है, शुद्ध अभिमान है। ये तीन बंधन हैं। 'क्योंकि हे अर्जुन, सत्त्वगुण सुख में लगाता है। रजोगुण कर्म में लगाता है। तमोगुण तो ज्ञान को आच्छादन कर के, ढँक के प्रमाद में लगाता है।'

और तीन ही तरह के व्यक्ति हैं इस जगत् में। तीनों गुण सभी के भीतर हैं, लेकिन सभी के भीतर तीनों गुण समान मात्राओं में नहीं हैं। किसी के भीतर सत्त्वगुण प्रमुख है। तो सत्त्वगुण दो को दबा देता है। इसको ठीक से समझ लें।

जिस व्यक्ति के भीतर सत्त्व गुण प्रमुख है; जिसे शांति, सुख, ज्ञान की तलाश है, उस व्यक्ति का रजोगुण, उस व्यक्ति का तमोगुण भी इसी तलाश में संलग्न हो जाता है। उस व्यक्ति के पास जितनी कर्मठता है, जितनी शक्ति है, जितनी ऊर्जा है रज की, वह सारी ऊर्जा वह ज्ञान की तलाश में लगा देता है। वह सारी ऊर्जा, वह

सारा कर्म सुख की खोज में लग जाता है। और उस व्यक्ति के भीतर जितना तम है, जितना आलस्य है, वह सब भी ज्ञान की, सुख की तलाश में विश्राम की जो जरूरत पड़ेगी--उसमें लग जाता है।

अगर किसी व्यक्ति में तम प्रमुख है, तो उसके पास छोटी-मोटी बुद्धि अगर हो, थोड़ी बहुत समझ हो, तो वह समझ को भी अपने आलस्य को सिद्ध करने में लगाता है। वह अपनी समझ को भी इस तरह उपयोग करता है कि आलस्य का रेशनालाइजेशन हो जाय, वह बुद्धियुक्त मालूम होने लगे।

वह कहेगा : 'करने से क्या सार है? कर के क्या कर लोगे? करने से क्या मिलनेवाला है?' उसके पास जो भी रजोगुण है, जो भी ऊर्जा है, शक्ति है, वह इस शक्ति को भी इस भाँति नियोजित करेगा कि वह कर्म न बन पाये। वह क्रियाएँ तो करेगा, लेकिन क्रियाएँ ऐसी होंगी, जो उसे और आलस्य में ले जायँ। वह आदमी चलेगा, तो चलकर शराब-घर पहुँच जाएगा। उसकी क्रिया चलने में लगेगी, लेकिन जाएगा वह शराब घर। अगर उसको शराब खरीदनी हो, तो वह दिन में मेहनत भी करेगा, लेकिन मेहनत करके खरीदेगा शराब।

अगर किसी व्यक्ति में रजोगुण प्रमुख हो, तो वह अपनी सारी चेतना को, सारी शक्तियों को भाग-दौड़ में लगा देगा। क्रिया प्रमुख हो जाएगी। करना ही जैसे लक्ष्य हो जाएगा। कुछ करके दिखाना है। वह अपना सुख भी छोड़ सकता है उसके लिए, अपना विश्राम भी छोड़ सकता है। लेकिन कुछ करके दिखाना है।

इतिहास ऐसे ही लोग बनाते हैं, जिनमें रजोगुण प्रमुख है। राजनेता रजोगुणी हैं : कुछ करके दिखाना है। नाम छोड़ जाना है। इतिहास के पृष्ठों पर लिखा जाय। और ध्यान रहे. . .।

तायनबी ने, एक बहुत बड़े इतिहासज्ञ ने, एक बहुत मधुर बात कही है। उसने कहा है : 'इतिहास बनाना ज्यादा आसान है, बजाय इतिहास लिखने के।' क्योंकि इतिहास तो गधे भी बना सकते हैं।

इतिहास बनाने में क्या लगता है? गोडसे बनने में क्या दिक्कत है? एक पिस्तौल चाहिए, एक छुरा चाहिए, एक हथगोला काफी है। कुछ भी उपद्रव तो कर ही सकते हैं। इतिहास निर्मित होना शुरू हो जाता है। अब जब तक गांधी की याददाश्त रहेगी, तब तक गोडसे को भूलने का कोई उपाय नहीं। गोडसे ने किया क्या है? करने के नाम पर बहुत ज्यादा नहीं है। उपद्रव किया जा सकता है।

जिनमें भी रजोगुण भारी है, वे किसी न किसी तरह के उपद्रव में, किसी तरह की मिस्चीफ में संलग्न होते हैं। अगर वे बुरे हो जायँ, तो डाकू हो जाएँगे। अगर बुरे न हों, भाग्य से ठीक शिक्षा-संस्कार मिल जाय, तो राजनेता हो जाएँगे।

डाकुओं को थोड़ी अकल हो जाय, तो राजनेता हो जाएँगे । राजनेताओं की थोड़ी अकल खो जाय, तो डाकू हो जाएँगे । उनमें परिवर्तन जरा भी दिक्कत का नहीं है । वे करीब ही खड़े हैं । वे सगे मौसेरे भाई-भाई हैं ।

अगर छोटा-मोटा हत्यारा हो, तो हत्यारा रह जाएगा । अगर बड़ा हत्यारा हो तो तैमूर, चंगेज, हिटलर के साथ जुड़ जाएगा । अगर छोटी-मोटी किसी की सम्पत्ति पर कब्जा करे, तो चोर समझा जाएगा । अगर बड़े साम्राज्यों पर कब्जा कर ले, तो सम्राट् हो जाएगा--और साधु उसका गुणगान करेंगे, प्रशस्ति लिखेंगे ।

रजोगुणी अपनी सारी शक्ति को लगा देना है, सारी समझ को, सारे विश्राम को--एक ही काम में--कि कुछ करना है । वह करना कहाँ ले जाएगा, उस करने का क्या अर्थ होगा, करने का कोई परिणाम शुभ होगा, अशुभ होगा, इसका कोई बहुत प्रयोजन नहीं है ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हिटलर बचपन में चित्रकार होना चाहता था । पेन्टर होने की आकांक्षा थी । और बैठकर बड़े चित्र बनाता रहता था । कई एकेडमी में गया वह, लेकिन सभी जगह से उसको निराश वापस लौटना पड़ा । वह कुशल चित्रकार नहीं हो सकता था । मनोवैज्ञानिक कहते हैं : काश, उसको किसी एकेडमी ने जगह दे दी होती, तो वह कागज रंगने में समय बिता देता, दुनिया का इतना उपद्रव नहीं होता । हो सकता था लाल रंग से कागज रंगता, लेकिन इतने खून से जमीन नहीं रंगता ।

लेकिन वह चित्रकार नहीं हो सका । वह बेचैनी उसको रह गई । उसे कुछ कर के दिखाना था । उसे कुछ बड़ा होना था । और वह बेचैनी धीरे-धीरे राजनीति की तरफ मुड़ गई । फिर वह खतरनाक आदमी साबित हुआ । हालाँकि चित्रकला से उसका प्रेम कभी नहीं खोया । अपने कमरे में खूबसूरत चित्र उसने लगा रखे थे और वह चित्रों का पारखी था । संगीत में उसे रस था और पुराने शास्त्रीय संगीत के रिकार्ड सुनता था । वह एक चित्रकार हो सकता था । लेकिन उसकी रजोगुण की सारी शक्ति जो चित्रकार बनने के दरवाजे से लौट गई, वह राजनीति में नियोजित हो गई ।

इंग्लैंड अकेला मुल्क है आज, जहाँ विद्यार्थियों का बहुत उपद्रव नहीं है । बाकी सारी जमीन पर उपद्रव है । और कुल कारण इतना है कि इंग्लैंड अकेला ही मुल्क है, जहाँ विद्यार्थियों को अभी भी दो-तीन घंटे खेल के मैदान पर खेलना पड़ता है । रजोगुण नियोजित हो जाता है । तीन घंटे जो बच्चा फुटबॉल या वालीबॉल खेल कर लौटा है, उससे आप कहें : पत्थर मारो, काँच तोड़ो लोगों के मकान के; वह कहेगा कि 'घर जाने दो ।' जो बच्चा छः घंटे बैठा रहा है कुर्सी पर और उसे हिलने भी नहीं दिया गया है और शिक्षक कहता है : बिलकुल बुद्धवत बैठे रहना । लड़का पत्थरों को

छुपाकर रखे है । यह लड़का कुछ तोड़ना चाहेगा, फेंकना चाहेगा । फुटबाल या वालीबॉल सिर्फ फेंकने, मिटाने, तोड़ने के व्यवस्थित उपाय हैं--कुछ और नहीं हैं । आखिर कर क्या रहा है--हॉकी खेल रहा है एक लड़का । हॉकी में नहीं मारने दोगे इसको लट्ठ, तो यह किसी के सिर पर मारेगा । यह जो गेंद है, यह सिर का काम कर रही है । इसका निकला जा रहा है रजोगुण ।

दुनिया में विश्वविद्यालय जलाए जा रहे हैं, स्कूल तोड़े जा रहे हैं । वह तब तक जारी रहेगा, जब तक युवकों का रजोगुण नियोजित नहीं होता । और खतरे इसलिए बढ़ गए हैं ।

रजोगुण तो पहले भी था, लेकिन रजोगुण नियोजित हो जाता था । हम अपने मुल्क में बाल-विवाह कर देते थे; रजोगुण को मौका नहीं रहता था कि जाकर काँच तोड़े, आग लगाए, बसें जलाए--कुछ उपद्रव करे । इसके पहले कि होश सम्हले एक पत्नी बाँध देते थे । वह इतना बड़ा वजन है कि उससे बड़ा वजन कोई है ही नहीं । उसको ही ढोओ । उसमें सारा रजोगुण नियोजित हो जाता है । इसके पहले कि अकल में थोड़े बहुत अंकुर आयें, बच्चे पैदा हो जाएँगे । अब लड़ने-झगड़ने का इनके पास कहीं कोई उपाय नहीं । ये बड़े शांतमूर्ति मालूम पड़ेंगे !

भारत में ऐसे ही लोग थे बड़ी संख्या में और उसका कारण और कुछ नहीं था । यह नहीं कि लोग धार्मिक थे । कुल कारण इतना था कि रजोगुण को सुविधा नहीं थी । लोग इसके पहले कि उपद्रव कर पायें, उपद्रव की शक्ति किसी दिशा में संलग्न हो जाती ।

अब सारी दुनिया में बच्चे जवान हो जाते हैं, न तो विवाहित किए जा रहे हैं, न उनके ऊपर कोई जिम्मेवारी है । माँ-बाप सुख सम्पन्न हैं । उनके पास सुविधा है । लड़के पच्चीस और तीस साल तक आवारागर्दी कर सकते हैं । यह खतरनाक वक्त है, क्योंकि वैज्ञानिक कहते हैं : अठारह साल में वीर्य की ऊर्जा अपने शिखर को छू लेती है । इतनी शक्ति फिर जीवन में दुबारा नहीं होगी, जितनी अठारह साल में होगी ।

अठारह साल--जबकि शक्ति अपने पूरे तूफान में है, उसका कोई नियोजन नहीं है । उसको कोई दिशा नहीं है बहने के लिए । केतली के नीचे आग जल रही है--पूरी ऊर्जा से--और ढक्कन बंद है । और निकालने का जो हम रास्ता बताते हैं, वह कोई रास्ता नहीं है--कि हम उनको कहते हैं : युनिवर्सिटी में पढ़ो-लिखो--किताब! किताब से कोई ऊर्जा नहीं निकलती । उसमें थोड़े से जो सत्त्वगुण प्रधान युवक हैं, उनके लिए तो ठीक है । लेकिन बाकी का क्या हो ?

पिछले जमाने में तो जो सत्त्वगुण प्रधान थे, वे ही विश्वविद्यालय तक पहुँचते थे, बाकी जिन्दगी में लग जाते थे । अब सभी को विश्वविद्यालय में पहुँचाने की सुविधा

हो गई है। सौ में कोई पांच सत्त्वगुण प्रधान होंगे, बाकी जो पंचानबे हैं, उनके साथ बड़ा खतरा है।

उस पंचानबे में आधे के करीब रजोगुण प्रधान हैं, जिनकी शक्ति का कोई उपयोग नहीं हो रहा है। किताब जिनकी शक्ति को नहीं पी सकती, परीक्षाएँ जिनकी शक्ति को नहीं पी सकतीं; तो वे परीक्षा और किताब के माध्यम से भी उपद्रव खड़ा कर देंगे। हर परीक्षा के वक्त उपद्रव खड़ा हो जाएगा।

यह उपद्रव जो कर रहा है, वह रजोगुण प्रधान है। और बाकी जो आधे बचे--तमोगुण प्रधान--वे आलसी हैं। वे कुछ भी न करेंगे। अगर यूनिवर्सिटी में आग लग रही है, तो बुझाने वे जाने वाले नहीं; वे खड़े देखते रहेंगे। न वे लगाने वाले को रोकने वाले हैं, न लगने वाली आग को रोकने वाले हैं।

आज विश्वविद्यालय में तीन तरह के वर्ग हैं। एक छोटा-सा वर्ग है, जो पीड़ित है, वह सत्त्वगुण प्रधान है। वह पीड़ित है सबसे ज्यादा, क्योंकि उसको काम ही करने . . .। वह जो करना चाहता है--कि अध्ययन करे, कि शोध करे, वह कोई करने नहीं दे रहा उसको। पर वह बहुत कमजोर है। क्योंकि वह रजोगुण प्रधान नहीं है कि लड़ सके, उपद्रव कर सके। वह इसके बहुत पहले कि लड़ने की हालत में आये, उसकी आँख पर चश्मा लग जाता है, उसकी कमर झुक जाती है। वह अपना . . .। अपनी पुस्तक में, अपने अध्ययन में लगा हुआ है। उसको इस सब का मौका नहीं।

बड़ा वर्ग है जो उपद्रव करना चाहता है, क्योंकि उसके पास शक्ति है और शक्ति को बहने के लिए रास्ता चाहिए।

फिर तीसरा वर्ग है, जो आलसी है। जो सिर्फ देखता है। जो सिर्फ तमाशबीन हो सकता है--ज्यादा से ज्यादा। जो कोई पक्ष नहीं लेता। कुछ भी हो रहा हो, वह देखता रहता है।

व्यक्ति में जो भी तत्त्व प्रमुख होगा, बाकी के दो तत्त्व उसके पीछे संलग्न हो जाते हैं।

सत्त्वगुण सुख में लगाता है; रजोगुण कर्म में और तमोगुण प्रमाद में डुबा देता है।

इन तीनों गुणों से मुक्ति चाहिए। कैसे तीनों गुणों से मुक्ति हो सकती है, उसकी साधना विधि में हम आगे प्रवेश करेंगे।

और जब भी कोई व्यक्ति तीनों गुणों के बाहर हो जाता है, उसे हमने गुणातीत अवस्था कहा है। वह परम सिद्धि है। इसलिए कृष्ण शुरू में कहते हैं कि 'हे अर्जुन जिस परम ज्ञान से सिद्धि उपलब्ध होती है, अंतिम गन्तव्य उपलब्ध होता है, वह मैं तुझे फिर से कहूँगा।'

आज इतना ही।

चौथा प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ४ दिसम्बर, १९७३

शिष्य का अध्ययन • होश : सत्त्व का द्वार

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

और हे अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण होता है अर्थात बढ़ता है तथा रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है; वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है ।

इसलिए जिस काल में इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

और हे अर्जुन, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थबुद्धि से आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता और विषय-भोगों की लालसा -- यह सब उत्पन्न होते हैं ।

पहले थोड़े प्रश्न ।

● पहला प्रश्न : आपने कहा कि कृष्ण चाहते हैं : अर्जुन मिट जाय और इसीलिए अलग-अलग द्वारों से गीता के अलग-अलग अध्यायों में वे अर्जुन को मिटने का उपाय बता रहे हैं । और आपने यह भी कहा कि कृष्ण अर्जुन का भविष्य जानते हैं । तो यह समझाएँ कि यदि कृष्ण पहले से ही जानते हैं कि अर्जुन का भविष्य क्या है, स्वधर्म क्या है, तो फिर इतने सारे विभिन्न मार्गों का अर्जुन को उपदेश क्यों दे रहे हैं ? उन मार्गों को क्यों समझा रहे हैं, जो अर्जुन के स्वधर्म के अनुकूल नहीं है ?

निश्चय ही कृष्ण जानते हैं -- अर्जुन का भविष्य; व्यक्ति की तरह नहीं-- मनुष्य की तरह । वह जो अर्जुन नाम का व्यक्ति है, उसका भविष्य नहीं जाना जा सकता । लेकिन वह जो अर्जुन के भीतर छिपी हुई चेतना है, उसका भविष्य जाना जा सकता है ।

इस अर्थ में तो कृष्ण जैसा व्यक्ति सभी का भविष्य जानता है -- आपका भी; क्योंकि वह जो भीतर छिपा हुआ बीज है, उसका अंतिम परिणाम मोक्ष है । वह सभी का भविष्य है ।

नदी बहती है; वह चाहे गंगा हो, चाहे यमुना हो; चाहे गोदावरी हो, चाहे नर्मदा हो -- भविष्य ज्ञात है कि वे सागर में गिरेंगी । हर नदी सागर में गिरेगी, लेकिन प्रत्येक नदी अलग-अलग मार्गों से बहेगी, अलग-अलग पर्वतों को तोड़ेगी अलग चट्टानों में मार्ग बनाएगी । प्रत्येक नदी का मार्ग तो अलग-अलग होगा, लेकिन अन्त एक होगा ।

मनुष्य का भविष्य ज्ञात है । जैसे बीज का भविष्य ज्ञात है कि वह वृक्ष होगा, वैसे ही मनुष्य का भविष्य ज्ञात है कि वह अंततः परमस्थिति को उपलब्ध हो जाएगा । वही अर्जुन के सम्बन्ध में भी ज्ञात है । लेकिन अर्जुन का जो व्यक्तित्व है, अज्ञान से

भरा हुआ; अर्जुन का जो व्यक्तित्व है -- अनंत संदेहों, अविश्वासों, शंकाओं, समस्याओं से भरा हुआ; वह जो रुग्ण चित्त है, उस रुग्ण चित्त का कोई भविष्य किसी को भी ज्ञात नहीं। उस रुग्ण चित्त की यात्रा अनेक ढंग से हो सकती है। इस-लिए कृष्ण अनेक मार्गों की बात कर रहे हैं।

पहली तो यह बात खयाल में ले लें। अर्जुन भी बहुत तरह से यात्रा कर सकता है। विकल्प अनेक हैं। अगर प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही मार्ग होता--सुनिश्चित -- तब तो कोई अर्थ न था कृष्ण का, इतने मार्गों की बात करने का। लेकिन एक व्यक्ति भी बहुत-सी सम्भावनाएँ लिए हुए है। और हर सम्भावना का द्वार खुला छोड़ देना जरूरी है, ताकि अर्जुन चुनाव कर सके। और चुनाव के लिए जरूरी है कि सभी मार्ग स्पष्ट हों अन्यथा भ्रांति हो सकती है। हर मार्ग उसकी परिपूर्णता में स्पष्ट हो जाय, तो अर्जुन का बोध स्वयं ही उस मार्ग को पकड़ने लगेगा, जो मार्ग उसके अनुकूल है।

आपके सामने चुनाव होने चाहिए पूरे। अगर एक भी मार्ग आपके सामने न रखा जाय, तो भी आप कुछ चुनेंगे। और यह भी हो सकता है कि जो मार्ग आपके सामने नहीं था, वही आपके लिए निकटतम मार्ग होता।

फिर कृष्ण अर्जुन के लिए मार्ग नहीं चुन रहे हैं। सिर्फ अर्जुन को मार्ग दिखा रहे हैं। चुनाव अर्जुन को स्वयं ही करना है।

इसे खयाल में ले लें : अंतिम चुनाव सदा आपका है। गुरु इशारे कर सकता है, स्पष्ट कर सकता है, लेकिन चुनाव सदा आपका है।

बहुत से लोग इस भ्रांति में होते हैं कि गुरु उनके लिए चुनेगा। कोई गुरु आपके लिए चुन नहीं सकता। आपको चुनना पड़ेगा। गुरु सारा मार्ग स्पष्ट कर देगा। उन सारे स्पष्ट मार्गों के बीच निर्णय आपको लेना है। और अगर आप यह तय करते हैं कि गुरु ही हमारे लिए चुने -- यही आपका निर्णय है -- तो यह निर्णय भी आपका है। अंतिम निर्णायक आप हैं।

अगर आप सारे मार्गों के सम्बन्ध में समझ के . . . । क्योंकि यह भी एक मार्ग है कि गुरु आपके लिए चुने। यही निर्णय लेते हैं कि गुरु हमारे लिए चुने तो आपने गुरु को तो चुना। गुरु आपके लिए चुने -- यह भी आपने चुना। और अंतिम निर्णायक सदा आप हैं।

आत्मा से अंतिम निर्णय नहीं छीना जा सकता। इसलिए जो परम गुरु है, वह सारे मार्ग स्पष्ट कर देगा। वह कुछ भी छिपा कर न रखेगा।

बुद्ध ने जगह-जगह बार-बार कहा है कि 'मेरी मुट्ठी खुली है। उसमें मैंने कुछ भी छिपाया नहीं है।' अनेक बार बुद्ध के शिष्यों को लगा है कि बुद्ध जितना कह रहे हैं, पता नहीं वे पूरा कह रहे हैं -- जो उन्होंने जाना है -- या कुछ छिपा रहे हैं!

तो आनन्द उनसे एक दिन पूछ रहा है कि 'आपने सब कह दिया -- जो जाना है, कि आपने कुछ छिपाया है?' बुद्ध ने कहा, 'मेरी मुट्ठी खुली हुई है। मैंने कुछ भी नहीं छिपाया। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मैंने जो-जो दिखाया है, वह तुम्हें दिखाई पड़ने लगा है। क्योंकि तुम्हारी आँखें पूरी खुली हुई नहीं हैं। मुट्ठी भी पूरी खुली हो, तो भी देखने वाले की आँख पूरी खुली होनी चाहिए।'

कृष्ण की मुट्ठी बिलकुल खुली हुई है। उन्होंने सारे मार्ग अर्जुन के सामने रख दिये, सब विकल्प स्पष्ट कर दिये; और अर्जुन को इस चौराहे पर खड़ा कर दिया है कि वह चुनाव कर ले।

उन्होंने प्रत्येक मार्ग की पूरी प्रशंसा कर दी है। प्रत्येक मार्ग का पूरा विश्लेषण कर दिया है। किसी मार्ग के साथ पक्षपात भी नहीं किया -- कि सभी मार्गों में एक मार्ग श्रेष्ठ है -- ऐसा अगर उन्होंने कहा होता, तो उसका मतलब होता कि वे अर्जुन को बेच रहे हैं मार्ग। कोई चीज अर्जुन को बेचना चाहते हैं। स्पष्ट नहीं, सीधे नहीं --परोक्ष मार्ग से अर्जुन को राजी करना चाहते हैं -- कि तू इसे चुन ले।

तो कृष्ण ने सभी मार्गों की जो गरिमा है, वह प्रकट कर दी है -- बिना किसी एक मार्ग को सब मार्गों के ऊपर रखे। चुनाव के लिए अर्जुन पूरा स्वतंत्र है। पहला तो इस कारण।

और दूसरा इस कारण भी : एक बहुत पुरानी अरबी कहावत है कि इसके पहले कि आदमी सही जगह पर पहुँचे, उसे बहुत से गलत दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं। इसके पहले कि कोई आदमी ठीक द्वार पर आ जाय, उसे बहुत से गलत दरवाजों में भी खोजना पड़ता है।

असल में गलत में जाना भी, ठीक पर आने के लिए अनिवार्य अंग है। भूल करना भी ठीक हो जाने की प्रक्रिया का हिस्सा है।

यह थोड़ा जटिल है, क्योंकि हम सोचते हैं : जो ठीक है, जो साफ है, वह हम दे दिया जाय। लेकिन आप समझ नहीं पा रहे हैं। आध्यात्मिक जीवन कोई वस्तु की भाँति नहीं कि आपके हाथ में दे दें। आध्यात्मिक जीवन वस्तु नहीं है -- एक ग्रोथ, एक विकास है।

और ध्यान रहे : जब भी किसी को विकसित होना हो, तो उसे गलत से भी गुजरना पड़ता है; भ्रांत से भी गुजरना पड़ता है; भटकना भी पड़ता है। भटकाव भी आपको प्रौढ़ता लाता है।

जो आदमी भूल करने से डरता है, वह ठीक तक कभी भी नहीं पहुँच पाएगा।

डर के कारण वह कदम ही नहीं उठाएगा । भय के कारण वह पंगु हो जाएगा, रुक जाएगा ।

डर तो सदा है कि गलती हो जाय ।

और अगर जीवन में डर न हो -- गलती होने का -- तो जीवन में रस ही न हो; जीवन एक मुरदा चीज हो । सिर्फ मरे हुए आदमी भूल नहीं करते । जिन्दा आदमी तो भूल करेगा । और जितना जिन्दा आदमी होगा, उतनी ज्यादा भूल करेगा। एक ही बात खयाल रखने की है कि जिन्दा आदमी एक ही भूल दुबारा नहीं करेगा। बहुत भूलें करेगा; लेकिन एक ही भूल दुबारा नहीं करेगा । और जितनी ज्यादा भूलें कर सकें आप, जितनी नई भूलें कर सकें, उतने आप प्रौढ होंगे ।

हर भूल सिखाती है। हर भूल भूलों को कम करती है । हर भूल से आप सही के करीब सरकते हैं ।

तो एक तो जैसा साधारणतः आलसी मन की आकांक्षा होती है कि गुरु कुछ बना-बनाया, रेडीमेड, हाथ में दे दे। तो आपकी झंझट बच गई । झंझट क्या बच गई ! आपके विकास की सारी सम्भावना ही समाप्त हो गई।

आप कैसे बढ़ेंगे? आपका बीज कैसे अंकुरित होगा ? आप कैसे वृक्ष बनेंगे? तूफान से डरते हैं, हवाओं से डरते हैं, वर्षा से डरते हैं, धूप भी आयेगी -- सब होगा -- उन सबके बीच आप टिक सकें, इसकी सामर्थ्य, इसका साहस चाहिए ।

कोई आपका हाथ पकड़ कर और परमात्मा तक पहुँचा दे, तो आप तो मुरदा होंगे ही, वह परमात्मा भी मुरदा होगा -- जिस तक आप पहुँचेंगे । तो कोई आपके हाथ पकड़ कर कहीं पहुँचा नहीं सकता ।

अर्जुन की भी आकांक्षा यही है कि कृष्ण सीधा क्यों नहीं कह देते ! जिम्मेवारी खुद ले लें । सीधी बात कह दें । हाँ और ना में वह भी उत्तर चाहता है ।

हम सभी हाँ और ना में उत्तर चाहते हैं

कई बार मेरे पास लोग आ जाते हैं; वे कहते हैं : 'आप सीधा हाँ और ना में हमें कह दें । ईश्वर है या नहीं ? --आप सीधा हाँ और ना में कह दें । ' जैसे ईश्वर कोई गणित का सवाल हो या तर्क की पहेली हो कि हाँ और ना में उसका जवाब हो सकता हो ! ईश्वर तक वही पहुँचेगा, जो ना से भी गुजरे, हाँ से भी गुजरे और दोनों के पार हो जाय और उस घड़ी में आ जाय, जहाँ न तो हाँ कहना सार्थक मालूम पड़े, न ना कहना सार्थक मालूम पड़े -- वही पहुँच पायेगा ।

जो सोचे ना कहने से बच जाऊँ, सिर्फ हाँ कह दूँ, उसकी आस्तिकता लचर और कमजोर होगी । जो आस्तिकता ना की अग्नि से नहीं गुजरी है, वह कचरा है; उसमें से कचरा तो जल ही नहीं पाया, सोना तो निखर नहीं पाया ।

और जो नास्तिकता सिर्फ ना पर ही रुक गयी और हाँ तक नहीं पहुँची, उस नास्तिकता में कोई प्राण नहीं है । क्योंकि ना में कोई प्राण नहीं होते। प्राण तो हाँ से आते हैं। वह नास्तिकता सिर्फ बौद्धिक होगी; उससे जीवन्त आन्दोलन, भीतर की क्रांति, रूपान्तरण सम्भव नहीं है ।

हाँ और ना दोनों से गुजर के जो दोनों के पार हो जाता है, वह पहली दफा धार्मिक होता है । लेकिन वह धार्मिकता बड़ी विराट् है ।

अर्जुन की आकांक्षा है कि कृष्ण कुछ कह दें सीधा -- सूत्र, फार्मूला । वह खुद विकसित नहीं होना चाहता । कोई भी विकसित नहीं होना चाहता ।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि आप कुछ कर दें कि मन शांत हो जाय। अशांत तुमने किया -- जन्मों-जन्मों में। मेरा उसमें जरा भी हाथ नहीं । शान्त मैं करूँ ! यह हो नहीं सकता। और जो कहता है कि ऐसा करेगा -- वह आपको धोखा दे रहा है । और वह आपको और इस जीवन को भी अशांति में बिताने का उपाय किये दे रहा है ।

अगर यह हो सकता कि कोई और आपके मन को शांत कर दे, तो ध्यान रखना : वह शांति बहुत कीमत की नहीं है, क्योंकि कोई और आपको अशांत कर सकता है फिर । उस शांति के आप मालिक नहीं हैं, जो दूसरे ने आपको दी है। वह छीनी भी जा सकती है। और ऐसी शांति का क्या मूल्य, जो छीनी जा सके ! और ऐसे अध्यात्म का क्या मूल्य है, जो कोई दे और कोई ले ले; जिसका दान हो सके और जिसकी चोरी हो सके ।

सिर्फ आपके भीतर जो विकसित होता है, वह छीना नहीं जा सकता ।

इसलिए कृष्ण हाँ और ना में उत्तर नहीं दे रहे हैं । कृष्ण सारे विकल्प सामने रखे दे रहे हैं । उससे अर्जुन और भी विबूचन में पड़ गया; वह और भी उलझन में पड़ा जा रहा है । उसने जितने प्रश्न उठाए थे, कृष्ण ने उनसे ज्यादा उत्तर दे दिए हैं। उसने जो पूछा था, उससे बहुत ज्यादा कृष्ण दिये दे रहे हैं, उससे वह और डाँवाडोल हुआ जा रहा होगा । उससे उसकी बेचैनी और बढ़ रही होगी । वह वैसे उलझा है और इतनी बातें -- और उलझा देंगी ।

मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं : हम जब आपको नहीं सुने थे, तभी ठीक थे। आपको सुनकर हम और भी उलझ गए हैं । आप इतनी बातें कहे चले जा रहे हैं ! आप हमें कुछ साफ-साफ कह दें। निश्चित कह दें और वही करने को हमें बता दें ।

आपको पता नहीं, आप अपनी आत्म-हत्या माँग रहे हैं । आप जीने से डरे हुए हैं । आप मरे-मराए सूत्र चाहते हैं ।

कोई कृष्ण, कोई बुद्ध आपके साथ, आपकी आत्मघाती वृत्ति में सहयोग नहीं दे सकता है।

अर्जुन चाहे और बेचैन हो जाय, कोई हर्जा नहीं है, क्योंकि आप ठीक से बेचैन हो जायें, तो आप चैन के मार्ग को खोजने में तत्पर हो जाएँगे। शायद और उलझ जायें -- कोई हर्जा नहीं है। भय क्या है? इस और उलझन से सुलझाने की जो चेष्टा होगी, उससे आपका भीतरी विकास होगा; अंत:प्रज्ञा जगेगी।

संघर्ष से ही उस भीतर की अंत:प्रज्ञा का जन्म है।

तो कृष्ण सब उपस्थित किये दे रहे हैं, और अर्जुन पर छोड़े दे रहे हैं कि वह चुने।

वे सूत्र भी कृष्ण उसे दे रहे हैं, जिन्हें अर्जुन चुने तो भटकेगा; जिनसे उसके स्वधर्म का कोई मेल नहीं है। वे सूत्र भी दे रहे हैं, जिन्हें अर्जुन चुन ले, तो वह मार्ग पर चल पड़ेगा। लेकिन कृष्ण बिलकुल बिना पक्षपात के दोनों बातें कहे दे रहे हैं।

कृष्ण सिर्फ कह ही नहीं रहे हैं, कहते वक्त वे देख भी रहे हैं, अर्जुन का निरीक्षण भी कर रहे हैं; अर्जुन को जाँच भी रहे हैं कि वह किस तरफ झुकता है; क्यों झुकता है!

गुरु के लिए यह भी जानना जरूरी है कि शिष्य कहाँ-कहाँ झुक सकता है; क्या-क्या चुन सकता है। क्या गलत की तरफ उसकी वृत्ति हो सकती है? या कि सही के प्रति उसका सहज झुकाव है।

कृष्ण अगर बोल ही रहे होते, तो भी एक बात थी। पूरे समय अर्जुन कृष्ण के सामने जैसे एक प्रयोगशाला की टेबिल पर लेटा हो, जहाँ उसका डिसेक्शन भी हो रहा है, जहां उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े तोड़े जा रहे हैं, जहाँ उसके मन को तोड़ा जा रहा है; और कृष्ण की गहरी आँखें उसको देख रही हैं कि वह क्या कर रहा है; उसके ऊपर क्या प्रभाव पड़ते हैं।

जब कृष्ण कुछ कहते हैं, तो उसके चेहरे पर क्या आकृति आती है; उसके भीतरी प्रभामंडल में क्या घटनाएँ घटती हैं? उसके आसपास चेहरे का जो प्रकाश वर्तुल है, उस पर कौन-से रंग फैल जाते हैं?

यह एक गहरा निदान है, जहाँ अर्जुन ठीक एक्सरे के सामने खड़ा है। और जहाँ उसका रोआँ-रोआँ जाँचा जा रहा है। अर्जुन को शायद इसका पता भी न हो। अर्जुन शायद सिर्फ सोच रहा हो कि मेरे प्रश्नों के उत्तर दिए जा रहे हैं। कोई गुरु सिर्फ आपको प्रश्नों के उत्तर नहीं देता। प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से आपको परखता है, जाँचता है, तोड़ता है, पहचानता है। आपके झुकाव देखता है।

मेरे पास लोग आते हैं। कोई मेरे पास कुछ दिन पहले आया, उसने कहा कि

'जो भी आप कहें, मैं करने को राजी हूँ।' वह यह कह रहा है, लेकिन उसका पूरा व्यक्तित्व इसका इनकार कर रहा है। उसके चेहरे पर यह कहते वक्त कोई प्रसन्नता का भाव नहीं है, कोई आनन्द की झलक नहीं है। वह धोखा दे रहा है। उसके कहने पर भरोसा करने का कोई कारण नहीं है। वह कहने के लिए कह रहा है -- शायद औपचारिक। शायद उसका यह मतलब भी नहीं है। शायद उसने ठीक से सोचा भी नहीं है कि वह क्या कह रहा है -- कि 'जो आप कहेंगे, वह मैं करूँगा!'

यह बहुत बड़ा वक्तव्य है। और बड़े निर्णय की सूचना है। और संकल्पवान व्यक्ति ही ऐसा आश्वासन दे सकता है।

और इसके कहने के बाद ही वह व्यक्ति कहता है कि 'कोई मुझे रास्ता बताएँ, क्योंकि मैं कोई निर्णय नहीं ले पाता। और संकल्प मेरा बड़ा कमजोर है। सुबह तय करता हूँ, दोपहर बदल जाता हूँ।'

उसे पता नहीं कि वह क्या कह रहा है। और जब वह कहने लगा कि सुबह तय करता हूँ, दोपहर बदल जाता हूँ; संकल्प की कमी है; निर्णय पक्का नहीं है, तब उसके चेहरे पर ज्यादा आभा है, ज्यादा प्रसन्नता है। अब वह सच के ज्यादा करीब है। पहले वक्तव्य के समय वह जैसे बेहोश था; होश में नहीं बोला था।

मैंने उससे कहा, 'तू अपना पहला वक्तव्य फिर से दोहरा; क्योंकि अगर दूसरी बात सही है; तो तू पहले कैसे कह सकता है मुझे आकर कि जो आप कहेंगे, वह मैं करूँगा? यह तो बहुत बड़ा निर्णय है। क्योंकि हो सकता है कि मैं कहूँ, तू खिड़की के बाहर कूद जा।' 'नहीं,' वह आदमी बोला, 'नहीं; आप ऐसा कैसे कह सकते हैं! आप ऐसा कभी नहीं कह सकते।'

कृष्ण अर्जुन के सामने सारी बातें रख रहे हैं और सारी बातों का अर्जुन पर क्या परिणाम हो रहा है, क्या प्रतिक्रिया हो रही है, वह कैसे संवेदित हो रहा है; कब आनंदित होता है; कब दु:खी होता है; कब विषाद से भरता है; कब झुकता है; कब अकड़ा रह जाता है -- उस सब की जाँच भी चल रही है।

इसके पहले कि अर्जुन पहुँचे निर्णय पर, कृष्ण को पता चल जाएगा कि वह क्या निर्णय ले रहा है। उसके मन का काँटा पूरे वक्त डोल रहा है; निर्णय के करीब पहुँच रहा है। और यह मन अगर सिर्फ चेतन ही होता, तो अर्जुन इसे पहले समझ लेता। यह मन अचेतन भी है। उसे अर्जुन नहीं समझ पायेगा। लेकिन उसे कृष्ण समझ पायेंगे।

अर्जुन जैसे ही निर्णय के करीब पहुँचने लगेगा, उसके मन का काँटा ठहरने लगेगा; उसके चारों तरफ की आभा और सुगंध और व्यक्तित्व बदलने लगेगा। और इसके पहले कि वह कहे कि मैं निर्णय पर आ गया -- कि तुमने मेरे सारे संदेह

दूर किये -- कि मुझे मेरी निष्पत्ति उपलब्ध हो गई; कृष्ण इसके पहले जान लेंगे।

ध्यान रहे : आपके गहरे अचेतन में जो घटता है, उसको आपको भी पता लगाने में समय लग जाता है। कई दफे तो वर्षों लग जाते हैं।

आज ही एक युवती ने मुझे आकर कहा; किसी के घर में मेहमान है; जिसके घर में मेहमान है, वह आदमी उस युवती को लगता है कुरूप है। आकर्षण तो नहीं -- विकर्षण पैदा होता है। उसे देखकर ही उसे घबड़ाहट होती है। उससे बात करने का मन नहीं होता। वह पास बैठे, तो बेचैनी और सिकड़ाव पैदा होता है। उस व्यक्ति से एक रिपल्शन है, एक गहरा विकर्षण है। उस युवती ने मुझे आकर कहा : लेकिन कल रात उसके मन में उस व्यक्ति के प्रति प्रेम का भाव उठने लगा। और उससे वह बहुत घबड़ा गई है।

सुबह मेरे पास रोती हुई आयी और उसने कहा कि मैं बहुत घबड़ा गई हूँ, क्योंकि उस व्यक्ति को तो मैं देख भी नहीं सकती। वह कुरूप है; भद्दा है; घृणोत्पादक है; बीभत्स है। और रात लेकिन मेरे मन में उसको प्रेम करने का भाव उठने लगा। तो मैं अपने मन से घबड़ा गई हूँ -- कि यह भाव मेरे मन में कैसे उठा !

यह भाव अचानक नहीं उठ गया। कुछ भी अचानक नहीं उठता। यह भाव अचेतन में संगृहीत हो रहा होगा। आते -- आते -- जैसे बीज टूटता है; अकुंर जमीन तक आते-आते समय लगता है, ऐसे अचेतन से चेतन तक खबर आने में समय लगता है।

और शायद यह जो उसका भाव है -- विकर्षण का -- कि यह व्यक्ति आकर्षक नहीं है; घृणा पैदा होती है; यह शायद सिर्फ रक्षा का उपाय है। वह जो भीतर से अकुंर आ रहा है -- इस व्यक्ति के प्रति आकर्षण का -- उससे अपने को बचाने के लिए कवच है। तो चेतन मन ने एक कवच बना लिया है।

जिससे हम बचना चाहते हैं, उसके प्रति हम बुरे भाव ले लेते हैं। असल में बुरे भाव हम तभी लेते हैं, जब हम आकर्षित हो जाते हैं।

विकर्षण कभी पैदा नहीं होता; पहले आकर्षण पैदा होता है। घृणा कभी पैदा नहीं होती; पहले प्रेम पैदा होता है। शत्रु कोई पहले बना नहीं सकता। पहले तो मित्र बनाना ही होगा, तब ही हम किसी को शत्रु बना सकते हैं। लेकिन कई बार ऐसा होता है कि किसी आदमी को देख कर ही हमें शत्रुता का भाव मालूम होता है; उसका मतलब है कि उस आदमी को देखते ही, पहले अचेतन में मित्रता का भाव पैदा हो गया।

शत्रुता सीधी पैदा नहीं हो सकती, वह मित्रता के बाद ही पैदा हो सकती है। और घृणा भी सीधी पैदा नहीं होती; वह प्रेम के बाद ही पैदा हो सकती है। इसी-

लिए घृणा, शत्रुता नकारात्मक है, निगेटिव है। निगेटिव कभी सीधा पैदा नहीं होता; पहले पॉजीटिव चाहिए।

क्या आप सोच सकते हैं कि कोई आदमी जन्मे ही नहीं और मर जाय ! मरने के पहले जन्म जरूरी है। क्योंकि मृत्यु नकारात्मक है। मृत्यु होगी किसकी ?

अगर प्रेम पैदा नहीं हुआ, तो घृणा होगी कैसे पैदा ? और अगर आकर्षण पैदा नहीं हुआ, तो विकर्षण का कोई उपाय नहीं है। अगर कोई मरे, तो मान लेना चाहिए कि वह जन्म गया होगा। बिना जन्मे तो कोई मर नहीं सकता। मृत्यु जन्म का आखिरी छोर है। विकर्षण आकर्षण का आखिरी छोर है।

आकर्षण पहले अचेतन में पैदा हो जाएगा, तो हम उससे बचने के लिए विकर्षण की परिधि बना लेंगे।

अब वह भीतर की चोट चेतन तक आ गई, तो अब घबड़ाहट पैदा हो गई है। अब डर पैदा हो गया है।

आपके भीतर भी क्या पैदा होता है, इसको आपको भी पता लगाने में कभी-कभी वर्षों लग जाते हैं। लेकिन अर्जुन के भीतर क्या हो रहा है, इसको पता लगाने में कृष्ण को वर्षों नहीं लगेंगे। कृष्ण के लिए अर्जुन पारदर्शी है, ट्रांसपेरेन्ट है।

इसलिए ज्ञानी के पास अज्ञानी को एक तरह का भय लगता है। वह भय, बिलकुल स्वाभाविक है।

आप ज्ञानी के पास जाने से बचते भी हैं, डरते भी हैं। उस भय और बचाव के पीछे कारण है। क्योंकि जो-जो आपके भीतर छिपा है, जो-जो आपने छिपा रखा है, जिसे आपने अपने से ही छिपा रखा है, जिसे आप भूल ही चुके हैं कि आपके भीतर है, वह भी ज्ञानी की आँख के सामने उभरने लगेगा और प्रगट होने लगेगा। आप अपने को छिपा न पायेंगे।

और कोई आपको आर-पार देख ले, तो बेचैनी अनुभव होगी। कोई आपकी आँखों में उतर कर आपको भीतर तक पकड़ ले, तो आप बहुत चिंता में पड़ जाएँगे, क्योंकि आप आश्वस्त नहीं हैं अपने रूप से।

और आप निर्भय रूप से अपने को स्वीकार भी नहीं किये हैं। बहुत-सा हिस्सा अस्वीकृत है -- जिसको आपने अपने ही तलघरों में छिपा रखा है। वह आप भी जानते हैं कि गंदा है। उसे कोई जान ले, उसे कोई उघाड़ दे, उसे कोई पहचान ले; आप छिपाए हुए हैं।

आपने अपने असली चेहरे को न मालूम कहाँ छिपा रखा है। आपने कुछ मुखौटे पहन रखे हैं।

कृष्ण इन सारी चर्चाओं के बीच अर्जुन को बहुत-बहुत ढंग से उघाड़ रहे हैं।

वे उसकी भीतरी प्रतिक्रियाओं को, संवेदनाओं को पकड़ रहे हैं । वे मन के काँटों को देख रहे हैं -- कि किस तरह डाँवाडोल होता है, वह कहाँ जा रहा है ।

और इसके पहले कि अर्जुन निर्णय पर आये . . . । और वह निर्णय क्रांतिकारी होगा, क्योंकि जब संशय गिरता है और असंशय श्रद्धा पैदा होती है, तब एक महान आनन्द का क्षण जीवन में उपस्थित होता है । जब सारी अश्रद्धा टूट जाती है और परम आस्था का उदय होता है, तो यह एक जन्म है--एक महाजन्म है -- अंधकार के बाहर -- प्रकाश में ।

सारा भटकाव समाप्त हुआ । मंजिल आँखों के सामने आ गई । अब कितनी दूर हो, चलने की बात है । लेकिन मंजिल पर कोई शक न रहा ।

और जब ऐसी घड़ी आती है, तो गुरु, इसके पहले कि शिष्य को पता चले, जान लेता है । क्योंकि शिष्य का पूरा आभा-मंडल, उसका पूरा व्यक्तित्व बदलने लगता है । जहाँ वह अशांत था, वहाँ शांत होने लगता है । जहाँ वह बेचैन था, वहाँ एक चैन की हवा उसके चारों तरफ पैदा हो जाती है । जहाँ वह दौड़ रहा था, अब ठहर गया । जहाँ लगता था : जीवन व्यर्थ है -- कुछ सार नहीं, वहाँ लगता है कि परम निधि उपलब्ध हो गई; कोई खजाना मिल गया -- जो कभी भी चुकेगा नहीं । जहाँ कम्पन था भय का, वहाँ अभय की थिरता आ जाती है ।

जैसे तूफान अचानक शांत हो गया हो और दीये की लौ थिर हो गई हो और जरा भी नहीं कँपती हो -- ऐसी शिष्य के भीतर की चेतना ठहर जाती है । इसे वह खुद पहचाने -- इसमें देर लगेगी । कई कारणों से । एक तो इस कारण भी कि यह अनुभव उसके लिए पहला है । इसको रिकग्नाइज करने का, इसकी प्रत्यभिज्ञा का उसके पास कोई उपाय नहीं है । यह वह पहली दफा जान रहा है । अगर इसने इसके पहले भी जाना होता, तो वह तत्क्षण पहचान लेता कि क्या हो रहा है ।

इसलिए कई बार तो ऐसा हुआ है कि कोई साधक अगर अकेले में इस क्षण के करीब भी आ जाता है, तो चूक जाता है । इसलिए गुरु बड़ा अपरिहार्य हो जाता है । क्योंकि वह पहचान ही नहीं पाता कि क्या हो रहा था । मंजिल के बिलकुल करीब आकर भी रास्ता मुड़ सकता है उसका । वह एक कदम पर -- और मंदिर के भीतर हो जाता -- कि वह बायें मुड़ गया । उसे पता नहीं था कि एक ही कदम पर मंदिर करीब है ।

गुरु पास हो तो यह भटकाव बचा सकता है । वह फिर एक परिस्थिति पैदा कर देगा, जिससे कदम दायें मुड़े -- बायें न मुड़ जाय । मोड़ नहीं सकता पैर को, लेकिन विकल्प उपस्थित कर सकता है ।

तो कृष्ण इन अठारह अध्यायों में क्रमशः बहुत से विकल्प मौजूद कर रहे हैं ।

एक सूक्ष्म प्रक्रिया है--जिसमें अर्जुन को वे मार्ग दिखा रहे हैं । अर्जुन कैसा चल रहा है, कहाँ चल रहा है-- वह उन्हें बोध है । वह जैसे-जैसे कदम उठाता है, वैसे वे नयी बातें, नये तत्त्व और नये जीवन के द्वार उसके सामने खोलते हैं । अहिस्ता--आहिस्ता--जैसे कोई छोटे बच्चे को किसी अनजान रास्ते पर ले रहा हो, वैसे कृष्ण अर्जुन को ले चल रहे हैं । और कठिनाई इसलिए बढ़ जाती है कि छोटे बच्चे का तो हाथ पकड़कर भी हम ले जा सकते हैं । आत्मिक जीवन की राह पर किसी पर कोई जबरदस्ती नहीं की जा सकती । दूसरे की स्वतंत्रता को परिपूर्ण रूप से सुरक्षित रखकर ही काम करना पड़ता है ।

इसलिए गुरु का काम अति दुःसह है । अनुशासन भी देना है उसे और स्वतंत्रता को कायम भी रखना है । तुम्हें मिटाना भी है और तुम्हारी गरिमा को नष्ट नहीं होने देना है । तुम्हारा गौरव जरा भी न छू पाये -- और तुम्हारा अहंकार बिलकुल नष्ट हो जाय । तुम्हारा कचरा तो जल जाय, लेकिन तुम्हारे सोने में कण भी न खोये ।

इसलिए कृष्ण अर्जुन की आंतरिकता का भविष्य जानते हैं । अर्जुन इस मौजूद क्षण में कैसा डाँवाडोल हो रहा है, उसका मन किन दिशाओं में भटक रहा है, उसे भी कृष्ण देख रहे हैं । वे क्या कह रहे हैं, उसके प्रति अर्जुन के क्या उत्तर और क्या सन्देह उठ रहे हैं, वे भी उनके सामने हैं । लेकिन वे एक व्यूह रच रहे हैं ।

एक तो महाभारत का व्यूह था, जो अर्जुन ने रचा है । और एक उससे भी बड़े युद्ध का व्यूह कृष्ण अर्जुन के आसपास रच रहे हैं ।

बिना धकाए अर्जुन को परम मन्दिर में प्रविष्ट करवा देना है । और अर्जुन को पता भी न चले कि किसी ने उसे किसी भी तरह से जबरदस्ती की है ।

ध्यान रहे कि अगर मोक्ष में आप जबरदस्ती भेज दिये जायँ, तो मोक्ष नरक हो जाएगा । नरक में भी आप अपनी चेतना से और अपने चुनाव से जायँ, तो नरक भी स्वर्ग हो सकता है । क्योंकि स्वतंत्रता अंतिम बात है । स्वतंत्रता से कोई नरक में भी सुखी होगा । और परतंत्रता से कोई स्वर्ग में चला जाय, तो दुःखी हो जाएगा ।

परमात्मा के पास आपको अपनी निजता से ही पहुँचना चाहिए । तो गुरु इशारे कर सकता है; परोक्ष व्यवस्थाएँ दे सकता है; परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है । लेकिन सीधा आपको घसीट नहीं सकता ।

• दूसरा प्रश्न : मुझे लगता है कि प्रमाद मुझ पर भारी है । उससे हलका होने के लिए क्या किया जाय ?

प्रमाद के प्रति जागरूकता । 'करने' से प्रमाद दूर नहीं होगा । छिप सकता है ।

जैसे कोई आलसी आदमी बैठा है। हम आमतौर से उससे क्या कहें कि उसका आलस्य टूट जाय! हम कहें कि कुछ करो।

ध्यान रहे : आलस्य है तम; हम उसे कुछ काम में लगा सकते हैं। लेकिन काम में लगाना होगा रज। तो तमोगुणी को रजोगुणी बनाना बहुत कठिन नहीं है। वह निष्क्रिय बैठा है, उसे सक्रियता में जुटाया जा सकता है। असली सवाल तमोगुणी से रजोगुणी बन जाने का नहीं है। असली सवाल -- चाहे आप रजोगुणी हों, चाहे तमोगुणी हों -- सत्त्वगुणी बनने का है। और सत्त्वगुणी बनने का एक ही उपाय है कि आप जागरूक हों। जो भी स्थिति है, उसके प्रति जागरूक हों।

एक आलसी आदमी बैठा है, तो हम उससे कहेंगे कि तू अपने आलस्य के प्रति सजग हो जा। भीतर से तू जान, पहचान, और देख। आलस्य को छिपा मत। और आलस्य को युक्तियाँ खोज कर ढाँक मत। तर्क मत खोज। आलस्य को उसकी नग्नता में देख। और कुछ भी मत कर -- सिर्फ देख।

अगर दर्शन की यह क्षमता, साक्षीभाव का यह उपाय आलस्य पर लागू हो जाय, तो यह व्यक्ति सत्त्व में सरक जाएगा।

और यही हम कहेंगे रजोगुणी को भी, जो सक्रियता में डूबा हुआ है। उससे भी हम कहेंगे कि तू अपनी सक्रियता के प्रति सजग हो जा; तू अपने कर्म का जो पागलपन है उसके प्रति जाग जा; होश से भर। तो रजोगुणी भी होश के माध्यम से सत्त्व में प्रवेश करता है। होश सत्त्व का द्वार है।

और ध्यान रहे, रजोगुणी और तमोगुणी तो एक दूसरे के ही रूप हैं। एक शीर्षासन कर रहा है; एक पैर के बल खड़ा है। एक सक्रियता में पागल है। और एक निष्क्रियता में डूबा हुआ मूर्च्छित पड़ा है। दोनों मूर्च्छित हैं। जो आलस्य में पड़ा है, वह इसलिए मूर्च्छित है कि उसके चारों तरफ एक निद्रा का वातावरण है। और जिसको हम सक्रिय देखते हैं, वह भी मूर्च्छित है, क्योंकि क्रिया भी मूर्च्छा लाती है। अगर आप जोर से किसी क्रिया में लग जायँ, तो स्वयं को भूल जाते हैं।

अकसर ऐसा होता है कि जब तक कोई राजनीतिज्ञ पदों पर होता है, तब तक बिलकुल स्वस्थ मालूम होता है। लेकिन जैसे ही पदों से हटता है, कि बीमार होना शुरू हो जाता है। राजनीतिज्ञ पदों से हटकर ज्यादा दिन जिन्दा नहीं रहते हैं। पदों पर जिन्दा रहते हैं। और न केवल जिन्दा रहते हैं, बड़े स्वस्थ रहते हैं। और कई दफे चकित होना पड़ता है, क्योंकि इतने पागलपन के चक्कर में भी उनका स्वास्थ्य अनूठा मालूम पड़ता है। लेकिन कारण है उसका। कारण उसका यही है कि उन्हें कभी, अपना खयाल ही नहीं आता। काम में इस तरह डूबे हैं कि काम एक नशा है, एक शराब है।

आप भी जब तक काम में लगे हैं, तब तक सोचते हैं कि कब विश्राम मिल जाय। लेकिन जिस दिन रिटायर हो जाएँगे, उस दिन अचानक पायेंगे कि दस साल उम्र आपकी कम हो गई।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो आदमी पद पर रह कर अस्सी साल जीता, वह रिटायर होने के बाद सत्तर साल में मर जाएगा। रिटायर जिस दिन होता है, उसी दिन दस साल उम्र से कम हो जाते हैं, क्योंकि नशा छिन जाता है। और जिन्दगी भर का नशा था : काम -- काम -- सुबह से साँझ तक काम। अचानक एक दिन आप पाते हैं कि कोई काम नहीं बचा। नशा टूट जाता है।

काम भी एक नशा है। बहुत से लोग इसीलिए काम में लगे रहते हैं कि काम में न लगें, तो वे बड़ी मुश्किल में पड़ जाएँगे। खाली नहीं बैठ सकते। कुछ हैं, जो खाली बैठ सकते हैं, काम में नहीं जा सकते। क्योंकि उनको लगता है -- काम में गए तो उनकी नींद टूटती है। तो नींद में उन्हें सुख मालूम पड़ता है -- बेहोशी का। ये दोनों अलग-अलग तरह के लोग नहीं हैं। एक ही तरह के लोग हैं। सिर्फ एक दूसरे से उलटे खड़े हैं। एक शीर्षासन कर रहा है और एक पैर के बल खड़ा है।

वह जो तामसी है, वह पड़ा रहता है अपनी नींद में, क्योंकि नींद उसे नशा है। जब भी वह काम में लगता है, तो नशा टूटता है।

जो काम में लगा हुआ आदमी है, वह रात में सो भी नहीं सकता। रात में भी उसका मन काम करता है। उसको नींद मुश्किल है। उसका काम ही उसका नशा हो गया है।

इसलिए तमोगुणी को रजोगुणी में बदलने का कोई सार नहीं है। रजोगुणी को तमोगुणी में बदलने का कोई सार नहीं है। दोनों को ही सत्त्वगुणी में बदलने का सार है। और सत्त्वगुण में जाने का सूत्र है–होश। वह अभी हम कृष्ण के वचन में चलेंगे, तो खयाल में आ जाएगा।

'और हे अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है। तथा रजोगुण और सत्त्वगुण को दबा कर रजोगुण बढ़ता है।

'जिस काल में इस देह में तथा अंतःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोध शक्ति उत्पन्न होती है, उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा है।'

तो सत्त्वगुण का एक ही लक्षण है -- चेतनता। जब आप होश से भरे हैं, तब जानना कि सत्त्वगुण बढ़ा है। सत्त्वगुण चाहिए हो, तो जितना ज्यादा आप होशपूर्वक हो सकें, उतना शुभ है। जो भी आप करें -- क्षुद्र से क्षुद्र या बड़े से बड़ा काम -- वह होशपूर्वक हो, उसमें कान्शसनेस हो, उसे करते वक्त आप जागे हुए करें -- सो न जायँ।

जितनी जागरूकता की मात्रा बढ़ेगी, उतना आपके अन्दर सत्त्वगुण ज्यादा हो जाएगा; उतने आप साधु, उतने आप सात्त्विक हो जाएँगे ।

यह बड़े मजे की बात है, क्योंकि कृष्ण जैसा कह रहे हैं, ऐसा आमतौर से धार्मिक लोग नहीं समझते हैं। धार्मिक लोग समझते हैं : अच्छे काम करो, तो सात्त्विक हो जाएँगे। कृष्ण लेकिन अच्छे काम को कुछ जगह नहीं दे रहे हैं ।

कृष्ण कहते हैं : होशपूर्वक . . । चाहे करो और चाहे न करो, लेकिन होशपूर्वक रहो, तो सात्त्विकता पैदा होगी। तो एक आदमी खाली भी बैठा हो और होश से भरा हो, तो सात्त्विक होगा । और एक आदमी समाज की सेवा कर रहा हो, मरीजों की अस्पताल में देख-भाल कर रहा हो और होशपूर्वक न हो, तो सात्त्विक नहीं होगा ।

आप अपनी जान भी दे दें सेवा में, लेकिन होश न हो तो आप सात्त्विक नहीं होंगे। और आप कभी जिन्दगी में किसी की सेवा न किये हों, आलस्य में बैठे रहे हों, लेकिन भीतर आलस्य के, होश जगा रहा हो, तो आप सात्त्विक होंगे ।

इसका यह मतलब नहीं कि सात्त्विक आदमी अच्छे काम नहीं करेगा। सात्त्विक ही अच्छे काम कर सकता है, लेकिन सात्त्विकता अच्छे काम करने से नहीं आती; अच्छे काम सात्त्विकता से आते हैं ।

तो जो जितना जागा हुआ है, उतना प्रेमपूर्ण होगा। वह इतना करुणामय होगा, वह इतना तत्पर होगा कि किसी का दुःख मिटा सके, तो मिटाने की कोशिश करे। यह सेवा पैदा होगी उसकी जागरूकता से; उसकी जागरूकता का परिणाम होगी ।

लेकिन इससे बड़ी भ्रांति पैदा हुई है, इससे ऐसा लगता है कि जो सेवा कर रहा है, वह सात्त्विक हो गया। इस भ्रांति को गांधी ने इस देश में काफी जोर दिया। अच्छा काम करो। समाज का, देश का, दरिद्र का, दीन का कुछ हित करो, कल्याण करो। -- यही साधुता का लक्षण है ।

सेवा धर्म है -- गांधी ने कहा। शब्द बड़े अच्छे हैं। और जिनके पास बहुत गहरी परख नहीं है, उन्हें बिलकुल ठीक लगेंगे। लेकिन बिलकुल विपरीत हैं ।

धर्म सेवा है। लेकिन सेवा धर्म नहीं है। धार्मिक व्यक्ति से सेवा उठेगी, लेकिन कोई सेवा को ही साथ ले, तो धार्मिक हो जाएगा -- इस भूल में पड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है। इसका परिणाम भी सामने है, लेकिन फिर भी मुल्क जागता नहीं। गांधी ने जितने सेवक पैदा किये थे, वे सब शोषक सिद्ध हुए। जिनको उन्होंने तैयार किया था -- सब कुछ छोड़ देने के लिए, त्याग के लिए, वे सत्ताधिकारी हो गए और उन्होंने सब कुछ पकड़ लिया। छोड़ने की तो बात ही अलग हो गई ।

जैसे ही मुल्क से सत्ता बदली, जो सेवक था, वह अचानक शासक हो गया। वह सेवक था, शायद मजबूरी थी -- इसलिए। अब कोई सेवक बनने को तैयार नहीं। या अब भी अगर कोई सेवक बनता है, तो साधन की तरह, क्योंकि शासक तक जाने का रास्ता सेवक होने से गुजरता है । अगर आपकी गरदन दबानी हो, तो पैर दबाने से शुरू करना चाहिए। धीरे-धीरे आप आश्वस्त हो जाते हैं कि आदमी पैर ही दबा रहा है; कोई खतरा नहीं है। जैसे ही आप आश्वस्त होते हैं, वह आदमी आगे बढ़ता चला जाता है। जब तक आपकी गरदन तक आता है, तब तक आप सोए होते हैं; तब दबाने में कोई अड़चन नहीं रह जाती। सीधे गरदन को ही दबाना कोई शुरू करे, तो आप भी चौंक जाएँगे। आप भी कहेंगे : यह किस तरह की सेवा है ?

शासक बनना हो, तो पैर दबाने से शुरू करना आसान पड़ता है। सेवा भी सत्ता में पहुँचने का उपाय हो जाती है। इस मुल्क में हुई। सभी जगह होगी। लेकिन भ्रांति सेवकों में नहीं थी; सेवकों को जो समझाया गया, उस मूल सूत्र में थी ।

सेवा धर्म नहीं है, यद्यपि धर्म सेवा है ।

तो जो व्यक्ति जितना सचेतन हो जाएगा भीतर, उसके जीवन से जो भी होगा, वह शुभ होगा। फिर जरूरी नहीं है कि वह सेवा करे ही। क्योंकि रमण ने किसी की कोई सेवा नहीं की -- ज्ञात में। कोई नहीं कह सकता कि उन्होंने किसी का पैर दबाया, कोढ़ी की मालिश की। रमण बिलकुल खाली बैठे रहे। प्रत्यक्ष में तो कोई सेवा रमण ने नहीं की। अप्रत्यक्ष में की। लेकिन उसे तो वे ही देख सकते हैं, जिनको अप्रत्यक्ष देखना आता हो ।

अगर सेवकों में गिनना हो तो गांधी को, विनोबा को गिना जा सकता है। रमण को कोई भूलकर नहीं गिनेगा। सेवा कहीं दिखाई नहीं पड़ती। लेकिन जो भी व्यक्ति धर्म को उपलब्ध हो जाता है, उससे कल्याण तो होता ही है ।

कुछ हैं जो स्थूल कल्याण में लगते हैं, कुछ हैं जो सूक्ष्म कल्याण में लगा जाते हैं। उनकी मौजूदगी कल्याण का महास्रोत हो जाती है। उनके आसपास से गुजरने वाले लोग, जहाँ तक उनकी हवाएँ उनकी खबर को ले जाती हैं, उनके अस्तित्व की सुगंध को ले जाती हैं, वहाँ-वहाँ तक न मालूम कितने जीवन रूपांतरित होते हैं ।

निश्चित ही वे किसी की शरीर की बीमारी दूर करने नहीं जाते । लेकिन शरीर से गहरी बीमारियाँ हैं। और शरीर को बिलकुल स्वस्थ कर दिया जाय, तो भी वे बीमारियाँ नहीं मिटती हैं। उन बीमारियों को दूर करने का परोक्ष, अप्रत्यक्ष आयोजन उनकी मौजूदगी से होता रहता है लेकिन वह सूक्ष्म कला है; सभी उसमें कुशल नहीं हो सकते ।

बुद्ध का शिष्य है : महाकाश्यप। बुद्ध ने सभी शिष्यों को भेजा कि जाओ :

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय...लोगों को समझाओ, लोगों को जगाओ। लेकिन महाकाश्यप को कभी नहीं भेजा। सारिपुत्र को भेजा, मौदगल्यायन को भेजा। और सैकड़ों शिष्य थे-- उनको भेजा कि तुम जाओ, लोगों को जगाओ; लोगों को ज्ञान दो, ध्यान दो; लोगों को करुणा का सूत्र दो। लोगों को सजग बनाओ। लेकिन महाकाश्यप को कभी नहीं भेजा।

आनन्द एक जगह बुद्ध से पूछता है, 'आपने सब को भेजा, लेकिन कभी आप महाकाश्यप को आज तक नहीं कहे कि तू कहीं जा, कुछ कर!' बुद्ध ने कहा, 'महाकाश्यप का होना ही करना है। उसे कहीं भेजने की जरूरत नहीं। वह जहाँ है, उसके होने से काम हो रहा है। वह बैठा है -- झाड़ के नीचे, तो भी काम हो रहा है। उस रास्ते से जो लोग गुजर जाएँगे, वे भी उसके कणों को ले जा रहे हैं।'

वह महाकाश्यप अगर हम ठीक से समझें, तो इन्फेक्शस है। वह जिस बुद्धत्व को उपलब्ध हुआ है, वह संक्रामक है; वह उसकी मौजूदगी से फैलता है। उसे सक्रिय रूप से सीधे-सीधे काम में नहीं लग जाना होता है।

बड़ी गहरी चेतनाएँ चुपचाप भी करती रहती हैं। निर्भर करेगा इस बात पर कि किस तरह का व्यक्ति है। अगर अन्तर्मुखी व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होगा -- सत्त्व को उपलब्ध होगा -- तो वह चुप हो जाएगा, मौन हो जाएगा, शांत हो जाएगा। उसकी मौजूदगी से काम होगा, उसके प्रभाव अप्रत्यक्ष होंगे, पर बड़े गहरे होंगे, दूर-गामी होंगे।

अगर बहिर्मुखी व्यक्ति होगा और सत्त्व को उपलब्ध हो जाएगा, तो उसके प्रभाव विस्तीर्ण होंगे, स्थूल होंगे, बहुत लोगों की सेवा उससे होगी, लेकिन बहुत दूरगामी नहीं होगी। विस्तीर्ण होगी, लेकिन गहरी नहीं होगी। मरीज उससे ठीक होंगे, किसी को जमीन भूमिदान करवाएगा; किसी को धन दिलवाएगा, मन्दिर बनवाएगा। कहीं धर्मशाला खुलवाएगा; कहीं गरमी में प्याऊ डलवाएगा; पर उसका काम ऊपर-ऊपर होगा। उससे लाभ होगा, लेकिन वह लाभ स्थूल होगा।

रमण न तो प्याऊ खुलवाते, न भूदान करवाते, न मन्दिर बनवाते। पर उनका प्रभाव दूरगामी है। सदियों तक जो लोग भी उनकी तरफ अपने मन को ट्यून करने में सफल हो जाएँगे, वे उससे प्रभावित होंगे, आन्दोलित होंगे, रूपान्तरित होंगे। पर वह अदृश्य की घटना है; सभी को दिखाई नहीं पड़ सकती।

सत्त्व जब पैदा होता है, तो शुभ आचरण में अपने आप आता है।

'हे अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण पैदा होता है।' इस प्रक्रियों को समझ लेना चाहिए कि यह गुण कैसे काम करते हैं।

'रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण पैदा होता है।' ये तीनों गुण

सभी के भीतर मौजूद हैं। कोई गुण बाहर से लाना नहीं है। तीनों गुण भीतर मौजूद हैं। और तीनों गुणों में जो ऊर्जा काम करती है, वह भी मौजूद है। वह ऊर्जा एक है। ये तीन गुण हैं, वह ऊर्जा एक है।

जैसे समझें कि आपके घर में एक मात्रा का जल है, और घर में से तीन छेद हैं, जिनसे वह जल बाहर जा सकता है। आप चाहें, तो एक ही छेद से उस जल को बाहर भेज सकते हैं; तब धारा बड़ी हो जाएगी। आप चाहें तो तीनों छिद्रों से उस जल को बाहर भेज सकते हैं; तब धाराएँ क्षीण हो जाएँगी। आप चाहें तो एक से ज्यादा, दूसरे से कम और तीसरे से और कम जल को भेज सकते हैं। आपकी जीवन ऊर्जा की धारा आपके पास है। और यह तीन गुणों का यंत्र आपके पास है। जब आप बिना किसी साधना के जीते हैं, तो सिर्फ परिस्थितियाँ ही निर्धारक होती हैं कि किस गुण से आपकी ऊर्जा बहेगी। परिस्थितियाँ -- आप नहीं।

और ध्यान रहे : प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल बदलता रहता है। सुबह हो सकता है तमोगुणी रहा हो, दोपहर को रजोगुणी हो जाय। और शाम को सत्त्वगुणी मालूम पड़े। लेकिन परिस्थितियाँ निर्धारक होती हैं।

समझ लें : कि आप सुबह ही उठे और पा रहे हैं कि चित्त आलस्य से भरा है। उठने का कोई मन नहीं। लगता है कि दिन भर बिस्तर में ही पड़े रहें। और तभी पता लगा कि मकान में आग लग गई। तमोगुण तत्क्षण विदा हो जाएगा। आप एकदम रजोगुणी हो जाएँगे। एकदम से तम के द्वार से जो ऊर्जा बह रही थी, वह खींच ली जाएगी। और पूरी की पूरी ऊर्जा रज के द्वार से प्रवाहित होने लगेगी। क्योंकि मकान में आग लगी है; आग बुझाना जरूरी है। उस वक्त आप नहीं कह सकते : 'आलस्य में हूँ। अभी मेरा मन नहीं उठने का।' आप भूल ही जाएँगे कि नींद भी कोई तत्त्व है जीवन में, कि बिस्तर में पड़े रहने में भी कोई रस हो सकता है। छलाँग लगाकर बिस्तर से उठेंगे, जैसा आप कभी नहीं उठे थे। लेकिन यह घटना घट रही है परिस्थिति वश।

बाहर आपको पता चले कि अफवाह थी; किसी ने ऐसे ही चिल्ला दिया कि मकान में आग लगी है। कहीं कोई आग नहीं लगी। आप वापस अपने बिस्तर में लौट आयेंगे। रजोगुण तमोगुण में प्रविष्ट हो गया। वह जो ऊर्जा जग कर सक्रिय होना चाहती थी, वह फिर विश्राम को उपलब्ध हो गई।

बाहर की परिस्थिति आपको चौबीस घन्टे चला रही है। इसलिए अगर आपमें भरोसा करने वाले लोग आपके चारों तरफ हों . . . । आप चोर हैं और आपके पास आठ-दस लोग हों, जो आपको मानते हों कि आप साधु हैं, तो हो सकता है कि उनकी मान्यता के कारण आपकी धारा सत्त्वगुण से बहने लगे। क्योंकि वे बारह

आदमी आपके अहंकार को बढ़ा रहे हैं । वे कह रहे हैं कि आप महा साधु हैं । अब आप चोरी करना भी चाहें, तो आपका अहंकार बाधा देता है कि कम से कम मुश्किल से तो जिन्दगी में बारह आदमी मिले, जो साधु मानते हैं, अब दो-चार पैसे की चोरी के लिए साधुता को खोना उचित नहीं मालूम होता ।

ऐसा हुआ । मैं एक साधु का जीवन पढ़ता था । एक झेन फकीर हुआ । वह चोर था -- साधु होने के पहले । एक महल से चोरी कर के भागा । पुलिस उसके पीछे है; लोग उसको पकड़ने आ रहे हैं । कोई उपाय न देख कर, कोई मार्ग न देख कर, वह एक बुद्ध मंदिर में प्रवेश कर गया । सुबह कोई चार बजे का समय था । कोई भिक्षु सोया था, उसके कपड़े टँगे थे । उसने भिक्षु के कपड़े पहन लिए और हाथ पालथी मारके बुद्धासन में बैठ गया । 'नमो बुद्धाय, नमो बुद्धाय' का मंत्र जाप करने लगा । सिपाही भागे हुए मंदिर के पीछे आये । वे उसका पीछा कर रहे हैं । लेकिन वहाँ एक साधु बैठा है : 'नमो बुद्धाय' का पवित्र मंत्र गूँज रहा है । वहाँ कोई चोर नहीं । वे सिपाही उसके चरणों में झुके; उसको नमस्कार किये, और कहा, 'साधु महाराज, यहाँ कोई चोर तो नहीं आया ?'

जब वे उसके चरणों में झुके, तब उसे बड़ी हैरानी हुई । और एक क्रांति हो गई । उसे लगा कि मैं एक झूठा साधु, और झूठी साधुता में इतना बल -- झूठी साधुता में -- कि जो मेरी हत्या करने मेरे पीछे लगे थे, वे मेरे चरणों में झुक गए ! अगर झूठी साधुता में इतना बल है, तो सच्ची साधुता में कितना बल होगा !

उसने उन सिपाहियों से कहा कि 'चोर आया था, लेकिन अब तुम उसे खोज न पाओगे । वह चोर मर चुका है ।'

वे सिपाही बोले, 'हम समझे नहीं ! आप रहस्य की बातें न करें । हम सीधे-सादे लोग हैं । हम समझे नहीं आपका मतलब ! चोर कहाँ है ? कैसे मर गया ?'

उस साधु ने कहा, 'मैं ही था वह चोर, लेकिन अब मैं मर चुका हूँ । और वह चोर अब तुम्हें कहीं भी नहीं मिलेगा । वह नहीं है अब । तुमने मेरे चरणों में झुककर उसकी हत्या कर दी । तुम गोली से उसे नहीं मार सकते थे, लेकिन तुमने उसे मार दिया । और जब झूठी साधुता में इतना अर्थ हो सकता है, तो मैं अब उस साधुता की तलाश करूँगा, जो सच्ची है ।'

वह एक बड़ा झेन फकीर हो गया । वह सदा यह घटना लोगों से कहा करता था -- 'कि मैं कोई साधु बनने नहीं आया था । परिस्थिति ने सत्त्व का उदय कर दिया । सुबह का सूना मन्दिर; मंदिर की दीवारों में गूँजता नमो बुद्धाय का मंत्र; मूर्ति के पास से उठती हुई धूप; सुगंधित वातावरण; सिपाहियों का आना और मेरे चरणों में झुक जाना -- मेरी सारी ऊर्जा सत्त्व से बह गई । एक क्षण को मुझे सत्त्व का अनुभव हुआ कि साधुता का सुख, साधुता की सुगंध, साधुता का फूल क्या है ।'

आप पूरे समय बदल रहे हैं । इसलिए अच्छे आदमी के पास आप अच्छे आदमी हो जाते हैं । बुरे आदमी के पास आप बुरे आदमी हो जाते हैं । अगर सक्रिय लोगों के बीच में पड़ जायँ, तो आप सक्रिय हो जाते हैं । अगर आलसियों के बीच में पड़ जायँ, तो आपको नींद आने लगती है ।

आपने खयाल नहीं किया होगा । अगर यहाँ इतने लोग बैठे हैं; इनमें से दो-चार लोग जम्हाई लेना शुरू कर दें आपके पास, तो ज्यादा देर नहीं लगेगी कि आप जम्हाई शुरू कर देंगे । एक आदमी जम्हाई ले कि पास वाले को खुजलाहट शुरू हो गई ! उसके गले से जम्हाई उठने लगी । वह जो आलसी आपके पास बैठा है, उसने नींद आपको पकड़ा दी ।

मुल्ला नसरुद्दीन के जीवन में एक उल्लेख है । बाजार से गुजरता था, साग सब्जी फलों की दुकानें थी । एक दुकान पर उसे बड़े मधुर आम रखे हुए दिखाई पड़े । पैसे उसके पास नहीं थे । मगर मन जकड़ गया । तो वह कोई उपाय सोचने लगा । वहीं सामने दुकान के सड़क के उस तरफ बैठकर कुछ उपाय सोचने लगा ।

तभी दुकानदार ने अपनी लोमड़ी -- जो उसने एक लोमड़ी पाल रखी थी उसे -- दुकान के बाहर लाया और लोमड़ी से कहा कि बैठ और दुकान का ध्यान रखना । और किसी भी तरह का कोई आदमी पास आये और संदिग्ध मालूम पड़े, तो आवाज देना । मैं जरा खाना खाने भीतर जाता हूँ ।

नसरुद्दीन ने सोचा कि बड़ी मुश्किल है । आदमी को भी धोखा देना आसान है । यह लोमड़ी को धोखा देना और मुश्किल है । पास ही पहुँचे कि वह आवाज कर देगी । तो उसने क्या किया ? वह जहाँ बैठा था, वहाँ से धीरे-धीरे पास सरकने लगा । आँख उसने बंद कर ली और झोके खाने लगा । लोमड़ी ने देखा -- इस आदमी को सोते हुए; उसकी भी आँखें झपने लगीं । लोमड़ी कभी-कभी नसरुद्दीन को देखती जाती; जब लोमड़ी बिलकुल सो गई, तब उसने आम उठा लिया । तब नसरुद्दीन आम खाकर छुप रहा । उसने सोचा कि देखें, अब मालिक क्या करता है आकर ।

मालिक आया और उसने लोमड़ी को जगाया और कहा, 'कुछ भूल हो गई । आम कम मालूम पड़ते हैं । क्या गड़बड़ है ?' कहानी कहती है कि लोमड़ी ने कहा कि, 'यहाँ तो कोई पास आया नहीं । सिर्फ एक आदमी था, जो सो रहा था ।' मालिक ने कहा कि 'मैंने तुझे कहा था कि कोई भी तरह की क्रिया आस-पास हो और कुछ भी सन्देह मालूम पड़े, तो आवाज करना । सोना भी एक क्रिया है । और तुझे सचेत हो जाना चाहिए था ।'

आपके पास कोई सोने लगे, तो आपके भीतर प्रवाह शुरू हो जाता है ।

मेरा अनुभव है। मैं यहाँ बोल रहा हूँ। अगर एक आदमी खाँसने लगे -- हो सकता है, उसकी खाँसी वास्तविक हो -- दूसरे लोग संक्रामक हो जाते हैं। खाँसी सुनते ही उन्हें खयाल आ जाता है कि वे भी खाँसना जानते हैं ! वे भी खाँस सकते हैं; उनके पास भी गला है। फिर कठिन हो जाता है -- रोकना कठिन हो जाता है। और ऐसा नहीं कि यह सचेतन हो रहा है। यह बिलकुल अचेतन है।

आप देखें : सड़क पर एक भीड़ चली जा रही है; आन्दोलनकारी हैं; कोई घेराव कर रहे हैं; कोई हड़ताल कर रहे हैं। आप घूमने निकले थे। आप तेजी से चलते लगते हैं उनके साथ। उनका जोश आपको पकड़ जाता है। वे नारे लगा रहे हैं; आपका भी दिल होने लगता है। वे कहीं आग लगा रहे हैं, आप भी खड़े हो जाते हैं; सहयोगी भी हो जाते हैं !

एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक ने जर्मनी में जो नाजीवाद की घटना घटी उस पर एक किताब लिखी। 'द साइकोलॉजी ऑफ फेसिज्म'। वैज्ञानिक था विलहैम रैंक। बड़ी अदभुत किताब है : 'फैसिज्म का मनोविज्ञान'। वह भीड़ का मनोविज्ञान है। और हिटलर बड़ा कुशल था। इस बात को जानता था कि भीड़ कैसे काम करती है।

हिटलर अपनी सभाओं में . . . शुरू-शुरू में जब उसको कोई मानने वाला भी नहीं था, कुल सात आदमी उसकी पार्टी के मेम्बर थे। और सातों ही फिजूल लोग थे। एक भी आदमी कीमत का नहीं था। निकाले गए लोग, बेकार लोग, जिनके पास कुछ काम-धाम नहीं था, उन्होंने हिटलर को नेता मान लिया था। लेकिन उन सात के बल पर इस जमीन का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश हिटलर ने की।

वह उन सात बेकार आदमियों को लेकर सभाओं में चल जाता। दूसरों की सभा हो रही है। वह सात आदमी बिठा देता। वे सात आदमी जगह-जगह से शोरगुल कर के डिस्टर्बेन्स शुरू कर देते। और हिटलर खुद हैरान हुआ कि सात आदमी थे, लेकिन सत्तर क्यों गड़बड़ कर रहे हैं। उसके तो सात ही आदमी थे। सात सत्तर को गड़बड़ करवा देते हैं। सत्तर सात सौ को पकड़ लेते हैं। फिर वह जो मौलिक सात हैं, उनकी तो कोई चिंता करने की जरूरत नहीं। भीड़ ने ले लिया मामला।

फिर इसका उपयोग वह अपनी सभाओं में -- जब उसने अपनी सभाएँ शुरू कीं तो उसके पास पचास आदमी थे। दस हजार लोगों की सभा हो, उसके पचास आदमी पचास जगह बैठे रहते। पक्का पता होता कि किस वाक्य के बाद वे पचास आदमी ताली बजाएँगे। जैसे ही हिटलर का इशारा होता, वे पचास आदमी ताली बजाते। पाँच हजार आदमी उनका साथ देते। धीरे-धीरे बाकी लोग भी साथ

देने लगे। वे पचास आदमी पाँच हजार लोगों से तालियाँ बजवाने लगे। तब हिटलर को सूत्र साफ हो गया कि भीड़ कैसे चलती है।

जो भी चारों तरफ हो रहा है, परिस्थिति बन जाती है और उसमें आप बह जाते हैं। हिन्दू मसजिद में आग लगा रहे हैं। मुसलमान मन्दिर तोड़ रहे हैं, आग लगा रहे हैं। इनमें से एक-एक मुसलमान को अलग से पूछो कि क्या सच में तू मन्दिर में आग लगाना चाहता है ? वह कहेगा कि नहीं। एक-एक हिन्दू से पूछो कि तुझे क्या मिलेगा ? यह धर्म है कि तू मसजिद को जला दे या किसी की हत्या कर दे ? वह कहेगा कि नहीं। लेकिन भीड़ में -- वह कहता है, 'भीड़ में मैं था ही नहीं। भीड़ कुछ कर रही थी, मैं उसका हिस्सा हो गया।' भीड़ पकड़ लेती है आपको।

आप जरा देखें : अगर दस मिलिट्री के जवान सड़क पर कवायत कर रहे हों, थोड़ी देर उनके पीछे चल कर देखें, आपको पता नहीं, कब आप लेफ्ट राईट करने लगें। आपके पैर उनसे मिलने लगेंगे, तब ही आपको खयाल आयेगा : यह मैं क्या कर रहा हूँ !

मन अनुकरण करता है। परिस्थिति मन को अनुकरण की सुविधा दे देती है।

अभी भी आप चौबीस घन्टे एक गुण में नहीं होते। इसीलिए मन्दिरों का, उपयोग है, मसजिदों का उपयोग है। क्योंकि वहाँ हमने कोशिश की है -- सत्त्व की हवा पैदा करने की। दिन भर जो तमोगुणी भी रहा हो, रजोगुणी भी रहा हो, वह भी घन्टे भर आकर मन्दिर में बैठ जाय, तो सत्त्व की थोड़ी हवा उसमें पैदा हो सकती है।

सत्संग का इतना ही अर्थ है : जहाँ थोड़ी देर को सत्त्व की हवा पैदा हो जाय और आपकी ऊर्जा सत्त्व से बहने लगे। आप दिन भर कुछ भी कर रहे हों, लेकिन यह स्वाद आपको आने लगे, तो शायद धीरे-धीरे यह स्वाद आपके चौबीस घन्टे पर फैल जाय। इसमें आपको आनन्द मालूम होने लगे और दूसरी चीजें फीकी मालूम होने लगें, तो शायद आप जिन्दगी को बदलने का उपाय भी कर लें।

लेकिन ये घटनाएँ घटती हैं परिस्थिति से। और जब तक परिस्थिति से घटती हैं, तब तक कोई बड़ा मूल्य नहीं है। बड़ा मूल्य तो तब है, जब आपके संकल्प से घटे। तब आप मालिक हुए। तब भीड़ कुछ भी कर रही हो, आप निज में हो सकते हैं। सारी भीड़ सो गई हो और आप जागना चाहें, तो जाग सकते हैं। सारी भीड़ उपद्रव कर रही हो, हत्या कर रही हो, हिंसा कर रही हो, तो भी आप अपने को भीड़ के प्रभाव से बचा सकते हैं।

और जो व्यक्ति भीड़ के प्रभाव से अपने को बचा लेता है, वही व्यक्ति मालिक है। उसमें आत्मा पैदा हुई। वह आत्मवान हुआ। उसके पहले कोई आत्मा नहीं है।

उसके पहले सब हम प्रभावित हो कर चल रहे हैं ।

चारों तरफ से हमें प्रभावित किया जा रहा है । और हमें पता भी नहीं चलता कि हम किस भाँति पकड़ लिए गए हैं भीड़ के द्वारा, और भीड़ हमें लिए जा रही है। एक बड़ा प्रवाह है, उसमें हम तिनके की तरह बहते हैं ।

'हे अर्जुन, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण पैदा होता है। इसलिए अगर भीतर सत्त्वगुण पैदा करना हो, तो रजोगुण और तमोगुण की जो वृत्तियाँ हैं -- आलस्य की और व्यर्थ सक्रियता की . . . ।

विश्राम बुरा नहीं है; आलस्य बुरा है । फर्क क्या है ? विश्राम का मतलब है -- आवश्यक -- जिससे शरीर ताजा हो, मन प्रफुल्लित हो । विश्राम का अर्थ है : जो श्रम के लिए तैयार करे । इस परिभाषा को ठीक से समझ लेना ।

विश्राम का अर्थ है; जो श्रम के लिए तैयार करे । विश्राम का प्रयोजन ही यही है कि अब हम फिर श्रम करने के योग्य हो गए । वह जो श्रम हमें तोड़ दिया था, थका दिया था, हमारे स्नायु खराब हो गए थे, जीव-कोष टूट गए थे, वे फिर पुनरुज्जीवित हो गए । विश्राम ने हमें फिर से नया जीवन दे दिया । अब हम फिर श्रम करने के योग्य हैं ।

जिस विश्राम के बाद आप श्रम करने के योग्य न हों, वह आलस्य है । उसका अर्थ है : विश्राम के द्वारा आप -- और विश्राम के लिए तैयार हुए जा रहे हैं। विश्राम -- और विश्राम में ले जा रहा है, तब खतरा है ।

ठीक यही बात श्रम के बाबत भी लागू होती है । श्रम वही सम्यक है, जो आपको विश्राम के योग्य बनाए । अगर कोई ऐसा श्रम है, जो आपको विश्राम में जाने ही नहीं देता, तो वह विक्षिप्तता हो गई । वह फिर श्रम न रहा । ठीक श्रम के बाद आदमी सो जाएगा । बिस्तर पर सिर रखेगा और नींद में उतर जाएगा ।

एक किसान है । दिन भर उसने श्रम किया है, खेत पर । वह साँझ घर आता है, खाना खाता है और सिर रखता है बिस्तर पर, और सो जाता है । यह श्रम है ।

एक दुकानदार है, उसने भी दिन भर श्रम किया है । लेकिन वह जब बिस्तर पर सिर रखता है, तो विश्राम नहीं आता, नींद नहीं आती; मन में हिसाब चलता रहता है । कितने रुपये कमाए; कितने गुमाए; क्या हुआ; क्या नहीं हुआ ? -- वह जारी है । उसका मतलब हुआ : दुकानदार के श्रम में कहीं कुछ भूल है । वह सिर्फ श्रम नहीं है; शायद लोभ की विक्षिप्तता है ।

किसान के श्रम में वह भूल नहीं है । वह सिर्फ शायद भोजन के लिए है । लोभ की नहीं, जरूरत के लिए है । वह जो किसान है, वह निन्यानबे के चक्कर में नहीं है । वह सिर्फ श्रम कर रहा है । कल की रोटी जुट गई; काफी है । वह जो

दुकानदार है, वह कल की रोटी की उतनी फिक्र नहीं कर रहा है । वह रोटी तो उसने बहुत पहले जुटा रखी है । वह कुछ महल बना रहा है लोभ के ।

यह निन्यानबे के चक्कर की कहानी आपको याद होगी । इसे ठीक से समझ लेना चाहिए ।

एक सम्राट् सो नहीं पाता था रात, और उसका जो नाई था, जो उसकी मालिश करता था, उसकी हजामत करता था, वह कभी-कभी हजामत करते-करते भी सो जाता था । वह जो नाई था, वह कभी-कभी रात उसके पैर दबाते-दबाते भी सो जाता था । वह आया था पैर दबाने--इसको सुलाने -- सम्राट् को । सम्राट् तो जागता ही रहता और वह नाई धीरे-धीरे पैर दबाते-दबाते सो जाता ।

सम्राट् ने कहा कि 'तेरे पास कुछ कला होनी चाहिए ! तू भी गजब का आदमी है ! सुलाने हमें आया था और खुद तू सो रहा है ?' उस नाई ने कहा, 'मैं गैर-पढ़ा-लिखा आदमी, मुझे कुछ कला नहीं आती ।'

सम्राट् ने अपने वजीर से पूछा कि 'इसमें क्या राज होना चाहिए ? वजीर बुद्धिमान था, उसने कहा कि, 'राज है । कल देखेंगे । कल आपको जबाब दे दूंगा ।' रात वह नाई के घर में निन्यानबे रुपयों की भरी हुई एक थैली फेंक आया ।

रात भर नाई सो नहीं सका, क्योंकि वह जो एक रुपया कम था ! उसने सोचा 'कल, कुछ भी कर के एक रुपया जोड़ देना है; सौ हो जाएँगे ! गजब हो गया । कभी सोचा नहीं था कि सौ अपने पास हो जाएँगे ।'

एक ही रुपया कमाता था वह रोज । रोज खा लेता था । रात सो जाता था ।

दूसरे दिन सुबह बिलकुल आँखें उसकी लाल; रात बिना सोए हुए आया । पैर भी उसने दबाए सम्राट् के, तो सम्राट् को लगा, आज कुछ फर्क है । उसमें जान न थी । क्योंकि विश्राम न हो, तो कोई श्रम के लिए तैयार नहीं हो सकता । उसने पूछा, 'मामला क्या है ?' नाई ने कहा, 'समझ में मेरे भी नहीं आता; लेकिन रात मैं सो नहीं सका ।'

सम्राट् ने कहा, 'इसमें कुछ वजीर का हाथ तो नहीं है ? वजीर ने तुझ से कुछ कहा तो नहीं ?' उसने कहा, 'किसी ने कुछ कहा नहीं । लेकिन जब आप पूछते हैं, तो कल रात मेरे घर में एक निन्यानबे रुपये की थैली पड़ी मिल गई । उससे मैं मुसीबत में पड़ गया हूँ । सो नहीं सका ।' सम्राट् ने कहा, 'मैं समझ गया । वह वजीर चालाक है । उसने तुझे निन्यानबे के चक्कर में डाल दिया । इसी चक्कर में मैं हूँ । बस; अब बात साफ हो गई ।'

वह जो दुकानदार है -- या कोई भी -- जो किसी चक्कर में है -- लोभ के, वासना के, वह श्रम नहीं कर रहा है । उसका श्रम ऊपर-ऊपर है; भीतर कुछ

और चल रहा है। वह और जो चल रहा है, वह उसका पागलपन है। वह पागलपन उसे विश्राम न करने देगा। और जब विश्राम न होगा, तो सम्यक श्रम पैदा नहीं होता। और तब एक दुष्ट-चक्र पैदा होता है। दोनों गलत हो जाते हैं।

सत्त्वगुण के पैदा होने का अर्थ है। रजोगुण और तमोगुण को ध्यान में रखना है। तमोगुण का उतना ही उपयोग करना है, जिससे विश्राम मिले —— आलस्य पैदा न हो। और रजोगुण का उतना ही उपयोग करना है, जिससे जीवन की जरूरत पूरी हो —— लोभ पैदा न हो। बस, फिर आपके भीतर सत्त्व की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी।

यही अर्थ है कि 'रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण पैदा होता है अर्थात् बढ़ता है। तथा रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है। वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है।'

आप अपने भीतर दो को दबा सकते हैं; तीसरा मुक्त हो जाता है। जिसे भी मुक्त करना हो, उसको छोड़कर बाकी दो को दबाना शुरू कर देना चाहिए।

हम सारे लोग सत्त्वगुण को दबाते हैं। अच्छाई —— शुभ —— हम दबाते हैं। जहाँ तक बच सकें, उससे बचते हैं।

अगर शुभ करने का कोई मौका हो, शांत होने का कोई मौका हो, सत्त्व में उतरने की कोई सुविधा हो, तो हम उसे चूकते हैं।

अगर कोई कहे कि आओ, एक घंटा चुपचाप शांति से बैठें, तो हमें व्यर्थ लगता है। हम कहेंगे, 'कुछ करो। ताश ही खेलें; बैठने से क्या होगा! कुछ करें।'

झेन फकीर जापान में बैठना सिखाते हैं। वे कहते है साधु को, 'तू बैठना सीख जा। बस!' पर बैठने में दो बातों का खयाल रखना पड़ता है। झेन फकीर, जो गुरु होता है, वह हाथ में एक डंडा लेकर घूमता रहता है। दो बातें खयाल रखनी पड़ती हैं। तमोगुण दबाना पड़ता है और रजोगुण दबाना पड़ता है। दोनों एक साथ दबाना पड़ता है। वह डंडा लेकर घूमता है। वह कहता है: 'बैठे तो रहो, लेकिन सो मत जाना।' सो कर आप धोखा नहीं दे सकते। क्योंकि आपका सिर हिलने लगेगा। जैसे ही सिर हिला, डंडा आपके सिर पर होगा। वह गुरु डंडा मारेगा फौरन। और एक बार सिर हिले तो आठ बार डंडा मारने की आज्ञा है। तो वह आठ बार आपके सिर पर डंडा मारेगा —— बे-रहमी से। भीतर तक तमोगुण को झटका लग जाएगा!

न तो सोने देगा, और न कुछ करने देगा। आप हिलने लगें, तो भी डंडा पड़ जाएगा, क्योंकि हिलने का मतलब हुआ कि रजोगुण शुरू हो गया —— कि आप ऐसे पैर खुजाने लगें, तो भी डंडा पड़ जाएगा।

आपको कुछ करने भी नहीं देगा और सोने भी नहीं देगा। दोनों के बीच में बैठने की कला है। वह कहता है: 'बैठने की कला; दोनों के बीच जो रुक जाय, वह

झेन की अवस्था में आ गया, ध्यान की अवस्था में आ गया।'

तो छः घन्टे, आठ घन्टे, दस घन्टे, बारह-बारह घन्टे तक धीरे-धीरे साधक को सिर्फ बैठना होता है।

थोड़ी देर सोचें: छः घन्टे सिर्फ बैठे! न कुछ कर सकते हैं और न सो सकते हैं। क्या होगा?

पहली तो वृत्ति यह होगी कि कुछ करो। उस 'करने' की वृत्ति से बहुत कुछ पैदा होता है। खयाल आयेगा कि पैर में खुजलाहट हो रही है। इसमें अपना क्या हाथ है! पैर तो खुजला ही सकते हैं। या कोई चींटी चल रही है। ये सब बातें आना शुरू होंगी। और ये सब झूठ हैं।

अगर आप तैयार हैं बैठे रहने को, तो चींटी भी चलती रहे, तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा। और आप तैयार नहीं हैं, तो आप चींटी कल्पित कर लेंगे। जब आप खोजेंगे, तो वहाँ कोई चींटी नहीं है! थोड़ी बहुत देर अगर आपने रोकने की कोशिश की —— कि कुछ न करें, तो नींद पकड़ने लगेगी।

हमारी ऊर्जा दो हिस्सों में बहती है: या तो तमोगुण या रजोगुण। रजोगुण से बचाएँ —— तो तमोगुण। तमोगुण से बचाएँ —— तो रजोगुण। और दोनों से बचाएँ —— तो तीसरे द्वार से पहली दफा झरना फूटेगा।

झेन का सारा सूत्र इस कृष्ण के एक सूत्र में समाया हुआ है। झेन फकीर जो कर रहे हैं, वह इसी सूत्र का प्रयोग है।

बैठे रहें; न तो तंद्रा आये, और न क्रिया पकड़े।

अक्रिया में अतन्द्रित हैं —— तो आपकी चेतना कहाँ जाएगी? चेतना को कहीं तो जाना ही है, क्योंकि चेतना एक गति है, ऊर्जा है। जब नींद भी नहीं बन सकती और कर्म भी नहीं बन सकती, तो चेतना ध्यान बन जाती है, होश बन जाती है।

'इसलिए जिस काल में इस देह में तथा अंतःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोध शक्ति उत्पन्न होती है, उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा।

'और हे अर्जुन, रजोगुण के बढ़ने पर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ-बुद्धि से आरम्भ एवं अशांति अर्थात् मन, की चंचलता, विषय भोगों की लालसा —— यह सब उत्पन्न होते हैं।'

रजोगुण के ये लक्षण हैं।

सत्त्वगुण का लक्षण है: बोध, अवेयरनेस, जागरूकता। रजोगुण का लक्षण है: लोभ, सांसारिक चेष्टा, कुछ पा लें संसार में। 'सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ-बुद्धि से आरम्भ' —— मुझे कुछ मिले लाभ —— ऐसे किसी कर्म में उतरने की वृत्ति। 'अशांति, मन की चंचलता, विषय भोगों की लालसा —— यह सब उत्पन्न होते हैं।

अगर रजोगुण से छूटना हो, तो इन सबसे छूटना जरूरी है। और छूटने का एक ही अर्थ है : इनको सहयोग मत दें। जब लोभ उठे, तो उसे देखते रहें। उसको को-आपरेट मत करें। उसको साथ मत दें। लेकिन हम साथ देते हैं।

सुना है मैंने नसरुद्दीन एक रात, अचानक आधी रात उठा और पत्नी से बोला, 'जल्दी चश्मा ला।' पत्नी उसे जानती थी। कुछ बिना पूछताछ . . . । उससे पूछताछ करने का कोई सार भी नहीं था। उसने चश्मा उठाकर दे दिया। मुल्ला ने, चश्मा लगाया। आँख बन्द कर के फिर से लेट रहा।

फिर थोड़ी देर बाद उठा और उसने कहा कि 'तूने देर कर दी। सब गड़बड़ हो गया। एक सपना देख रहा था और सपने में एक देवदूत मुझे रुपये दे रहा था। ठीक सौ-सौ के नोट थे। मुझे शक पैदा हो गया कि नोट असली है कि नकली, इसलिए तुझसे चश्मा माँगा। और भी एक झंझट थी कि वह नौ नोट दे रहा था और मैं कह रहा था दस दे। उसी दस की झंझट में नींद खुल गई। और फिर आँख बन्द करके चश्मा लगाकर, मैंने कई बार कहा कि अच्छा भाई, नौ ही दे दे। मगर वहाँ कोई नहीं है। सपना खो गया। सब नष्ट कर दिया। इतनी देर लगा दी चश्मा उठाने में।'

सपने में भी अगर नौ मिल रहें हों, तो दस का मन होता है। वह मन तो वही है, जो जाग रहा है। वही सपने में सो रहा है। और ऐसा न था कि दस दे रहा होता देवदूत, तो कोई मन रुक जाता। मन कहता : जब मिल ही रहे हैं, तो थोड़े और माँग लो!

मन भिखमंगा है; लोभ उसका स्वभाव है। इसको अगर आप सहयोग देते चले जाते हैं, तो रजोगुण बढ़ेगा; क्योंकि जितना लोभ बढ़ेगा, उतना कर्म में उतरना पड़ेगा। लोभ को पूरा करना हो, तो दौड़धूप करनी ही पड़ेगी। फिर जितना लोभ बढ़ेगा, उतनी अशांति बढ़ेगी। मिलेगा? नहीं मिलेगा? कैसे मिलेगा? —— यह सब चिंताएँ मन को पकड़ेंगी। और कैसे मिल जाय? क्या तरकीब लगाएँ? झूठ बोलें; बेईमानी करें; चोरी करें —— क्या करें, क्या न करें —— सब आयोजन करना होगा। अशांति बढ़ेगी। और मन को बहुत दौड़ना पड़ेगा। चंचलता बढ़ेगी। रजोगुण इन सारी वृत्तियों को भीतर जन्म देगा। और ये सारी वृत्तियाँ आपकी सारी ऊर्जा को रजोगुण के द्वार से प्रकट करने लगेंगी।

रजोगुण का अंतिम चरण विक्षिप्तता है। जो पागल होकर पागलखाने में बैठे हैं, वे रजोगुण की साकार प्रतिमाएँ हैं। उन्होंने इतना दौड़ा दिया मन को, कि लगाम वगैरह ही टूट गई। फिर अब वे रोकना भी चाहें, तो रोकने का साधन ही नहीं है। वह बढ़ता ही चला गया। घोड़े सब भागने लगे। लगामें टूट गईं। कहीं भी ले जाने

लगे; रास्ते से हट गए। फिर कोई हिसाब न रहा।

पागल हो जाने का अर्थ है कि आपके पास नियंत्रण की कोई क्षमता न रही। मन इतना लोभ से भर गया कि उसने सब नियंत्रण तोड़ दिये।

रजोगुण अगर पूरा बढ़ जाय, तो विक्षिप्तता अंतिम फल है। अगर तमोगुण पूरा बढ़ जाय, तो मृत्यु अंतिम फल है। सत्त्वगुण पूरा बढ़ जाय, तो समाधि अंतिम फल है।

फिर जो आपको खोजना हो। अगर मृत्यु आपको खोजनी हो, तो आलस्य को साधें। तन्द्रा मृत्यु का ही प्राथमिक चरण है। फिर पड़े रहें —— मिट्टी के ढेर बनकर। जल्दी ही मिट्टी के ढेर हो जाएँगे।

विक्षिप्तता खोजनी हो, तो लोभ को बढ़ाएँ। फिर कोई सीमा न मानें। असीम लोभ में दौड़ते चले जायँ। जल्दी ही आप पागलखाने में होंगे।

और अगर इन दोनों को दबा दें . . . । दबा दें अर्थात् इन दोनों के साथ सहयोग अलग कर लें, तो, आपके भीतर सत्त्व का उदय होगा। सत्त्व महासुख है। और सत्त्व शुभ में ले जाएगा। सत्त्व धीरे-धीरे शांति में ले जाएगा। सत्त्व धीरे-धीरे ध्यान में ले जाएगा।

और सत्त्व के भी पार जिस दिन आप उठने लगेंगे —— और सत्त्व उस जगह पहुँचा देता है, जहाँ से पार उठना आसान है। सब विकार छूटने लगते हैं, सत्त्व का शुद्ध विकार रह जाता है, तो उसे छोड़ने में बहुत कठिनाई नहीं होती।

यह करीब-करीब ऐसा ही है, जैसे दीया जलता है, तो पहले तो वह जो अग्नि की शिखा है, वह तेल को जलाती है। फिर जब तेल जल जाता है, तो बत्ती को जलाती है। फिर जब बत्ती भी जल जाती है, तो खुद जल के शून्य हो जाती है।

सत्त्वगुण गुण अग्नि जैसा है। पहले रजोगुण, तमोगुण को जलाएगा। जब वे दोनों जल जाएँगे, तो खुद को जला लेगा। और जब सत्त्वगुण भी जल जाता है —— जब उसकी भी राख हो जाती है —— तब वह जो शेष रहा जाता है, वही स्वभाव है। उसे कृष्ण ने गुणातीत अवस्था कहा है।

आज इतना ही।

पाँचवाँ प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ५ दिसम्बर, १९७३

सम्बोधि और त्रिगुणात्मक अभिव्यक्ति • समर्पण का निर्णय
त्रिगुण के अनुसार मृत्यु और नया जन्म

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते !
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

हे अर्जुन, तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश एवं कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद और निद्रादि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियां — ये सब ही उत्पन्न होते हैं।

और हे अर्जुन, जब यह जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालों के मलरहित अर्थात दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है।

और रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्तिवाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।

पहले कुछ प्रश्न।

●पहला प्रश्न : कृष्ण परम ज्ञानी और त्रिगुणातीत हैं, फिर भी धोखा देते हैं, झूठ बोलते हैं, युद्ध करते हैं। बुद्ध, महावीर, लाओत्से आदि ऐसा कुछ भी नहीं करते। सत्त्व, रजस, तमस गुणों के संदर्भ में कृष्ण के उपरोक्त व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने की कृपा करें।

पहली बात तो यह समझ लेनी जरूरी है कि दो महापुरुषों के बीच कोई भी तुलना संभव नहीं है। और सभी तुलनाएँ गलत हैं। प्रत्येक महापुरुष अद्वितीय है। उस जैसा दूसरा कोई भी नहीं।

वस्तुतः तो साधारण पुरुष भी अद्वितीय है। आप जैसा भी कोई दूसरा नहीं। आपके भीतर ही महापुरुष तब प्रकट होता है, जब आप अपने स्वभाव को, अपनी नियति को उसकी पूर्णता में ले आते हैं।

आप भी बेजोड़ हैं। आप जैसा दूसरा कोई व्यक्ति पृथ्वी पर नहीं है। न आज है, न कल था, और न कल होगा। एक वृक्ष का पत्ता भी पूरी पृथ्वी पर खोजने जायँ, तो दूसरा वैसा ही पत्ता नहीं खोज पाएँगे। एक पत्थर का टुकड़ा भी, एक कंकड़ भी अपने ही जैसा है।

और जब आपका निखार होगा, और आपके जीवन की परम सिद्धि प्रकट होगी, तब तो आप एक गौरीशंकर के शिखर बन जाएँगे। अभी भी आप बेजोड़ हैं। तब तो आप बिलकुल ही बेजोड़ होंगे। अभी तो शायद दूसरे के साथ कुछ तालमेल भी मिल जाय। फिर तो कोई तालमेल न मिलेगा। अभी तो भीड़ का प्रभाव है आपके ऊपर, इसलिए भीड़ का आप अनुकरण करते हैं। भीड़ की नकल करते हैं। और पड़ोसी जैसा है, वैसा ही बनने की कोशिश करते हैं। क्योंकि इस भीड़ के बीच जिसे जीना हो, अगर वह बिलकुल अनूठा हो तो भीड़ उसे मिटा देगी।

भीड़ उनको ही पसंद करती है, जो उन जैसे हैं। तो वस्त्रों में, आचरण में,

व्यवहार में भीड़ चाहती है : आप विशिष्ट न हों, आप पृथक न हों, अनूठे न हों। भीड़ व्यक्ति को मिटाती है; एक तल पर सभी को ले आती है।

इसलिए बहुत कुछ आप में दूसरे जैसा भी मिल जाएगा, लेकिन जैसे-जैसे आपका स्वभाव निखरेगा, वैसे-वैसे आप भीड़ से मुक्त होंगे, वैसे-वैसे अनुकरण की वृत्ति गिरेगी, वैसे-वैसे वह घड़ी जीवन में आयेगी जब आप जैसा इस जगत् में कुछ भी न रह जाएगा।

कृष्ण, लाओत्से, बुद्ध उस परम शिखर पर पहुँचे हुए व्यक्ति हैं। किसी की दूसरे से तुलना करने की भूल में मत पड़ना। उस तुलना में अन्याय होगा। अन्याय की सम्भावना निरन्तर है। वह अन्याय यह है कि अगर आपको कृष्ण पसंद हैं, तो आप महावीर के साथ अन्याय कर जाएँगे। वह पसन्दगी आपकी है। वह पसन्दगी आपकी निजी बात है।

और अगर आपको महावीर पसन्द हैं, तो कृष्ण आपको कभी भी पसन्द नहीं पड़ेंगे। यह आपका व्यक्तिगत रुझान है। इस रुझान को आप महापुरुषों पर मत थोपें। आपके रुझान में कोई गलती नहीं है। कृष्ण आपको प्यारे हैं, आप कृष्ण को प्रेम करें। इतना प्रेम करें कि वही प्रेम आपके रूपान्तरण का कारण हो जाय, अग्नि बन जाय, और आप उसमें से निखर आयें।

अगर महावीर से प्रेम है, तो महावीर को प्रेम करें और महावीर के व्यक्तित्व को एक मौका दें कि वह आपको उठा ले, सम्हाल ले; आप डूबने से बच जायँ। महावीर का व्यक्तित्व आपके लिए नाव बन जाय। लेकिन दूसरे महापुरुष से तुलना मत करें। तुलना में गलती हो जाएगी। तुलना केवल उनके बीच हो सकती है, जो समान हैं। उनके बीच कोई समानता का आधार नहीं है। और उन सबके व्यक्तित्व का ढंग बिलकुल पृथक-पृथक है।

जैसे मीरा है। मीरा नाच रही है। हम सोच भी नहीं सकते कि बुद्ध -- और नाचें! कृष्ण बाँसुरी बजा रहे हैं। महावीर के ओठों पर बाँसुरी रखनी बड़ी बेहूदी मालूम पड़ेगी -- एब्सर्ड। उसकी कोई संगति नहीं बैठती। महावीर का जीवन व्यक्तित्व, ढंग -- उससे बाँसुरी का कोई सम्बन्ध नहीं बैठ सकता।

कृष्ण के ऊपर मोर-मुकुट शोभा देता है। वह उनके व्यक्तित्व की सूचना है। वैसा मोर-मुकुट आप जीसस को बाँध देंगे, तो बहुत बेहूदा लगेगा। जीसस को तो काँटों का ताज और सूली ही जमती है। सूली पर लटक कर जब काँटों का ताज उनके सिर पर है, तब जीसस अपने शिखर पर होते हैं। और कृष्ण जब बाँसुरी बजा रहे हैं -- मोर-मुकुट अपने सिर पर रखकर, तब अपने शिखर पर होते हैं।

एक-एक व्यक्ति अनूठा है--यह खयाल में आ जाय तो...। महापुरुष बिलकुल

अनूठे हैं। जब ज्ञान की घटना घटती है तो ज्ञान की घटना तो एक ही है। ऐसा समझें : यहाँ हम इतने लोग बैठे हैं। यहाँ प्रकाश है। तो प्रकाश की घटना तो एक ही जैसी है, लेकिन सभी आँखों में एक जैसा प्रकाश दिखाई नहीं पड़ रहा है। क्योंकि आँखों का यंत्र, देखनेवाला यंत्र, प्रकाश को प्रभावित कर रहा है। किसी की आँखें कमजोर हैं, उसे धीमा प्रकाश दिखाई पड़ रहा होगा। किसी की आँखें बहुत तेज हैं, तो उसे बहुत प्रकाश दिखाई पड़ रहा होगा। और किसी की आँखों पर चश्मा है, और रंगीन है, तो प्रकाश का रंग बदल जाएगा। और किसी की आँख बिलकुल ठीक है। और वह आँख बंद किये बैठा हो, तो प्रकाश दिखाई ही नहीं पड़ेगा; अंधकार हो जाएगा।

जब जीवन की परम अनुभूति घटती है, तो अनुभव तो बिलकुल एक है, लेकिन व्यक्तित्व अलग-अलग हैं। जब कृष्ण को वह परम अनुभव होगा, तो वे नाचने लगेंगे। यह उनके व्यक्तित्व से आ रहा है नाच--उस अनुभव से नहीं आ रहा है। जब बुद्ध को परम अनुभव होगा, तो वे बिलकुल मौन होकर बैठ जाएँगे; उनके हाथ-पैर भी नहीं हिलेंगे; आँख भी नहीं झपकेगी। उनके भीतर जो घटना घटी है, वह उनके मौन से प्रकट होगी; उनकी शून्यता से प्रकट होगी, उनकी स्थिरता से प्रकट होगी। उनका आनन्द मुखर नहीं होगा--मौन होगा।

बुद्ध चुप होकर प्रकट कर रहे हैं कि क्या घटा है। कृष्ण नाच कर प्रकट कर रहे हैं कि क्या घटा है। यह कृष्ण के व्यक्तित्व पर और बुद्ध के व्यक्तित्व पर निर्भर है। घटना एक ही घटी है।

इसे ऐसा समझ लें कि एक चित्रकार सुबह सूरज को उगते हुए देखे। और एक संगीतकार सुबह सूरज को उगता देखे। और एक नृत्यकार सूरज को उगता देखे। और एक मूर्तिकार और एक कवि सूरज को उगता देखे। ये सारे लोगों ने एक ही सूरज को उगते देखा है। और इन सबके चित्त पर एक ही सौन्दर्य की घटना घटी है। ये सब आनन्द से भर गए हैं। वह सुबह का उगता सूरज इनके भीतर भी कुछ उगने की घटना को जन्म दे गया है। इनके भीतर भी चेतना आन्दोलित हुई है।

लेकिन चित्रकार उसका चित्र बनाएगा। अगर आप उससे पूछें कि क्या देखा। तो चित्र बनाएगा। कवि एक गीत में बाँधेगा--अगर आप उससे पूछेंगे : क्या देखा। नर्तक नाच उठेगा। नाच कर कहेगा कि क्या देखा।

एक बहुत कीमती विचारक और लेखक यूनान में हुआ अभी-अभी--निकोस कजान जाकिस। उसने एक बड़ी अनूठी किताब लिखी है : 'झोरबा द ग्रीक'। एक उपन्यास है--झोरबा नाम के एक आदमी के आसपास। वह आदमी बड़ा नैसर्गिक आदमी है, जैसा स्वाभाविक आदमी होना चाहिए। न उसके कोई सिद्धांत हैं, न कोई आदर्श हैं। न कोई नीति है, न कोई नियम है। वह ऐसा आदमी है, जैसा कि अगर

आदमी को सभ्य न बनाया जाय और प्रकृति के सहारे छोड़ दिया जाय, तो जो बिलकुल प्राकृतिक होगा ।

जब वह क्रोध में होता है, तो आग हो जाता है । जब वह प्रेम में होता है, तो पिघल कर बह जाता है । उसके कोई हिसाब नहीं हैं । वह क्षण-क्षण जीता है ।

कजान जाकिस ने लिखा है कि जब वह खुश हो जाता था या कोई ऐसी घटना घटती, जिससे वह आनन्द से भर जाता, तो वह कहता कि रुको । वह ज्यादा नहीं बोल सकता, क्योंकि ज्यादा उसका भाषा पर अधिकार नहीं है, वह शिक्षित नहीं है । तो वह अपना तम्बूरा उठा लेता । तम्बूरा बजाता । उसे कुछ कहना है; उसके भीतर कोई भाव उठा है--उसे कहना है । वह तम्बूरा बजाता । और कभी ऐसी घड़ी आ जाती कि तम्बूरे से भी वह बात प्रकट नहीं होती, तो तम्बूरा फेंक कर वह नाचना शुरू कर देता । और जब तक वह पसीना-पसीना होकर गिर न जाता, तब तक वह नाचता रहता ।

कजान जाकिस ने लिखा है कि मुझे उसकी भाषा समझ में नहीं आती । लगता था, वह नाच रहा है; कुछ नाच रहा है; कुछ उसके भीतर हो रहा है । और कुछ ऐसा विराट् हो रहा है कि उसे प्रकट करने का उसके पास और कोई उपाय नहीं है । लेकिन मेरा ऐसा कोई अनुभव नहीं है ।

कजान जाकिस लेखक है, विचारक है; शब्दों का मालिक है । लेकिन फिर उसके जीवन में भी एक घटना घटी और तब उसे पता चला । वह पहली दफा एक स्त्री के प्रेम में पड़ा । जब उस स्त्री ने उसे प्रेम से देखा, उसे निकट लिया और उसके प्रेम का पात्र बना, तो जब वह वापस लौटा, तब उसने अचानक पाया कि उसके पैर नाच रहे हैं । अब वह कहना चाहता है, लेकिन अब शब्द फिजूल हैं । अब वह कुछ लिखना चाहता है, लेकिन कलम बेकार है । और जिन्दगी में पहली दफा वह आ कर अपने कमरे के सामने नाचने लगा । और तब उसे समझ में आया कि वह झोरबा जो कह रहा था, क्या कह रहा था । लेकिन उसके पहले उसे कुछ भी पता नहीं था ।

आपका व्यक्तित्व अभिव्यक्ति का माध्यम है । अनुभूति तो एक ही होगी । लेकिन आपके व्यक्तित्व से गुजर कर उसकी अभिव्यक्ति बदल जाएगी ।

तो कृष्ण की अभिव्यक्ति का माध्यम अलग है । जन्मों-जन्मों में वह माध्यम निर्मित हुआ है । अनन्त जन्मों में कृष्ण ने वह नृत्य सीखा है । अनन्त जन्मों में वह बाँसुरी बजाई है ।

बुद्ध ने जन्मों-जन्मों में... । बुद्ध ने कहा है... । बुद्ध के पिता ने...जब बुद्ध वापस घर लौटे, तो बुद्ध को कहा कि 'तू नासमझ है । और अभी भी नासमझ है । मैं तेरा पिता हूँ, और मेरे पास पिता का हृदय है; मेरे द्वार अभी भी खुले हैं । अगर तू वापस

लौटना चाहे, तो वापस आ जा । यह छोड़ भिखारीपन । हमारे वंश में कभी कोई भिखारी नहीं हुआ ।' तो बुद्ध ने कहा है कि 'क्षमा करें । आपके वंश से मेरा क्या सम्बन्ध ! मैं सिर्फ आपसे आया हूँ, आपसे पैदा नहीं हुआ । जहाँ तक मुझे याद आते हैं --अपने पिछले जन्म, मैं जन्मों-जन्मों का भिखारी हूँ । मैं पहले भी भीख माँग चुका हूँ । मैं पहले भी संन्यासी हो चुका हूँ । यह कोई पहली बार नहीं हो रहा है । यह किसी लम्बे क्रम का एक हिस्सा है ।'

'जहाँ तक मुझे अपनी याद है' बुद्ध ने कहा है कि 'मैं पहले भी ऐसा ही हुआ हूँ । और हर बार यात्रा अधूरी छूट गई । इस बार यात्रा पूरी हो गई । जिस सूत्र को मैं बहुत जन्मों से पकड़ने की कोशिश कर रहा था, वह मेरी पकड़ में आ गया । और तुमसे मेरा परिचय बहुत नया है । मुझ से मेरा परिचय जन्मों-जन्मों का है । तुम्हारे कुल का मुझे कुछ पता नहीं, लेकिन मेरे कुल का मुझे पता है कि मैं जन्मों का भिखारी हूँ । और सम्राट् होना सांयोगिक था । यह भिक्षु होना मेरी नियति है, मेरा स्वभाव है ।

ये बुद्ध भी जन्मों-जन्मों में वृक्ष के नीचे बैठ-बैठ कर इस जगह पहुँचे हैं, जहाँ वे पत्थर की मूर्ति की तरह शांत हो गए हैं ।

सबसे पहले बुद्ध की मूर्तियाँ बनीं । वैसा मूर्तिवत आदमी ही कभी नहीं हुआ था । बुद्ध की मूर्ति अगर बनानी हो तो बस पत्थर की ही बन सकती है । क्योंकि वे पत्थर जैसे ही, पाषाण जैसे ही ठंडे, शांत और चुप--सारी क्रियाओं से शून्य हो गए।

उर्दू में, अरबी में शब्द है : बुत, वह बुद्ध का अपभ्रंश है । मूर्ति के लिए जो शब्द है : वह है बुत । बुत का मतलब है बुद्ध । बुद्ध के नाम से ही बुत शब्द पैदा हुआ : और बुद्धवत बैठने का मतलब है : मूर्तिवत बैठ जाना । बुद्धवत बैठने का अर्थ है । बुत की तरह हो जाना । जरा-सा भी कंपन न रह जाय--नाच तो बहुत दूर की बात है । जरा-सा झोंका भी न रह जाय भीतर । नाच तो बिलकुल दूसरी अति है--जहाँ भीतर कुछ भी थिर न रह जाय, सब नाच उठे, सब गतिमान हो जाय ।

तो बुद्ध और कृष्ण का कहाँ मेल बिठाइएगा ? लेकिन जो घटना घटी है, वह एक ही है ।

बुद्ध ने जन्मों-जन्मों तक मौन होना साधा है । जब वह महा घटना घटी, तो तो वे अवाक् होकर मौन हो गए ।

कृष्ण ने जन्मों-जन्मों तक नाचा है--सखियों के साथ, अपनी प्रेयसियों के साथ । वह यात्रा लम्बी है । जब वह घटना घटी, तो वह नाच से ही प्रकट हो सकती है।

फिर बुद्ध संसार को छोड़कर संन्यस्थ हो गए हैं । कृष्ण संन्यस्थ नहीं हैं । कृष्ण संसार में खड़े ह । इसलिए उनका आचरण और व्यवहार बिलकुल अलग-अलग होगा ।

अगर किसी को पागलखाने में रहना पड़े, तो उचित है कि वह पागलों को समझा दे कि मैं भी पागल हूँ; नहीं तो पागल उसकी जान ले लेंगे। उचित है कि वह चाहे नकल ही करे, अभिनय ही करे, लेकिन पागलों जैसा ही व्यवहार करे। पागलखाने में रहना हो, तो समझदार बन के आप नहीं रह सकते। नहीं तो बुरी तरह पागल हो जाएँगे। पागलखाने में अपनी सेनिटी बचाने का, अपनी बुद्धि बचाने का एक ही उपाय है कि आप पागलों से दो कदम आ हो जायँ—कि पागलों के नेता हो जायँ, फिर आप पागल नहीं हो सकते।

मेरे एक मित्र पागलखाने में बंद थे। सिर्फ संयोग की बात : लेकिन तीन महीने में ठीक हो गए। और ठीक हो गए एक सांयोगिक घटना से। पागलपन की हालत में फिनाइल का एक डब्बा पागलखाने में मिल गया, वह पूरा पी गए। उस फिनाइल को पूरा पी लेने से उनको इतने दस्त और कै हुए कि उनका पागलपन निकल गया। वे बिलकुल ठीक हो गए। लेकिन छः महीने के लिए रखे गए थे। अधिकारी तो मानने के लिए तैयार न थे। अधिकारी को तो सभी पागल कहते हैं कि हम ठीक हो गए। ऐसा कोई पागल है, जो कहता है : हम ठीक नहीं हैं ?

तो वे अधिकारियों से कहें कि 'मैं बिलकुल ठीक हो गया हूँ; अब मुझे कोई गड़बड़ नहीं है। मुझे बाहर जाने दो।' अधिकारी हँसें और टाल दें कि ठीक है, वह तो सभी पागल कहते हैं।

वे मित्र मुझसे कहते थे कि तीन महीने जब तक मैं पागल था, तब तक तो मैं स्वर्ग में था, क्योंकि मुझे पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है चारों तरफ। बाकी तीन महीने असली पागलपन के रहे। मैं हो गया ठीक और सारे पागल...। कोई मेरी टाँग खींच रहा है; कोई मेरे सिर पर हाथ फेर रहा है। और मैं बिलकुल ठीक! और यह मेरे बरदाश्त के बाहर कि यह सब कैसे सहा जाय! न रात सो सकते हैं...। और तीन महीने तक कुछ पता नहीं था। क्योंकि यह खुद भी यही कर रहे थे। और स्वयं इस भाषा के अन्तर्गत थे, इसके बाहर नहीं थे।

बुद्ध पागलखाना छोड़कर बाहर हो गए हैं। इसलिए नहीं कि सभी को पागलखाना छोड़कर बाहर हो जाना है। बुद्ध को ऐसा घटा। इसको ठीक से समझ लें।

यह बुद्ध की नियति है। यह बुद्ध का स्वभाव है। यह बुद्ध के लिए सहज है, स्पाँन्टेनियस है। ऐसा उनको घटा कि वे छोड़कर जंगल में चले गए। कोई आप छोड़कर चले जाएँ , तो बुद्ध नहीं हो जाएँगे। अगर आपका स्वभाव यह हो, अगर आपको यही सहज हो, तो आप कुछ भी करें, आप संसार में रह न सकेंगे। आप धीरे-धीरे सरक जाएँगे। यह कोई चेष्टा नहीं है। यह अपने स्वभाव का अनुसरण है।

लेकिन कृष्ण का ऐसा स्वभाव नहीं है। वे पागलखाने में खड़े हैं। और मजे

से खड़े हैं। निश्चय ही जो पागलखाने में खड़ा है, उसे पागलों के साथ व्यवहार करना है। इसलिए कृष्ण बहुत बार दिखाई पड़ेंगे कि धोखा देते हैं, झूठ बोलते हैं, युद्ध करते हैं। वह पागलों की भाषा है। वहाँ झूठ ही व्यवहार है। वहाँ धोखा ही नियम है। वहाँ युद्ध हर चीज की परिणति है।

और इसलिए कृष्ण बड़े बेबूझ हो जाते हैं। उनको समझना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि हम साधु को हमेशा गैर-ससारी की तरह देखे हैं। तो गैर-संसारी साधु का व्यवहार अलग बात है। कृष्ण बिलकुल संसार में साधु हैं। इसलिए उनके और बुद्ध के व्यवहार को तौलना ही मत।

अगर बुद्ध को भी संसार में रहना हो, तो कृष्ण जैसा व्यवहार करना पड़ेगा। और कृष्ण को अगर जंगल में झाड़ के नीचे बैठना हो, तो बुद्ध जैसा व्यवहार करना पड़ेगा। धोखा किसको देना—और किसलिए देना है?

यहाँ जो चारों तरफ लोग इकट्ठे हैं, इनके बीच अगर जीना है, तो ठीक इन जैसे होकर जीना पड़ेगा।

पर फर्क यही है कि आप भी दे रहे हैं धोखा, लेकिन आप बेहोशी में दे रहे हैं और कृष्ण पूरे होश में दे रहे हैं। आप धोखा दे रहे हैं—कर्तृत्व भाव से। कृष्ण धोखा दे रहे हैं, बिलकुल नाटक के एक अंग की भाँति। वे अभिनेता हैं। धोखा उनको छू भी नहीं रहा है। उनके लिए एक खेल है, ज्यादा नहीं है।

ऐसा समझें कि आपके बच्चे घर में खेल खेल रहे हैं। और आप भी फुरसत में हैं और आप भी उनमें सम्मिलित हो गए हैं। और उनकी गुड्डी का विवाह रचाया जा रहा है। और गुड्डे की बारात निकलने वाली है और आप भी उसमें सम्मिलित हैं। तो आपको भी बच्चों जैसा ही व्यवहार करना पड़ेगा, नहीं तो बच्चे आपको खेल में प्रविष्ट न होने देंगे। आप यह नहीं कह सकते...। यह नियम के भीतर होगा—आप यह नहीं कह सकते कि 'यह गुड्डी है; इसका क्या विवाह कर रहे हो? गुड़ियों का कहीं विवाह होता है? यह सब फिजूल है।' तो फिर आप खेल का नियम तोड़ रहे हैं; तो आपको खेल के बाहर होना चाहिए।

आपको गुड्डी को मानना पड़ेगा कि जैसे वह कोई सजीव युवती है। और उसी तरह व्यवहार करना पड़ेगा। लेकिन एक फर्क होगा : बच्चों के लिए वस्तुतः गुड्डी नहीं रही है। और आपके लिए वह फिर भी गुड्डी है। और आप व्यवहार कर कर रहे हैं बच्चों के साथ—कि खेल जारी रहे।

जैसे कोई प्रौढ़ व्यक्ति बच्चों के साथ खेलता है, वैसे कृष्ण संसार में हैं। इसलिए स्वभावतः महावीर को मानने वाले, बुद्ध को मानने वाले कृष्ण के प्रति एतराज उठाएँगेः यह किस तरह की भगवत्ता है।

हम सोच ही नहीं सकते कि भगवान् और धोखा दे, झूठ बोले ? उसे तो प्रामाणिक होना चाहिए । पर आप जिन भगवानों से तौल रहे हैं, वे ससार के बाहर हैं । आप उस आदमी से तोल रहे हैं--इस आदमी को--जो खेल में सम्मिलित नहीं है; अलग बैठा है । और यह आदमी बच्चों के साथ खेल रहा है । इन दोनों को आप तौलें मत । इनके नियम अलग हैं ।

कृष्ण का प्रयोग बड़ा अनूठा है । बुद्ध और महावीर का प्रयोग बहुत अनूठा नहीं है । यह बिलकुल सरल है । संसार में हैं, तो पागल की तरह; और संसार छोड़ दिया, तो सारा पागलपन छोड़ दिया ।

कृष्ण का प्रयोग बड़ा अनूठा है । संसार छोड़ भी दिया और उसके भीतर हैं । पागलपन बिलकुल छोड़ डाला, और फिर भी पागलों के साथ वैसा ही व्यवहार कर रहे हैं, जैसा कि कोई पागल करे । कृष्ण का प्रयोग अत्यंत अनूठा है ।

महावीर और बुद्ध परंपरागत संन्यासी हैं । कृष्ण बहुत क्रांतिकारी संन्यासी हैं । मैं यह नहीं कर रहा हूँ कि आप इसलिए कृष्ण को चुन लें । आप अपनी नियति को समझें । यह भी नहीं कह रहा हूँ : आप बुद्ध को छोड़ दें या चुन लें । आप अपनी नियति को समझें । आपके लिए क्या ठीक मालूम पड़ता है; अपके लिए क्या सुगम होगा, सहज होगा; कैसी जीवन धारा में उतर कर आप व्यर्थ की तकलीफ नहीं पायेंगे—सरलता से बह सकें--वही आपकी नियति है ।

फिर आप दूसरे की चिंता में न पड़ें । कोशिश करके न आप कृष्ण बन सकते हैं—और न बुद्ध । कोशिश आपको भ्रांत कर देगी । सहजता ही आपके लिए स्वास्थ्य-दायी हो सकती है ।

कृष्ण ने क्या किया, यह समझना हो, तो यह सूत्र खयाल में रखें कि कृष्ण, बुद्ध जैसे संन्यासी होकर ठीक संसार में खड़े हैं--बिना छोड़े हुए । और आपसे कोई भी सम्बन्ध संसार में बनाना हो, तो निश्चित ही आपकी भाषा बोलनी जरूरी है और आपके आचरण के साथ चलना जरूरी है । आपको बदलना भी हो, तो भी थोड़ी दूर तक आपके साथ चलना जरूरी है ।

इसी सम्बन्ध में यह भी समझ लेना जरूरी होगा कि सत्त्व, रजस, तमस के गुणों का इस सम्बन्ध में क्या रूप होगा ।

अगर कोई व्यक्ति तमस की अवस्था से सीधा छलाँग लगाए--गुणातीत अवस्था में, तो उसका जीवन व्यवहार लाओत्से जैसा होगा । क्योंकि उसके पास जो व्यक्तित्व होगा, वह तमस का होगा । चेतना तो छलाँग लगा लेगी गुणातीत अवस्था में. लेकिन उसके पास व्यक्तित्व तमस का होगा । इसलिए लाओत्से कहता है : अकर्मण्यता भली । लाओत्से कहता है : कुछ न करना ही योग्यता है । न-करने में

ठहर जाना ही परम सिद्धि है ।

लाओत्से के जीवन में कोई उल्लेख भी नहीं है कि उसने कुछ किया हो । कहा जाता है कि अगर उसके बस में हो--चलना, तो लाओत्से दौड़ेगा नहीं । अगर उसके बस में हो--बैठना, तो लाओत्से चलेगा नहीं । अगर उसके बस में हो लेटना, तो लाओत्से बैठेगा नहीं । अगर उसके बस में हो सोना, तो लाओत्से लेटेगा नहीं । निष्क्रियता की जो भी संभावना आखिरी बस में हो, उसमें ही लाओत्से डूबेगा ।

लाओत्से परमज्ञानी है, पर उसके पास व्यक्तित्व तमस का है । इसलिए आलस्य लाओत्से के लिए साधना बन गई । और निश्चित ही जो उसने जाना है, वही वह दूसरों को सिखा सकता है ।

तो लाओत्से कहता है : जब तक तुम कुछ कर रहे हो, तब तक तुम भटकोगे । ठहरो--करो मत । क्योंकि लाओत्से ने ठहर कर ही पाया है । तो लाओत्से कहता है : अगर तुम क्या शुभ है, क्या अशुभ है; क्या नीति है, क्या अनीति है—इस व्यर्थता में पड़ोगे---सत्त्व की खोज में--तो भटक जाओ । धर्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं । जब जगत् में ताओ था, धर्म था, तो कोई नीति न थी; कोई साधु न थे; कोई असाधु न थे । तुम अपनी सहजता में डूब जाओ । और उस डूबने की एक ही कुशलता है, एक ही योग्यता है कि तुम पूरी अकर्मण्यता में, अक्रिया में, पूरे अकर्म में ठहर जाओ ।

तमस लाओत्से का व्यक्तित्व है । घटना उसे वही घटी है, जो बुद्ध को, महावीर को, कृष्ण को घटी है ।

जिन लोगों का व्यक्तित्व रजस का है, और वहाँ से वे छलाँग लगा लेते हैं : जैसे जीसस, तो फिर परम ज्ञान जब उन्हें पैदा होगा, तो उनका परम ज्ञान उसी क्षण कर्म बनना शुरू हो जाएगा । उनका कर्म सेवा हो जाएगी । वे विराट् कर्म में लीन हो जाएँगे । वे कहें : कर्म ही योग है ।

कृष्ण ने कहा है : कर्म की कुशलता ही योग है । और लाओत्से कहता है : अकर्म, अक्रिया, सब भाँति ठहर जाना ही एक मात्र सिद्धि है ।

कर्म की कुशलता योग है—अगर रजस आपका व्यक्तित्व हो और ज्ञान की घटना घटे...। घट सकती है । किसी भी जगह से आप छलाँग लगा सकते हैं ।

अगर सत्त्व का आपका व्यक्तित्व हो, जैसे महावीर, जैसे बुद्ध--सत्त्व का व्यक्तित्व हैं, तो इनके जीवन में न तो आलस्य होगा--लाओत्से जैसी शिथिलता भी नहीं होगी, और न ही जीसस जैसा कर्म होगा । इनके जीवन में बड़ी साधुता का शांत व्यवहार होगा ।

महावीर चलते भी हैं, तो रास्ते पर देखकर कि चींटी दब न जाय । यह आदमी रजोगुणी हो ही नहीं सकता—जो चलने में इतना ध्यान रखे कि चींटी न दब जाय ।

महावीर रात करवट नहीं बदलते कि करवट बदलने में अँधेरे में कोई कीड़ा-मकोड़ा न दब जाय। यह आदमी क्या कर्मठ होगा! यह महावीर श्वास भी सोच-समझ कर लेते हैं, क्योंकि प्रति श्वास में सैकड़ों जीवाणु मर रहे हैं।

महावीर पानी छानकर पीते हैं, वह भी जब अति प्यास लग आये, तब पीते हैं। भोजन बामुश्किल कभी करते हैं, क्योंकि भोजन में हिंसा है। मांसाहार में ही हिंसा नहीं है; सब भोजन में हिंसा है। शाकाहार में भी हिंसा है। क्योंकि शाक-सब्जी में प्राण है। पौधे में प्राण है। माना कि उतना प्रकट प्राण नहीं है, जितना पशु में है, जितना मनुष्य में है, लेकिन प्राण तो है।

महावीर पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने घोषणा की कि इस जीवन में सब तरफ प्राण है। इसलिए कहीं से भी भोजन करो, मृत्यु घटित होती है। इसलिए महावीर कहते हैं: पका हुआ फल जो वृक्ष से गिर जाय, बस, वही लेने योग्य है। लेकिन उसमें भी हिंसा तो हो ही रही है। क्योंकि जो बीज आप ले रहे हैं, वह अंडे की तरह है। उस बीज से अंकुर पैदा हो सकता था। उससे एक वृक्ष पैदा हो सकता था। उस वृक्ष में हजारों बीज लगते।

तो अगर अंडा खाना पाप है, तो गेहूँ का बीज खाना भी पाप है। अंडा भी बीज है। उसमें पाप क्या है?--इसलिए कि मुरगी पैदा होती है। फिर मुरगी से और मुरगियाँ पैदा होती हैं। एक बड़ी संतति को आपने रोक दिया। एक जीवन की धारा अपने काट दी। एक गेहूँ खाकर भी काट दी। उस गेहूँ से नये पौधे पैदा होते। उन पौधों में नये बीज लगते। न मालूम कितने जीवन की धारा अनंत वर्षों तक चलती, वह आपने गेहूँ को खा कर रोक दी।

तो महावीर मुश्किल से भोजन करते हैं। अगर भूखे चल सकें, तो भूखे चलते हैं। प्यासे चल सकें, तो प्यासे चलते हैं। कथा यह है कि बारह वर्षों की साधना में उन्होंने तीन सौ साठ दिन ज्यादा से ज्यादा भोजन लिया। बारह वर्ष में एक वर्ष! कभी दो महीने नहीं खाया; कभी महीने भर नहीं खाया; कभी तीन महीने नहीं खाया। खाते ही तब हैं, जब उपवास आत्म-हत्या के करीब पहुँचने लगे। जब ऐसा लगे कि अब शरीर छूट जाएगा--तभी। जब अपनी ही मृत्यु घटित होने लगी, और वह भी इसलिए कि अभी ज्ञान की घटना नहीं घटी, इसलिए शरीर को सम्हालना जरूरी है। अभी वह परम मुक्ति उपलब्ध नहीं हुई, इसलिए शरीर को ढोना जरूरी है।

इन महावीर से आप कोई जीसस जैसी क्रिया नहीं अनुभव कर सकते।

जीसस जाते हैं मन्दिर में; देखते हैं कि ब्याजखोरों की कतार लगी है। उठा लेते हैं कोड़ा। (सोच भी नहीं सकते: महावीर कोड़ा उठायें।) उलट देते हैं तख्ते, ब्याजखोरों के। अकेला एक आदमी इतना जोर से वहाँ उपद्रव मचाता है कि सैकड़ों ब्याजखोर भाग खड़े होते हैं। यह तो बाद में ही समझ में आता है कि एक आदमी ने इतना उपद्रव कैसे मचा दिया!

जीसस में एक गहरी क्रान्ति है, इसलिए जीसस का सूली पर लटकना ठीक गणित का हिसाब है। इतना बड़ा क्रान्तिकारी आदमी सूली पर जाएगा ही। इसका दूसरा अंत नहीं हो सकता।

महावीर को हम सूली पर लटकते हुए नहीं सोच सकते। कोई कारण नहीं है। जो किसी को दुःख नहीं पहुँचा रहा है; जो किसी के काम में आड़े नहीं आ रहा है; जो किसी को छूता भी नहीं...।

महावीर की धारा में उनकी अहिंसा को अगर ठीक से समझें, तो उसका मतलब यह होता है कि किसी के कर्म में भी बाधा डालने में हिंसा हो जाती है। कोई आदमी जा रहा है, उसको रोक लेना काम में जाने से, तो भी हिंसा हो जाती है। क्योंकि आप बीच में बाधा डाल रहे हैं।

कोई बाधा नहीं डालनी है। अपने को ऐसे बना लेना है, जैसे मैं हूँ ही नहीं। तो ऐसा व्यक्ति क्रान्ति नहीं ला सकता। या ऐसे व्यक्ति की क्रान्ति बड़ी अदृश्य होगी। उसके कोई दृश्य रूप नहीं होंगे।

सत्त्व अगर हो, तो महावीर जैसा व्यक्तित्व पैदा होगा। अगर रज हो, तो जीसस जैसा व्यक्ति पैदा होगा। तम हो, तो लाओत्से जैसा व्यक्ति पैदा होगा।

इसको और भी तरह से समझ लें। इसलिए लाओत्से के पीछे कोई बहुत बड़ा विराट् धर्म नहीं बन सका। अकर्मण्यता के आधार पर आप बनाएँगे भी कैसे? कौन करेगा प्रचार? कौन जाएगा समझाने? लाओत्से का मानने वाला शांत बैठ जाता है। आप उसे हिलाएँ-डुलाएँ, बहुत पूछें, तो बामुश्किल जवाब देगा।

लाओत्से जिन्दगी भर नहीं बोला। आखिर में सिर्फ यह ताओ-तेह-किंग--एक छोटी-सी किताब उसने लिखवाई। यह भी मजबूरी में कि पीछे ही पड़ गए लोग कि उसको जाने ही न देते थे मुल्क के बाहर।

लाओत्से जाना चाहता था हिमालय की यात्रा पर--अपने को खो देने के लिए हिमालय में। उसको रोक लिया चुंगी चौकी पर और कहा कि जब तक तुम्हारा ज्ञान तुम लिख न दोगे, जाने न देंगे। तो तीन दिन वह चुंगी चौकी पर बैठ कर उसने लिखवाया--जो उसको ज्ञान था। यह भी जबरदस्ती लिखवाया गया। यह कोई लाओत्से ने अपने मन से लिखा नहीं।

अगर चुंगी चौकी का अधिकारी चूक गया होता और लाओत्से निकल गया होता, तो ताओ-तेह-किंग न होती। और लाओत्से के नाम का भी आपको पता

नहीं होता। यह सारा गुण चुंगी चौकी के उस अधिकारी को जाता है, जिसका किसी को नाम पता नहीं कि वह कौन आदमी था। इसलिए लाओत्से के पीछे कोई बड़ा विराट् आयोजन नहीं हो सका।

महावीर सत्त्व के प्रेमी हैं और उनका व्यक्तित्व सत्त्व से भरा है। इसलिए महावीर का धर्म बहुत नहीं फैल सका। क्योंकि उसमें कर्मठता नहीं है। आज भी हिन्दुस्तान में केवल बीस पच्चीस लाख जैन हैं। अगर महावीर ने पच्चीस जोड़ों को जैनी बना लिया होता, तो दो हजार साल में उनसे पच्चीस लाख आदमी पैदा हो जाते। पच्चीस लाख कोई संख्या नहीं है। महावीर का धर्म फैल नहीं सका।

लेकिन ईसाइयत फैली, क्योंकि रजस प्रधान है। ईसाइयत फैली, सारी जमीन को ढँक लिया उसने। इसलाम फैला; सारी जमीन को ढँक लिया उसने। क्योंकि दोनों रजस प्रधान हैं।

मोहम्मद तो बहुत ही ज्यादा रजस प्रधान हैं। उनका तो सारा व्यक्तित्व रजस से भरा है। हाथ में तलवार है। और किसी भी भाँति फैलाना है वह, जो उन्होंने जाना है।

तो आज जमीन वस्तुतः दो बड़े धर्मों में बँटी है--ईसाइयत और इसलाम। बाकी धर्म नगण्य हैं।

यह बुद्ध-धर्म का प्रचार हो सका, वह भी एक अनूठी घटना है, क्योंकि बुद्ध के धर्म का प्रचार भी होना नहीं चाहिए। जैसा महावीर सिकुड़ गए, ऐसा ही बुद्ध की बात भी सिकुड़ जानी चाहिए। वे भी सत्त्व प्रधान व्यक्तित्व हैं। लेकिन एक सांयोगिक घटना इतिहास की और जिसने बुद्ध के धर्म को मौका दे दिया फैलने का। अगर बुद्ध का धर्म भारत में ही रहता, तो कभी नहीं फैलता।

जितने जैन हैं, उससे भी कम बौद्ध भारत में बचे हैं। अगर नये बौद्धों को भी गिन लिया जाय, तो तीस लाख होते हैं।

नये बौद्ध कोई बौद्ध नहीं हैं। एक राजनैतिक चालबाजी है। आम्बेडकर का बौद्ध धर्म से क्या लेना-देना? आम्बेडकर पच्चीस दफा सोच चुका पहले कि मैं ईसाई हो जाऊँ और सब हरिजनों को ईसाई बना लूँ। यह सिर्फ एक राजनैतिक स्टंट था। फिर उसे लगा कि बौद्ध हो जाना ज्यादा बेहतर है। तो आम्बेडकर बौद्ध हो गए। तो आम्बेडकर ने सैकड़ों हरिजनों को--विशेष कर महाराष्ट्र में--बौद्ध बना लिया। इनका बौद्ध धर्म से कोई लेना-देना नहीं। भारत में बौद्ध हैं ही नहीं। खोजना मुश्किल है।

भारत में अगर बौद्ध-धर्म रुका होता, जैसा कि जैन-धर्म रुका, तो जैन-धर्म से भी बुरी हालत थी। लेकिन हिन्दुओं की कृपा से...! हिन्दुओं ने बौद्धों का इस बुरी

तरह विनाश किया कि बौद्ध भिक्षुओं को हिन्दुस्थान छोड़कर भाग जाना पड़ा।

यह जो भागते हुए, भगोड़े बौद्ध भिक्षु थे, ये बौद्ध-धर्म को हिन्दुस्थान के बाहर ले गए। और हिन्दुस्थान के बाहर इन बौद्ध भिक्षुओं को वे लोग मिल गए, जो रजस प्रधान हैं।

हिन्दुस्तान के बाहर इनको प्रचारक मिल गए, क्योंकि वैक्यूम था। और खाली जगह प्रकृति को पसंद नहीं है। चीन में जब पहुँचे बौद्ध, तो कन्फ्यूसियस का प्रभाव था। लेकिन कन्फ्यूसियस सिर्फ नैतिक है; उसका कोई धर्म नहीं है। और लाओत्से का प्रभाव था। लाओत्से बिलकुल आलसी है, उसके प्रचार का कोई उपाय नहीं।

खाली जगह थी। बौद्ध विचार की छाया एकदम जोर से अनुभव होने लगी सम्राट चीन के, बौद्ध हो गए। सम्राट होते हैं रज प्रधान।

हिन्दुस्थान में भी बौद्ध-धर्म को बाहर भेजने में अशोक ने काम किया। बुद्ध के ऊपर उसका श्रेय नहीं है; अशोक के ऊपर है। सम्राट् होते हैं रज प्रधान। यह अशोक लड़ रहा था; युद्धों में लगा था। और फिर यह बौद्ध हो गया। एक रूपांतरण...। हिंसा से दुःखी होकर, पीड़ित होकर; अपने ही हाथ से लाखों लोगों को मरा हुआ देखकर एकदम उलटा हो गया; शीर्षासन कर लिया। हिंसा का उसने एकदम त्याग कर दिया। इसने बौद्ध-धर्म को भेजा। इसने जिनके हाथ से भेजा, ये एक तरह के राजनैतिक संदेश-वाहक थे। अशोक ने अपने बेटे को भेजा, अपनी बेटी संघमित्रा को भेजा--लंका--प्रचार करने।

अशोक ने राजनैतिक ढंग से बौद्ध-धर्म को बाहर भेजा। वह रज प्रधान व्यक्ति था। और सम्राट् रूपांतरित हुए, तो बौद्ध-धर्म फैला।

ध्यान रहे: जब भी कोई धर्म फैलेगा, तो उसके पीछे रजस ऊर्जा चाहिए। धर्म को जन्म देने वाला व्यक्ति किस तरह के व्यक्तित्व का है, इस पर निर्भर करेगा।

कृष्ण को समझ लेना, इस संदर्भ में, जरूरी है!

कृष्ण स्वयं में इन तीनों में से किसी की भी प्रधानता उनमें नहीं है। कृष्ण में ये तीनों गुण--कहें--समान हैं; बराबर मात्रा में हैं। और इसलिए कृष्ण में तीनों बातें पाई जाती हैं। वह जो तामसिक आदमी कर सकता है, कृष्ण कर सकते हैं। वह जो राजसिक आदमी कर सकता है, कृष्ण कर सकते हैं। वह जो सात्त्विक आदमी कर सकता है, कृष्ण कर सकते हैं।

अपने कृष्ण का एक नाम सुना है: रणछोड़दास। हिन्दू बहुत अदभुत हैं। वे इसको बड़े आदर से लेते हैं। रणछोड़दासजी के मन्दिर हैं जगह-जगह। रणछोड़दास का मतलब है: भगोड़ा; युद्ध को छोड़कर भागा हुआ। पर उसको भी हम कहते हैं: रणछोड़दासजी! युद्ध को जिसने पीठ दिखा दी--वह रणछोड़ है।

कृष्ण का पूरा व्यक्तित्व त्रिवेणी है। उसमें नाच-रंग है -- जो अकसर तामसी व्यक्ति में होता है। मौज है, उल्हास है। उसमें बड़ा वीर्य भी है। संघर्ष की क्षमता है, युद्ध की कुशलता है--जो कि राजसी व्यक्ति में होती है। उसमें बड़ी सात्त्विकता है, बड़ी शुद्धता है। बच्चे जैसी शुद्धता और निर्दोषता है। लेकिन यह सब इकट्ठा है। इसलिए कृष्ण बेबूझ हो जाते हैं और पहेली हो जाते हैं।

बुद्ध पहेली नहीं हैं। अगर आपके पास थोड़ी भी अकल है, तो बुद्ध का पाठ खुला हुआ है। पहेली कुछ भी नहीं है। महावीर में कोई पहेली नहीं, कोई रहस्य नहीं। बात सीधी-साफ है। दो और दो चार -- ऐसा गणित है।

लेकिन कृष्ण का मामला बहुत उलझा हुआ है। क्योंकि तीनों गुण हैं और तीनों समतुल हैं। और इसलिए कृष्ण हमें धोखेबाज भी लगते हैं; झूठ भी बोलते लगते हैं; वचन देते हैं, तोड़ते लगते हैं।

ऐसा समझें कि कृष्ण एक व्यक्ति नहीं हैं। तीन व्यक्ति हैं। तो जैसे तीन व्यक्तियों का जीवन, तीन तरह से चलता रहेगा -- ऐसा कृष्ण के भीतर तीन धाराएँ इकट्ठी चल रही हैं।

कृष्ण एक त्रिवेणी हैं। और इसलिए जो भी कृष्ण को गणित में बिठालना चाहेगा, वह कृष्ण के साथ अन्याय करेगा।

इसलिए कुछ हैं, जो गीता के कृष्ण को पूजते हैं; भागवत का कृष्ण उन्हें प्रिय नहीं। वे उसको छोड़ देते हैं। वे कहते हैं : यह कवियों की कल्पना है। ये असली कृष्ण नहीं हैं।

कुछ हैं, जो गीता के कृष्ण की फिक्र ही नहीं करते। उनको भागवत का कृष्ण प्यारा है। स्त्रियाँ स्नान कर रही हों, तो उनके कपड़े चुराकर झाड़ पर बैठ सकते हैं।

कृष्ण एक पहेली हैं, क्योंकि यह तीनों गुण उनमें समान हैं। और तीनों गुणों के रंग उनके व्यक्तित्व में हैं। ये तीनों स्वर उनके साथ एक साथ बज रहे हैं। यह व्यक्तित्व की बात है।

अनुभव तो तीनों के पार का होगा। बुद्ध को भी जो मिला है, वह भी तीनों गुणों के पार उन्होंने जाना है। महावीर ने भी, मोहम्मद ने भी, जीसस ने भी, लाओत्से ने भी, कृष्ण ने भी।

अनुभूति तो तीनों गुणों के पार है, गुणातीत है। लेकिन जो व्यक्तित्व हमारे पास है, उससे अनुभूति प्रकट होगी।

महावीर, बुद्ध, लाओत्से के पास एक ढंग के व्यक्तित्व हैं, इकहरे व्यक्तित्व हैं। कृष्ण के पास तेहरा व्यक्तित्व है। इसलिए कृष्ण का संगीत थोड़ा उलझा हुआ है। और उसे सुलझाने के लिए बड़ी कुशल आँख, बड़ी गहरी आँख चाहिए। नहीं तो

फिर कृष्ण के साथ अन्याय हो जाना सुनिश्चित है।

● एक प्रश्न और। आपने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मुक्ति स्वयं खोजनी होगी और यही मुक्ति या स्वतंत्रता की गरिमा भी है। अन्यथा स्वतंत्रता झूठी व व्यर्थ हो जाएगी। इस दृष्टि से कृष्ण का या आपका यह कहना कि समर्पण करो और मैं बदल दूंगा, मुक्त कर दूंगा, कहाँ तक उचित है?

कृष्ण अर्जुन को कहते हैं : 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज — सब धर्म छोड़, तू मेरी शरण में आ। मैं तुझे मुक्त कर दूंगा।'

इससे स्वभावतः मन में प्रश्न उठेगा कि एक ओर मैंने कहा कि निर्णय अंतिम आपका है। आपकी पूरी स्वतंत्रता है और यही आपके जीवन की गरिमा है कि कोई आपको जबरदस्ती मोक्ष में प्रवेश नहीं करवा सकता; कृष्ण भी नहीं करवा सकते। इसीलिए तो कहना पड़ रहा है : 'सर्व धर्मान् परित्यज्य'। कृष्ण भी जबरदस्ती अर्जुन को मुक्ति नहीं दे सकते। कृष्ण भी कह रहे हैं कि तू पहले सब समर्पण कर। समर्पण का निर्णय अर्जुन को लेना पड़ेगा। और वह समर्पण का निर्णय अर्जुन ले, तो कृष्ण कुछ कर सकते हैं।

समर्पण का निर्णय बहुत बड़ा निर्णय है, सबसे बड़ा निर्णय है। इस जगत् में सब निर्णय छोटे हैं। किसी के हाथ में मैं अपने को पूरा सौंप दूं -- यह बड़े से बड़ा निर्णय है। इससे बड़ा और कोई निर्णय नहीं है।

ध्यान रहे : समर्पण सबसे बड़ा संकल्प है। उलटा लगता है। क्योंकि हम सोचते हैं : संकल्प का तो अर्थ ही होता है -- अपने पर निर्भर रहना। और समर्पण का अर्थ है -- दूसरे पर सब छोड़ देना। लेकिन छोड़ने की घटना अगर आप कर सकते हैं, तो उसका मतलब है : आप एकजुट हो गए हैं, आप इकट्ठे हैं। आप अपने को छोड़ सकते हैं।

छोड़ वही सकता है -- जो अपना मालिक हो। जो संकल्पवान हो — वही समर्पण कर सकता है। हर कोई समर्पण नहीं कर सकता। कमजोर, नपुंसक के लिए समर्पण का मार्ग नहीं है। कायर के लिए समर्पण का मार्ग नहीं है — जो कहे कि हाँ, हम बिलकुल तैयार हैं। कहने से तैयारी नहीं होती। यह अर्जुन ही कर सकता है।

इसलिए कृष्ण ने अगर अर्जुन से कहा कि तू सब छोड़ दे, तो सोचकर कहा है। यह क्षत्रिय है; संकल्प ले सकता है; समर्पण का भी ले सकता है।

जापान में क्षत्रियों की एक जमात है — समुराई। समुराई जापान के क्षत्रिय हैं -- शुद्धतम -- जो सिर्फ लड़ना ही जानते हैं। मगर लड़ने के पहले उन्हें एक कला सिखाई जाती है, जो दुनिया में कहीं भी नहीं सिखाई जाती। और उस कला के कारण समुराई का कोई मुकाबला नहीं है।

इसके पहले कि उन्हें सिखाया जाय कि दूसरों को कैसे मारो; समुराई को सिखाया जाता है कि तुम अपनी आत्महत्या कैसे कर सकते हो। और जब तक तुम कुशल नहीं हो अपने को मारने में, तब तक तुम दूसरे को मारने के हकदार नहीं हो। पहले तुम ठीक से तैयार हो जाओ -- अपने को मिटाने के लिए।

तो समुराई पहले सीखता है -- आत्महत्या -- हाराकिरी। बड़ा गहरा उसका गणित है।

ठीक नाभि के दो इंच नीचे हारा नाम का केन्द्र है, जो कि योगियों की खोज है। उस हारा नाम के केन्द्र पर जरा-सी भी चोट छुरे की हो जाय, कि शरीर से आत्मा अलग हो जाती है -- बिना किसी पीड़ा के। इसलिए समुराई का लक्षण यह है कि जब वह छुरा मार कर अपनी हत्या करता है, तो उसके चेहरे पर पीड़ा का एक भाव भी नहीं होना चाहिए -- मरने के बाद भी -- उसकी लाश पर भी। अगर पीड़ा का जरा भी भाव है, तो वह चूक गया। वह समुराई नहीं था। उसे मरने की कला नहीं मालूम थी। उसने छुरा कहीं और मार लिया।

ठीक नाभि के नीचे जीवन का स्रोत है, उस स्रोत की बिलकुल बारीक धारा है। उस धारा को तोड़ देते से ही जीवन -- शरीर और आत्मा का -- अलग-अलग हो जाता है -- जरा-सी पीड़ा के बिना।

समुराई के चेहरे पर कोई भाव भी नहीं आता -- दुःख का, विषाद का। वह वैसे ही प्रफुल्लित और ताजा होता है, जैसा जीवित था। आपको लगे कि सिर्फ सो गया है।

पहले समुराई को सिखाते हैं : खुद को मिटाने की कला और तब उसे कहते हैं कि अब तू युद्ध में जा; अब तुझे कोई भय न पकड़ सकेगा; क्योंकि तूने मृत्यु भी सीख ली; और मृत्यु के माध्यम से तूने आत्मा को जानने का द्वार भी सीख लिया; शरीर से अलग आत्मा को करने का मार्ग भी सीख लिया।

यह अर्जुन समुराई जैसा क्षत्रिय है। यह अपने जीने के लिए सबको मार भी सकता है। और जरूरत हो, इसे जीवन व्यर्थ मालूम पड़े, तो एक क्षण में अपने को समाप्त भी कर सकता है।

इस अर्जुन से कृष्ण कह रहे हैं कि तू सब छोड़ दे। यह छोड़ सकता है। यह क्षत्रिय है। सब -- इसमें कुछ हिसाब नहीं रखना है कि कितना! कुछ पीछे अपने को बचा नहीं लेना है। क्योंकि समर्पण आधा नहीं हो सकता; पूरा ही होगा।

पूरा समर्पण महान संकल्प है। यह खयाल में भी लेना कि मैं किसी के हाथ में अपना पूरा भविष्य सौंपता हूँ -- अपना पूरा जीवन सौंपता हूँ, और जो भी हो परिणाम, मुझे स्वीकार है. . . । अब इसको वापस नहीं ले सकूँगा।

समर्पण वापस नहीं लिया जा सकता। यह आखिरी निर्णय है -- जो आदमी ले सकता है।

ध्यान रहे : कृष्ण थोड़े ही रूपान्तरण करेंगे। इस समर्पण के करने की प्रक्रिया में रूपान्तरण हो जाएगा। इतने सहज भाव से जो मिटने को राजी है, वह रूपान्तरित हो गया।

इसलिए दूसरी जो बात है कृष्ण की--कि 'मैं तुझे बदल दूँगा। तू सब समर्पण कर।' दूसरी बात तो सहज परिणाम है। कृष्ण को कुछ करना नहीं पड़ेगा। कृष्ण कुछ कर भी नहीं सकते। करने का कोई उपाय भी नहीं है। बस, यह अर्जुन को समझ में अगर आ जाय--कि यह सब छोड़ने को राजी हो जाय. . . ।

तो यह बड़े मजे की बात है : जब भी कोई सब छोड़ने को राजी हो जाता है, तो उसके जीवन की सब पीड़ा, सब दुःख, सब तनाव विदा हो जाते हैं। क्योंकि सब छोड़ने का मतलब है : अहंकार छोड़ना। और मैं ही, मेरा अहंकार ही, सारे उपद्रव की जड़ है। वह जड़ कट जाती है। कटते ही आदमी आत्मज्ञान को उपलब्ध हो जाता है।

गुरुओं ने कहा है कि सब छोड़ दो, हम तुम्हें बदल देंगे। बदलने की कोई जरूरत नहीं पड़ती। और आप अगर जाकर पूछें कि मैंने सब छोड़ दिया; मैं अभी तक नहीं बदला? तो उसका सिर्फ मतलब इतना है कि आपने कुछ छोड़ा नहीं। और कुछ भी मतलब नहीं है। नहीं तो दूसरी घटना तो अनिवार्य है।

उस दूसरी घटना को करने के लिए गुरु को कुछ करना नहीं पड़ता है। वह समर्पण का सहज फल है।

पर निर्णय अंततः आपका है। स्वतंत्रता आपकी है। उसे कोई भी नहीं छीन सकता।

और जब आप छोड़ते हैं, तो यह आपकी स्वतंत्रता का कृत्य है। जब आप कहते हैं : मैं छोड़ता हूँ सब चरणों में, तो यह आपकी स्वतंत्रता का आखिरी कृत्य है। इस कृत्य के परिणाम में मुक्ति फलित होती है।

कृष्ण तो सिर्फ केटेलिटिक एजेंट हैं, वे तो सिर्फ एक बहाना हैं। तो इसलिए कोई असली कृष्ण को भी खोजने की जरूरत नहीं है। मन्दिर में खड़े कृष्ण के सामने भी आप सब छोड़ दें, तो यही घटना घट जाएगी। हालाँकि वहाँ कोई भी नहीं खड़ा है।

यह घटना कहीं भी घट सकती है। यह घटना आपके छोड़ने पर निर्भर है। किस पर आप छोड़ते हैं--यह बात गौण है। इसलिए जीसस पर कोई छोड़े, कृष्ण पर कोई छोड़े, बुद्ध पर कोई छोड़े--कोई फर्क नहीं पड़ता। किस पर छोड़ा--यह गौण है। छोड़ा--तत्क्षण आप दूसरे हो जाते हैं। नये का जन्म हो जाता है।

समर्पण पुनर्जन्म है--शरीर में नहीं--परमात्मा में। वह जीवन की धारा का पूरी तरह से ब्रह्म की तरफ उन्मुख हो जाना है।

अब हम सूत्र को लें।

'हे अर्जुन, तमोगुण के बढ़ने पर अंतःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश एवं कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद और निद्रादि अंतःकरण की मोहनी वृत्तियाँ--ये सब उत्पन्न हो जाती है।'

एक-एक गुण का लक्षण कृष्ण गिना रहे न हैं।

ठीक से समझें : तमोगुण के बढ़ने पर जीवन में अप्रकाश, अँधेरा मालूम होने लगता है।

मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं; हम पढ़ते हैं शास्त्रों में कि 'भीतर देखो, वहाँ परम ज्योति जल रही है। हम भीतर देखते हैं, वहाँ सिर्फ अंधकार है!' परम ज्योति निश्चित ही वहाँ जल रही है। जिन्होंने कहा है, उन्होंने देख कर ही कहा है। पर आप जब तक तमस से घिरे हैं, तब तक आप जहाँ भी देखें, वहीं अँधकार पायेंगे। भीतर देखें, तो अँधकार पायेंगे; बाहर देखें, तो अंधकार पायेंगे।

जीवन में तलाश करें, तो आपको लगेगा : सब अँधेरा है। क्या फायदा है! इस जीवन का क्या हो रहा है? कहाँ मैं पहुँच रहा हूँ? यह सब अंधे की तरह चल जा रहा है।

हर आदमी, जिसमें थोड़ा भी विचार है, विचारेगा, तो फौरन पायेगा : चारों तरफ गहन अंधकार है। और इस अंधकार से कोई छुटकारा नहीं दिखता। और दीये वगैरह की बातचीत ही बातचीत मालूम होती है। कहीं कोई दीया नहीं दिखाई पड़ता; कहीं कोई प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता।

वह अहंकार तमोगुण के कारण है। और जब तमोगुण बढ़ेगा, तो अंधकार बढ़ेगा। इसलिए आपकी जिन्दगी में भी अंधकार की तारतम्यता होगी। जब आप किसी सात्त्विक वृत्ति में डूब जाते हैं, तो आपकी जिन्दगी में भी एक आलोक आ जाता है। कभी छोटे से कृत्य में भी यह घटना घटती है।

आप राह से गुजर रहे हैं : किसी का एक्सिडेन्ट हो गया। कोई राह पर नीचे गिर पड़ा। आप अपना काम छोड़कर उस आदमी को उठा लिए। आपके भीतर का तमस तो कहेगा कि किस झंझट में पड़ रहे हो। पुलिस थाने जाना पड़े; अस्पताल जाना पड़े। और पता नहीं कोई उपद्रव इसमें आ जाय।

आपके भीतर का तमस तो कहेगा कि रास्ते पर अपने चलो। समझो कि, तुमने देखा ही नहीं। तुम्हारा कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन अगर उस तमस का आपने साथ न दिया, सहयोग न दिया और मन में उठी सत्त्व की वृत्ति का सहयोग

किया; उस व्यक्ति को उठा लिया, चाहे थोड़ी झंझट हो। झंझट संभव है। झंझट नहीं होगी--ऐसा भी नहीं। थोड़ी परेशानी हो। अपना काम छोड़कर किसी दूसरे काम में उलझना पड़े। लेकिन अगर आपने उठा लिया, तो उस क्षण में आप अपने भीतर, अगर ध्यान करेंगे, तो आप पायेंगे कि कहाँ धीमा प्रकाश है।

जीसस ने कहा है, अपने अनुयायियों से, कि इसके पहले कि तुम प्रभु मन्दिर में प्रार्थना करने आओ, सोच लो, तुमने किसी का बुरा तो नहीं किया है! अगर किसी का बुरा किया है, तो जाओ, उसे ठीक कर आओ। अगर तुमने किसी को गाली दी है, तो क्षमा माँग आओ--तभी तुम प्रार्थना में उतर सकोगे। क्योंकि अगर तमस मन में लिए हुए कोई मन्दिर में गया, तो भीतर अंधकार होगा; प्रकाश का पता नहीं चलेगा।

सच तो यह है कि मन्दिर जाने के पहले आपको अपने सत्त्व को जगा लेना चाहिए, तो ही मन्दिर में जाने की कोई सार्थकता है।

कुछ करें, जिससे सत्त्व जगता हो। सत्त्व जग जाय, तो प्रार्थना आसान हो जाएगी। सत्त्व जग जाय, तो आँख बंद करने से भीतर हलका प्रकाश मालूम होगा। यह हलका प्रकाश कोई प्रतीक नहीं है। यह वास्तविक घटना है। आप चौबीस घंटे इसका अनुभव करें। जब मन क्रोध से भरा हो, तब आँख बंद कर के देखें। तब आप पायेंगे : भीतर बहुत घना अंधकार है। जब मन दया और करुणा से भरा हो, तब आँख बंद कर के देखें। तब आप पायेंगे : भीतर थोड़ी रोशनी है। और जब मन ध्यान से भरा हो तब भीतर देखें, तो पायेंगे : विराट् प्रकाश है : कबीर ने कहा है : हजार-हजार सूरज जैसे एक साथ जल गए। कबीर ने कहा है कि अब तक जिसे हमने प्रकाश समझा था, अब वह अँधेरा मालूम होता है--भीतर का प्रकाश जब से देखा। यह प्रकाश हमें नहीं मिलता। क्योंकि इस प्रकाश को देखने के लिए सत्त्व की आँख चाहिए।

कृष्ण कह रहे हैं : 'तमोगुण के बढ़ने पर अंतःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश...।' अंतःकरण में अँधेरा और इन्द्रियों में भी अँधेरे का एक बोध होगा।

जब तम बढ़ेगा, तो आप अपने शरीर में भी पायेंगे कि एक बोझिलता है। आप पायेंगे कि जैसे शरीर वजनी है। जब आप सत्त्व वृत्ति से भरे होंगे, तो पायेंगे कि शरीर हलका है; आलोकित है। आप उछलते हुए चल रहे हैं। जैसे जमीन की कशिश कम काम करती है। जैसे आप पर उसका कोई प्रभाव नहीं है।

और योगियों को निरंतर अनुभव हुए हैं; और जो भी लोग ध्यान में बैठते हैं, उनको भी अनुभव होते हैं। ध्यान करते करते अचानक ऐसा लगता है कि जमीन से उठ गए। जरूरी नहीं कि आप उठ गए हों। आँख खोलकर पाते हैं कि जमीन पर बैठे हुए हैं। लेकिन आँख बंद कर के लगता है, जमीन से उठ गए। वह अनुभव

वास्तविक है। वास्तविक इस अर्थ में नहीं है कि आप जमीन से उठ गए। वास्तविक इस अर्थ में है कि भीतर आप इतने हलके हो जाते हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जमीन से हट गए हों। और कभी-कभी यह घटना इतनी गहरी घटती है कि वस्तुत: शरीर जमीन से ऊपर उठ जाता है।

योरोप में एक महिला का बहुत अध्ययन चल रहा है, जो चार फीट जमीन से ऊपर अपनी ध्यान की अवस्था में उठ जाती है। जब भी वह ध्यान करती है, बस धीरे-धीरे, धीरे-धीरे शरीर उसका चार फीट ऊपर चला जाता है। उस पर बड़ा वैज्ञानिक अध्ययन चल रहा है। क्योंकि यह प्रकृति का गहरे से गहरा नियम है--जिसकी विपरीतता हो गई।

जमीन खींच रही है हर चीज को। और बिना किसी साधन के किसी का ऊपर उठ जाना...। लेकिन योग की पुरानी सिद्धियों में उसका उल्लेख है। निरंतर योगियों को अनुभव हुआ है। और ऐसा तो किसी को भी अनुभव होता है, जो भी थोड़ा हलका होता है, भीतर प्रकाश भरता है, उसको लगता है कि जमीन छूट गई, जैसे वह उड़ जाएगा। उड़ने का भाव पैदा हो जाता है। वह हलकेपन के कारण है।

इन्द्रियाँ और अंत:करण दोनों अप्रकाश से भरते हैं तमोगुण के कारण। और कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति हो जाती है। कर्तव्य कर्म का अर्थ है : जिसको करना जरूरी था।--अनेक कारणों से...। माँ बीमार है, उसके लिए दवा ले आना जरूरी था। जिसने जीवन दिया है, उसके जीवन की थोड़ी चिंता और फिक्र एकदम स्वाभाविक है। लेकिन तमस से भरा हुआ व्यक्ति उसमें भी आलस्य करेगा। वह सोचेगा; हजार तरकीबें मन में सोचेगा। न करने के उपाय सोचेगा। वह यह भी सोच सकता है कि यह बीमारी कोई खतरनाक थोड़ी ही है। वह यह भी सोच सकता है कि 'डॉक्टर कहाँ ठीक कर पाते हैं! सब प्रभु की कृपा से ठीक होता है।' वह यह भी सोचेगा कि 'भाग्य में ठीक होना होगा, तो हो ही जाएगी। नहीं होना होगा, तो कुछ किया नहीं जा सकता।' वह सब बातें सोचेगा।

अकसर तामसी वृत्ति के लोग भाग्य की बातें सोचते हैं; भगवान् की बातें सोचते हैं--सिर्फ अपने को बचाने के लिए। यह भगवान् और भाग्य कोई उनके जीवन की क्रान्ति नहीं है। यह सिर्फ पलायन और बचाव है।

मेरे पास लोग आते हैं, मुझसे एक सवाल करीब-करीब लाखों लोग पूछते हैं। वह सवाल है कि पुरुषार्थ बड़ा या भाग्य? और मैंने यह अनुभव किया है कि अगर उनको समझाओ कि पुरुषार्थ बड़ा, तो वे प्रसन्न नहीं होते। अगर उनको समझाओ कि भाग्य बड़ा, तो बड़े प्रसन्न लौटते हैं।

मैंने दोनों बातें करके देखी हैं। और कई बार एक ही आदमी पर दोनों बातें

करके देखी हैं। दो-तीन महीने बाद वह फिर आ जाता है! उसको मैंने समझाया था : पुरुषार्थ बड़ा; वह उसको जँचा तो नहीं, मगर वह मुझसे ज्यादा वाद-विवाद भी नहीं कर सका, तो चला गया। मगर खिन्न गया। फिर दो-चार महीने बाद भूल गया कि वह मुझसे पूछ चुका है। फिर आकर पूछ लेता है--पुरुषार्थ बड़ा कि भाग्य? अब मैं उससे कहता हूँ : 'भाग्य ही बड़ा है; पुरुषार्थ में क्या रखा है?' वह कहता है, 'बिलकुल ठीक है।' इसलिए नहीं कि उसको बात समझ में आ गई।

भाग्य तो उसको ही समझ में आ सकता है, जो अहंकार से मुक्त हो जाय; उसके पहले समझ में नहीं आ सकता। क्योंकि भाग्य का मतलब है : अब मैं नहीं हूँ; विराट् है। मेरे किये कुछ न होगा, क्योंकि मैं हूँ ही नहीं। अगर हूँ, तो मेरे किये कुछ हो सकता है। मैं हूँ ही नहीं। विराट का कर्म है, उसमें मेरी कोई सत्ता नहीं है।

भाग्य का मतलब है : मैं नहीं हूँ, ब्रह्म है। यह तो बड़े ज्ञान की बात है; समाधि में फलित होती है। लेकिन यह जो आदमी भाग्य से प्रसन्न होता है, वह तामसी है। वह असल में यह कह रहा है कि 'अपने किये तो कुछ हो नहीं सकता, इसलिए क्यों करो।' बैठा है।

और ऐसा नहीं है कि सभी कर्म छोड़ देगा। सिर्फ कर्तव्य कर्म छोड़ देगा। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

कृष्ण कहते हैं, कर्तव्य कर्म छोड़ देगा। घर में आग लग जाय, तो नहीं बैठा रहेगा कि जब भाग्य में है...। माँ बीमार हो, तो कहेगा, 'सब भाग्य से होता है।' पिता भूखा मर रहा हो, तो सोचेगा, 'क्या किया जा सकता है! अपने-अपने कर्मों का फल है। सबको भोगना पड़ता है।' लेकिन घर में आग लग जाय, तो यह सब से पहले भाग कर खड़ा बाहर हो जाएगा। तब यह यह न सोचेगा कि बचना होगा, तो बचेंगे। जलना होगा तो जलेंगे। जाना कहाँ है; आना कहाँ है?

कर्तव्य जहाँ है, वहाँ यह तमस वृत्ति से भरा हुआ व्यक्ति कर्तव्य को काटेगा और जहाँ वासना है, वहाँ नहीं काटेगा। और यह सब तरकीबें खोजेगा।

मैं एक घटना पढ़ रहा था। तीन यहूदी चर्चा कर रहे थे। और चर्चा थी कि किसका मन्दिर प्रोग्रेसिव है, किसका मन्दिर प्रगतिशील है; किसका सिनागॉग सबसे ज्यादा आधुनिक है।

धार्मिक लोगों में ऐसी चर्चा चलती है। और धार्मिक लोग निरंतर सोचते हैं कि धर्म को आधुनिक होना चाहिए, आज के अनुकूल होना चाहिए। बड़े व्याख्यान बड़ी किताबें लिखी जाती हैं कि धर्म को नया करो। इसकी भी फिक्र नहीं होती कि धर्म नया-पुराना कैसे हो सकता है।

पहले यहूदी ने कहा कि 'मेरे मन्दिर से ज्यादा प्रगतिशील किसी का भी मन्दिर

नहीं है।' पूछा दूसरे ने कि 'क्या कारण है!' तो उसने कहा, 'हमने जहाँ तोरा रखा है, जहाँ हमारी धर्म पुस्तक रखी है, उसी के बगल में ऐश ट्रे भी रख दी है कि कोई सिगरेट भी पीना चाहे, तो पी सकता है। राख झड़ा सकता है और किताब भी पढ़ सकता है। यह प्रगतिशीलता है हमारी।'

दूसरे ने कहा कि 'यह कुछ भी नहीं, क्योंकि हमने हमारे मन्दिर में टी.व्ही. सेट का भी इन्तजाम कर दिया है। ऐश ट्रे तो बहुत पहले से रखी है। शराब भी उपलब्ध है। नाच-गाने का भी पूरा इन्तजाम है। तोरा पढ़ना हो, तो पढ़ो। न पढ़ना हो, तो वह भी कोई मजबूरी नहीं है। नाच-गा सकते हो; टी. व्ही. देख सकते हो। हमारा मन्दिर बिलकुल आधुनिक है।'

तीसरे ने कहा, 'यह सब कुछ भी नहीं है।' तब योम किप्पूर के दिन थे; यहूदियों के धार्मिक दिन थे। तभी यह चर्चा चल रही थी। तीसरे ने कहा, 'हमने अपने मन्दिर पर एक तख्ती लगा दी है: क्लोज्ड बिकॉज ऑफ द होली डैज—पवित्र दिनों के कारण बंद। क्योंकि लोग मनायें पवित्र दिन कि मन्दिर आयें! लोग मजा करें कि मन्दिर आयें!' वह मन्दिर पवित्र दिनों के लिए बनाया हुआ है, उस पर तख्ती लगा दी। उसने कहा, 'यह आखिरी वक्तव्य है। अब इससे ज्यादा प्रगतिशील और कुछ हो भी नहीं सकता।'

आदमी बहुत बेईमान है। वह सभी अच्छे शब्दों के पीछे अपनी गलतियों के सहारे खोज लेता है। प्रगतिशील के पीछे सब तरह की ना-समझियाँ खोज लेता है। भाग्य के पीछे वह सब तरह के आलस्य को छिपा लेगा। परमात्मा के नाम पर सब तरह के तमस को लेकर बैठ जाता है।

कृष्ण कहते हैं, जब तमस बढ़ता है, उसका घनीभूत रूप होता है मन में, तो कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद होता है।

'निद्रादि अंतःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ—ये सभी उत्पन्न होती है।'

और ज्यादा नींद आती मालूम पड़ती है। नींद का मतलब इतना ही है कि वह ज्यादा सोया रहता है। हर चीज में जागा हुआ नहीं रहता; सोया-सोया रहता है। गीता भी पढ़ेगा, तो ऐसे पढ़ रहा है, जैसे नींद में पढ़ रहा हो। सुन भी रहा है, तो ऐसे सुन रहा है, जैसे सोया हो और सुन रहा है।

धार्मिक मन्दिरों में सभाओं में जा कर देखें; लोग सोये हैं। कुछ डॉक्टर तो कहते हैं कि नींद न आती हो, तो धार्मिक सभाओं में जा कर बैठें। वहाँ निश्चित आ जाती है। जिस पर ट्रैंक्वेलाइजर भी सफल नहीं होता, उसको भी आ जाती है। राम की कथा सुनो, एकदम नींद आने लगती है!

एक आलस्य है, जो मन को पकड़े हुए है सब तरफ।... निद्रा बढ़ती है; मोहिनी

वृत्तियाँ पैदा होती हैं।

मोहिनी वृत्ति का अर्थ है: उस चीज में ज्यादा मन लगता है, जहाँ बेहोशी बढ़े—शराब हो, नाच हो, संगीत हो, काम-वासना हो—जहाँ भी निद्रा बढ़े, जहाँ भी जागरण की कोई जरूरत न हो, वहाँ-उस तरफ जाने का भाव प्रवाहित होता है।

'जब यह जीवात्मा सत्त्व गुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालों के मलरहित अर्थात् दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है।'

और जब जीवन भर के अंत में जीवन का सारा निचोड़ और सार है...। मृत्यु के क्षण में आपने जीवन में जो भी कमाया है, वह सारभूत—सब आणविक होकर आपके साथ खड़ा हो जाता है।

अगर कोई व्यक्ति जीवन भर तमस से भरा रहा है, तो मरने के पहले बेहोश हो जाता है। अधिक लोग मरने के पहले बेहोश हो जाते हैं। मृत्यु होश में नहीं घटती। जो जिये ही नहीं होश में, वे मर कैसे सकते हैं। सिर्फ सत्त्व प्रधान व्यक्ति ही मरते वक्त होश से भरे होते हैं। वह लक्षण है कि उसने जीवन में जागा हुआ होने का, अप्रमाद में रहने का प्रयास किया, तो मृत्यु जागते घटती है। वह मृत्यु को देख पाता है, वह अमृत हो जाता है।

रजोगुण से भरा हुआ व्यक्ति मृत्यु के क्षण में भी जीवन की सोचता रहता है। वह तब भी सोचता रहता है कि कितने काम अधूरे रह गए। थोड़ा मौका मिल जाय, तो यह भी पूरे कर लूं। वह कभी यह नहीं सोचता कि सब भी पूरे कर के क्या होगा? और काम तो अधूरे रह ही जाएँगे। क्योंकि वासनाओं का कोई अंत नहीं है। कभी भी करो, कितना ही करो, आधे में ही मरना पड़ेगा।

कोई भी आदमी पूर्ण विराम पाकर नहीं मर सकता—कि सब काम पूरे हो गए, सब वासनाएँ तृप्त हो गईं; जो करना था सब कर लिया, अब जीने का कोई कारण नहीं। नहीं; कोई आदमी ऐसा नहीं मर पाता। कुछ न कुछ बाकी रहेगा ही। और जैसे-जैसे मौत करीब आती है, वैसे-वैसे लगता है कि बहुत बाकी रह गया। समय कम—और करने को ज्यादा; और करने की क्षमता रोज क्षीण होती चली जाती है।

तमोगुण से भरा हुआ व्यक्ति मरते वक्त बेहोश हो जाता है। रजोगुण से भरा हुआ व्यक्ति मरते वक्त भी मन में क्रियाएँ जारी रखता है। सत्त्वगुण से भरा हुआ व्यक्ति मरते वक्त शांत जागरूकता में मरता है, होशपूर्वक मरता है। इन तीनों के परिणाम होंगे आने वाले जीवन पर।

जो सत्त्वगुण की स्थिति में मृत्यु को उपलब्ध होगा, कृष्ण कहते हैं, वह दिव्य स्वर्गादिक लोकों में प्रवेश कर जाता है। सत्त्व की स्थिति में जो मरता है, वह परम

सुख की अवस्था में प्रवेश कर जाता है ।

स्वर्ग परम सुख की अवस्था है, लेकिन ध्यान रखें : अंतिम अवस्था नहीं है । सुख की ही अवस्था है; आनन्द की अवस्था नहीं है । और आनन्द और सुख में इतना ही फर्क है कि सुख की अवस्था शाश्वत नहीं है, समाप्त होगी । और आनन्द की अवस्था शाश्वत है, समाप्त नहीं होगी । सुख की अवस्था के बाद फिर दुःख आयेगा ।

जैसे दिन के बाद रात आती है, ऐसा सुख के बाद फिर दुःख आयेगा । चाहे सुख कितना ही लम्बा हो, लेकिन दुःख से छुटकारा नहीं है । दुःख पीछे खड़ा हुआ प्रतीक्षा कर रहा है । सुख एक कमाई है, जो चुक जाएगी । इसलिए स्वर्ग में गया हुआ वापस लौट आयेगा; कितने ही समय के बाद, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । वापस लौटना सुनिश्चित है ।

सुख अंतिम नहीं है । उसके साथ दुःख जुड़ा है । आनन्द अंतिम है । उसके साथ फिर कुछ भी नहीं जुड़ा है । जो आनन्द में प्रविष्ट हो गया, उसका पुनरागमन नहीं है; वह वापस नहीं लौटता । सत्त्व की स्थिति में मरा हुआ व्यक्ति स्वर्ग में प्रवेश पाता है ।

जिसने जीवन भर साधुता साधी हो, सत्त्व को जगाया हो, होश को निर्मित किया हो, वह स्वर्ग में प्रवेश करता है ।

'रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ।' और अगर रजोगुण पीछे पड़ा रहा हो—मरते क्षण में भी योजनाएँ बनती रही हों—फाईव ईयर प्लान तैयार होते रहे हों—तो ऐसा आदमी मर के कर्मों की आसक्तिवाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ।

कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्य हैं । कोई धन के लिए दौड़ रहा है । कोई पद के लिए दौड़ रहा है, कोई प्रतिष्ठा के लिए दौड़ रहा है ।

कुछ करना है उन्हें । कुछ करके दिखाना है—चाहे कोई देखने को उत्सुक हो या न हो; चाहे कुछ करने से फल आता हो, न आता हो । सिकंदर और नेपोलियन सब कर-कर के मर जाते हैं; कुछ परिणाम आता नहीं । लेकिन कुछ करके दिखाना है !

यह जो करने की वृत्ति पैदा होती है, इसके लक्षण माँ के पेट में बच्चा होता है, तब भी दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं । वह जो रजोगुणी बच्चा है, वह माँ के पेट में भी हलन-चलन ज्यादा मचाता है । इसलिए माँ जान जाती है कि पेट में लड़की है कि लड़का है । अगर लड़का है, तो थोड़ा उपद्रव जरा ज्यादा करता है । क्योंकि पुरुष ज्यादा रजोगुण प्रधान है । स्त्री ज्यादा तमोगुण प्रधान है । इसलिए लड़की होती है, तो वह शांत पड़ी रहती है । लड़का होता है, तो वहाँ थोड़ी कुछ क्रान्ति वह

खड़ी करता है । उसमें भी अगर राजनीतिज्ञ होनेवाला हो . . . !

मुल्ला नसरुद्दीन का लड़का था, तो उसके सम्बन्ध में सोचता था कि यह क्या बने, क्या न बने ? तो उसने एक दिन कुरान रख दी, पास में एक सौ एक नोट रख दिया, और एक तलवार रख दी । सोचा : तलवार उठा लेगा—अन्दर जाकर कमरे में—तो समझेंगे : योद्धा बनेगा । कुरान उठा लेगा, तो समझेंगे कि धर्मगुरु, पुरोहित, साधु, फकीर बनेगा, धर्म की यात्रा पर जाएगा । सौ का नोट उठा लेगा, तो समझेंगे कि धन, व्यवसाय नौकरी, पेशा—कहीं धन कमाएगा ।

छिपकर देखता रहा । लड़का अन्दर गया । वह नसरुद्दीन का ही लड़का था । उसने कुरान उठाकर बगल में दबाई । सौ का नोट खीसे में रखा; तलवार लेकर चल पड़ा । नसरुद्दीन ने कहा, 'यह राजनीतिज्ञ बनेगा !' उसने कुछ छोड़ा ही नहीं । तीनों चीजें ले गया । वह जो रजोगुण से जो भरा हुआ व्यक्तित्व है. . . ।

जीन पियागे ने बहुत अध्ययन किया है—छोटे बच्चों का—चालीस वर्षों तक निरन्तर; उसका कहना है : पहले दिन से भी लक्षण अलग हो जाते हैं । वह जो तमोगुण प्रधान बच्चा है, वह पड़ा रहता है । माँ के पेट से जन्म के बाद भी वह तेईस घंटे, बाईस घंटे सोता है । वह जो रजोगुण प्रधान है, वह हाथ-पैर चलाने लगता है, चीजों को पकड़ने की कोशिश शुरू कर देता है । चीखता-चिल्लाता है । वह खबर देता है कि मैं हूँ । मेरी तरफ ध्यान दो । उसके चीखने-चिल्लाने का मतलब है कि क्या, मेरी तरफ कोई ध्यान नहीं दे रहा ? ध्यान दो । मैं भी यहाँ हूँ !

वह जो सत्त्वगुण प्रधान है, अकसर उसकी आँखें खुल जाएँगी और एकटक एक तरफ देखता रहेगा । उसने ध्यान के कुछ प्रयोग पिछले जन्मों में साधे हों । तो उसकी आँखें अकसर एक टक, एक जगह उलझ जाएँगी । चीजों में उसका रस नहीं होगा । इधर से उधर, यह देखना, वह देखना नहीं । यह पकड़ना, वह पकड़ना नहीं । शरीर उसका शांत होगा और आँखें स्थिर होंगी । उसकी आँखों की थिरता कहेगी कि भीतर एक सात्त्विकता है ।

मरते वक्त हम अपना अगला जन्म निश्चित कर रहे हैं । जो गुण सघन हो जाता है, वही हमें अगले जन्म की यात्रा पर भेद पैदा करता है ।

'रजोगुण के बढ़ने पर मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ।'

आपने नाम सुना डिजरायली का । छोटा बच्चा था, तो कुछ भी उपद्रव करने की वृत्ति थी । कोई उस पर ध्यान न दे, तो बहुत अड़चन हो जाती थी । घर में कोई मेहमान आ जाय, तो वह जरूर कोई उपद्रव खड़ा कर देता था । माँ-बाप परेशान थे, क्योंकि घर में कोई न हो, तो वह ठीक रहता था । लेकिन मेहमान आयें, तो वह

कुछ उपद्रव खड़ा कर देता था। क्योंकि मेहमानों का ध्यान किसी और पर नहीं होना चाहिए; उस पर होना चाहिए।

और एक बार तो वह चर्च पर चढ़ गया और जहाँ चर्च का त्रिशूल लगा था ऊपर, उससे जाकर अटक गया। सारा गाँव इकट्ठा हो गया। और लोग चिल्ला रहे हैं कि तू उतर आ वापस। किसी दूसरे की चढ़ने की हिम्मत भी नहीं--उस चर्च की मीनार पर। और वह वहाँ प्रसन्नता से खड़ा है।

जब उसके बाप ने उससे पूछा कि तू चाहता क्या था वहाँ चढ़ कर? उसने कहा, 'क्या चाहता था?—पूरा गाँव देख ले।' वह इंग्लैन्ड का प्रधान मंत्री बना।

लॉर्ड क्लाइव को हिन्दुस्तान भेजा गया था। और कुल कारण इतना था कि माँ-बाप परेशान हो गए थे। उसके उपद्रव से पूरा गाँव परेशान हो गया था। एक बार बाप एक साइकल खरीद लाया क्लाइव के लिए। उसकी माँ ने कहा, 'यह किस लिए लाये हो? क्या इससे इसके उपद्रव कम हो जाएँगे!' उसके बाप ने कहा, 'उपद्रव तो कम नहीं होंगे; क्षेत्र थोड़ा बड़ा हो जाएगा। यहीं-यहीं मोहल्ले में परेशान किये दे रहा है। क्षेत्र जरा बड़ा हो जाएगा। साइकिल हाथ में रहेगी, तो पूरे गाँव को परेशान करेगा। तो थोड़ी मात्रा कम होगी जाएगी। बड़ा क्षेत्र होगा--उपद्रव बँट जाएगा। हम परेशान हो गए। अब कोई और उपाय नहीं।'

गाँव में जोर की वर्षा हुई; पानी भर गया नालियों में, क्लाइव के घर में, और मोहल्ले में सबसे ज्यादा पानी था। और घर में पानी भरने लगा।

सब हैरान हुए कि क्लाइव कहाँ है। वह नाली में लेटा हुआ था—पानी रोके हुए, ताकि वह घर में भर जाय पानी! उसको निकाल के उसके बाप ने फौरन मिलिट्री में भेज दिया। उसने कहा कि 'इसे यहाँ रोकना ठीक नहीं। यह जब तक मरेगा, मारेगा नहीं... । यह तो उपद्रव है।' वह आदमी--लॉर्ड क्लाइव --हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का राज्य जमाने में बड़े से बड़ा आधार सिद्ध हुआ।

रजोगुण से भरा हुआ व्यक्ति कुछ विक्षिप्त कर्मों में दौड़ना चाहता है। अहंकार प्रकट हो कर दिखाई पड़े; अहंकार सूरज की तरह जले --और हजारों लोग देखें, बस, वही उसकी कामना होती है।

'और तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ पुरुष मूढ योनि में उत्पन्न होता है।' मूढ योनि की बड़ी गलत परिभाषाएँ हुई हैं। अनेक गीता के व्याख्याकारों ने मूढ योनि का अर्थ लिया है कि वह पशुओं में चला जाता है। वह गलत है। क्योंकि लौट कर नीचे गिरने का कोई उपाय जगत् में नहीं है। कोई मनुष्य की स्थिति में एक बार आ जाय, तो वापस पशु नहीं हो सकता। क्योंकि वापस पशु होने का मतलब तो यह हुआ कि मनुष्यता तक पहुँचने की जो कमाई थी, उसका क्या होगा?

चेतना कभी पीछे नहीं लौटती; रुक सकती है। आगे न जाय, यह हो सकता है। अवरुद्ध हो जाय, लेकिन पीछे नहीं लौट सकती। एक बच्चा अगर दूसरी कक्षा में आ गया, तो उसका पहली कक्षा में वापस भेजने का कोई उपाय नहीं। वह दूसरी में पचास साल रुके, तो रुक सकता है—कोई हर्जा नहीं है। लेकिन उसको पहली में वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। क्योंकि वह पहली पार कर ही चुका। और जो हम जान चुके, उसे न-जाना नहीं किया जा सकता। जो हम कर चुके, उस अन-किया नहीं किया जा सकता।

इसलिए मेरी दृष्टि में जिन-जिन व्याख्याओं में कहा गया है कि तमस भरा हुआ व्यक्ति पशुओं की योनि में चला जाता है, ये व्याख्याएँ गलत हैं। और जिन्होंने की हैं, वे केवल शब्दों के आधार पर व्याख्याएँ कर रहे हैं।

मूढ-योनि का मतलब है कि मनुष्यों में ही, जैसे कर्म से भरे हुए लोग हैं, सत्त्व से भरे हुए लोग हैं, वैसे ही तमस से भरे हुए लोग हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि पाँच प्रतिशत बच्चे मूढ योनि में हैं —जिनको हम ईडिएट कहें, इम्बेसाइल कहें। पाँच प्रतिशत बच्चे। न कोई बुद्धि है, न कुछ करने का भाव है। अपने जीवन की रक्षा तक की सामर्थ्य नहीं है। जो मूढ बच्चा है—घर में आग लग जाय, तो भाग कर बाहर नहीं जाएगा। उसको यह भी पता नहीं है कि मुझे अपने को बचाना है। इतना भी कर्म पैदा नहीं होता। यह योनि मूढ योनि है। जिसको मनोवैज्ञानिक इडियोसि कहते हैं, उसको ही कृष्ण ने मूढ कहा है।

मूढ का मतलब पशु नहीं है। अगर पशु ही कहना होता, तो पशु ही कह दिया होता, मूढ कहने की कोई जरूरत न थी। पशु मूर्ख नहीं होते, सिर्फ मनुष्य ही मूर्ख हो सकता है।

जो सत्त्व प्रधान हैं, वे भी पाँच प्रतिशत होते हैं। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है। मनोविज्ञान के आधार पर पाँच प्रतिशत लोग टेलेन्टेड होते हैं, प्रतिभाशाली होते हैं। वैज्ञानिक हैं, कवि हैं, दार्शनिक हैं, संत हैं। पाँच प्रतिशत लोग एक छोर पर प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं। और ठीक पाँच प्रतिशत लोग दूसरे छोर पर मूढ होते हैं। बाकी नब्बे प्रतिशत लोग बीच में होते हैं। यह मध्यवृत्तीय, मध्यवर्गीय लोग हैं।

ये जो मध्यवर्गीय लोग हैं, इनमें मूढता भी सम्मिलित है, बुद्धिमता भी सम्मिलित है; ये दोनों का मिश्रण हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि स्थिति करीब-करीब ऐसी है, जैसा शिव का डमरू होता है, उसको हम उलटा कर लें। शिव का डमरू बीच में तो पतला होता है, दोनों तरफ बड़ा होता है। बीच में संकरा हो जाता है। इसको हम उलटा कर लें। दोनों तरफ सँकरा और बीच में चौड़ा, तो दोनों तरफ सँकरे छोरों पर पाँच-पाँच प्रतिशत

लोग हैं। ये जो पाँच प्रतिशत लोग हैं, वे सत्त्व के कारण इस जगत् में प्रतिभा से भरे हुए पैदा होते हैं।

और पाँच प्रतिशत लोग मूढ होते हैं--जिनको कुछ भी होश नहीं; जिनको खाने-पीने का भी होश नहीं, जिनको उठने-बैठने का भी पता नहीं। बाकी लोग बीच में हैं--नब्बे प्रतिशत लोग।

ठीक मध्य में बड़े से बड़ा वर्ग है। करीब पचास प्रतिशत लोग ठीक मध्य में हैं। ये पचास प्रतिशत लोग दोनों तरफ यात्रा कर सकते हैं। चाहें तो कभी भी मूढ हो सकते हैं,और चाहें तो कभी भी प्रतिभा अर्जित कर सकते हैं। और यह निर्धारण मरने के क्षण में हो जाता है कि आप कैसे मर रहे हैं। तम से भरे हुए मर रहे हैं, रजस से भरे हुए मर रहे हैं, सत्त्व से भरे हुए मर रहे हैं। बीच के ये जो लोग हैं, ये रजो प्रधान हैं।

तमो प्रधान एक छोर पर हैं। सत्त्व प्रधान दूसरे छोर पर हैं।

इस पूरी व्यवस्था को बदलने का एक ही उपाय है कि आप अपने भीतर गुणों की तारतम्यता को बदल लें। और यह कोई मरते क्षण तक मत रुके रहें कि मरते वक्त एकदम से सत्त्व प्रधान हो जाएँगे। कोई कभी नहीं हो सकता।

मरते वक्त कुछ किया नहीं जा सकता। आपने जो जीवन भर में किया है, उसको ही इकट्ठा किया जा सकता है। जो कमाया है वही . . .। और आपके हाथ फिर बदलाहट नहीं है। क्योंकि जीवन क्षीण हो रहा है, आप कुछ कर नहीं सकते।

अनेक लोग सोचते हैं : मरते वक्त राम का नाम ले लेंगे। जिन्होंने जीवन भर नहीं लिया राम का नाम, मरते वक्त उनके गले से वह शब्द न उठेगा। उनके ओठ सूख जाएँगे। उनके हृदय में कहीं छाया भी राम की नहीं मिलेगी। उस वक्त तो वही शब्द उठेगा, जो जिन्दगी भर उन्होंने सोचा है। कोई धन सोच रहा था, तो धन उठ सकता है। नोट दिखाई पड़ सकते हैं। तिजोरियाँ दिखाई पड़ सकती हैं। राम नहीं दिखाई पड़ेंगे।

वही जीवन के अंत में प्रगट होता है, जिसे हमने जीवन भर सम्हाला, बुलाया, निमंत्रण दिया है। इसलिए कल की प्रतीक्षा मत करें। और मृत्यु की राह मत देखें। जीवन ही जगह है, जहाँ हम अपनी मृत्यु को भी कमाते हैं।

ध्यान रहे : मृत्यु कमाई जाती है, मुफ्त नहीं मिलती। जितना आप कमाते हैं, वैसी मृत्यु हो जाती है। और जैसी मृत्यु, वैसा फिर नया जन्म हो जाता है।

मृत्यु बड़ी सार्थक घटना है। क्योंकि नया जन्म उस पर निर्भर होगा। वह बीज है। नया जन्म, उससे वृक्ष बनेगा।

जीवन को सत्त्व की तरफ ले चलें, तो आप स्वर्ग की तरफ अनिवार्य रूप से

चलते जा रहे हैं।

और स्वर्ग एक मनोदशा है। आप कहाँ हैं, यह सवाल नहीं है--कहीं आकाश में स्वर्ग है, वहाँ आप हैं। स्वर्ग एक मनोदशा है। आप जहाँ भी हों, सत्त्व से भरा हुआ व्यक्ति स्वर्ग में है।

आज इतना ही।

छठवाँ प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ६ दिसम्बर, १९७३

रूपान्तरण का सूत्र : साक्षी-भाव • गुणानुसार कर्मों का फल

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सात्त्विक कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है । और राजस कर्म का फल दुःख, एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है ।

तथा सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है, तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ।

इसलिए सत्त्वगुण में स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं । और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्यलोक में ही रहते हैं, एवं तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित हुए तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् नीच योनियों को प्राप्त होते हैं ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● पहला प्रश्न : आपने कल बताया कि लाओत्से तमस से, जीसस रजस से तथा महावीर सत्त्व से सीधे गुणातीत अवस्था में छलाँग लगा गये । सत्त्व से गुणातीत में जाना समझ में आता है, लेकिन तमस और रजस से गुणातीत अवस्था में जाना किस प्रकार सम्भव है—यह समझ में नहीं आता !

गुणातीत अवस्था का अर्थ है : गुणों के बाहर हो जाना——जैसे स्वस्थ होने का अर्थ है : बीमारी के बाहर हो जाना । फिर बीमारी कौन-सी थी, यह सवाल नहीं है ।

कोई व्यक्ति टी. बी. से बीमार हो, तो टी. बी. के बाहर हो कर स्वस्थ हो जाएगा । कोई व्यक्ति मलेरिया से बीमार हो, तो मलेरिया के बाहर हो कर स्वस्थ हो जाएगा । सभी बीमारियाँ बाधा डालती हैं——स्वस्थ होने में । सभी बीमारियों के बाहर जाने में श्रम करना होगा ।

सत्त्व भी बीमारी है । रजोगुण भी बीमारी है । तमोगुण भी बीमारी है । बीमारियाँ अलग-अलग हैं, पर तीनों बीमारियाँ हैं और तीनों बाँधती हैं ।

सत्त्वगुण से समझ में आता है, क्योंकि हम सोचते हैं : सत्त्वगुण बाँधता नहीं । सत्त्वगुण भी बाँधता है । और अगर बँधने की वृत्ति हो तो सत्त्वगुण से बाहर जाना उतना ही कठिन है, जितना तमोगुण से बाहर जाना । और कभी-कभी तो ऐसा भी हो सकता है कि ज्यादा कठिन हो । क्योंकि सत्त्वगुण में एक सुख है, जो तमोगुण में नहीं है ।

हर गुण के फायदे हैं और हानियाँ हैं । तमोगुण की हानि यह है कि आप आलस्य से भरे हैं; बाहर जाने की वृत्ति पैदा नहीं होती । लेकिन तमोगुण का एक फायदा कि वहाँ सिवाय दुःख और अंधकार के कुछ भी नहीं है । इसलिए बाहर जाने की प्रेरणा पैदा हो सकती है ।

रजोगुण का एक लाभ है कि बड़ी ऊर्जा है और सक्रिय होने की वृत्ति है ।

इसलिए बाहर जाने में इस वृत्ति का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन एक नुकसान है--कि रजोगुणी व्यक्ति इतना व्यस्त रहता है कर्म में कि उसे स्वयं का बोध ही नहीं आता। वह कर्मों में खो गया होता है। उसे स्व की कोई प्रतीति नहीं रहती। वह करीब-करीब कर्मों में बेहोश होता है।

सत्त्व गुण का लाभ है कि वह हलके से हलका गुण है। उसका वजन न के बराबर है। कोई उसे हटाना चाहे, तो जरा भी बाधा नहीं है। सत्त्व गुण रोकेगा नहीं; हलका है; बिलकुल वजन-शून्य है; भाव-विहीन है। लेकिन खतरा है--और खतरा यह है कि सत्त्वगुण सुख से भरा है। सुख को कोई भी छोड़ना नहीं चाहता है।

अगर मेरी बात समझ में आ जाय, तो तीनों गुणों के लाभ हैं और तीनों की हानियाँ हैं।

तो ऐसा नहीं है कि कोई एक गुण ज्यादा लाभ का है गुणातीत में जाने में। या कोई गुण ज्यादा बाधक है। हर गुण के दोनों पहलू हैं--निगेटिव और पॉजीटिव। उसका विधायक रूप भी है, उसका नकारात्मक रूप भी है।

लाओत्से जैसा व्यक्ति तामसिक गुण के विधायक रूप का उपयोग करके पार हो गया। बर्ट्रेन्ड रसेल जैसा व्यक्ति सत्त्वगुण के नकारात्मक रूप से उलझ कर पार होने से रुक गया।

जीसस जैसा रजोगुणी व्यक्ति अपने कर्म को सेवा बनाकर परम अनुभव को उपलब्ध हुआ--गुणातीत हो गया। लेकिन वही गुण नेपोलियन में भी है, वही गुण लेनिन में भी है; पर वे उसके नकारात्मक रूप का उपयोग कर रहे हैं और एक राजनीतिक उपद्रव में खो जाते हैं।

मेरी दृष्टि ठीक से खयाल में आ जाय, तो साफ है। विधायक का उपयोग कर लें, तो किसी भी गुण से बाहर हो जाएँ--और नकारात्मक का उपयोग किया, तो किसी भी गुण से बँध जाएँगे। और दोनों हर गुण के साथ हैं।

दुनिया में बहुत कम पण्डित परम स्थिति को उपलब्ध होते हैं; शायद नहीं ही होते। सत्त्व गुण बाँध लेता है। ज्ञानी होने का दम्भ बाँध लेता है। वे सत्त्वगुण के नकारात्मक रूप का उपयोग कर रहे हैं। कर्मठ व्यक्ति अकसर उपद्रव में उलझ जाते हैं। और निष्क्रिय, आलसी व्यक्ति तो कुछ करता ही नहीं है; आलस्य में ही खो जाता है।

आप कहीं भी हों, निराशा का कोई कारण नहीं है। अगर आप जहाँ हैं, उस जगह से विधायक सूत्र को खोज लें।

फिर बाहर होने का कुल मतलब इतना है कि आपका तादात्म्य व्यक्तित्व से टूट जाय। मैं यह शरीर हूँ--यह भाव टूट जाय। मैं यह मन हूँ--यह भाव टूट जाय।

क्योंकि शरीर और मन तक ही गुणों का प्रभाव है। शरीर और मन के पीछे जो छिपा है, उस पर गुणों की कोई सत्ता नहीं है। वह गुणातीत अभी भी है। इस क्षण भी आप गुणातीत हैं--पूर्ण निष्पाप। लेकिन जिस शरीर और मन को आपने पकड़ा है, वह गुणों से भरा है।

ऐसा समझें कि कोई आदमी तो बिलकुल पवित्र है, लेकिन गंदे वस्त्र पहने हुए है। उससे जो दुर्गंध आ रही है, वह उसकी नहीं है; उसके वस्त्रों की है।

आपका जो व्यक्तित्व है, वही गुणों के प्रभाव में है। और तीन तरह के व्यक्तित्व हैं--मौलिक, मूल रूप से, जिनको कृष्ण वर्णन कर रहे हैं : तामसिक, राजसिक, सात्त्विक।

पूरब का मनोविज्ञान बड़ा गहरा है और उसने व्यक्तित्व की आखिरी जड़ पकड़ ली है। ये तीन तरह के व्यक्ति हैं। फिर और लोग भी अगर थोड़े बहुत भेद से हों, तो वे इन तीन के ही जोड़-घटाने हैं। बाकी ये तीन मूल स्वर हैं।

आप जहाँ भी हों...। और उचित होगा कि ईमानदारी से पहचान लें कि कहाँ हैं! क्योंकि मन बड़े धोखे देता है। और उसका गहरे से गहरा धोखा यह है कि वह आपको यह बताये--जो आप नहीं हैं। क्योंकि फिर आप कुछ भी करें, उसके परिणाम नहीं होंगे। तामसी से तामसी व्यक्ति भी सोचेगा कि मैं सात्त्विक हूँ, तब यात्रा मुश्किल है। क्योंकि सात्त्विक वह है नहीं और सात्त्विकता की उसकी जो धारणा है, वह उसे ऐसी साधना पद्धतियाँ पकड़ा देंगी, जो उसके काम की नहीं हैं। उसे जानना जरूरी है कि वह तामसिक है, क्योंकि उसकी यात्रा वहीं से शुरू होगी--जहाँ वह खड़ा है। वहीं से चलना शुरू होगा।

तो आप क्या हैं--इसका निष्पक्ष, स्पष्ट, पक्षपातरहित, अहंकर-मुक्त विश्लेषण चाहिए। आप गुरुओं के पास भी जाते हैं, लेकिन उनसे भी आप निष्पक्ष वक्तव्य लेने नहीं जाते। उनसे भी आप गवाही लेने जाते हैं। अगर गुरु आपसे कहे कि तुम तामसी हो, तो आप दुःखी लौटेंगे। इस गुरु का आप पीछा छोड़ देंगे। आप जाकर कहेंगे : यह गुरु गलत है।

इधर मैं देखता हूँ...। एक युवती ने आज ही मुझे आ कर कहा। जिसमें किसी तरह की संभावना नहीं है उस बात की। वह एक बड़े गुरु के पास गई और गुरु ने कहा कि...। वह युवती पश्चिम से आई है। उसे कहा कि 'शीघ्र ही तू स्वयं भी एक बहुत बड़ी गुरु हो जाने वाली है। पश्चिम में जाकर तेरे जीवन से अनेक लोगों को लाभ होगा।' युवती बड़ी प्रसन्न लौटी। अहंकार को बड़ी गहरी तृप्ति मिली।

उस युवती में ऐसी कोई संभावना नहीं है। इस जन्म में तो कोई संभावना

नहीं है। और इस कहने की वजह से अगर कोई छिपी संभावना कभी प्रगट भी हो सकती थी, तो वह भी समाप्त हो जाएगी। लेकिन वह खुश होकर लौटी। और उस व्यक्ति को गुरु मान के लौटी।

अब यह सारा जाल है। जाल ऐसा है कि गुरु भी शिष्य को तभी फांस पाता है, जब वह उसके अहंकार को प्रसन्न करे। क्योंकि आप चोट नहीं चाहते; आप प्रशस्ति लेने जाते हैं। तो जिनको कुछ भी नहीं है, वे भी प्रशस्ति पा कर प्रसन्न होते हैं।

अब वह पागल हो कर लौटी। जिस व्यक्ति ने उसको कहा है, वह भी गुरु के योग्य नहीं है। क्योंकि यह बात झूठ है और गलत है। और अगर युवती को यह वहम सवार हो जाय गुरु होने का, तो यह भारी नुकसान करेगी।

दुनिया में गलत गुरु जितना नुकसान करते हैं, उतने अपराधी भी नुकसान नहीं करते। क्योंकि अपराधी क्या छीन सकता है आपसे? धन छीन लेगा; प्राण छीन सकता है ज्यादा से ज्यादा; लेकिन प्राण मिटते नहीं, और धन का कोई मूल्य नहीं है। लेकिन गलत गुरु आप से उस अवसर को छीन लेगा--जो सब कुछ है। और उसे पता भी नहीं है कि वह आपसे कुछ छीन रहा है। और छीनने की सबसे ज्यादा सुविधापूर्ण व्यवस्था यह है कि आपके अहंकार को कोई तृप्त करे।

गुरजिएफ जैसे गुरु के पास अगर जाएँगे, तो वह जो आपके भीतर साफ-साफ है, उसकी ही बात करेगा।

गुरजिएफ अपने शिष्यों को पहले तो शराब पिलाता था। और जब तक वह शराब पी कर बेहोश न हो जाते, तब तक वह उन्हें स्वीकार नहीं करता था। क्योंकि उस बेहोशी में ही उनका सच्चा रूप प्रगट होता था।

जब आप शराब पी कर पूरी तरह बेहोश हो जाते हैं, तब आपका जो निम्नतम आपने छिपा रखा है--वह प्रगट होगा। और गुरजिएफ कहता है कि जब तक मैं तुम्हारे निम्नतम को न देख लूँ, तब तक मैं कोई काम शुरू न करूँगा। क्योंकि वहीं से काम शुरू होना है। तुम्हारा श्रेष्ठ तो कल्पना है। तुम्हारा निकृष्ट तुम्हारा यथार्थ है।

आपका मन भी धोखा देगा। जो आप नहीं हैं, आपका मन सदा कहेगा : आप यही हैं। इस धोखे से सावधान होना जरूरी है।

क्या करें? सबसे पहले तो इस बात की खोज करें कि तामसी तो नहीं हैं। सब तरह से पहले तो सिद्ध करने की कोशिश करें कि तामसी हैं--अपने को। सब उपाय खोजें, सब तर्क खोजें--जिससे सिद्ध होता हो कि मैं तामसी हूँ। अगर कोई उपाय ही न मिले सिद्ध करने का, तो खयाल छोड़ें। फिर अपने को राजसी सिद्ध करने की कोशिश करें। जब राजसी सिद्ध करने का भी कोई उपाय न मालूम पड़े,

कोई तर्क न मिले, तो ही समझें कि आप सात्त्विक हैं। अन्यथा सात्त्विक मत समझें।

निकृष्ट से शुरू करें। और पहले निकृष्ट को ही शुरू करें कि मैं हूँ। और अगर मिल जाय सूत्र कि यही मैं हूँ, तो आप सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि फिर काम शुरू हो सकता है।

गुरजिएफ कहता था : तुम्हारी जो सबसे बड़ी कमजोरी है, वह तुम्हें पहले पकड़ में आ जानी चाहिए। क्योंकि कमजोरी ही तुम्हारा छिद्र है। इसी छिद्र से तुम्हारी जीवन ऊर्जा व्यर्थ हो रही है।

एक घड़े को हम पानी भरने के लिए कुएँ में डालते हैं। पूरा घड़ा बेमानी है--एक छोटे से छेद के कारण। वह एक छोटा-सा छेद ही भरे हुए घड़े को ऊपर तक आते-आते खाली कर देगा।

पहले देख लेना जरूरी है कि छेद कहाँ है। छेद को रोक दें, तो ही घड़ा सार्थक है। तुम्हारी मौलिक कमजोरी से मुक्ति हो जाय, तो ही तुम कुछ भर पाओगे; परमात्मा तुममें भर पायेगा। अन्यथा तुम्हारे छिद्र सब बहा देंगे।

पहला : अपने प्रति सच्चा होना जरूरी है कि मैं कहाँ हूँ। इसमें अति ईमान की जरूरत है; प्रमाणिक होने की जरूरत है। क्योंकि किसी और को धोखा नहीं दे रहे हैं। कोई और धोखे में आने वाला नहीं है। आप ही धोखे में पड़ेंगे और भटक जाएँगे।

और ध्यान रखें कि तमस में होना कुछ बुरा नहीं है। क्योंकि तमस से भी लोग मुक्त हुए हैं। कोई सात्त्विक में होना ही श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि सत्त्व में भी पड़े हुए सैकड़ों लोग संसार में भटक रहे हैं।

कहाँ हैं--यह बड़ा महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन शास्त्रों ने और न-जाननेवाले शास्त्रों की टीका करने वालों ने लोगों को ऐसा समझा दिया है कि सात्त्विक होना अपने आप में कुछ खूबी की बात है और तामसिक होना बुरी बात है।

तो तामसिक तो हम गाली की तरह उपयोग करते हैं। किसी की निन्दा करना हो, तो हम कहते हैं : तामसी। तो जब मैंने कल आपको कहा कि लाओत्से तामसिक था, तो आपको भीतर बड़ी बेचैनी हुई होगी, क्योंकि आप मान ही नहीं सकते कि कोई संत तमस के साथ संत हो गया हो! कोई ऐसा कहेगा भी नहीं। लाओत्से के मानने वाले मुझसे नाराज हो जाएँगे।

मैंने कहा कि जीसस रजोगुणी हैं। इससे ईसाई को कष्ट हो सकता है। लेकिन मैं कोई तुलना नहीं कर रहा हूँ। और न मैं यह कह रहा हूँ कि इनमें कोई जीसस, लाओत्से या कृष्ण छोटे-बड़े हैं। मैं सिर्फ यथार्थ तथ्य की बात कर रहा हूँ।

और अगर तथ्य की ही बात करनी हो, तो जो तमस से मुक्त हुआ है--वही

अद्‌भुत है। जो सत्त्व से मुक्त हुआ है, उसमें कोई विशेष अद्‌भुतता नहीं है। गहन अंधकार से जो प्रकाश में सीधी छलांग लगा गया है, उसका मूल्य बहुत है।

तो आप भयभीत न हों, और न किसी तरह की निंदा लें। सिर्फ तथ्यों पर ध्यान रखें। हम मूल्यांकन करने लगते हैं, उससे कठिनाई शुरू हो जाती है।

अगर चित्त सात्त्विक है, तो साधना अलग होगी। अगर चित्त तामसिक है, तो साधना अलग होगी। अगर चित्त राजस है, तो साधना अलग होगी। इसे थोड़ा खयाल में ले लें।

क्या फर्क पड़ेगा? अगर चित्त तामसिक है, तो तपश्चर्या आपके लिए नहीं है। तपश्चर्या फिर भ्रांति होगी। सारी दुनिया प्रशंसा कर रही हो तप की, लेकिन तप आपके लिए नहीं है। और अगर आप तपश्चर्या में पड़े, तो आप भटक जाएँगे। आप सिर्फ कष्ट पायेंगे। आप सिर्फ परेशान होंगे; अपने को दुःख देंगे। और आप बड़ी मुश्किल में पड़ेंगे कि मुझे वह घटना क्यों नहीं घट रही है, जो तपश्चर्या करने वालों को घट रही है? क्योंकि तपश्चर्या करनेवाला कहता है : उसे महा आनन्द मिला। और आपको नहीं मिल रहा है। आपको नहीं मिलेगा। क्योंकि आलस्य से भरा हुआ अगर व्यक्तित्व हो, तो तपश्चर्या इतनी विपरीत है कि उसे सिर्फ कष्ट मिलेगा।

सिर्फ राजस व्यक्ति को तपश्चर्या योग्य होगी। उसे तपश्चर्या ही योग्य होगी, क्योंकि तप उसे क्रिया का मौका देगा। सात्त्विक व्यक्ति को भी तपश्चर्या अर्थ की नहीं है। उसे भी कठिनाई होगी। न तो लाओत्से तपश्चर्या कर सकता है और न बुद्ध।

बुद्ध ने छः वर्ष तक तपश्चर्या की और दुःख पाया। यह बड़ी अनूठी घटना है। और इसे समझाना आज तक नहीं हुआ कि यह कैसे हुआ! क्योंकि बुद्ध छः वर्ष तक कठोर तपश्चर्या किये और दुःख पाये। और उन्हें कोई सत्य नहीं मिला। न कोई निर्वाण मिला; न कोई शांति मिली और न कोई आनन्द मिला। और छः वर्ष के दुःखद अनुभव के बाद बुद्ध ने सब तप छोड़ दिए और जिस दिन उन्होंने सब तप छोड़ा, उसी दिन उन्हें परम ज्ञान की उपलब्धि हुई।

बुद्ध सात्त्विक व्यक्ति हैं--राजस नहीं हैं। तो क्रिया, तप, उपवास उनके लिए सिवाय कष्ट के और कुछ भी न लाये। शरीर दीन हुआ, क्षीण हुआ, आत्मा सबल न हुई।

स्नान करते वक्त निरंजना नदी से निकलते थे, तो इतनी भी ताकत नहीं थी उस दिन, कि बाहर निकल आते। तब उन्हें खयाल आया कि 'मैं यह तप कर कर के सिर्फ दुर्बल और दीन हो रहा हूँ। और इस साधारण सी नदी को पार नहीं कर पा रहा हूँ; बाहर निकलना मुश्किल मालूम पड़ रहा है।' एक वृक्ष की जड़ को पकड़ कर लटके हुए हैं। इतनी ताकत नहीं शरीर में कि किनारे के ऊपर आ जायें। तो बुद्ध को उस क्षण में लगा कि 'यह भवसागर है इतना बड़ा, इसको मैं कैसे पार कर पाऊँगा; यह निरंजना ऐसी छोटी नदी पार नहीं होती!' उसी दिन उनके लिए तप व्यर्थ हो गया। उस रात वे बिलकुल सब छोड़ के सोये। राज्य तो पहले छोड़ चुके थे, यह साधना भी छोड़ दी। उस रात उनके मन में कोई भी उपद्रव नहीं था। न राज्य था, न मोक्ष था; न धन था; न धन की खोज थी, न धर्म की खोज थी। उस दिन कोई खोज ही न थी। वे बिना खोज के रात सो गए। सुबह जब उनकी आँख खुली, उन्होंने पाया : जो भी मिलना था, वह मौजूद है।

जो सत्त्व प्रधान है, उसके लिए क्रिया बहुत लाभ की नहीं है। उसे कोई जरूरत नहीं है। वह सिर्फ मौन हो जाय; वह सिर्फ शांत हो जाय। वह सब भाँति भीतर सब तरह के कोलाहल को हटा दे। उस शांत क्षण में उसे वह सब मिल जाएगा, जो कि राजस व्यक्ति अत्यंत कठोर तपश्चर्या करके पाता है।

लेकिन अगर राजस व्यक्ति समझे कि मैं सिर्फ बैठ जाऊँ, कुछ न करूँ और सब हो जाएगा--जैसा बुद्ध को हुआ, तो वह गलती में है। उसे तो गुजरना ही पड़ेगा।

व्यक्तित्व के ऊपर निर्भर है।

तमस से भरे हुए व्यक्ति को व्यर्थ के दौड़-धूप में नहीं पड़ना चाहिए। उसे पहले तो अपने तमस को स्वीकार कर लेना चाहिए कि यह मेरा भाग्य है इस जन्म में। अनन्त जन्मों में मैंने इसे कमाया। यह मेरा है। इसका मुझे उपयोग करना है; इससे लड़ना नहीं है।

जो भी आपके पास है--ध्यान रखें--उसका उपयोग करना है, उससे लड़ना नहीं है। क्योंकि उससे लड़ कर आप टूटेंगे और नष्ट होंगे। उसका उपयोग करें; उसका सेतु बनायें, मार्ग बनायें।

अगर आलस्य आपके पास है, तो आलस्य ही मार्ग बन सकता है। तब निष्क्रियता आपकी साधना होगी। तब आप आलस्य को ही साधना बना लें। तब आप सिर्फ आलस्य में पड़े ही मत रहें, आलस्य बाहर घेरे रहे, और भीतर आप आलस्य के प्रति जागे रहें। आलस्य को देखें और साक्षी हो जायें।

पड़े-पड़े भी--बिस्तर पर पड़े-पड़े भी मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है। लेकिन तब आलस्य को साधना बना लेना जरूरी है। और तब आलस्य को सजग हो जाना जरूरी है। भीतर साक्षी जग जाना चाहिए।

साक्षी के लिए न तो कर्म की जरूरत है, न अकर्म की; जो भी हो रहा है, उसके प्रति साक्षी होने की जरूरत है, विटनेसिंग की जरूरत है।

तो आप अगर आलसी हैं, तो आलस्य के प्रति सजग हों, उसे देखें।

और ऐसा जरूरी नहीं है कि आप अगर तमस से आज भरे हैं, तो कल भी तमस से ही भरे रहेंगे। ऐसा कुछ जरूरी नहीं है। क्योंकि प्रतिपल चीजें बदल रही हैं--और प्रतिपल आपके भीतर रजस, तमस और सत्त्व की मात्रा बदल रही है।

बचपन में जो व्यक्ति तामसिक हो, जरूर नहीं कि जवानी में भी तामसिक रह जाय। हो सकता है--राजसी हो जाय; क्योंकि सब हारमोन्स बदल रहे हैं, शरीर एक सतत प्रवाह है। शरीर के सारे केमिकल्स बदल रहे हैं; रासायनिक व्यवस्था बदल रही है। जवान होते-होते दूसरी स्थिति हो सकती है। बूढ़ा होते-होते फिर तीसरी स्थिति हो जाएगी। यह प्रतिपल बदलाहट हो रही है।

आज आप आलसी हैं, तो जरूरी नहीं कि कल भी आलसी हों और अगर आप आलस्य के प्रति सजग हो गए, तो निश्चित आप में बदलाहट आयेगी। वह साक्षी एक नया तत्त्व है, जो आपके प्रत्येक रासायनिक ढंग को भीतर से बदल देगा। आप दूसरे आदमी होने लगेंगे। आप धीरे-धीरे पायेंगे कि आलस्य की उतनी जकड़ नहीं रही--आपके ऊपर--जैसी पहले थी। आलस्य अब कोई बोझ नहीं रहा; एक हलका विश्राम हो गया। और अब आप चाहें तो थोड़ा कर्म कर सकते हैं, यद्यपि यह कर्म भी राजसी वाला कर्म नहीं होगा।

इसमें भाग-दौड़ नहीं होगी। यह भी शांत होगा। यह नदी बहेगी, लेकिन इसकी गति बहुत शांत होगी; शोरगुल नहीं होगा। यह कोई पहाड़ी नदी नहीं होगी। यह कोई पत्थरों पर आवाज करती हुई नदी नहीं बहेगी। इसमें कर्म भी आयेगा, तो धीमी लहर की भाँति आयेगा--जिससे कोई आवाज नहीं होती। और इसका कर्म भी अत्यंत शांत होगा।

लाओत्से को जिन्होंने चलते देखा है, वे देखेंगे कि उसका चलना भी ऐसा, है जैसे वह सोया हो--इतना विश्रान्ति से भरा हुआ। और राजसी व्यक्ति अगर सोये भी, तो उसकी निद्रा में भी वह सोया हुआ नहीं रहता। वह नींद में भी काफी चहल-कदमी करता है। आपने देखा नहीं है लोगों को! रात किसी को सोते हुए अध्ययन करें। सिर्फ बैठ जायँ उसके किनारे और रात भर देखें कि वह क्या कर रहा है। आप बड़े चकित होंगे। क्योंकि कोई किसी को देखता नहीं है।

अमेरिका में स्लीप लैब्स बनाये हैं उन्होंने। कोई दस बड़ी प्रयोगशालाएँ हैं, जहाँ हजारों लोगों के ऊपर अध्ययन किया जा रहा है। रात भर अध्ययन किया जाता है कि सोया हुआ आदमी क्या-क्या कर रहा है। यह पहली घटना है मनुष्य जाति के इतिहास में, जब नींद का वैज्ञानिक अध्ययन हो रहा है। तो बड़े चमत्कारी परिणाम हुए।

एक तो यह बात पता चली है कि हमारा खयाल गलत है कि नींद में लोग पड़े रहते हैं। लोग पड़े नहीं रहते; लोग बड़ी क्रियाएँ करते हैं। करवटें बदलते हैं, हाथ-पैर चलाते हैं; मुँह बनाते हैं; मुँह बिचकाते हैं; आवाजें करते हैं; आँखें चलाते हैं। सारा काम जारी रहता है। गरदन हिलाते हैं। कुछ लोग बोलते हैं। कुछ लोग अनर्गल बकते हैं। कुछ लोग उठ के चलते भी हैं कमरे में। उनको भी पता नहीं सुबह कि वे रात कमरे में चलते हैं। कुछ लोग घर का चक्कर लगा आते हैं; फ्रीज खोल के खा भी आते हैं और उनको पता नहीं होता कि रात में यह काम हुआ है। चोरी की है लोगों ने नींद में, और उनको पता नहीं। लोगों ने हत्याएँ तक की हैं नींद में, और उनको पता नहीं।

न्यूयॉर्क में एक आदमी रोज रात अपनी छत से--साठ मंजिल के मकान की छत से दूसरे की छत पर कूद जाता था। वापस कूद आता था। पर यह नींद में ही होता था। नियमित क्रम था। कोई रात दो बजे! धीरे-धीरे यह बात मुहल्ले-पड़ोस में पता चल गई। लोग देखने भी खड़े होने लगे। कोई आदमी होश में नहीं कूद सकता। दो मकानों के बीच काफी फासला है और खतरा बड़ा है। क्योंकि साठ मंजिल का गड्ढ है बीच में।

लेकिन एक रात काफी लोग इकट्ठे हो गए। और जब वह आदमी कूदा, तो उन्होंने सिर्फ जोश में आवाज लगा दी। उस आदमी की नींद टूट गई। नींद टूटते ही वह बीच के खड्डे में गिर गया। वह खुद भी पगला गया। जैसे ही नींद टूट गई उसकी, उसकी समझ के बाहर हो गया कि यह क्या हो रहा है! वह आदमी मर गया।

उस आदमी की यह घटना अकेली नहीं है। ऐसे सैकड़ों लोग हैं। मनोविज्ञान उनको एक खास तरह की बीमारी से पीड़ित पाता है--सोमनाम्बुलिज्म--निद्रा में क्रिया करने की बीमारी।

हत्याएँ कर दी हैं लोगों ने; गरदनें दबा दी हैं और जा कर अपने बिस्तर पर सो गए हैं। सुबह उन्हें कुछ याद नहीं। जैसे आप सपना भूल जाते हैं सुबह, ऐसा वे उस घटना को भी भूल गए हैं। वही बिलकुल नींद में हुआ है।

ये नींद में जो लोग चलते हैं, ये आँख खुली रखते हैं, इसलिए टकराते नहीं हैं। बराबर निकल जाते हैं। सामान रखा हो, तो बच के निकल जाते हैं। आँख उनकी खुली रहती है। लेकिन एक फर्क होता है। आँख उनकी झपती नहीं--जब वे नींद में चल रहे होते हैं। आँख बस, खुली रहती है। जैसे मरे हुए आदमी की आँख खुली हो; झपे नहीं। उनकी आँख झपती नहीं है। अँधेरे में काम करके वे वापस अपनी जगह आ कर सो जाते हैं। नींद में भी आप भिन्न-भिन्न हैं।

एक महावीर हैं, जिनके बाबत कहा जाता है कि वे रात करवट नहीं बदलते। दूसरी तरफ ऐसे लोग हैं, जो साठ मंजिल के मकान से छलाँग भी लगाते हैं।

रात्रि भी एक बड़ी क्रिया है। और रात्रि कोई छोटी घटना नहीं है। आप साठ साल जियेंगे, तो बीस साल सोते हैं। एक-तिहाई जिन्दगी नींद में जाती है। रोज नियमित आठ घंटा आप नींद में उतरते हैं, एक दूसरे लोक में प्रवेश करते हैं। वहाँ भी क्रिया जारी है।

रात सोते हुए आदमियों का अध्ययन करके भी कहा जा सकता है कि कौन सात्त्विक है, कौन राजसिक है, कौन तामसिक है। तामसिक की निद्रा ऐसी होगी, जैसे वह बेहोश पड़ा है। इस फर्क को ठीक से समझ लें। उसकी निद्रा मूर्च्छा जैसी होगी। जैसे उसे बेहोशी है—कोमा है। तो रात नींद में भी पता चलेगा कि उसके चेहरे पर एक बेहोशी छाई हुई है; सूखापन है; उदास है; सब चीजें सिकुड़ गई हैं—जैसे प्राण कहीं भीतर खो गए हैं और शरीर निर्जीव हो गया है। ऐसा व्यक्ति सुबह जब उठेगा, तो ताजा नहीं होगा; उसमें जिंदगी की लहर नहीं होगी। ऐसा व्यक्ति एकदम से नहीं उठ सकता। सुबह उठेगा; फिर करवट बदलेगा; फिर सो जाएगा। फिर करवट बदलेगा; फिर सो जाएगा। उसे उठने में कम से कम घंटा भर लगेगा। नींद में और जागने के बीच वह घंटे भर की यात्रा करेगा। बार-बार जागेगा और बार-बार सो जाएगा। यह मूर्च्छा है। यह नींद नहीं है। क्योंकि नींद तो टूट चुकी है, लेकिन मूर्च्छा टूटने में समय लग रहा है।

जो आदमी राजसी है, वह रात भर श्रम करेगा; हाथ-पैर चलाएगा, मुँह चलाएगा, बोलेगा, आवाज करेगा। यह आदमी रात भर गति में रहेगा। इसकी नींद विक्षिप्त है। मूर्च्छित नहीं है, लेकिन विक्षिप्त है। और सुबह जब यह उठेगा, तो यह उठ आयेगा एकदम से, क्योंकि यह राजसी है। वस्तुतः राजसी आदमी बिस्तर से उठता नहीं—कूदता है—उठता नहीं। नींद टूटी कि छलाँग लगाकर वह बाहर हो जाएगा, जैसे एक झंझट से छूटे। फिर मौका मिला भाग-दौड़ का। तो वह बाहर निकल जाएगा। लेकिन यह आदमी अपने को थका हुआ पायेगा सुबह।

तामसी व्यक्ति मूर्च्छित पायेगा सुबह। ताजा नहीं हुआ। जिन्दगी बोझिल लगेगी। राजसी व्यक्ति सुबह थका हुआ पायेगा, जैसे बड़े काम करके आ रहा है।

यह ध्यान रखें कि राजसी व्यक्ति दिन भर के काम के बाद दस ग्यारह बजे रात सबसे ज्यादा ताजा अपने को अनुभव करेगा। सोने के पहले सबसे ज्यादा ताजा होगा, क्योंकि दिन भर के काम के बाद उसको बड़ी राहत मिली।

ये जो क्लब चल रहे हैं, नाच-घर चल रहे हैं, वे राजसी लोग चला रहे हैं। वे सब से ज्यादा ताजे होते हैं; उनकी जिन्दगी का जो पीक प्वाइंट है, वह रात

ग्यारह-बारह बजे आता है; तब वे सबसे ज्यादा जिंदा होते हैं। दिन भर के उपद्रव के बाद उन्हें लगता है कि वे प्रसन्न हैं।

लेकिन राजसी व्यक्ति सुबह हमेशा थका हुआ होगा; रात ताजा होगा। तामसी व्यक्ति सदा थका होगा। वे कभी ताजे नहीं हैं। वे सदा सोये-सोये हैं। मजबूरी है कि उठना पड़ता है।

सात्त्विक व्यक्ति जब रात सोयेगा, तो उसकी नींद में एक हलकापन और एक प्रकाश होगा। उसकी नींद न तो मूर्च्छित होगी—कि वह बेहोश पड़ा है; और न विक्षिप्त होगी कि वह व्यर्थ के क्रिया-कलाप कर रहा है। उसकी नींद एक गहरा विश्राम होगी, जैसे कोई ध्यान में लेटा हो। जैसे जागा भी हो और सोया भी हो। जरा-सी खटके की आवाज होगी, तो वह जाग सकता है। लेकिन उसकी नींद उथली नहीं है। खटके की आवाज में वह जो आलसी है, वह जाग नहीं सकता। खटका क्या, किसी आवाज में नहीं जाग सकता।

मुल्ला नसरुद्दीन से एक दिन सुबह उसकी पत्नी बोली कि 'रात बड़ी कठिनाई हो गई। भूकम्प आया; बड़ी बिजलियाँ गरजीं; और सारे गाँव में उथल-पुथल मच गई। सैकड़ों मकान गिर गए।' मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, 'पागल, मुझे क्यों न उठाया! मैं भी देखता।'

वह जो तामसी है, वह सदा बासा है। जिसको हम फ्रेशनेस कहें, प्रफुल्लता कहें, ताजगी कहें, नयापन कहें, वह उसमें नहीं है। वह सदा बासा है। उसके मुँह का स्वाद सदा बासा है। वह कभी खिला हुआ नहीं है, सदा मुरझाया है।

राजसी व्यक्ति सुबह-सुबह मुरझाया हुआ लगेगा, क्योंकि रात भर व्यर्थ काम में संलग्न रहा है। साँझ होते-होते ताजा होने लगेगा। सभ्यताओं में भी इसके अन्तर होते हैं।

योरोप, पश्चिम की सभ्यता राजसी है। इसलिए पश्चिमी सभ्यता का जो पूरा उभार है, वह साँझ के बाद है। पेरिस है, या लंदन है, या न्यूयॉर्क है; वहाँ जो असली जिंदगी है, वह दिन में नहीं है; वह रात में है—जब लोग नाच-घरों में चले गए। शराब पी रहे हैं, जूआ खेल रहे हैं, तब असली जिंदगी है। अगर पेरिस देखना है, तो रात देखना। दिन में पेरिस का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि पेरिस जगता ही रात में है।

पश्चिम की सारी सभ्यता रात्रि में सजग होती है। पूरब ने एक व्यवस्था की थी, वह पूरी व्यवस्था ब्रह्म-मुहूर्त में जागने वाली थी। साँझ जल्दी सो जाने वाली, और सुबह जब सूर्य उगे, उसके पहले उठ आने वाली थी। वह सात्त्विक व्यवस्था की चेष्टा थी।

वह जो सात्त्विक व्यक्ति है, रात बिलकुल शांति से सोता है। न तो विक्षिप्त होता है, न मूर्च्छित होता है। सूरज के उगने के पहले या करीब-करीब सूर्य के उगते वह उठ आता है। सूरज का उगना, उसके भीतर की चेतना का भी जग जाना है। होना भी यही चाहिए। क्योंकि सूरज के साथ सारे पक्षी जागते हैं। सूरज के साथ सारे पौधे जागते हैं। सूरज के साथ पृथ्वी जागती है। और अगर आप इस पृथ्वी के वास्तविक प्राकृतिक हिस्से हैं, तो सूरज के साथ ही जागना उचित है।

सूरज के आते ही आपके भीतर भी जीवन सजग हो जाना चाहिए और उतनी ही ताजगी से भर जाना चाहिए, जितनी ताजगी सुबह की है। यह तो नैसर्गिक क्रम है।

सात्त्विक व्यक्ति सुबह सूरज के साथ उठ आयेगा। न तो वह आलसी की तरह पड़ा रहेगा और घंटों लगायेगा--उठने में। न वह राजसी की तरह छलाँग लगा कर बाहर निकलेगा। वह उठेगा--आहिस्ता से, शांति से--आश्वस्त; उसमें कोई भाग-दौड़ नहीं है। पड़े रहने का भी कोई मोह नहीं है। दौड़ कर संसार में उतर जाने की भी कोई वृत्ति नहीं है। वह नींद से बाहर आयेगा--सरलता से। नींद और जागरण के बीच कोई फासला नहीं है उसे बड़ा, जिसको छलाँग लगानी है या जिसको समय दे कर पूरा करना है। उसकी नींद एक शांत, प्रशान्त, गहरी धारा है।

सात्त्विक व्यक्ति सुबह सबसे ज्यादा ताजा होगा। रात होते-होते थक जाएगा। जब राजसी क्लब जाने की तैयारी कर रहा होगा, तब उसकी आँखें झप रही होंगी, तब वह बैठ भी नहीं सकता, तब वह सो जाने के लिए तैयार है। पर यही नैसर्गिक भी है। दिन भर के काम के बाद थक जाना नैसर्गिक है। पर भेद है। और आपको अपना गुण देख के चलना चाहिए कि नैसर्गिक क्या है।

यह जो नींद के सम्बध में निरन्तर गहरी खोज हुई है, उससे कई बातें. . .। जैसा मैंने कल आपको कहा कि स्त्री ज्यादा तमस से भरी है--पुरुष ज्यादा राजस से। लेकिन चूँकि भारत जैसे मुल्कों में पुरुषों ने सभ्यता बनायी और मनु जैसे महावेत्ताओं ने बड़ी कोशिश की कि एक सात्त्विक सभ्यता का जन्म हो जाय...।

सारी ब्राह्मण संस्कृति एक बड़ी चेष्टा है--एक महान प्रयोग--कि सारी संस्कृति सात्त्विक हो जाय। कठिन है। क्योंकि इसमें जो सात्त्विक नहीं हैं, वे अड़चन में पड़ेंगे। और उनकी संख्या काफी बड़ी है। इसलिए यह प्रयोग सफल नहीं हो सका। यह प्रयोग असफल हुआ। महान प्रयोग था। और महान प्रयोग के असफल होने की सम्भावना सदा ज्यादा है।

इसलिए हिन्दुओं ने बड़ी चेष्टा की--पाँच हजार साल तक--एक बहुत गहरे प्रयोग को व्यवस्था देने के लिए। लेकिन वह असफल हुआ। क्योंकि राजसी और

तामसी लोगों का बहु-सम्प्रदाय है। सात्त्विक लोग बहुत थोड़े से हैं। वे थोड़े से लोग कितने सुख में जी रहे हों और वे सबको बतायें कि तुम भी इतने ही सुख में पहुँच सकते हो, मगर उनकी बात उन लोगों के किसी काम की नहीं है, जिनके गुण विपरीत हैं।

चूँकि पुरुषों ने इस सात्त्विकता का प्रयोग किया, स्त्रियों को भी उन्होंने सुबह जल्दी उठाने की चेष्टा की। सच तो यह है कि भारत में रिवाज यह था कि पुरुष के पहिले स्त्री उठ आये। घर का काम कर ले। सब साफ-सुथरा कर दे। वह गृहिणी है। इसके पहले कि पुरुष उठे, वह घर को ताजा स्वच्छ पाये।

लेकिन पश्चिम की खोजें यह बता रही हैं कि किसी भी स्त्री को सूरज उगने के पहले भूल के नहीं उठना चाहिए। पति को पहले उठना चाहिए। पति को पहले उठना चाहिए; वह राजसिक है। उसमें ज्यादा क्रिया का जोर है। चाय वगैरह का काम पति को कर लेना चाहिए, फिर पत्नी को उठना चाहिए। वैसे पति अपने आप धीरे-धीरे उस रास्ते पर जा रहे हैं--बिना किसी खोज के।

और स्त्रियाँ अगर जल्दी सुबह उठ आयें, तो दिन भर आलस्य अनुभव करेंगी। पश्चिम की खोज किन्हीं दूसरे कारणों से है, लेकिन सार्थक है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि चौबीस घंटे में दो घंटे व्यक्ति का तापमान नीचे गिर जाता है। वे ही दो घंटे गहरी नींद के घंटे हैं। चौबीस घंटे में दो घंटे प्रत्येक व्यक्ति के शरीर का तापमान नीचे गिरता है। वे दो घंटे गहरी नींद के घंटे हैं। और हर व्यक्ति का अलग-अलग समय गिरता है। पुरुषों का आमतौर से तीन बजे रात और पाँच बजे सुबह के बीच गिरता है--आमतौर से। इसलिए तीन से पाँच बजे के बीच पुरुष को गहरी से गहरी नींद का क्षण है। स्त्रियों का आमतौर से छः और आठ बजे के बीच गिरता है। इसलिए छः और आठ के बीच उनके लिए गहरी से गहरी नींद का क्षण है।

जब आपका तापमान गिरता है, अगर उस समय आप उठ आयें, तो आप दिन भर परेशान होंगे। और इसे तो आप थरमामीटर लगाके जाँच भी ले सकते हैं। चौबीस घंटे की रिपोर्ट आप ले सकते हैं अपनी और आप पा सकते हैं कि किन दो घंटों में आपका तापमान गिरता है। वे दो घंटे तो आपको सोना ही है। उन दो घंटों में आप उठेंगे, तो आप दिन भर बेचैन होंगे। लगेगा : कुछ चूक गया; कुछ कठिनाई है; कुछ अड़चन है। एक भीतरी कठिनाई का बोध दिन भर बना रहेगा।

लेकिन हमारे हिसाब से भी--रजस और तमस के विश्लेषण के हिसाब से भी स्त्री ज्यादा तामसी है। तामसी का मतलब है कि ज्यादा आलस्य; कम श्रम और ज्यादा विश्राम--वह उसका स्वभाव है। इसमें कुछ बुराई नहीं है। ऐसा है।

यह तथ्य है। पुरुष का स्वभाव है : ज्यादा काम और कम विश्राम।

सात्त्विक व्यक्ति की साधना मूल रूप से ध्यान की साधना होगी। और ध्यान भी मंत्र-योग, क्रिया-योग इत्यादि नहीं। ध्यान भी झेन जैसा--शून्यता का भाव। सात्त्विक व्यक्ति हलका है और शून्य हो सकता है--सरलता से।

बुद्ध की सारी चेष्टा--कि तुम शून्य होओ, सिर्फ सात्त्विक लोगों पर सार्थक हो सकती है, सभी पर नहीं। तो बुद्ध ने जोर दिया है कि तुम्हारे भीतर कोई आत्मा भी नहीं है। क्योंकि आत्मा का खयाल भी तुम्हें भरे हुए रखेगा। कोई भी नहीं है। भीतर तुम एक विराट् शून्य हो--खाली आकाश।

इसी धारणा को गहरा करता जाय अगर कोई व्यक्ति और सात्त्विक वृत्ति का हो, तो वह परमसिद्धि को उपलब्ध हो जाएगा।

राजसी व्यक्ति को तपश्चर्या और क्रियाओं से गुजराना होगा। और क्रियाओं और तपश्चर्या के साथ साक्षी-भाव को जगाना होगा।

आलसी व्यक्ति क्रियाओं और तपश्चर्या में नहीं जा सकता। उसको अपनी अकर्मण्यता को ही अपनी क्रिया माननी होगी और अपनी अकर्मण्यता के प्रति साक्षीभाव को जगाना होगा।

साक्षी-भाव तीनों के साथ काम करेगा। लेकिन सात्त्विक शून्य के साथ साक्षी को जोड़ेगा। राजसिक कर्म के साथ साक्षी को जोड़ेगा। तामसिक आलस्य के साथ साक्षी को जोड़ेगा। और साक्षी सूत्र है, जिससे भी आप जोड़ दें, वही फुल बन जाएगा, वही सेतु बन जाएगा।

'सात्त्विक कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्य आदि निर्मल फल कहा है। और राजस कर्म का फल--दुःख संताप, पीड़ा एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है। सत्त्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है; रजोगुण से निसंदेह लोभ उत्पन्न होता है; तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है।'

'सत्त्व गुण में स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं और रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य अर्थात् मनुष्य लोक में होते हैं एवं तमोगुण के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्य आदि में स्थित हुए तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् नीच योनियों को प्राप्त होते हैं।'

'सात्त्विक कर्म का फल सुख, ज्ञान और वैराग्य है।' एक-एक शब्द को ठीक से समझें।

सात्त्विक कर्म का अर्थ है : जो कर्म आपके करने के पागलपन से पैदा न हुआ हो; पहली बात।

आप लोगों से बात करते हैं; अकसर बात आप इसलिए करते हैं कि अगर आप बात न करें, तो आपको भीतर बेचैनी मालूम होगी।

आप लोगों से बात नहीं कर रहे हैं। एक कचरा आपके सिर पर पड़ा है, आप उसे निकाल रहे हैं। आपको प्रयोजन नहीं है कि दूसरे व्यक्ति को इससे कुछ लाभ होगा। दूसरे से आपको कोई मतलब ही नहीं है।

अ, ब, स कोई भी हो; सिर्फ बहाना है दूसरा। और आपके सिर में जो घूम रहा है बवंडर, उसे आप निकाल रहे हैं। इसलिए लोग एक दूसरे की बातचीत से ऊबते हैं। ऊब इसी लिए पैदा होती है कि वे आये थे अपना कचरा निकालने, आप उनको मौका ही नहीं दे रहे हैं। और आप ही कचरा डाले जा रहे हैं।

जिस आदमी से आप ऊबते हों, उसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि वह आपको मौका नहीं दे रहा है। और जो उबाने वाले--पक्के बोर--होते हैं, वे आपको मौका देंगे ही नहीं। वे सन्ध भी नहीं छोड़ते बीच में। दो बातों के बीच सन्ध भी नहीं छोड़ते कि आप कुछ भी बीच में उठा दें और सिलसिला अपने हाथ में ले लें। वे कहे ही चले जाते हैं!

यह जो कोई बोलना है यह कोई सम्बन्ध नहीं है। और यह बोलने का जो कृत्य है, यह सात्त्विक नहीं रहा--राजसिक हो गया।

आपको एक कर्म करने का पागलपन है भीतर; आप बिना किये नहीं रह सकते हैं। इसलिए मजबूरी है, कर रहे हैं। कुछ लोग सेवा में लगे हैं।

मेरे पास एक मित्र आये; उन्होंने कहा कि 'बीस साल से सेवा कर रहा हूँ। हरिजनों की सेवा की है; आदिवासियों की सेवा कर रहा हूँ। स्कूल खोले हैं। अस्पताल खोले हैं। लेकिन शांति नहीं मिलती।'

तो मैंने उनसे कहा कि 'इतना कम से कम अच्छा है कि तुम काम में लगे हो बीस साल से। शांति नहीं मिल रही हैं, लेकिन अगर तुम यह उपद्रव इतना न करते--हरिजनों की सेवा, आदिवासी की सेवा--और यह सब--अस्पताल और स्कूल--तो तुम इतनी अशान्ति इकट्ठी कर लेते कि तुम पागल हो जाते। और तुम यह मत सोचना कि तुम हरिजन के कारण सेवा कर रहे हो। तुम्हें सेवा करनी ही पड़ती। हरिजन न हों, तो किसी और की करनी पड़ती। वह तो हरिजन हैं--सौभाग्य! आदिवासी हैं--कृपा प्रभु की। अगर न हों, तो तुम किसी न किसी की सेवा करते ही। सेवा तुम्हें करनी ही पड़ती। यह तुम्हारी भीतरी मजबूरी है। यह हरिजन तो खूंटी है, जिस पर तुमने टाँगा है अपने को।

इसलिए आप यह मत सोचें कि दुनिया अच्छी हो जाएगी, तो सेवा करने वालों को कोई अवसर न रहेगा। वे अवसर खोज ही लेते हैं। वे खोज ही लेंगे। वे कोई

न कोई उपाय खोज लेंगे, क्योंकि उन्हें कुछ करना है ।

अगर करने की बीमारी से आपका कर्म निकल रहा है, तो वह सात्त्विक नहीं है । सात्त्विक वह कर्म है, जो करुणा से निकल रहा है; जो दूसरे को ध्यान में रख के निकल रहा है; जिसमें आपका कोई भीतरी पागलपन नहीं है । और अगर कुछ करने को न हो, तो आप बेचैन न होंगे । आप शांत बैठे होंगे; आनन्दित होंगे । अगर आपको करने को कुछ भी न बचे, तो आप उतने ही आनन्दित हों––जितना आप करते हुए आनंदित हैं...।

लेकिन सेवा करने वालों का कर्म छीन लो, वे मुश्किल में पड़ जाते हैं । वे पूछते हैं : 'अब क्या करें ! ' खाली बैठना उन्हें कठिन है ।

खाली सिर्फ वही बैठ सकता है, जो अपने साथ आनन्दित है । जो स्वयं में आनन्दित है, वही बैठ सकता है खाली । जो स्वयं में आनन्दित नहीं है, वह कहीं न कहीं लगाए रखेगा अपने को; किसी कर्म में उलझा रहेगा । वह उलझाव अपने से बचने की तरकीब है । वह एक एस्केप है, पलायन है, जिसमें अपने को भूला रहता है और कहीं लगा रहता है ।

सात्त्विक कर्म का अर्थ है : जो कर्म तुम्हारे हलकेपन से, तुम्हारी शांति से, तुम्हारे निर्भार होने से निकल रहा हो । तुम्हें करने की कोई मजबूरी नहीं है । लेकिन कोई परिस्थिति थी, जहाँ कुछ करने से, किसी को लाभ होता है, मंगल होता है, किसी का शुभ होता है, तो कर्म जब निकले, वह सात्त्विक है ।

सात्त्विक कर्म सुख पैदा करेगा । सात्त्विक कर्म ही सुख पैदा करेगा । सुख का मतलब ही यह है कि जो तुम्हारे आनन्द से निकले कर्म, वही तुम्हें सुख देगा । इसे थोड़ा ठीक से समझ लें ।

जो किसी और कारण से तुम्हारे भीतर से निकलेगा कर्म , वह तुम्हें सुख नहीं देगा । क्योंकि वस्तुतः सुख किसी चीज में नहीं है । सुख हम डालते हैं । और अगर हममें न हो, तो हम नहीं डाल सकते ।

मैं आपसे यहाँ बोल रहा हूँ, अगर यह मेरे आनन्द से निकल रहा है, तो यह बोलना आनन्दपूर्ण हो जाएगा, क्योंकि मेरे आनन्द में डूबा हुआ निकल रहा है । लेकिन अगर किसी और कारण से निकल रहा हो, तो इससे मुझे सुख नहीं मिल सकता ।

आप जो भी करते हैं, करने से आप कुछ नहीं पाते । आप करने में क्या डालते हैं, भीतर से, उसी को पाते हैं । हम जो डालते हैं, वही हमें मिलता है ।

अगर कोई आदमी सेवा करके भी दुःखी है, तो इसका मतलब है कि वह सात्त्विक नहीं है । अगर आप कुछ भी करके दुःखी हो रहे हैं, तो इसका अर्थ है कि आप जो कर रहे हैं, वह सात्त्विक नहीं है । वह राजसिक होगा ।

राजसिक कर्म से दुःख निकलता है, क्योंकि राजसिक कर्म भीतरी दुःख से पैदा होता है । मैं एक भी राजनीतिज्ञ को सुखी नहीं पाता हूँ । बड़े कर्म में वे लीन हैं । विराट् कर्म उन्हीं से चल रहा है ! सारे अखबार उन्हीं से भरे होते हैं ।

सात्त्विक आदमी के कामों की तो कोई खबर अखबार में होती नहीं, क्योंकि वे इतने चुपचाप होते हैं कि उनका शोरगुल पैदा नहीं होता । कभी-कभी सात्त्विक आदमी की भी खबर आती है––अगर कोई राजसिक आदमी उनके काम में जुड़ जाय; कि विनोबा से मिलने अगर कभी कोई गवर्नर चला जाय, तो खबर छपती है; कि पंडित नेहरू विनोबा के पास चले जायँ, तो खबर छपती है । छपती है नेहरू की वजह से । लेकिन मजबूरी है । क्योंकि विनोबा के पास गए, इसलिए वह नाम भी छापना पड़ता है ।

सात्त्विक व्यक्ति तो खबर की दुनिया के बाहर चुपचाप काम में लगा होता है । राजनैतिक बड़े काम करता है; विराट् कर्म का जाल उसी का है; सारा खेल उसका है । यह सारा प्रपंच––परमात्मा का जो चल आता है, उसमें नब्बे प्रतिशत राजनैतिक चलाता है । लेकिन सुखी बिलकुल नहीं है । इतना करके भी सुख की कोई छाया भी नहीं मिलती ।

ढेर राजनीतिज्ञ मेरे पास आते हैं । जब वे पदों पर नहीं रह जाते, तब तो जरूर आते हैं । लेकिन वे कहते हैं : 'कोई सुख नहीं है, कोई शांति नहीं है । कोई मार्ग बतायें । ' इतने कर्म के बाद अगर कोई सुख न मिल रहा हो, तो कर्म का फल क्या है !

एक आदमी कहे कि 'मैं मीलों दौड़ता हूँ, लेकिन मंजिल दिखाई भी नहीं पड़ती है––पास आने की तो बात और है ! ' तो उसे हम कहें कि 'तू फिर दौड़ता क्यों है; क्योंकि दौड़ना अगर मंजिल तक न ले जाय, तो क्यों अपनी शक्ति व्यय कर रहा है ! इससे तो बैठ रह । और अगर दौड़ने से मंजिल पास नहीं आती, तो यह भी डर है कि कहीं तू उलटी दिशा में तो नहीं दौड़ रहा है। नहीं तो दूर निकल जाय ।' और दौड़ने से मंजिल दूर हो जाय, इससे तो बैठा हुआ आदमी भी कम से कम एक लाभ में है । पास न जाय, दूर तो निकल ही नहीं सकता । बैठा हुआ आदमी कम से कम भटक तो नहीं सकता । उतनी सुरक्षा है । लेकिन यह दौड़नेवाला राजनैतिक है । इसके कर्म बड़े हैं, परिणाम न के बराबर है ।

सिकन्दर दुःखी मरता है––विराट् कर्म के बाद । नेपोलियन दुःखी मरता है––विराट् कर्म के बाद । हिटलर आत्मघात करता है; लेकिन मरते वक्त अति दुःखी है । और मरते वक्त लेनिन अपनी वसीयत में लिखता है कि स्टैलिन के हाथ में सत्ता न रहे । और दुःखी इसीलिए है । जब तक वह बीमार था, तब तक स्टैलिन

ने सत्ता हथिया ली। वह और भी बड़ा राजसिक व्यक्ति है। लेनिन ने क्रांति की, लेकिन सत्ता स्टैलिन के हाथ चली गई।

क्रांतिकारी अकसर सत्ता नहीं भोग पाते, क्योंकि उनकी शक्ति और उनकी ऊर्जा सत्ता हथियाने में नष्ट हो जाती है। जब तक वे सत्ता पाते हैं, तब तक भीतर से कमजोर हो जाते हैं। जब सत्ता उनके हाथ में आती है, तब कोई शक्तिशाली व्यक्ति, जिसकी शक्ति अभी बची है, वह कब्जा कर लेता है।

हर क्रांति में यह होता है कि जो लोग क्रांति करते हैं, वे फेंक दिये जाते हैं। और जो क्रांति नहीं करते, वे मालिक हो जाते हैं। अकसर होगा ऐसा। बाप कमायेगा और बेटा उसको खर्च करेगा। क्योंकि बाप कमाने में खर्च हो जाते हैं।

लेनिन दुःख से मरा और वसीयत करके गया। लेकिन वसीयत को कौन सुनने वाला है! ताकत स्टैलिन के हाथ में थी। वसीयत दबा दी गई।

लेकिन स्टैलिन दुःखी मरता है; दुःखी जीता है। दुःख वहाँ तक पहुँच जाता है कि बाद-बाद के दिनों में कहा जाता है कि उसने अपना एक डबल रख छोड़ा था—ठीक स्टैलिन की शक्ल का आदमी। हिटलर ने भी अपना एक डबल रख छोड़ा था। स्टैलिन खुद बाहर नहीं जाता था, क्योंकि लोगों को इतना कष्ट दिया है कि वह सुरक्षित नहीं था।

अब यह बड़े मजे की बात है, बड़ी विडम्बना है कि स्टैलिन ने सारी जिन्दगी यही तो कोशिश की कि यशस्वी हो जाऊँ, बड़ा शक्तिशाली हो जाऊँ। और जब शक्ति हाथ में आई, तब कमरे में छिप कर उसको रहना पड़ता था। उसकी जगह सलामी वगैरह लेने उसका 'डबल' जाता था, क्योंकि अगर गोली मार दी जाय, तो दूसरा आदमी मरेगा, स्टैलिन सुरक्षित रहेगा।

कहा जाता है कि मर जाने के बाद भी दो तीन महीने तक रूस में खबर नहीं दी गई कि स्टैलिन मर गया है। वह 'डबल' काम करता रहा। वह जो दूसरा नकली आदमी बना के रख छोड़ा था, वही जाएगा; सभाओं में सलामी लेने, व्याख्यान देने, वह जाएगा।

यह बड़ी अजीब ढंग की उपलब्धि हुई कि जहाँ स्वागत भी अपना न हो सके; जहाँ स्वागत के लिए दूसरे को भेजना पड़े!

और स्टैलिन एक प्रेत की तरह हो गया, जो पीछे छिपा हुआ है। और किसी को उसका भरोसा नहीं है। किसी पर भरोसा नहीं हो सकता। क्योंकि वह खुद धोखा देकर—लेनिन को धोखा देकर—कब्जे में आया है। इसलिए जितने लोगों ने उसको सहायता दी, सबको उसने मरवा डाला। क्योंकि जो आदमी भी उसको सहायता देगा, ताकतवर सिद्ध होगा, वह उसको खत्म कर देगा। इसलिए पिछले चालीस

साल में, जिनमें स्टैलिन ताकत में था, उसमें उसने हर आदमी को—जिसने उसे साथ दिया और जो सीढ़ी बना, जिसने उसको ऊपर भेजा, उसने जल्दी उसकी गरदन अलग की। क्योंकि यह आदमी अगर अपने लिए सीढ़ी बन सकता है, तो कल को किसी दूसरे को भी चढ़ाने में सीढ़ी बनेगा।

स्टैलिन जैसे लोगों का कोई मित्र नहीं हो सकता। क्योंकि मित्र इतने पास आ जाएगा कि खतरनाक है। स्टैलिन से दूर ही लोग रह सकते हैं, पास नहीं हो सकते। वह परम दुःख में मर रहा है।

स्टैलिन की लड़की ने बाद में संस्मरण लिखा है। उसने संस्मरण में लिखा है कि मेरे पिता जितना दुःखी थे, वैसा दुःखी आदमी मैंने कहीं देखा नहीं। दुःखी होगा ही।

सात्त्विक कर्म भीतर के सुख से निकलते हैं। और हर कर्म आपके सुख को हजार गुना कर देते हैं। क्योंकि हर कर्म आपके सुख की प्रतिध्वनि को आप तक लौटाता है।

आप जो देते हैं अपने कर्म में, वह हजार गुना होकर आप पर बरसने लगता है। यह सारा जगत् एक प्रतिध्वनि है। आप एक गीत गाते हैं, तो सब तरफ से गीत गूँजकर आप पर गिरता है। आप एक गाली देते हैं, तो गाली लौट आती है—हजार गुनी होकर। जो काँटे बोता है, वह काँटे काटता है। जो फूल बोता है वह फूल काट लेता है।

सात्त्विक कर्म सुख लायेगा—एक। ज्ञान लायेगा—दो। यह बड़ी अनूठी बात है।

सात्त्विक कर्म ज्ञान क्यों लायेगा? ज्ञान मिलना चाहिए—शास्त्र से, गुरु से। लेकिन कृष्ण कहते हैं: सात्त्विक कर्म ज्ञान लायेगा। यह किस ज्ञान की बात कर रहे हैं?

जब आप कोई सात्त्विक कर्म करते हैं, तब आप एकदम शांत हो जाते हैं। कोई कभी भी अच्छा काम आप करके देखें, और उस रात आप गहरी नींद सोयेंगे। कोई बुरा काम करें, वह बुरा काम करके देखें, उस रात आप सो भी नहीं पायेंगे। कोई बुरा काम करें, वह भीतर खटकता ही रहेगा, काँटों की तरह चुभता ही रहेगा। कोई भला काम करें और एक हलकापन फैल जाता है; एक सुबह हो जाती है भीतर। छोटा-सा... एक बीमार आदमी जा रहा हो और उसको आप हाथ का सहारा देकर रास्ता पार करवा दें। रास्ता पार कराते-कराते ही आपके भीतर कुछ होने लगेगा। सब हलका हो जाएगा, शांत हो जाएगा।

रास्ते पर एक नोट पड़ा हो। उठाने का खयाल आ जाय, उससे ही बेचैनी

शुरू हो जाएगी। फिर उठा के उसे जेब में रख लें। फिर वह पहाड़ की तरह भारी मालूम पड़ेगा। फिर आप और कुछ भी करते रहें, लेकिन भीतर एक बेचैनी है।

अमेरिका की अदालतों में एक यन्त्र का उपयोग करते हैं—लाई डिटेक्टर—झूठ को पकड़ने का यन्त्र। वह पकड़ लेता है झूठ। वह झूठ इसलिए पकड़ लेता है कि झूठ बोलते ही हृदय को झटका लगता है। उस झटके को पकड़ लेता है।

उस यन्त्र के ऊपर अदालत में आदमी को खड़ा कर देते हैं। उससे कुछ पूछते हैं। उससे पूछते हैं : 'इस समय घड़ी में कितने बजे हैं?' घड़ी सामने है। झूठ बोलने का कोई कारण नहीं है। वह कहता है : 'नौ बजे हैं।' उससे पूछते हैं : 'दीवाल पर कौन-सा रंग है?' झूठ बोलने का कोई कारण नहीं। वह कहता है : 'हरा रंग।'

ऐसे चार-छः सवाल पूछते हैं। नीचे यन्त्र उसके हृदय की धड़कन को नोट कर रहा है। हृदय की धड़कन का ग्राफ बन रहा है। फिर उससे पूछते हैं : 'क्या तूने चोरी की?' तो भीतर से तो आवाज आती है—की। क्योंकि उसने की है। ऊपर से वह कहता है : 'नहीं की।' नीचे झटका लग जाता है। वह नीचे जो हृदय का कम्पन है, वह दोहरी खबर देता है। एकदम से झटका आ जाता है। नीचे का का ग्राफ बताता है कि यह आदमी कुछ और कहना चाहता था और इसने कुछ और कहा। तो अब तो हर अदालत में अमेरिका में उपयोग कर रहे हैं।

झूठ बोलना बहुत मुश्किल है, आप कितने ही तैयार हो कर गए हों। जितने ही तैयार होकर गए हों, उतनी ही मुश्किल है। क्योंकि आप क्या करियेगा इस बात को! भीतर यह होगा ही। जो आप जानते हैं—सही है, वह तो आप जानते हैं। उसे भूलने का कोई उपाय नहीं। और जो आप जानते हैं—सही नहीं है—आप उसे कितना ही कहें, हृदय झटका खायेगा। क्योंकि दोहरी बातें हो गईं। एक स्वर न रहा; भीतर दो स्वर हो गए।

यह जो आदमी ऐसे दो स्वर प्रगट कर रहा है यन्त्र के ऊपर, जो आदमी बुरा कर रहा है, वह चौबीस घंटे इस तरह की ही बेचैनी में जी रहा है।

झूठ बोलने वाले आदमी की बड़ी तकलीफ है। उसको एक झूठ के लिए हजार झूठ बोलने पड़ते हैं। एक बुरा काम कर ले, तो फिर उसको बचाने के लिए हजार बुरे काम करने पड़ते हैं। फिर एक सिलसिला शुरू होता है, जिसका कोई अंत नहीं है। और इसमें वह उलझता चला जाता है। इस सब का इकट्ठा परिणाम दुःख है।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, 'सात्त्विक कर्म का फल सुख और ज्ञान है।' जैसे ही आप हलके होंगे, शांत होंगे, प्रसन्न होंगे, प्रफुल्लित होंगे, एटईज होंगे, एक गहरा विश्राम होगा; भीतर दो स्वर नहीं हैं, एक ही भाव है; और सब चीजें साफ हैं, सच्ची हैं, इस सीधे सच्चेपन में इस भोलेपन में इस निर्दोषता में, आपकी आँखें

अपने को पहचानने में समर्थ होंगी। वही ज्ञान है।

स्वयं को पहचानने के लिए भीतर धूआँ नहीं चाहिए, द्वंद्व नहीं चाहिए, कलह नहीं चाहिए। भीतर सन्नाटा चाहिए। और सन्नाटा केवल उसी में हो सकता है, जो सात्त्विक हो। नहीं तो सन्नाटा बहुत मुश्किल है।

आपको पूरे समय सुरक्षा में ही लगे रहना पड़ता है; पूरे समय भय पकड़े है। पूरे समय कोई आपका पीछा कर रहा है। कोई आपको पकड़ने -उलझाने में लगा हुआ है। जिन-जिन को आपने धोखा दिया है, वे आपकी तलाश में हैं। जिन-जिन का आपने बुरा किया है, वे भी आपके बुरे के लिए, प्रतिकार की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये सब चारों तरफ आपके दुश्मन हो जाते हैं।

असल में, सात्त्विक व्यक्ति अपने चारों तरफ मित्रता बो रहा है। उसे भय का कोई कारण नहीं है। सुरक्षा की कोई चिन्ता नहीं है। भीतर कोई कलह नहीं है। इससे जो सहज भाव पैदा होगा, जो आन्तरिक स्वास्थ्य पैदा होगा, वही स्वास्थ्य आपकी आँखों को भीतर की तरफ खोलेगा। धूआँ हट जाएगा।

जैसे सुबह की धुँध हट गई हो और सूरज साफ हो जाय, वैसे ही आपके दुष्कृत्यों की धुँध हट जाएगी, दुर्भाव की धुँध हट जाएगी। और आप आत्म-साक्षात्कार म सफल हो पायेंगे। इसलिए ज्ञान।

और भी उससे भी जटिल बात है—वैराग्य। सुख, ज्ञान और वैराग्य फल हैं—सात्त्विक कर्म के। यह बहुत समझने जैसा है और बहुत गहरा और सूक्ष्म है।

जो आदमी जितना सात्त्विक है, उतना ही उसका राग गिरने लगेगा, उतना ही उसमें एक वैराग्य-भाव उदय होने लगेगा। क्यों?

राग का क्या मतलब है? राग का मतलब है : मेरा सुख दूसरे पर निर्भर है। यह राग का मतलब है—अटेचमेन्ट का—कि मेरा सुख दूसरे पर निर्भर है। मेरी पत्नी पर मेरा सुख निर्भर है। मेरे पति पर निर्भर है। मेरे बेटे पर, मेरे पिता पर, मित्र पर, धन पर, मकान पर—किसी दूसरे पर—कहीं—मेरा सुख निर्भर है। और जिस पर मेरा सुख निर्भर है, उसे मैं पकड़ के रखना चाहता हूँ—कि वह छूट न जाय। यही राग है।

लेकिन सात्त्विक व्यक्ति जानता है कि सुख मेरे भीतर है; इसका वह रोजें अनुभव करता है। जब भी वह सात्त्विक कर्म करता है, सात्त्विक भाव करता है, वह पाता है : सुख बरस जाता है।

सुख मेरे हाथ में है। सुख की वर्षा का सारा आयोजन मेरे हाथ में है। इशारा—और सुख बरस जाता है। स्वभावतः वह जानने लगता है कि सुख मेरा किसी पर निर्भर नहीं है। इसलिए उसका राग क्षीण होता है, वैराग्य बढ़ता है। अगर पत्नी

उसके पास है, तो वह सुखी है। पत्नी उससे दूर है, तो वह सुखी है। और उसके सुख में फर्क नहीं पड़ता। जब पत्नी पास है, तब वह पत्नी का सुख लेता है। जब पत्नी दूर है, तब पत्नी के न होने का सुख लेता है। पर उसके सुख में अन्तर नहीं पड़ता। और दोनों का सुख है; ध्यान रहे।

और आमतौर से आदमी, जब पत्नी है, तब पत्नी के होने का दुःख भोगता है। और जब पत्नी नहीं है, तब न होने का दुःख भोगता है।

आप प्रयोग करके देखना : पत्नी को थोड़े दिन बाहर भेजें। फिर आप दुःखी होंगे-- कि पत्नी दूर है। और आप भली-भाँति जानते हैं कि जब पास थी, तब नरक था। मगर थोड़े दिन दूर रहे, तो भूल जाता है नरक और कल्पना कर-कर के आप स्वर्ग बना लेते हैं। पत्नी आते ही से सब स्वर्ग रास्ते पर लगा देती है। वह वापस आई कि नरक शुरू हुआ।

लोगों का अनुभव है--पति-पत्नियों का--कि न तो वे साथ रह सकते हैं और न वे दूर रह सकते हैं। इसलिए उनका द्वंद्व जो है, उससे छुटकारे का कोई उपाय ही नहीं है। पास रहते हैं, तो कष्ट पाते हैं। दूर रहते हैं, तो कष्ट पाते हैं।

जिन लोगों के पास धन है, वे धन के कारण परेशान हैं। जिनके पास धन नहीं है, वे धन के न होने के कारण परेशान हैं। कोई गरीबी से पीड़ित है, कोई अमीरी से पीड़ित है।

मेरे पास दोनों तरह के पीड़ित लोगों का मुझे अनुभव है। गरीब यह सोचता है कि धन मिल जाय, तो बड़ा सुख हो। धनी कहता है कि सब है, लेकिन सिवाय चिन्ता के कुछ मिलता नहीं!

शायद आपको खयाल ही नहीं है कि सुख बाहर से कभी किसी को मिला नहीं है। न गरीबी से मिला है, न अमीरी से; न पत्नी के होने से, न न होने से।

सुख एक आंतरिक सम्पदा है। जब उसे आप अपने भीतर खोज लेते हैं, तब आपको मिलता है। तब हर हालत में मिलता है। तब ऐसी कोई दशा नहीं है, जब सुख नहीं मिलता। तब हर स्थिति में आप सुख खोज लेते हैं!

अगर घर में बच्चे खेल रहे हैं और शोरगुल कर रहे हैं, तब आप बच्चों की खिलखिलाहट में सुख लेते हैं। और बच्चे चले गए और घर खाली है, तो आप घर के सन्नाटे में सुख लेते हैं। तब घर का सन्नाटा सुखद है। और जब बच्चे लौट आते हैं, और किलकारियाँ भरते हैं, और नाचते हैं, कूदते हैं, तब आप उनके नाचने-कूदने में सुख लेते हैं। जीवन चारों तरफ उछलता हुआ है--आप उसमें सुख लेते हैं।

लेकिन सुख आपके भीतर है। कभी वही आप सन्नाटे पर आरोपित कर देते हैं, कभी बच्चों की किलकारी पर आरोपित कर देते हैं।

जो दुःखी आदमी है, बच्चे शोरगुल करते हैं, तो वे कहते हैं : 'शांति नष्ट हो रही है। बंद करो आवाज।' घर में कोई न हो, तो वे कहते हैं : 'अकेला हूँ। बड़ी उदासी मालूम होती है।' आपके ढंग पर, आपके जीवन की व्यवस्था पर, लाइफ स्टाइल पर निर्भर है।

सात्त्विकता एक जीवन का ढंग है, जिसमें सुख भीतर है।

इसलिए कृष्ण बड़ी मौलिक बात कहते हैं कि वैराग्य उसका फल है।

सुखी आदमी हमेशा विरागी होगा। आपने इससे उलटी बात सुनी होगी : 'अगर सुख चाहिए हो, तो वैराग्य को साधो', वह गलत है। क्योंकि कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि वैराग्य साधो, तो सात्त्विकता आ जाएगी। कृष्ण कह रहे हैं : सात्त्विक हो जाओ, तो वैराग्य उसका फल है।

लेकिन न मालूम कितने लोग समझाये चले जा रहे हैं : वैरागी हो जाओ। छोड़ दो सब, फिर बड़े सुखी हो जाओगे।

मैं छोड़े हुए लोगों को जानता हूँ। यहाँ घर के कारण दुःखी थे; वहाँ अब आश्रम के कारण दुःखी हैं। पहले यहाँ पत्नी-बच्चों के कारण दुःखी थे, वहाँ दुःखी हैं--संन्यासियों के पास रहके--संन्यासियों के कारण। दुःख में अन्तर नहीं है।

असल में दुःख इस तरह छूटता ही नहीं। सात्त्विक हो जाओ, तो वैराग्य उसका फल होगा।

और ध्यान रहे : जब दुःखी आदमी छोड़ के भागता है, तो उसका छोड़ के भागना एक रोग की तरह है। और जब सुखी आदमी छोड़ता है, उसके छोड़ने में एक शान है। उसका छोड़ना ऐसा है, जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिरता है। न तो वृक्ष को घाव पैदा होता है, न पत्ते को पता चलता है, नहीं कोई खबर होती है। सूखा पत्ता है। सूख गया। अपने आप चुपचाप कब झड़ जाता है--हवा के झोंके में--किसी को पता नहीं चलता। वृक्ष की नींद भी नहीं टूटती। वह अपनी शांति में खड़ा है। एक कच्चे पत्ते को तोड़ें; पत्ते को भी चोट पहुँचती है, वृक्ष पर भी घाव बनता है। वृक्ष भी सहमता है।

अब तो नापने के उपाय हैं--वृक्ष की सम्वेदना को। वृक्ष की सम्वेदना का यन्त्र लगा दें और पत्ता तोड़ें और सम्वेदना का यन्त्र कहेगा : वृक्ष को चोट पहुँची, घाव पहुँचा, दुःख हुआ।

और ध्यान रखें : वृक्ष भी याद रखता है। अगर आप रोज रोज वृक्ष का पत्ता तोड़ते हैं या माली हैं और काटते हैं, तो आप चकित होंगे जान के... । रूस में बड़े प्रयोग हुए हैं। जब माली वृक्ष के पास आता है... । बहुत पहले कबीर ने कहा था : 'माली आवत देख के कलियन करी पुकार।' वह कबीर ने कविता में कहा है।

अभी रूस में उसके वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं !

जैसे ही माली को वृक्ष करीब आते देखता है, उसके सारे प्राण के रोयें सिहर उठते हैं। और उसकी जाँच . . . । अब तो वैज्ञानिक यन्त्र हैं हमारे पास, जो खबर दे देते हैं कि वृक्ष कंप रहा है, घबड़ा रहा है। और ऐसा नहीं कि जिस वृक्ष को काटा है, वही घबड़ाता है। उसके पास के वृक्ष भी उसकी पीड़ा से प्रभावित होते हैं और घबड़ाते हैं और डाँवाडोल होते हैं। लेकिन सूखा पत्ता जब गिरता है, तो वृक्ष को कहीं भी कुछ पता नहीं चलता ।

सुखी आदमी जब कुछ छोड़ता है, तो सूखे पत्ते की तरह गिर जाता है। इस-लिए बुद्ध जब छोड़ते हैं राज्य, वह और बात है। और अगर आप घर छोड़ के चले गए, वह कोई राज्य भी नहीं है। आपका घाव आपको सतायेगा। आप चले जाएँगे जंगल में, लेकिन सोचेंगे घर की। चले जाएँगे जंगल में, लेकिन कोई मिलने आ जाएगा, आप कहेंगे : 'महल छोड़ आया हूँ।' चाहे आप झोपड़ा छोड़ आये हों। 'लाखों की सम्पति पर लात मार दी है। बड़ी सुंदर पत्नी थी।' हालाँकि किसी की पत्नी सुन्दर नहीं होती। सदा दूसरे की पत्नी सुन्दर होती है। अपनी कभी होती नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन शादी कर लाया था, तो पत्नी ने पहले ही दिन कहा कि, 'यह तो बाथरूम है, इस पर परदा लगा दो, क्योंकि पड़ोसी देखते हैं।' नसरुद्दीन ने बेफिक्र रह। एक दफा देख लेने दे, फिर वे परदा अपनी खिड़कियों पर लगायें। तू बिलकुल फिक्र मत कर। यह खर्चा मेरे ऊपर मत डाल। बस, एक दफा उनको देख लेने दें।'

सभी पति ऐसा ही सोचते हैं, क्योंकि जो दूर है, वह लुभावना है। जो पास है, वह व्यर्थ हो जाता है। जो हाथ में नहीं है, वह आकर्षक है। जो हाथ में है, वह बोझ हो जाता है।

पर अगर आप जंगल चले गए, तो आप चर्चा करेंगे कि आप कोई नूरजहाँ, कोई मुमताजमहल छोड़ आये हैं। कोई बड़ा महल, कोई बड़ा राज्य . . . । वह सूचना आप जो दे रहे हैं, उससे पता चलता है कि वह छूट नहीं पाया। घाव पीछे रह गया है।

जिनको त्यागी गई चीजों की याद रह जाती है, उनका घाव पक्का है, वह भर नहीं रहा। वह घाव दर्द दे रहा है।

कृष्ण कहते हैं, 'सात्त्विक कर्म का फल वैराग्य है।' यह बड़ा क्रांतिकारी वचन है और बड़ा वैज्ञानिक। शुभ जो करेगा, धीरे-धीरे उसका राग क्षीण हो जाएगा और वैराग्य का उदय होगा।

'राजस कर्म का फल दुःख। तामस कर्म ला फल अज्ञान . . . ।' राजस कर्म

का फल दुःख होगा, क्योंकि वह दुःख से निकलता है। आप कर्मों में लगे हैं, इसलिए कि आप इतने ज्यादा भीतर परेशान है कि कर्मों में लग कर अपने को भुलाने की कोशिश कर रहे हैं। इसलिए छुट्टी का दिन बहुत कठिन हो जाता है। उसे गुजारना मुश्किल हो जाता है।

लोग छुट्टी का दिन गुजारने बाहर भागते हैं। मीलों का सफर करेंगे। भागे हुए जाएँगे, कहीं होटल में खा-पी कर भागे हुए आयेंगे। अमेरिका और योरोप में तो बिलकुल बम्पर टू बम्बर कारें लगी हैं। लाख कारें एक साथ बीच (समुद्र तट) में पहुँच जाएँगी। वह सब उपद्रव जिसे छोड़ कर वह भागे थे, साथ ही चला आ रहा है ! वहाँ बीच में कोई जगह ही नहीं है। वहाँ सारा मेला भरा हुआ है। वहीं वे बैठे हैं। शांति की तलाश में आये थे। मगर अकेले नहीं आये थे, और भी लोग शांति की तलाश में निकल पड़े थे !

अब तो लोग कहते हैं कि अमेरिका में अगर शांति चाहिए, तो छुट्टी के दिन घर में बैठे रहो। पड़ोसी सब जा रहे हैं—शांति की तलाश में। थोड़ी शांति शायद मिल जाय। लेकिन कहीं जाना मत, क्योंकि जहाँ भी तुम जाओगे, वहीं आदमी पहुँच गया है—तुमसे पहले।

हमारे भीतर दुःख है, उसे हम भुला रहे हैं—किसी न किसी तरह के कर्म में। खाली बैठ के हमें बेचैनी होती है, क्योंकि खाली बैठ के दुःख हमारा साथ हो जाता है।

ध्यान रहे : दुःख से बचने का हमें एक ही उपाय है—विस्मरण। कोई भी तरकीब से भूल जायें। दूसरी तरफ मन लग जाता है। ताश खेलने लगे, दुःख भूल गया। कुछ काम करने लगे, दुकान पर चले गए, सेवा करने लगे, कुछ न मिला तो गीता ही पढ़ने लगे, राम-राम जपने लगे; माला ले ली एक हाथ में, उसके गुरिए, सरकाने लगे; कुछ कर रहे हैं; लेकिन कुछ करने से एक फायदा है कि वह जो भीतर दुःख दिखाई पड़ता था, वह नहीं दिखाई पड़ता। मन डाइव्हर्ट हुआ। किसी और दिशा में लग गया। लेकिन घड़ी भर बाद . . . । कब तक माला फेरियेगा ? फिर माला बंद की, दुःख का फिर स्मरण आया।

दुःखी लोग राजस कर्म में लग रहे हैं। और जहाँ से कर्म निकलता है, वहीं पहुँचा देता है। प्रारम्भ हमेशा अन्त है। इस सूत्र को खयाल रखें : प्रारम्भ हमेशा अन्त है। क्योंकि बीज ही वृक्ष होगा। और अन्त में फिर वृक्ष में बीज लग जाएँगे। और जिस बीज से वृक्ष हुआ है, वही हजारों बीज उस वृक्ष पर लगेंगे—दूसरे नहीं। अगर आपके दुःख से कर्म निकला है, तो दुःख बीज है, कर्म वृक्ष है। फिर हजार बीज उसी दुःख के लग जाएँगे।

इसलिए राजस कर्म दुःख में ले जाता है। क्योंकि दुःख से पैदा होता है।

'और तामस कर्म का फल अज्ञान है।' तामस कर्म का अर्थ है : नहीं करना है और करना पड़ा। करने की कोई इच्छा नहीं थी।

सात्त्विक कर्म का अर्थ है : करने की कोई विक्षिप्तता नहीं है। किसी और को जरूरत थी, इसलिए किया। राजस कर्म का अर्थ है : करने का पागलपन था। तुमको जरूरत थी या नहीं--हमने किया।

एकनाथ संत हुए महाराष्ट्र में; वे तीर्थ-यात्रा पर जा रहे थे। एक चोर ने प्रार्थना की कि 'महाराज, मैं भी साथ चलूं?' एकनाथ ने कहा, 'तू जरा झंझटी है। और तेरा हमें पता है।' उसने कहा कि 'मैं बिलकुल कसम खाता हूँ कि चोरी नहीं करूँगा--कम से कम तीर्थ-यात्रा में।' चोर था, उसकी बात का भरोसा हो सकता है। क्योंकि आमतौर से चोर भरोसा नहीं देते। लेकिन जब कोई चोर भरोसा देता है, तो उसका वचन माना जा सकता है।

एकनाथ ने उसे साथ ले लिया। लेकिन दूसरे ही दिन से उपद्रव शुरू हो गया। उपद्रव यह था कि एक के बिस्तर का सामान दूसरे के बिस्तर में चला जाय। किसी का कमीज किसी दूसरे की दरी के नीचे दबा हुआ मिले। किसी की जेब का पैसा, दूसरे की जेब में। चोर चोरी नहीं करता था, लेकिन रात में सामान बदल देता था। खुद नहीं चुराता था, क्योंकि उसने कसम खा ली थी। लेकिन पुरानी आदत और कर्म !

आखिर दो चार दिन में... । एकनाथ ने कहा कि 'यह करता कौन है?' क्योंकि मिल जाती हैं चीजें--आखिर में । लेकिन परेशानी होती है। तो वे जागते रहे। रात में देखा : चोर कर रहा है। वह एकनाथ का ही सामान निकाल के बगल वाले की पेटी में कर रहा है। एकनाथ ने कहा कि 'तू क्या कर रहा है?' उसने कहा कि 'चोरी नहीं करूँगा, इसका वचन दिया है। लेकिन कर्म न करूँ, तो बड़ी मुश्किल है। और फिर तीन महीने बाद घर लौटूंगा, तो अभ्यास जारी रहना चाहिए। यह तीर्थ-यात्रा कब तक चलेगी! अन्ततः तो मुझे चोरी करनी है। किसी की हानि नहीं कर रहा हूँ।'

जो राजस व्यक्ति है, उसके कर्म का निकलना उसके भीतर की बेचैनी है।

सात्त्विक का कर्म दूसरे पर दया है। राजसिक का कर्म खुद की बीमारी है। तामसिक का कर्म दूसरे के द्वारा पैदा की गई मजबूरी है। उसको धक्का दो--कि चलो, उठो। जाओ। यह करो। मजबूरी है। बन्दूक लगाओ उनके पीछे, तो वे दो-चार कदम चलते हैं। बन्दूक हटा लो, वे वहीं बैठ जाते हैं। यह जो दूसरे के द्वारा, मजबूरी से किया गया कर्म है तामस का, यह गहन अज्ञान लायेगा; जैसे सात्त्विक

कर्म ज्ञान लाता है, दूसरे पर दया के कारण खुद को हलका करता है।

दूसरे के द्वारा जबरदस्ती के कारण दूसरे पर घृणा पैदा होगी, हिंसा पैदा होगी; दूसरे को मार डालने का भाव होगा कि सारी दुनिया मेरे पीछे पड़ी है!

आलसी आदमी को ऐसे ही लगता है कि बाप मेरे पीछे पड़ा है, पत्नी मेरे पीछे पड़ी है। माँ पीछे पड़ी है। सारी दुनिया मेरे पीछे पड़ी है--कि कुछ करो। वह उसे कुछ करने जैसा लगता ही नहीं। उसे लगता है कि वह चुपचाप बैठा रहे। सारी दुनिया उसकी दुश्मन है!

ध्यान रहे : सात्त्विक व्यक्ति अपने चारों तरफ प्रेम बोता है। तामसिक वृत्ति का व्यक्ति अनजाने अपने चारों तरफ शत्रु पाता है। शत्रु उसको लगेंगे, क्योंकि वे सभी उसको सताने की कोशिश में लगे हैं--कि तुम कुछ करो। उसके मन में सबके प्रति घृणा, सबके प्रति द्वेष, सबके प्रति तिरस्कार... । कोई मित्र नहीं है, सब दुश्मन हैं--ऐसा भाव पैदा होता है। उसका धूआँ बढ़ जाता है। उसके भीतर का धुंध बढ़ जाता है।

दूसरे पर दया से धुंध कटता है, दूसरे पर घृणा से धुंध बढ़ता है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, 'तामस कर्म का फल अज्ञान है।' वह और भी डूबता जाता है। खुद को देखना और मुश्किल हो जाता है। खुद को पहचानना असंभव हो जाता है।

'सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुण से निसंदेह लोभ, तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होता है।'

सत्त्वगुण से ज्ञान, क्योंकि भीतर का अँधेरा टूटता है, आलोक आता है, हम स्वयं को पहचान पाते हैं।

रजोगुण से लोभ... । और जितना ही कोई कर्मों में प्रवृत्त होता है, उतना ही लोभ को जगाना पड़ता है, क्योंकि लोभ को जगाए बिना कर्म में प्रवृत्त होना मुश्किल है। इसलिए आप ताश खेल रहे हैं। अकेला ताश खेलना आपको ज्यादा रस नहीं देगा। थोड़ा दाँव जूए का लगा दें, थोड़े रुपये और रख दें, तो गति आ जाएगी, क्योंकि अब लोभ के लिए सुविधा है।

तो हम कर्म भी तभी कर सकते हैं, जब सामने कुछ लोभ खड़ा हुआ दिखाई पड़े। इसलिए राजसिक व्यक्ति अपना लोभ पैदा करता रहता है रोज, ताकि कर्म कर सके।

'रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है।' लोभ से राजसिकता बढ़ती है। जितनी राजसिकता बढ़ती है, उतना लोभ पैदा करना पड़ता है। इसलिए रोज आपको नई मंजिल चाहिए, नया लोभ चाहिए, नये टारगेट चाहिए, जहाँ आप पहुँचें। इसीलिए रोज विज्ञापनदाताओं को नये विज्ञापन खोजने पड़ते हैं। नयी कारें बनानी पड़ती

हैं। नये मकान की डिजाइन निकालनी पड़ती है। और आपको नया लोभ देना पड़ता है।

विज्ञापन का पूरा का पूरा इन्तजाम आपको लोभ देने के लिए है। इसलिए जितना राजसिक मुल्क होगा, उतनी ज्यादा एडवरटाइजमेन्ट होगी। अमेरिका इस समय सबसे ज्यादा विज्ञापन करता है। अरबों डालर विज्ञापन पर खर्च होता है। क्यों? क्योंकि वे जो आदमी बैठे हैं, सारे मुल्क में, उनको कर्म चाहिए।

अभी इसके पहले तक नारा था कि हर आदमी के पास एक कार हो, गैरेज हो। लेकिन अब वह गरीब आदमी का लक्षण है अमेरिका में। दो कार...! अगर आपके पास दो कार नहीं है, तो आप गरीब आदमी हैं। यह लोभ हो गया। अब जिनके भी दिमाग में पागलपन है, वे दो कार के पीछे पड़े हैं। हालाँकि एक ही कार काम आती है। अब वे दो कार के पीछे पड़े हैं।

आपके पास मकान सिर्फ शहर में ही है? पहाड़ पर नहीं है? आप गरीब आदमी हैं। एक मकान पहाड़ पर भी चाहिए।

रोज नया लोभ देना पड़ता है, क्योंकि राजसिक पूरा मुल्क हो, राजस से भरे हुए लोग हों, कर्म पागलपन हो, और लोभ की कमी हो, तो वे पागल हो जाएँगे। उनको रोज नया लोभ दो, नयी आवश्यकता पैदा करो।

'तमोगुण से प्रमाद और मोह ....।' और जो आलस्य में पड़ा रहता है, वह धीरे-धीरे तन्द्रा में, निद्रा में, प्रमाद में, बेहोशी में खोता चला जाता है। पर बेहोशी अज्ञान है।

'सत्त्वगुण में स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं। रजोगुण में स्थित पुरुष मध्य मनुष्य लोक में एवं तमोगुण में निद्रा, प्रमाद, आलस्य में डूबे हुए लोग, तामस पुरुष, अधोगति, नीच योनियों को प्राप्त होते हैं।'

ये तीन स्थितियाँ हैं—मन की, चित्त की।

मेरे हिसाब में कहीं कोई स्वर्ग नहीं है—पृथ्वी के ऊपर। और कहीं नरक नहीं है—पृथ्वी के नीचे। कहीं पाताल में छिपा कोई नरक नहीं है। आकाश में छिपा कोई स्वर्ग नहीं है। स्वर्ग और नरक मनुष्य की उच्चतम और निम्नतन स्थितियाँ हैं।

जब भी आप गहन सुख में होते हैं, आप स्वर्ग में होते हैं। और जब आप गहनतम संताप में होते हैं, तो आप नरक में होते हैं। लेकिन आमतौर से आप दोनों में नहीं होते। आप बीच में होते हैं। वही मनुष्य के मन की अवस्था है —मध्य। और दोनों तरफ डोलते रहते हैं: सुबह नरक, शाम स्वर्ग। पूरे वक्त आपके भीतर डाँवाडोल स्थिति चलती रहती है। स्वर्ग और नरक के बीच यात्रा होती रहती है।

जो व्यक्ति सत्त्व में थिर हो जाता है, उसकी यह यात्रा बंद हो जाती है। वह भीतर के सुख में थिर हो जाता है। उसका थर्मामीटर सुख के उच्चांक को छू लेता है और वहीं ठहरा रहता है। फिर नीचे नहीं गिरता।

जो व्यक्ति तमस में बिलकुल थिर हो जाता है, उसका थर्मामीटर, उसकी चेतना की दशा निम्नतम बिन्दु पर ठहर जाती है। उससे ऊपर नहीं उठती।

जो व्यक्ति राजस में भरा हुआ है, राजस में ठहरा हुआ है, वह मध्य में ही बना रहता है। सुख का आभास बना रहता है, दुःख का डर बना रहता है। न दुःख मिलता है, न सुख मिलता है। वह बीच में अटका-सा रहता है; त्रिशंकु की उसकी दशा होती है। और या फिर कभी-कभी छलाँग लगा कर थोड़ा सुख ले लेता है। कभी छलाँग लगाकर थोड़ा दुःख ले लेता है।

यह ये तीन स्थितियाँ हैं। उच्चतम को हम स्वर्ग कहते हैं, वह मन की सुख की अवस्था है। निम्नतम को नरक कहते हैं, नीच गति कहते हैं, अधोगति कहते हैं, वह चेतना की निम्नतम स्थिति है। मध्य, जहाँ मनुष्य है।

'मनुष्य' शब्द सोचने जैसा है। 'मनुष्य' शब्द बना है मन से। मन की जो दशा है, आमतौर से मध्य में है। मन हमेशा बीच में है। वह सोचता है: कल सुख मिलेगा। सुख दूर है। मिला नहीं। और वह डरता है कि कल कहीं दुःख न मिल जाय। तो कल दुःख न मिले, इसका इन्तजाम करता है। और कल सुख मिले, इसकी व्यवस्था करता है। कल भी वह यही करेगा, परसों भी यही करेगा। पूरी जिन्दगी यही करेगा। रहेगा वह बीच में, और तब सन्तुष्ट नहीं होगा, अतृप्त होगा, फ्रस्ट्रेट होगा। कहीं नहीं पहुँच रहा है। जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा है।

ये जो चेतना की स्थितियाँ हैं, इनको समझाने के लिए स्थान की तरह चर्चा की गई है शास्त्रों में, लेकिन उससे बड़ी भ्रान्ति हो गई है। लोग समझने लगे हैं: यह स्थान है। स्थान केवल समझाने के लिए हैं। स्थितियाँ—स्थान नहीं। स्टेट्स ऑफ माईन्ड हैं—कोई भौगोलिक, ज्याग्रफी की जगह नहीं हैं।

यह तो अब छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं कि नरक कहीं नहीं है। स्वर्ग कहीं नहीं है। भूगोल छान डाली गई है। और इसलिए शास्त्रों को निरन्तर बदलना पड़ा। पहले शास्त्रों पर इतना दूर नहीं था स्वर्ग, जितना बाद में हो गया। पहले भगवान् हिमालय पर रहते थे। फिर आदमी हिमालय पर पहुँचने लगा, तो भगवान् को हटाना पड़ा। तो वह उनको कैलाश पर बैठा दिया—आखिरी चोटी पर। फिर वह भी कुछ अगम्य न रही। तो हमें, आकाश में बिठाना पड़ा। अब हमारे अन्तरिक्षायान आकाश में पार जा रहे हैं। अब वहाँ भी भगवान् सुरक्षित नहीं है। इसलिए वेदान्त ने कहा है कि भगवान् निराकार है। तुम उसे कहीं खोज न पाओ। तुम कहीं भी जाओ,

तुम यह नहीं कह सकते : वह नहीं मिला; क्योंकि उसका कोई आकार नहीं है। पर यह आदमी जहाँ भी खोज लेता है, वहीं हमको कहना पड़ता है : यहाँ भगवान् नहीं है।

स्थान की बात ही गलत है। स्थान से कुछ सम्बन्ध नहीं है। भगवान् भी एक अवस्था है--भगवत्ता की। जैसे ये तीन अवस्थायें मन की हैं, ऐसी वह मन के पार चौथी अवस्था है गुणातीत। जब कोई तीनों के पार हो जाता है : न दुःख, न सुख, न मध्य; न तामस, न राजस, न सात्त्विक... ।

जब तीनों गुणों के पार कोई उठ जाता है, तब उस अवस्था का नाम भगवत्ता है। इसलिए हम कृष्ण को भगवान् कहते हैं या बुद्ध को भगवान् कहते हैं। भगवान् का कुल अर्थ इतना ही है। भगवान् का यह मतलब नहीं कि उन्होंने दुनिया बनाई, कि बुद्ध ने कोई दुनिया बनाई, कि कृष्ण ने कोई दुनिया बनाई। भगवान् का कुल अर्थ इतना ही है कि तीन गुणों के जो पार हो गया, वह भगवत्ता को उपलब्ध हो गया।

आज इतना ही।

सातवाँ प्रवचन

बुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ७ दिसम्बर, १९७३

सिद्धावस्था और त्रिगुणात्मक अभिव्यक्ति • असंग साक्षी

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

और हे अर्जुन,

जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं--ऐसा देखता है और तीनों गुणों से अति परे सच्चिदानंदघन स्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

तथा यह पुरुष इन स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है।

पहले कुछ प्रश्न।

● पहला प्रश्न : आपने तमस, रजस और सत्त्व, और उनकी समान मात्राओं का होना क्रमशः लाओत्से, जीसस, महावीर और कृष्ण के व्यक्तित्व के माध्यम से स्पष्ट किया। इस संदर्भ मे याद आता है कि आप अतीत में अत्यन्त क्रान्तिकारी थे। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक तलों पर आपने सारे देश में उथल-पुथल पैदा कर दी थी। जिससे स्पष्ट था कि आप जीसस की तरह रजस-प्रधान हैं। फिर उन्नीस सौ सत्तर के बाद आपने अपने को बिलकुल भीतर सिकोड़ लिया और हमें लगता है कि आप अब सत्त्व प्रधान हैं। क्या ऐसा परिवर्तन सम्भव है?

कुछ बातें ध्यान में लें, तो समझ में आ सकेगा। एक तो बुद्ध, महावीर, मोहम्मद और जीसस जैसे व्यक्ति हैं, इन व्यक्तित्वों ने एक ही गुण को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। मोहम्मद और जीसस हैं : रजोगुण उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। बुद्ध और महावीर हैं : सत्त्वगुण उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। लाओत्से और रमण हैं : तमस उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। कृष्ण तीनों गुणों को एक साथ अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग कर रहे हैं।

एक और भी सम्भावना है, जिसका प्रयोग मैंने किया है : तीनों गुणों का एक साथ नहीं--एक-एक गुण का अलग-अलग। मेरी दृष्टि में वही सर्वाधिक वैज्ञानिक है, इसलिए उसका चुनाव किया है।

तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में हैं। दो गुणों से कोई भी व्यक्ति बन नहीं सकता। एक गुण के साथ किसी व्यक्ति के अस्तित्व की कोई सम्भावना नहीं है। उन तीनों का जोड़ ही आपको शरीर और मन देता है। जैसे बिना तीन रेखाओं के कोई त्रिकोण न बन सकेगा, वैसे ही बिना तीन गुणों के कोई व्यक्तित्व न बन सकेगा। उसमें एक भी गुण कम होगा, तो व्यक्तित्व बिखर जाएगा।

अगर कोई व्यक्ति कितना ही सत्त्व-प्रधान हो... । सत्त्व-प्रधान का इतना ही अर्थ है कि सत्त्व प्रमुख है, बाकी दो गुण सत्त्व के नीचे छिप गए हैं, दब गये हैं। लेकिन वे दो गुण मौजूद हैं । और उनकी छाया सत्त्व गुण पर पड़ती रहेगी । प्रधानता उनकी नहीं है, वे गौण हैं । आपमें कोई भी गुण प्रकट हो, तब भी दो मौजूद होते हैं।

कृष्ण ने तीनों गुणों का एक साथ प्रयोग किया है । जैसे तीनों गुणों की तीनों भुजाएँ समान लम्बाई की हैं; त्रिभुज की तीनों रेखाएँ समान लम्बाई की हैं । कृष्ण का व्यक्तित्व तीनों गुणों का संयुक्त जोड़ है । और इसलिए कृष्ण को समझना उलझन की बात है ।

एक गुणवाले व्यक्ति को समझना बहुत आसान है । जिसमें दो गुण दबे हों, उसके व्यक्तित्व में एक संगति होगी, कन्सिस्टेन्सि होगी । लाओत्से के व्यक्तित्व में जैसी कन्सिस्टेन्सि, संगति है, वैसी कृष्ण के व्यक्तित्व में नहीं है । लाओत्से का जो स्वाद एक शब्द में है, वही सारे शब्दों में है । बुद्ध के वचनों में एक संगति है, गहन संगति है । बुद्ध ने कहा है कि जैसे तुम सागर को कहीं से भी चखो, वह खारा है, वैसा ही तुम मुझे कहीं से भी चखो, मेरा स्वाद एक है । जीसस या मोहम्मद, इन सबके स्वाद एक हैं ।

लेकिन आप अनेक स्वाद कृष्ण से ले सकते हैं, तीन तो निश्चित ही ले सकते हैं । और चूंकि तीनों का मिश्रण हैं, इसलिए बहुत नये स्वाद भी उस मिश्रण से पैदा हुए हैं । इसलिए कृष्ण का रूप बहुरंगी है । और कोई भी व्यक्ति कृष्ण को पूरा प्रेम नहीं कर सकता, उसमें चुनाव करेगा । जो पसन्द होगा, वह बचाएगा, जो ना-पसन्द है उसे काट देगा । इसलिए अब तक कृष्ण के ऊपर जितनी भी व्याख्याएँ हुई हैं, सब चुनाव की व्याख्याएँ हैं । न तो शंकर कृष्ण को पूरा स्वीकार करते हैं, न रामानुज, न निम्बार्क, न वल्लभाचार्य, न तिलक, न गांधी, न अरविन्द--कोई भी कृष्ण को पूरा स्वीकार नहीं करता । उतने हिस्से कृष्ण में से काट देने पड़ते हैं, जो असंगत मालूम पड़ते हैं, विरोधाभासी मालूम पड़ते हैं, जो एक दूसरे का खण्डन करते हुए मालूम पड़ते हैं ।

जैसे गांधी हैं; गांधी अहिंसा को इतना मूल्य देते हैं--तो कृष्ण अर्जुन को हिंसा के लिए उकसावा दे रहे हैं—यह उनके लिए अड़चन की बात हो जाएगी । गांधी सत्य को परममूल्य देते हैं; कृष्ण झूठ भी बोल सकते हैं, यह गांधी की समझ के बाहर है । कृष्ण धोखा भी दे सकते हैं, यह गांधी का मन स्वीकार नहीं करेगा । और अगर कृष्ण ऐसा कर सकते हैं, तो गांधी के लिए कृष्ण पूज्य न रह जाएँगे । तो एक ही उपाय है कि गांधी किसी तरह समझा लें कि कृष्ण ने ऐसा किया नहीं है । या तो यह कहानी है, प्रतिकात्मक है, सिम्बॉलिक है । यह जो युद्ध है महाभारत का, यह वास्तविक युद्ध

नहीं है--गांधी के हिसाब से । ये कौरव और पाण्डव असली मनुष्य नहीं हैं, जीवित मनुष्य नहीं हैं, ये सिर्फ प्रतीक हैं--बुराई और भलाई के । और युद्ध धर्म और अधर्म के बीच है, मनुष्यों के बीच नहीं है । पूरी कथा है, एक पैरेबल है--तब फिर गांधी को अड़चन नहीं है । बुराई को मारने में अड़चन नहीं है; बुरे आदमी को मारने में गांधी को अड़चन है । अगर सिर्फ बुराई को काटना हो, तो कोई हर्जा नहीं है । लेकिन अगर बुरा को ही काटना होता तो अर्जुन को भी कोई सवाल उठने का कारण नहीं था । सवाल तो इसलिए उठ रहा था कि 'बुरे आदमी' को काटना है । सवाल तो इसलिए उठ रहा है कि उस तरफ जो बुरे लोग हैं, वे अपने ही है, निजी सम्बन्धी हैं। उनसे ममत्व है--उनसे राग है, और उनके बिना दुनिया अधूरी और बेमानी हो जाएगी।

कृष्ण का व्यक्तित्व असंगत होगा ही--तीन गुण एक साथ हैं, असंगति पैदा करेंगे ।

एक और सम्भावना है, जिसका प्रयोग मैंने किया है, उसमें भी असंगति होगी, लेकिन वैसी नहीं जैसी कृष्ण में है ।

तीनों गुण व्यक्ति में हैं और व्यक्तित्व की पूर्णता तभी होगी, जब तीनों गुण अभिव्यक्ति में उपयोग में ले लिए जायँ, उनमें से कोई भी दबाया न जाय । कृष्ण भी दमन के पक्ष में नहीं हैं, मैं भी दमन के पक्ष में नहीं हूँ । और जो भी व्यक्तित्व में है, उसका सृजनात्मक उपयोग हो जाना चाहिए ।

मेरी प्रक्रिया तीनों गुणों को एक साथ अभिव्यक्ति के लिए न चुनकर तीन अलग-अलग काल खण्डों में, एक-एक गुण को अभिव्यक्ति के लिए चुनना है । पहले मैंने तमस को चुना, क्योंकि वही आधारभूत है, बुनियाद में है ।

बच्चा पैदा होता है माँ के गर्भ से, तो पहले नौ महीने माँ के गर्भ में बच्चा तमस में होता है, गहन अन्धकार में होता है । कोई क्रिया नहीं होती, परम आलस्य होता है। श्वास लेने तक की क्रिया बच्चा स्वयं नहीं करता, वह भी माँ ही करती है । भोजन लेने की क्रिया बच्चा स्वयं नहीं करता, वह भी माँ ही करती है । बच्चे में खून भी प्रवाहित होता है, तो वह भी माँ का ही खून रूपान्तरित होता रहता है । बच्चा अपनी तरफ से कुछ भी नहीं करता है । अक्रिया की ऐसी अवस्था परिपूर्ण तमस की अवस्था है । बच्चा है, प्राण है, जीवन है, लेकिन जीवन किसी तरह का कर्म नहीं कर रहा है। गर्भ की अवस्था में अकर्म पूरा है ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मोक्ष की तलाश, स्वर्ग की आकांक्षा, निर्वाण की खोज, सिर्फ इसीलिए पैदा होती है कि हर व्यक्ति ने अपने गर्भ के क्षण में एक ऐसा अक्रिया से भरा हुआ क्षण जाना है, इतना शून्यता से भरा हुआ अनुभव किया है, वह स्मृति में टंगा हुआ है, वह आपके गहरे में छिपा है । वह अनुभव जो नौ महीने गर्भ

में हुआ, वह इतना सुखद था, क्योंकि जब कुछ भी न करना पड़ता हो, कोई दायित्व न हो, कोई जिम्मेदारी न हो, कोई बोझ न हो, कोई चिन्ता न हो, कोई काम न हो—सिर्फ आप थे, जस्ट बीईंग, सिर्फ होना मात्र था—जिसको हम मोक्ष कहते हैं, वैसी ही करीब-करीब अवस्था माँ के गर्भ में थी। वही अनुभूति आपके भीतर छिपी है। इसलिए जीवन में आपको कहीं भी सुख नहीं मिलता और हर जगह आपको कमी मालूम पड़ती है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि यह तभी हो सकता है, जब आपके अनुभव में कोई ऐसा बड़ा सुख हो रहा हो, जिससे आप तुलना कर सकें।

हर आदमी कहता है, जीवन में दुःख है। सुख का आपको अनुभव न हो, तो दुःख की प्रतीति आपको कैसे होगी? और हर आदमी कहता है कि कोई सुख की खोज करनी है। किस सुख की खोज कर रहे हैं? जिसका कभी स्वाद न लिया हो, उसकी खोज भी कैसे करियेगा? और जिससे हमारा कोई परिचय नहीं हो, उसकी हम जिज्ञासा कैसे करेंगे? हमारे अचेतन में जरूर कोई अनुभव की किरण है, कोई बीज है जो छिपा हुआ है, कोई आनन्द हमने जाना है, कोई स्वर्ग हमने जिया है, कोई संगीत हमने सुना है, कितना ही विस्मृत हो गया हो, लेकिन हमारे रोएँ-रोएँ में वह प्यास छिपी है, और वह खबर छिपी है, हम उसकी ही खोज कर रहे हैं।

मनोवैज्ञानिक कहता है: मोक्ष की खोज एक विराट गर्भ की खोज है। और जब तक यह सारा अस्तित्व हमारा गर्भ न बन जाएगा, तब तक यह खोज जारी रहेगी। यह बात बड़ी कीमती है, बहुत अर्थपूर्ण है।

लेकिन इस सम्बन्ध में पहली बात समझ लेनी जरूरी है कि बच्चा नौ महीने अपने माँ के गर्भ में ठीक तमस में पड़ा है। वहाँ न तो राजसी होने का सवाल है, न सात्विक होने का सवाल है—गहन तम में पड़ा है, गहन आलस्य है। बस सोया है, चौबीस घन्टे सो रहा है। नौ महीने की लम्बी नींद है। फिर जैसे ही बच्चा पैदा होता है, फिर बाईस घन्टे सोएगा, फिर बीस घन्टे, फिर अठारह घन्टे; धीरे-धीरे ज्यादा जागेगा। वर्षों लग जाएंगे, तब वह आकर आठ घन्टे की नींद पर ठहरेगा। और जन्मों लग जाएँगे, जब नींद बिलकुल शून्य हो जाएगी, और वह परिपूर्ण जागरूक हो जाएगा कि निद्रा में भी जागता रहे—जिसको कृष्ण कहते हैं: 'जब सभी सोते हैं, तब भी योगी जागता है', इसके लिए जन्मों की यात्रा होगी।

तमस आधार है और सत्त्व शिखर है। इस भवन का—जिसे हम जीवन कहें, तमस बुनियाद है, रजोगुण बीच का भवन है और सत्त्वगुण मन्दिर का शिखर है।

यह जीवन की व्यवस्था है—मेरी दृष्टि में। इसलिए मैंने जीवन के पहले खण्ड को तमस की ही साधना बनाया। जीवन के मेरे प्राथमिक वर्ष ठीक लाओत्से की तरह तम की अभिव्यक्ति में ही बीते। इसलिए लाओत्से से मेरा लगाव बुनियादी

है, आधारभूत है। सब भाँति मैं आलस्य में था और आलस्य ही साधना थी। जहाँ तक बने कुछ न करना। करना मजबूरी ही हो तो उतना ही करना, जितना अपरिहार्य हो जाय। अकारण हाथ भी न हिलाना, पैर भी न चलाना।

मेरे घर में ही ऐसी हालत हो गई थी कि मैं बैठा हूँ और मेरी माँ मेरे सामने ही बैठ कर कहती: 'कोई दिखाई नहीं पड़ता, किसी को सब्जी लेने बाजार भेजना है!' मैं सुन रहा हूँ, मैं सामने ही बैठा हूँ। और मैं जानता था कि घर में आग भी लग जाती तो भी वह यही कहती: 'यहाँ कोई दिखाई नहीं पड़ता; घर में आग लग गई, कौन बुझाये? पर मैं चुपचाप अपनी निष्क्रियता को देखता— सिर्फ उसके प्रति साक्षी और ध्यान से भरा रहता। कुछ घटनाओं से आपको कहूँ, तो खयाल में आ जाय।

मेरे विश्वविद्यालय में आखिरी वर्ष में एक दर्शन-शास्त्र के आचार्य थे; और जैसा कि दार्शनिक अकसर झक्की और एक्सेन्ट्रिक होते हैं; वे भी थे। और उनका जो झक्कीपन था, वह यह था कि वे स्त्री को नहीं देखते थे। दुर्भाग्य से मैं और एक युवती, दो ही उनके विद्यार्थी थे—उनके विषय में। तो उनको आँख बन्द करके ही पढ़ाना पड़ता था। मेरे लिए यह सौभाग्य हो गया, क्योंकि वे पढ़ाते थे और मैं सोता था। वे आँख खोल नहीं सकते थे, क्योंकि युवती थी। लेकिन वे मुझ पर बहुत प्रसन्न थे, क्योंकि वे सोचते थे कि मेरा भी शायद यही सिद्धान्त है: युवती को मैं भी नहीं देखता। और यूनिवर्सिटी में कम से कम उन जैसा एक आदमी और भी है, जो स्त्रियों की तरफ आँख बन्द रखता है। इससे वे बड़े प्रसन्न थे। वे कई बार मुझे कहे भी; जब कभी अकेले मिल जाते, तो वे मुझे कहते कि तुम अकेले हो, जो मुझे समझ सकते हो। लेकिन एक दिन सब गड़बड़ हो गया।

दूसरी उनकी आदत थी कि एक घन्टे का नियम वे नहीं मानते थे। इसलिए उनको अन्तिम पीरिएड ही यूनिवर्सिटी देती थी लेने के लिए। क्योंकि चालीस मिनट के बाद...। वे कहते थे: 'शुरू करना मेरे बस में है, अन्त करना मेरे बस में नहीं है। तो साठ मिनट में पूरा हो, अस्सी मिनट में पूरा हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तो घन्टा बजे, उससे मैं बन्द नहीं करूँगा; जब मेरी बात पूरी हो जाय, तभी मैं बन्द करूँगा।' तो करीब अस्सी मिनट, नब्बे मिनट बोलते थे, मैं सोता था, और युवती को कह रखा था कि जब घन्टा पूरा होने लगे, तो मुझे इशारा करे। वह कृपा करके इतनी व्यवस्था कर देती थी कि इशारा कर देती, मैं उठ जाता।

एक दिन उसे बीच में जाना पड़ा; कोई बुलावा आ गया, कुछ कारण आ गया, वह बीच से चली गई। मैं सोया रहा, वे बोलते रहे। घन्टा पूरा हो गया, उन्होंने आँख खोली; मैं सोया था। उन्होंने मुझे हिलाया और जगाया। बोले कि 'नींद लग गई?' मैंने कहा, 'अब आपको पता ही चल गया, तो मैं कह दूँ। मैं रोज ही सो रहा हूँ।

मुझे स्त्रियों से कोई ऐतराज नहीं है । और यह बड़ा सुखद है, डेढ़ घन्टे आप बोलते हैं, मैं सो लेता हूँ ।

सोना मैंने करीब–करीब ध्यान बना रखा था । जितना ज्यादा सो सकूँ, उतना ज्यादा सोता था ।

एक बड़े मजे की बात है कि अगर आप जरूरत से ज्यादा सोएँ, तो सोने में जागरण निर्मित होने लगता है । अगर आप जरूरत से कम सोएँ, तो नींद एक मूर्च्छा होगी । अगर आप जरूरत से ज्यादा सोएँ, तो सो तो नहीं सकते । शरीर की जरूरत पूरी हो जाती है, तो भीतर कोई जाग कर देखने लगता है । अगर आप छत्तीस घन्टे पड़े सोए रहे, तो आपको थोड़ी–सी झलक मिलेगी––उस बात की, जिसको कृष्ण कह रहे हैं : 'तस्याम जाग्रति संयमी' । क्योंकि नींद की कोई शरीर को जरूरत न रह जाएगी । और शरीर को आप नींद की अवस्था में पड़े रहने दें । तो भीतर से जागरण का स्वर शुरू हो जाएगा ।

उन दिनों में ही निरन्तर सो–सो कर मैंने जाना कि सोए में जागना हो सकता है । रात भी सोता, सुबह भी सोता, दोपहर भी सो जाता; जब मौका मिलता––सोता । घर के लोगों को, प्रियजनों को, परिवार के लोगों को यही खयाल था कि मैं निपट आलसी हूँ, मुझसे जीवन में कुछ हो नहीं सकता । एक हिसाब से वह ठीक ही था–– उनका खयाल । मेरी तरफ से नींद मेरी साधना थी ।

मेरे एक और प्रोफेसर थे; मेरे प्रोफेसर भी थे, मेरे मित्र भी थे । और जैसा आलसी मैं था, ठीक वैसे ही आलसी थे । अकेले वे भी रहते थे और अकेला मैं भी रहता था । उन्होंने कहा, 'बेहतर होगा, हम दोनों साथ ही रहें ।' मैंने कहा, 'इसमें थोड़ी, अड़चन होगी । हो सकता है, आपकी नींद में मेरे कारण बाधा हो, मेरी नींद में आपके कारण बाधा हो । फिर भी आप चाहें तो...।' तो साथ रहने में कुछ व्यवस्था बनानी जरूरी थी और दोनों ही आलसी थे । वे अब भी वैसे ही हैं; उन्होंने उस गुण का त्याग नहीं किया । उन्होंने कभी उसे साधना भी नहीं बनाया, अन्यथा वह छूट जाता ।

ध्यान रहे : जिस तत्त्व को भी साधना बना लें, थोड़े दिन में उसके पार चले ही जाएँगें ।

साधना का मतलब ही ट्रान्सेन्डेन्स है, अतिक्रमण है । और जिसको भी आप पूरी तरह भोग लें, आप उसके भीतर नहीं रह सकते । अगर आप आलस्य को भी पूरी तरह भोग लें, आप अचानक पायेंगे कि आलस्य विदा हो गया । जिससे मुक्त होना हो, उसे पूरा भोग लेना जरूरी है ।

इसलिए मैंने तमस को पहले पूरा ही भोग लेना उचित समझा ।

साथ ही रहे, तो पहले ही दिन, रात हमें तय करना पड़ा कि कल से हमारी व्यवस्था कैसी होगी । अब तक अलग–अलग थे, इसलिए व्यवस्था का कोई सवाल नहीं था । उन्होंने कहा कि 'जो व्यक्ति पहले सुबह उठे, वह दूध लेने जाय ।' मैंने कहा, 'यह बिलकुल स्वीकार है ।' मैं भी खुश था, वे भी खुश थे । दोनों भ्रांति में थे । तो मैंने सोचा कि ऐसा सुबह पहले उठने की जरूरत क्या है? और वे भी यही सोच रहे थे ।

नौ बजे के करीब मेरी नींद खुली, तो मैंने देखा कि वे सोए हैं, तो मैं फिर सो गया । दस बजे के करीब उनकी नींद खुली होगी, उन्होंने देखा कि मैं सोया हूँ । वे भी सोना चाहे, लेकिन एक अड़चन थी : उनको ग्यारह बजे यूनिवर्सिटी तो पहुँचना ही था, वे नौकरी में थे । मैं तो विद्यार्थी था; मुझे जाने की कोई आवश्यकता भी न थी, जरूरी भी नहीं थी । ऐसे भी मैं कम ही जाता था ।

आखिरी, मजबूरी में उनको उठना पड़ा; दूध लेने जाना पड़ा । जब तक वे आये, तब तक मैं उठ कर बैठा था । उन्होंने कहा कि 'यह दोस्ती नहीं चल सकती, क्योंकि यह तो रोज का सवाल है । मुझे ग्यारह बजे यूनिवर्सिटी जाना ही है । तो मैं ज्यादा से ज्यादा दस बजे तक प्रतीक्षा कर सकता हूँ । तुम पूरे दिन प्रतीक्षा कर सकते हो । इसका मतलब हुआ कि दूध मुझे रोज ही लाना पड़ेगा; यह दोस्ती नहीं चल सकती ।'

जिस बात को भी करने से बचा जा सके, मैंने प्राथमिक चरण में पूरी तरह बचने की कोशिश की । दो वर्ष मैं विश्वविद्यालय में था, मैंने कभी अपना कमरा नहीं झाड़ा । अपनी पलंग को दरवाजे पर रख छोड़ा था, जिससे सीधा दरवाजे से पलंग पर मैं प्रवेश करूँ और सीधे बाहर निकल जाऊँ । और अकारण पूरे कमरे को क्यों... । न उसमें प्रवेश करना, न उसको साफ करने का कोई सवाल था । पर उसका अपना सुख था ।

और चीजें जैसी हैं, उनमें जितना कम रद्दोबदल करना पड़े... । क्योंकि रद्दोबदल का मतलब होता है कि कुछ करना पड़ेगा । उनको वैसे ही रहने देना । पर इससे अनूठे अनुभव भी हुए । और हर गुण का अनूठा अनुभव है । कितना ही कचरा था, और कितनी ही गन्दगी थी, उसके बीच ऐसे ही रहने का भाव आ गया, जैसे कितनी ही स्वच्छता के बीच रहने की स्थिति हो ।

जिस विश्वविद्यालय में मैं था, उसके भवन तब तक निर्मित नहीं हुए थे । नया विश्वविद्यालय निर्मित हुआ था और मिलिट्री के बैरेक्स का ही उपयोग हॉस्टल्स के लिए हो रहा था । तो अकसर साँप आ जाते थे, क्योंकि घने जंगल में ही, खुले जंगल में बैरेक्स थे । तो मैं पड़ा हुआ अपने बिस्तर पर, उनको देखता रहता था । वे आ जाते,

बैठ जाते, कमरे में विश्राम कर लेते । न कभी उन्होंने कुछ किया, न मैंने कभी उनके लिए कुछ किया ।

करने का भाव ही न हो, तो बहुत-सी चीजें सहज स्वीकार हो जाती हैं । और करने का भाव न हो, तो जिन्दगी में असन्तोष की मात्रा एकदम नीचे गिरने लगती है । उन दिनों में कोई असन्तोष का कारण नहीं था, क्योंकि जब आप कुछ कर ही नहीं रहे हों, तो आपकी कोई माँग नहीं रह जाती । और जब आप कुछ कर ही नहीं रहे हों, तो फल का कोई सवाल नहीं है । जब आप कुछ कर ही नहीं रहे हों, तो जो भी मिल जाय... । कभी-कभी कोई मित्र दया करके कमरे को साफ कर जाता, तो मैं बड़ा अनुगृहीत होता ।

मेरे अध्यक्ष, विभाग के, परीक्षा के समय सुबह स्वयं उठकर सात बजे मेरे दरवाजे पर गाड़ी लेकर खड़े हो जाते थे, कि मुझे आठ-दस दिन जब तक परीक्षा चले, मुझे हॉल में वे छोड़ दें, क्योंकि मैं सोया न रह जाऊँ ।

सबकी दया और करुणा अनायास मिलती थी, क्योंकि सभी को खयाल था कि जिस बात से भी करने से बचा जा सके, मैं बचूंगा । बड़ी आश्चर्य की घटनाएँ घटती थीं । वह इसलिए कह रहा हूँ कि आपको खयाल आ सके कि जिन्दगी बहुत रहस्यपूर्ण है ।

प्रोफेसर्स परीक्षा के पहले मुझे आकर कह जाते कि यह प्रश्न जरूर देख लेना । मैं कभी किसी से पूछने नहीं गया । उनके बताने पर भी उनको भरोसा नहीं था कि मैं देखूंगा । वे मेरी तरफ ऐसे देखते कि 'समझ में आया ? इसको जरूर ही देख लेना । इसका आना पक्का है ।' जाते-जाते वे मुझको कह जाते, 'यह पेपर मैंने ही निकाला है; उसे बिलकुल देख ही लेना । इसम कोई शक-सुबहा ही नहीं है, यह आएगा ।' फिर भी उन्हें मैं कभी भरोसा नहीं दिला सका कि उनको भरोसा आ जाय कि मैं देखूंगा ।

मैं यह कहा रहा हूँ कि अगर आप जगत से छीनने-झपटने जायँ, तो हर जगह प्रतिरोध है । और अगर आप कुछ न करने की हालत में हों, तो सब द्वार आपको देने को खुल जाते हैं ।

उन दिनों बिस्तर पर पड़े रहना, ऊपर सीलिंग में देखते रहना--व्हेकेन्ट--खाली । बहुत बाद में मुझे पता चला कि मेहर बाबा की साधना वही थी । मुझे तो यह अनायास हुआ; क्योंकि बिस्तर पर पड़े-पड़े करना भी क्या ? अगर नींद जा चुकी हो, तो पड़े रहना, सीलिंग को देखते रहना । अगर आप चुपचाप बिना पलक झपाए... । और पलक नहीं झपाना--यह कोई साधना नहीं थी । वह भी जैसे कर्म का हिस्सा है; क्यों झपकाना; पड़े रहना । वह भी जैसे आलस्य का हिस्सा है कि पलक भी क्यों

झपाना; पड़े रहना । रोकने का कृत्य नहीं था । जहाँ तक बने कुछ न करना । अगर आप अपने मकान की सिलिंग को ही देखते हुए पड़े रहें--घन्टे, दो घन्टे, आप पायेंगे : चित्त आकाश जैसा कोरा हो जाता है, शून्य हो जाता है ।

अगर आलस्य को कोई साधना बना ले, तो शून्य की अनुभूति बड़ी सहज हो जाती है ।

उन दिनों में न मैं ईश्वर को मानता था, न आत्मा को । न मानने का कारण कुल इतना था कि इन्हें मानने से फिर कुछ करना पड़ेगा ।

आलसी के लिए अनीश्वरवाद संगत है । क्योंकि अगर ईश्वर है, तो काम शुरू हो गया । फिर कुछ करना पड़ेगा । अगर आत्मा है, तो कुछ करना पड़ेगा ।

लेकिन कुछ न करते हुए, बिना ईश्वर और आत्मा को मानते हुए, उस चुपचाप पड़े रहने में ही उस सब की झलक मिलनी शुरू हो गई, जिसको हम आत्मा कहें, ईश्वर कहें । और मैंने तब तक तमस को नहीं छोड़ा, जब तक तमस ने मुझे नहीं छोड़ दिया । तब तक मैंने तय किया था कि चलता रहूँगा—ऐसा ही बिना कुछ किये ।

मेरी अपनी समझ यह है कि अगर आप तमस को ठीक से जी लें, तो उसके बाद रजोगुण अपने आप पैदा हो जाएगा, क्योंकि यह दूसरा गुण है, जो आपकी दूसरी मंजिल में छिपा हुआ है । पहली मंजिल पूरी हो गई; आप सीढ़ियाँ पार कर आये, रजोगुण शुरू हो जाएगा । आपमें सक्रियता का उदय होगा ।

लेकिन यह सक्रियता बहुत अनूठी होगी । यह सक्रियता राजनीतिज्ञ की विक्षिप्तता नहीं होगी । अगर आलस्य को आपने साधना बनाया हो, और आलस्य आपका शून्यता में जाने का द्वार बना हो, तो यह सक्रियता वासना की सक्रियता नहीं हो सकती-- करुणा की ही हो सकती है । यह सक्रियता अब बाँटने का एक क्रम होगी ।

तो उस सक्रियता को भी मैंने पूरी तरह जी लिया । बीच में कुछ बाधा डालना मेरी वृत्ति नहीं है । जो भी हो रहा हो, उसे होने देना । और ऐसे अगर कोई होने दे, तो बहुत जल्दी गुणातीत हो जाएगा, क्योंकि तब, स्वयं करने वाला नहीं रह जाता; गुण ही करने वाले रह जाते हैं । वह आलस्य का गुण था, जिसने अपने को पूरा कर लिया ।

फिर रजोगुण था । तो मैं दौड़ता रहा मुल्क में । जितनी यात्रा मैंने दस-पन्द्रह साल में की, दो-तीन जीवन में भी एक आदमी नहीं कर सकता । जितना उन दस-पन्द्रह सालों में बोला, उतने के लिए दस-पन्द्रह जीवन चाहिए । सुबह से लेकर रात तक चल ही रहा था, बोल ही रहा था, सफर ही कर रहा था ।

जरूरत, गैर-जरूरत विवाद और उपद्रव भी खड़े कर रहा था, क्योंकि जितने ही विवाद खड़े हो जायँ, उतना ही मेरे रजोगुण को निकल जाने की सुविधा थी ।

तो गान्धी की आलोचना हाथ में ले ली, या समाजवाद की आलोचना हाथ में ले ली। उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। राजनीति से मेरा कोई भी लगाव नहीं है; रत्ती भर भी मुझे कोई रस नहीं है। लेकिन जब सारा मुल्क एक विक्षिप्तता में पड़ा हो, सारी मनुष्यता...। और अगर आपको भी दौड़ना हो--उस मनुष्यता के बीच, तो खेल के लिए ही सही, आपको कुछ उपद्रव अपने आसपास निर्मित कर लेने चाहिए, कुछ विवाद खड़े कर लेने चाहिए। तो उस रजोगुण की यात्रा में ढेर विवाद खड़े हुए, और मैंने उनका काफी सुख लिया।

अगर कर्म की विक्षिप्तता से वे पैदा होते, तो उनसे दुःख पैदा होता। लेकिन सिर्फ रजोगुण के निकास की भाँति, अभिव्यक्ति की भाँति वे थे, तो उन सबमें खेल था और रस था। वे विवाद एक अभिनय से ज्यादा नहीं थे।

तो पंजाब में, पंजाब के एक बड़े वेदान्ती थे--हरिगिरी जी महाराज। उनसे वेदान्त पर एक बड़ा विवाद हुआ। मेरे लिए एक खेल था, उनके लिए गम्भीरता थी। क्योंकि उनके सिद्धान्त का सवाल था। वे करीब-करीब विक्षिप्त हो जाते थे।

पुरी के शंकराचार्य से पटना में विवाद हो गया। मेरे लिए खेल था, उनके लिए पूरे व्यवसाय का सवाल था। वे इतने विक्षिप्त हो गये, इतने क्रोध में आ गये कि मंच से गिरते-गिरते बचे। सारा शरीर कम्पित हो गया।

पर रजोगुण को पूरा निकल जाने देना जरूरी है। बहुत मित्रों ने मुझे रोकना चाहा, पर मैं अपनी तरफ से नहीं रुकना चाहता था। रजोगुण ही झर जाय, उसकी निर्जरा हो जाय, तो ही रुकूँगा।

महीने में तीन सप्ताह मैं ट्रेन में ही बैठा हुआ था। सुबह बम्बई था, तो रात कलकत्ता था, तो दूसरे दिन अमृतसर था, तो चौथे दिन लुधियाना था, दिल्ली था। पूरा मुल्क जैसे एक भ्रमण के लिए क्षेत्र था। और जगह-जगह उपद्रव स्वाभाविक थे, क्योंकि जब आप कर्म करेंगे, तब उपद्रव बिलकुल स्वाभाविक है। क्योंकि कर्म के प्रति-कर्म पैदा होते हैं, क्रिया से प्रतिक्रिया जन्मती है।

आलस्य के दिनों में मैं बोलता नहीं था, या न के बराबर बोलता था। कोई बहुत पूछे, तो थोड़ा बोलता था। रजोगुण के दिनों में कोई न भी पूछे, तो बोलता था। लोगों को ढूंढ कर बोलता था; और बोलने में एक आग थी। मेरे पास अब भी लोग जाते हैं, वे कहते हैं, अब आप वैसा नहीं बोलते हैं--कि दिल थर्रा जाता था। एक जोश--एक अंगार था। वह अंगार मेरा नहीं था। वह उस गुण का था, जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। वह रजोगुण को जलाने का ही एक उपाय था, कि वह भभक कर जले। वह पूरा का पूरा अंगारा बन जाय, तो जल्दी राख हो जाएगा। जितने धीरे-धीरे जलेगा, उतना समय लेगा। इकट्ठा जल जाय, पूर्णता से जले, तो जल्दी

राख हो जाएगा।

अब वह जल चुका है। और अब जैसे साँझ को सूरज सिकोड़ ले अपनी सारी किरणों को और जैसे साँझ को मछुआ अपने जाल को निकाल ले, ऐसा मैं सब सिकोड़ लूँगा। सिकोड़ लूँगा--कहना ठीक नहीं है। ऐसा सब सिकुड़ जाएगा। क्योंकि तीसरा तत्त्व शुरू होगा। इसलिए आप देख भी रहे हैं कि मैं धीरे-धीरे सब हाथ हटाता जा रहा हूँ। आपकी जगह पचास हजार लोग सुन सकते थे, लेकिन मैं राजी हूँ कि पचास लोग सुनें, पचास से पाँच पर राजी हो जाऊँगा। बोलने से न बोलने पर राजी हो जाऊँगा।

तो जैसे-जैसे रजोगुण पूरा फिक जाता है और सत्त्व की प्रक्रिया शुरू होती है वैसे-वैसे सभी क्रियाएँ फिर शून्य हो जाएँगी।

तमोगुण में सारी क्रियाएँ शून्य होती हैं। लेकिन वह शून्यता निद्रा जैसी होती है। सत्त्व गुण में भी सारी क्रियाएँ शून्य हो जाती हैं। लेकिन वह शून्यता जागरूकता जैसी होती है।

तमस और सत्त्व में एक समानता है कि दोनों शून्य होंगे। तमस का रूप निद्रा जैसा होगा; सत्त्व का रूप जागरण जैसा होगा।

और इसी को मैं जीवन की ठीक प्रक्रिया मानता हूँ कि जीवन का प्रथम चरण तमस में गुजरे, द्वितीय चरण रज में गुजरे, तृतीय चरण सत्त्व में गुजरे। और तीनों चरण में आप अपने को अलग रखने की कोशिश में लगे रहें, तो आप साधना में हैं। और तीनों चरणों में आप जानते रहें कि यह मैं नहीं कर रहा हूँ, ये गुण कर रहे हैं। यह मुझसे नहीं हो रहा है; मैं सिर्फ देखने वाला हूँ; मैं सिर्फ साक्षी हूँ। जब आलस्य हो तब भी, जब कर्म हो तब भी, जब सत्त्व हो तब भी। मैं सिर्फ देखने वाला हूँ, मैं मात्र द्रष्टा हूँ--ऐसी प्रतीति बनी रहे, तो तीनों गुण चुक जाएँगे अपने से और आप गुणातीत में ठहर जाएँगे।

पहुँचना है चौथे में--तीनों के पार। जिसको चौथा कहना ठीक नहीं; जहाँ कोई भी नहीं है; जहाँ तीनों नहीं हैं।

कृष्ण ने तीनों को इकट्ठा अभिव्यक्त किया है। मैंने तीनों को अलग-अलग एक-एक अवधि में बाँट कर उपयोग किया है। इसलिए मेरी बातों में भी असंगति मिलेगी। जो मैंने तमस के क्षणों मे कहा है और जिया है, वह मेरे रजस के क्षणों से उसका कोई मेल नहीं बैठेगा। और जो मैंने रजस के क्षणों में कहा है, मेरे सत्त्व के क्षणों में कही गई बातों से उसका बहुत विरोध हो जाएगा।

इसलिए जब कोई मेरे पूरे विचार पर सोचने बैठेगा, तो उसे तीन हिस्सों में तोड़ देना पड़ेगा। और तीनों के बीच बड़े विरोध होंगे। होना ही चाहिए। क्योंकि

तीन अलग गुणों के से माध्यम वे बातें प्रकट हुई हैं। और तीनों के बीच संगति असम्भव होगी। अगर मेरे व्यक्तित्व में संगति खोजनी हो, तो वह चौथे में मिलेगी—वह जो गुणातीत है। इन तीन में संगति नहीं मिल सकेगी। इन तीनों के पीछे जो छिपा साक्षीभाव है, उसमें ही संगति मिल सकती है।

● दूसरा प्रश्न : सात्त्विक कर्म का फल सुख, ज्ञान एवं वैराग्य कहा है। रजस एवं तमस कर्म का फल दुःख और अज्ञान कहा है। यदि रजस और तमस गुणों को साधना का आधार बनाया जाय, तो उनके फलों में क्या भिन्नता आ जाएगी?

फलों में तो कोई भिन्नता न आयेगी। फल-भोक्ता में भिन्नता आयेगी। फल तो वही होंगे। अगर सात्त्विक कर्मों का फल सुख है, तो सुख ही होगा, चाहे आप जागरूक हों और न हों। अगर जागरूक होंगे, तो आप जानेंगे कि सुख मुझ से दूर और अलग है, मेरे आस-पास है। मैं सुख नहीं हूँ, मैं सुख को देखने वाला हूँ।

चाहे रजस का फल हो दुःख, फल तो वही होगा। संत को भी वही फल होगा; असंत को भी वही फल होगा। लेकिन असंत समझेगा कि मैं दुःख हूँ और संत समझेगा कि मैं दुःख का द्रष्टा हूँ। वहाँ भेद होगा।

इसलिए बड़े मजे की बात है : दुःख का फल तो बराबर होगा, लेकिन संत दुःखी नहीं हो पायेगा और असंत दुःखी होगा। और दुःख दोनों को होगा। जो दुःख के साथ जुड़ जाएगा, तादात्म्य कर लेगा, आइडेन्टिटी बना लेगा, वह दुःखी होगा।

जैसे आपका कपड़ा कोई छीन ले और आप अगर सोचते हों कि कपड़ा ही मैं हूँ, तो कपड़े के साथ आपकी आत्मा जा रही है। और आप सोचते हों कि कपड़ा सिर्फ मेरे ऊपर है; कोई ले गया तो कपड़ा ही ले गया है, मैं नहीं चला गया हूँ। कपड़ा दोनों हालत में चला जाएगा। लेकिन एक हालत में आपको गहन पीड़ा से भर जाएगा। दूसरी हालत में आप हँसते रह जाएँगे।

शरीर तो दोनों का छूटेगा, लेकिन जिसने अपने को शरीर ही समझा हो, वह रोयेगा, छाती पीटेगा। और जिसने जाना हो कि मैं शरीर को देखने वाला हूँ, शरीर से भिन्न और अलग हूँ, वह शरीर को जाते हुए देखेगा : जैसे एक और वस्त्र छिन गया, जराजीर्ण हो गया था, नये वस्त्र की खोज में पुराने को छोड़ दिया। तीनों के फल होंगे, लेकिन साधक के लिए, जो उन तीनों के प्रति जागरूकता साध रहा है...।

और जागरूकता तो सभी को साधनी पड़ेगी, चाहे आप किसी गुण में हों। चाहे आपके हाथ पर जंजीरें लोहे की हों, चाहे आपके हाथ पर जंजीरें सोने की हों, चाहे आपके हाथ पर जंजीरें हीरे से मढ़ी हों, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जंजीर खोलने की कला तो एक ही होगी। वह सोने की है कि लोहे की, इससे कोई भेद नहीं पड़ता।

आपके चारों तरफ दुःख बँधा है कि सुख, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। खोलने की कुंजी तो एक ही है, और कुंजी है—साक्षीभाव। चाहे दुःख हो तो, चाहे सुख हो तो, आपको अपने को दूर खड़े होकर देखने की कला में निष्णात करना है। अभ्यास एक है—कि मैं अलग हूँ। कुछ भी घट रहा हो, वह घटना अ ब स कुछ भी हो, उस घटना से मैं दूर खड़ा देख रहा हूँ। मैं दर्शक हूँ।

● तीसरा प्रश्न : कल आपने समझाया कि सात्त्विक कर्मों का परिणाम है : सहज वैराग्य। जो व्यक्ति रजस या तमस के माध्यम से साधना कर रहा है, क्या उसका भी वैराग्य सहज ही होगा? क्या वैराग्य के प्रगटीकरण में भी भिन्नता आ जाएगी।

नहीं। वैराग्य हमेशा सहज होगा। सहज का मतलब समझ लें।

वैराग्य को ओढ़ा नहीं जा सकता, जबरदस्ती थोपा नहीं जा सकता। वैराग्य जब भी होगा, सहज होगा। और अगर सहज न हो, तो वह वैराग्य सिर्फ ऊपर-ऊपर होगा, भीतर उसके राग होगा। नाम वैराग्य होगा, लेकिन नये ढंग का राग होगा।

आप एक चीज को छोड़ सकते हैं—दूसरी चीज को पकड़ने के लिए। लेकिन यह वैराग्य नहीं है। वैराग्य का मतलब है : छोड़ना—बिना किसी को पकड़ने के लिए। सिर्फ मुट्ठी को खुला छोड़ देना है।

साधु-संत लोगों को समझाते हैं, तथाकथित साधु-संत, कि तुम यहाँ छोड़ो तो परलोक में पाओगे। उनकी बातें सुन कर अगर कोई यहाँ छोड़ दे, तो वह छोड़ नहीं रहा है। वह सिर्फ परलोक में पकड़ रहा है। उसका वैराग्य झूठा है, ओढ़ा हुआ है। राग ही काम कर रहा है। अब वह मन ही मन में पड़ा प्रसन्न हो रहा है कि मैंने यहाँ धन दिया, तो हजार गुना परलोक में मुझे मिलेगा। वह सौदा कर रहा है—त्याग नहीं कर रहा। वह इन्व्हेस्टमेंट कर रहा है। वह आगे की तैयारी कर रहा है। वह यहीं से आगे के लिए भी धन जोड़ रहा है।

और साधु समझाते हैं कि धन को इकट्ठा करके क्या करोगे? पुण्य इकट्ठा करो। क्योंकि धन तो छिन जाएगा; पुण्य कभी नहीं छिनेगा। लोभी उनकी बातों में आ जाएँगे। क्योंकि लोभी ऐसा ही खोज धन रहा है, जो छिन न सके। यह भाषा लोभ की है, त्याग की भाषा नहीं है।

सहज वैराग्य का अर्थ है : आपको दिखाई पड़ेगा : धन व्यर्थ है। आप इसलिए नहीं छोड़ रहे हैं कि इससे कोई बड़ा धन मिल जाएगा। आप धन की पकड़ ही छोड़ रहे हैं। आप इस संसार को इसलिए नहीं छोड़ रहे हैं कि परलोक मिल जाएगा। आप कुछ पाना ही नहीं चाहते। पाने की बात ही मूढ़तापूर्ण समझ में आ गई। यह बोध हो गया कि पाने की आकांक्षा में ही दुःख है—फिर वह पाना यहाँ हो, कि परलोक में हो। अब आप कुछ पाना नहीं चाह रहे। आप अब जो हैं, वही होने में प्रसन्न हैं,

तो वैराग्य।

वैराग्य का मतलब है : मैं जहाँ हूँ, जैसा हूँ, जो हूँ, उसकी स्वीकृति। उससे कोई असंतोष नहीं। राग का अर्थ है : जो भी मैं हूँ, उससे असंतुष्ट हूँ। और कुछ और हो जाऊँ, तो मेरा संतोष हो सकता है।

राग का सतोष है--भविष्य में; वैराग्य का संतोष है--अभी और यहीं। इसलिए वैराग्य सदा सहज होगा। एक।

साधना कोई भी हो, वैराग्य सदा फल होगा। साधना चाहे तमस की हो, चाहे रजस की, चाहे सत्त्व की, फल सदा वैराग्य होगा। साधना का फल--वैराग्य है। ध्यान का फल वैराग्य है। ज्ञान का फल वैराग्य है।

अगर आप दौड़ रहे हैं, कर्म कर रहे हैं...जैसा कि कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू कर्म कर, डर मत। लेकिन कर्म करने में भोक्ता मत रह, कर्ता मत रह, साक्षी हो जा।

अर्जुन को कृष्ण कह रहे हैं : तू रजस की साधना कर। क्योंकि कृष्ण जानते हैं भलीभाँति, कि अर्जुन का गुण है--क्षत्रिय का। रजस उसका स्वभाव है। वह उसकी प्रमुखता है। और जीवन भर उसने रजस को साधा है। आलस्य को दबाया है। सत्त्व दबाया है, रजस को उभारा है। क्योंकि क्षत्रिय अगर सत्त्व को उभारे, तो क्षत्रिय न हो सकेगा। अगर ब्राह्मण रजस को उभारे, तो नाम का ही ब्राह्मण रह जाएगा; क्षत्रिय हो जाएगा। परशुराम नाम के ब्राह्मण हैं। हाथ में उनके फरसा है। और क्षत्रियों से--कथा है कि--उन्होंने अनेक बार पृथ्वी को खाली कर दिया। वह महा-क्षत्रिय है। इसलिए परशुराम में सत्त्व प्रमुख नहीं हो सकता; रजस ही प्रमुख होगा। परशुराम की दोस्ती बुद्ध से नहीं बैठ सकती; मोहम्मद से बैठ सकती है। जहाँ सक्रियता प्रमुख हो, वहाँ रजस ऊपर होगा।

कृष्ण भलीभाँति जानते हैं : अर्जुन का सारा व्यक्तित्व, सारा ढाँचा रजस का है। इसलिए वे कह रहे हैं : तू भागने की बाते मत कर। यह तेरा स्वभाव नहीं है, यह तेरा स्वधर्म नहीं है। तू भाग न सकेगा। अगर तू भाग भी गया जंगल में, तो झाड़ के नीचे तू बैठ न सकेगा। तू वहीं जंगल में शिकार करना शुरू कर देगा। वहीं कोई झगड़े खड़े कर लेगा। तेरे क्षत्रिय होने से तेरा छुटकारा इतना आसान नहीं है। जो तेरा व्यक्तित्व है, उसी गुण की साधना में तू उतर--यही कृष्ण का पूरा संदेश है। इसलिए वे कह रहे हैं : तू लड़। लेकिन एक शर्त कि तू लड़ जरूर, युद्ध जरूर कर, लेकिन योद्धा अपने को मत समझ, कर्ता अपने को मत समझ। समझ कि तू परमात्मा के हाथ एक निमित्त, एक उपकरण, एक साधन है।

चाहे साधना सत्त्व की हो, चाहे कोई सद्गुणों को जीवन में उतारने में लगा

हो--सत्य को, करुणा को, अहिंसा को साध रहा हो, सब भाँति अपने आचरण को पवित्र कर रहा हो, शुचि कर रहा हो, शुद्ध कर रहा हो--वहाँ भी कर्ता भाव पकड़ सकता है। वहाँ भी यह हो सकता है कि देखो, मेरे जैसा साधु कोई भी नहीं है; कि मेरी जैसी पवित्रता कहाँ है! तो भूल हो गई। तो यह सत्त्वगुण जंजीर बन जाएगा। वहाँ भी जानना है कि यह जो भलापन हो रहा है, यह भी मेरे भीतर जो प्रकृति ने सत्त्व का गुण रखा है, उसका परिणमन है, उसका परिणाम है। मैं तो सिर्फ देखने वाला हूँ। मैं देख रहा हूँ कि मेरा सत्त्व सक्रिय हो रहा है, मेरे भीतर से करुणा बह रही है, अहिंसा बह रही है; मैं अहिंसक नहीं हूँ। मैं तो वैसे ही देख रहा हूँ, जैसे हिमालय देखता होगा कि गंगा बह रही है। आकाश से पानी गिरता है, गंगोत्री भर जाती है। गंगोत्री से गंगा बहती है। हिमालय यह नहीं कह रहा है कि मैं गंगा को बहा रहा हूँ। हिमालय सिर्फ देख रहा है कि गंगा मुझसे बह रही है। ऐसे ही सत्त्व की क्रियाएँ मुझसे हो रही हैं। आकाश से वर्षा हो रही है, प्रकृति उनको दे रही है, मैं सिर्फ देखने वाला हूँ।

अगर आप हिमालय की तरह खड़े हुए साक्षी हो गये, तो सत्त्व बंधन नहीं बनेगा अन्यथा सत्त्व भी बंधन बन जाएगा। और अगर आप साक्षी हो सकें, तो फिर तमस भी बंधन नहीं बनेगा। आप तब देख सकते हैं कि आलस्य मेरा नहीं है, आलसी मैं नहीं हूँ; यह भी मेरे भीतर प्रक्रिया है गुणों की।

विज्ञान इस संबंध में बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। वे सूचनाएँ ये हैं कि आपके भीतर जो भी हो रहा है, वह आपके शरीर के हारमोन्स पर निर्भर है--आप पर निर्भर नहीं है। हारमोन नया शब्द हो सकता है, लेकिन मलब उसका भी वही है, जो गुणों का होगा.। एक स्त्री है, एक पुरुष है। आप सोचते हैं : मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ। आप गलती में हैं। स्त्री को पुरुष हारमोन के इंजेक्शन दे दिए जायँ, उसके शरीर का रूपान्तरण हो जाएगा। वह पुरुष जैसी हो जाएगी। पुरुष को स्त्री हारमोन के इंजेक्शन दे दिए जायँ, उसका रूपान्तरण हो जाएगा, उसकी कामेन्द्रिय बदल के स्त्रैण हो जाएगी। तब आप बड़े चौकेंगे कि मैं कौन हूँ फिर? क्योंकि अगर इंजेक्शन आपको स्त्री से पुरुष बना सकें, पुरुष से स्त्री बना सके, तो आप कौन है? स्त्री हैं या पुरुष?

यही हमारी निरन्तर की खोज है और मैं मानता हूँ कि विज्ञान बड़े नये आधार दे रहा है--पुराने सत्यों के लिए। इसका मतबल हुआ कि आपका स्त्री होना या पुरुष होना प्रकृति के द्वारा है; आप दोनों के पार हैं। तो अगर आपकी प्रकृति बदल दी जाय, शरीर बदल दिया जाय, तो आप स्त्री हो जायँ या पुरुष हो जायँ।

आप हैरान होंगे : एक आदमी क्रोधित हो रहा है। हारमोन दे कर उसके क्रोध को सुलाया जा सकता है। वह फिर कभी क्रोधित नहीं होगा। आपके भीतर ग्रन्थियाँ हैं, जिनका ऑपरेशन कर दिया जाय, तो आप लाख उपाय करें, तो क्रोध

नहीं कर सकेंगे। चाहे कोई आपको पीट रहा हो, गाली दे रहा हो, अपमान कर रहा हो, आप कितना ही उठाने की कोशिश करें, भीतर क्रोध नहीं उठेगा। क्योंकि वह ग्रन्थि ही नहीं है, जिससे क्रोध उठ सकता है।

पावलव ने बहुत प्रयोग किये--कुत्तों के ऊपर। खूंखार कुत्ते, जो कि चीर के दो कर दें--अगर आप उनको जरा-सी चोट पहुँचा दें। उनकी ग्रन्थियाँ अलग कर दीं। आपरेशन किया, ग्रन्थि अलग कर दी। खूंखार कुत्ते बिलकुल ही निर्जीव हो गये। आप उनको मार रहे हैं, और वे पूंछ हिला रहे हैं। भूंकते भी नहीं। हमले की तो बात दूसरी, भूंकते भी नहीं। क्योंकि भौंकना भी कुछ हारमोन पर निर्भर है। अगर वह भीतर तत्त्व नहीं है, तो कुत्ता भौंक भी नहीं सकता।

कृष्ण और सांख्य की बड़ी गहरी खोज है कि आपके भीतर जो भी हो रहा है, वह प्रकृति से हो रहा है, गुणों से हो रहा है। आप सिर्फ साक्षी से ज्यादा नहीं हैं। मगर जो कुत्ता भौंक रहा है, हमला कर रहा है, आप उसको समझा सकते हैं कि ये तेरे शरीर में किसी ग्रन्थि के कारण हो रहा है। वह कहेगा : मैं भौंक रहा हूँ। कौन कह रहा है--ग्रन्थि है?

आप जब क्रोध से भर गये हैं, तो आप सोच सकते हैं कि आपके शरीर के भीतर कुछ रासायनिक तत्त्वों का यह खेल है? आप कहेंगे : मैं क्रोधित हूँ। मुझे गाली दी गई है। आपको गाली नहीं दी गई। क्योंकि अगर ग्रन्थि न हो, तो भी गाली दी जाएगी, क्रोध नहीं उठेगा। ग्रन्थि ने गाली पकड़ी, और ग्रन्थि उत्तर दे रही है, और आप केवल शिकार हैं। आप सिर्फ विक्टिम हैं। आपको सिर्फ भ्रान्ति है।

एक सुन्दर स्त्री दिखती है और आप उसके पीछे हो लिए। आप सोच रहे हैं : आप पीछे जा रहे हैं। कृष्ण कह रहे हैं : आप नहीं जा रहे, सिर्फ गुण पीछे जा रहे हैं। आपके भीतर के जो पुरुष हारमोन हैं, वे आपको खींच रहे हैं--स्त्री हारमोनों की तरफ। आप चले। आपके बस के बाहर हो गया मामला। आप कहते हैं : स्त्री बहुत सुन्दर है। यह आप सब समझा रहे हैं। ये सब हारमोन आपको समझा रहे हैं आपके भीतर--कि स्त्री बहुत सुन्दर है। रुकना भी चाहो, तो कैसे रुक सकते हो! लेकिन आपके हारमोन अलग कर लिए जायँ, सुन्दर से सुन्दर स्त्री गुजर जाय और आप बैठे देखते रहेंगे, भीतर कुछ भाव का उदय न होगा।

स्पेन का बहुत बड़ा विचारक है : देलगाडो, उसने आदमी के शरीर, उसके हारमोन, उसके रासायनिक तत्त्व, उसकी विद्युत प्रक्रियाओं पर बड़े गहरे प्रयोग किये। खतरनाक भी हैं प्रयोग; कीमती भी हैं। खतरा यह है कि देलगाडो कहता है कि अगर दुनिया से कोई भी चीज समाप्त करनी हो, तो धर्मों वगरह की चिन्ता में पड़ने की कोई जरूरत नहीं। विज्ञान को पूरा अधिकार दो, हम खतम कर देंगे।

अगर आप सोचते हों कि मुल्क बहुत कामुक हो गया है, तो फिजूल ब्रह्मचर्य की शिक्षा दे देकर कुछ न होगा। हम एक छोटा यन्त्र प्रत्येक शरीर में बिठाये देते हैं। बच्चा पैदा होगा, अस्पताल में ही हम उसको.... । उसको कभी पता भी नहीं चलेगा... ।

आप जान के हैरान होंगे कि आपकी खोपड़ी के भीतर संवेदनशीलता नहीं है। हालाँकि सब कुछ अनुभव आपको खोपड़ी से होता है। लेकिन संवेदनशीलता नहीं है। आपकी खोपड़ी फाड़ी जाय और उसमें एक छोटा पत्थर रख दिया जाय भीतर और खोपड़ी बन्द कर दी जाय, आपको बिलकुल पता नहीं चलेगा कि पत्थर भीतर है। भीतर कोई संवेदनशीलता नहीं है। पत्थर जिन्दगी भर रखा रहेगा, आपको कभी पता नहीं चलेगा।

पहले महायुद्ध में यह पता चला : कुछ लोगों को गोलियाँ लगीं सिर में, और किसी भूल-चूक के कारण, वे गोलियाँ नहीं निकाली जा सकीं, और उनके घाव भर गये और वे ठीक हो गये। दस साल बाद, किसी और कारण से सैनिक के सिर का ऑपरेशन किया गया और गोली की खोल भीतर मिली। और उसको पता ही नहीं था--दस साल तक। तब पहली दफा पता चला कि भीतर कोई संवेदनशीलता नहीं है।

तो देलगाडो कहता है कि हम बच्चे को, उसे पता ही नहीं चलेगा और एक छोटा सा यंत्र उसके सिर में लगा देंगे, अंदर रख देंगे--एक रेडिओ रिसीवर। सब बच्चों के सिर में वह होगा। फिर आप दिल्ली से रिले करें और सारा मुल्क वैसा व्यवहार करेगा। तो किसी को कहने की जरूरत नहीं है कि ब्रह्मचर्य साधो। सिर्फ वहाँ से, दिल्ली से, ठीक सूचना देने की जरूरत है कि सब ब्रह्मचारी हो जाओ। वह आपके भीतर का जो यन्त्र है, आपको तत्काल ब्रह्मचर्य की खबर देगा। आप अचानक पायेंगे कि मन में बड़ी साधुता उठ रही है। कोई रस नहीं रहा!

देलगाडो का प्रयोग मूल्यवान है, लेकिन खतरनाक है। क्योंकि आश्चर्य नहीं होगा कि कुछ दस-बीस-पच्चीस वर्षों के बाद सरकारें इसका उपयोग करना शुरू कर दें। क्योंकि यह तो बड़ा कीमती काम है। अगर पूरे मुल्क को युद्ध पर भेजना हो, तो भेजा जा सकता है। अगर हिंदुओं को भड़काना हो कि सारे मुसलमानों को खतम कर दो हिन्दुस्तान में, तो एक दिन में खतम करवाया जा सकता है। कोई ज्यादा उपद्रव की जरूरत नहीं है। सिर्फ उनके भीतर बैठा हुआ यन्त्र, उसको खबर होनी चाहिए।

देलगाडो ने स्पेन में बड़े प्रयोग किये। उसने एक सांड के सिर में यन्त्र लगा रखा है। भयंकर सांड है। यन्त्र लगा है, जो सांड के मस्तिष्क से जुड़ा है--वायरलेस से, रेडिओ से। सांड को भड़काया उसने। लाल झंडी दिखाई। सांड भागा देलगाडो की तरफ। लाखों लोग उत्सुक होकर देख रहे हैं कि खतरा है; सांड बिलकुल पास आ गया है। सिर्फ एक फुट दूर उसके सींग रह गये हैं। एक सेकेन्ड और कि वह देलगाडो

में सींग डाल देगा और देलगाडो खतम हो जाएगा। तब तक वह देखता रहा। तब उन लोगों ने देखा, उसने घड़ी पर हाथ रख कर कोई चीज दबाई। सांड वहीं के वहीं खड़ा हो गया। सिर्फ एक फुट दूर। एकदम निर्जीव हो गया! देलगाडो दूर गया, पचास फीट, फिर उसने बटन दबाई। झंडी दिखाई। सांड भागा। ऐसा उसने बीस दफे करके दिखाया। एक सेकेंन्ड पहले वह घड़ी दबायेगा, सांड वहीं के वहीं खड़ा हो गया, जैसे पत्थर हो गया। यह सांड जरूर मन में अपना तर्क सोच रहा होगा—अगर सोच सकता होगा। यह जरूर कुछ सोच रहा होगा कि किस कारण से मैं रुक रहा हूँ। सोच रहा होगा : दया खा रहा हूँ, कि छोड़ो भी, जाने भी दो। ऐसा कुछ आदमी मार देने जैसा नहीं है। मगर यह कुछ भी नहीं है मामला। सिर्फ उसके भीतर इलेक्ट्रोड्स लगे हैं। और देलगाडो इलेक्ट्रोड से उसके क्रोध के केंद्र को दबा देता है, तो उसका जो रोश है, वह बैठ जाता है।

सांख्य की यह दृष्टि बड़ी प्राचीन है कि आपके भीतर आप जो हैं, वह सिर्फ साक्षी मात्र है। सब कर्तृत्व प्रकृति का है। पुरुष का कोई कर्तृत्व नहीं है। इसलिए जो भी हो रहा है, आपके गुणों और शरीर से हो रहा है। और अगर आप इस सत्य को जान जायँ तो परम सिद्धि आपकी है।

अब हम सूत्र को लें।

'जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है...।' एक एक शब्द को ठीक से समझ लें।

'जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं, ऐसा देखता है और तीनों गुणों से अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।'

'तथा यह पुरुष इन स्थूल शरीर के उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःख से मुक्त हुआ परमानन्द—को प्राप्त होता है।'

'जिस काल में, समय की जिस अवधि में, जिस क्षण में...।' और यह क्षण अभी भी हो सकता है। इसके लिए कोई जन्मों तक रुकने की जरूरत नहीं है। क्योंकि यह आपके भीतर का जो स्वभाव है, यह कुछ निर्मित नहीं करना है। यह है ही। ऐसा है ही—अभी भी—इस क्षण भी। आप साक्षीरूप हैं और सारा कर्तृत्व आपके शरीर की प्रकृति में हो रहा है, गुणों में हो रहा है, तीन गुणों में हो रहा है, जो प्रकृति के तीन नियन्ता हैं और आप अभी भी अलग खड़े हैं। यह सिर्फ भ्रान्ति है कि आप सोचते हैं : आप कर रहे हैं।

जिस काल में, जिस क्षण में, द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है...। जिस क्षण आपको यह समझ में आ जाता है कि मेरे तीन गुण ही समस्त कर्म कर रहे हैं, मैं करने वाला नहीं हूँ; गुण ही कर रहे हैं, करवा रहे हैं...।

कठिन है। क्योंकि अहंकार को कोई जगह न रह जाएगी। इसलिए अहंकार बाधा बनेगा। अहंकार कहेगा कि कौन कहता है कि धन मैं नहीं कमा रहा हूँ? धन मैं कमा रहा हूँ। हालाँकि आपको पता नहीं है, आपके भीतर जो लोभ का गुण है, वे जो लोभ के परमाणु हैं, वे आपको धक्का दे रहे हैं। लेकिन आप सोचते हैं : मैं धन कमा रहा हूँ। धन के लिए तो आपके भीतर लोभ के परमाणु दौड़ा रहे हैं। लेकिन यह आप जो मैं-भाव निर्मित करते हैं, यह बिलकुल थोथा है, यह झूठा है।

आप कहते हैं : मैं प्रेम में पड़ रहा हूँ। मैं इस स्त्री के प्रेम में पड़ गया हूँ। जबकि सिर्फ आपके वासना-कण प्रेम में पड़ गये हैं।

इसलिए जिन लोगों ने सांख्य की इस दृष्टि को ठीक से समझा था, उन्होंने कई महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं, जो इस युग में समझना मुश्किल हो गई हैं। कठिन भी है समझना। मगर अगर यह सूत्र खयाल में आ जाय, तो समझ में आ सकता है।

महावीर ने अपने साधकों को कहा है कि वृद्धा और रुग्ण, मरणशैय्या पर पड़ी स्त्री से भी दूर रहना। इस बात को थोड़ा समझें।

बुद्ध से आनन्द पूछता है कि 'अगर कोई स्त्री मार्ग पर मिल जाय, तो मैं क्या करूँ?' तो बुद्ध कहते हैं : 'देखना मत, आँख नीची कर लेना।' आनन्द जिद्दी है, वह पूछता है : 'समझ लो, कि ऐसी अवस्था आ जाय कि आँख नीचे करना न हो पाये। कोई ऐसा कारण हो जाय, समझो कि स्त्री बीमार पड़ी है। प्यासी पड़ी हो, रास्ते के किनारे गिर पड़ी हो, गडढ़े में गिर पड़ी हो। मैं अकेला भिक्षु उस मार्ग पर हूँ। और मुझे उस स्त्री को उठाना पड़े, या पानी पिलाना पड़े, तो देखना तो पड़ेगा? समझ लो कि कोई ऐसी घटना में मुझे देखना पड़े, तो मैं क्या करूँ?' तो बुद्ध ने कहा : 'तो तू छूना मत।' तो आनन्द ने कहा, 'ऐसी कोई स्थिति भी हो सकती है भन्ते कि मुझे छूना भी पड़े, तो उस स्थिति में मैं क्या करूँ?' तो बुद्ध ने कहा : 'अब तू मानता ही नहीं, तो मैं आखिरी बात कहता हूँ : साक्षी भाव रखना। अगर तुझे यह करना ही पड़े, तो फिर तू होश रखना कि करने वाला तू नहीं है। छूना भी पड़े, तो समझना कि शरीर छू रहा है। देखना पड़े तो समझना कि आँख देख रही है। इस भ्रान्ति में मत पड़ना कि मैं देख रहा हूँ, कि मैं छू रहा हूँ। तो फिर तू आखिरी बात समझ ले कि तू साक्षी भाव रखना।'

महावीर कहते हैं : 'वृद्ध, रुग्ण, मरणशय्या पर पड़ी कुरूप स्त्री के पास भी भिक्षु न जाय।' हमें लगेगा : बड़े दमन की बातें कर रहे हैं। लेकिन महावीर केवल

गुणों की बात कर रहे हैं। महावीर यह कह रहे हैं कि जब तक साक्षी न जग गया हो, जब तक अवस्था साधक की हो, तब तक मरणशैय्या पर पड़ी स्त्री के हारमोन, उसके गुण-धर्म भी तुम्हारे भीतर छिपे पुरुष हारमोन को आकर्षित करेंगे। वे तुम्हें आकर्षित कर सकते हैं। और साधारण गृहस्थ को शायद न भी करें। लेकिन भिक्षु को कर ही सकते हैं। क्योंकि साधारण गृहस्थ वैसा ही है, जैसा भरा पेट आदमी, भोजन किया हुआ आदमी। उसको रास्ते के किनारे पड़ा हुआ जूठन आकर्षित नहीं करेगी। लेकिन उपवासी आदमी को कर सकती है। भूखे आदमी को कर सकती है।

मनु ने कहा है कि अपनी बहन, अपनी बेटी, अपनी माँ के साथ भी एकान्त में मत रहना--बिलकुल अकेले में। लगते हैं : बड़े दमनकारी लोग हैं। लेकिन उनके सूत्र त्रिगुणों के ऊपर आधारित हैं। वे यह कह रहे हैं कि सवाल यह नहीं है कि वह लड़की है तुम्हारी। गहरे में तो वह स्त्री है और तुम पुरुष हो। और हारमोन न लड़की को जानते हैं, न माँ को जानते हैं; न पिता को जानते हैं, न बहन को जानते हैं। हारमोन की कोई नैतिकता नहीं है। अगर पिता भी पुत्री के साथ एकान्त में बहुत दिन हो, तो धीरे-धीरे लड़की स्त्री रह जाएगी, पिता पुरुष रह जाएगा। और उन दोनों की प्रकृति के जो खिंचाव हैं, वे शुरू हो जाएँगे। यह तभी रुक सकता है, जब साक्षी जग गया हो। लेकिन साक्षी कितने लोगों का जगा है?

तो मनु की बात भी बड़ी गहरी है, पर सांख्य के सूत्रों पर खड़ी है।

सांख्य बड़ा अनूठा खोजी है। सांख्य की खोज गहरी है। खोज का सार यह है कि आपके भीतर दो तत्त्व हैं : एक प्रकृति और पुरुष। पुरुष तो आपकी चेतना है, और प्रकृति आपकी देह और मन की संघटना है। और जो भी क्रियाएँ हैं, वे सब प्रकृति से हो रही हैं। कोई क्रिया चेतना से नहीं निकल रही है। लेकिन चेतना को यह शक्ति है कि वह क्रियाओं के साथ अपने को जोड़ ले और कहे कि मैं कर रहा हूँ।

यह सम्भावना चेतना की है कि वह कहे कि मैं कर रहा हूँ। इतना कहते ही संसार निर्मित हो जाता है। इसलिए सांख्य सूत्र कहते हैं कि संसार का जन्म अहंकार के साथ है। मैं आया--संसार निर्मित हुआ। मैं गया--संसार विलीन हो गया। जैसे ही मैं गया, उसका अर्थ है कि मैं सिर्फ देखनेवाला रह गया।

और ध्यान रहे : देखना कोई क्रिया नहीं है; द्रष्टा होना कोई क्रिया नहीं है। द्रष्टा होना आपका स्वभाव है। आपको कुछ करना नहीं पड़ता--द्रष्टा होने के लिए। द्रष्टा आप हैं।

रात सोते हैं, सपना देखते हैं, तब भी आप द्रष्टा हैं। सुबह उठते हैं, एक गहरी नींद के बाद, तो भी आप कहते हैं : 'बड़ा आनन्द आया। नींद बड़ी गहरी थी।' इसका मतलब है कि कोई आपके भीतर देखता रहा कि नींद बड़ी गहरी थी। सुबह

आप कहते हैं : नींद बड़ी गहरी थी। बड़ा सुख रहा।

जागें, सोचें, सपना देखें--द्रष्टा सदा कायम है। यह द्रष्टा कोई क्रिया नहीं है। यह द्रष्टा आपका सतत स्वभाव है। यह एक क्षण को भी खोता नहीं है। लेकिन इस द्रष्टा को आप कर्ता बना सकते हैं--यह सुविधा है। चाहे इसे सुविधा कहें, चाहे असुविधा। यह स्वतंत्रता है। चाहे इसे स्वतंत्रता कहें, चाहे समस्त परतन्त्रता का मूल। क्योंकि इसी स्वतंत्रता के गलत उपयोग से संसार निर्मित होता है। और इसी स्वतंत्रता के सही उपयोग से मोक्ष निर्मित हो जाता है।

मोक्ष है : आपकी स्वतंत्रता का ठीक उपयोग। संसार है--आपकी स्वतंत्रता का गलत उपयोग।

आपकी चेतना प्रतिपल मात्र साक्षी है।

'जिस काल में द्रष्टा तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है....।' बस, ये तीन गुण ही कर रहे हैं। कोई और चौथा मेरे भीतर कर्ता नहीं है। 'अर्थात गुण ही गुणों में वर्तते हैं...।' गुण ही गुणों के साथ वर्तन कर रहे हैं; एक्शन रिएक्शन कर रहे हैं। मेरे भीतर का पुरुष गुण किसी के स्त्री गुण का पीछा कर रहा है। मेरे भीतर का क्रोध का गुण किसी के ऊपर क्रोध वर्षा रहा है। मेरे भीतर हिंसा का गुण किसी के प्रति हिंसा से भर रहा है।

कृष्ण यह कह रहे हैं अर्जुन से कि यह जो भी युद्ध हो रहा है, यह भी तीन गुणों का वर्तन है। इसमें उस तरफ खड़े लोग भी उन्हीं गुणों से सक्रिय हो रहे हैं। और अगर तू भागा, तो तू यह मत सोचना कि तूने संन्यास लिया। अगर तेरे भीतर भागने के परमाणु हों, तो तू भाग सकता है। लेकिन तब भी यह तू जानना कि ये गुण ही बरत रहे हैं। तू इस भ्रान्ति में मत पड़ना...। जो भी हो, तू एक बात खयाल रखना कि तू देखने वाला है।

'गुण ही गुणों में बर्तते हैं, ऐसा जो देखता है...।' और तीनों गुणों से अतीत, तीनों गुणों के पार बियॉन्ड, तीनों गुणों से ऊपर, दूर, अतीत, सच्चिदानन्दघन-स्वरूप मुझ परमात्म तत्त्व को जानता है...।

प्रत्येक के भीतर इन तीन तत्त्वों के पीछे छिपा हुआ कृष्ण है। ब्रह्म कहें, क्राइस्ट कहें, बुद्ध कहें, जो भी कहना हो। इन तीनों तत्त्वों के भीतर छिपा हुआ आपका परम स्वभाव है, परम ब्रह्म है।

'जो भी इन तीन गुणों को कर्ता की तरह जानता है, वह इन तीनों के परे मुझे प्राप्त हो जाता है।' वह प्राप्त है ही। सिर्फ यह प्रत्यभिज्ञा, यह रिकग्नीशन, यह पहचान प्राप्ति बन जाती है। इस क्षण भी आप आँख मोड़ लें गुणों से और गुणों के पीछे सरक के एक झलक ले लें, तो जो मोक्ष बहुत दूर दिख रहा है, वह जरा भी

दूर नहीं है। सिर्फ मुड़ कर देखने की बात है।

जो परमात्मा बड़ा जटिल मालूम पड़ता है, जिस पर भरोसा नहीं आता, तर्क जिसे सिद्ध नहीं कर पाता, जिस पर बड़ा अविश्वास और संदेह पैदा होता है, हजार चिन्ताएँ मन में पकड़ती हैं कि परमात्मा कैसे हो सकता है? वह परमात्मा इतना निकट है कि जितनी देर 'परमात्मा' शब्द कहने में लगती है, उतनी देर भी उसे पाने में लगने का कोई कारण नहीं है। मगर एक अबाउट टर्न, एक पूरा घूम जाना; जहाँ पीठ है, वहाँ चेहरा हो जाय और जहाँ चेहरा है, वहाँ पीठ हो जाय।

अभी हमारा चेहरा गुणों की तरफ है। कभी इस गुण में, कभी उस गुण में, कभी तीसरे गुण में हम उलझे हैं। और गुण का जो खेल है, जाल है, वह जाल हम अपना समझ रहे हैं।

रामकृष्ण के पास एक भक्त आता था। वह भक्त जब काली के दिन आते, तो कई बकरे कटवाता था। बड़ा समारोह मचाता। उसकी बड़ी गणना थी भक्तों में—बड़े भक्तों में। फिर अचानक उसने पूजा, भक्ति सब छोड़ दी। बकरे कटने बन्द हो गये। तो एक दिन रामकृष्ण ने उससे पूछा कि 'क्या हुआ? क्या भक्ति-भाव जाता रहा? क्या अब काली में श्रद्धा न रही?' उसने कहा, 'नहीं, यह बात नहीं। आप देखते नहीं: दाँत ही सब गिर गये।'

वह आदमी बड़ा ईमानदार रहा होगा। वह बकरे वगैरह काली के लिए कोई काटता है! काली तो बहाना है, तरकीब है। बकरे तो अपने ही दाँतों के लिए काटे जाते हैं। फिर उसने कहा कि 'दाँत ही न रहे, दाँत ही गिर गये, अब क्या काटना और क्या नहीं काटना? किसके लिए काटना?'

लेकिन वह आदमी ईमानदार रहा होगा। उसने एक बात तो कम से कम समझी कि यह सब दाँतों के लिए चल रहा था।

बुढ़ापे में लोग शीलवान हो जाते हैं; बुढ़ापे में लोग सच्चरित्रता की बात करने लगते हैं। बुढ़ापे में दूसरे लोग समझाने लगते हैं कि जवानी सब रोग है। जब वे जवान थे, तो उनके घर के बड़े-बूढ़े भी उन्हें यही समझा रहे थे कि जवानी सब रोग है। उनने उनकी नहीं सुनी। उनके बेटे भी उनकी नहीं सुनेंगे।

और बड़ा मजा यह है कि आपने बाप की नहीं सुनी, तो आप किस भ्रान्ति में हैं कि अपने बेटे को सोच रहे हैं—सुन ले। किसी बेटे ने कभी नहीं सुनी। क्योंकि जवानी सुनती ही नहीं। और बुढ़ापा बोले चला जाता है। बुढ़ापा समझाये चला जाता है। क्योंकि बुढ़ापा अब कुछ और कर नहीं सकता। करने के दिन गये। वह जिन तत्त्वों से करना निकलता था, वे क्षीण हो गये।

और बड़े मजे की बात है: जब आप नहीं कर सकते, तब भी आपको यह खयाल

नहीं आता कि शरीर के गुण-धर्मों क्षीण हो गये हैं, जिससे आप नहीं कर सकते हैं।

जब आप कर सकते थे, तब आप सोचते थे: मैं कर रहा हूँ। और जब आप नहीं कर सकते, तब आप सोचते हैं कि मैंने त्याग कर दिया!

बूढ़े अकसर सोचते हैं कि वे ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो गये हैं। अन्यथा उपाय क्या था? मजबूरी को ब्रह्मचर्य समझ लें, तो भ्रान्ति जारी रहती है। उचित यही होगा कि समझें कि जिन गुण-धर्मों से, जिस प्रकृति के तत्त्व से वासना उठती थी वे तत्त्व क्षीण हो गये, जल गये। जब वे जग रहे थे तत्त्व, सजग थे, तेज थे, दौड़ते थे तब आप उनका पीछा कर रहे थे। तब भी आप कर्ता नहीं थे। और अब भी आप कर्ता नहीं है। लेकिन वासना के दिन में समझा था कि मैं कर्ता हूँ। मैं हूँ जवान। और बुढ़ापे के दिन समझ रहे हैं कि मैं हूँ त्यागी, मैं हूँ ब्रह्मचारी। दोनों भ्रान्तियाँ हैं।

अगर आप देख पायें कि सारा खेल प्रकृति का है और आप उसके बीच में सिर्फ खड़े हैं—देखने वाले की तरह, एक क्षण को भी कर्तृत्व आपका नहीं है; आप मुक्त हो गये। यह जानते ही कि मैं कर्ता नहीं हूँ, बन्धन गिर गये। यह पहचानते ही कि मैंने कभी कुछ किया नहीं है, सारे कर्मों का जाल टूट गया।

कर्म आपको नहीं बाँधे हुए हैं...। लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि जन्मों-जन्मों के कर्म पकड़े हुए हैं। कोई कर्म आपको नहीं पकड़े हुए है, कर्ता पकड़े हुए है। कर्ता के छूटते ही सारे कर्म छूट जाएँगे। क्योंकि जिसने किये थे, जब वह ही न रहा, तो कर्म कैसे पकड़ें?

कर्म नहीं पकड़ता, कर्ता पकड़ता है। और कर्ता के कारण जन्मों-जन्मों के कर्म इकट्ठे रहते हैं, उनका बोझ आप ढोते हैं।

कई लोग मुझसे यह भी पूछने आते हैं कि 'पिछले कर्मों को कैसे काटें?' एक तो उनको किया नहीं कभी। अब उनको 'काटने का कर्म' करने की कोशिश चल रही है! कि उनको कैसे काटें? जिनको किया ही नहीं, उनको अनकिया कैसे करियेगा? वह भ्रान्ति थी कि आपने किया। अब आप एक नई भ्रान्ति चाहते हैं कि उनको हम काटने का कर्म कैसे करें! पहले संसारी थे, अब संन्यासी कैसे हों?

संन्यास का कुल मतलब इतना है कि करने को कुछ भी नहीं है, सिर्फ देखने को है। अब करने वाला मैं नहीं हूँ, सिर्फ देखने वाला हूँ। फिर जो भी हो रहा हो, उसे देखते रहना है सहज भाव से, उसमें कोई बाधा नहीं डालनी है।

शास्त्र कहते हैं कि ज्ञानी अगर ब्राह्मण की भी हत्या कर दे, तो उस पर कोई पाप नहीं है। अम्बेडकर ने बड़ा एतराज उठाया। क्योंकि यह बात बड़ी अजीब है और भी कोई सोचेगा, तो एतराज उठायेगा। इस तरह की छूट ज्ञानी को देनी कैसे सम्भव है? कानून सबके लिए है; नियम सबके लिए है। और इसमें कहा है कि ज्ञानी

अगर ब्राह्मण की भी हत्या कर दे, तो उसे कोई पाप नहीं है ! और अज्ञानी... ? किसी शास्त्र में लिखा नहीं है, लेकिन कहीं न कहीं लिखना जरूर चाहिए । अज्ञानी अगर पुतला भी बना के मिटटी का, काट दे, तो मैं मानता हूँ--पाप है । फर्क समझ लेना जरूरी है ।

ज्ञानी हम कहते उसे हैं, जो कहता है : मैं कर्ता नहीं हूँ । अगर वह काट भी रहा हो, तो सिर्फ उसके गुण ही काट रहे हैं, वह नहीं काट रहा है । और उस हत्या के कृत्य में भी वह सिर्फ साक्षी है ।

जरूरी नहीं कि ज्ञानी ऐसा करे; आवश्यकता भी नहीं है । ज्ञानी होते-होते वस्तुतः भीतर के सारे तत्त्व धीरे-धीरे समस्वरता को उपलब्ध हो जाते हैं । ऐसी घटना शायद ही कभी घटती है । लेकिन घट सकती है । उस सम्भावना को मान के यह शास्त्रों में सूत्र है कि अगर ज्ञानी ब्राह्मण को भी काट दे... । और ब्राह्मण को काटने का मतलब है... । क्योंकि ब्राह्मण का मतलब है : जिसने इस जीवन में श्रेष्ठतम, सुन्दरतम जीवनदशा पा ली हो, उसको भी काट दे, अच्छे से अच्छे फूल को भी मिटा दे, तो भी उसे कोई पाप नहीं है ।

पाप इसलिए नहीं है कि वह जानता है कि मैं कर्ता नहीं । और आप किसी की तस्वीर भी फाड़ दें, क्रोध से, मिट्टी का पुतला बना के काट दें... । ऐसा अज्ञानी करते भी हैं । किसी का पुतला बना के निकालेंगे जुलूस, उसको जला देंगे । उनका भाव बड़ी गहरी हिंसा का है । और जलाते वक्त उनके मन में पूरा भाव है कर्ता का कि हम मारे डाल रहे हैं ।

मैं कर्ता हूँ, तो मैं पापी हो जाता हूँ । मैं कर्ता नहीं हूँ, तो पाप का कोई कारण नहीं है । इस लिए हमने ज्ञानी को समस्त नियमों के पार रखा है । कोई नियम उस पर लगते नहीं । वह नियमातीत है । इसलिए नियमातीत है कि जब कर्तृत्व उसका कोई न रहा, तो सब नियम कर्म पर लगते हैं, और कर्ता पर लगते हैं । साक्षी पर कोई नियम कैसे लग सकता है ?

'जैसे ही कोई--तीन गुणों के सारे कर्म हैं--ऐसा जानता है, और स्वयं को साक्षी, वह मुझे सच्चिदानन्दनघनरूप परमात्मा को तत्त्व से पहचान लेता है, उस काल में वह पुरुष मुझे प्राप्त हो जाता है ।

'तथा यह पुरुष इन स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणों को उल्लंघन करके... ।' इस शरीर के जन्म के कारण वे तीनों गुण ही हैं । और उस तीनों गुणों के साथ मेरा तादात्म्य है, वही मुझे नये शरीरों को ग्रहण करने में ले जाता है ।

'जो उनका उल्लंघन कर जाता है, वह जन्म , मृत्यु, वृद्धावस्था--सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है ।' इसमें हमें समझ में आ जाएगा

कि हो सकता है : उसका नया जन्म न हो । यह भी समझ में आ सकता है कि उसे दुःख न हो । लेकिन मृत्यु न होगी, यह कैसे समझ में आयेगा ?

महावीर भी मरते हैं, बुद्ध भी मरते हैं, कृष्ण खुद भी मरते हैं । मृत्यु तो होगी, लेकिन जिसने भी जान लिया कि मैं साक्षी हूँ, वह मृत्यु का भी साक्षी रहेगा । तो वह देखेगा कि गुण ही मर रहे हैं; गुणों का जाल शरीर ही मर रहा है, मैं नहीं मर रहा हूँ । उसकी वृद्धावस्था सम्भव नहीं है । असल में उसकी कोई अवस्था सम्भव नहीं है ।

जवान हो कर वह जवान नहीं रहेगा । बूढ़ा होकर बूढ़ा नहीं रहेगा । बच्चा होकर बच्चा नहीं रहेगा । क्योंकि अब सब अवस्थायें गुणों की हैं । बचपन गुणों का एक रूप है । जवानी गुणों का दूसरा रूप है । बुढ़ापा गुणों का तीसरा रूप है । और वह तीनों के पार है । इसलिए न वह बच्चा है, न जवान, न बूढ़ा है । किसी अवस्था में नहीं है । सभी अवस्थाओं के पार है ।

इस ट्रान्सेंडेंस को, इस भावातीत अवस्था को अनुभव कर लेना मुक्ति है ।

इसलिए कृष्ण ने कहा कि 'अर्जुन जिस ज्ञान से परम सिद्धि उपलब्ध होती है, वह मैं तुझे फिर से कहूँगा ।' वे फिर-फिर कर, कैसे व्यक्ति अपनी परम मुक्ति को इसी क्षण अनुभव कर ले सकता है, उसके सूत्र दे रहे हैं ।

आज इतना ही ।

आठवाँ प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ८ दिसम्बर, १९७३

साधना और रसायन • सात्त्विक अहंकार • संन्यास गुणातीत है
गुणातीत के लक्षण

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

अर्जुन ने पूछा कि हे पुरुषोत्तम, इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन–किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो, मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है ।

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण बोले, हे अर्जुन, जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है ।

तथा जो साक्षी के सदृश्य स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणों में बर्तते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है एवं उस स्थिति से चलायमान नहीं होता है ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● पहला प्रश्न : साक्षी द्रष्टा चैतन्य सदा ही अलग कुंवारा और अनबँधा है । और सारी जीवन लीला गुणों का ही स्वयं में वर्तन है । ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति से सत्त्व, रज या तम के गुणों को वैज्ञानिक या रासायनिक ढंग से शांत कर दिया जाय या व्यक्ति को सात्त्विक बना दिया जाय, तो क्या वह उसे हमेशा से मुक्त साक्षी को उपलब्ध हो जाएगा ? यदि साक्षी सदा ही मुक्त एवं उपस्थित है, तो त्रिगुणों को रासायनिक ढंग से बदल देने पर क्या वह तब प्रगट न हो जाएगा ? क्या व्यक्ति तब धार्मिक नहीं हो जाएगा ? त्रिगुणों से उत्पन्न समस्या को रासायनिक ढंग से हल करने में या साधना के माध्यम से हल करने में क्या मौलिक भिन्नता है ?

प्रश्न महत्वपूर्ण है और बहुत गहरे से समझने की जरूरत है । प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि पश्चिम में वैज्ञानिक उन विधियों को खोज लिए हैं, जिनसे मनुष्य का रासायनिक परिवर्तन हो सकता है, रासायनिक ढंग से मनुष्य के शारीरिक गुणधर्म बदले जा सकते हैं और निश्चित ही उसका आचरण भिन्न हो जाएगा ।

आपके भीतर क्रोध का जो विषाक्त रासायनिक द्रव्य है, वह अलग किया जा सकता है, उसके विपरीत तत्त्व आपके शरीर में डाले जा सकते हैं, जो आपके आचरण को सौम्य और शांत बना देंगे । लेकिन ध्यान रखें : शांत बना देंगे, आचरण को—आपको नहीं ।

आपकी काम-वासना को बिना किसी साधना के, मात्र शारीरिक परिवर्तन से क्षीण किया जा सकता है; नष्ट भी किया जा सकता है । वासना जगाई भी जा सकती है, मिटाई भी जा सकती है ।

यह प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि पश्चिम में अब हमारे पास साधन उपलब्ध हैं । पहली दफा यह सम्भव हुआ है मनुष्यता के इतिहास में, जब हम आदमी को बिना साधना में उतारे भी आचरण की दृष्टि से बदल सकते हैं । लेकिन यह बदलाहट ऊपरी

होगी, और इस बदलाहट से कोई आत्मिक उत्थान नहीं होगा। बल्कि आत्मिक उत्थान की सारी संभावनाएँ ही नष्ट हो जाएँगी। उत्थान तो होगा ही नहीं, जिन परिस्थितियों के कारण उत्थान हो सकता था, वे परिस्थितियाँ भी मिट जाएँगी।

आपके भीतर क्रोध दो घटनाओं पर निर्भर है। एक तो आपके शरीर में क्रोध के परमाणु चाहिए, हारमोन चाहिए, रस चाहिए। और दूसरा : इन रसों को चेतना के साथ जोड़ने को तादात्म्य और भ्रांति चाहिए। इन दो बातों पर निर्भर है।

काम-वासना के लिए आपके शरीर में काम के तत्त्व चाहिए, और उन काम के तत्त्वों से जुड़ने की आकांक्षा चाहिए, एक होने की आकांक्षा चाहिए। अगर काम तत्त्व भीतर न हों, तो आप जुड़ना भी चाहें तो जुड़ न सकेंगे; काम-वासना में उतरना चाहें, तो भी उतर न सकेंगे। इसलिए आचरण आपका ब्रह्मचारी जैसा हो जाएगा। यद्यपि वह ब्रह्मचर्य नपुंसकता का दूसरा नाम होगा। लेकिन भीतर कोई क्रांति घटित न होगी।

यह ऐसे ही है, जैसे मेरे हाथ में तलवार हो। तलवार के बिना मैं किसी की गरदन न काट पाऊँगा। तलवार मेरे हाथ से छीन ली जाय, तो मैं गरदन नहीं काट पाऊँगा। इसलिए मेरा आचरण तो भिन्न हो जाएगा। गरदन काटने का उपाय न होगा? लेकिन गरदन सिर्फ तलवार के कारण मैं नहीं काट रहा था। तलवार तो केवल उपकरण थी। भीतर मैं था--हिंसा से भरा हुआ। भीतर मेरी वृत्ति थी--दूसरे को नष्ट करने की, वह मेरे भीतर मौजूद रहेगी। तलवार भी मेरे हाथ में हो और भीतर मेरी वृत्ति न रह जाय, तो मैं गरदन नहीं काटूँगा। गरदन काटने के लिए दो चीजें जरूरी हैं : मेरे भीतर मूर्च्छा चाहिए और हाथ में तलवार चाहिए। और जब इन दोनों का संयोग हो जाएगा, तो गरदन कटेगी। इन दो में से एक भी हटा लिया जाय, तो आचरण बदल जाएगा।

अगर भीतर का तत्त्व हटा लिया जाय, तो आचरण भी बदलेगा और आत्मा भी बदलेगी। अगर बाहर का तत्त्व हटा लिया जाय, तो केवल आचरण बदलेगा, आत्मा नहीं बदलेगी। और आत्मिक क्रांति आचरण के बदलने से नहीं होती। आत्मिक क्रांति आत्मा के बदलने से होती है। आचरण तो केवल छाया की भाँति है।

इस बात पर हमारा जोर नहीं है कि आपके आचरण में ब्रह्मचर्य हो। जोर इस बात पर है कि आपके भीतर ब्रह्मचर्य हो। वह भीतर का ब्रह्मचर्य बाहर के ब्रह्मचर्य को छाया की भाँति ले आयेगा। लेकिन रासायनिक प्रक्रियाओं से आपका आचरण बदला जा सकता है। भीतर आप वही होंगे, क्योंकि आपकी आत्मा कोई साक्षी-भाव को उपलब्ध नहीं हो जाएगी।

और ध्यान रहे : साक्षीभाव किसी रासायनिक द्रव्य पर निर्भर नहीं है। ऐसा

कोई रासायनिक तत्त्व नहीं है, जिसका इन्जेक्शन देने से आप में साक्षीभाव पैदा हो जाय। साक्षीभाव तो आपको साधना होगा; क्रमशः उपलब्ध करना होगा। वह लम्बे संघर्ष का परिणाम होगा, निष्पत्ति होगी। साक्षीभाव तो एक आंतरिक ग्रोथ, विकास है।

रासायनिक द्रव्यों से आचरण बदला जा सकता है। इसलिए ध्यान रखें : जो लोग धर्म को मात्र आचरण समझते हैं, उनका धर्म दुनिया में ज्यादा दिन टिकेगा नहीं। क्योंकि जिन-जिन बातों को धर्म कहते हैं, वह तो वैज्ञानिक कर सकेगा। ऐसा धर्म तो मरने के कगार पर पहुच गया है। मैं जिसे धर्म कहता हूँ, वही टिक सकता है भविष्य में।

जो लोग कहते हैं : अच्छा आचरण धार्मिकता है, उनके धर्म का अब कोई उपाय नहीं है। क्योंकि अच्छा आचरण तो अब इन्जेक्शन से भी पैदा हो सकेगा। जो वे कहते हैं कि बुरा आचरण मिटाने का एक ही उपाय धर्म है, वह भी गलत है। पश्चिम में बहुत से वैज्ञानिक प्रस्ताव कर रहे हैं कि अपराधियों को दण्डित करना बंद कर दिया जाय। वह भ्रांति है। अपराधियों की रासायनिक चिकित्सा की जाय। वे अपराध करते हैं, क्योंकि उनके भीतर कोई तत्त्व है रासायनिक, जो विक्षिप्त हालत पैदा कर देता है। उसे बदल दिया जाय। फाँसी देना फिजूल है। वर्षों तक उनको जेल में रखना व्यर्थ है। उससे उनका कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं हो रहा है। बल्कि वे और भी निष्णात और पक्के अपराधी होकर वापस लौटेंगे। बाहर तो वे प्रशिक्षित नहीं थे। भीतर उनको बड़े गुरु उपलब्ध हो जाएँगे।

एक आदमी चोरी करता है। वह अकेला चोरी कर रहा है। नया-नया है। पकड़ में भी आ जाता है। जब आप उसे पाँच साल जेल में रख देते हैं, तो वहाँ हजार उस्तादों के शिक्षण में रहने का मौका मिल जाता है, जो पुराने अभ्यासी हैं। वह पाँच साल की जेल के बाद ज्यादा कुशल चोर होकर बाहर निकलता है। अब उसे पकड़ना और मुश्किल हो जाएगा।

किसी को सजा देने से कोई उसके भीतर का परिवर्तन तो होता नहीं; बाहर का भी परिवर्तन नहीं होता। सिर्फ उसकी आत्मा और भी कठोर हो जाती है, और भी बेशर्म हो जाती है।

ज्यादा देर नहीं लगेगी कि वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों को राजी कर लेंगे। चीन में, रूस में राजनैतिक अपराधियों के साथ ये प्रयोग शुरू हो गए हैं। रूस में स्टैलिन के समय तक जो भी राजनैतिक विरोधी होता, उसकी वे हत्या कर डालते थे। अब वे हत्या नहीं करते हैं। अब राजनैतिक विरोधी को सिर्फ अस्पताल से वे पागल करार दे देते हैं। जो कि ज्यादा खतरनाक है। चिकित्सक लिखकर दे देते हैं कि इसके मस्तिष्क

में खराबी है। इतना लिखना काफी है। फिर उसे पागलखाने में डाल दिया जाता है। और पागलखाने में उसके मस्तिष्क का इलाज शुरू कर दिया जाता है। वह इलाज...। न तो वह आदमी पागल है, न तो उसको कोई रोग है, न कोई मानसिक विक्षिप्तता है। लेकिन इलाज यह है कि उसके भीतर जो-जो तत्त्व बगावती हैं, उनको धीरे-धीरे शांत कर दिया जाएगा। एक चार छः महीने के बाद वह आदमी बाहर आ जाता है। उसकी जो बगावत थी, विद्रोह था, सरकार के विपरीत सोचने की दशा थी, वह टूट जाती है। वह ज्यादा डोसाइल, ज्यादा आज्ञाकारी, अनुशासनाबद्ध हो जाता है। यह मारने से भी बुरा है।

देलगाडो ने सुझाव दिया है—सारी दुनिया की सरकारों को, कि आप युद्ध बंद नहीं कर सकते, अपराध बंद नहीं कर सकते। और पाँच हजार साल का मनुष्य-इतिहास कह रहा है कि कितना ही समझाओ, आदमी को बदला नहीं जा सकता। मेरा सुझाव मान लिया जाय। देलगाडो का सुझाव यह है कि ऐसे तत्त्व विज्ञान ने खोज लिए हैं, जिनको सिर्फ पानी में मिला देने की जरूरत—हर नगर की झील में। और आपके घर में पानी तो आ ही रहा है झील से पीने के लिए। उस पानी को पीकर ही आप अपने आप लड़ने की वृत्ति से शून्य हो जाएँगे।

लेकिन ध्यान रहे : इस तरह के शामक रासायनिक द्रव्य को पीकर जो लड़ने की वृत्ति से शांत हो जाएगा, वह बुद्ध या महावीर नहीं हो जाएगा। उसमें कोई बुद्ध की गरिमा प्रगट नहीं होगी। उसमें तो क्रोध की जो थोड़ी-बहुत गरिमा प्रगट होती थी, वह भी बंद हो जाएगी। वह केवल निर्जीव हो जाएगा। वह सुस्त और हारा हुआ लगेगा, जैसे उसके भीतर से प्राण खींच लिए गये हों। वह नींद-नींद में चलेगा। लड़ेगा नहीं, क्योंकि लड़ने के लिये जितनी ऊर्जा चाहिये, वह भी उसके पास नहीं है।

सिर्फ न लड़ने से कोई बुद्ध नहीं होता। बुद्ध होने से न लड़ना निकलता है, तब एक गौरव है, गरिमा है। जब आप भीतर इतने ऊँचे शिखर को छू लेते हैं कि लड़ना क्षुद्र हो जाता है, व्यर्थ हो जाता है।

एक तो उपाय यह है कि बिजली का बल्ब जल रहा है, हम एक डंडा मार के इसे तोड़ दें। बल्ब टूट जाएगा, बिजली लुप्त हो जाएगी। लेकिन आप डंडा मारकर बिजली को नष्ट नहीं कर रहे हैं। आप सिर्फ अभिव्यक्ति के माध्यम को तोड़ रहे हैं। बल्ब टूट गया, बिजली तो अभी धारा की तरह बही जा रही है। और जब भी आप बल्ब उपलब्ध कर देंगे, बिजली फिर जल उठेगी। आपने बिजली नहीं तोड़ी, केवल बिजली के प्रगट होने की जो व्यवस्था थी, वह तोड़ दी है। बिजली अभी भी बह रही है।

ये जो आपके शरीर के परमाणु हैं, रासायनिक परमाणु हैं, ये केवल अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इनको हटा लिया जाय, तो आपके भीतर जो छिपा हुआ है, वह प्रगट होना बंद हो जाएगा। फिर से डाल दिया जाय, फिर प्रगट होने लगेगा।

साधना का अर्थ है कि हम बिजली की धारा को ही विलीन कर रहे हैं, बल्ब को नहीं तोड़ रहे हैं। बल्ब को तोड़ने का कोई अर्थ ही नहीं है। बल्कि बल्ब तो उपयोगी है। क्योंकि वह बताता है : धारा बह रही है या नहीं; धारा है या नहीं।

आपके भीतर क्रोध यह बताता है कि अभी आप अज्ञान में डूबे हैं। वासना बताती है कि अभी आपके प्राण जागरूक नहीं हुए हैं। अगर ये तत्त्व हमने अलग कर लिए, तो क्रोध प्रगट होना बन्द हो जाएगा और आपको यह पता चलना भी बंद हो जाएगा कि आप गहन अज्ञान में पड़े हैं।

यह तो ऐसा हुआ, जैसे कोई आदमी बीमार हो और हम उसके बीमारी के लक्षण छीन लें, तो उसे यह भी पता न चले कि वह बीमार है। और यह भी खयाल में रखें कि क्रोध एक अवसर है। क्रोध सिर्फ बुरा है, ऐसा ना-समझ कहते हैं; मैं नहीं कहता।

क्रोध एक अवसर है, उसका आप बुरा उपयोग कर सकते हैं और भला भी। क्रोध एक मौका है। उसमें आप मूर्च्छित होकर पागल हो सकते हैं; उसी में आप जागरूक होकर बुद्धत्व को प्राप्त हो सकते हैं। तो अवसर को तोड़ देना उचित नहीं है।

जब क्रोध आप में उठता है, अगर आप क्रोध के साथ तादात्म्य कर लेते हैं, एक हो जाते हैं, तो आप किसी की हत्या कर बैठते हैं। लेकिन अगर आप क्रोध को सजग होकर देखते रहें, तो जो क्रोध किसी की हत्या बन सकता था, वही क्रोध आपके भीतर नव जीवन का जन्म बन जाएगा। सिर्फ आप साक्षी हो कर देखते रहें। क्रोध का धुआँ भीतर उठेगा। बादल घने होंगे। लेकिन आप दूर खड़े रहेंगे, आप मुक्त होंगे, पार होंगे, अलग होंगे। यह अलग होने का अनुभव, क्रोध से ही अलग होने का अनुभव नहीं, शरीर से अलग होने का अनुभव बन जाएगा। क्योंकि क्रोध शरीर के गुणों में पैदा हो रहा है।

वासना उठेगी, काम उठेगा, वे भी शरीर के गुणों की परणतियाँ हैं, उनका ही वर्तन हैं। असली सवाल यह है कि हम उनके साथ सहयोग करके उनमें बह जायँ, या उनके साथ सहयोग तोड़कर साक्षी की तरह खड़े हो जायँ? हम उनके गुलाम हो जायँ, या हम उनके मालिक हो जायँ? हम उन्हें देखें—खुली आँखों से, या अंधे होकर उनके पीछे चल पड़ें?

अवसर को मिटा देना खतरनाक है। इसलिए मैं मानता हूँ कि अगर वैज्ञानिकों की सलाह मान ली गई, तो लोगों का आचरण तो अच्छा हो जाएगा, लोगों का व्यवहार

तो अच्छा हो जाएगा, लेकिन आत्माएँ बिलकुल खो जाएँगी। वह दुनिया बड़ी रंगहीन होगी, बेरौनक होगी। उसमें न तो हिटलर जैसा क्रोधी होगा, न स्टैलिन जैसा हत्यारा होगा। उसमें बुद्ध जैसा शांत प्रज्ञा-पुरुष भी नहीं होगा। उसमें सोए हुए लोग होंगे--झोम्बी की तरह--बेहोश, मूर्च्छा में चलते हुए, सम्मोहित, यंत्रवत।

अगर आप क्रोध नहीं कर सकते, तो ध्यान रखें : आप करुणा भी नहीं कर पायेंगे। क्योंकि करुणा क्रोध के प्रति साक्षी हो जाने से पैदा होती है। और अगर आपके भीतर काम-वासना तोड़ दी जाय--शारीरिक ढंग से, रासायनिक ढंग से--तो आपके भीतर प्रेम का भी कभी उदय नहीं होगा। क्योंकि प्रेम काम-वासना का ही शुद्धतम रूपांतरण है।

आपके भीतर से बुरा मिटा दिया जाय, तो भला भी मिट जाएगा। आपसे अपराध नहीं होगा, यह पक्का है, लेकिन आपमें साधुता का भी जन्म नहीं होगा। और आपके भीतर परमहंस होने की जो संभावना है, वह सदा के लिए लोप हो जाएगी।

इसलिए रासायनिक परिवर्तन से कोई क्रांति होनेवाली नहीं है। वास्तविक परिवर्तन चेतना का परिवर्तन है--शरीर का नहीं।

और जो भी बुराइयाँ हैं, उनसे भयभीत न हों, परेशान न हों। सभी बुराइयाँ इस भाँति उपयोग की जा सकती हैं कि सृजनात्मक हो जायँ। ऐसी कोई भी बुराई नहीं जो खाद न बन जाय, और जिससे भलाई के फूल न निकल सकें। और बुराई को खाद बना देना--भलाई के बीजों के लिए--उस कला का नाम ही धर्म है।

जीवन में जो भी उपलब्ध है, उसका ठीक-ठीक सम्यक् उपयोग जो भी व्यक्ति जान लेता है, उसके लिए जगत में कुछ भी बुरा नहीं है। वह तमस से ही प्रकाश की खोज कर लेता है। वह रजस से ही परम शून्यता में ठहर जाता है। वह सत्त्व से गुणातीत होने का मार्ग खोज लेता है।

और ध्यान रहे : विपरीत मौजूद है, वह आपकी परीक्षा है, कसौटी है, चुनौती है, निकष है। उस विपरीत को नष्ट कर देने पर मनुष्य की सारी गरिमा मर जाएगी।

मनुष्य का गौरव यही है कि वह चाहे तो नरक जा सकता है और चाहे तो स्वर्ग। अगर नरक जाने के सब द्वार तोड़ दिये जायँ, तो साथ ही स्वर्ग जाने की सब सीढ़ियाँ गिर जाएँगी।

ध्यान रहे : जिस सीढ़ी से हम नीचे उतरते हैं, उसी सीढ़ी से हम ऊपर चढ़ते हैं। सीढ़ियाँ दो नहीं हैं। आप इस मकान तक सीढ़ियाँ चढ़कर आये हैं। जिन सीढ़ियों से चढ़कर आये हैं, उन्हीं से आप उतरेंगे भी। इस डर से कि कहीं सीढ़ियों से कोई नीचे न उतर जाय, हम सीढ़ियाँ तोड़ सकते हैं। लेकिन ध्यान रहे : तब ऊपर चढ़ने का उपाय भी समाप्त हो गया।

नरक उसी सीढ़ी का नाम है, जिसका नाम स्वर्ग है। फर्क सीढ़ी में नहीं है; फर्क दिशा में है। जब आप काम-वासना के प्रति अंधे होकर उतरते हैं, तो आप नीचे की तरफ जा रहे हैं। और जब काम-वासना के प्रति आप आँख खोल कर सजग होकर खड़े हो जाते हैं, तो आप ऊपर की तरफ जाने लगे।

मूर्च्छा अधोगमन है, साक्षीत्व ऊर्ध्वगमन है।

साधना का कोई परिपूरक नहीं है, कोई सब्स्टिट्यूट नहीं है, और न कभी हो सकता है। कोई सूक्ष्म उपाय नहीं है, जिससे आप साधना से बच सकें। साधना से गुजरना ही होगा। बिना उससे गुजरे आपका निखार पैदा नहीं होता। बिना उससे गुजरे आपके भीतर वह केंद्र नहीं जन्मता, जिस केन्द्र के आधार पर ही जीवन की परम सम्पदा पाई जा सकती है।

● दूसरा प्रश्न : सात्त्विक कर्म भी अगर बाँधता है, तो उसका फल ज्ञान और वैराग्य क्यों कहा गया है?

क्योंकि ज्ञान और वैराग्य भी बाँध सकता है।

निश्चित ही कृष्ण की बात उल्टी मालूम पड़ती है। सात्त्विक कर्म का फल है : ज्ञान और वैराग्य। और कृष्ण यह भी कहते हैं कि सात्त्विक कर्म भी बाँधता है। लेकिन साधारणतः तथाकथित साधु-संत समझाते हैं कि वैराग्य मुक्त करता है, ज्ञान मुक्त करता है।

तो कृष्ण सात्त्विक कर्म के जो फल बता रहे हैं, उन्हें तो साधारणतः लोग समझते कि वे मुक्त करनेवाले हैं। लेकिन ध्यान रहे : सात्त्विक कर्म से जो भी पैदा होगा, उसकी भी बाँधने की संभावना है।

आप ज्ञान से भी बँध सकते हैं। इसलिए उपनिषद कहते हैं : जो कहता हो : मैं आत्म-ज्ञानी हूँ, समझना कि वह आत्म-ज्ञानी नहीं है। जो कहता हो कि मैं वैराग्य को उपलब्ध हो गया हूँ, समझना कि उसका राग वैराग्य से हो गया है।

संन्यास भी गार्हस्थ बन सकता है। आपके हाथ में है। और गृहस्थी भी संन्यास हो सकती है। आपके हाथ में अज्ञान भी मुक्तिदायी हो सकता है और ज्ञान भी बंधन बन सकता है। आपके हाथ में है।

उपनिषद् कहते हैं कि जो ज्ञानी है, वह तो समझता है : मैं कुछ भी नहीं जानता। सॉक्रेटीज कहता है कि मुझसे बड़ा अज्ञानी कौन? लेकिन यह अज्ञान मुक्तिदायी है। ऐसे अज्ञान की प्रतीति का अर्थ हुआ : यह आदमी विनम्र हो गया; आखिरी सीमा तक विनम्र हो गया। अहंकार की आखिरी घोषणा, सूक्ष्मतम घोषणा भी इसके भीतर नहीं रही। ये यह भी नहीं कहता कि मैं जानता हूँ। यह कहता है : मुझे कुछ पता नहीं। मैं हूँ नहीं, पता भी किसको होगा?

और यह जगत् विराट् रहस्य है। इसको जानने का दावा वही कर सकता है, जिसके पास आँखें अंधी हों। यह इतना विराट् है कि जिसको भी दिखाई पड़ेगा, वह कहेगा : यह रहस्य है। इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

ज्ञान का दावा सिर्फ मूढ़ कर सकते हैं—ज्ञानी नहीं कर सकते हैं। ये वक्तव्य विरोधाभासी मालूम पड़ते हैं, क्योंकि हम समझ नहीं पाते। ज्ञानी का अर्थ ही यह है कि जिसने जान लिया कि यह रहस्य अनंत है।

अगर रहस्य अनंत है, तो आप दावा नहीं कर सकते कि मैंने जान लिया। क्योंकि जिसको भी हम जान लेंगे; वह अनंत नहीं रह जाएगा। जानना उसकी सीमा बन जाएगी। और जिसको मैं जान लूँ, वह मुझसे छोटा हो गया। वह मेरी मुट्ठी में हो गया।

विज्ञान जानने का दावा कर सकता है, क्योंकि क्षुद्र उसकी खोज है। धर्म जानने का दावा नहीं कर सकता। वस्तुतः धार्मिक व्यक्ति जानने की कोशिश करते-करते धीरे-धीरे खुद ही खो जाता है। बजाय इसके कि वह जान पाता है, जानने वाला ही मिट जाता है। इसलिए मैं का कोई भी दावा बाँधने वाला हो जाएगा।

और सात्त्विक कर्म इसीलिए बाँध सकता है, क्योंकि सात्त्विक कर्म में ज्ञान की किरणें उतरनी शुरू होती हैं। मन हलका हो जाता है, शुद्ध हो जाता है। लेकिन मन रहता है। शुद्ध हो जाता है। हलका हो जाता है। उसका बोझ नहीं होता। सुन्दर हो जाता है। सुगंधित हो जाता है। उसमें दुर्गन्ध नहीं रह जाती। उससे दुःख पैदा नहीं होता। उससे सुख पैदा होने लगता है। इस सुख की दशा में जीवन के रहस्य की किरणें उतरनी शुरू होती हैं।

लेकिन मन अभी कायम है, अभी मिट नहीं गया है। अगर आप सजग न हुए, तो मन तत्क्षण घोषणा कर देगा कि मैंने जान लिया। इस घोषणा के साथ ही बंधन शुरू हो गया। और जिससे आप मुक्त हो सकते थे, उसको आपने अपना कारागृह बना लिया। जो आपको पार ले जा सकता था, उसको पकड़ कर आप रुक गए। जैसे कोई नाव को पकड़ ले। नाव मुक्तिदायी है, उस पार ले जा सकती है। कोई नाव को पकड़ कर बैठ जाय। नाव में बैठ जाय, फिर नाव से न उतरे। उस किनारे पहुँच जाय, लेकिन इस बीच नाव से मोह पैदा हो जाय। तो फिर नाव भी बंधन बन गई।

मन जब तक शेष है, तब तक किसी भी चीज को बंधन बना सकता है : यह ध्यान रखना जरूरी है। तो जब मन में पहली दफा उस पार-लौकिक की किरणें उतरती हैं, तब यह ध्यान रखना जरूरी है कि यह भी सात्त्विक कर्म का वर्तन है इससे अपने को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

आपके घर की खिड़की पर काँच लगे हैं। किसी के घर की खिड़की पर काँच, लगे हैं, जो बहुत गंदे हैं। उनसे कोई किरण पार नहीं होती। सूरज निकला भी रहता है बाहर, तो भी उनके घर में अंधेरा रहता है। किन्हीं के मकान पर काँच है, वे थोड़े साफ हैं; उन्हें रोज साफ कर दिया जाता है। सूरज बाहर निकलता है, तो उसकी धुंधली आभा घर के भीतर आती है। किसी की खिड़की पर ऐसे काँच हैं, जो बिलकुल पारदर्शी हैं, कि अगर आप पास जाकर न छुएँ, तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि काँच है। बाहर सूरज निकलता है, तो ऐसा लगता है, भीतर ही निकल आया। काँच बिलकुल पूरा पारदर्शी है। फिर भी काँच है। और जब तक काँच है, तब तक आप घर के भीतर बंद हैं। और जब तक काँच है, तब तक जो किरणें आ रही हैं, उनमें काँच की मिलावट है, उनमें काँच का हाथ है।

तो अगर इतना शुद्ध काँच आपके दरवाजे पर लगा हो कि आपको पता भी न चलता हो कि काँच वहाँ है, क्रिस्टल लगा हो, तो आप इस भ्रांति में पड़ सकते हैं कि मैं घर के बाहर आ गया, क्योंकि सूरज की किरणें बिलकुल मेरे ऊपर बरस रही हैं। और आप घर के भीतर बैठे हैं।

इसलिए कृष्ण कहते हैं : शुद्ध कर्म भी बाँध लेगा, सात्त्विक कर्म भी बाँध लेगा। सात्त्विक कर्म शुद्धतम काँच की भाँति है। उसको भी तोड़कर बाहर निकल जाना है। तो ही आप घर के बाहर हुए; तो ही आप सूरज के नीचे सीधे हुए। तो जो साक्षात्कार होगा, वह सीधा होगा—उसमें कोई माध्यम न रहा।

जब तक माध्यम है, तब तक खतरा है। क्योंकि माध्यम का भरोसा नहीं किया जा सकता। माध्यम कुछ न कुछ बदलाहट तो करेगा ही। शुद्धतम माध्यम भी अशुद्ध होगा, क्योंकि उसकी मौजूदगी थोड़ा-सा अड़चन तो डाल ही रही है।

कई बार तो ऐसा होता है कि तमस में पड़े हुए आदमी को यह खयाल नहीं होता, यह अहंकार नहीं होता कि मैं कुछ हूँ। वह दीनता अनुभव करता है। एक अर्थ में निर-अहंकारी होता है। राजस में पड़े हुए व्यक्ति को भी ऐसी भ्रांति नहीं होती कि मैं ब्रह्म को उपलब्ध हो गया, कि मैंने सत्य को जान लिया। क्योंकि वह जानता है : मैं कर्मों के जाल में उलझा हूँ। ठीक वैसे ही जैसे गंदे काँच... । थोड़े साफ काँच वाले आदमी को यह खयाल नहीं होता कि मैं मकान के बाहर खुले आकाश के नीचे खड़ा हूँ। यह खतरा सात्त्विक कर्म वाले को सर्वाधिक है।

तो जो लोग भी सत्त्व के करीब आते हैं, वे एक खतरे के करीब आ रहे हैं। वहाँ चीजें इतनी साफ हो गई हैं कि यह भ्रांति हो सकती है कि मैं बाहर आ गया। और जिसको यह भ्रांति हो गई—भीतर बैठे हुए—कि मैं बाहर आ गया, वह बाहर जाने का काम बन्द कर देगा।

और यह काँच का कोई भरोसा नहीं है। जो आज शुद्ध है, कल अशुद्ध हो जाएगा; धूल जम जाएगी। एक क्षण में जो शुद्ध था, अशुद्ध हो सकता है। आज जो सात्त्विक है, वह कल रजस हो सकता है, परसों फिर तमस हो सकता है। इसलिए कृष्ण कहते हैं: सात्त्विक कर्म भी बाँधता है; उसके फल तीन हैं: सुख, ज्ञान, और वैराग्य।

ध्यान रहे: दुःखी आदमी कभी भी पूरा तादात्म्य नहीं कर पाता—दुःख के साथ। उसे लगता ही रहता है: मैं अलग हूँ, मैं दुःखी हूँ। मैं अलग हूँ, दुःख अलग है।

दुःख के साथ कौन तादात्म्य करेगा? हम जानते हैं कि दुःख आया है और चला जाएगा। मैं अलग हूँ। और हम पूरी कोशिश करते हैं कि दुःख जितनी जल्दी चला जाय, उतना अच्छा। लेकिन जब सुख आता है, तब हम तादात्म्य करते हैं।

फकीर जुन्नैद ने कहा है कि दुःख में ईश्वर का स्मरण कुछ भी मूल्य नहीं रखता, क्योंकि सभी स्मरण करते हैं। सुख में अगर कोई स्मरण करे, तो उसका मूल्य है।

सुख में कोई स्मरण नहीं करता, क्योंकि सुख के लिए ही तो हम स्मरण करते हैं। जब सुख ही मौजूद हो, तो स्मरण का कोई अर्थ न रहा।

दुःख से हम छूटना चाहते हैं, अलग होना चाहते हैं। सुख से हम जुड़ना चाहते हैं, एक होना चाहते हैं। और जिसके साथ हम जुड़ते हैं, एक होते हैं, वही हमारा वास्तविक बंधन बन सकता है।

इसलिए दुःख को एकदम अभिशाप मत मानना और सुख को एकदम वरदान मत मानना। अगर समझ हो, तो दुःख वरदान हो सकता है। और ना-समझी हो, तो सुख अभिशाप हो सकता है। अकसर यही होता है, क्योंकि ना-समझी सभी के पास है; समझदारी न कुछ के पास है।

जब भी आप सुखी होते हैं, तभी आप पतित होते हैं, तभी तादाम्त्य हो जाता है; तब आप सुख को जोर से पकड़ लेते हैं। और जिसको भी आप पकड़ लेते हैं, वही बंधन हो जाता है।

ध्यान रहे: बंधन आपको नहीं बाँधते, आपकी पकड़ बाँधती है। इसलिए सुख बंधन है; ज्ञान बंधन है। अगर अकड़ आ जाय कि मैं जानता हूँ; अगर यह खयाल आ जाय कि मैं ज्ञानी हूँ...। और आयेगा खयाल, क्योंकि अज्ञानी होने में पीड़ा है। अज्ञानी होने में अहंकार को चोट है।

कोई भी अपने को अज्ञानी नहीं मानना चाहता। अज्ञानी से अज्ञानी आदमी भी अज्ञानी नहीं मानना चाहता। अज्ञानी भी अपने ज्ञान के दावे करता है। गलत से गलत आदमी भी अपने ठीक होने के उपाय खोजता है।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा एक बन्दूक ले आया। वह निशाना लगा रहा था; सीख रहा था। उसके निशाने पचास प्रतिशत ठीक पड़ते थे। नसरुद्दीन ने उसको

डाँटा और कहा कि 'यह तू क्या कर रहा है? निशाने कम से कम नब्बे प्रतिशत के के ऊपर ठीक जाने चाहिए। यह भी कोई निशानेबाजी है? हमारा जमाना था, तब मैं सौ प्रतिशत निशाने ठीक मारता था।' उसके लड़के ने कहा, 'आप एक कोशिश कर के देखें; मैं भी देखूँ।' तब जरा मुल्ला नसरुद्दीन मुश्किल में पड़ा। क्योंकि उसे ठीक से बन्दूक पकड़ना भी नहीं आता था। लेकिन बाप बेटे से ज्यादा जानता है—यह दावा छोड़ नहीं सकता—किसी भी मामले में।

उसने बन्दूक ली हाथ में, इस बहाने कि माडेल थोड़ा नया मालूम पड़ता है, उसने लड़के से पूछा कि 'कैसे उपयोग में लाया जाता है? क्योंकि मेरे जमाने में दूसरे ढंग के मॉडल चलते थे। मगर निशाना तो मेरा बेचूक है।'

तब उसने निशाना लगाया। एक चिड़िया आकाश में उड़ रही थी। उसने निशाना मारा—बड़ी मेहनत से, बड़ी सोच समझ के, सारी ताकत और समझ लगा के, लेकिन ताकत और समझ से निशाने का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने निशाना नहीं लगाया है, यह करीब-करीब असंभव है कि निशाना लग जाय—उड़ती चिड़िया पर।

गोली तो चल गई, चिड़िया उड़ती रही। नसरुद्दीन ने कहा, 'देख, बेटा देख; चमत्कार देख। मरी हुई चिड़िया उड़ रही है!'

हमारा अहंकार सब जगह खड़ा है। भूल भी हो जाय, तो हम उसे लीप-पोत कर ठीक कर लेते हैं।

रवीन्द्रनाथ के हस्तलिखित पत्र प्रकाशित हुए हैं। वे कविता भी लिखते थे तो कहीं अगर कोई शब्द में भूल हो जाय, तो उसको काटना-पीटना पड़े, तो वे काटने-पीटने की जगह, जहाँ काटते थे, वहाँ कुछ डिजाइन बना देंगे, कुछ चित्र बना देंगे, ताकि कटा हुआ नहीं मालूम पड़े। जहाँ-जहाँ भूल होगी, शब्द कोई काटना पड़ेगा, तो उसके ऊपर कोई डिजाइन बना देंगे, कुछ रंग भर देंगे; कुछ चित्र बना देंगे। तो उनका पत्र ऐसा मालूम पड़ेगा कि उसमें कहीं भूल-चूक नहीं है। ऐसा लगेगा कि शायद सजाया है, डेकोरेट किया है।

लेकिन यह आदमी के मन की वृत्ति है। सब जगह सजा रहा है। कहीं भी कुछ ऐसा हो कि जिससे भूल पता हो, तो छिपा रहा है। हमारा अहंकार स्वीकार नहीं करना चाहता कि कोई भी कमी हम में है।

अज्ञानी भी दावा करता है—ज्ञान का। शायद अज्ञानी ही दावा करता है ज्ञान का। तो जब ज्ञान की पहली किरण उतरनी शुरू होगी, तो आपका सारे जन्मों का इकट्ठा जो सूक्ष्म अहंकार है, वह उसे पकड़ने की कोशिश करेगा।

जिब्रान ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है। जिब्रान ने लिखा है कि जब भी इस जगत् में कोई नया आविष्कार होता है, तो देवता और शैतान दोनों ही उस पर

झपट्टा मारते हैं—कब्जा करने को। और अकसर ही ऐसा होता है कि शैतान उस पर पहले कब्जा कर लेता है; देवता सदा पीछे रह जाते हैं। देवताओं को तो खयाल ही तब आता है, जब शैतान निकल पड़ता है। और शैतान तो पहले से ही तैयार है।

जब भी आपके जीवन में कोई घटना घटेगी, तो आपके भीतर जो बुरा हिस्सा है, वह तत्क्षण उस पर कब्जा करना चाहेगा। इसके पहले कि अच्छा हिस्सा दावा करे, बुरा हिस्सा उस पर कब्जा कर लेगा।

जैसे ही ज्ञान की किरण उतरेगी, वैसे ही अहंकार पकड़ेगा कि मैंने जान लिया। और इस वक्तव्य में ही वह ज्ञान की किरण खो गई और अंधकार हो गया। इस अहंकार के भाव में ही, वह जो उतर रहा था, उसका स्रोत बंद हो गया। और जब तक यह भाव मिटेगा नहीं, तब तक वह स्रोत बंद रहेगा।

सैकड़ों हजारों लोगों पर ध्यान के प्रयोग करने के बाद मैं कुछ नतीजों पर पहुँचा हूँ; उनमें एक यह है कि लोग मेरे पास आते हैं; जब उन्हें पहला अनुभव होता है ध्यान का, तो उनकी प्रफुल्लता की कोई सीमा नहीं होती। उनका पूरा हृदय नाचता होता है। लेकिन जब भी वे मुझे आकर खबर देते हैं, और उनकी प्रफुल्लता मैं देखता हूँ, तो मैं डरता हूँ। मैं जानता हूँ कि अब यह गया। अब कठिनाई शुरू हो जाएगी। क्योंकि अब तक इसे कोई अपेक्षा न थी। अब तक इसे कुछ पता न था। अन-एक्स-पेक्टेड था, अपेक्षित न था। घटना घटी है।

और यह घटना तभी घटती है, जब अपेक्षा न हो; अपेक्षा होते ही से बाधा पड़ जाती है। अब यह कल से रोज प्रतीक्षा करेगा। ध्यान इसका व्यर्थ होगा अब। अब यह ध्यान में बैठेगा जरूर, लेकिन पूरा नहीं बैठेगा। मन तो लगा रहेगा उस घटना में, जो कल घटी थी। और निश्चित रूप से वह आदमी एक-दो दिन में मेरे पास आता है; कहता है कि अब वह बात नहीं होती! चित्त बड़ा दुःखी है।

वह जो किरण उठती थी, इसने मार डाली। उसकी बात ही नहीं उठानी थी। उसको पकड़ना ही नहीं था। सिर्फ धन्यवाद देना था परमात्मा को कि 'तेरी कृपा है। क्योंकि मैं तो कुछ जानता भी नहीं था। हुआ। तू जान।' और भूल जाना था। दूसरे दिन वह किरण और भी गहरी उतरती।

जो भी जीवन में आये, उसे भूलना सीखना पड़ेगा; अन्यथा वही बंधन हो जाएगा। फिर बड़ी कठिनाई हो जाती है। कई दफा तो सालों लग जाते हैं। जब तक कि वह आदमी भूल ही नहीं जाता उस घटना को, तब तक दुबारा किरण नहीं उतरती। और वह जितनी कोशिश करता है, उतना ही कठिन हो जाता है। क्योंकि कोशिश से वह आई नहीं थी। इसलिए कोशिश से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तुम्हारे बिना प्रयत्न के घटी थी।

तुम भोले-भाले थे; तुम सरल थे; तुम कुछ माँग नहीं रहे थे। उस निर्दोष क्षण में ही वह सम्पर्क हुआ था। अब तुम माँग रहे हो। अब तुम चालाक हो। अब तुम भोले-भाले नहीं हो। अब तुमने गणित बिठा लिया है। अब तुम कहते हो कि अब ये तीस मिनट हो गए ध्यान करते, अभी तक नहीं हुआ..? अब तुम मिनट-मिनट उसकी आकांक्षा कर रहे हो, तो तुम्हारा मन बँट गया। अब तुम ध्यान में नहीं हो। अब तुम अनुभव की आकांक्षा कर रहे हो।

इसलिए ध्यान रखें: अनुभव को जो पकड़ेगा, वह वंचित हो जाएगा। और सात्त्विक अनुभव इतने प्यारे हैं कि पकड़ना बिलकुल सहज हो जाता है। छोड़ना बहुत कठिन होता है, पकड़ना बिलकुल सहज हो जाता है।

झेन फकीर... उनका शिष्य जब भी आकर उनको खबर देगा कि उसे कुछ अनुभव हुआ, तो उसकी पिटाई कर देते हैं। डंडा उठा लेते हैं। जैसे ही कहेगा कि कुछ अनुभव हुआ है कि ये टूट पड़ेंगे।

बड़ा दया का कृत्य है। हमें लगता है: बड़ी कठोर बात है। बड़ा दया का कृत्य है। उनकी यह मारपीट....। शिष्य को खिड़की से उठाकर फेंक देना...। कई बार ऐसा हुआ कि शिष्य की टाँग टूट गई, हाथ टूट गया। मगर वह कोई महँगा सौदा नहीं है।

जैसे ही उसने अनुभव को पकड़ा कि उन्होंने उसको इतना दुःख दे दिया कि वह अनुभव जैसे इस दुःख ने पोंछ दिया। अब वह दुबारा अनुभव को पकड़ने में जरा संकोच करेगा। और दुबारा गुरु के पास तो आकर कहेगा ही नहीं कि ऐसा हो गया। और जब भी उसको दुबारा पकड़ने का खयाल होगा, तब उसको याद आयेगा कि गुरु ने जो व्यवहार किया था, वह बताता है कि मेरी पकड़ में कहीं कोई बुनियादी भूल थी, क्योंकि गुरु बिलकुल पागल हो गया था। जो सदा शांत है, जिसने कभी अपशब्द नहीं बोला था, उसने डंडा उठा लिया था। उसने मुझे खिड़की के बाहर फेंक दिया था। कोई भयंकर भूल हो गई है।

सात्त्विक अनुभव ज्ञान देगा। ज्ञान से अहंकार जगेगा। सात्त्विक अनुभव वैराग्य देगा; वैराग्य से बड़ी अकड़ पैदा होगी। इसलिए संन्यासी जैसी अकड़ सम्राटों में भी नहीं होती।

संन्यासी जिस ढंग से चलता है, उसको देखें। सम्राट भी क्या चलें—! क्योंकि वह यह कह रहा है कि 'लात मार दी। यह सब संसार तुच्छ है, दो कौड़ी का है। हम इसे कोई मूल्य नहीं देते। तुम्हारे महल ना-कुछ हैं। तुम्हारे स्वर्ण शिखर, तुम्हारे ढेर—हीरे जवाहरातों के, कंकड़-पत्थर हैं। हम उस तरफ ध्यान नहीं देते। हमने सब छोड़ दिया। वैराग्य उदय हो गया है।'

यह वैराग्य खतरनाक है। यह तो एक नया राग हुआ। यह विपरीत राग हुआ। यह राग से मुक्ति न हुई। यह तो वैराग्य को ही पकड़ लिया तुमने !

मन की आदत पकड़ने की है। इससे कोई सम्बन्ध नहीं कि आप क्या उसे पकड़ाते हैं। उसकी आदत पकड़ने की है; वह पकड़ने का यंत्र है। आप धन कहो, वह धन पकड़ लेगा। दान कहो, दान पकड़ लेगा। भोग कहो, भोग पकड़ लेगा। त्याग कहो, त्याग पकड़ लेगा। ऑब्जेक्ट से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ भी दे दो, मन पकड़ लेगा। और जिसको भी मन पकड़ लेगा, वही बंधन हो जाएगा।

सैकड़ों कथाएँ हैं—वैरागियों की, जो अपने वैराग्य के कारण जन्मों-जन्मों मुक्त नहीं हो पाये। क्योंकि अकड़ उनकी भारी थी। दुर्वाशा के वैराग्य में कोई भी कमी नहीं है। लेकिन वह वैराग्य सिवाय क्रोध के कुछ भी पैदा नहीं करता है।

दुर्वासा का वैराग्य क्रोध क्यों पैदा करता है? क्योंकि दुर्वासा का वैराग्य भीतर अहंकार बन गया।

अहंकार पर जब चोट लगती है, तो क्रोध पैदा होता है। अगर भीतर अहंकार न हो, तो क्रोध के पैदा होने का कोई कारण नहीं है।

तो हम ऋषि-मुनियों की कथाए पढ़ते हैं कि वे अभिशाप दे रहे हैं। जिनको उन्होंने अभिशाप दिया है, वे शायद मुक्त भी हो गए हों। लेकिन जिन्होंने अभिशाप दिया है, वे अभी भी यहीं कहीं भटक रहे होंगे संसार में। उनके मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं : वैराग्य, ज्ञान, सुख—ये सभी बंधन हो सकते हैं। इसलिए तम से तो मुक्त होना ही है; रज से तो मुक्त होना ही है, सत्त्व से भी मुक्त होना है। असल में ऐसी कोई चीज न बचे भीतर, जिससे बंधने का उपाय रह जाय। सिर्फ शुद्ध चेतना ही रह जाय। कोई गुण न बचे; निर्गुणता रह जाय। उसी को गुणातीत कृष्ण कहते हैं। वही लक्षण है : परम संन्यस्त का, वीतराग का।

● तीसरा प्रश्न : आप किस गुणप्रधान वाले साधक को संन्यस्त कहते ह? क्या संन्यास लेते ही किसी एक गुण की प्रधानता होने लगती है?

गुण से संन्यास का सम्बन्ध ही नहीं है। निर्गुणता से संन्यास का सम्बन्ध है। संन्यास भीतर की भाव दशा है। न पकड़ने की कला का नाम संन्यास है। नहीं पकड़ेंगे कुछ भी। बिना पकड़े रहेंगे।

पकड़ने का नाम गृहस्थ है। घर बनाएँगे चारों तरफ। कुछ पकड़ेंगे। बिना सहारे नहीं जी सकेंगे। कोई आलम्बन चाहिए। भविष्य की सुरक्षा चाहिए। सम्पदा चाहिए। कुछ... चाहे वह सम्पदा पुण्य की हो, शुभ कर्मों की हो, सत्त्व की हो....।

संन्यस्त का अर्थ है : नहीं कोई घर बनाएँगे भीतर; नहीं कोई सम्पदा भीतर

इकट्ठी करेंगे; कोई परियोजना नहीं जुटाएँगे; भविष्य की सोचेंगे ही नहीं। इस क्षण जीएँगे। और इस क्षण चेतना की भाँति जीएँगे। और इतना ही जानेंगे कि मैं एक साक्षी हूँ; एक देखनेवाला; एक द्रष्टा हूँ।

संन्यस्त गुणातीत भाव है। और जब तक वह पैदा न हो जाय, तब तक सब संन्यास ऊपर-ऊपर है। सिर्फ आकांक्षा की खबर देता है कि आप खोज कर रहे हैं। उपलब्धि की खबर नहीं देता।

अच्छा है कि खोज कर रहे हैं। लेकिन यह मत मानकर बैठ जाना कि सन्यस्त हो गए हैं। जब तक निर्गुणता की प्रतीति न हो, तब तक भीतर संन्यासी का जन्म नहीं हुआ। तब तक आप यात्रा पर हैं। तब तक आप खोज रहे हैं।

यह खोज गुणों के सहारे होगी। लेकिन खोज का जो अंतिम फल है, वह गुणों के पार चला जाता है।

तो मैं संन्यस्त किसी गुणप्रधान वाले व्यक्ति को नहीं कहता। सत्त्वगुणप्रधान वाले व्यक्ति को भी संन्यासी नहीं कहता। साधु कहता हूँ। साधु का अर्थ होता है कि सत्त्व की प्रधानता है, शुभ की प्रधानता है। अच्छे उसके कर्म हैं। अच्छा उसका व्यवहार है। अच्छा उसका भाव है। लेकिन अच्छे से बँधा है। जंजीर है उसके हाथों पर, लेकिन फूलों की है। जंजीर है—सोने की है। लोहे की जंजीर नहीं है। लेकिन सोने की जंजीर में एक खतरा है कि मन होता है मानने का कि आभूषण है।

लोहे की जंजीर तो तोड़ने की इच्छा पैदा हो जाती है। सोने की जंजीर बचाने की इच्छा पैदा होती है। और अगर कोई कहे कि यह जंजीर है, तो हम कहेंगे : क्षमा करो, यह जंजीर नहीं है। यह आभूषण है।

साधुता सत्त्वगुण तक सम्बन्धित है। संन्यस्तता गुणातीत है।

संन्यस्त का अर्थ है : जिसने अब अपने को अपने शरीर, अपने मन से जोड़ना छोड़ दिया।

शरीर घर है, मन घर है, इन घर से जो छूट गया और जो अब भीतर के चैतन्य में थिर हो गया है। और जो एक ही भाव रखता है कि मेरा होना सिर्फ चेतना मात्र है, सिर्फ होश मेरा स्वभाव है। और जहाँ भी होश में खोता हूँ, वहीं स्वभाव खो रहा हूँ और संन्यास से च्युत हो रहा हूँ।

अब हम सूत्र लें।

'अर्जुन ने पूछा कि हे पुरुषोत्तम, इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है? और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है? तथा हे प्रभो, मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों के अतीत होता है?'

अर्जुन की जिज्ञासा करीब-करीब सभी की जिज्ञासा है। हम भी जानना चाहते

हैं कि इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन लक्षणों से युक्त होता है ।

अर्जुन ऐसा पूछता है कृष्ण से । सारिपुत्त बुद्ध से पूछता है; गौतम महावीर से पूछते हैं। निरंतर, जब भी कोई जागरूक पुरुष हुआ है, तो उसके शिष्यों ने निश्चित ही पूछा है कि लक्षण क्या है ? वह जिस दिव्य चेतना के अवतरण की आप बात करते हैं, जिस भगवत्ता की आप बात करते हैं, उस भगवत्ता का लक्षण क्या है ? हम कैसे पहचानेंगे कि कोई उस भगवत्ता को उपलब्ध हो गया ? उसका आचरण कैसा होगा ? इस प्रश्न को ठीक से समझना जरूरी है ।

पहली तो बात यह है कि लक्षण तो बाहर से बताये जा सकते हैं । और बाहर की सब पहचान काम-चलाऊ होगी । क्योंकि दो गुणातीत व्यक्तियों के बाहर के लक्षण एक जैसे नहीं होंगे । इससे बड़ी अड़चन पैदा हुई है ।

जिन्होंने महावीर से पूछा था कि उसके लक्षण क्या हैं, वे कृष्ण को गुणातीत नहीं मान सकते, क्योंकि महावीर ने वे लक्षण बताये जो महावीर ने अनुभव किये हैं--जो महावीर के जीवन में आये । तो महावीर का भक्त जानता है कि वह जो गुणातीत व्यक्ति है, वह वस्त्र भी त्याग कर देगा; वह दिगम्बर होगा । इसलिए दिगम्बरत्व लक्षण है गुणातीत का । दिगम्बर परम्परा में दिगम्बरत्व लक्षण है । जब तक वस्त्र हैं, तब तक कोई मोक्ष में प्रवेश नहीं कर सकता । क्योंकि वस्त्र को पकड़ने का मोह बता रहा है कि तुम अभी कुछ छिपाना चाहते हो । गुणातीत कुछ भी नहीं छिपाता । वह खुली किताब की तरह है ।

तो महावीर से जिन्होंने गुणातीत के लक्षण समझे थे, वे बुद्ध को भी गुणातीत नहीं मानते । बुद्ध उसी समय जीवित थे । एक जगह मौजूद थे । बिहार में एक ही प्रांत में मौजूद थे । कभी-कभी एक ही गाँव में एक साथ भी मौजूद थे ।

महावीर को माननेवाला बुद्ध को गुणातीत नहीं मानता, स्थितप्रज्ञ नहीं मानता, क्योंकि बुद्ध कपड़ा पहने हुए हैं । वह उतनी अड़चन है । इसलिए महावीर को तो जैन भगवान् कहते हैं; बुद्ध को महात्मा कहते हैं । करीब-करीब हैं । कभी न कभी ये वस्त्र भी छूट जाएँगे और किसी जन्म में यह व्यक्ति भी तीर्थंकरत्व को उपलब्ध हो जाएगा । लेकिन अभी नहीं ।

कृष्ण को तो मानने का कोई उपाय ही नहीं रहेगा । राम को तो किसी तरह नहीं माना जा सकता । मोहम्मद या क्राइस्ट को किसी तरह नहीं माना जा सकता कि ये गुणातीत हैं । अगर महावीर से लक्षण सीखे हैं, तो कठिनाई आयेगी ।

अगर आपने कृष्ण से लक्षण सीखे हैं, तो भी कठिनाई आयेगी । क्योंकि लक्षण काम-चलाऊ हैं । वास्तविक अनुभूति तो स्वयं जब तक कोई गुणातीत न हो जाय, तब तक नहीं होगी । लेकिन यह कहना फिजूल है--पूछने वाले से--कि जब तू गुणातीत हो जाएगा, तब जान लेगा । वह यह कहता है कि मैं नहीं हूँ गुणातीत, इसीलिए तो पूछ रहा हूँ । तो उसके पूछने को तृप्त तो करना ही होगा । इसलिए गौण, काम-चलाऊ लक्षण हैं । वे लक्षण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । अलग-अलग गुणातीत लोगों में भिन्न रहेंगे । उनके भीतर की दशा तो एक है । लेकिन उनके बाहर की अभिव्यक्ति अलग-अलग है । वे हजार कारणों पर निर्भर है ।

पर हमारा मन होता है पूछने का, कि लक्षण क्या है । क्योंकि हम ऊपर से चीजों को जाँचना चाहते हैं । हम जानना चाहते हैं कि कौन आदमी ज्ञान को उपलब्ध हो गया । हम कैसे पहचानें ? कोई सींग तो निकल नहीं आते कि अलग से दिखाई पड़ जाय कि यह आदमी ज्ञान को उपलब्ध हो गया । वह आदमी आप ही जैसा आदमी होता है । सच तो यह है कि वह अतिसाधारण हो जाता है । क्योंकि असाधारण होने का जो पागलपन है, वह अहंकार का हिस्सा है । वैसा आदमी अतिसाधारण हो जाता है । विशिष्टता की तलाश उसकी बंद हो जाती है ।

सभी साधारण लोग असाधारण होने की खोज कर रहे हैं । इसलिए जो वस्तुतः असाधारण है, वह बिलकुल साधारण जैसा होगा ।

झेन फकीरों ने उसके गुणों में एक गुण गिनाया है : मोस्ट आर्डिनेरी । अगर आप झेन फकीरों का गुण सुन लें, तो आपको बड़ी कठिनाई होगी । क्योंकि झेन फकीर कहते हैं : गुणातीत को तो पहचानना ही मुश्किल होगा--यही पहला लक्षण है । क्योंकि वह बिलकुल साधारण होगा । उसको विशिष्ट होने का कोई मोह नहीं है । वह दिखाने की कोशिश नहीं करेगा कि मैं तुमसे ज्यादा जानता हूँ, कि तुमसे ज्यादा आचरण वाला हूँ । वह यह कोशिश नहीं करेगा ।

एक झेन फकीर हुआ : नान-इन । वह अपने गुरु के पास गया । वह गुरु की तलाश कर रहा था । पर उसके मन में एक सुनी हुई बात थी कि जो दावा करे कि मैं गुरु हूँ, वहाँ से भाग खड़े होना । क्योंकि झेन फकीर कहते रहे हैं सदियों से कि वह जो गुरु होने योग्य है, वह दावा नहीं करेगा । वह उसका लक्षण है ।

नान-इन खोजता था । बहुत गुरुओं के पास गया । लेकिन वे सब दावेदार थे और सब ने कोशिश की कि बन जाओ शिष्य ! वह वहाँ से भाग खड़ा होता ।

फिर एक दिन एक जंगल से गुजरते हुए एक गुफा के द्वार पर उसे बैठा हुआ एक फकीर दिखाई पड़ा । वह थका-मांदा था । वह फकीर अति साधारण मालूम हो रहा था । न कोई गरिमा थी, न कोई विराट् तेज प्रगट हो रहा था । न कोई आभा-मण्डल दिखाई पड़ रहा था । जैसा कृष्ण, बुद्ध, महावीर के सिर के चारों तरफ बना होता है--ऐसा कुछ भी नहीं था । एक साधारण आदमी बैठा था--चुपचाप । कुछ कर भी नहीं रहा था ।

इसको प्यास लगी थी, भूख लगी थी। यह रास्ता भटक गया था। तो उसके पास गया। जैसे-जैसे पास गया, वैसे-वैसे लगा कि उसके पास जाने से इसके भीतर कुछ शांत होता जा रहा है। यह थोड़ा चौंका। वह आदमी—जब पास गया, तो पता चला—वह आँख बन्द किये बैठा है। वह इतना शांत था कि उससे यह कहके कि मुझे प्यास लगी है, बाधा देना इसे उचित नहीं मालूम पड़ा। तो यह चुपचाप उसके पास बैठ गया कि जब वह आँख खोलेगा, तब मैं बात कर लूंगा। लेकिन उसके पास बैठे-बैठे यह ऐसा शांत होने लगा और इसकी आँख बंद हो गई। साँझ का वक्त था। पूरी रात बीत गई।

सुबह वह फकीर उठा। उस फकीर ने यह भी नहीं पूछा कि कैसे आये? कहाँ से आये? कौन हो? वह उठा। उसने चाय बनाई। चाय पी फकीर ने। उसने इससे भी नहीं कहा—नान-इन से—कि तू एक चाय पी ले। फिर अपनी जगह आकर आँख बंद करके बैठ गया।

यह नान-इन भी उठा। जिस भाँति फकीर ने चाय बनाई थी, इसने भी चाय बनाई। पी; और यह जाकर अपनी जगह बैठ गया। ऐसा सात दिन चला। सातवें दिन उस फकीर ने कहा कि 'मैं तुझे स्वीकार करता हूँ।' वह आदमी नान-इन का गुरु हो गया।

नान-इन ने उससे पूछा कि 'तुमने मुझे क्यों स्वीकार किया?' तो उसने कहा, 'गुरु, वही गुरु होने योग्य है, जो दावा न करे। और शिष्य भी वही शिष्य होने योग्य है, जो दावा न करे। तू चुप रहा और तूने यह नहीं कहा कि हम शिष्य होने आये हैं। और तू चुपचाप अनुकरण करता रहा—छाया की तरह। सात दिन—जो मैंने किया, तूने किया। तूने यह भी नहीं पूछा कि यह करना कि नहीं करना।'

जब वह उठकर बाहर घूमने जाए, तो यह भी बाहर चला जाए। वह चक्कर लगाए, तो यह भी चक्कर लगाए झोपड़े का। जब वह बैठ जाए, तो यह भी बैठ जाए।

पर नान-इन ने कहा है कि सात दिन के बाद कुछ पान को भी नहीं बचा। सात दिन उसके साथ चुपचाप होना काफी था। मोस्ट आर्डिनेरी—एकदम साधारण आदमी—वहाँ गुरु मिल गया।

हर परम्परा अलग लक्षण गिनाती है। हर परम्परा को लक्षण गिनाने पड़े हैं, क्योंकि पूछने वाले लोग मौजूद हैं। पूछने में थोड़ी भूल है। लेकिन स्वाभाविक भूल है। क्योंकि हम जानना चाहते हैं कि वैसा पुरुष कैसा होगा।

अर्जुन पूछता है : तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है? लक्षण का मतलब है : जिन्हें हम बाहर से पहचान सकें। जिनसे हम कुछ अंदाज लगा सकें। पर इससे एक दूसरा खतरा...।

एक खतरा तो यह पैदा हुआ कि सब धर्मों ने अलग लक्षण गिनाए। क्योंकि लक्षण गिनाने वाले ने जो लक्षण अपने जीवन में पाये थे, वही उसने गिनाए। इसलिए सब धर्मों में एक वैमनस्य पैदा हुआ। और एक के तीर्थंकर को दूसरा अवतार नहीं मान सकता। और एक के क्राइस्ट को दूसरा क्राइस्ट नहीं मान सकता। एक के पैगम्बर को दूसरा पैगम्बर नहीं मान सकता। क्योंकि लक्षण अलग हैं। और लक्षण मेल नहीं खाते हैं।

दूसरा खतरा हुआ, जो इससे भी बड़ा है, वह यह कि लक्षणों के कारण कुछ लोग लक्षण आरोपित कर लेते हैं, तब वे दूसरों को तो धोखा देते ही हैं, खुद भी धोखे में पड़ जाते हैं। क्योंकि लक्षण पूरे के पूरे आरोपित किये जा सकते हैं।

अगर यह लक्षण हो कि साधु पुरुष मौन होगा, तो आप मौन हो सकते हैं। गुणातीत पुरुष बोलेगा नहीं, तो न बोलने में कोई बहुत बड़ी अड़चन नहीं है।

गुणातीत पुरुष... जो भी करने का हम लक्षण बना लें, वे लक्षण लोग नकल कर सकते हैं। और ध्यान रहे : नकल में कोई अड़चन नहीं है। कोई भी अड़चन नहीं है। महावीर नग्न खड़े हैं। सैकड़ों लोग नग्न खड़े हो गए। लेकिन नग्नता से कोई दिगम्बरत्व तो पैदा नहीं होता।

दिगम्बरत्व शब्द का मतलब है कि आकाश ही एकमात्र मेरा वस्त्र है। मैं और किसी चीज से ढँका हुआ नहीं हूँ। जैसे मैं पूरा अस्तित्व हो गया हूँ। सिर्फ आकाश ही मेरा वस्त्र है। लेकिन आप नंगे खड़े हो सकते हैं। फिर उसमें तरकीबें निकालनी पड़ती हैं।

दिगम्बर जैन मुनि जहाँ ठहरता है, तो भक्तों को इंतजाम करना पड़ता है। पुआल बिछा देते हैं उसके कमरे में। वह नहीं कहता कि बिछाओ। क्योंकि वह कहे, तो लक्षण से नीचे गिर गया। पुआल बिछा देते हैं। वह पुआल में छिप कर सो जाता है। क्योंकि किसी तरह का ओढ़ना नहीं कर सकते उपयोग। किसी तरह का बिछौना उपयोग नहीं कर सकते। कमरे को चारों तरफ से बिलकुल बंद कर देते हैं।

महावीर किसी कमरे में नहीं ठहरे। न किसी ने कभी पुआल बिछाई। और कोई बिछाता भी तो वे पुआल में छिपते नहीं। क्योंकि बिछाने वाला बिछा रहा होगा आपको उसमें छिपने की कोई जरूरत नहीं है। और कौन कह रहा है कि आप कमरे में रहो? पुआल भरी है, आप बाहर चले जाओ।

लेकिन यह आदमी बेचारा सिर्फ नग्न हो गया है। इसको वस्त्रों की अभी जरूरत थी। उसको सर्दी लगती है, गर्मी लगती है। और इसमें कोई एतराज नहीं कि इसको लगती है। कठिनाई यह है कि नाहक एक लक्षण को आरोपित करके चल रहा है।

महावीर ने कहा कि तुम भिक्षा माँगने जाओ। तुम किसी द्वार पर पहले से खबर मत करना कि मैं भिक्षा लेने आऊँगा। क्योंकि तुम्हारे निमित्त जो भोजन बनेगा, उसमें जितनी हिंसा होगी, वह तुम्हारे ऊपर चली जाएगी। तो तुम तो अनजाने द्वार पर खड़े हो जाना। जो उसके घर बना हो, वह दे दे। तुम्हारे भाग्य में होगा, तो कोई दे देगा। नहीं भाग्य में होगा, तो तुम भूखे रहना। वापस लौट आना—बिना किसी मन में बुराई को लिए कि लोग बुरे हैं; इस गाँव में किसी ने भिक्षा नहीं दी।

और महावीर ने एक शर्त लगा दी—कि अगर तुम्हारे भाग्य में है, तो तुम पक्की कसौटी कर लेना। तो तुम एक चिह्न लेकर निकलना; सुबह ही, उठते ही सोच लेना कि आज भिक्षा इस द्वार से माँगूंगा, जिस द्वार पर एक बैलगाड़ी खड़ी हो। बैलगाड़ी में गुड़ भरा हो। गुड़ में एक बैल सींग लगा रहा हो। और सींग में गुड़ लग गया हो। ऐसा कोई भी एक लक्षण ले लेना।

यह महावीर का एक लक्षण था, जिसमें वे तीन महीने तक एक गाँव में भटके और भोजन नहीं मिला। अब यह बड़ा अजीब-सा...जो भाव आ गया सुबह...। अब यह बड़ा कठिन है कि किसी घर के सामने बैलगाड़ी में भरा हुआ गुड़ हो। फिर कोई बैल उसमें सींग लगा रहा हो। और फिर उस घर के लोग देने को राजी हों। कोई उनकी मजबूरी तो है नहीं। उन्होंने कोई कसम खाई नहीं कि देंगे ही। तो महावीर कहते थे: 'भाग्य में नहीं है। तुम वापस लौट आना।' गुणातीत खुद से नहीं जीता, गुणों से जीता है। प्रकृति को बचाना होगा, तो बचा लेगी।

और एक दिन...। एक दिन जरूर ऐसा हुआ। तीन महीने बाद हुआ, लेकिन बराबर ऐसा हुआ कि....।

अभी भी जैन दिगम्बर मुनि ऐसा करता है। लेकिन उसके फिक्स्ड लक्षण हैं—दो-चार। हर मुनि के फिक्स्ड हैं। सब भक्त जानते हैं। वे सभी लक्षण अपने घर के सामने खड़े कर देते हैं। लक्षण ऐसे सरल हैं: घर के सामने केला लटका हो। एक केला लटका हो घर के सामने, वहाँ से भिक्षा ले लेंगे। तो सब मुनियों के लक्षण पता हैं।

महावीर ने यह नहीं कहा कि तुम अपने लक्षण निश्चित कर लेना। तुम रोज सुबह जो तुम्हारा पहला भाव हो, वह लेकर निकलना। इनके सब तय हैं। तो उलटी हिंसा पच्चीस गुनी ज्यादा होती है। क्योंकि एक घर से जो भिक्षा ले लेते, तो पच्चीस घर।... जितने भक्त उनके गाँव में होंगे, सब बनाएँगे और सब अपने घर के सामने लक्षण लटकाएंगे। और उनका लक्षण रोज मिलता है। तीन महीने तक किसी को चूकने की नौबत आती नहीं। रोज मिलेगा ही। लक्षण ही वे लेते हैं, जो सबको पता हैं। तो नकल हो सकती है।

एक बौद्ध भिक्षु भिक्षा माँगने गया। एक कौआ माँस का टुकड़ा लेकर उड़ता था, वह छूट गया उसके मुँह से। वह भिक्षापात्र में गिर गया। संयोग की बात थी। बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा है कि जो भी तुम्हारे भिक्षापात्र में डल जाय, वह तुम खा लेना; फेंकना मत। बुद्ध को भी नहीं सूझा होगा कि कभी कोई कौआ मांस का टुकड़ा गिरा देगा।

अब इस भिक्षु के सामने सवाल खड़ा हुआ कि अब क्या करना। क्योंकि बुद्ध कहते हैं...। मांसाहार करना कि नहीं? गिरा तो है पात्र में ही। नियम के बिलकुल भीतर है। तो उस भिक्षु ने जाकर बुद्ध से कहा कि 'क्या करूं? मांस का टुकड़ा पड़ा है, इसे फेंकूँ, तो नियम का उल्लंघन होता है। क्योंकि भोजन का तिरस्कार हुआ। मैंने माँगा भी नहीं था। कौए ने अपने आप डाला है।'

बुद्ध ने सोचा होगा। बुद्ध ने सोचा होगा: कौए रोज-रोज तो डालेंगे नहीं। कौओं को ऐसी क्या पड़ी है कि भिक्षुओं को परेशान करें। यह संयोग की बात है। तो बुद्ध ने कहा कि ठीक है। जो भिक्षापात्र में पड़ जाय, ले लेना। क्योंकि अगर यह कहा जाय कि फेंक दो इसे, तो अब एक दूसरा नियम बनता है कि भिक्षा-पात्र में जो मैं पसंद न हो, वह फेंकना फिर। फिर चुनाव शुरू होगा। फिर भिक्षु वही जो पसंद है, रख लेगा, बाकी फेंक देगा। उससे व्यर्थ भोजन जाएगा। और भिक्षु के मन में चुनाव पैदा होगा।

तो आज चीन में, जापान में मांसाहार जारी है। क्योंकि भक्त मांस डाल देते हैं भिक्षापात्र में। और सब भक्त जानते हैं कि भिक्षु मांस पसंद करते हैं।

वह कौए ने जो मांस डाला था, वह रास्ता खोल गया। सारा चीन, सारा जापान, लाखों बौद्ध भिक्षु मांसाहार करते हैं। क्योंकि वे कहते हैं: नियम है कि जो भिक्षापात्र में डाला जाय, उसे छोड़ना नहीं।

आदमी बेईमान है, वह नकल भी कर सकता है, नकल से तरकीब भी निकाल सकता है। सब उपाय खोज सकता है।

लक्षण की वजह से एक उपद्रव हुआ है कि हम लक्षण को आरोपित कर सकते हैं; हम उसका अभिनय कर सकते हैं।

तो हमारे मन में उठता है: क्या लक्षण होंगे।

कृष्ण ने जो लक्षण बताए हैं, वे कीमती हैं। यद्यपि बाहरी हैं, पर हमारे मन के लिए उपयोगी हैं।

'किन लक्षणों से युक्त होता है? किस प्रकार के आचरणों वाला होता है? मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों के अतीत होता है?'

कृष्ण ने कहा, 'हे अर्जुन, जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को, रजोगुण

के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है, और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है... ।'

यह बड़ा जटिल लक्षण है । खतरा भी उतना ही है । क्योंकि जितना जटिल है, उतना ही आपके लिए सुविधा है ।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि गुण जो भी करवाएँ... । तमोगुण कुछ करवाए... । तो जब तमोगुण प्रवृत्ति में ले जाता है, तब दुःखी नहीं होता कि मुझसे बुरा हो रहा है । रजोगुण किसी कर्म में ले जाता है, तो भी दुःखी नहीं होता--कि रजोगुण मुझे कर्म में ले जा रहा है । या सत्त्वगुण निवृत्ति में ले जाता है, तो भी सुखी नहीं होता कि सत्त्वगुण मुझे निवृत्ति में ले जा रहा है ।

न राग से दुःखी होता है, न वैराग्य से सुखी होता है । जो दोनों ही चीजों को गुणों पर छोड़ देता है, और समझता है : मैं अलग हूँ । उसका मतलब क्या हुआ ?

आपको क्रोध आया । अब रजोगुण आपको किसी की हिंसा करने में ले जा रहा है, तो आप कहेंगे कि यह तो लक्षण ही है--गुणातीत का--कि इस वक्त दुःख करने की कोई जरूरत नहीं है । मजे से जाओ । तो ऊपर से तो नकल हो सकती है, क्योंकि आप क्रोधित हो सकते हैं । और आप कह सकते हैं : मैं क्या कर सकता हूँ; यह तो गुणों का वर्तन है ।

आप हिंसा भी कर सकते हैं और कह सकते हैं : मैं क्या कर सकता हूँ--यह तो गुणों का वर्तन है । मेरे भीतर जो गुण थे, उन्होंने हिंसा की ।

इसलिए मैं कह रहा हूँ कि लक्षण बाहर हैं । और असली बात भीतर है । असली बात भीतर है । वह आप ही पहचान सकते हैं कि जब आप क्रोध में गए थे, तो आप सच में क्रोध का सुख ले रहे थे, या साक्षी थे । क्योंकि ध्यान रहे : जो आदमी क्रोध का साक्षी है, उसका क्रोध अपने आप निर्बीज हो जाएगा । क्रोध उठेगा भी तो उसमें प्राण नहीं होंगे । क्योंकि प्राण तो हम डालते हैं । उसमें धुआँ ही होगा, आग नहीं हो सकती ।

काम-वासना उठेगी, तो भी आपके साक्षीभाव के रहने से काम-वासना आपको ज्यादा दूर ले न जाएगी । थोड़ी हिलेगी, डुलेगी; विदा हो जाएगी । क्योंकि आपके बिना सहयोग के, आपके साक्षीभाव को खोये बिना कोई भी चीज बहुत दूर तक नहीं जा सकती । जब आप साथ होते हैं, तब चीजें दूर तक जाती हैं । लेकिन यह तो भीतरी बात है । इसको तय करना कठिन है ।

जैनों ने कृष्ण को नहीं माना, कि वे गुणातीत हैं । बड़ा मुश्किल है । कृष्ण तो गुणातीत हैं । लेकिन बात भीतरी है । कृष्ण उस युद्ध के मैदान पर खड़े हुए भी भीतर से वहाँ नहीं खड़े हैं । उस सारे जाल-प्रपंच के बीच भी भीतर से साक्षी हैं । लेकिन

जैन कहते हैं : हम कैसे मानें कि वे साक्षी हैं ? कौन जाने, वे साक्षी न हों और प्रवृत्ति में रस ले रहे हों ?

तो जैन तो कहते हैं कि अगर प्रवृत्ति के साक्षी हैं, तो प्रवृत्ति गिर जानी चाहिए । तो वे कहते हैं : हम महावीर को मानेंगे, क्योंकि वे प्रवृत्ति छोड़ कर चले गए हैं । लेकिन दूसरी तरफ भी खतरा वही है ।

आपकी प्रवृत्ति मौजूद हो, और आप जंगल जा सकते हैं । क्या अड़चन है ? और जंगल में आप ध्यान कर रहे हों । हम को लगता है : आप ध्यान कर रहे हैं । भीतर पता नहीं आप क्या सोच रहे हैं ? कौन-सी फिल्म देख रहे हैं ? क्या कर रहे हैं ?

महावीर के जीवन में उल्लेख है । बिम्बसार सम्राट, उस समय का एक बड़ा सम्राट महावीर के दर्शन को आया । जब वह दर्शन को आ रहा था, तो उसने रास्ते में अपने एक पुराने मित्र को, जो कभी सम्राट था, प्रसन्न कुमार उसका नाम था, वह मुनि हो गया था महावीर का; राज्य छोड़ दिया था उसने । वह बिम्बसार का बचपन का मित्र था और विश्वविद्यालय में दोनों साथ पढ़े थे । वह प्रसन्न कुमार उसे खड़ा हुआ दिखाई पड़ा--एक पर्वत की कन्दरा के पास--ध्यान में लीन--पत्थर की मूर्ति की तरह । बिम्बसार का मस्तक झुक गया । उसने सोचा कि हम अभी भी संसार में भटक रहे हैं । और यह मेरा मित्र कैसी पवित्रता को उपलब्ध हो गया । नग्न--पत्थर की तरह शांत खड़ा है !

नमस्कार करके, बिना बाधा दिये, वह महावीर के दर्शन को आया था । महावीर और घने जंगल में किसी वृक्ष के नीचे विराजमान थे । वह वहाँ गया । वहाँ जाकर उसने कहा कि 'एक बात मुझे पूछनी है ।' बिम्बसार ने कहा कि 'मेरा मित्र था : प्रसन्न कुमार, वह आपका मुनि हो गया है । उसने सब छोड़ दिया । हम संसारी हैं; अज्ञानी हैं; भटकते हैं । उसे रास्ते में खड़े देखकर मेरा चित्त बड़ा आनन्दित हुआ । मेरे मन में भाव उठा कि कब ऐसा शुभ क्षण आयेगा कि मैं भी सब छोड़कर ऐसा ही शांति में लीन हो जाऊंगा । एक सवाल मेरे मन में उठता है । अभी जैसा खड़ा है प्रसन्न कुमार, शांत, मौन, अगर उसकी अभी मृत्यु हो जाय, तो वह किस महालोक में जन्म लेगा ?'

महावीर ने कहा, 'अगर इस वक्त उसकी मृत्यु हो, तो वह स्वर्ग जाएगा ।' लेकिन तू जब उसके सामने झुक रहा था, उस वक्त अगर मरता, तो नरक जाता ।'

अभी मुश्किल से आधी घड़ी बीती थी, और बिम्बसार तो चौंक गया । क्योंकि जब वह सिर झुका रहा था, तब इतना शांत खड़ा था प्रसन्न कुमार कि यह सोचता था, वह स्वर्ग में है ही । और महावीर कहते हैं कि अगर उसी वक्त वह मर जाता, तो सीधा नरक जाता--सातवें नरक जाता ।

बिम्बसार ने कहा, 'मैं समझा नहीं । यह पहेली हो गई ।' महावीर ने कहा कि 'तेरे आने के पहले, तेरा फौज-फाँटा आ रहा था । (सम्राट था बिम्बसार । उसके सेनापति, वजीर, घोड़े--वे आगे चल रहे थे ।) तेरा एक वजीर भी उसके दर्शन करने तुझसे कुछ देर पहले पहुँचा । और उसने जाकर कहा कि 'यह देखो यह प्रसन्नकुमार बड़ा है--मूरख की भाँति । और यह अपना सारा राज्य अपने वजीरों के हाथ में सौंप आया है । इसका लड़का अभी छोटा है । ये सब लूटपाट कर रहे हैं । सारा राज्य बरबाद हुआ जा रहा है । और ये बुद्धू की भाँति यहाँ खड़े हैं !'

उसने सुना--प्रसन्न कुमार ने । उसको आग लग गई । वह भूल ही गया कि मैं मुनि हूँ--दिगम्बर । उसका हाथ तलवार पर चला गया । पुरानी आदत । उसने तलवार खींच ली । आँख बन्द थी । उसने तलवार खींच कर उठा ली । और उसने अपने मन में कहा, 'क्या समझते हैं, वे वजीर ? अभी मैं जिन्दा हूँ । एक-एक को गरदन से अलग कर दूँगा ।' और जब यह बिम्बसार उसके दर्शन कर रहा था, तब वह गरदनें काट रहा था । बाहर मूर्तिवत खड़ा था; भीतर गरदनें धड़ से नीचे गिराई जा रही थीं । पुराना क्षत्रिय था । 'मेरे जिन्दा रहते, मेरे लड़के को धोखा दे रहे हैं ? अभी मैं जिन्दा हूँ । क्या समझा है ? मुनि हो गया, इससे क्या फर्क पड़ता है । अभी चला जाऊँ, तो सब का फैसला कर दूँ ।'

तो महावीर ने कहा कि 'इस समय अगर वह मर जाय, तो स्वर्ग जाएगा । तो बिम्बसार ने कहा, 'अब दूसरी पहेली आप मुझे कह ही दें । अब क्या हो गया--इतनी जल्दी ?' तो महावीर ने कहा कि जब तलवार उसने वापस रखी, सिर पर हाथ फेरा--अपना ताज सम्हालने को, तो वहाँ तो कोई ताज न था; घुटा हुआ सिर था । जब सिर पर हाथ गया तो उसने कहा : 'मैं भी पागल हूँ' । मैं मुनि हो गया; प्रसन्न कुमार तो मर ही चुका है । कैसी तलवार ? किसकी हत्या ? मैं यह क्या हत्या कर रहा हूँ ।' सजग हो गया । उसे हँसी आ गई कि मन भी कैसा पागल है । इस समय वह बिलकुल साक्षी है । इस समय परदे से जो उसका तादात्म्य हो गया था, वह टूट गया । अगर अभी मर जाय, तो स्वर्ग जा सकता है ।

बड़ी कठिनाई है । लक्षण सब बाहर हैं । इसलिए लक्षण आप दूसरों पर मत लगाना । लक्षण आप अपने पर ही लगाना, तो ही काम के हो सकते हैं ।

'जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को... । जब सत्त्व गुण का प्रकाश हो और ज्ञान जन्मे और वैराग्य का उदय हो ।... 'रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को... । कर्म उठें, कर्मों का जाल फैले ।... 'तमोगुण के कार्य रूप मोह को... ।' तमोगुण के कारण लोभ, मोह और अज्ञान जन्में... । इन तीनों गुणों की प्रवृत्ति हो या निवृत्ति हो.... । न तो प्रवृत्ति में मानता है कि बुरा है, न निवृत्ति में मानता है कि भला है ।

न तो प्रवृत्ति से बचना चाहता है और न निवृत्ति होने पर, न प्रवृत्ति करना चाहता है । न तो आकांक्षा करता है । यह हो, और न आकांक्षा करता है कि यह न हो । जो भी हो रहा है, उसे चुपचाप प्रकृति का खेल मानकर देखता रहता है । इसे कृष्ण ने मौलिक लक्षण कहा--गुणातीत का ।

'तथा जो साक्षी के सदृश्य स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणों में वर्तते हैं--ऐसा समझता हुआ, जो सच्चिदानंद परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है एवं उस स्थिति से चलायमान नहीं होता है।'...

गुण प्रतिपल सक्रिय हैं; उनके कारण जो चलायमान नहीं होता है... जैसे जैसे एक दीया जल रहा है । हवा का झोंका आया; दीये की लौ कँपने लगी । ऐसी हमारी स्थिति है । कोई भी झोंका आये, किसी भी गुण से हम फौरन कँपने लगते हैं । गुण के झोंके आयें, तूफान चलें, भीतर कोई कम्पन न हो। तूफान आये और जायें आप अछूते खड़े रहें । न तो बुरा, न तो भला—कोई भी भाव पैदा न हो । न तो निन्दा और न प्रशंसा--कोई चुनाव पैदा न हो--चोइसलेस--विना चुने चुपचाप खड़े रहें ।

सारी नीति हमें चुनाव सिखाती है । और धर्म अ-चुनाव सिखाता है । नीति कहती है : यह अच्छा है, यह बुरा है । जब अच्छा उठे, तो प्रसन्न होकर करना । जब बुरा उठे, तो दुःखी होना--और करने से रुकना ।

तो यह गीता का सूत्र तो बिलकुल विपरीत है । यह कह रहा है कि बुरा उठे कि भला उठे, तुम कोई निर्णय ही मत लेना । बुरा उठे, तो बुरे को उठने देना । भला उठे, तो भले को उठने देना । न भले में स्तुति मानना, न बुरे में निंदा बनाना । तुम दोनों को देखते रहना कि तुम्हारा जैसा दोनों से कोई प्रयोजन नहीं है । जैसे रास्ते पर लोग चल रहे हैं और तुम किनारे खड़े हो। नदी बह रही है और तुम किनारे खड़े हो । आकाश में बादल चल रहे हैं और तुम नीचे बैठे हो । तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं । तुम्हारा कोई लेना-देना नहीं । तुम बिलकुल अलग-थलक हो ।

जब यह अलगपन का भाव पूरा उतर जाय, तभी चलायमान होने से बचा जा सकता है अन्यथा हर चीज चलायमान कर रही है । हर घटना, जो आसपास घट रही है, आपको हिला रही है । हर घटना आपको बदल रही है । तो आप मालिक नहीं हैं । हवाओं में काँपते हुए एक कपड़े के झंडे की तरह हैं ।

एक झेन कथा है । बोकोजू के आश्रम में मंदिर पर झंडा था बौद्धों का । बोकोजू एक दिन निकलता था, तो देखा कि सारे भिक्षु इकट्ठे हैं और बड़ा विवाद हो रहा है । विवाद यह था : एक भिक्षु ने, जो बड़ा तार्किक था, उसने सवाल उठाया था कि

झंडा हिल रहा है या हवा हिल रही है ? उपद्रव हो गया । कई मंतव्य हो गए । किसी ने कहा : 'हवा हिल रही है । झंडा कैसे हिलेगा, अगर हवा नहीं हिलेगी ? हवा हिल रही है । झंडा तो पीछा कर रहा है ।' किसी ने कहा : 'इसका प्रमाण क्या ? हम कहते हैं : झंडा हिलता है, इसलिए हवा हिलती मालूम पड़ रही है । अगर झंडा न हिले, तो हवा नहीं हिलेगी ।' किसी ने कहा : दोनों हिल रहे हैं ।

बोकोजू वहाँ आया और कहा, 'सब यहाँ से हटो और अपने वृक्षों के नीचे बैठ कर ध्यान करो । न झंडा हिल रहा है, न हवा हिल रही है, न दोनों हिल रहे हैं; तुम्हारे मन हिल रहे हैं । जब तुम्हारा मन न हिलेगा, तब झंडा भी नहीं हिलेगा, और हवा भी नहीं हिलेगी । तुम यहाँ से भागो और इसकी फिक्र करो कि तुम्हारा मन न हिले ।'

मन तभी रुकेगा हिलने से, जब हम निर्णय लेना बंद करें और स्वीकार करने को राजी हो जायें और जान लें कि यह वर्तन है गुणों का, यह हो रहा है । इससे मेरा कुछ लेना-देना नहीं है । मैं इसमें छिपा हूँ भीतर जरूर । यह मेरे चारों तरफ घट रहा है, मुझमें नहीं घट रहा है । मुझ से बाहर घट रहा है ।

'जो साक्षी के सदृश्य स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। गुण ही गुणों में वर्तते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानंदघनरूप परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है एवं उस स्थिति से चलायमान नहीं होता है ।' ...

और जैसे ही कोई व्यक्ति गुणों के वर्तन से वर्तित नहीं होता, गुण कँपते रहते हैं और वह अकम्प होता है, दोहरी घटना घटती है । एक तरफ जैसे ही हमारा सम्बन्ध गुणों से टूटता है, वैसे ही हमारा सम्बन्ध निर्गुण से जुड़ जाता है । इसे ठीक से समझ लें ।

जब तक हम गुणों से जुड़े हैं, तब तक पीछे छिपा हुआ निर्गुण परमात्मा हमारे खयाल में नहीं है । क्योंकि हमारे पास ध्यान एक धारा वाला है । वह सारा ध्यान गुणों की तरफ बह रहा है । जैसे ही हम गुणों से टूटते हैं, यही ध्यान परमात्मा की तरफ बहना शुरू हो जाता है ।

निर्गुण हमारे भीतर छिपा है । निर्गुण हम हैं और हमारे चारों तरफ गुणों का जाल है । अगर गुणों से बँधे रहें, तो निर्गुण का बोध नहीं होगा । अगर गुणों से मुक्त होंगे, तो निर्गुण में स्थिति हो जाती है । और निर्गुण में स्थिति ही सच्चिदानन्दनरूप परमात्मा में स्थिति है ।

आज इतना ही ।

नौवाँ प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक ९ दिसम्बर १९७३

गुणों का वर्तन • बन्धन और मुक्ति • सत् चित् आनन्द
आत्म-भाव और समत्व

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

और जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ, दुःख सुख को समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में समान भाववाला और धैर्यवान है; तथा जो प्रिय और अप्रिय को बराबर समझता है और अपनी निन्दा स्तुति में भी समान भाववाला है।

तथा जो मान और अपमान में सम है एवं मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम है, वह संपूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

पहले कुछ प्रश्न।

• पहला प्रश्न : आमतौर से समझा जाता है कि ज्ञानोपलब्ध व्यक्ति की समस्त वासनाएँ निर्जरा हो जाती हैं। और वे सभी तरह की प्रवृत्तियों के पार हो जाते हैं। लेकिन आपने कल-परसों के प्रवचन में कहा कि ज्ञानार्जन के बाद भी उनकी प्रकृतिजन्य प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। यहाँ तक कि वे काम, क्रोध और हिंसा में भी उतरते हैं। यद्यपि वे स्वयं उसकी ओर मात्र साक्षी भाव रखते हैं। इसे समझाएँ।

इस सम्बन्ध में कुछ बहुत मूलभूत बातें समझ लेनी जरूरी है।

पहली : साधारणतः हम ऐसा मानते रहे हैं, सुनते रहे हैं कि जो व्यक्ति वीतरागता को, ज्ञान की पूर्णता को उपलब्ध हो जाएगा, उसकी समस्त वृत्तियाँ क्षीण हो जाएँगी। यह ठीक भी है और गलत भी। ठीक तब है, जब उस व्यक्ति का शरीर गिर जाएगा। और यह अंतिम शरीर होगा। वीतरागता को उपलब्ध व्यक्ति का यह शरीर अंतिम होगा। इसके बाद नये शरीर को ग्रहण करने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि वासनाओं के बीज, मूल बीज भस्म हो गए। तो नया जन्म तो नहीं होगा।

इसलिए यह बात ठीक है कि वीतराग पुरुष की समस्त प्रवृत्तियाँ शून्य हो जाती हैं। लेकिन यह बात किसी और अर्थ में गलत भी है। क्योंकि वीतरागता के बाद भी इस देह में कुछ दिन रहना होगा। बुद्ध चालीस वर्षों तक इस देह में थे। ज्ञान की उपलब्धि के बाद भी शरीर को भूख लगेगी, प्यास भी लगेगी। शरीर रुग्ण भी होगा। शरीर विश्राम भी चाहेगा। शरीर को आक्सीजन की भी जरूरत होगी। जब तक शरीर है, तब तक शरीर की सारी अपनी प्रकृति के अनुकूल जरूरतें होंगी।

और ये जो तीन गुण हैं : सत्त्व, रज, तम—ये तीन भी शरीर के गुण हैं। जैसे भूख-प्यास शरीर को लगेगी, वैसे ही सत्त्व, रज, तम की प्रक्रियाएँ भी जारी रहेंगी। फर्क जो हो जाएगा, वह यह कि भूख लगते समय भी बुद्ध जानते हैं कि यह भूख मुझे

नहीं लगी है, यह भूख शरीर को लगी है । प्यास लगते समय भी जानते हैं कि इस प्यास का मैं साक्षी हूँ, भोक्ता नहीं हूँ! कर्ता नहीं हूँ ।

लेकिन शरीर को तो प्यास लगेगी ही । शरीर को तो भूख लगेगी ही । शरीर के जो भी गुण-धर्म हैं, वे जारी रहेंगे । शुद्धतम रूप में जारी रहेंगे । उनमें चेतना के जुड़ जाने से जो विक्षिप्तता पैदा होती है, वह खो जाएगी । इसलिए प्रवृत्ति जारी रहेगी ।

बुद्ध भी चलते हैं, उठते हैं, समझाते हैं, बोलते हैं । सोते हैं । भोजन करते हैं । जागते हैं । सारी क्रियाएँ जारी हैं । लेकिन इन क्रियाओं के कारण वे बँधते नहीं हैं; वह चीज टूट गई है । इन क्रियाओं से उनका कोई तादाम्य नहीं है । ये क्रियाएँ उनके आसपास हो रही हैं; बीच का केंद्र इनसे मुक्त हो गया है । चेतना इनसे अस्पर्शित और अछूती रह जाती है ।

इसलिए जो जन्मों-जन्मों में व्यक्तित्व के आधार बने होंगे, वे आधार काम करेंगे । इस शरीर के गिर जाने तक शरीर सक्रिय होगा । लेकिन यह सक्रियता वैसी ही हो जाएगी, जैसे आप साइकिल चला रहे हों और पैडल चलाना बंद कर दिया हो, फिर पुरानी गति और मोमेन्टम के कारण साइकल थोड़ी दूर चलती चली जाएगी । बाहर से देखनेवाले को तो ऐसा लगेगा कि अगर आपने साइकल चलानी बन्द कर दी है, तो साइकिल रुक क्यों नहीं जाती है ! आप पैडल चलाना बंद कर दिए हैं, लेकिन आप मीलों से साइकिल चला रहे हैं, तो एक गति चकों ने ले ली है, वह गति अपनी निर्जरा करेगी । अब आप बिना पैंडल मारे भी बैठे हैं साइकिल पर, साइकिल चलती चली जाएगी । यह जो चलना होगा, इसको आप नहीं चला रहे हैं । अब यह साइकिल ही चल रही है । इसमें आप कर्ता नहीं हैं । आप सिर्फ साक्षी हैं । आप साइकिल पर बैठे हैं और साइकिल चल रही है । और एक अनूठा अनुभव होगा कि मैं नहीं चला रहा हूँ, साइकिल चल रही है । और साइकिल इसलिए चल रही है कि पीछे मैंने उसे चलाया था ।

तो जन्मों-जन्मों में आपने शरीर को चलाया है । और जन्मों-जन्मों में आपने अपने गुणों को गति दी है । सब गुणों का मोमेन्टम हो गया है, सब गुणों ने अपनी गति पकड़ ली है । अब वे चलते जाएँगे । जब तक गति क्षीण न हो जाय, तब तक आपका शरीर चलता रहेगा । लेकिन यह चलना वैसा ही है, जैसे बिना पैडल चलाए साइकिल चल रही हो ।

पर बाहर से देखने वाले को तो यही लगेगा कि साइकिल चल रही है, इसलिए आप चला रहे होंगे । उसका लगना भी ठीक है । लेकिन आप जानते हैं कि अब आप चलाना छोड़ दिए हैं । अब आप सिर्फ प्रतीक्षा कर रहे हैं कि साइकिल रुक जाय ।

यह जो भीतर की भावदशा है, इसे हमें पहचानने में कठिनाई होती है, क्योंकि हम हमेशा गति दे रहे हैं । और हमें खयाल में भी नहीं आता कि बिना गति दिए जीवन कैसे चलेगा । लेकिन जीवन चलता है । थोड़े दिन चल सकता है । उन थोड़े दिन का मजा ही और है ।

आपने पतवार उठाकर रख ली है, और नाव आपनी गति से बही चली जाती जाती है । न आपकी आकांक्षा है कि नाव चले... ।

और ध्यान रहे : आप यह भी कह सकते हैं कि चलाना बंद कर दिया है, तो आप ब्रेक भी लगाकर साइकिल से उतर सकते हैं ? आप छलाँग लगाकर कूद सकते हैं ? जब चलाना ही बंद कर दिया है, तो अब साइकिल पर बैठे रहने का क्या प्रयोजन ?

इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है । क्योंकि जब तक किसी चीज की रोकने की आकांक्षा बनी रहे, उसका अर्थ है कि चलाने की आकांक्षा का विपरीत रूप मौजूद है । जब आकांक्षा पूरी हो जाती है, तो न चलाने का मन रह जाता है, न रुकने का मन रह जाता है । क्योंकि ब्रेक लगाने का तो एक ही अर्थ होगा कि बुद्ध और महावीर को आत्महत्या कर लेनी चाहिए । और कोई अर्थ नहीं हो सकता । अब कोई प्रयोजन तो रहा नहीं शरीर का, इससे छलाँग लगा जानी चाहिए । लेकिन जीवन में ब्रेक लगाने का एक ही अर्थ है कि आप आत्महत्या कर लें; आत्मघात कर लें ।

ध्यान रहे : आत्म-घात करनेवाला व्यक्ति जीवन से मुक्त नहीं हुआ है । जीवन से बँधे होने के कारण लोग आत्म-घात करते हैं । यह उलटा दिखाई पड़ेगा । लेकिन जो लोग आत्म-घात करते हैं, उनका निरीक्षण करें । उनके आत्म-घात का कारण यह नहीं है कि वे जीवन से मुक्त हो गए हैं । उनके आत्म-घात का सदा ही यही कारण है कि जीवन से उन्होंने जो चाहा था, वह जीवन उन्हें नहीं दे पाया । वे जीवन से मुक्त नहीं हुए हैं, जीवन से निराश हो गए हैं । और निराश उसी मात्रा में होते हैं हम, जिस मात्रा में हमने आशा बाँधी हो । किसी ने सोचा हो कि जीवन में स्वर्ग मिलने वाला है और वह न मिले, तो दुःख होता है । और वैसा व्यक्ति आत्म-घात कर लेता है ।

ज्ञानी को न तो आकांक्षा है कि जीवन चले । न रुकने का कोई सवाल है । क्योंकि न चलने से कुछ मिलने की आशा है, न रुकने से कुछ मिलने की आशा है । न तो वह सोचता है कि जीवन में चलता रहूँ, तो मुझे कोई स्वर्ग मिलने वाला है । न वह सोचता है कि रुक जाने से कोई स्वर्ग मिलने वाला है । वह जानता है कि स्वर्ग तो मैं हूँ । चलने और रुकने से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ।

तो अगर वह कोशिश कर के ब्रेक भी लगाए, तो समझना कि अभी पैडल मार रहा है । क्योंकि ब्रेक लगाना भी पैडल मारने का ही हिस्सा है । वह कुछ कर रहा है । अभी कर्तापन उसका नहीं गया है । साक्षी नहीं हुआ । अभी ब्रेक लगा रहा है । कल

पैडल लगा रहा था; अब वह ब्रेक लगा रहा है। लेकिन अभी साइकिल से उसका कर्तापन जुड़ा हुआ है।

और साक्षीपन का अर्थ हुआ कि अब वह कुछ भी नहीं कर रहा है। अब जो हो रहा होगा, वह जानता है कि प्रकृति से हो रहा है। वही कृष्ण कह रहे हैं।

कृष्ण कह रहे हैं कि जिस दिन कोई जान लेता है कि गुण ही गुण में वर्त रहे हैं, मैं पृथक हूं, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, मैं करने वाला ही नहीं हूँ--जिस दिन ऐसा द्रष्टा-भाव गहन हो जाता है, उसी दिन व्यक्ति गुणातीत अवस्था को उपलब्ध हो जाता है। उसी दिन वह सच्चिदानंदघन हो जाता है--उसी क्षण।

रुकने की वासना भी चलने की वासना का हिस्सा है। रुकना भी चलने का एक ढंग है; क्योंकि रुकना भी एक क्रिया है। तो ऐसा व्यक्ति जिसकी प्रवृत्ति खो गई है...।

ध्यान रहे, हम तो हमेशा विपरीत में सोचते हैं, इसलिए कठिनाई होती है। हम सोचते हैं : जिसकी प्रवृत्ति खो गई है, वह निवृत्ति को साधेगा। निवृत्ति भी प्रवृत्ति का एक रूप है। कुछ करना भी कर्ता-भाव है; और कुछ न करने का आग्रह करना भी कर्ता-भाव है।

अगर मैं कहता हूँ कि यह मैं न करूँगा, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मैं मानता हूँ कि यह मैं कर सकता था। यह भी मैं मानता हूँ कि यह मेरा कर्तृत्व है। चाहूँ तो करूँ, और चाहूँ तो न करूँ।

लेकिन साक्षी का अर्थ है कि न तो मैं कर सकता हूँ, और न न-कर सकता हूँ। न तो प्रवृत्ति मेरी है, और न निवृत्ति मेरी है। प्रवृत्ति भी गुणों की है और निवृत्ति भी गुणों की है।

गुण ही वर्त रहे हैं। वे ही चल रहे हैं; वे ही रुक जाएँगे। तो जब तक चल रहे हैं, मैं उन्हें चलता हुआ देखूंगा। और जब रुक जाएँगे, तब मैं उन्हें रुका हुआ देखूंगा। जब तक जीवन है, तब तक मैं जीवन का साक्षी हूँ। और जब मृत्यु होगी, तब मैं मृत्यु का साक्षी रहूँगा। कर्ता मैं न बनूँगा।

इसलिए निवृत्ति को आप मत सोचना कि वह वास्तविक निवृत्ति है। अगर उसमें कर्ता का भाव है, तो वह प्रवृत्ति का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। वह उसका ही उलटा रूप है। कोई दौड़ रहा था --कर्ताभाव से; कोई खड़ा है--कर्ताभाव से; लेकिन कर्ताभाव मौजूद है।

बुद्ध ने कहीं कहा है कि न तो मैं प्रवृत्त हूँ अब--और न निवृत्त। न तो मैं गृहस्थ हूँ अब--और न संन्यस्त। न तो मैं कुछ पकड़े हूँ--और न मैं कुछ छोड़ता हूँ। इसे ठीक से खयाल में ले लें, क्योंकि जीवन के बहुत पहलुओं पर यही अड़चन है।

हम सोचते हैं कि कुछ कर रहे हैं, इसको न करें। हमारा ध्यान क्रिया पर लगा है, हमारा ध्यान कर्ता पर नहीं है। क्योंकि करने में भी मैं कर्ता हूँ; न करने में भी मैं कर्ता हूँ।

सारी चेष्टा द्रष्टा पुरुषों की यह है कि कर्ता का भाव मिट जाय। मैं होने दूँ--करूँ न। जो हो रहा है, उसे होने दूँ; उसमें कुछ छेड़-छाड़ भी न करूँ। जहाँ कर्म जा रहे हों, जहाँ गुण जा रहे हों, उन्हें जाने दूँ। मैं उन पर सारी पकड़ छोड़ दूँ।

इसीलिए संतत्व अति कठिन हो जाता है। साधुता कठिन नहीं है। क्योंकि साधुता निवृत्ति साधती है। वह प्रवृत्ति के विपरीत है। वह गृहस्थ के विपरीत है। वहाँ कुछ करने को शेष है--विपरीत करने को शेष है। कोई हिंसा कर रहा है, आप अहिंसा कर रहे हैं। कोई धन इकट्ठा कर रहा है, आप त्याग कर रहे हैं। कोई महल बना रहा है, आप झोपड़े की तरफ जा रहे हैं। कोई शहर की तरफ जा रहा है, आप जंगल की तरफ जा रहे हैं। वहाँ कुछ काम शेष है।

मन को काम चाहिए। अगर धन इकट्ठा करना बंद कर दें, तो मन कहेगा : बाँटना शुरू करो। लेकिन कुछ करो। करते रहो, तो मन जिन्दा रहेगा। इसलिए मन तत्काल ही विपरीत क्रियाएँ पकड़ा देता है।

स्त्रियों के पीछे भागो। अगर इससे रुकना है, तो मन कहेगा : स्त्रियों से भागो। मगर भागते रहो। क्योंकि मन का सम्बन्ध स्त्री से नहीं है--भागने से है। या तो स्त्री की तरफ भागो--या स्त्री से पीठ कर के भागो, लेकिन भागो। अगर भागते रहे, तो कर्तापन बना रहेगा। अगर भागना रुका, तो कर्तापन रुक जाएगा।

तो मन ऐसे समय तक दौड़ाता रहता है, जबकि दौड़ने में कोई अर्थ भी नहीं रह जाता है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन अपने चिकित्सक के पास गया, तब वह बहुत बूढ़ा हो गया था। नब्बे वर्ष उसकी उम्र थी। जीर्ण-शीर्ण उसका शरीर हो गया था। आँखों से ठीक दिखाई भी नहीं पड़ता था। हाथ से लकड़ी टेक-टेक बामुश्किल चल पाता था।

अपने चिकित्सक से उसने कहा कि 'मैं बड़ी दुविधा में--बड़ी मुश्किल में पड़ा हूँ। कुछ करें।' चिकित्सक ने कहा कि 'तकलीफ क्या है?' नसरुद्दीन ने कहा कि 'संकोच होता है कहते, लेकिन अपने चिकित्सक को तो बात कहनी ही पड़ेगी। मैं अभी भी स्त्रियों का पीछा करता हूँ। इतना बूढ़ा हो गया हूँ; अब यह कब रुकेगा? मैं अभी भी स्त्रियों का पीछा कर रहा हूँ। आँखों से दिखाई नहीं पड़ता; पैरों से चल नहीं सकता; लेकिन स्त्रियों का पीछा करता हूँ!'

उसके चिकित्सक ने कहा, 'नसरुद्दीन, चिंता मत करो। यह कोई बीमारी

नहीं है। यह तुम्हारे स्वस्थ होने का प्रतीक है--कि अभी भी तुम जिन्दा हो। नब्बे साल में...। इससे तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए।' नसरुद्दीन ने कहा कि 'वह मेरा दुःख भी नहीं है। तुम गलत समझे। तकलीफ यह है कि मैं स्त्रियों का पीछा तो करता हूँ, लेकिन यह भूल गया हूँ कि पीछा क्यों कर रहा हूँ। आई चेज वीमेन, बट आई कान्ट रिमेम्बर व्हाय। तकलीफ मेरी यह है कि मुझे अब याद नहीं पड़ता कि मैं किसलिए पीछा कर रहा हूँ। और अगर स्त्री को पकड़ भी लिया, तो करूँगा क्या?--यह मुझे याद नहीं रहा।'

जिन्दगी में आपकी बहुत-सी क्रियाएँ एक न एक दिन इसी जगह पहुँच जाती हैं, जब आप करते रहते हैं, और अर्थ भी खो जाता है, स्मृति भी खो जाती है कि क्यों कर रहे हैं। लेकिन पुराना मोमेन्टम है, गति है। पहले दौड़ता रहा है, दौड़ता रहा है, अब दौड़ने का अर्थ खो गया; मंजिल भी खो गई; अब प्रयोजन भी न रहा। लेकिन पुरानी आदत है : दौड़े चला जा रहा है।

शरीर के साथ, शरीर के गुणों के साथ यही घटना घटती है। रस्सी जल भी जाती है, तो उसकी अकड़ शेष रह जाती है। जली हुई, राख पड़ी हुई लकड़ी में भी उसकी पुरानी अकड़ का ढंग तो बना ही रहता है।

अब आप जाग भी जाते हैं, होश से भी भर जाते हैं, तो भी गुणों की पुरानी रेखाएँ चारों तरफ बनी रहती हैं। और उनमें पुरानी गति का वेग है, वे चलती रहती हैं। फर्क यह पड़ जाता है कि अब आप उनको नया वेग नहीं देते। यह क्रांतिकारी मामला है। यह छोटी घटना नहीं है।

आप उनको नया वेग नहीं देते। आप उनमें नया रस नहीं लेते। अब वे चलती भी हैं, तो अपने अतीत के कारण। और अतीत की शक्ति की सीमा है। अगर आप रोज वेग न दें, तो आज नहीं कल पुरानी शक्ति चुक जाएगी। अगर आप रोज शक्ति न दें...। तो आप पेट्रोल भर के गाड़ी को चला रहे हैं। जितना पेट्रोल भरा है, उतना चुक जाएगा और गाड़ी रुक जाएगी। रोज पेट्रोल डालते चले जाते हैं, तो फिर रुकने का कोई अंत नहीं आता। आपने तय भी कर लिया कि अब पेट्रोल नहीं डालेंगे, तो पुराना पेट्रोल थोड़ी दूर काम देगा; सौ पचास मील आप चल सकते हैं।

बुद्ध को चालीस वर्ष की उम्र में ज्ञान हो गया, लेकिन जन्मों-जन्मों में जो ईंधन इकट्ठा किया है, वह चालीस वर्ष और चला गया। उस चालीस वर्ष में शरीर अपने गुणों में बर्तेगा; बुद्ध सिर्फ देखने वाले हैं।

द्रष्टा और भोक्ता, द्रष्टा और कर्ता--इसके भेद को खयाल में ले लें, तो अड़चन नहीं रह जाएगी। अगर आप कर्ता हो जाते हैं, भोक्ता हो जाते हैं, तो आप नया वेग दे रहे हैं। आपने ईंधन डालना शुरू कर दिया। अगर आप सिर्फ द्रष्टा रहते हैं, तो

नया वेग नहीं दे रहे हैं। पुराने वेग की सीमा है, वह कट जाएगी। और जिस दिन पुराना वेग चुक जाएगा, शरीर गिर जाएगा; गुण वापस प्रकृति में मिल जाएँगे--और आप, सच्चिदानंदघनरूप परमात्मा में।

● दूसरा प्रश्न : जड़ त्रिगुणों से चैतन्य साक्षी का तादात्म्य कैसे संभव हो पाता है--यह समझ में नहीं आता।

दर्पण में आप अपना चेहरा देखते हैं। दर्पण जड़ है, लेकिन आपके चेहरे का प्रतिबिम्ब बनाता है। चेहरा देखकर आप खुश होते हैं और आप कहते हैं : 'यह मैं हूँ।' वह जो दर्पण में आपको दिखाई पड़ रहा है, उसे देखकर आप कहते हैं : 'यह मैं हूँ! कितना सुन्दर हूँ। कितना स्वस्थ हूँ।'

आपके शरीर में जो प्रकृति काम कर रही है, वह जड़ है, लेकिन दर्पण की तरह है। उसमें आप अपना प्रतिबिम्ब पकड़ते हैं। और दर्पण में तो आपको पता चलता है कि प्रतिबिम्ब है, लेकिन अगर दर्पण सदा ही आपके साथ जुड़ा रहे; उठें, बैठें--कुछ भी करें, दर्पण साथ ही हो, सोयें, जागें--कहीं भी जायें, दर्पण साथ ही हो, तो आपको भूल जाएगा कि दर्पण में जो दिखाई पड़ रहा है, वह मेरा प्रतिबिम्ब है। आपको लगने लगेगा : वह मैं हूँ।

यही घटना घट रही है।

आप अपने प्रकृति के गुणों में अपने प्रतिबिम्ब को पा रहे हैं। और प्रतिबिम्ब को सदा पा रहे हैं। एक क्षण को भी वह प्रतिबिम्ब हटता नहीं वहाँ से। निरंतर उस प्रतिबिम्ब को पाने के कारण...। एक भी क्षण उसका अभाव नहीं होता, इस सतत चोट के कारण यह भाव निर्मित होता है कि यह मैं हूँ। यह भाव इसलिए हो पाता है कि चेतना समर्थ है--सत्य को जानने में। चेतना चूंकि समर्थ है--सत्य को जानने में, इसलिए चेतना समर्थ है--भ्रान्त होने में।

हमारे सभी सामर्थ्य दोहरे होते हैं। आप जिन्दा हैं, क्योंकि आप मरने में समर्थ हैं। आप स्वस्थ हैं, क्योंकि आप बीमार होने में समर्थ हैं। आपसे ठीक हो सकता है, क्योंकि आप गलत करने में समर्थ हैं। इसे ठीक से समझ लें।

हमारी सारी सामर्थ्य दोहरी हैं। अगर विपरीत हम न कर सकते हों, तो सामर्थ्य है ही नहीं। जैसे किसी आदमी को हम कहें कि 'तुम ठीक करने के हकदार हो, लेकिन गलत करने की तुम्हें स्वतंत्रता नहीं है। तुम्हें सिर्फ ठीक करने की स्वतंत्रता है।' तो स्वतंत्रता समाप्त हो गई। स्वतंत्रता का अर्थ ही यह है कि गलत करने की भी स्वतंत्रता है। तभी ठीक करने की स्वतंत्रता का अर्थ है।

चेतना स्वतंत्र है। स्वतंत्रता चेतना का गुण है। वह उसका स्वभाव है। स्वतंत्रता का अर्थ है कि दोनों तरफ जाने का उपाय है। मैं भ्रांति भी कर सकता हूँ। मैं गलत भी

कर सकता हूँ । और गलत कर सकता हूँ, इसलिए ठीक को खोजने की सुविधा है ।

ये दो उपाय हैं : या तो मैं अपने को जान लूँ--जो मैं हूँ । यह सत्य का जानना होगा । और या मैं अपने को उससे जोड़ लूँ--जो मैं नहीं हूँ, यह असत्य के साथ एक हो जाने का मार्ग होगा । ये दोनों मार्ग खुले हैं ।

सभी का मन होता है कि यह स्वतंत्रता खतरनाक है । यह न होती, तो अच्छा था । लेकिन आपको पता नहीं कि आप क्या सोच रहे हैं । आपको पता नहीं है : आप क्या माँग रहे हैं ।

हर आदमी सोचता है कि मैं सदा ही स्वस्थ होता और कभी बीमार न होता, तो बहुत अच्छा । लेकिन आपको पता नहीं । आप जो माँग रहे हैं, वह ना-समझी से भरा हुआ है। अगर आप कभी भी बीमार न होते, तो आपको स्वास्थ्य का कोई पता ही नहीं चलता । और अगर आप दुःखी न हो सकते तो, तो आपको सुख की कोई प्रतीत नहीं हो सकती । कैसे होती सुख की प्रतीति ? और सत्य अगर आपको मिला ही होता हाथ में, और असत्य की तरफ जाने का कोई मार्ग न होता, तो वह सत्य दो कौड़ी का होता; उसका कोई मूल्य आपको कभी पता नहीं चलता ।

सत्य का मूल्य है, क्योंकि हम उसे खो सकते हैं ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जगत में प्रेम की सम्भावना है, क्योंकि प्रेम खो सकता है । और मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जिस दिन हम आदमी को अमर कर लेंगे और आदमी की मृत्यु बंद हो जाएगी, उसी दिन जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण है, सब खो जाएगा । सब महत्त्वपूर्ण मृत्यु पर टिका है ।

आप प्रेम कर पाते हैं, क्योंकि जिसे आप प्रेम करते हैं, वह कल मर सकता है। अगर आपको पता हो कि शाश्वत है सब, न कोई मर रहा है, न कोई मरने का सवाल है, प्रेम निरोहित हो जाएगा । मृत्यु के बिना प्रेम का कोई उपाय नहीं ।

मृत्यु के बिना मित्रता व्यर्थ हो जाएगी । मृत्यु है, इसलिए मित्रता में इतनी सार्थकता है । मृत्यु न होगी, तो जीवन की जिन सारी चीजों को हम मूल्य दे रहे हैं, उनका कोई मूल्य न रह जाएगा । विपरीत से मूल्य पैदा होता है ।

सुबह जो फूल खिलता है, उसका सौन्दर्य सिर्फ खिलने में ही नहीं है, इस बात में भी छिपा है कि साँझ वह मुरझा जाएगा । और अगर फूल कभी न मुरझायें, तो वह प्लास्टिक का फूल हो जाय । और अगर बिलकुल ही... । वह प्लास्टिक का फूल भी नष्ट होता है । अगर फूल सदा के लिए हो जाय, तो उसकी तरफ देखने का भी कोई अर्थ नहीं रह जाएगा ।

जीवन की सारी रहस्यमयता विपरीत पर निर्भर है । सत्य का मूल्य है, क्योंकि असत्य में उतरने का उपाय है । और परमात्मा में जाने का रस है, क्योंकि संसार में

आने का दुःख है ।

लोग मुझसे पूछते हैं : 'आखिर परमात्मा संसार बना ही क्यों रहा है ? संसार है ही क्यों ?' अगर संसार न हो, तो परमात्मा का कोई भी रस नहीं ।

परमात्मा अपने से विपरीत को पैदा कर रहा है, ताकि आप उसे खो सकें, और पा सकें । और जिसे हम खो सकते हैं, उसे पाने का आनन्द है । जिसे हम खो ही नहीं सकते, वह हमारे सिर पर बोझ हो जाएगा ।

अगर परमात्मा कुछ ऐसा हो कि जिसे आप खो ही न सकें, तो आप जितने परमात्मा से ऊब जाएँगे, उतना किसी और चीज से नहीं ।

परमात्मा से ऊबने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि क्षण में आप उसे खो सकते हैं । और जिस दिन आप संसार से ऊब जायें, उसी क्षण परमात्मा में वापस लीन हो सकते हैं । अगर इस बात को ठीक से समझ लें, तो जीवन की बहुत-सी समस्याएँ साफ हो जाएंगी ।

पहला बुनियादी सिद्धांत है कि मनुष्य की आत्मा स्वतंत्रता है, परम स्वातंत्र्य है--टोटल फ्रीडम । यह जो परमस्वातंत्र्य है चेतना का, इसको ही हमने मोक्ष कहा है । जो इसे जान लेता है, वह मुक्त है । जो इसे नहीं जानता, वह बँधा हुआ है ।

लेकिन बँधा वह इसीलिए है कि वह बँधना चाहता है । और तब तक बँधा रहेगा, जब तक बंधन इतना दुःख न देने लगे कि उसे तोड़ने का भाव न आ जाय, उससे छूटने का भाव न आ जाय; उससे उठने का भाव न आ जाय ।

और इस जगत में कोई भी घटना असमय नहीं घटती; अपने समय पर घटेगी । समय का मतलब यह है कि जब आप पक जाएँगे, तब घटेगी ।

जब फल पक जायेगा, तो गिर जायेगा । जब तक कच्चा है, तब तक लटका रहेगा । जिस दिन आपका दुःख भी पक जाएगा संसार के साथ, उस दिन आप तत्क्षण टूट जाएँगे, और परमात्मा में गिर जाएँगे । अगर आप अटके हैं, तो इसलिए नहीं कि आपकी साधना में कोई कमी है । आप अटके हैं, इसलिए, कि आप दुःख को भी पूरा नहीं भोग रहे हैं । आप पकने के भी पूरे उपाय नहीं होने दे रहे हैं ।

समझ लें कि एक फल जो धूप में पकता हो, वह फल अपने को छाया में छिपाए हुए हो कि धूप न लग जाय । और फिर वह सोच रहा है कि मैं कच्चा क्यों हूँ ! आप ऐसे ही फल हैं । सब तरफ से अपने को छिपा भी रहे हैं, बचा भी रहे हैं । उससे ही बचा रहे हैं--जिसकी पीड़ा के कारण ही आप मुक्त हो सकेंगे ।

इसलिए मैं निरन्तर कहता हूँ कि संसार में पूरे जाओ, ताकि तुम संसार के बाहर आ सको । बाहर जाने का एक ही उपाय है कि तुम पूरे भीतर चले जाओ; वहाँ कुछ और जानने को शेष न रह जाए ।

दुःख से छूटने की एक ही व्यवस्था है, एक ही विधि है। बाकी सब विधियाँ बहाने हैं। और वह विधि यह है कि तुम दुःख को पूरा भोग लो। तुम उसमें पक जाओ। तुम अपने ही आप गिर जाओगे।

कृष्ण यही कह रहे हैं कि अर्जुन, तू व्यर्थ हो परेशान हो रहा है। गुण अपनी गति से चल रहे हैं। गुण अपनी गति से पक रहे हैं। और जहाँ से तू भागना चाहता है, वहाँ से भागकर तू कभी मुक्त न हो सकेगा। क्योंकि तू छाया खोज रहा है। इस युद्ध से भाग कर तू बचा लेगा अपने को—उस महापीड़ा से गुजरने से, जो कि मुक्ति का कारण बन जाएगी। तू इस युद्ध से गुजर जा। तू इस युद्ध को हो जाने दे। तू रोक मत। तू डर भी मत। तू संकोच भी मत ले। तू निर्भय भाव से इसमें प्रवेश कर जा। और जो घटना तेरे चारों तरफ इकट्ठी हो गई है, उसको उसकी पूर्णता में तेरे भीतर बिंध जाने दे। यह आग पूरी जल उठे। तू इसमें पूरी तरह राख हो जा। उस राख से ही तेरे नये जीवन का अंकुरण होगा। उस राख से ही तू अमृत को जानने में समर्थ हो पायेगा।

जो भी—जो भी—जीवन में है, वह अकारण नहीं है। दुःख है, संसार है, बंधन है—वे अकारण नहीं हैं। उसकी उपादेयता है। और बड़ी उपादेयता यह है कि वह अपने से विपरीत की तरफ इशारा करता है।

आपकी चेतना बँध सकती है, क्योंकि आपकी चेतना स्वतंत्र ही सकती है। और यह आपके हाथ में है। और जब मैं कहता हूँ—'आपके हाथ में है', तब आपको ऐसा लगता है कि तब मैं इसी वक्त स्वतंत्र क्यों नहीं हो जाता? आप सोचते ही हैं कि आप इसी वक्त स्वतंत्र क्यों नहीं हो जाते? लेकिन उपाय आप सब कर रहे हैं कि आप बँधे रहें।

एक मित्र मेरे पास आये; कहते थे: 'मन बड़ा अशांत है। शांति का कोई उपाय बतायें।' मैंने उनसे कहा कि 'शांति की फिक्र ही न करें। पहले मुझे यह बतायें कि अशांत क्यों हैं। क्योंकि मैं शांति का उपाय बताऊँ, और आप अशांति का आयोजन किये चले जायँ, तो कुछ हल न होगा। और उससे असुविधा होगी। वैसी हालत हो जाएगी कि आदमी कार में एक्सीलरेटर भी दबा रहा है और ब्रेक भी लगा रहा है। इसीलिए कार में इंतजाम करना पड़ा। क्योंकि आदमी का स्वभाव परिचित है हमें—कि उसी पैर से एक्सीलरेटर दबायें और उसी से ब्रेक। क्योंकि डर है कि आप दोनों काम एक साथ कर सकते हैं। आप एक साथ दोनों काम कर सकते हैं: एक्सीलरेटर भी दबा दें और ब्रेक भी दबा दें। तो कठिनाई खड़ी हो जाय। तो ब्रेक दबाने के पहले एक्सीलरेटर से पैर हटायें। लेकिन मन के साथ हम ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। मन के साथ हमारी हालत ऐसी है कि हम दोनों काम एक साथ करना चाहते हैं।

उन मित्र से मैंने पूछा कि 'तकलीफ क्या है? किस वजह से अशांत हैं?' तो उन्होंने कहा कि 'अशांति का कारण यह है कि मेरा लड़का मेरी मानता नहीं।'

'किसका लड़का किसकी मानता है? इसमें लड़का कारण नहीं है। इसमें आप मनाना क्यों चाहते हैं? लड़का अपना जीवन जीएगा।' मैंने उनसे पूछा, 'आपने अपने बाप की मानी थी?'

कौन अपने बाप की मानता है? लड़का और रास्तों पर चलेगा, जिन पर बाप कभी नहीं चला। लड़का और दूसरी दुनिया में जीएगा, जिसमें बाप कभी नहीं जिया। लड़के और बाप के समय में भेद है; उनके मार्गों में भेद होगा। उनकी परिस्थितियों में भेद है, उनके विचारों में भेद होगा। लड़का अगर जिन्दा होगा, तो बाप से भिन्न चलेगा। लड़का अगर मुर्दा है, तो बाप की मान कर चलेगा।

अब बाप का दुःख यह है कि लड़का अगर मुर्दा है, तो वह परेशान है। और लड़का जिन्दा है, तो वह परेशान है। लड़का अगर मुर्दा है, तो वह कहता है कि न होने के बराबर है।

आपको खयाल में नहीं है कि अगर लड़का बिलकुल आप जैसा कहें, वैसा ही करे, तो भी आप दुःखी हो जाएँगे। आप कहें: बैठो, तो वह बैठ जाय। आप कहें: उठो, तो वह उठ जाय। आप कहें: बायें घूमो, तो बायें घूम जाय; आप जो कहें। उसको रत्ती-रत्ती वह वैसा ही करें, तो आप सिर पीट लें। आप कहेंगे: यह लड़का क्या हुआ, एक व्यर्थता है। इससे होता न होता बराबर है। इसके होने का कोई अर्थ ही नहीं है। होने का पता ही भिन्नता से चलता है।

'आप इसलिए दुःखी नहीं हैं', मैंने उनसे कहा, 'कि लड़का मानता नहीं है, आप मनाना क्यों चाहते हैं—कि माने? आपका दुःख आपके कारण आ रहा है। आप अपने अहंकार को थोपना चाहते हैं। और मेरे पास आप शांति की तलाश करने आये हैं। लड़के को अपने मार्ग पर चलने दें, अशांति फिर कहाँ है?'

तब उनका घाव छू गया। तब उन्होंने कहा, 'आप क्या कह रहे हैं! अगर उसको मार्ग पर चलने दें, तो सब बरबाद कर देगा। सब धन मिटा डालेगा।'

मैंने उनको पूछा, 'आप कब तक धन की सुरक्षा करिएगा? कल आप समाप्त हो जाएँगे और धन मिटेगा। आपका लड़का मिटाए, कोई और मिटाए; धन मिटेगा। धन मिटने को है। तो आपका दुःख लड़के से नहीं आ रहा है। आपका दुःख धन पर जो आपकी पकड़ है, उससे आ रहा है। आप मरेंगे दुःखी। क्योंकि मरते वक्त आपको लगेगा: अब धन का क्या होगा। कोई न कोई मिटाएगा।'

इसलिए धनी न सुख से जी पाता है, न सुख से मर पाता है। मरते वक्त यह भय लगता है कि मैंने जिन्दगी भर कमाया, अब इसको कोई मिटा देगा। और कोई न

कोई मिटाएगा आखिर ।

इस जगत् में जो भी बनाया जाता है, वह मिटता है । इस जगत् में कोई भी ऐसी चीज नहीं, जो न मिटे । आपका धन अपवाद नहीं हो सकता । तो आप दुःखी इसलिए हो रहे हैं कि आपका धन कोई न मिटा दे; अशांत इसलिए हो रहे हैं । और शांति की कोई तरकीब खोजते हैं । मान लें, कि धन तो मिटनेवाली चीज है; मिटेगी । और लड़के अपने मार्गों पर जाएँगे । और पिता लड़कों को पैदा करता है, इसलिए उनके जीवन का मालिक नहीं है । फिर मुझे कहें कि दुःख कहाँ है ।

अगर अशांति के कारण खो जायँ, तो आदमी शांत हो जाता है ।

शांति के कारण खोजने की जरूरत ही नहीं है । शांति मनुष्य का स्वभाव है । अशांति अर्जित करनी पड़ती है । हम अशांति अर्जित करते चले जाते हैं और शांति की पूछताछ शुरू कर देते हैं ।

अशांति के साथ जो इन्वेस्टमेंट है, वह भी हम छोड़ना नहीं चाहते । और शांति के साथ जो लाभ मिलता है, वह भी हम लेना चाहते हैं । दोनों हाथ लड्डुओं का कोई भी उपाय नहीं है ।

यह जो संसार के साथ हमारा जोड़ है—गुणों के साथ, शरीर के साथ, जो हमारा तादात्म्य है, उसमें भी हमें लाभ दिखाई पड़ता है, इसलिए हमने जानकर वह बनाया हुआ है । हम अपने को समझाए हुए हैं कि ऐसा है । फिर संतों की बातें सुनते हैं, उससे भी लोभ जगता है कि हमको भी यह गुणातीत अवस्था कैसे पैदा हो जाय; तो हम पूछना शुरू करते हैं कि क्या करें : कैसे इससे छूटें ?

मजा करीब-करीब ऐसा है कि जिसको आप पकड़े हुए हैं, आप पूछते हैं : इससे कैसे छूटें । आप पकड़े हुए हैं—यह खयाल में आ जाय, तो छूटने के लिए कुछ भी न करना होगा, सिर्फ पकड़ छोड़ देनी होगी ।

इस शरीर के साथ आप अपने को एक मान लेते हैं । आप पकड़े हुए हैं । आप इस शरीर को सुन्दर मानते हैं । इस शरीर के साथ भोग की आशा है । इस शरीर से आपके सुख मिलते हैं, चाहे वे कोई भी सुख हों । चाहे संभोग का सुख हो, चाहे स्वादिष्ट भोजन का सुख हो, चाहे संगीत का सुख हो—इस शरीर के माध्यम से आपको मिलते हैं ; वे सब सुख हैं । अगर वे सुख आपको अभी भी सुख दिखाई पड़ रहे हैं, तो शरीर के साथ आप पकड़ कैसे छोड़ सकते हैं ? क्योंकि इसके द्वारा ही वे मिलते हैं । तो अंत तक पकड़े रहते हैं ।

एक बड़ी महत्त्वपूर्ण कहानी है । अमेरिकी अभिनेत्री मर्लिन मनरो मरी, तो एक कहानी प्रचलित हो गई कि जब वह स्वर्ग के द्वार पर पहुँची तो सेंट पीटर, जो स्वर्ग के द्वारपाल हैं—ईसाइयों के स्वर्ग के द्वारपाल हैं : उन्होंने मनरो को देखा ।

अति सुन्दर उसकी काया । सेंट पीटर ने कहा, 'एक नियम है स्वर्ग में प्रवेश का—कि स्वर्ग के द्वार के बाहर एक छोटा-सा पुल है, उस पुल से गुजरना पड़ता है । उस पुल के नीचे अनंत खाई है । उस खाई की ही गहराई में नरक है । उस पुल पर से गुजरते समय अगर एक भी बुरा विचार आ जाय—बुरे विचार का मतलब : शरीर से बँधा हुआ विचार आ जाय, तो तत्क्षण व्यक्ति पुल से नीचे गिर जाता है और नरक में प्रवेश हो जाता है ।'

मनरो और सेंट पीटर दोनों उस पुल से चले । और घटना यह घटी कि दो-तीन कदम के बाद सेंट पीटर नीचे गिर गए । मनरो जैसी सुन्दर स्त्री को देखकर कुछ खयाल सेन्ट पीटर को आ गया होगा !

स्वर्ग के द्वार पर खड़े होकर भी अगर शरीर से सुख लेने का जरा-सा भी खयाल आ जाय, तो तादात्म्य हो गया ।

जिस चीज से हमें सुख लेने का खयाल होता है, उसी से तादात्म्य हो जाता है ।

'शरीर से सुख मिल सकता है'—जब तक यह खयाल है, तब तक आप जुड़े रहेंगे । जिस दिन आपको यह समझ में आ जाएगा कि शरीर से मिलने वाला सुख केवल दुःख का ही एक रूप है; जिस दिन आप यह खोज लेंगे कि शरीर से मिलने वाले हर सुख के पीछे दुःख ही छिपा है; सुख केवल ऊपर की पर्त है—सिर्फ कड़वी जहर की गोली के ऊपर लगाई गई शक्कर से ज्यादा नहीं; उसी दिन तादात्म्य टूटना शुरू हो जाएगा ।

यह पूछना कि 'कैसे जड़ त्रिगुणों से चेतन का तादात्म्य संभव हो पाता है ?'—इसीलिए संभव हो पाता है कि आप स्वतंत्र हैं। चाहें तो तादात्म्य बना सकते हैं, चाहें तो हटा सकते हैं ।

जब तक आप सोचते हैं कि सुख बाहर से मिल सकता है, तब तक यह तादात्म्य नहीं छूटेगा । जिस दिन आप जानेंगे : सुख मेरे भीतर है, मेरा स्वभाव है, उस दिन यह तादात्म्य छूट जाएगा ।

अभी तो हम परमात्मा **की** भी खोज करें, तो भी शरीर से ही करनी पड़ती है । अभी भी हम पूछते हैं कि परमात्मा को भी खोजें, तो कैसा आसन लगायें ? किस भाँति खड़े हों ? कैसे पूजा करें ? कैसे पाठ करें ? कहाँ जायँ ? —हिमालय जायँ, कि मक्का-मदीना—कि काशी, कि जेरुशलेम—कहाँ जायँ ? कैसा भोजन करें ? कैसे बैठें ? कैसे उठें—कि परमात्मा को पा लें ?

हमारी शरीर के साथ जोड़ की स्थिति इतनी गहन हो गई है कि हम परमात्मा को भी शरीर से ही खोजना चाहते हैं । हमें खयाल ही नहीं है कि शरीर के अतिरिक्त भी हमारा कोई होना है । और यह खयाल भी तभी आयेगा, जब शरीर से हमें सब

तरफ दुःख दिखाई देने लगें ।

बुद्ध ने निरन्तर, सुबह से साँझ, एक ही बात कही है अपने भिक्षुओं को, कि जीवन दुःख है । और सिर्फ इसलिए कही है, ताकि तुम परम जीवन को जान सको । जब तुम्हें यहाँ दुःख ही दुःख दिखाई देने लगे, तो इस दुःख से छूटने में जरा भी बाधा नहीं रह जाएगी ।

जहाँ दुःख है, वहाँ से मन हटने लगता है । और जहाँ सुख है, वहाँ मन की सहज गति है ।

● तीसरा प्रश्न : कृष्ण ने कई जगह सच्चिदानन्दघन परमात्मा शब्द को दोहराया है । यह 'सच्चिदानन्दघन परमात्मा' क्या है ?

आप । आपकी तरफ इशारा कर रहे हैं कृष्ण । वह जो चैतन्य है आपका, जहाँ से आप मुझे सुन रहे हैं; जहाँ से आप मुझे देख रहे हैं; वह जो आपके भीतर बैठी हुई जगह है--खाली जगह है--शून्य है... ।

एक तो मैं हूँ यहाँ, बोल रहा हूँ । और एक आप हैं, जो सुन रहे हैं । आपके कान नहीं सुन रहे हैं । कान तो केवल शब्दों को वहाँ तक ले जा रहे हैं, जहाँ आप सुन रहे हैं ।

एक तो मैं हूँ, जो यहाँ बैठा हूँ । और आप मुझे देख रहे हैं । आपकी आँखें मुझे नहीं देख रही हैं । आँखें तो केवल मेरे प्रतिबिम्ब को वहाँ तक ले जा रही हैं, भीतर आपके, जहाँ आप देख रहे हैं ।

वह जो भीतर छिपा है--सारी इन्द्रियों के बीच में; वह जो केन्द्र है--सारी इन्द्रियों के बीच में; जो स्वयं कोई इन्द्रिय नहीं है; वह जो चेतना का केन्द्र है भीतर--जहाँ से सारा होश है, जिसके कारण इन्द्रियाँ चारों तरफ देख रही हैं, पहचान रही हैं--उसकी तरफ इशारा है । वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा है ।

यह शब्द समझ लेने जैसा है । सच्चिदानन्द--सत्, चित्, आनन्द--तीन बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दों से बना है ।

सत् का अर्थ होता है : जिसकी ही एकमात्र सत्ता है; बाकी सब चीजें स्वप्नवत हैं । वस्तुतः जो सत्य है, जिसका एग्जिस्टेंस है--वह सत् । बाकी आप जो चारों तरफ देख रहे हैं, वह कुछ भी वास्तविक नहीं है । सब बहता हुआ प्रवाह है; स्वप्न की एक लम्बी धारा है । कल्पना से ज्यादा उसका मूल्य नहीं है । और आप देख भी नहीं पाते कि वहाँ चीजें बदल जा रही है । वहाँ किसी चीज की सत्ता नहीं है । परिवर्तन ही वहाँ सब कुछ है । जिसकी वास्तविक सत्ता है, वह कभी रूपान्तरित नहीं होगा ।

भारतीय मनीषियों का सत्य का एक लक्षण है, और वह यह कि जो कभी रूपान्तरित न हो; जो सदा वही रहे--जो है, जो कभी बदले न; जिसके स्वभाव में कोई

परिवर्तन न हो; जिसके स्वभाव में थिरता हो--अनंत थिरता हो; वही सत्य है । बाकी सब चीजें जो बदल जाती हैं, वे सत्य नहीं हैं ।

बदलने का मतलब ही यह है कि उनके भीतर कोई सब्स्टेंस, कोई सत्त्व नहीं है । ऊपर-ऊपर की चीजें हैं--बदलती चली जाती हैं ।

जो सदा अपरिवर्तित खड़ा है... । आपके भीतर एक ऐसा केंद्र है, जो सदा अपरिवर्तित खड़ा है । आप बच्चे थे, तब भी वह वैसा ही था । आप जवान हो गए, तब भी वह वैसा ही है । वह जवान नहीं हुआ; आपकी देह ही जवान हुई । यह जवानी गुणों का वर्तन है । कल आप बूढ़े हो जाएँगे, तब भी वह बूढ़ा नहीं होगा । यह बुढ़ापा भी आपके शरीर के गुणों का वर्तन होगा ।

एक दिन आप पैदा हुए, तब वह पैदा नहीं हुआ । और एक दिन आप मरेंगे, तब वह मरेगा नहीं । वह सदा वही है ।

वह जन्म के पहले भी ऐसा ही था; वह मृत्यु के बाद भी ऐसा ही होगा । वह आधार है । उस पर सब चीजें आती हैं और जाती हैं । लेकिन वह स्वयं निरन्तर वैसा का वैसा बना है । उस मूल आधार को कहते हैं--सत् ।

दूसरा शब्द है : चित । वह मूल आधार केवल है ही नहीं, बल्कि चेतन है, होश से भरा है । होश उसका लक्षण है । उसे कुछ भी उपाय करके बेहोश नहीं किया जा सकता । जब आप बेहोश हो जाते हैं, तब भी वह बेहोश नहीं होता । सिर्फ आपके गुण बेहोश हो जाते हैं । जब आपको कोई शराब पिला देता है, तो चित में तो शराब डाली नहीं जा सकती । शराब तो शरीर में डाली जाती है । जब आपको मार्फिया दिया जा रहा है, तब भी; क्लोरोफार्म सुंघाया जा रहा है, तब भी; जो भी हो रहा है, वह शरीर में हो रहा है; शरीर के गुण-धर्मों में हो रहा है ।

वह जो भीतर चित है, उसको बेहोश करने का कोई उपाय नहीं है ।

तांत्रिकों में तो बड़ी पुरानी साधनाएँ हैं, जिनमें जहर का, शराब का, सब तरह के नशे--गांजा, भांग, अफीम--सबका उपयोग किया जाता है । उपयोग इसलिये किया जाता है, ताकि इस बात की परख आ जाय कि कैसे ही नशे का तत्त्व हो, कैसा ही मादक द्रव्य हो, वह केवल शरीर को छूता है--मुझे नहीं । और तब तक तांत्रिक नहीं मानता कि आप स्थितप्रज्ञ हुए, गुणातीत हुए, जब तक कि आपको सब तरह के जहर न दे दिए जायँ, और आप होश में न बने रहें । अगर आप होश खो दें, तो वह मानता है : अभी आप गुणातीत नहीं हुए । होश बना ही रहे; भीतर के होश की धारा न टूटे ।

आपके भीतर के होश की धारा भी नहीं टूटती । किसी के भीतर की धारा नहीं टूटती । भीतर तो कोई नहीं टूटती । लेकिन आप भीतर की धारा से परिचित ही नहीं हैं ।

जागा ही रहता है । वह उसका स्वभाव है ।

चित्तता--कांसंसनेस--उसका स्वभाव है । लेकिन आप अपने को माने हुए हैं शरीर, इसलिए जब शरीर बेहोश होता है, तो आप समझते हैं : आप बेहोश हो गये । यह आपकी मान्यता है । इस मान्यता के कारण आप समझ लेते हैं कि बेहोश हो गये । आप बेहोश होते नहीं ।

अगर आप हिप्नोसिस से परिचित हैं, तो आपको पता होगा कि हिप्नोसिस का सारा खेल इतना ही है कि हिप्नोटाइजर जो आपसे कहे, आप उसको मान लें । अगर आप मान लें, तो वैसा ही होना शुरू हो जायेगा । मान्यता तथ्य बन जाती है ।

अगर हिप्नोटिस्ट कहता है कि आपके हाथ में उसने एक अंगारा रख दिया है ... आप आँख बन्द लिये पड़े हैं और आपके हाथ में उठा कर वह एक रुपये का सिक्का रख देता है । कहता है : 'अंगारा रख दिया—जलता हुआ ।' आप घबड़ा कर फेंक देंगे रुपया, क्योंकि आप मान लेते हैं कि अंगारा है । बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि आप न केवल फेंक देते हैं, बल्कि आपके हाथ में फफोला भी आ जाता है; जब कि वहाँ कोई अंगारा नहीं था । आपके हाथ ने बिलकुल वही व्यवहार किया, जो आपने मान लिया ।

हिप्नोसिस पर बड़ा काम पश्चिम में हो रहा है । और उससे एक बात पता चलती है कि आदमी की चेतना मान लेने से ग्रसित हो जाती है । आपको पानी पिलाया जाय--सम्मोहित अवस्था में और कहा जाय : शराब है । आप बेहोश हो जाएँगे । नशा आ जाएगा ।

अभी कुछ प्रयोग तो ऐसे हुए हैं, जो कि बिलकुल अविश्वसनीय हैं । जिन पर आदमी के बस की... बात ही समझ में नहीं आती ।

हारवर्ड यूनिर्व्हसिटी में एक मरीज पर वे हिप्नोसिस का प्रयोग कर रहे थे । उसे बेहोश कर के कहा गया कि उसके खून में ब्लड शुगर बढ़ रही है--सम्मोहित कर के । जब उसे सम्मोहित किया गया, तो उसका खून नापा गया । उसकी जाँच की गई । उसकी नार्मल ब्लड शुगर है ।

ब्लड शुगर बड़ा मामला है । जब तक उसको बहुत शक्कर न खिलाई जाय, ग्लूकोज का इंजेक्शन न दिया जाय, तब तक उसके ब्लड में शुगर जा नहीं सकती । न उसे ग्लूकोज दिया जा रहा है, न शक्कर दी जा रही है, न कुछ । सिर्फ सजेशन दिया जा रहा है—सुझाव—कि तेरे खून में शुगर बढ़ रही है । और उसके खून में शुगर बढ़ी । और थोड़ी-बहुत नहीं पाँच सौ तक उसके खून में शुगर बढ़ी । सिर्फ सुझाव से ! खून में कुछ डाला नहीं गया है ।

जैसे-जैसे सुझाव गहन होने लगा, वैसे-वैसे खून में शुगर की मात्रा बढ़ती

चली गई ।

इस चैतन्य की एक क्षमता है कि यह जो भी मान ले, वैसी घटना घटनी शुरू हो जायेगी ।

यह हमारी मान्यता है कि मैं शरीर हूँ, इसलिए हम शरीर हो गए हैं ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जिन बच्चों को बचपन से कहा जाय कि तुम मूढ़ हो, वे मूढ़ हो जाएँगे । न मालूम सैकड़ों बच्चों को हम अपने हाथों से मूढ़ बना देते हैं । लाखों बच्चे इसलिये मूढ़ रह जाते हैं कि घर में माँ-बाप उनको मूढ़ कह रहे हैं; स्कूल में शिक्षक उनको मूढ़ कह रहे हैं । उनको बार-बार यह सुझाव मिलता है, और उनको बात जँच जाती है । जब सभी कह रहे हैं, तो बात ठीक होगी ही । यह एक तरह का सम्मोहन है । फिर वे मूढ़ ही रह जाते हैं ।

जिन बच्चों को बचपन से खयाल मिलता है कि वे बड़े प्रतिभाशाली हैं, टेलेन्टेड हैं, गुणवान हैं--उनमें वैसी वृत्ति पैदा होने लगती है । वे जो मानने लगते हैं , वैसे हो जाते हैं । मान्यता आपका जीवन बन जाती है ।

तो आपको खयाल है कि रात आप सो जाते हैं, इसलिये आपको लगता है । आप सोये । सिर्फ शरीर सोता है, आप कभी नहीं सोते । यह सिर्फ धारणा है आपकी : और बचपन से समझाया जा रहा है, इसलिये आप सो जाते हैं । आपको लगेगा कि सिर्फ धारणा ऐसे कैसे हो सकती है !

अमेजान में अभी तक आदिवासियों में जब भी स्त्री को बच्चा होगा, तो पति भी रोयेगा, छाती पीटेगा, चिल्लाएगा । एक खाट पर पत्नी, एक खाट पर पति ! प्रसव-पीड़ा दोनों को होती है ।

हजारों साल से यह होता रहा । और जब पहली दफा ईसाई मिशनरी अमेजान पहुँचे, तो उनको विश्वास भी नहीं आया कि यह क्या पागलपन है । यह आदमी जरूर बन रहा होगा । क्योंकि हमें खयाल ही नहीं है कि जब स्त्री को बच्चा पैदा हो रहा है, इससे पति को प्रसव-पीड़ा का क्या सम्बन्ध है ?

लेकिन जब जाँच-पड़ताल की गई, तो ये बड़े चकित हुए कि वस्तुतः पीड़ा होती है । पति को पीड़ा होती है; क्योंकि अमेजान में यह विश्वास है कि बच्चा पति और पत्नी दोनों का कृत्य है । इसलिए अकेली पत्नी को क्यों पीड़ा हो । दोनों का हाथ है उसमें, आधा-आधा दोनों का बच्चा है, इसलिए दोनों कष्ट पायेंगे--जब प्रसव होगा । और जाँच से पता चला है कि शरीर में वास्तविक पीड़ा होती है । जैसे स्त्री के शरीर में सारा खिचाव और तनाव होता है, वैसा पुरुष के शरीर में खिचाव-तनाव होता है । अब यह सिर्फ मान्यता की बात है । क्योंकि उनकी धारणा है, इसलिए ऐसा होता है ।

जितने सभ्य मुल्क हैं, वहाँ स्त्रियों को बच्चा पैदा करने में कष्ट होता है। सिर्फ सभ्य मुल्कों में। असभ्य मुल्कों में नहीं होता। ठेठ आदिवासियों में बिलकुल नहीं होता।

बर्मा में ऐसी जातियाँ हैं, जिनकी स्त्रियाँ काम करती रहेंगी खेत में, बच्चा हो जायेगा। कोई दूसरा भी नहीं है। दाई, और नर्स, और अस्पताल का तो कोई सवाल ही नहीं है। बच्चा हो जाएगा, उसको उठाकर वे टोकरी में रख देंगी और वापस काम पर लग जाएँगी। साँझ को अपने बच्चे को लेकर घर आ जायेंगी।

बर्मा के उन जंगलों में खयाल ही नहीं है कि स्त्री को पीड़ा होती है। इसलिए पीड़ा नहीं होती।

आप जो कुछ भोग रहे हैं, उसमें अधिक तो आपकी मान्यताएँ हैं।

यह जो भीतर छिपा हुआ परमात्मा है : इसका दूसरा लक्षण है : चित। यह कभी बेहोश नहीं हुआ है, और कभी सोया नहीं है। वह उसका स्वभाव नहीं है। इसलिए अगर आप अपने को बेहोश मानते हैं, नींद में मानते हैं, सम्मोहित मानते हैं, तो वह आपकी मान्यता है। मान्यता के अनुसार काम जारी रहेगा।

धर्म की पूरी खोज इतनी ही है कि मान्यताएँ सब टूट जायँ और जो सत्य है, वह प्रगट हो जाय--जैसा है वैसा प्रगट हो जाय, और जो हमने मान रखा है, वह हट जाय।

तीसरा तत्त्व है : आनन्द। सत्-चित्-आनन्द। यह तीसरी बात भी ज्ञानियों की अनुभूत खोज है--कि वह जो भीतर छिपा हुआ तत्त्व है, वह सत् भी है, चित् भी है, और परम आनन्द भी है। सुख पाने की कोई जरूरत नहीं है उसको; वह स्वयं आनन्द है। और अगर आप दुःखी हो रहे हैं और सुख की तलाश कर रहे हैं, तो वह आपकी भ्रांति है।

मनुष्य का स्वभाव आनन्द है। इसलिए जिस दिन हम अपने स्वभाव से परिचित हो जायेंगे, सच्चिदानंद से मिलना हो जाएगा।

और इस सच्चिदानन्द को परमात्मा कहा है। परमात्मा कहीं कोई बैठा हुआ व्यक्ति नहीं है--जो जगत् को बना रहा है। परमात्मा आपके भीतर छिपा हुआ तत्त्व है, जो आपके भीतर खेल रहा है; आपके जीवन को फैला रहा है। और यह आपका ही हाइड एन्ड सीक है--लुका-छिपौव्वल है। जिस दिन आप सजग हो जायेंगे, जिस दिन आप बाहर की दौड़ से थक जायेंगे, ऊब जायेंगे, कहेंगे : बंद करो खेल।...

जैसे बच्चे नदी की रेत में घर बनाते हैं, लड़ते हैं, झगड़ते हैं।

बुद्ध बहुत बार इस दृष्टांत को लेते रहे हैं कि नदी के किनारे बच्चे घर बना रहे हैं। रेत के घर हैं, वे कभी भी गिर जाते हैं। कोई बच्चे की लात लग जाती है;

कोई बच्चा जोर से खड़ा हो जाता है; ये मकान गिर जाते हैं। तो बड़ा झगड़ा हो जाता है। मारपीट भी हो जाती है कि 'तूने मेरा मकान गिरा दिया! इतनी मेहनत से मैंने बनाया।'

फिर साँझ होने लगती है; सूरज ढलने लगता है। कोई नदी के किनारे से चिल्लाता है कि 'बच्चों, घर जाओ। तुम्हें तुम्हारी माताएँ याद कर रही हैं।' वे बच्चे, जिनके घर को जरा चोट लग गई थी, किनारा झड़ गया था, रेत बिखर गई थी, लड़ने को तैयार हो गये थे, वे अपने ही घरों पर कूद कर घरों को मिटा कर असली घरों की तरफ भाग जाते हैं। साँझ होने लगी; सूरज ढलने लगा; माँ की आवाज आ गई।

जिन घरों के लिये लड़े थे, मारपीट की थी, उन घरों को खुद ही कूद कर मिटा देते हैं।

बस, ऐसा ही है। बुद्ध कहते थे--कि जो भी हम बना रहे हैं अपने चारों तरफ, रेत के घर हैं; हमारा खेल है।

कोई हर्ज भी नहीं। आप रस ले रहे हैं, बना रहे हैं। आपकी तकलीफ यही है कि आप पूरा रस भी नहीं ले पाते। पूरा बना भी नहीं पाते। पूरा बना लें, तो मिटाने का भी मजा आ जाय। साँझ को जब मिटाएँगे तो कुछ मिटाने को भी तो चाहिए। कुछ बना हुआ होगा, तो मिटा भी लेंगे। लेकिन कभी बना ही नहीं पाते पूरा और साँझ कभी आ नहीं पाती; दोपहर ही बनी रहती है। अधूरा ही अधूरा बना रहता है।

संसार में पूरी तरह उतर जायँ; जो भी खेल खेलना है, पूरी तरह खेल लें। खेल खेलते-खेलते ही यह होश आ जाएगा कि अब बहुत हो गया।

आपको भी कई दफा दिखाई पड़ता है कि अब बहुत हो गया। आपको भी बहुत दफा खयाल में आता है कि यह मैं क्या कर रहा हूँ। यह तब तक जारी रखूंगा? फिर आप अपने को भुला लेते हैं। यह तो खेल छोड़ने की बातें ठीक नहीं हैं। खेल मिटाने का मामला हो जाएगा। और जिन्दगी एक व्यवस्था से चल रही है, उसे क्यों तोड़ना? फिर आप चलाने लगते हैं।

ये जो झलकें आपको आती हैं, वे इसी बात की आती हैं कि यह खेल वस्तुतः खेल है। और वास्तविक घर कहीं और छिपा है। जब यह बिलकुल ही व्यर्थ दिखाई पड़ने लगेगा, ऊब और दुःख इसमें घने हो जाएँगे, तब आप अपने पीछे झाँक सकेंगे।

वह जो पीछे छिपा है, कृष्ण बार-बार उसी को सच्चिदानंदघन परमात्मा कह रहे हैं।

आपकी तरफ ही इशारा है। वह सब के भीतर छिपा है। सब का वही केन्द्र है।

अब हम सूत्र को लें ।

'और जो निरन्तर आत्म-भाव में स्थित हुआ, दुःख सुख को समान समझने वाला है; तथा मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला और धैर्यवान है; तथा जो प्रिय और अप्रिय को समान समझता है और अपनी निंदा-स्तुति में भी समान भाव वाला है; तथा जो मान और अपमान में सम है एवं जो मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

एक-एक शब्द को समझें ।

'जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ... ।' जो निरन्तर एक ही बात स्मरण रखता है कि मैं हूँ--अपने भीतर; जो अपनी छबियों के साथ तादात्म्य नहीं जोड़ता; जो दर्पणों में दिखाई पड़नेवाले प्रतिबिम्बों से अपने को नहीं जोड़ता; बल्कि जो सदा खयाल रखता है--उस होश का, जो भीतर है; और जो सदा याद रखता है कि यह होश ही मैं हूँ; मैं हूँ--यह चैतन्य; और इस चैतन्य को किसी और चीज से नहीं जोड़ता--इसी भाव-दशा का नाम आत्म-भाव है ।

मैं सिर्फ चेतना हूँ । और यह चेतना किसी भी चीज को कितना ही प्रतिफलित करे, उससे मैं सम्बन्ध न जोड़ूँगा । यह चेतना कितनी ही किसी चीज में दिखाई पड़े... ।

रात चाँद निकलता है; झील में भी दिखाई पड़ता है । आप झील में देखकर अगर उसको चाँद समझ लें, तो मुश्किल में पड़ेंगे । अगर डुबकी लगाने लगे पानी में--चाँद की तलाश में--तो भटक ही जायेंगे । और दुःख तो निश्चित होने वाला है; क्योंकि थोड़ी ही हवा की लहर आयेगी और चाँद टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा ।

तो जहाँ भी हम जिन्दगी को देखते हैं, वहाँ हर चीज टूट-फूट जाती है । क्योंकि हम प्रतिबिम्ब में देख रहे हैं ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात एक कुएँ के पास से गुजर रहा है । रमजान के दिन हैं । और उसने नीचे कुएँ में झाँक कर देखा । वहाँ चाँद का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा । गहरा कुआँ है । हवा की कोई लहर भी वहाँ नही है, तो चाँद बिलकुल साफ दिखाई पड़ रहा है ।

अकेला था । मरुस्थल का रास्ता था । आसपास कोई दिखाई भी नहीं पड़ता था । नसरुद्दीन ने कहा, 'यह तो बड़ी मुसीबत हो गई । यह चाँद यहाँ कुएँ में उलझा है । और जब तक यह आकाश में दिखाई न पड़े, लोग मर जाएँगे भूखे रह-रह के । रमजान का महीना है । इसे बाहर निकालना एकदम जरूरी है । यहाँ कोई दिखाई भी नहीं पड़ता--जो सहायता करे ।

तो बेचारे ने ढूंढ-ढाँढ के रस्सी कहीं से लाया । रस्सी का फन्दा बना के नीचे

डाला । कुएँ में चाँद को फँसाने की रस्सी में, कोशिश की । चाँद तो नहीं फँसा, कुएँ के किनारे पर चट्टान का कोई टुकड़ा होगा, वह फँस गया । उसने बड़ी ताकत लगाई ।

खींच रहा है । बड़ी मुश्किल में पड़ा है । और अकेला है । कहता है, 'कोई और है भी नहीं । कोई साथ भी दे दे । और चाँद वजनी मालूम पड़ता है । और चाँद भी हद्द कर रहा है कि बिलकुल रस्सी को पकड़े हुए है और उठ भी नहीं रहा है ।'

बड़ी ताकत लगाने से रस्सी टूट गई । मुल्ला भड़ाम से कुएँ के नीचे गिरा । सिर में चोट भी आई । एक क्षण को आँख भी बन्द हो गई । फिर आँख खुली, तो देखा : चाँद आकाश में है । मुल्ला ने कहा, 'चलो भला हुआ । निकल तो आये । अब लोग नाहक रमजान में भूखे तो न रहेंगे । सिर में थोड़ी चोट लग गई; कोई हर्ज नहीं । रस्सी भी टूट गई; कोई हर्ज नहीं । लेकिन चाँद को कुएँ से मुक्त कर लिया ।'

जिस दिन आप आत्म-भाव में स्थित होंगे, उस दिन आपको भी ऐसा ही लगेगा कि जहाँ से हम अब तक अपने को खोज रहे थे, वहाँ तो हम थे भी नहीं । जहाँ से हम रस्सियाँ बाँधकर, योजनाएँ कर के, साधनाएँ साध के और आत्मा को पाने की कोशिश कर रहे थे, वहाँ तो हम थे भी नहीं । चाँद तो सदा आकाश में है । वह किसी कुएँ में उलझा नहीं है । लेकिन कुएँ में दिखाई पड़ता है ।

आत्म-भाव का अर्थ है कि हम चाँद को आकाश में ही देखें--कुएँ में नहीं । आत्म-भाव का अर्थ है कि मेरी चेतना मेरे भीतर है । और किसी और वस्तु से बँधी नहीं है। कहीं भी छिपा नहीं है। मैं कहीं और नहीं हूँ, मुझमें ही हूँ। इसलिए सब तलाश--कहीं और की--व्यर्थ है । और सब तलाश दुःख में ले जाएगी; विफलता परिणाम होगा । क्योंकि वहाँ, वह मिलने वाली नहीं है ।

या इसको अगर आप सफलता कहते हों--कि रस्सियाँ बाँध के, चाँद को खींच के और जब सिर फूटे और ऊपर आकाश में आपको दिखाई पड़ जाय, और आप समझते हों कि आपने चाँद को मुक्त कर लिया, तो ऐसी ही स्थिति बुद्ध को हुई होगी।

बुद्ध से कोई पूछता है...जब बुद्ध को ज्ञान हो गया तो, कि 'आपको क्या मिला ?' तो बुद्ध कहते हैं, 'मिला कुछ भी नहीं । इतना ही पता चला कि कभी खोया ही नहीं था ।'

नसरुद्दीन कहता है : चाँद को निकाल लिया; मुक्त कर दिया आकाश में । बुद्ध कहते हैं : कुछ भी मिला नहीं, क्योंकि कभी खोया नहीं था । और जो मैंने जाना है, वह सदा से मेरे भीतर था । सिर्फ मेरी नजरें बाहर भटक रही थीं, इसलिए मैं उसे पहचान नहीं पा रहा था । अगर तुम पूछते हो, तो मैंने कुछ खोया जरूर है; अज्ञान खोया है । लेकिन पाया कुछ भी नहीं है । क्योंकि ज्ञान तो सदा से ही था । वह मेरा स्वभाव है ।

'आत्म-भाव में स्थित हुआ दुःख सुख को समान समझने वाला... ।' जो भी आत्म-भाव में स्थित होगा, उसे दुःख सुख समान हो जाएँगे; समता उसकी छाया हो जाएगी ।

हमें दुःख और सुख अलग-अलग क्यों मालूम पड़ते हैं? इसलिए अलग-अलग मालूम पड़ते हैं कि जो हम पाना चाहते हैं, वह हमें सुख मालूम पड़ता है । और जिससे हम बचना चाहते हैं, वह दुःख मालूम पड़ता है । हालाँकि हमारे सुख, दुःख हो जाते हैं और दुःख सुख हो जाते हैं । फिर भी हमें बोध नहीं आता ।

जिस चीज को आप आज पाना चाहते हैं, सुख मालूम पड़ती है । और कल पा लेने के बाद छूटना चाहते हैं और दुःख मालूम पड़ती है ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक चर्च के पास से गुजर रहा है । उसकी पत्नी भी साथ है । उस चर्च में बड़ी तैयारियाँ हो रही हैं । बड़े फूल लगाये गए हैं । और बड़े दीये जलाये गए हैं । और द्वार पर लाल दरी बिछाई गई है । कोई स्वागत समारम्भ का इंतजाम हो रहा है । तो पत्नी पूछती है कि 'नसरुद्दीन, इस चर्च में क्या होने वाला है?'

उस चर्च में एक विवाह की तैयारी हो रही है । नसरुद्दीन कहता है, 'इस चर्च में एक तलाक की तैयारी हो रही है । एक तलाक का प्रारम्भ... ।'

विवाह तलाक का ही प्रारम्भ है । सब सुख दुःख के प्रारम्भ हैं । लेकिन दुःख थोड़ी देर में पता चलेगा । पहले सब सुख मालूम होगा । जिसको हम पकड़ना चाहेंगे, उस में सुख दिखाई पड़ेगा । और जिसको हम छोड़ना चाहेंगे, उसमें दुःख दिखाई पड़ेगा ।

आत्म-भाव में स्थित व्यक्ति को न तो कुछ पकड़ने की आकांक्षा रह जाती है, न कुछ छोड़ने की, इसलिए सुख दुःख समान हो जाते हैं । इसलिए सुख दुःख के बीच जो भेद है, वह कम हो जाता है, गिर जाता है । सुख और दुःख में उसका कोई चुनाव नहीं रह जाता है ।

समान का अर्थ है : कोई चुनाव नहीं रह जाता है । दुःख आता है, तो स्वीकार कर लेता है । सुख आता है, तो स्वीकार कर लेता है । दुःख आता है, तो पागल नहीं होता । सुख आता है तो भी पागल नहीं होता । न उसे सुख उद्विग्न करता है, न दुःख उद्विग्न करता है ।

जैसे सुबह आती है, साँझ आती है, ऐसे सुख आते जाते रहते हैं । दुःख आते जाते रहते हैं । वह दूर खड़ा--अछूता, अस्पर्शित बना रहता है ।

'आत्म-भाव में स्थित हुआ दुःख सुख को समान समझने वाला है । मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला है । धैर्यवान है । तथा जो प्रिय और अप्रिय

को बराबर समझता है । निन्दा-स्तुति में समान भाव वाला है ।'

सभी द्वन्द्व जिसके लिए समान हो गए हैं । चाहे प्रेम के, अप्रेम के; चाहे स्वर्ण के, मिट्टी के; चाहे मित्र के, शत्रु के; स्तुति के, निन्दा के; जिसके लिए सभी भाव समान हो गए हैं, जो विपरीत को विपरीत की तरह नहीं देखता, जो पहचान लिया है कि सुख दुःख का ही छोर है; और जो समझ लिया है कि स्तुति में निन्दा छिपी है। आज स्तुति है, कल निन्दा होगी । आज निन्दा है, कल स्तुति हो जाएगी । मित्रता और शत्रुता के बीच जिसको फासला नहीं दिखाई पड़ता; जिसे दोनों एक ही चीज की डिग्रीज मालूम पड़ती हैं ... ।

यह उसी को होगा, जो आत्म-भाव में स्थित हुआ है । उसे यह द्वन्द्व साफ दिखाई पड़ने लगेगा : द्वन्द्व नहीं है । यह मेरे ही चुनाव के कारण द्वन्द्व पैदा हुआ था ।

बुद्ध ने कहा है, 'मैं कोई मित्र नहीं बनाता हूँ, क्योंकि मैं शत्रु नहीं बनाना चाहता हूँ ।' मित्र बनाएँगे, तो शत्रु बनना निश्चित है ।

आधा नहीं चुना जा सकता । और हम आधे को ही चुनने की कोशिश करते हैं । इससे हम कष्ट में पड़े हैं । अगर मित्र को चुनते हैं, तो शत्रु को स्वीकार कर लें। सुख को चुनते हैं, तो दुःख को भी स्वीकार कर लें ।

पर यह स्वीकृति, यह तथाता उसी को सम्भव है, जो अपने में स्थित हुआ हो; जो भीतर खड़े होकर देख सके--दुःख को, सुख को--दोनों को--निष्पक्ष भाव से । भीतर खड़ा हुआ व्यक्ति देख पाता है--निष्पक्ष भाव से ।

भीतर खड़ा हुआ व्यक्ति तराजू की भाँति हो जाता है, जिसके दोनों पलड़े एक सम स्थिति में आ गए; जिसका काँटा आत्म-भाव में थिर हो गया ।

'तथा जो मान अपमान में सम है । मित्र और बैरी के पक्ष में भी सम है । संपूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

कुंजी है : आत्म-भाव में स्थित होना । जो आत्म-भाव में स्थित है, द्वन्द्व में सम हो जाएगा । जो आत्म-भाव में स्थित है, वह कर्तापन से मुक्त हो जाएगा । उसे ऐसा नहीं लगेगा कि मैं कुछ कर रहा हूँ । भूख लगेगी, पर वह भूखा नहीं होगा ।

बड़ी मीठी कथा है--कृष्ण के जीवन में । जैन शास्त्रों में उस कथा का उल्लेख है ।

कृष्ण की पत्नी ने, रुक्मणी ने, कृष्ण को पूछा, 'एक परम वैरागी नदी के उस पार ठहरा है । वर्षा के दिन हैं । नदी में पूर है । और कोई भोजन नहीं पहुँचा पा रहा है । आप कुछ करें ।' तो कृष्ण ने कहा, 'तू ऐसा कर, कि जा नदी के किनारे, नदी से यह प्रार्थना करना '.... ।

कथा बड़ी मीठी है । 'नदी से ही प्रार्थना करना कि अगर वह वैरागी, जो

उस पार ठहरा है, वह संन्यस्त वीतराग पुरुष सदा का उपवासा हो, तो नदी मार्ग दे दे।'

रुक्मणी को भरोसा तो न आया, लेकिन कृष्ण कहते हैं, तो कर लेने जैसी बात लगी। और सोचा कि हर्ज क्या है; देख लें। और शायद यह हो भी जाय, तो एक बड़ा चमत्कार होगा।

तो वह सखियों को लेकर बहुत से मिष्ठान्न और भोजन लेकर नदी के पास गई। उसने नदी से प्रार्थना की। भरोसा तो नहीं था। लेकिन चमत्कार हुआ कि नदी ने रास्ता दे दिया। कहा इतना ही कि उस पार जो ठहरा संन्यस्त व्यक्ति है, अगर वह जीवन भर का उपवासा है, तो मार्ग दे दो।

नदी कट गई। अविश्वास से भरी रुक्मणी; आँखों पर भरोसा नहीं; अपनी सहेलियों को लेकर उस पार पहुँच गई। उस वीतराग पुरुष को भोजन... वह इतना लाई थी कि पचास लोग कर लेते। वह अकेला संन्यासी ही उतना भोजन कर गया।

भोजन के बाद यह खयाल आया कि हम कृष्ण से यह तो पूछना भूल ही गए कि लौटते वक्त क्या करेंगे। क्योंकि नदी अब फिर बह रही थी। और अब पुरानी कुंजी तो काम नहीं आयेगी। क्योंकि यह आदमी आँख के सामने भोजन कर चुका। और थोड़ा-बहुत भोजन नहीं कर चुका। निश्चित ही जीवन भर का उपवासा रहा होगा। पचास आदमियों का भोजन उसने कर लिया! लेकिन अब पुरानी कुंजी तो काम नहीं आयेगी। और अब कृष्ण से पूछने का कोई उपाय नहीं। तो एक ही उपाय है: इस वीतराग पुरुष से ही पूछ लो कि कोई कुंजी है—वापस जाने की। तो उसने कहा कि 'तुम किस कुंजी से यहाँ तक आई हो?' तो उन्होंने कहा कि 'कृष्ण ने ऐसा कहा था, लेकिन वह तो अब बात बेकार हो गई।' उस संन्यासी ने कहा कि 'वह बात बेकार होने वाली नहीं है। कुंजी काम करेगी। तुम नदी से कहो कि अगर यह संन्यासी जीवन भर का उपवासा हो, तो मार्ग दे दे।'

पहले तो भरोसा नहीं आया था। अब तो भरोसे का कोई कारण भी नहीं था। अब तो स्पष्ट अविश्वास था। लेकिन कोई दूसरा उपाय भी नहीं था। इसलिए नदी से प्रार्थना करनी पड़ी। और नदी ने मार्ग दिया।

करीब-करीब होश खोई हुई हालत में रुक्मणी कृष्ण के पास पहुँची और उसने कहा, 'यह हद हो गई। यह बिलकुल भरोसे की बात नहीं है। मैंने अपनी आँख से देखा है—संन्यासी को भोजन करते हुए। उसके जीवन भर के उपवासे होने का कोई सवाल नहीं रहा।'

कृष्ण ने कहा कि 'वही तुम नहीं समझ पा रही हो। भूख शरीर को लगती है—ऐसा जो जान लेता है, फिर भोजन भी शरीर में ही जाता है। ऐसा जो जान

लेता है, उसका उपवास कभी भी खण्डित नहीं होता।'

जिसको भूख ही न लगी हो, उसको भोजन करने का सवाल नहीं है। हम भोजन करते हैं; करते मालूम पड़ते हैं। कर्तापन आता है, क्योंकि भूख हमें लगती है—हमारी है।

इस प्रयोग को थोड़ा करके देखें। कल से स्मरण रखें कि भूख लगे, तो वह शरीर की है। प्यास लगे, तो शरीर की है। पानी पीयें, तो शरीर में जा रहा है। प्यास बुझ रही, तो शरीर की बुझ रही। भूख मिट रही, तो शरीर की मिट रही है। भोजन करते समय, भूख के समय, प्यास के समय, पानी पीते समय, स्मरण रखें।

अगर इस स्मरण को आप थोड़े दिन भी रख पायें, तो आपको एक अनूठा अनुभव होगा। और वह अनुभव यह होगा कि आपको साफ दिखाई पड़ेगा कि मैं सदा का उपवासा हूँ।

वहाँ कभी कोई भूख नहीं लगी। कोई भूख पहुँच नहीं सकती वहाँ। चेतना में भूख का कोई उपाय नहीं है।

अमेरिका में एक व्यक्ति बड़ी अनूठी खोज में लगा हुआ है। उसकी खोज भरोसे योग्य नहीं है, लेकिन खोज के परिणाम बड़े साफ हैं। और उस व्यक्ति का कहना यह है कि एक समय था मनुष्य जाति के इतिहास में, जब कोई भोजन नहीं करता था।

जैन शास्त्रों में ऐसे समय का उल्लेख है। जैनों के जो पहले तीर्थंकर हैं: ऋषभदेव, उन्होंने ही भोजन, कृषि और अन्न की खोज की। उसके पहले कोई भोजन नहीं करता था। लोग भूखे नहीं होते थे।

यह बात कहानी की मालूम पड़ती है। लेकिन जो आदमी अमेरिका में खोज कर रहा है, उसके बड़े वैज्ञानिक आधार हैं। और वह कहता है कि भोजन सिर्फ एक लम्बी आदत है। और वह यह कहता है कि भोजन से शरीर को शक्ति नहीं मिलती। भोजन से ज्यादा से ज्यादा शरीर में जो शक्ति पड़ी है, उसको गति मिलती है। ऐसे ही जैसे कि एक पनचक्की चलती थी, तो पानी चक्की के पंखे पर से गिरता था; पंखा घूमता था। पंखा तो मौजूद है, सिर्फ गिरता हुआ पानी पंखे को घुमा देता था।

इस वैज्ञानिक का कहना है कि शरीर में शक्ति मौजूद है। सिर्फ यह भोजन का शरीर में जाना और शरीर के बाहर मल होकर निकलना, यह सिर्फ शरीर के भीतर जो पंखे बिना चले पड़े हैं, उनको चलाता है। इससे कोई शक्ति मिलती नहीं। और आदमी बिना भोजन के रह सकता है।

और ऐसी घटनाएं हैं, जहाँ कुछ लोग बिना भोजन के रहे हैं—चालीस पचास

साल तक भी। उनका वजन भी नहीं गिरा। उनके शरीर में कोई रोग भी नहीं आया। बल्कि ये बहुत स्वस्थ लोग रहे हैं।

अभी बवेरिया में एक स्त्री है--थेरेसा न्यूमॅन। उसने तीस साल से भोजन नहीं किया है। रत्ती भर वजन नीचे नहीं गिरा है। और तीस साल से वह कभी बीमार नहीं पड़ी। न कोई मलमूत्र का सवाल है। उसकी सारी अंतड़ियाँ सिकुड़ गई हैं। पेट ने सारा काम बंद कर दिया है। लेकिन उसका शरीर परिपूर्ण स्वस्थ है। और उसकी जितनी उम्र है, उससे कम उम्र मालूम होती है। क्या कारण होगा?

इस बात की सम्भावना है कि हो सकता है: भोजन मनुष्य जाति की सिर्फ एक गलत आदत हो। और किसी दिन आदमी भोजन से मुक्त किया जा सके। एक बात निश्चित है कि शरीर को भला जरूरत हो या आदत हो, लेकिन भीतर जो चेतना है, उसको न तो जरूरत है और न आदत है।

वह भीतर की चेतना परम ऊर्जा से भरी है। उसकी ऊर्जा का स्रोत शाश्वत है। उसको ऊर्जा रोज-रोज ग्रहण नहीं करनी पड़ती। इसलिए उसे हम सच्चिदानन्दघन परमात्मा कह रहे हैं। उसकी ऊर्जा मूल स्रोत से जुड़ी है। वह स्रोत शाश्वत है। वह कभी समाप्त नहीं होता। इसलिए उसमें रोज ईंधन डालने की जरूरत भी नहीं है।

चेतना के लिए भोजन की कोई जरूरत नहीं है। शरीर के लिए हो या न हो यह बात विवाद की हो सकती है। समय, भविष्य तय करेगा। लेकिन चेतना के लिए तो कोई भी जरूरत नहीं है।

वह चेतना उपवासी है। ऐसा भाव अगर बनने लगे, निर्मित होने लगे, तो आप में से कर्तापन धीरे-धीरे अपने आप गिर जाएगा। और जब भी आप किसी चीज का आरम्भ करेंगे, किसी भी चीज की पहल करेंगे, तो आप जानेंगे: यह शरीर के गुण इसकी पहल कर रहे हैं, मैं इसकी पहल नहीं कर रहा हूँ।

शरीर को जितनी जरूरत होगी, आप दे देंगे। ज्यादा भी नहीं देंगे, कम भी नहीं देंगे। अभी हम दो ही काम करते हैं: या कम देते हैं या ज्यादा देते हैं। क्योंकि ठीक कितना देना--इसका हमें पता ही नहीं चल पाता। हम इतने जुड़े हैं, हमारा सम्बन्ध इतना जुड़ गया है शरीर से कि हम निष्पक्ष नहीं हो पाते। हम से ज्यादा निष्पक्ष तो जानवर हैं।

अगर कुत्ते को पेट में खराबी हो, तो वह भोजन नहीं करेगा--आप लाख उपाय करें। लेकिन आपको कितनी ही बीमारी हो, कितनी ही खराबी हो, आप भोजन करेंगे। शायद बीमारी में और ज्यादा कर लें, कि जरा ताकत की जरूरत है। कोई जानवर यह भूल नहीं करेगा। क्योंकि जानवर जानता है कि बीमारी में भोजन

करने का मतलब है कि शरीर को और काम देना। शरीर पर बीमारी का काम है। उतना ही काम काफी है। उसको नया काम देना खतरनाक है।

शरीर को भोजन न दिया जाय, तो बीमारी जल्दी समाप्त हो जाती है, क्योंकि शरीर खुद बीमारी को निकालने में लग जाता है। शरीर की पूरी ताकत एक तरफ बहने लगती है--बीमारी खतम करने में। आप भोजन दे कर ताकत पचाने में लगा देते हैं। तो भोजन बीमारी को बढ़ाएगा--कम नहीं कर सकता।

कोई जानवर राजी नहीं होगा। साधारण-सा कुत्ता, जिसको हम समझदार नहीं कहते हैं, वह भी भोजन नहीं करेगा। भोजन तो करेगा ही नहीं, घासपात खाकर वमन कर देगा। जो पेट में पड़ा है, उसको भी निकाल देगा; ताकि पेट खाली हो जाय; ताकि शरीर की पूरी ऊर्जा पचाने में नष्ट न हो, बीमारी से लड़ने में लग जाय।

और शरीर के पास नैसर्गिक व्यवस्था है--बीमारियों से लड़ने की। वह सब बीमारियों के पार उठ सकता है। और अगर आधुनिक आदमी नहीं उठ पाता, तो उसका कारण यह है कि वह शरीर की ऊर्जा को तो भोजन में ही लगाए रखता है।

हम निष्पक्ष नहीं हो पाते, बीमारी में ज्यादा खा लेते हैं। हमें कभी पता भी नहीं चलता; ठीक हमारा, जिसको पता चलने का बोध कहना चाहिए, वह भी क्षीण हो गया है। पता ही नहीं चलता कि कितना खाना; कब खाना, कब नहीं खाना--उसका हमें कोई बोध नहीं रहा है। कोई नैसर्गिक हमारी प्रतीति नहीं रही कि कितना खाना, कितना नहीं खाना; कब कुछ करना और कब नहीं करना; कहाँ रुक जाना--उस सबका कारण इतना है कि हम इतने ज्यादा जुड़ गए हैं शरीर के साथ कि दूर खड़े होने से, दूर से देखने से, जो निष्पक्षता होती है, वह नष्ट हो गई है। साक्षी भाव उस निष्पक्षता को ले आयेगा। आत्म-भाव उस निष्पक्षता को ले आयेगा। आप दूर खड़े होकर देख सकेंगे।

और ध्यान रहे: बहुत-सी समस्याएँ सिर्फ इसलिए नहीं हल हो पातीं कि आप दूर नहीं हो पाते।

आपके पास कोई दूसरा आदमी आये और अपनी समस्या कहे, तो आप जो सुझाव देते हैं; वह हमेशा सही होता है। वह दूसरे की समस्या है। आप दूर से खड़े हो कर देखते हैं। वही समस्या आप पर आ जाय, फिर आपकी बुद्धि काम नहीं करती। जो दूसरे को सलाह देने का काम कर रही है, वह खुद को सलाह देने में काम नहीं कर पाती। वैसे ही जैसे एक सर्जन अपनी पत्नी का आपरेशन कर रहा हो। सर्जन अपनी पत्नी का आपरेशन करने को राजी नहीं होता। जब तक मार डालने की इच्छा न रखता हो। क्योंकि वह जानता है: पत्नी से इतनी निकटता है; हाथ कँपेगा। वह निष्पक्ष नहीं हो पायेगा। तो सर्जन अपने मित्र को कहेगा कि तू आपरेशन कर।

निष्पक्षता न हो, तो सब चीजें कँप जाती हैं। निष्पक्षता हो, तो हम अडिग बने रहते हैं; बोध साफ होता है; चीजें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। धुआँ नहीं होता।

जितना आत्म-भाव बढ़ेगा, जितना आप अपने को शरीर से अलग और चेतना के साथ एक मानेंगे, देखेंगे, समझेंगे, ठहरेंगे--उतना ही आप पायेंगे कि चीजें उतनी ही होती हैं, जितनी जरूरी हैं।

जरूरत पर रुक जाना, जरूरत से आगे इंच भर न जाना। तो फिर आपके लिए कोई बंधन नहीं है। क्योंकि तब शरीर के चलने योग्य शरीर को देते रहेंगे आप। शरीर अपनी गति-विधि पूरी कर लेगा और समाप्त हो जाएगा। जिस दिन शरीर की गति-विधि पूरी हो जाएगी...। जैसे दीये का तेल चुक गया, वैसे ही दीया बुझ जाएगा। और इस शरीर के दीये के बुझते ही आपके जीवन में महासूर्य का उदय होगा। इस दीये पर आँखें बँधी हैं, इसलिए सूरज को देखना मुश्किल है।

कृष्ण कहते हैं, 'आत्म-भाव में स्थित हुआ, संपूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

ऐसा जो व्यक्ति है, ऐसी जो चेतना है, वह गुणों के अतीत है। और गुणातीत हो जाना परम सिद्धि है।

आज इतना ही।

दसवाँ समापन प्रवचन

वुडलैन्ड, बम्बई, रात्रि, दिनांक १० दिसम्बर, १९७३

बुद्धि का काँटा • करने की व्यर्थता • दर्शन की कला
विवाह और वासना • अव्यभिचारी भक्ति

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

ॐ तत्सादिति श्रीमद्भगद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणों को अच्छी प्रकार उल्लंघन करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिए योग्य होता है ।

तथा हे अर्जुन, उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्य धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ ।

गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।

पहले कुछ प्रश्न ।

● पहला प्रश्न : ऐसा लगता है कि चेतना या बोध का विस्तार समस्त धर्म-साधना का मूल है, तब क्या ज्ञान व भक्ति, योग व तन्त्र, कर्म व अकर्म, आदि अनेकानेक मार्गों से इसी बुनियादी तत्त्व की खोज की जाती है? और यदि इसी सुई को खोजना है, तो उसके इर्द-गिर्द सिद्धान्तों का इतना भारी जंगल क्यों खड़ा किया जा जाता है ?

सत्य तो अत्यल्प है, अति छोटा है । एक क्षण में भी समा जाय---एक शब्द में; पर वैसे सत्य को आप समझ न पायेंगे । उस अणु को आप देख न पायेंगे । वह सूक्ष्म है, इसी कारण आप उससे चूक जाएँगे ।

उस छोटे से सत्य को दिखाने के लिए आपकी बुद्धि बहुत-सी माँग करती है ।

सिद्धान्तों के जाल सत्य को इंगित करने के लिए नहीं खड़े किये जाते, आपकी बुद्धि की तृप्ति के लिए खड़े किये जाते हैं । और बिना तृप्त हुए आप खोज में संलग्न नहीं हो सकते ।

आपके सभी प्रश्न व्यर्थ हैं । अर्जुन जो कृष्ण से पूछ रहा है, सभी व्यर्थ है । आनन्द जो बुद्ध से पूछ रहा है, सभी व्यर्थ है । लेकिन वह पूछ रहा है; और जब तक उसे उत्तर न मिल जाय, तब तक उसकी यात्रा प्रारम्भ न होगी ।

आप व्यर्थ ही पूछ रहे हों, तो भी सदगुरु को इसके उत्तर देने पड़ेंगे । इतना भर कह देने से कि वह व्यर्थ है, आपकी कोई तृप्ति नहीं होगी । इतना भर कह देने से कि असंगत है---पूछने में कोई सार नहीं है---आपकी तृप्ति नहीं होगी ।

उत्तर देने का यह अर्थ नहीं है कि जो आप पूछ रहे हैं, वह सार्थक है । उत्तर देने का इतना ही अर्थ है, ताकि आपकी जिज्ञासा घिसघिस के शांत हो जाय ।

आप पूछ-पूछ के थक जायँ । गुरु नहीं थकेगा । उत्तर देता जाएगा । वह आपको थका रहा है । एक ऐसी घड़ी आ जाय, जहाँ आप खुद ही कहने लगें, 'अब पूछना नहीं

है; अब कुछ करना है ।' और जब आप कहेंगे, 'अब कुछ पूछना नहीं, करना है', तब बात बहुत छोटी है।

जैसे छोटे बच्चों को कुछ समझाना हो, तो कहानी का जाल खड़ा करना पड़ता है । और बुद्धिमान बच्चों को कुछ समझाना हो, तो सिद्धान्तों के जाल खड़े करने पड़ते हैं ।

ये सिद्धान्तों के जाल उतने ही बड़े खड़े करने पड़ेंगे, जितनी आपकी बुद्धिमत्ता प्रश्न उठाती चली जाएगी ।

झेन फकीर हुआ--रिंझाई; उससे एक सम्राट् ने आकर पूछा कि 'जो भी जानने योग्य है, जो भी पाने योग्य है, आप एक शब्द में मुझे कह दें ।' रिंझाई ने कहा, 'जरूर कहूँगा । जो भी पूछने योग्य है, आप एक शब्द में मुझसे पूछ लें । अगर आप एक शब्द में उसे पूछ लेंगे, तो मैं एक शब्द में उसे कह दूंगा । और अगर आप मौन में पूछने में समर्थ हों, तो एक शब्द की भी कोई जरूरत नहीं । आप मौन में ही पूछ लें, मैं मौन में ही कह दूंगा ।'

आप कितना लम्बा करके पूछते हैं, इस पर निर्भर करेगा कि गुरु कितना लम्बा शब्दों का जाल खड़ा करे ।

आपका प्रश्न कितना ही छोटा लगता हो, बहुत बड़ा होता है । उसके सारे पहलू छू लेने जरूरी हैं । अगर उसका एक भी पहलू आपके भीतर अनछुआ रह जाय, तो वह आपको कचोटता रहेगा, परेशान करता रहेगा । उसका मूल्य कुछ भी नहीं है । लेकिन आपको मूल्यवान लगता है ।

अर्जुन जो भी पूछ रहा है, उसका कुछ भी मूल्य नहीं है । और कृष्ण सीधा ही कह सकते हैं कि व्यर्थ हैं ये प्रश्न, मत पूछ । जो मैं कहता हूँ, वह कर । लेकिन अर्जुन को अगर ऐसा कहा जाय कि जो वह पूछ रहा है, वह व्यर्थ है; और कृष्ण जो कहते हैं, वह, वह करे, तो करना मुश्किल होगा; क्योंकि अर्जुन तिरस्कृत हो गया । और जिस अर्जुन का इतना भी मूल्य नहीं है--कृष्ण की आँखों में--कि उसके प्रश्न का उत्तर दें, वह अर्जुन कृष्ण पर श्रद्धा भी नहीं कर सकेगा । वह अर्जुन कृष्ण की मान के भी नहीं चल सकेगा । उसकी बुद्धि की खुजली थोड़ी तृप्त होनी जरूरी है । यद्यपि उस खुजली से कुछ हल होने वाला नहीं है । खुजली खुजलाने से और बढ़ती है । न केवल बढ़ती है, बल्कि लहूलुहान भी कर सकती है; दुःख और पीड़ा ला सकती है । लेकिन उस सीमा तक जाना ही होगा ।

गुरु को अनन्त धैर्य चाहिए । अगर अधीर गुरु हो, तो आपके साथ एक क्षण गति नहीं हो सकती । उसको इतना धैर्य तो चाहिए ही, जितना धैर्य आपमें पूछने का है । इससे थोड़ा ज्यादा चाहिए । आप जब पूछ के चुक जायँ, तब भी वह जवाब देने

को तैयार है ।

ये जवाब आपकी जिज्ञासाओं के मूल्य के कारण नहीं दिये जाते हैं । आपकी जिज्ञासाएँ समाप्त हो जायँ, गिर जायँ ... ।

ये उत्तर प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं, प्रश्नों को गिराने की योजना है । और मन की एक क्षमता है, उस क्षमता के बाद मन गिर जाता है । और खुद ही आप कहने लगते हैं कि 'अब पूछना नहीं है; अब जानना नहीं है; अब कुछ करना है; कुछ होना है ।' उस घड़ी की तलाश है ।

और जब तक आप न पूछें, तब तक गुरु कहे कि कुछ करो--व्यर्थ है । क्योंकि करना आपको है । और जब तक आपके भीतर यह भाव सजग न हो जाय, तब तक इस भाव को पैदा नहीं किया जा सकता । इसलिए बुद्ध जीवन भर बोलते हैं; सुबह से साँझ तक बोल रहे हैं । वे ही प्रश्न लोग फिर-फिर पूछते हैं; बुद्ध फिर-फिर उत्तर दे रहे हैं । सिर्फ इस धैर्य में कि आप थकोगे ।

पूछने वाला अनन्त नहीं है, और जवाब देने वाला अनन्त है । वह जो शिष्य खोज रहा है, उसकी खोज की सीमा है । और जिस कृष्ण या बुद्ध के पास खोज रहा है, उसके सागर की कोई सीमा नहीं । वह आपको थका ही डालेगा ।

गुरु से जीतने का उपाय नहीं है । उससे हारना ही होगा । वही हार आपकी विजय भी होगी । क्योंकि उसी दिन आप शब्दों के ऊपर भी उठेंगे ।

इसे ऐसा समझें : एक काँटा लग जाय, तो दूसरे काँटे से उस काँटे को निकालना पड़ता है । आपके पैर में काँटा लगा है, कोई कृष्ण, कोई बुद्ध, उसे दूसरे काँटे से बाहर निकालते हैं । तो आप कह सकते हैं कि 'मैं एक ही काँटे से परेशान हूँ; तुम दूसरा काँटा मेरे पास क्यों ला रहे हो ? एक काँटा मेरे पैर में चुभा है, उससे ही पीड़ा पा रहा हूँ । तुम और दूसरा चुभा रहे हो ! ' ऊपर से ऐसा ही दिखेगा ।

दूसरा काँटा भी चुभाना होगा, क्योंकि दूसरा काँटा पहले काँटे को बाहर निकाल सकता है । दोनों काँटे हैं । दोनों में चुभन है । और जब काँटा बाहर निकल आयेगा पहला--दूसरे काँटे से--तो दोनों फेंक दिये जाएँगे ।

आपको शब्दों के काँटों की चुभन है । शब्दों के ही काँटों की चुभन है । शब्दों के ही काँटों से उन्हें निकालना होगा । और जब निकल आयेगी--आपकी शब्दों की चुभन--प्रश्न बाहर हो जाएँगे, तो दोनों फेंक दिये जाएँगे ।

जब अर्जुन ठीक समझ की हालत में आयेगा, तो जो उसने पूछा था, वह व्यर्थ है ही; जो कृष्ण ने कहा था, वह भी उतना ही व्यर्थ है । उस दिन वह गीता को आग लगा दे सकता है । और जब तक शिष्य गीता को आग लगाने में समर्थ न हो जाय, तब तक जानना : अभी चुभन मिटी नहीं है । अभी पहला काँटा गड़ा है, दूसरे से निकालने

की कोशिश चल रही है। वे दोनों ही कांटे बाहर हो गए, तो दोनों ही फेंकने जैसे हैं।

इसलिए सभी शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। और एक घड़ी जरूर आती है, जब आप शास्त्र की तरफ पीठ कर लेते हैं। और जब तक यह घड़ी न आ जाय, तब तक समझना कि जीवन में अभी वास्तविक क्षण नहीं आया। जब तक शास्त्र व्यर्थ न हो जाय, तब तक समझना : बुद्धि अभी सता रही है; अभी विचार परेशान कर रहे हैं; अभी मन घूम रहा है, भटक रहा है, प्रश्न उठा रहा है। अभी संदेह बाकी है।

जब तक शास्त्र आपको मूल्यवान दिखे, तब तक समझना कि संदेह अभी बाकी है। जिस दिन संदेह मिटेगा, उस दिन शास्त्र की कोई भी जरूरत नहीं, क्योंकि शास्त्र संदेह मिटाने के लिए ही उपयोगी हैं। ऐसे ही जैसे एक बीमार आदमी है। दवा की बोतल लिए घूमता है। फिर जब वह स्वस्थ हो जाएगा, तो बीमारी ही नहीं छूटेगी, दवा की बोतल भी छूट जाएगी।

शास्त्र औषधि से ज्यादा नहीं हैं। उनका अपने में कोई मूल्य नहीं है। औषधि का क्या मूल्य है अपने में? अगर आप बीमार नहीं हैं, तो औषधि का कोई भी मूल्य नहीं है। आप बीमार हैं, तो बड़ा मूल्य है।

शास्त्र का अपने में कोई मूल्य नहीं है। बीमार मन के लिए शास्त्र की औषधि सार्थक है। पर इस घड़ी को लाने के लिए भी दूसरे कांटे का उपयोग करना होगा।

तो कृष्ण कुछ सत्य नहीं दे रहे हैं अर्जुन को। सत्य तो दिया नहीं जा सकता। असत्य छीना जा सकता है, सत्य दिया नहीं जा सकता। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

स्वास्थ्य दिया नहीं जा सकता; बीमारी हटाई जा सकती है। स्वास्थ्य भीतरी भाव है। इसलिए दुनिया में कोई दवा नहीं, जो स्वास्थ्य दे सके। दवा तो सिर्फ बीमारी को काटती है। बीमारी कट जाती है, स्वास्थ्य आपके भीतर उत्पन्न होता है। स्वास्थ्य दवा से भीतर नहीं जाता।

दवा तो बीमारी को काटती है। बीमारी भी एक जहर है, और दवा भी एक जहर है। और जहर से जहर कट जाता है। और आपके भीतर स्वस्थ होने की क्षमता तो छिपी है; बीमारी के हटते ही वह प्रगट होनी शुरू हो जाती है।

सत्य आपके भीतर छिपा है। कोई कृष्ण, कोई बुद्ध सत्य नहीं दे सकते। कोई कभी किसी को सत्य नहीं दिया है। सिर्फ आपका असत्य काटा जा सकता है।

ये सिद्धान्तों के जाल आपके असत्य को काटने के लिए हैं। और आपने असत्य को इतनी मजबूती से जमाया है कि उसको इतनी ही मजबूती से कोई काटे, तो ही काट पायेगा।

अर्जुन काफी पैर जमा के खड़ा है। वह अपने संदेह को छोड़ता नहीं है। वह अपनी शंकाओं को हटाता नहीं है। वह अपनी समस्या को नये रूपों में खड़ा करता

जाता है। जितने नये रूपों मे वह खड़ा करेगा, कृष्ण उतने नये रूपों से हमला करेंगे। इस बीमारी के लिए औषधि खोजनी होगी।

जिस क्षण अर्जुन संदेह से मुक्त हो जाएगा, उसी क्षण कृष्ण चुप और मौन हो जाएँगे। उसी दिन शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा। फिर शास्त्र की कोई भी जरूरत नहीं है।

इतने सिद्धान्तों का जाल इसलिए है कि आपने संदेहों का जाल खड़ा कर रखा है। यह तो सिर्फ एन्टिडोट है। सिद्धान्त सन्देह का एन्टिडोट है।

जितने सन्देहशील लोग होंगे, उतने ज्यादा शास्त्रों की जरूरत पड़ जाएगी। जब लोग बिलकुल सन्देहशील नहीं होंगे, शास्त्र तिरोहित हो जाएँगे। जिस गाँव में कोई बीमार न होगा, वहाँ से डॉक्टर धीरे-धीरे विदा हो जाएगा; औषधियाँ विलुप्त हो जाएँगी।

असत्य के कारण इतने शास्त्र हैं। असत्य के लिए इतने शास्त्र हैं। सन्देह के कारण इतने सिद्धान्त हैं। अगर सिद्धान्त कम करने हों, तो सिद्धान्त कम करने से न होंगे। सन्देह कम करें, सिद्धान्त कम हो जाएँगे। आप असंदिग्ध खड़े हो जायँ, आपके लिए एक भी सिद्धान्त नहीं है।

अगर अर्जुन असंदिग्ध खड़ा होता—कृष्ण के सामने—तो कृष्ण एक शब्द भी नहीं बोलते। बोलने का कोई प्रयोजन नहीं था। बीमारी ही न हो, तो औषधि का कोई अर्थ नहीं है।

● दूसरा प्रश्न : कल आपने जो कहा, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु जो साधना करवाता है और शिष्य जो साधना करता है, उसकी मात्र उपादेयता—करने की व्यर्थता को जान लेना है। क्या करने की व्यर्थता को जान लेना साधक के लिए अनिवार्य है? और क्या विभिन्न साधनाओं का अपने आप में मूल्य नहीं है?

यही मूल्य है। इतना ही मूल्य है। इससे ज्यादा मूल्य नहीं है। समस्त प्रक्रियाओं का इतना ही मूल्य है कि आपको पता चल जाय कि 'करने' से कुछ भी न होगा। कर-कर के आप थक जायँ और उस जगह आ जायँ, जहाँ करने की वासना ही न उठे; जहाँ लगे : करने से कुछ होगा ही नहीं। जिस क्षण भी करने की वासना न उठेगी, उसी क्षण आप कर्ता से मुक्त हो गए, उसी क्षण अहंकार शून्य हो गया।

करने में सार्थकता दिखती है, क्योंकि 'करने वाले' में सार्थकता है। आप कुछ कर-कर के क्या सिद्ध कर रहे हैं?—कि मैं करने वाला हूँ। आप अपने कर्ता को सिद्ध कर रहे हैं।

कोई धन इकट्ठा करके सिद्ध कर रहा है कि मैं बड़ा कर्ता हूँ। कोई ज्ञान इकट्ठा करके सिद्ध कर रहा कि मैं बड़ा कर्ता हूँ। कोई त्याग करके सिद्ध कर रहा है कि मैं बड़ा कर्ता हूँ। लेकिन सभी की मूल बात एक है—कि मैं हूँ।

सब अपने अहंकार को सिद्ध कर रहे हैं। और अहंकार जब तक न मिटे, तब तक परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

तो एक ही उपाय है कि आपका सब करना व्यर्थ हो जाय, आप सब जगह असफल हो जायँ; आपको कहीं भी सफलता न मिल पाये; जिस दिन आपकी असफलता पूर्ण होगी—कि जिस दिन आपको रंचमात्र भी आशा न रह जाएगी कि मैं सफल हो सकता हूँ—उसी दिन आपका 'मैं' गिरेगा। और मैं के गिरते ही परम सफलता मिल जाएगी। क्योंकि मैं के गिर जाने का अर्थ ही यह है कि अब कुछ खोजने को न रहा। दीवाल गिर गई। द्वार खुल गए।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने गाँव में ज्योतिषि का काम भी करता था। बैठा था बाजार में—अपनी दुकान खोलकर—कि गाँव का एक राजनेता जो कि चुनाव अभी अभी हार गया था, वहाँ से निकला। नसरुद्दीन ने कहा कि 'ठहरो। अपना भविष्य नहीं जानना चाहते?' उस राजनेता ने कहा, 'छोड़ो। भविष्य अब; अब मैं हार चुका, अब कोई भविष्य नहीं है। मैं आत्महत्या करने जा रहा हूँ। मेरे लिए तुम्हारे ज्योतिष का कोई मूल्य नहीं है।' नसरुद्दीन ने कहा, 'रुको। यह तो जान लो कि आत्महत्या में सफल होओगे या नहीं?'

जब तक आप कुछ भी करने जा रहे हैं—आत्महत्या भी करने जा रहे हैं—जब तक भी कर्ता पीछे खड़ा है; जब तक आपको लग रहा है: आप कुछ कर सकते हैं; तब तक आपका अहंकार जागा हुआ है।

फ्रांस के एक बहुत बड़े विचारक आल्बेयर कामू ने एक कीमती वक्तव्य दिय है। और वह वक्तव्य यह है कि आदमी चाहे कुछ और न कर सकता हो; चाहे सभी जगह आदमी असफल असमर्थ मालूम पड़ता हो, लेकिन आत्मघात एक ऐसी बात है, जिससे सिद्ध हो जाता है कि हम भी हैं।

ध्यान रहे: जो लोग आत्मघात करते हैं, अकसर अहंकारी लोग होते हैं। जो जीवन में सफल नहीं हो सके, लेकिन जो स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि हम कुछ भी नहीं हैं; वे आत्मघात करके अपने को बता देते हैं कि कुछ तो मैं कर ही सकता हूँ। इतना तो कर ही सकता हूँ कि अपने को समाप्त कर लूँ।

दोस्तोवस्की का प्रसिद्ध उपन्यास है: 'ब्रदर्स कमझिोव'। उसमें एक पात्र कहता है, आकाश की तरफ हाथ उठा के, कि 'हे परमात्मा, अगर तू कहीं भी है और मुझे मिल जाय, तो मैं सिर्फ एक काम करना चाहता हूँ। मैं तुझे वह टिकट वापस करना चाहता हूँ, जो तूने मुझे संसार में भेजने के लिए दिया। और तुझसे कह देना चाहता हूँ: यह संसार बेकार है।'

आत्महत्या करने वाला यही कर रहा है। वह कह रहा है परमात्मा से कि

'सम्हालो अपना यह संसार। इतना करने को तो कम से कम मैं स्वतंत्र हूँ। इसमें तुम मुझे न रोक सकोगे।'

इसलिए आत्मघात अकसर अहंकार की आखिरी परिणति है। विनम्र मनुष्य कभी आत्मघात नहीं कर सकता। निरहंकारी तो सोच भी नहीं सकता। क्योंकि निरहंकारी का मतलब ही यह है कि मेरे हाथ में कुछ भी नहीं है। जीवन भी मेरे हाथ में नहीं है; मृत्यु भी मेरे हाथ में नहीं है। मैं इस विराट् की लीला में सिर्फ एक अंग हूँ। उस अंग की कोई अपनी—सारे अस्तित्व से टूटी हुई—अस्मिता नहीं है। उसका कोई अपना अहम् नहीं है।

मैं इस विराट् का एक हिस्सा हूँ, जैसे लहर सागर का एक हिस्सा है। सागर जहाँ ले जाय, वहाँ लहर चली जाएगी। लहर अपना मार्ग नहीं चुन सकती। लहर यह नहीं कह सकती कि मुझे पूरब जाना है। जाय सारा सागर पश्चिम, लेकिन मुझे पूरब जाना है!

अहंकारी मनुष्य अपने को मिटाने की तत्परता में लगा है। और जितना अहंकारी होगा, उतना ही जल्दी उसे लगेगा कि खत्म कर लूँ। क्योंकि जितना अहंकार होगा ज्यादा, उतनी ही जीवन में विफलता मिलेगी। हर जगह अहंकार टूटेगा।

साधक का तो एक ही अर्थ है कि अब वह अहंकार तोड़ने के लिए तैयार है। और अहंकार तभी टूटेगा, जब कर्ता का भाव मिटे। कर्ता का भाव तभी टूटेगा, जब सभी कर्म तुम्हारे असफल हो जायँ। तुम्हारी सारी विधियाँ, तुम्हारी सारी क्रियाएँ, तुम्हारे सारे मार्ग व्यर्थ हो जायँ; तुम एक ऐसी जगह पहुँच जाओ, जहाँ तुम कह सको कि मेरे किये कुछ भी नहीं होता।

मेरे किये कुछ भी नहीं होगा—ऐसी जो परम विफलता है, इस परम विफलता में ही मनुष्य को पता चलता है कि मैं असहाय हूँ। इस परम विफलता में ही उसे पता चलता है कि मेरे भीतर कोई अहंकार का केन्द्र नहीं है। मैं सिर्फ एक लहर हूँ सागर पर।

एक तरफ से देखने पर यह विफलता है। और दूसरी तरफ से देखने पर यही जीवन में धर्म का जन्म है। यह बड़ी से बड़ी सफलता है।

एक कोने से, संसार की तरफ से देखने पर, यह सबसे बड़ी हार है। परमात्मा की तरफ से देखने पर यह सबसे बड़ी विजय है। जो इस हार के लिए राजी नहीं है, वह परमात्मा के लिए राजी नहीं है, वह परमात्मा के जगत् में कभी विजय उपलब्ध नहीं करेगा।

इसलिए गुरु की सारी चेष्टा यह है।... तुम पूछते हो: क्या करें? गुरु कहे: कुछ न करो, उससे तुम्हें तृप्ति न मिलेगी। तुम पूछते हो: क्या करें? गुरु तुम्हें देता

है कि कुछ करो। कर-कर के वह तुम्हें उस जगह लायेगा, जहाँ तुम खुद ही कहने लगोगे : कि करने से कुछ भी नहीं होता।

वह तुम्हें न-करने की अवस्था में ला रहा है। हालाँकि तुम करने से न-करने की अवस्था में न जाओगे। तुम कुछ रास्ते निकालोगे। कहोगे कि मुझे प्रकाश दिखाई पड़ने लगा। तुम कुछ करके पा रहे हो, यह तुम बताओगे—गुरु को जा-जा कर के। तुम कहोगे कि अब मुझे लाल-नीले रंग दिखाई पड़ रहे हैं। तुम कहोगे : अब मुझे ओंकार का नाद सुनाई पड़ने लगा। तुम कहो : मेरी कुण्डलिनी जागृत हो रही है। तुम हजार तरकीबें निकालोगे—सिद्ध करने की—कि मैं जो कर रहा हूँ, वह विफल नहीं हो रहा है, वह सफल हो रहा है।

तुम अपने अहंकार को बचाने के सब उपाय करोगे। लेकिन अगर तुम्हें सौभाग्य से सद्गुरु मिल गया हो, तो वह तुम्हारे एक उपाय चलने न देगा। वह कहेगा : कुण्डलिनी, नाद, रंग—यह सब बकवास है। यह सब तुम्हें वहम है। तुम सपना देख रहे हो। बंद करो यह बात। ये रंग-बिरंगे चित्र, जो तुम्हें दिखाई पड़ रहे हैं, यह स्वप्न से ज्यादा नहीं है। यह तुम्हें जो प्रकाश दिखाई पड़ रहा है, यह तुम्हारी कल्पना है।

सद्गुरु तो तुम्हें टिकने नहीं देगा। तुम कितनी ही सफलता की खबरें लाओ, वह तुम्हें विफल करता रहेगा। अगर तुम भाग ही न गए उसके पास से, तो वह तुम्हें जरूर उस जगह ले आयेगा, धीरे-धीरे।... तुम्हारी सामर्थ्य के अनुसार ही लायेगा। उस जगह ले आयेगा, जहाँ तुम कहोगे कि 'करने से कुछ भी नहीं होता।' और जिस दिन तुम समझोगे : 'करने से कुछ नहीं होता', उस दिन कर्तापन विलीन हो जाएगा। और उस कर्तापन के विलीन होने के क्षण में ही तुम्हारी बूंद में पूरा सागर उतर आयेगा। उसी क्षण सब कुछ हो जाएगा।

जब तुम मिट जाओगे, तो सब कुछ हो जाएगा। जब तक तुम हो, तब तक कुछ भी न होगा।

और तुम्हारी पूरी कोशिश यह है कि तुम बने रहो। तो तुम न मालूम क्या-क्या व्यर्थ की बातें खोज लाते हो—कि 'यह उपलब्धि हो रही है।' और इस वजह से तुम्हें व्यर्थ के गुरु भी मिल जाते हैं।

सौ गुरुओं में कभी कोई एक सद्गुरु होगा। निन्यानबे जो गुरु हैं, वे तुमने पैदा किये हैं। वे तुम्हारी तृप्ति के लिए, तुम्हारी सान्त्वना के लिए हैं। तुम कहते हो : 'कुण्डलिनी जग रही है'; वे कहते हैं : 'बिलकुल जग रही है।' तुम कहते हो : 'रंग-बिरंगे सपने दिखाई पड़ रहे हैं।' वे कहते हैं : 'ये सपने नहीं हैं। ये बड़ी कीमती बातें हैं। इनका बड़ा मूल्य है। तुम बड़ी ऊँचाई पर पहुँच रहे हो। सिद्धावस्था तुम्हारी बिलकुल करीब है।'

तुम्हारी मूढ़ता के कारण, तुम्हारे अहंकार के कारण गुरुओं का इतना बड़ा जाल चलता है। लेकिन सद्गुरु तुम्हें कभी भी सफल नहीं होने देगा। इसे जरा खयाल रखेंगे।

सद्गुरु तुम्हें सफल नहीं होने देगा। तुम कितने ही उपाय करो, वह तरकीबें निकालेगा। तुम्हारी टाँग खींच के तुम्हें वापस गिरा देगा। वह तुम्हें उस जगह ला रहा है, जहाँ बिलकुल ही साफ तुम्हें हो जाय कि तुम्हारे किये कुछ भी नहीं हो सकता।

इसलिए सद्गुरु की बड़ी कठिनाई है। क्योंकि तुम चाहते हो कि कुछ हो जाय। और तुम्हारे समझाने-बुझाने के लिए वह तुम्हारा सिर थपथपाता रहता है कि 'हाँ, ठहरो; कल होगा; परसों होगा। रुको।' और जब भी कुछ होता है, तब उसकी चेष्टा होती है कि तुम इसको मूल्य मत दो। और वह कहता है, 'रुको, कल होगा।' क्योंकि कल तक तुम्हें रोकना भी जरूरी है। तुम भाग जा सकते हो। तुम्हें भविष्य की आशा देनी जरूरी है।

तुम्हारे अतीत को मिटाना है, तुम्हारे भविष्य को भी मिटाना है। लेकिन तुम रुकोगे तभी यह हो सकता है। तो वह तुम्हें आशा देता है कि 'ठहरो, एक दिन...!' अगर तुम रुके ही रहे, और अगर तुमने साहसपूर्वक प्रयत्न किया; और सब प्रयत्न तुम्हारे असफल हो गए।....

जब मैं कह रहा हूँ : सब प्रयत्न, तो मेरा मतलब समझ लें। सब प्रयत्न। कुछ बाकी न रहा करने को। सारी आशा तिरोहित हो गई। कोई किरण न रही आशा की। उस गहन अंधकार में ही महासूर्य का जन्म है। उस दिन तुम खाली हो जाओगे। उस दिन तुम कहोगे : अब कुछ करने को भी नहीं बचा। अब वासना को दौड़ने के लिए कोई मार्ग नहीं है, अब कोई भविष्य नहीं है। और अब अहंकार को सम्हालने के लिए कोई उपाय नहीं है।

सब वैसाखियाँ गिर गईं। अब तुम बच नहीं सकते। इस घड़ी में ही गुरु के सहारे की जरूरत हो जाती है। क्योंकि इस घड़ी में तुम भाग जा सकते हो। और यही क्षण था, जब खजाना मिलने के करीब था। इस वक्त भी वह तुम्हें कहेगा कि 'ठहरो। कुछ मत करो। रुको। सब होगा।'

उसका आश्वासन तुम्हारे धैर्य को बढ़ाने के लिए है। होगा सब तुम्हारे भीतर कोई गुरु कुछ भी नहीं करता है। और जो गुरु करता है, समझना कि वह गुरु नहीं है। क्योंकि सत्य को दिया नहीं जा सकता। सत्य को खींच कर पैदा नहीं किया जा सकता। सिर्फ तुम्हारी व्यर्थ दौड़-धूप को मिटाना है।

तुम वहीं खड़े हो, जहाँ सत्य है। लेकिन तुम्हें खड़े होने की आदत नहीं है। तुम भाग रहे हो। तुम दौड़ रहे हो। तुम्हारी दौड़ गिरानी है। कर्म तुम्हारी दौड़ है।

और तुम्हें सदा आसानी है। एक कर्म छोड़ के तुम दूसरा पकड़ सकते हो। तुम एक गुरु को छोड़ के दूसरा पकड़ लोगे। कोई तुम्हारे चक्र जगायेगा। कोई तुम्हारी कुण्डलिनी को सहारा देगा। कोई कुछ और सिखायेगा। तुम गुरु बदलते रहोगे। तुम विधि बदलते रहोगे। लेकिन तुम अपने को मजबूती से पकड़े रहोगे।

सद्गुरु की छाया में तुम्हें मिटना पड़ेगा। और जिनकी मिटने की तैयारी हो, वे ही केवल सत्य को पा सकते हैं।

तो निश्चित ही सारी विधियों की एक ही उपादेयता है, वह है: करने की व्यर्थता को जान लेना। करने की व्यर्थता जान ली कि 'होने' की सार्थकता समझ में आ जाती है।

होना और करना बिलकुल विपरीत है। करना बाहर है; होना भीतर है। जब करना बिलकुल बन्द हो जाता है, तब होने का सूर्य प्रगट होता है, होने का फूल खिलता है।

किसी भी भाँति प्रयत्न से तुम्हें छुटकारा चाहिए। लेकिन अगर तुमसे सीधा कह दिया जाय कि तुम सब करना छोड़ दो, तो तुम्हें समझ में ही न आयेगी।

तुम्हें इंच-इंच तैयार करना पड़ेगा। एक-एक मार्ग से तुम्हें ले जाना पड़ेगा। और एक-एक मार्ग व्यर्थ होने लगे और तुम्हें दिखाई पड़ने लगे कि करने से कुछ होनेवाला नहीं है। क्योंकि जो है, वह बिना किये हुए मेरे भीतर मौजूद है। अगर मैं एक क्षण को भी कर्म को छोड़ दूँ, कर्म की चंचलता हट जाय, तो उस अचंचल स्थिति में वह प्रगट हो जाय।

लेकिन हम अपने को धोखा देने में कुशल हैं। मनुष्य की बड़ी से बड़ी कुशलता है--सेल्फ डिसेप्शन--आत्मवंचना। और हम इस तरकीब से धोखा देते हैं कि हम खुद ही नहीं पहचान पाते कि हमने अपने को धोखा दिया।

मुल्ला नसरुद्दीन एक बाजार से गुजर रहा है। एक आमवाले का ठेला खड़ा है और आमवाला उस तरफ मुँह करके किसी से बात कर रहा है। तो उसने एक आम उठा के अपने झोले में डाल लिया। फिर उसकी आत्मा कचोटने लगी। फिर उसे लगा कि 'चोरी करना तो ठीक नहीं। और बेचारे आमवाले को धोखा दे दिया। गरीब आदमी है; और गरीब को धोखा देना उचित नहीं है। यह मैंने पाप किया।' तो वह वापस गया। झोले से आम निकाला और आमवाले से कहा कि 'आम बदल दो।' आमवाले ने समझा कि खरीदा होगा इसने। तो उसने बेचारे ने बदल दिया। तब वह प्रसन्नता से घर लौटा। उसने कहा, 'पहला तो मैंने चुराया था। दूसरा तो उसने खुद ही दिया है।' अब आत्मा में कोई काँटा नहीं चुभ रहा है। वह बिलकुल प्रसन्न घर जा रहा है; क्योंकि दूसरा उसने खुद दिया है। अब कोई सवाल ही नहीं है।

करीब-करीब आप यही कर रहे हैं। जरा-सा हेर-फेर कर लेते हैं और सोचते हैं: सब हल हो गया। ऐसे हल नहीं होगा। यह धोखा चल नहीं सकता। आपको समझना ही होगा कि मूल समस्या क्या है।

मूल समस्या इतनी है कि जो आपको मिला ही हुआ है, उसको आप पाने की कोशिश कर रहे हैं। जैसे एक मछली सागर में सागर को खोजने की कोशिश कर रही हो। बड़ी कठिनाई है।

गुरु क्या कर सकता है--इस मछली के लिए। एक ही उपाय है कि किसी भाँति मछली को पानी के बाहर खींच ले, ताकि यह तड़फने लगे। और यह तड़फ जाय रेत पर दो क्षण, वापस इसको सागर में डाल दे, तो यह फौरन पहचान जाएगी कि मैं सागर में सदा से थी। लेकिन जब तक यह सागर से अलग नहीं हुई, तब तक इसको पता भी नहीं चल रहा है।

आप परमात्मा में हैं--जैसे मछली सागर में है। जैसे मछली सागर के बिना नहीं हो सकती, आप परमात्मा के बिना नहीं हो सकते हैं। वह आपके होने का ढंग है। वह आपके होने का आधार है। तो गुरु क्या करे?

आप उससे पूछते हैं, 'मैं क्या करूँ परमात्मा को पाने के लिए?' वह देख रहा है कि मछली पानी में तैर रही है। और पूछती है, 'पानी को पाने के लिए क्या करूँ?' तो आपको कुछ विधि बताता है। वे विधियाँ सब ऐसी हैं कि जिनसे आप तड़फ जाएँगे; जिनसे आप क्षण भर के लिए उस बेचैनी से भर जाएँगे, जो आपको सागर से अलग कर दे--एक क्षण को भी। और जैसे ही वह अलग होने की व्यर्थता और पीड़ा आपको पता चलेगी, आप वापस सागर में गिर जाएँगे। वह सागर में गिरना ही परमात्मा से मिलना हो जाएगा।

सारी खोज की दुविधा, समस्या, उलझाव यही है कि हम उसे खोज रहे हैं जो मिला ही हुआ है। और गुरु को आपको वही दिखाता है, जो आप देख ही रहे हैं। क्या किया जाय?

मैं एक कहानी कहता रहा हूँ। एक आदमी ने शराब पी ली। शराब पीकर रात वह अपने घर लौटा--आदतवश।

घर आने के लिए कोई होश की जरूरत तो किसी को भी नहीं होती। अपने घर तो आदमी यन्त्र की तरह चला आता है। कब मुड़ना है--बायें कब मुड़ना है--दायें किस गली से जाना है; कहाँ से आना है।...

अपने घर आने के लिए कोई होश की जरूरत किसी को भी नहीं होती है। आप भी बेहोश ही अपने घर आते हैं। साइकिल का हैंडल मुड़ जाता है। गाड़ी का व्हील मुड़ जाता है। पैर घूम जाते हैं। आप अपने घर आ जाते हैं।

वह बेहोश तो था, अपने घर पहुँच गया। लेकिन घर के सामने जाकर उसको खयाल आया कि 'यह मेरा घर है या नहीं!'

आँखों में धुँध थी; भीतर नशा था। कुछ ठीक साफ समझ नहीं। चीजें घूमती मालूम पड़ रही थीं। तो बैठ गया--अपनी सीढ़ियों पर, और आसपास से गुजरने वाले लोगों से पूछने लगा कि 'कोई मुझे मेरे घर का पता बता दो।' कोई हँसा। किसी ने कहा, 'अरे मूर्ख, तू अपने घर के सामने बैठा है। तू अपने घर की सीढ़ी पर ही बैठा हुआ है।' उसने कहा, 'तुमने मुझे इतना ना-समझ समझा हुआ है कि अपने घर की सीढ़ी पर बैठकर मैं तुमसे पूछूँगा?'

जिसने भी उसे बताने की कोशिश की कि तू अपने घर की सीढ़ी पर बैठा है, उसने समझा कि वह उसे धोखा देने की कोशिश कर रहा है। 'अगर मैं अपने घर की सीढ़ी पर बैठा हूँ, तो मैं पूछूँगा ही क्यों!'

भीड़ इकट्ठी हो गई। उसकी माँ, बूढ़ी माँ, शोरगुल सुन के मकान के बाहर आई। आधी रात; देखा: उसका बेटा रो रहा है और भीड़ खड़ी है। और वह पूछ रहा है: 'मेरा घर कहाँ है?' तो उसकी माँ ने उसके सिर पर हाथ रखा और कहा कि 'बेटा, तू पागल हो गया! यह तेरा घर है।' उसने उसको देखा। वह पहचाना तो नहीं। देखा, कोई स्त्री खड़ी है। उसने पैर पकड़ लिए और कहा, 'माई, तू कृपा कर और मुझे मेरे घर का पता बता दे।'

तभी पड़ोस का एक आदमी, जो खुद भी नशे में था, वह अपनी बैलगाड़ी जोत के आ गया। उसने कहा कि 'बैठ, तू मानता ही नहीं, तो मैं तुझे पहुँचा दूँगा।'

उसकी माँ रोती है। वह कहती है, 'इसकी बैलगाड़ी में मत बैठना, नहीं तो यह न मालूम तुझे कहाँ ले जाय। तू घर पर है ही। अगर तू कहीं भी गया, तो दूर निकल जाएगा।'

तो करीब-करीब हालत हमारी ऐसी ही है। अगर कोई कहे कि 'जिसको आप खोज रहे हैं, वह आपके भीतर है', तो आप कहते हैं, 'तो क्या मैं इतना मूढ हूँ कि मुझे पता नहीं।' तो आपके लिए बैलगाड़ी जोतनी पड़ती है। उसमें आपको बैठाना पड़ता है कि चलिए, विराजिए। आपको पहुँचा देंगे--आपके घर तक!

इसमें जो गुरु है, वह तुम्हें बैलगाड़ी पर बिठा-बिठा के थकायेगा। और घुमा-फिरा के उसी जगह ले आयेगा, जहाँ से बैलगाड़ी की यात्रा शुरू हुई थी। लेकिन इस बीच बैलगाड़ी में तुम्हें इतने दचके देगा कि तुम्हारा होश आ जाय, तुम्हारी बेहोशी टूट जाय, नींद टूट जाय।

तुम्हारी मंजिल दूर नहीं है। तुम्हारा होश कायम नहीं है। जो पाना है, वह तो यहाँ है। लेकिन जिसे पाना है, वह बेहोश है। और उससे सीधा यह कह देना कि

'तुम वहीं खड़े हो, जहाँ पाना है', वह तुम्हारी मानेगा नहीं। अगर उसको यही समझ में आ जाय, तो वह तुमसे पूछता ही नहीं।

शिष्य गुरु के पास इसलिए आ रहा है कि वह जानता है कि जहाँ वह है, वहाँ कुछ भी नहीं है। और जहाँ सब कुछ है, वह बहुत दूर है। बड़ी कठिन है--वहाँ पहुँचने की यात्रा। किसी से पूछना पड़ेगा। कोई गाइड चाहिए। इसलिए तुम्हारे पास आया है। और अगर तुम उससे सीधा-सीधा कह दो कि 'यहाँ आने का कोई सवाल नहीं है, क्योंकि तुम वहाँ हो ही; मंजिल में ही तुम रह रहे हो, तब वह कोई दूसरा गुरु खोजेगा, जो उसे ले जाय।

तो सद्गुरु को तुम्हारी ना-समझी के साथ योजना बनानी पड़ती है। वह बैलगाड़ी जोतता है, कि तुम्हें भरोसा आ जाय। वह तुम्हें बिठाता है। वह गाड़ी चलाता है। वह तुम्हें काफी चक्कर लगाता है। और उसी जगह तुम्हें ले आता है, जहाँ तुम थे; जहाँ से तुम्हें यात्रा पर शुरू किया गया था।

समस्त गुरुओं का एक ही उपाय है कि तुम्हें कर्म की व्यर्थता, विधि की व्यर्थता बोध में आ जाय।

प्रयत्न व्यर्थ है। निष्प्रयत्न उसकी उपलब्धि है। पर यहाँ तक आने के लिए काफी भटकना जरूरी है। और अपने ही घर को पहचानने के लिए न मालूम कितने घरों, कितने द्वारों की तलाश करनी पड़ती है। जहाँ तुम हो, वहाँ आने के लिए तुम्हें करीब-करीब पूरे संसार का चक्कर लगा लेना होता है।

● **तीसरा प्रश्न:** गुणातीत में जाने के लिए आपने साक्षीभाव का प्रयोग बताया। लगता है: आपकी सारी शिक्षा का केन्द्रीय तत्त्व साक्षीत्व है। वर्षों से मैं आपको सुनता हूँ और संभवतः साक्षीत्व का प्रयोग भी करता हूँ। लेकिन क्षितिज की तरह वह मुझसे जहाँ का तहाँ खड़ा मालूम पड़ता है। कृपा करके बतायें कि मेरी भूल क्या है?

बस, इतनी ही भूल है कि यह साक्षीभाव को भी आप क्रिया बना लिए हैं। आप सोचते हैं: आप साक्षीभाव 'साधते' हैं। साक्षीभाव भी आपको कुछ 'करने' जैसा मालूम होता है। एक भूल।

साक्षीभाव कृत्य नहीं है; समस्त कृत्यों के प्रति बोध का भाव है। इसलिए साक्षीभाव स्वयं कृत्य नहीं है। साक्षीभाव के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। जो भी आप करते हैं, उसको देखना है।

और साक्षीभाव को अगर आप कर्म बना लेंगे, तब तो फिर आपको इसको भी देखना पड़ेगा। इसके पीछे फिर आपको पुनः साक्षी होना पड़ेगा।

साक्षी अन्तिम है, उसके पीछे जाने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए आप साक्षीभाव को कर्म मत बनायें, उसे सहज रहने दें। जरा कठिन है, क्योंकि हम सब

चीज को कर्म बनाते हैं। हम साक्षीभाव को भी साधने लगते हैं।

यह वैसा ही है, जैसे किसी आदमी को मैं कहूँ कि 'नींद को लाने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता।' उसको नींद नहीं आती। वह मुझसे पूछेगा, 'यही तो मेरी समस्या है कि मुझे नींद नहीं आती। मैं पूछता हूँ कि क्या करूँ कि नींद आ जाय? और आप कहते हैं: नींद लाने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। तो इसका मतलब हुआ कि नींद मुझे कभी आयेगी ही नहीं। नींद मुझे आती नहीं।'

वह कोई विधि माँगता है। वह कहता है: मैं कुछ करूँ, जिससे नींद आ जाय।' तो आप उसे बता सकते हैं कि 'तू एक से लेकर सौ तक गिनती कर। फिर सौ से उलटा लौट—निन्यानबे, अट्ठानबे, सत्तानबे। एक तक आ। फिर एक से जा।'

मगर उसके खतरे हैं। खतरा यह है कि जब तक आप गिनती पढ़ते रहेंगे, तब तक तो नींद आ ही नहीं सकती। क्योंकि कोई भी कर्म नींद में बाधा डालेगा। कोई भी कर्म विश्राम में बाधा डालेगा।

आप कुछ भी करें, जब तक आप कर रहे हैं, नींद नहीं आयेगी। करना तो बन्द चाहिए, तभी नींद आयेगी।

नींद नहीं आती, उसका मतलब ही इतना है कि आपके मन में करना जारी रहता है। इतना ही हो सकता है कि एक से सौ तक गिनती, फिर सौ से वापस एक तक गिनती; फिर एक से सौ तक गिनती—आपको उबा दे, थका दे और आप कर-कर के ऊब जायँ, थक जायँ और उस थकान की वजह से संख्या पढ़ना भूल जायँ। और उस भूले क्षण में नींद आ जाय। लेकिन नींद तो तभी आयेगी, जब करना छूट जाएगा। जब तक करना जारी रहेगा, तब तक नींद नहीं आयेगी। करने में और नींद में विपरीतता है।

ठीक ऐसे ही साक्षीभाव की दशा है। आप कुछ भी करें, साक्षीभाव नहीं हो पायेगा। क्योंकि जो भी आप करेंगे, उसमें कर्ता हो गए। साक्षी का मतलब ही यह है कि मैं कर्ता नहीं बनूंगा; मैं सिर्फ देखूंगा। मैं किसी तरह का कर्ता-भाव पैदा नहीं होने दूंगा। लेकिन आप कहते हैं कि 'मैं सिर्फ देखूंगा।' तो 'मैं देखने का कर्म करूँगा।' तो आप अकड़ जाएँगे और अकड़ के देखेंगे; वह कृतत्व हो गया, साक्षीभाव खो गया।

साक्षीभाव तो सहज है। उसके लिए अकड़ नहीं चाहिए। उसके लिए कोई करने की बात नहीं चाहिए। करने का कोई सवाल ही नहीं है। मगर क्या करें आप?

साक्षीभाव पास में नहीं है, तो आप तो करेंगे ही। जब तक आप करेंगे, तब तक साक्षीभाव नहीं सधेगा। इसीलिए आप कहते हैं, 'संभवतः साक्षीत्व का प्रयोग कर रहा हूँ!' नहीं तो संभवतः का खयाल नहीं आयेगा। अगर साक्षी का प्रयोग हो रहा है, तो हो रहा है। 'संभवतः' की क्या बात है?

आप कभी नहीं कहते कि 'संभवतः मैं जिन्दा हूँ!' आप जिन्दा हैं, तो आप जानते हैं: आप जिन्दा हैं। मर गए तो बात खत्म हो गई। 'संभवतः' कहने वाला भी नहीं रहा।

साक्षीभाव अगर होगा, तो होगा। नहीं होगा, तो नहीं होगा। संभव का अर्थ ही यह हुआ कि आप साक्षीभाव को एक क्रिया बना लिए हैं। आप कोशिश कर रहे हैं। कोशिश से ही तो साक्षीभाव मिट जाएगा।

आप कोशिश मत करें। जो भी होता है, उसे देखें। कभी साक्षीभाव हो जाय, तो ठीक; न हो तो ठीक। लेकिन कोशिश मत करें। साक्षीभाव को छोड़ दें अपने पर। एक क्षण को भी आ जाय—चौबीस घंटे में, तो काफी है। बस, उतनी देर देख लें। न आये, फिक्र न करें। जब साक्षीभाव आये, तो उसे देख लें। और जब न आये, तो उसके न आने को देखते रहें। जब द्रष्टा सध जाय, तो उसको देख लें। जब द्रष्टा खो जाय, तो उसको देख लें।

गुरजिएफ इस सम्बन्ध में बहुत कीमती है। गुरजिएफ से आस्पेंस्की ने पूछा है कि मैं... (क्योंकि गुरजिएफ की साधना थी—सेल्फ रिमेम्बरिंग की; उसको साक्षीभाव कहें—स्वयं का स्मरण बनाए रखना। कभी-कभी भूल जाएगा। कभी-कभी खो जाएगा।) तो आस्पेंस्की गुरजिएफ से पूछ रहा है—उसका शिष्य—कि 'कभी-कभी जब खो जाय, तब मैं क्या करूँ? कभी तो ध्यान सधता है। और कभी बे-ध्यान हो जाता हूँ।'

तो गुरजिएफ कहता है, 'जब ध्यान सधे, तो जानो कि ध्यान सधा। और जब बे-ध्यान हो जाओ, तो जानो कि बे-ध्यान है। लेकिन इसमें कुछ कलह खड़ी मत करो।'

बी अटेंटिव आफ योर इनअटेंशन। वह जब बे-ध्यान हो जाय, तब उसका भी ध्यान रखो। जब होश रहे—तो ठीक। होश के प्रति होश रखो। और जब बेहोशी आ जाय—तो ठीक। बेहोशी के प्रति होश रखो।

बड़े मजे की बात है। क्योंकि जब आप बेहोशी के प्रति होश रखेंगे, तो बेहोशी टिक नहीं सकती।

सहज होश को रखो। उठते-बैठते, चलते-सोते, जो भी हो रहा हो।... कभी-कभी सपना मन को पकड़ लेगा, तो पकड़ लेने दो। कभी-कभी भूल जाएँगे, तो भूल जाओ। इससे अड़चन खड़ी मत करो; इससे तनाव मत बनाओ। साक्षीभाव के सहज सूत्र को स्फुरित होने दो। धीरे-धीरे—एक-एक दो-दो क्षण करके वह झरना फूटेगा। और अगर सहज रहे, तो वह झरना बन्द नहीं होगा; बड़ा होता जाएगा। और अगर झपट्टा मार के उसको पकड़ा, तो वह जो दो बूंद आ रही थी, वह भी बन्द हो जाएगी।

कुछ चीजें हैं, जिनको झपट्टे से नहीं पकड़ा जा सकता । उसमें वे मर जाती हैं । वे बहुत कोमल हैं । अति कोमल हैं । बहुत डेलिकेट हैं, नाजुक हैं । उनको पत्थर की तरह हाथ में नहीं लिया जा सकता ।

लेकिन हमारी आदत हर चीज को पत्थर की तरह हाथ में लेने की है । इसलिए जब फूल पर भी हमारा हाथ पड़ता है, तो हम पत्थर की तरह ही हाथ में लेते हैं । उसमें ही फूल मर जाता है ।

और साक्षीभाव सबसे नाजुक फूल है । उससे ज्यादा नाजुक इस जगत् में कोई भी चीज नहीं है । वह सर्वाधिक नाजुक है । उससे ज्यादा कोमल फिर कुछ भी नहीं है । इसलिए उसको आप झपट्टा मार के नहीं पकड़ सकते । उसको आपको सहजता से आने देना होगा । आपको चुपचाप प्रतीक्षा करनी होगी । और अगर वह न आये, जैसा पूछा है, 'जैसे कि अभी भी दूर खड़ा मालूम पड़ता है । तो कृपा करके बतायें कि मेरी भूल क्या है ?'—उसे दूर खड़ा रहने दें । और देखते रहें । उसको पास लाने की फिक्र मत करें । सिर्फ देखने की फिक्र करें कि वह दूर खड़ा है । देखते रहें । उसको पास लाने की कोशिश में कर्ताभाव आ जाएगा और साक्षीभाव खो जाएगा । क्योंकि आप कर्म की फिर जिज्ञासा करने लगे ।

अनन्त जीवन तक भी वह खड़ा रहे साक्षीभाव क्षितिज की तरह, और आपको न मिले, तो भी जल्दी मत करें । और जिस दिन आप अपनी जगह खड़े रहेंगे और वह अपनी जगह खड़ा रहेगा, और कोई भाग-दौड़ नहीं होगी—अचानक आप पायेंगे कि वह आपके भीतर खड़ा है । दूरी मिट गई । लेकिन दूरी 'मिटाई' नहीं जा सकती । आप दौड़ के नहीं मिटा सकेंगे । क्योंकि दौड़ने का मतलब है : कर्ता आ गया ।

यह कर्ता और साक्षी शब्दों का फासला ठीक से समझ लें । जब भी आप कुछ करने लगे, तो कर्ता आ गया । और जो भी हो रहा है, उसे आप देखते रहे, तो साक्षी रहा ।

जो भी हो रहा है, होने दें । ऐसा समझें कि जैसे किसी और को हो रहा है । आप जैसे किसी नाटक को देख रहे हैं । किसी और पर कहानी बीत रही है ।—दूरी।... उसमें इतने ज्यादा डूबें मत । उसकी वासना न बनायें । नहीं तो हम सोचते हैं पहले कि जैसे और चीजें मिल जानी चाहिए, साक्षीभाव भी मिल जाना चाहिए । उसकी वासना बनाते हैं । जितने जोर से हम वासना बनाते हैं, उतनी ही दूरी हो जाती है ।

साक्षीभाव आपके लाने से नहीं आयेगा । आपके मिट जाने से आयेगा । और मिटने की सुगमतम कला एक ही है कि आप 'करने' के साथ अपने को मत जोड़ें; सिर्फ देखने के साथ जोड़ें ।

इसलिए हमने परम साधना के सूत्र को इस मुल्क में दर्शन कहा है ।

दर्शन का मतलब है : सिर्फ देखने की कला । जरा भी कुछ न करें ।

● अंतिम प्रश्न : काम-वासना के पार जाने के लिए अविवाहित रहने की सहज इच्छा रखने वाला साधक साक्षीभाव को साधे या वासना में उतरकर उसकी व्यर्थता या सार्थकता को जान ले ? अविवाहित रहने की सहज इच्छा क्या इस तथ्य को इंगित नहीं करती कि इसकी व्यर्थता को उसने अपने पिछले जन्मों की यात्रा में बहुत दूर तक जान लिया है ? क्या साक्षीभाव बिना वासना की पूर्ण व्यर्थता जाने नहीं साधा जा सकता ?

पहली बात : अविवाहित होने की सहज इच्छा और अकाम—एक ही बात नहीं है । अगर वासना ही न उठती हो, तब तो कोई सवाल ही नहीं है । तब तो यह सवाल भी नहीं उठेगा । वासना ही न उठती हो, तो यह सवाल ही कहाँ उठता है ।

अविवाहित रहने की इच्छा और वासना का न उठना अलग बातें हैं । अविवाहित तो बहुत से लोग रहना चाहते हैं । वस्तुतः तो जो ठीक वासना से भरे हैं, वे विवाह से बचना चाहेंगे, क्योंकि विवाह उपद्रव है—वासना से भरे आदमी के लिए । विवाह का मतलब है : एक स्त्री, एक पुरुष से बँध गए । और वासना बँधना नहीं चाहती; वासना उन्मुक्त रहना चाहती है ।

तो विवाह न करने की इच्छा जरूरी नहीं है कि ब्रह्मचर्य की इच्छा हो । विवाह न करने की इच्छा बहुत गहरे में अब्रह्मचर्य होने की इच्छा हो सकती है ।

फिर विवाह न करने की इच्छा के पीछे हजार कारण होते हैं । विवाह एक जिम्मेवारी है, एक उत्तरदायित्व है । सभी लोग उठाना भी नहीं चाहते । बहुत चालाक हैं, वे बिलकुल नहीं उठाना चाहेंगे । कौन उस झंझट में पड़े ।

लेकिन वासना का न होना दूसरी बात है । विवाह का वासना से कोई लेना-देना नहीं है । बिना वासना के आदमी विवाह कर सकता है—किन्हीं और कारणों से ।

एक नौकरानी रखना भी महँगा है । एक पत्नी से ज्यादा सस्ता कोई भी उपाय नहीं है ।

बिना वासना के आदमी विवाह कर सकता है । और वासना से भरा हुआ आदमी विवाह से बच सकता है । इसलिए विवाह और वासना को पर्यायवाची न समझें ।

चारों तरफ विवाह का दुःख दिखाई पड़ता है । जिसमें थोड़ी भी बुद्धि है, वह विवाह से बचना चाहेगा ।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उससे पूछ रही है कि 'क्या नसरुद्दीन, कभी तुम्हारे मन में ऐसा भी खयाल उठता है कि मुझसे तुमने विवाह न किया होता तो अच्छा होता ? या ऐसा खयाल उठता है कभी—कि मैंने (नसरुद्दीन की पत्नी ने) किसी

और से विवाह कर लिया होता, तो अच्छा था ? '

नसरुद्दीन ने कहा कि 'मैं किसी दूसरे का बुरा क्यों चाहने लगा । एक भावना जरूर मन में उठती है कि तू अगर सदा कुँआरी रहती तो अच्छा था । '

तो चारों तरफ विवाह आप देख रहे हैं । वहाँ जो दुःख फैला हुआ है ।...हर बच्चे को उसके घर में दिखाई पड़ रहा है : उसके माँ बाप का दुःख; बड़े भाइयों-- उनकी पत्नियों का दुःख । विवाह एक नरक है--चारों तरफ फैला हुआ है । बड़ी गहरी वासना है, इसलिए हम फिर भी विवाह में उतरते हैं । नहीं तो बहुत मुश्किल हो जाएगा । अंधे हैं बिलकुल --शायद इसलिए, बिलकुल समझ से नहीं चलते । या हर आदमी को एक खयाल है भीतर, कि मैं अपवाद हूँ । इसलिए ये सब लोग दुःख भोग रहे हैं, मैं थोड़े भोगूँगा । हर आदमी को यह खयाल है ।

अरब में कहावत है कि परमात्मा हर आदमी को बना के उसके कान में एक बात कह देता है कि 'तुझे मैंने अपवाद बनाया है । तेरे जैसा मैंने कोई बनाया ही नहीं । तू नियम नहीं है; तू एक्सेप्शन है । ' और हर आदमी इसी वहम में जीता है ।

आप पचास आदमियों को मरते देखें--उसी गड्ढे में । आप अकड़ से चलते जाएँगे कि 'मैं थोड़े ही... । मैं बात ही अलग हूँ । ' इस अपवाद के कारण आप विवाह में उतरते हैं । नहीं तो आँख खोलने वाली है--विवाह की घटना । चारों तरफ घटी हुई है । उसमें कुछ छिपा हुआ नहीं है मामला ।

जरा भी समझ होगी, तो आपमें विवाह की सहज इच्छा न पैदा होगी । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि आपमें ब्रह्मचर्य की इच्छा पैदा हो रही है । ब्रह्मचर्य बड़ी दूसरी बात है । अ-काम बड़ी दूसरी बात है ।

यह जो अ-काम है, अगर वह सहज है, तो यह प्रश्न ही नहीं उठेगा । फिर कहीं जाने का कोई सवाल नहीं है । किसी अनुभव में उतरने की कोई जरूरत नहीं है ।

जिस बात की मन में वासना नहीं उठ रही, उसके अनुभव में उतरने का प्रयोजन क्या है ? और अनुभव में उतरूँ या न उतरूँ--यह भी खयाल क्यों उठेगा ? साफ है कि वासना भीतर मौजूद है । विवाह की जिम्मेवारी लेने का मन नहीं है । मन चालाक है और वह होशियारी की बातें कर रहा है ।

तो मैं कहूँगा कि अगर मन में वासना हो, तो वासना में उतरना ही उचित है । उतरने का मतलब यह नहीं है कि आप साक्षीभाव खो दें । उतरें और साक्षीभाव कायम रखें । उतरेंगे तभी साक्षीभाव को कसौटी भी है । और अगर नहीं उतरे, साक्षी-भाव तो साधना मुश्किल है । और वासना सघन होती जाएगी; और मन में चक्कर काटेगी; और मन को अनेक तरह की विकृतियों में, परव्हर्शन्स में ले जाएगी ।

जिनको हम साधु-सन्त कहते हैं--आमतौर से विकृत मनों की अवस्था में पहुँच जाते हैं ।

मुल्ला नसरुद्दीन मरा । उसके बहुत शिष्य भी थे । इस दुनिया में शिष्य खोजना जरा भी कठिन मामला नहीं है । अनेक लोग उसे मानते भी थे । कुछ दिनों बाद उसका एक शिष्य भी मरा, तो जा कर उसने पहला काम स्वर्ग में तलाश का किया--कि नसरुद्दीन कहाँ है । पूछा-ताँछा तो किसी ने खबर दी कि 'नसरुद्दीन वह सामने जो एक सफेद बदली है, उस पर मिलेगा । '

भागा हुआ शिष्य अपने गुरु के पास पहुँचा । जाकर उसने देखा तो बहुत चकित रह गया । बूढ़े नसरुद्दीन एक अति सुन्दर स्त्री को अपनी गोद में बिठाए हुए हैं । उसने मन में सोचा कि 'मेरा गुरु... ! और यह तो सदा विपरीत बोलता था स्त्रियों के; और ब्रह्मचर्य के बड़े पक्ष में समझाता था; यह क्या हो गया । ' लेकिन तब उसे तत्क्षण खयाल आया--उसके अचेतन से--कि नहीं, नहीं, यह परमात्मा का दिया गया पुरस्कार होगा--यह जो स्त्री है । मेरे गुरु ने इतनी साधना की और इतनी तपश्चर्या करता था और इतना ज्ञानी था कि जरूर उसको पुरस्कार में यह सुन्दरतम स्त्री मिली है ।

तो वह भागा हुआ गया । उसने कहा, 'धन्यभाग; परमात्मा का अनुग्रह; प्रभु की कृपा है; कैसा पुरस्कार तुम्हें मिला ! ' नसरुद्दीन ने कहा, 'पुरस्कार ? यह मेरा पुरस्कार नहीं है । इस स्त्री को मैं दण्ड की तरह मिला हूँ । शी इज नाट माई प्राइज; आई एम हर पनिशमेन्ट । '

लेकिन शिष्य के मन में, अचेतन में, यह खयाल आ जाना कि यह पुरस्कार मिला होगा, इस बात की खबर है कि वासना कायम है, और इसको पुरस्कार मानती है ।

इसलिए ऋषि-मुनि भी स्वर्ग में किस पुरस्कार की आशा कर रहे हैं ? अप्सराएँ, शराब के चश्मे, कल्प-वृक्ष--उनके नीचे ऋषि-मुनि बैठे हैं और भोग रहे हैं ! तो जो आप छोड़ रहे हैं, वह छोड़ नहीं रहे हैं । वह कुछ सौदा है गहरा और उसमें पुरस्कार की आशा कायम है । यह इस बात की सूचना है कि ये मन विकृत हैं । ये स्वस्थ मन नहीं हैं ।

जिन-जिन के स्वर्ग में अप्सराओं की व्यवस्था है, उन-उन का ब्रह्मचर्य परव्हर्टेड है, विकृत है । और जिनमें स्वर्ग में शराब के चश्मे बहाये हैं, उनके शराब का त्याग बेईमानी है, झूठा है । जो वे यहाँ नहीं पा सकते या यहाँ जिसको छोड़ने को कहते हैं, वहाँ उसको पाने का इन्तजाम कर लेते हैं । यह मन की दौड़ साफ है । गणित सीधा है ।

तो मैं तो कहूँगा कि बजाय वासना को दबाने, विकृत करने के साक्षीभाव से उसमें उतर जाना उचित है ।

संसार एक अवसर है। यहाँ जो भी है, अगर उसका जरा भी मन में रस है, तो उसमें उतर जायँ। भागें मत। नहीं तो वह स्वर्ग तक आपका पीछा करेगा। आखिरी क्षण तक आपका पीछा करेगा। उसमें उतर ही जायँ। उसका अनुभव ले ही लें।

अनुभव मुक्तिदायी है—अगर होश कायम रखें। नहीं तो अनुभव पुनरुक्ति बन जाता है और नये चक्कर में ले जाता है। इसलिए।

मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि मात्र अनुभव से आप मुक्त हो जाएँगे। अनुभव और साक्षी का भाव संयुक्त हो, तो आप मुक्त हो जाएँगे। अकेला अनुभव हो, तो आपकी आदत और गहरी होती जाएगी। फिर आदत के वश आप दौड़ते रहेंगे।

और अकेला साक्षीभाव हो और अनुभव से बचने का डर हो, तो वह साक्षीभाव कमजोर है, और झूठा है। क्योंकि साक्षीभाव को कोई भय नहीं है। न किसी चीज के करने का भय है, और न न-करने का भय है।

साक्षीभाव को कर्म का प्रयोजन ही नहीं है। जो भी हो रहा है, उसे देखता रहेगा। तो साक्षी मन्दिर में बैठा हो—कि वेश्यालय में, उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। साक्षी का काम सिर्फ देखने का है।

कथा है बौद्ध साहित्य में : आनन्द एक गाँव से गुजर रहा है—बुद्ध का शिष्य—और कथा है कि एक वेश्या ने आनन्द को देखा। आनन्द सुन्दर था। संन्यस्त व्यक्ति अकसर सुन्दर हो जाते हैं। और संन्यस्त व्यक्तियों में अकसर एक आकर्षण आ जाता है, जो गृहस्थ में नहीं होता। एक व्यक्तित्व में आभा आ जाती है।

वह वेश्या मोहित हो गई। और कथा यह है कि उसने कुछ तन्त्र-मन्त्र किया। बुद्ध देख रहे हैं—दूर अपने वन में—वृक्ष के नीचे बैठे। दूर घटना घट रही है। आनन्द बहुत दूर है, लेकिन कथा यह है कि बुद्ध देख रहे हैं। बुद्ध देख सकते हैं। वे देख रहे हैं। बुद्ध के पास सारिपुत्त—उनका शिष्य भी बैठा हुआ है। वह भी देख रहा है।

सारिपुत्त बुद्ध से कहता है : आप आनन्द को बचायें। वह किसी मुश्किल में न पड़ जाय। क्योंकि स्त्री बड़ी रूपवान है और उसने बड़ा गहरा तन्त्र-मन्त्र फेंका है। और आनन्द कहीं ठगा न जाय।' लेकिन बुद्ध देखते रहे। अचानक बुद्ध उठ के खड़े हो जाते हैं और सारिपुत्त से कहते हैं, 'अब कुछ करना होगा।' सारिपुत्त कहता है कि 'अब क्या हो गया कि आप कुछ करने के लिए कहते हैं? अब तक मैं आपसे कह रहा था : कुछ करें। आप चुप बैठे रहे। जो बीमारी शुरू हुई, उसे पहले ही रोक देना उचित है!'

बुद्ध ने कहा, 'बीमारी अब तक शुरू नहीं हुई थी; अब शुरू हुई है। आनन्द मूर्च्छित हो गया; साक्षीभाव खो गया। अभी तक कोई डर नहीं था। वेश्या

हो, सुन्दर हो—कुछ भी हो—अभी तक कोई भय न था। और आनन्द उसके घर में चला जाय; रात वहाँ टिके; कोई भय की बात नहीं थी। अब भय खड़ा हो गया है।

लेकिन सारिपुत्त बड़ा चकित है, क्योंकि आनन्द अब भाग रहा है। वेश्या बहुत दूर रह गई है। जब बुद्ध कहते हैं : भय हो गया है, तब आनन्द वेश्या से दूर निकल गया है—भाग के और उसने पीठ कर ली है। वह लौट के भी नहीं देख रहा है। लेकिन बुद्ध खड़े हैं। वे कहते हैं : 'इस समय आनन्द को सहायता की जरूरत है।'

सारिपुत्त कहता है, 'आप भी अनूठी बातें करते हैं। जब वेश्या सामने खड़ी थी, और आनन्द उसको देख रहा था और डर था कि वह लोभित हो जाय, मोहित हो जाय, तब आप चुपचाप बैठे रहे। और अब जब कि आनन्द भाग रहा है, और वेश्या दूर रह गई है, और उसके मन्त्र-तन्त्र पीछे पड़े रह गए हैं, और उसके प्रभाव का क्षेत्र पार कर गया है आनन्द। और आनन्द लौट के भी नहीं देख रहा है, तो अब आपके खड़े होने की क्या जरूरत है?'

बुद्ध ने कहा, 'वह भाग ही इसलिए रहा है कि साक्षीभाव खो गया। अब वह कर्ताभाव में आ गया है। कर्ता की वजह से डरा हुआ है। और अब वह डर रहा है। जब तक साक्षी था, तब तक खड़ा था। डर का कोई कारण भी न था। अब उसको सहायता की जरूरत है।'

एक ही बात करने जैसी है कि आपके भीतर साक्षीभाव बना रहे। फिर आप कुछ भी करें : विवाह करें, न करें। कुछ भी करें, साक्षीभाव आपके अनुभव में जुड़ा रहे, तो आप आज नहीं कल अपनी मुक्ति की सीढ़ियाँ पूरी कर लेंगे।

लेकिन ध्यान रहे : अधूरे और कच्चे अनुभवों को रोकने का परिणाम विषाक्त होता है। भागें मत; डरें मत; साक्षी को ही सम्हालें।

मेरा सारा जोर इस बात पर है कि आप जागें—बजाय भागने के। भाग कर कहाँ जाएँ? विवाह न करें, यह हो सकता है। लेकिन कितने लोग विवाह न करने से कुछ कहीं पहुँच नहीं जाते। विवाह न करने का परिणाम चित्त में और वासनाओं का जाल होता है।

अगर एक विवाहित और एक अविवाहित आदमी की जाँच की जाय बैठ के, तो अविवाहित आदमी के मन में ज्यादा वासना मिलेगी। स्वाभाविक है। जैसे एक भूखे आदमी की और भोजन किये आदमी की जाँच की जाय, तो भूखे आदमी के मन में भोजन का ज्यादा खयाल मिलेगा। जिसका पेट भरा है, उसके मन में भोजन का खयाल क्यों होगा?

तो जब तक आपको भीतर का साक्षी ही न जगने लगे, तब तक जीवन के किसी अनुभव से अकारण, अधूरे में, अधकचरे में भागना उचित नहीं है। उस भय से कोई

किसी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है ।

सारा जीवन अनुभव के लिए है । यह ऐसा ही है, जैसे हम किसी विद्यार्थी को विश्वविद्यालय भेज दें और वह वहाँ परीक्षाओं से बचने लगे । यह संसार परीक्षालय है, वहाँ आपकी चेतना इसीलिए है, ताकि अनुभवों से गुजर कर परिपक्व हो जाय ।

मैं तो कहूँगा : सब अनुभव भोग लें——बुरे को भी । अगर जरा भी रस हो बुरे में, उसको भी भोग लें । इतना ही खयाल रखें कि भोगते समय में भी होश बना रहे, तो आप मुक्त हो जाएँगे । और अगर आप डरे, जिम्मेवारी से बचना चाहा, तो वासनाएँ विकृत हो जाएँगी और भीतर मन में घूमती रहेंगी । उस विकृत वासनाओं के परिणाम कभी भी मुक्तिदायी नहीं हैं । स्वास्थ्य से तो कोई मुक्त हो सकता है, विकृति से कोई मुक्त नहीं हो सकता ।

तो सहज हों, स्वाभाविक हों, और जो भी मन में उठता हो——उसको उठने दें । उसको पूरा भी होने दें । सिर्फ एक ही बात खयाल रखें कि पीछे एक देखनेवाला भी खड़ा रहे और देखता रहे ।

आपकी पूरी जिन्दगी एक नाटक हो जाय और आप उसको देखते रहें । यह देखना ही सारी जिन्दगी को बदल देगा । यह बड़ा क्रांतिकारी सूत्र है : देखने के द्वारा पूरी जिन्दगी को बदल लेना ।

भागने के द्वारा कोई कभी नहीं बदलता । भागने से सिर्फ कमजोरी जाहिर होती है । और भागे हुए आदमी की वासनाएँ पीछा करती हैं । वह जहाँ भी चला जाय, वासनाएँ उसके पीछे होंगी ।

अब हम सूत्र को लें ।

'और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणों को अच्छी प्रकार उल्लंघन करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिए योग्य होता है ।

'तथा हे अर्जुन, उस अविनाशी परब्रह्म का, और अमृत का, तथा नित्य धर्म का, और अखंड एक रस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ ।'

पहली बात : 'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग के द्वारा... ।' व्यभिचारी का अर्थ है : जहाँ मन में बहुत दिशाएँ हों; जहाँ मन में बहुत प्रेम-पात्र हों; जहाँ मन में बहुत खण्ड हों । विभाजित मन व्यभिचारी मन है ।

संसार में हमारा मन बहुत तरफ बह रहा है । संसार में हम सभी व्यभिचारी हैं । मन का एक हिस्सा धन के लिए दौड़ रहा है । मन का दूसरा हिस्सा पद के लिए दौड़ रहा है । मन का तीसरा हिस्सा यश के लिए दौड़ रहा है । मन का चौथा हिस्सा धर्म के लिए दौड़ रहा है । पाँचवाँ हिस्सा कुछ और; छठवाँ कुछ और ।

आपके भीतर एक भीड़ है । और सभी अलग-अलग भागे जा रहे हैं । इसलिए बड़ा द्वंद्व है, और बड़ी कलह है । क्योंकि एक ही व्यक्ति को इतनी दिशाओं में भागना पड़ रहा है । जैसे एक ही बैलगाड़ी में हमने सब तरफ बैल जोत दिये हैं । आठों दिशाओं में बैल जा रहे हैं । बैलगाड़ी कहाँ जाय ? जब भी कोई बैल जरा ताकत ज्यादा लगा देता है या दूसरा बैल थोड़ा ढीला और शिथिल होता है या विश्राम कर रहा होता है या ज्यादा ताकत पहले लगा चुका होता है और जब ताकत नहीं बचती, तो बैल गाड़ी को कोई थोड़ी देर पूरब की तरफ खींच लेता है । लेकिन यह थोड़ी देर हो सकता है । क्योंकि जो पूरब की तरफ खींच रहा है, वह थक जाएगा खींचने में । और पश्चिम की तरफ जो बैल बँधा हुआ है, जो कि इस खिंचने में जा रहा है, वह थकेगा नहीं वह थोड़ा ढील दे रहा है, विश्राम कर रहा है । जब उसकी ताकत इकट्ठी हो जाएगी; और पूरब की तरफ ले जाने वाला बैल थक जाएगा, तब वह पश्चिम की तरफ बैलगाड़ी को खींचेगा ।

ऐसे आप जिन्दगी भर खिचेंगे बहुत, पहुँचेंगे कहीं भी नहीं । बैलगाड़ी आखिर में वहीं अस्थिपंजर टूटे हुए पड़ी मिलेगी, जहाँ शुरू में खड़ी थी ।

ऐसा हमारा मन है; व्यभिचारी मन है । इसमें कभी एक बात ठीक लगती है, कभी उससे विपरीत बात ठीक लगती है । अभी धन कमा रहे हैं, और तभी कोई आ जाता है कि 'आप ! आप जैसा यशस्वी पुरुष । आपके नाम से तो एक धर्मशाला बननी ही चाहिए ।'

अभी धन इकठ्ठा कर रहे थे, अभी नाम का भी मोह पकड़ता है कि एक धर्मशाला तो कम से होनी चाहिए, जिस पर एक पट्टी तो लगी हो । एक मन्दिर बनवा दूँ । बिरला का मन्दिर है; मेरा क्यों न हो ।' अभी धन पकड़े था; अब यह धन खर्चा करने का काम है ।

यह आपके मन के विपरीत है मामला । लेकिन इससे यश मिलता है, नाम मिलता है । अब ये मन्दिर बनायेंगे । मन्दिर बनाते-बनाते यह बैल थक जाएगा । और मन्दिर बन भी नहीं पायेगा, उसके पहले ही आप ब्लैक मार्केटिंग और जोर से करने लगेंगे, क्योंकि वह जितना पैसा खर्च हो गया, उसको पैदा करना है । तो इधर मन्दिर बन नहीं पाता कि वह आदमी और जोर से जेब काटने लगेगा; चोरी और करने लगा; स्मगलिंग करेगा——कुछ उपाय करेगा जल्दी से, ताकि यह जो मन्दिर में लग गया है, इससे दस गुना पैदा कर ले ।

यह चल रहा है । यह पूरे वक्त आपके मन को पकड़े हुए है । यह विभिन्न दिशाओं में दौड़ता हुआ मन व्यभिचारी मन है । और व्यभिचारी को कोई शान्ति नहीं हो नहीं सकती । अव्यभिचारी-भाव इसीलिए बड़ी मूल्यवान बात है ।

कृष्ण कहते हैं : जब तक कोई अव्यभिचारी-भाव से सत्य की ओर, स्वयं की ओर, सच्चिदानन्दघन परमात्मा की ओर न बहे, तब तक कोई उपलब्धि नहीं है ।

और ध्यान रहे : अगर आप अव्यभिचारी हैं, तो एक ही क्षण में भी उपलब्धि हो सकती है । क्योंकि जब सारी शक्ति एक दिशा में बहती है, तो सब बाधाएँ टूट जाती हैं ।

बाधाएँ हैं ही नहीं । बाधाएँ खड़ी हैं, क्योंकि आप बहुत दिशाओं में बह रहे हैं । इसलिए आपकी शक्ति ही इकठ्ठी नहीं हो पाती, जो किसी भी दिशा में बह सके ।

जैसे हम गंगा को हजार हिस्सों में बाँट दें और गंगा का फिर कोई भी हिस्सा सागर तक न पहुँच पाये । सारी गंगा रेगिस्तानों में खो जाय । गंगा के लिए कोई बाधा नहीं है । लेकिन अविभाज्य धारा चाहिए ।

गंगा इकट्ठी हो, तो ही सागर तक पहुँच सकती है । और आप भी इकट्ठे हों, तो ही परमात्मा तक पहुँच सकते हैं ।

लेकिन जैसा हमारा मन है, उसमें बड़ी तकलीफ है । उसकी पहली तकलीफ तो यह है कि वह इकट्ठा कभी भी नहीं है, एकजुट कभी भी नहीं है; खण्ड-खण्ड है, टूटा-टूटा है । और जब एक खण्ड कहता है : यह करो, तभी दूसरा खण्ड कुछ और कह रहा है कि यह मत करो । तो हम जो भी करें, उसी से पछतावा हाथ लगता है । और जो भी हम न करें, उसका भी पछतावा रह जाता है कि वह हमने क्यों न कर लिया ।

हम दुःख ही इकट्ठा करते हैं––करें तो, न करें तो । आप धन कमायें, तो दुःखी होंगे । क्योंकि आप धन कमाके पायेंगे कि इससे तो अच्छा था कि मैंने ज्ञानार्जन किया होता, तो कुछ सुख तो मिलता । या इससे तो अच्छा था कि मैं किसी बड़े पद पर हो गया होता; सारी ताकत उस तरफ लगा दी होती । एक राजनेता हो गया होता । कुछ सुख तो मिलता ।

राजनेता हो जाते, तो सोचते : इससे तो बेहतर था, कुछ धन ही कमा लेते । यह तो व्यर्थ की दौड़-धूप है । ज्ञान इकट्ठा कर लेते, तो कहते : क्या हुआ ? शब्द ही शब्द हाथ में लग गए । कुछ मजबूत हाथ में नहीं है । कुछ सब्स्टेन्शियल, कुछ सारभूत नहीं दिखता ।

सभी रोते हुए दिखाई पड़ते हैं । वह जो ज्ञान इकट्ठा कर लेते हैं, वे रो रहे हैं । धन इकट्ठा कर लेते हैं, वे रो रहे हैं । पद इकट्ठा कर लेते हैं, वे रो रहे हैं । हँसता हुआ आदमी ही नहीं दिखता । जो भी दिखता है, रोता हुआ दिखता है । फिर भी जो आप हैं, उसके लिए आप ज्यादा रोते हैं । जो आप नहीं है, उसका आपको अनुभव नहीं है ।

आप सोचते हैं : सारा जगत् सुख भोग रहा है––मेरे सिवाय । मैं दुःख भोग रहा हूँ ।

जहाँ भी आप हैं, वहाँ आप असन्तुष्ट होंगे; यह व्यभिचारी मन का लक्षण होगा ही, क्योंकि कोई भी काम आप टोटल, समग्र चेतना से नहीं कर पाते हैं । और जो काम समग्र चेतना से होता है, उसी का फल आनन्द है ।

अगर आप गड्ढा भी खोद पायें––जमीन में––समग्र चेतना से; उस गड्ढा खोदते वक्त आपके पूरे प्राण कुदाली बन गए हों, और मन कहीं भी न जा रहा हो; सारा मन कुदाली में प्रविष्ट कर गया हो; गड्ढा खोदना ही एक क्रिया रह जाय और कहीं भी कोई दौड़ न हो––उस क्षण में आपको जो परम अनुभव होगा, वह आपको बड़ी से बड़ी प्रार्थना, और पूजा, और यज्ञ में नहीं हो सकता । क्योंकि आप जब प्रार्थना कर रहे हैं, तब मन हजार तरफ जा रहा है । तो वह कुदाली से जमीन खोदना प्रार्थना हो जाएगी ।

प्रार्थना का एक ही अर्थ है : अव्यभिचारी चित्त की धारा । वह किसी भी तरफ जा रही हो, पर इकट्ठी जा रही हो ।

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योग के द्वारा, अव्यभिचारी प्रेम के द्वारा मुझको निरन्तर भजता है... ।' जिसके मन में निरन्तर अन्तिम की खोज का स्वर बजता रहता है ।...

भजने का अर्थ यह नहीं कि आप बैठ के राम-राम, राम-राम कर रहे हैं । क्योंकि आपके राम-राम करने का कोई मूल्य नहीं है । जब आप राम-राम कर रहे होते हैं, तब भीतर आप और दूसरी चीजें भी कर रहे होते हैं । धीरे-धीरे अभ्यास हो जाता है । राम-राम करते रहते हैं, और दूसरे हिसाब भी लगाते रहते हैं । राम-राम ऊपर-ऊपर चलता रहता है, जैसा कि कोई और कर रहा हो । और भीतर सब हिसाब चलते रहते हैं । तो उसका कोई मूल्य नहीं है ।

भजने का अर्थ है... । भजन बड़ी गहरी प्रक्रिया है । उसका अर्थ है : मेरे रोयें-रोयें में रस की तरह कोई चीज डोलती रहे । उठूँ, बैठूँ, चलूँ––बाकी एक स्मृति सजग ही रहे कि उस परम को उपलब्ध करना है; सत्य को खोज लेना है; मुक्ति को खोज लेना है । यह कोई शब्द बने, यह आवश्यक नहीं है । इनको कोई ऊपर के शब्दों में छिपाने की जरूरत नहीं है । वह भीतर का भाव रहे । इसलिए इसे भक्ति कहेंगे । भक्ति का अर्थ है : भाव । यह भाव बना रहे । जैसे माँ घर में काम कर रही हो, चौके में काम कर रही है और उसका छोटा बच्चा घूम रहा है कमरे में । वह सब काम करती रहती है, लेकिन उसका भाव बच्चे की तरफ लगा रहता है । वह कहाँ जा रहा है ? वह क्या कर रहा है ? वह गिर तो नहीं जाएगा । वह कोई गलत चीज तो नहीं खा

लेगा ? वह कोई चीज गिरा तो नहीं लेगा--अपने ऊपर ? वह सब काम करती रहेगी, लेकिन उसका अचेतन प्रवाहित रहेगा--बच्चे की तरफ ।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि तूफान भी आ जाय, आँधियाँ बह रही हों, माँ की नींद नहीं खुलती । लेकिन उसका बच्चा जरा-सी आवाज कर दे रात, उसकी नींद खुल जाती है । तूफान चल रहा है, उससे उसकी नींद नहीं टूटती । लेकिन बच्चे की जरा-सी आवाज, कि उसकी नींद टूट जाती है । जरूर कोई भाव गहरे में, नींद में भी सरक रहा है ।

मनोवैज्ञानिकों ने बहुत से अध्ययन किये हैं । उसमें एक अध्ययन बड़ा कीमती है । अभी स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी में वे एक प्रयोग करते हैं । और उस प्रयोग से भारत की बड़ी पुरानी खोज सिद्ध होती है । मुझसे भी लोग पूछते हैं, तो मैं वही प्रयोग उनको स्मरण दिलाता हूँ ।

मुझसे लोग पूछते हैं : 'आप अपने संन्यासी को कहते हैं : स्वामी और अपनी संन्यासिनी को कहते हैं : माँ, ऐसा क्यों है ?

'संन्यासिनी को माँ क्यों और संन्यासी को स्वामी क्यों ? या तो उसको भी स्वामिनी जैसा कोई शब्द दें; या संन्यासी को भी पिता क्यों नहीं ?'

स्टैनफोर्ड में अभी-अभी एक प्रयोग हुआ, जो बड़ा सोचने जैसा है । वह प्रयोग यह है कि जिस चीज में आपका रस होता है, उस रस के कारण आपकी आँख की जो पुतली है, वह बड़ी हो जाती है ।

अगर आप कोई किताब पढ़ रहे हैं, जिसमें आप बहुत ज्यादा रस पा रहे हैं, तो कमरे में कम से कम प्रकाश हो, तो भी आप पढ़ पायेंगे । क्योंकि आपकी आँख की पुतली बड़ी हो जाती है--आपकी जिज्ञासा के कारण, आपके रस के कारण । और अगर आपको किताब में रस नहीं है, तो कमरे में प्रकाश भी पूरा हो, तो भी आपको धुँधला धुँधला दिखाई पड़ेगा । क्योंकि रस नहीं होता है, तो आँख की पुतली छोटी हो जाती है ।

आँख की पुतली चौबीस घंटे छोटी-बड़ी होती है । जब आप बाहर जाते हैं धूप में, तो पुतली छोटी हो जाती है, क्योंकि उतनी धूप को भीतर ले जाने की जरूरत नहीं है। कम से काम चल जाता है। जब आप बाहर से भीतर आते हैं, तो पुतली बड़ी होती है, क्योंकि अब ज्यादा रोशनी भीतर जानी चाहिए । इसीलिए एकदम धूप से आने पर आपको कमरे में अँधेरा मालूम पड़ता है, क्योंकि पुतली छोटी रहती है । थोड़ी देर लगेगी, तब पुतली बड़ी होगी । फिर कमरे में प्रकाश हो जाएगा । आपकी पुतली छोटी-बड़ी हो कर प्रकाश को कम-ज्यादा भीतर-बाहर ले जाती है ।

स्टैनफोर्ड में उन्होंने एक प्रयोग किया कि अगर पुरुषों को कोई भी चीज सबसे

ज्यादा आकर्षित करती है--तो नग्न स्त्री के चित्र । नग्न स्त्री का चित्र सामने आये, तो उनकी आँख की पुतली एकदम बड़ी हो जाती है । वह उनके बस में नहीं है । आप कोशिश करके धोखा नहीं दे सकते, क्योंकि आप पुतली को कुछ नहीं कर सकते--न छोटी कर सकते हैं, न बड़ी कर सकते हैं ।

नंगा चित्र--स्त्री का--सामने आते ही आँख की पुतली बड़ी हो जाती है । लेकिन बड़े मजे की बात है : नंगे पुरुष का चित्र देख के स्त्री की पुतली बड़ी नहीं होती । लेकिन छोटे बच्चे का चित्र देख के एकदम बड़ी हो जाती है । छोटा बच्चा--और स्त्री की पुतली एकदम बड़ी हो जाती है । जैसे माँ होना उसकी सहज गति है ।

पुरुष की सहज गति पिता होना नहीं है; पति होना, स्वामी होना सहज गति है ।

तो कोई पुरुष किसी स्त्री को इसलिए विवाह नहीं करता कि पिता बनेगा । सोचता ही नहीं है । बनना पड़ता है, यह दूसरी बात है । न बने, तब तक पूरी चेष्टा करता है । लेकिन स्त्री जब भी सोचती है, तो वह पत्नी बनने के लिए नहीं सोचती; वह माँ बनने के लिए सोचती है ।

जब वह किसी से प्रेम भी करती है, तो उसका जो पहला खयाल होता है--वह यही होता है कि इससे जो बच्चा होगा, वह कैसा होगा ? उसकी जो गहरी आकांक्षा है, वह माँ की है । इसलिए मैं अपनी संन्यासिनियों को माँ कहता हूँ । क्योंकि वह उनकी पूर्णता का अन्तिम शब्द है । और पुरुष को स्वामी कहता हूँ, क्योंकि मालिक होना उसकी आखिरी खोज है । वह अपना जिस दिन मालिक हो जाएगा, उसकी खोज पूरी होगी ।

और स्त्री की खोज उसी दिन पूरी होगी, जिस दिन सारा जगत् उसे बेटे की तरह मालूम पड़ने लगे; सारा अस्तित्व उसे बेटे की तरह मालूम पड़ने लगे; सारे अस्तित्व से उसमें मातृत्व जग जाय ।

भाव का अर्थ है : जिस दिशा में आपकी अचेतन धारा सहज बहती है । माँ--स्त्री का भाव है । स्वामित्व--पुरुष का भाव है । वह कुछ भी करे; वह चाहे धन इकट्ठा करे, तो स्वामी होना चाहता है । बड़े पद की तलाश करे, तो स्वामी होना चाहता है । त्याग करे, तो स्वामी होना चाहता है । वह कुछ भी करे, उसकी खोज एक है कि वह मालिक हो जाय; चीजों पर उसका कब्जा हो । वह अपनी भी खोज में निकले, तो भी स्वामी होना चाहता है ।

भाव हम उसको कहते हैं, जिसको आपको सोचने की जरूरत नहीं पड़ती । जो आपके अचेतन में एक पर्त की तरह सदा बना हुआ है । आप कुछ भी करें, वह मौजूद है ।

अव्यभिचारी-भाव का अर्थ है : परमात्मा का खयाल, स्मृति; उसके खोज की धुन आपके भीतर बजती रहे। आप कुछ भी करें, करना ऊपर-ऊपर हो, वह धुन भीतर बजती ही रहे; तो आपका सारा करना उसका भजन हो जाएगा।

और आप उसका भजन करते रहें, भीतर कोई और धुन बजती रहे, वह बेकार है। उसका कोई भी मूल्य नहीं है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रईस के घर नौकर हुआ--लखनउ में, तो जैसा कि लखनउ के रईसों का रिवाज था, पहले ही दिन नसरुद्दीन को कहा गया (महफिल बैठी; रात दस बीस रईस इकट्ठे थे।) कि 'नसरुद्दीन हुक्का भर ला।'

नसरुद्दीन हुक्का भर लाया। लेकिन एक के सामने रखे। वह कहे, 'किबला, आप ही शुरू करें।' दूसरे के सामने रखे। वह कहे, 'किबला, आप शुरू करें।' तीन दफा वह भर-भर के लाया। हुक्का बुझ गया। और किसी ने एक निवाली भी न ली।

चौथी दफा वह भर के लाया। बीच में बैठकर उसने हुक्का गुड़गुड़ाना शुरू कर दिया। तो जो मालिक था, वह एकदम क्रोध से भर गया। उसने कहा, 'कोई है; इस बद्तमीज को पच्चीस जूते लगाओ।' नसरुद्दीन ने कहा, 'किबला आप ही शुरू करें। आपसे ही शुरू करें। वहीं से शुरू करें। मैं नियम समझ गया।'

आपको आपके मन में, नियम को ठीक से समझ लेना चाहिये : क्या नियम है? नियम यह है, कि जो ऊपर चल रहा है, वह सार्थक नहीं है। जो भीतर चल रहा है, वह सार्थक है। इसलिए परमात्मा को अगर ऊपर जोड़ दें आप, तो कोई मूल्य का नहीं है। भीतर जुड़ना चाहिये। एक।

दूसरा नियम यह है कि आप व्यभिचारी हैं; आप हजार चीजें खोज रहे हैं। इस हजार में परमात्मा भी हजार और एक हो जाय, तो बेकार है। क्योंकि फिर वह व्यभिचार और बढ़ा; कम नहीं हुआ। एक हजार चीजें पहले खोज रहे थे; उस लिस्ट में एक 'परमात्मा' और जोड़ दिया!

इसलिए कृष्ण कहते हैं कि परमात्मा को तुम अपने व्यभिचार की लिस्ट में न जोड़ सकोगे। तुम्हें सारी ये लिस्ट एक तरफ रख देनी पड़ेगी। और इस सारी लिस्ट की तरफ तुम्हारा जो प्राण दौड़ रहा है, वह एक परमात्मा की तरफ ही दौड़े।

तुम कुछ भी करो, लेकिन सब करना तुम्हारा भजन बन जाय। तुम भोजन भी करो, तो तुम्हें यह खयाल रहे कि जैसे तुम्हारे भीतर छिपा परमात्मा भोग ले रहा है। तुम स्नान करो, तो तुम्हें खयाल रहे कि तुम्हारे भीतर छिपा परमात्मा स्नान कर रहा है। तुम उठो, बैठो, तो तुम्हें खयाल रहे कि परमात्मा उठता है और बैठता है। यह धुन इतनी गहरी हो जाय कि यह अव्यभिचारी हो जाय। इसमें दूसरे का

खयाल न रहे। तो ही...।

इसी रईस के सम्बन्ध में मुझे एक घटना और खयाल आती है।

नया-नया रईस था नव-रईस जिसको कहते हैं। नसरुद्दीन को नौकरी पर लगाया था। तो उसने कहा, नसरुद्दीन, एक बात खयाल रखना। यह रईस का घर है। और यहाँ सब चीजें दिखावे की हैं। यहाँ वास्तविक होने की जरूरत नहीं है। लेकिन दिखावा भरपूर होना चाहिए। तो अगर मैं कहूँ कि नसरुद्दीन, शर्बत ले आ, तो तू पहले पूछना : 'हुजूर, कौन-सा? गुलाब, कि अनानास, कि बादाम, केवड़ा, खस?—कौन-सा हुजूर?' तो जितने नाम हों, पहले सब कह देना। हालाँकि अपने घर में एक ही है। और जो है, वही मैं तुझे कहूँगा कि ले आ। नसरुद्दीन, यह ले आ।

दूसरे दिन ही कुछ मित्र आ गए और रईस ने कहा कि 'नसरुद्दीन, पान ले आ। नसरुद्दीन ने कहा, हुजूर कौन-सा?--कपूरी, बनारसी, महोबा—कौन-सा?

पान बुलाया गया--जो पान घर में था। मित्रों ने लिया। मित्र बड़े अनुगृहीत हुए।

चलते वक्त कहने लगे, बहुत दिन बाद आये हैं। आपके पिताजी के दर्शन नहीं हुए। उनको बुलाएँ। रईस ने कहा कि 'नसरुद्दीन, पिताजी को बुला ला।' नसरुद्दीन ने कहा, 'कौन से पिताजी? इग्लैंड वाले, अमेरिका वाले, जर्मनी वाले, कि घरेलू?--स्वदेशी?' वह नियम समझ गया है!

आदमी की दोहरी परतें हैं। एक पर्त--वह जो दिखाने के लिए निर्मित किया है; और एक वह--जो है।

जो आपकी दिखाने वाली पर्त है, उससे परमात्मा को मत जोड़ना। उसमें कोई सार नहीं। उसमें वह भी हो जाएगा : 'कौन-सा परमात्मा।' वह जो न दिखाने वाली पर्त है, जो आन्तरिक है और वास्तविक है; जहाँ एक ही पिता होता है, जहाँ बहुत पिता नहीं हो सकते--उस भीतर की धारा से उसे जोड़ना।

और जहाँ एक ही हो सकता है।... केन्द्र पर एक ही हो सकता है; परिधि पर अनेक हो सकते हैं। जैसे-जैसे चित्त अव्यभिचारी होता है, वह केन्द्र पर थिर हो जाता है।

अव्यभिचार के लिए इतना जोर है, क्योंकि अव्यभिचार के माध्यम से ही तुम्हारी चेतना एक जगह बहेगी। और एक जगह बह जाय कि तुम अनन्त शक्तिशाली हो--तुम ही। और अनेक जगह बह जाय, तो तुम नपुंसक हो, तुम व्यर्थ हो। तुम्हारी सब धाराएँ मरुस्थल में खो जाएँगी और सागर से कभी मिलना न हो पायेगा!

'वह इन तीन गुणों को अच्छी प्रकार उल्लंघन करके...।' जो अव्यभिचारी-भाव से निरन्तर परमात्मा को भजता है, वह इन तीन गुणों को अच्छी प्रकार से उल्लंघन

करके--सच्चिदानन्दघनरूप ब्रह्म में एकीभाव के योग्य हो जाता है ।

'तथा हे अर्जुन, उस अविनाशी परब्रह्म का, और अमृत का, तथा नित्य धर्म का, अखण्ड एक रस आनन्द का--मैं ही आश्रय हूँ ।'

वह परम आनन्द है, अमृत है, परमब्रह्म है, धर्म है--जो भी हम उसे नाम दें; कृष्ण कहते हैं, 'उन सब का मैं ही आश्रय हूँ ।'

यह जो मैं है--इसका कृष्ण की अस्मिता से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह कृष्ण नाम के व्यक्ति के लिए उपयोग नहीं किया गया है --यह 'मैं' । 'उस सब का आश्रय मैं हूँ ।'... यह आप सबके भीतर जो छिपा हुआ अन्तिम मैं है, उसके लिए उपयोग किया गया है । जो-जो भी कह सकता है मैं, उस मैं की जो अंतिम धारा है, उस अन्तिम धारा के लिए उपयोग किया गया है । यह कृष्ण के मैं से इसका सम्बन्ध नहीं है । यह समस्त चेतनाओं में जो गहरा आत्म-भाव है, वह जो 'मेरे' का बोध है--कि मैं हूँ--उस होने का नाम है ।

उस होने को ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म, अमृत, आनन्द या जो भी नाम हम चुनें--मुक्ति, परमेश्वर, प्रभु का राज्य, निर्वाण, कैवल्य--जो भी नाम हम चुनें, उसका अन्तिम आश्रय है; आपके भीतर वह जो मैं की आखिरी शुद्धतम अवस्था है--होना, वहाँ छिपी है ।

लेकिन उसे पाने के लिए आपको अव्यभिचारी चेतना की धारा चाहिए; ध्यान चाहिए; एकजुट, एक बहाव, और एक दिशा चाहिए ।

और जो भी व्यक्ति ऐसी एक धारा को उपलब्ध हो जाता है, वह तीनों गुणों के पार गुणातीत परब्रह्म के साथ एकीभाव हो जाता है; वह योग्य हो जाता है ।

इतना ही ।

भगवान श्री रजनीश

'धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजा ।'

'जो धारण करे वह धर्म । अतः धर्म प्रजा का धारण करता है ।'

भगवान श्री रजनीश इसी महायज्ञ में संलग्न हैं । पृथ्वी पर आज तक जो भी अपौरुषेय सूत्र उपलब्ध हैं उन सभी को अपनी रसभीनी वाणी के सिंचन से संजीवन देने का कार्य वे कर रहे हैं । फिर वे सूत्र पतंजलि के हों, लाओत्से के हों, बुद्ध या कबीर के हों, दादू या सूफी फकीरों के हों, उन्हें कोई अड़चन नहीं होती । सभी पंथों, संप्रदायों और मार्गों के आंगन में वे मजे से क्रीड़ा करते हैं । जैसे भ्रमर सभी फूलों से मधु इकट्ठा करता घूमता फिरे वैसे वे सभी साधना-पद्धतियों में विचरे हैं । और इस उन्मुक्त विचरण के कारण आज उनके पास आध्यात्मिक संपदा का जो संचय है, उसका अंदाज़ा लगाना भी मुश्किल है ।